

आदिपुराण

अनुक्रमणिका

- 01) पर्व-01 -- कथामुखवर्णन
- 01) पर्व-02 -- कथामुखवर्णन
- 03) पर्व-03 -- पीठिकावर्णन
- 03) पर्व-04 -- श्रीमहाबलाभ्युदयवर्णन
- 05) पर्व-05 -- ललिताङ्ग स्वर्गभोग वर्णन
- 05) पर्व-06 -- ललिताङ्गदेव स्वर्ग से च्युत
- 07) पर्व-07 -- श्रीमती और वज्रजंघ का समागम
- 07) पर्व-08 -- श्रीमती और वज्रजंघ द्वारा पात्रदान
- 09) पर्व-09 -- श्रीमती और वज्रजंघ को सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति
- 09) पर्व-10 -- अच्युतेन्द्र का ऐश्वर्य
- 11) पर्व-11 -- वज्रनाभि के सर्वार्थसिद्धिगमन
- 11) पर्व-12 -- भगवान का स्वर्गावतरण
- 13) पर्व-13 -- भगवान का जन्माभिषेक
- 13) पर्व-14 -- भगवज्जातकर्मोत्सव
- 15) पर्व-15 -- भगवान का कुमारकाल, यशस्वती-सुनन्दा का विवाह, भरत की उत्पत्ति
- 15) पर्व-16 -- भगवान् के साम्राज्य का वर्णन
- 17) पर्व-17 -- भगवान् का तप-कल्याणक
- 17) पर्व-18 -- धरणेन्द्र का विजयार्थ पर्वत पर जाना
- 19) पर्व-19 -- नमि-विनमि को राज्यप्राप्ति
- 19) पर्व-20 -- भगवान को कैवल्योत्पत्ति
- 21) पर्व-21 -- ध्यानतत्त्व
- 21) पर्व-22 -- समवसरण
- 23) पर्व-23 -- समवसरणविभूति
- 23) पर्व-24 -- भगवत्कृत धर्मोपदेश
- 25) पर्व-25 -- भगवान का विहार

!! श्रीसर्वज्ञवीतरागाय नमः !!

श्री-जिनसेनाचार्य-प्रणीत

श्री

आदिपुराण

आभार :

!! नमः श्रीसर्वज्ञवीतरागाय !!

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः

कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नमः ॥1॥

अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलंका

मुनिभिरूपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥2॥

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया

चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः ॥3॥

॥ श्रीपरमगुरुवे नमः, परम्पराचार्यगुरुवे नमः ॥

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनः प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्री-
आदिपुराण नामधेयं, अस्य मूल-ग्रन्थकर्तारः श्री-सर्वज्ञ-देवास्तदुत्तर-ग्रन्थ-कर्तारः श्री-गणधर-देवाः प्रति-गणधर-देवास्तेषां वचनानुसार-
मासाद्य आचार्य श्री-जिनसेनाचार्य विरचितं ॥

॥ श्रोतारः सावधान-तया शृण्वन्तु ॥

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी

मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं

प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥

पर्व-01 -- कथामुखवर्णन

पर्व-01 -- कथामुखवर्णन

कथा :

जो अनन्तचतुष्टयरूप अन्तरङ्ग और अष्टप्रातिहार्यरूप बहिरङ्ग लक्ष्मी से सहित है जिन्होंने समस्त पदार्थों को जानने वाले केवलज्ञानरूपी साम्राज्य का पद प्राप्त कर लिया है, जो धर्मचक्र के धारक हैं, लोकत्रय के अधिपति हैं और पंच परावर्तनरूप संसार का भय नष्ट करने वाले हैं, ऐसे श्री अर्हन्तदेव को हमारा नमस्कार है । विशेष-इस लोक में सब विशेषण ही विशेषण हैं विशेष्य नहीं है । इससे यह बात सिद्ध होती है कि उक्त विशेषण जिसमें पाये जायें वही वन्दनीय है । उक्त विशेषण अर्हन्त देव में पाये जाते हैं अतः यहाँ उन्हीं को नमस्कार किया गया है । अथवा 'श्रीमते' पद विशेष्य-वाचक है । श्री ऋषभदेव के एक हजार आठ नामों में एक श्रीमत् नाम भी है जैसा कि आगे इसी ग्रन्थ में कहा जावेगा- 'श्रीमान स्वयंभूर्वृषभः' आदि । अतः यहाँ कथानायक श्री भगवान् ऋषभदेव को नमस्कार किया गया है ।

टिप्पणीकार ने इस श्लोक का व्याख्यान विविध प्रकार से किया है जिसमें उन्होंने अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, भरत चक्रवर्ती, बाहुबली, वृषभसेन गणधर तथा पार्श्वनाथ तीर्थकर आदि को भी नमस्कार किया गया प्रकट किया है । अतः उनके अभिप्राय के अनुसार कुछ विशेष व्याख्यान यहाँ भी किया जाता है । भगवान् वृषभदेव के पक्ष का व्याख्यान ऊपर किया जा चुका है । अरहन्त परमेष्ठी के पक्ष में 'श्रीमते' शब्द का अर्थ अरहन्त परमेष्ठी लिया जाता है; क्योंकि वह अन्तरङ्ग बहिरङ्ग लक्ष्मी से सहित होते हैं । सिद्ध परमेष्ठी के पक्ष में 'सकलज्ञानसाम्राज्यपदमीयुषे' पद का अर्थ सिद्ध परमेष्ठी किया जाता है; क्योंकि वह सम्पूर्ण ज्ञानियों के साम्राज्य के पद को-लोकाग्रनिवास को प्राप्त हो चुके हैं । आचार्य परमेष्ठी के पक्ष में 'धर्मचक्रभृते' पद का अर्थ आचार्य लिया जाता है; क्योंकि वह उत्तम क्षमा आदि दश धर्मों के चक्र अर्थात् समूह को धारण करते हैं । उपाध्याय परमेष्ठी के पक्ष में भर्त्रे पद का अर्थ उपाध्याय किया जाता

है; क्योंकि वह अज्ञानान्धकार से दूर हटाकर सम्यग्ज्ञानरूपी सुधा के द्वारा सब जीवों का भरण-पोषण करते हैं और साधु परमेष्ठी के पक्ष में 'संसारभीमुषे' शब्द का अर्थ साधु लिया जाता है क्योंकि वह अपनी सिंहवृत्ति से संसार-सम्बन्धी भय को नष्ट करने वाले है। इस श्लोक में जो 'श्रीमते' आदि पद हैं उनमें जातिवाचक होने से एकवचन का प्रत्यय लगाया गया है अतः भूत भविष्यत् वर्तमान कालसम्बन्धी समस्त तीर्थंकरों को भी इसी श्लोक से नमस्कार सिद्ध हो जाता है। भरत चक्रवर्ती के पक्ष में इस प्रकार व्याख्यान है-जो नवनिधि और चौदह रत्नरूप लक्ष्मी का अधिपति है, जो सकलज्ञानवान् जीवों के संरक्षणरूप साम्राज्य-पद को प्राप्त है, (सकलाश्च ये ज्ञाश्च सकलज्ञाः, सकलज्ञानाम् असं जीवनं यस्मिस्तत् तथाभूतं यत्साम्राज्यपदं तत् ईयुषे) जो पूर्व जन्म में किये हुए धर्म के फलस्वरूप चक्ररत्न को धारण करता है, (धर्मेण-पुराकृतसुकृतेन प्राप्तं यच्चक्रं तद् विभर्तीति तस्मै) जो, षट्खण्ड भरतक्षेत्र की रक्षा करने वाला है और जिसने संसार के जीवों का भय नष्ट किया है अथवा षट्खण्ड भरत-क्षेत्र में सब ओर भ्रमण करने में जिसे किसी प्रकार का भय नहीं हुआ है (समन्तात् सरणं भ्रमणं संसारस्तस्मिन् भियं मुष्णातीति तस्मै) अथवा जो समीचीन चक्र के द्वारा सबका भय नष्ट करने वाला है (अरैः सहितं सारं चक्ररत्नमित्यर्थः, सम्यक् च तत् सारञ्च संसारं तेन भियं मुष्णातीति तस्मै) ऐसे तद्भवमोक्षगामी चक्रधर भरत को नमस्कार है। बाहुबली के पक्ष में निम्न प्रकार व्याख्यान है-जो भरत चक्रधर को त्रिविध युद्ध में परास्त कर अद्भुत शौर्यलक्ष्मी से युक्त हुए हैं जो धर्म के द्वारा अथवा धर्म के लिए चक्ररत्न को धारण करने वाले भरत के स्तवन आदि से केवलज्ञानरूप साम्राज्य के पद को प्राप्त हुए हैं। एक वर्ष के कठिन कायोत्सर्ग के बाद भरत-द्वारा स्तवन आदि किये जाने पर ही बाहुबली स्वामी ने निःशल्य हो शुक्लध्यान धारण कर केवलज्ञान प्राप्त किया था। जो इभर्त्रे-(इश्वासौ भर्ता च तस्मै) कामदेव और राजा दोनों हैं अथवा इभर्त्रे (या भर्ता तस्मै)-लक्ष्मी के अधिपति हैं और कर्मबन्धन को नष्ट कर संसार का भय अपहरण करने वाले हैं ऐसे श्री बाहुबली स्वामी को नमस्कार हो। इस पक्ष में श्लोक का अन्वय इस प्रकार करना चाहिए-श्रीमते, धर्मचक्रभृता, सकलज्ञानसाम्राज्यपदमीयुषे, संसारभीमुषे, इभर्त्रे, नमः। वृषभसेन गणधर के पक्ष में व्याख्यान इस प्रकार है। श्रीमते यह पद चतुर्थ्यन्त न होकर सप्तम्यन्त है-(श्रिया-स्याद्वादलक्ष्म्या उपलक्षितं मतं जिनशासनं तस्मिन्) अतएव जो स्याद्वादलक्ष्मी से उपलक्षित जिनशासन-अर्थात् श्रुतज्ञान के विषय में परोक्ष रूप से समस्त पदार्थों को जानने वाले ज्ञान के साम्राज्य को प्राप्त हैं, जो धर्मचक्र अर्थात् धर्मों के समूह को धारण करने वाले हैं-पदार्थों के अनन्त स्वभावों को जानने वाले हैं, मुनिसंघ के अधिपति हैं और अपने सदुपदेशों के द्वारा संसार का भय नष्ट करने वाले हैं ऐसे वृषभसेन गणधर को नमस्कार हो। "भुवं धरतीति धर्मो धरणीन्द्रस्तं चक्राकारेण बलयाकारेण समीपे बिभर्तीति धर्म-चक्रभृत् पार्श्वतीर्थंकरः तस्मै"। उक्त व्युत्पत्ति के अनुसार 'धर्मचक्रभृते' शब्द का अर्थ पार्श्वनाथ भी होता है अतः इस श्लोक में भगवान् पार्श्वनाथ को भी नमस्कार किया गया है। इसी प्रकार जयकुमार, नारायण, बलभद्र आदि अन्य कथानायकों को भी नमस्कार किया गया है। विशेष व्याख्यान संस्कृत टिप्पण से जानना चाहिए। इस श्लोक के चारों चरणों के प्रथम अक्षरों से इस ग्रन्थ का प्रयोजन भी ग्रन्थकर्ता ने व्यक्त किया है-'श्रीसाधन' अर्थात् कैवल्यलक्ष्मी को प्राप्त करना ही इस ग्रन्थ के निर्माण का प्रयोजन है ॥१॥

जो अज्ञानान्धकाररूप वस्त्र से आच्छादित जगत् को प्रकाशित करने वाले हैं तथा सब ओर फैलने वाली ज्ञानरूपी प्रभा के भार से अत्यन्त उद्धासित-शोभायमान हैं ऐसे श्रीजिनेन्द्ररूपी सूर्य को हमारा नमस्कार है ॥२॥

जिसकी महिमा अजेय है, जो मिथ्यादृष्टियों के शासन का खण्डन करने वाला है, जो नय प्रमाण के प्रकाश से सदा प्रकाशित रहता है और मोक्षलक्ष्मी का प्रधान कारण है ऐसा जिनशासन निरन्तर जयवन्त हो ॥३॥

श्री अरहन्त भगवान् ने जिसके द्वारा पापरूपी शत्रुओं की सेना को सहज ही जीत लिया था ऐसा जयनशील जिनेन्द्रप्रणीत रत्नत्रयरूपी अस्त्र हमेशा जयवन्त रहे ॥४॥

जिन अग्रपुरुष-पुरुषोत्तम ने इन्द्र के वैभव को तिरस्कृत करने वाले अपने साम्राज्य को तृण के समान तुच्छ समझते हुए मुनिदीक्षा धारण की थी, जिनके साथ ही केवल स्वामिभक्ति से प्रेरित होकर इक्ष्वाकु और भोजवंश के बड़े-बड़े हजारों राजाओं ने दीक्षा ली थी, जिनके निर्दोष चरित्र को धारण करने के लिए असमर्थ हुए कच्छ महाकच्छ आदि अनेक राजाओं ने वृक्षों के पत्ते तथा छाल को पहिनना और वन में पैदा हुए कन्द-मूल आदि का भक्षण करना प्रारम्भ कर दिया था, जिन्होंने आहार पानी का त्यागकर सर्वसहा पृथिवी की तरह सब प्रकार के उपसर्गों के सहन करने का दृढ़ विचार कर अनेक परीषह सहे थे तथा कर्मनिर्जरा के मुख्य कारण तप को चिरकाल तक तपा था, चिरकाल तक तपस्या करने वाले जिन जिनेन्द्र के मस्तक पर बड़ी हुई जटाएँ ध्यानरूपी अग्नि से जलाये गये कर्मरूप ईधन से

निकलती हुई धूम की शिखाओं के समान शोभायमान होती थी, मर्यादा प्रकट करने के अभिप्राय से स्वेच्छापूर्वक चलते हुए जिन भगवान् को देखकर सुर और असुर ऐसा समझते थे मानो सुवर्णमय मेरु पर्वत ही चल रहा है, जिन भगवान् को हस्तिनापुर के राजा श्रेयांस के दान देने पर देवरूप मेघों ने पाँच प्रकार के रत्नों की वर्षा की थी, कुछ समय बाद घातियाकर्मरूपी शत्रुओं को पराजित कर देने पर जिन्हें लोकालोक को प्रकाशित करने वाली केवलज्ञानरूपी उत्कृष्ट ज्योति प्राप्त हुई थी, जो सभारूपी सरोवर में बैठे हुए भव्य जीवों के मुखरूपी कमलों को प्रकाशित करने के लिए सूर्य के समान थे, जिन्होंने कर्मरूपी शत्रुओं को नष्ट करने वाले समीचीन धर्म का उपदेश दिया था, और जिनसे अपने वंश का माहात्म्य सुनकर वल्कलों को पहिने हुए भरतपुत्र मरीचि ने लीलापूर्वक नृत्य किया था। ऐसे उन नाभिराजा के पुत्र वृषमचिह्न से सहित आदिदेव (प्रथम तीर्थकर) भगवान् वृषभदेव को मैं नमस्कार कर एकाग्र चित्त से बार-बार उनकी स्तुति करता हूँ ॥५-१५॥

इनके पश्चात् जो धर्मसाम्राज्य के अधिपति हैं ऐसे अजितनाथ को आदि लेकर महावीर पर्यन्त तेईस तीर्थकरों को भी नमस्कार करता हूँ ॥ १६॥

इसके बाद, केवलज्ञानरूपी साम्राज्य के युवराज पद में स्थित रहने वाले तथा सम्यग्ज्ञानरूपी कण्ठाभरण को प्राप्त हुए गणधरों की मैं बार-बार स्तुति करता हूँ ॥१७॥

हे भव्य पुरुषो ! जो द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा आदि और अन्त से रहित है, उन्नत है, अनेक फलों का देने वाला है, और विस्तृत तथा सघन छाया से युक्त है ऐसे श्रुतस्कन्धरूपी वृक्ष की उपासना करो ॥१८॥

इस प्रकार देव गुरु शास्त्र के स्तवनों द्वारा मङ्गलरूप सत्क्रिया को करके मैं त्रेसठ शलाका (चौबीस तीर्थकर, बारह चक्रवर्ती, नव नारायण, नव प्रतिनारायण और नव बलभद्र) पुरुषों से आश्रित पुराण का संग्रह करूँगा ॥१९॥

तीर्थकरों, चक्रवर्तियों, बलभद्रों, नारायणों और उनके शत्रुओं-प्रतिनारायणों का भी पुराण कहूँगा ॥२०॥

यह ग्रन्थ अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित है इसलिए पुराण कहलाता है। इसमें महापुरुषों का वर्णन किया गया है अथवा तीर्थकर आदि महापुरुषों ने इसका उपदेश दिया है अथवा इसके पढ़ने से महान् कल्याण की प्राप्ति होती है इसलिए इसे महापुराण कहते हैं ॥२१॥

'प्राचीन कवियों के आश्रय से इसका प्रसार हुआ है इसलिए इसकी पुराणता-प्राचीनता प्रसिद्ध ही है तथा इसकी महत्ता इसके माहात्म्य से ही प्रसिद्ध है इसलिए इसे महापुराण कहते हैं' ऐसा भी कितने ही विद्वान् महापुराण की निरुक्ति-अर्थ करते हैं ॥२२॥

यह पुराण महापुरुषों से सम्बन्ध रखने वाला है तथा महान् अभ्युदय-स्वर्ग मोक्षादि कल्याणों का कारण है इसलिए महर्षि लोग इसे महापुराण मानते हैं ॥२३॥

यह ग्रन्थ ऋषिप्रणीत होने के कारण आर्ष, सत्यार्थ का निरूपक होने से सूक्त तथा धर्म का प्ररूपक होने के कारण धर्मशास्त्र माना जाता है। 'इति इह आसीत्' यहाँ ऐसा हुआ-ऐसी अनेक कथाओं का इसमें निरूपण होने से ऋषि गण इसे 'इतिहास', 'इतिवृत्त' और 'ऐतिह्य' भी मानते हैं ॥२४-२५॥

जिस इतिहास नामक महापुराण का कथन स्वयं गणधरदेव ने किया है उसे मैं मात्र भक्ति से प्रेरित होकर कहूँगा क्योंकि मैं अल्पज्ञानी हूँ ॥ २६॥

बड़े-बड़े बैलों द्वारा उठाने योग्य भार को उठाने की इच्छा करने वाले बछड़े को जैसे बड़ी कठिनता पड़ती है वैसे ही गणधरदेव के द्वारा कहे हुए महापुराण को कहने की इच्छा रखने वाले मुझ अल्पज्ञ को पड़ रही है ॥२७॥

कहाँ तो यह अत्यन्त गम्भीर पुराणरूपी समुद्र और कहाँ मुझ जैसा अल्पज्ञ ! मैं अपनी भुजाओं से यहाँ समुद्र को तैरना चाहता हूँ इसलिए अवश्य ही हँसी को प्राप्त होऊँगा ॥२८॥

अथवा ऐसा समझिए कि मैं अल्पज्ञानी होकर भी अपनी शक्ति के अनुसार इस पुराण को कहने के लिए प्रयत्न कर रहा हूँ जैसे कि कटी पूँछ वाला भी बैल क्या अपनी कटी पूँछ को नहीं उठाता ? अर्थात् अवश्य उठाता है ॥२९॥

यद्यपि यह पुराण गणधरदेव के द्वारा कहा गया है तथापि मैं भी यथाशक्ति इसके कहने का प्रयत्न करता हूँ। जिस रास्ते से सिंह चले हैं उस रास्ते से हिरण भी अपनी शक्त्यनुसार यदि गमन करना चाहता है तो उसे कौन रोक सकता है ॥३०॥

प्राचीन कवियों द्वारा क्षुण्ण किये गये-निरूपण कर सुगम बनाये गये कथामार्ग में मेरी भी गति है क्योंकि आगे चलने वाले पुरुषों के द्वारा

जो मार्ग साफ कर दिया जाता है फिर उस मार्ग में कौन पुरुष सरलतापूर्वक नहीं जा सकता है ? अर्थात् सभी जा सकते हैं ॥३१॥

अथवा बड़े-बड़े हाथियों के मर्दन करने से जहाँ वृक्ष बहुत ही विरले कर दिये गये हैं ऐसे वन में जंगली हस्तियों के बच्चे सुलभता से जहाँ-तहाँ घूमते ही हैं ॥३२॥

अथवा जिस समुद्र में बड़े-बड़े मच्छों ने अपने विशाल मुखों के आघात से मार्ग साफ कर दिया है उसमें उन मच्छों के छोटे-छोटे बच्चे भी अपनी इच्छा से घूमते हैं ॥३३॥

अथवा जिस रणभूमि में बड़े-बड़े शूरवीर योद्धाओं ने अपने शस्त्र-प्रहारों से शत्रुओं को रोक दिया है उसमें कायर पुरुष भी अपने को योद्धा मानकर निःशंक हो उछलता है ॥३४॥

इसलिए मैं प्राचीन कवियों को ही हाथ का सहारा मानकर इस पुराणरूपी समुद्र को तैरने के लिए तत्पर हुआ हूँ ॥३५॥

सैकड़ों शाखारूप तरङ्गों से व्याप्त इस पुराणरूपी महासमुद्र में यदि मैं कदाचित् प्रमाद से स्खलित हो जाऊँ-अज्ञान से कोई भूल कर बैठूँ तो विद्वज्जन मुझे क्षमा ही करेंगे ॥३६॥

सज्जन पुरुष कवि के प्रमाद से उत्पन्न हुए दोषों को छोड़कर इस कथारूपी अमृत से मात्र गुणों के ही ग्रहण करने की इच्छा करें क्योंकि सज्जन पुरुष गुण ही ग्रहण करते हैं ॥३७॥

उत्तम-उत्तम उपदेशरूपी रत्नों से भरे हुए इस कथारूप समुद्र में, मगरमच्छों को छोड़कर सार वस्तुओं के ग्रहण करने में ही प्रयत्न करना चाहिए ॥३८॥

पूर्वकाल में सिद्धसेन आदि अनेक कवि हो गये हैं और मैं भी कवि हूँ सो दोनों में कवि नाम की तो समानता है परन्तु अर्थ में उतना ही अन्तर है जितना कि पद्यराग मणि और कांच में होता है ॥३९॥

इसलिए जिनके वचनरूपी दर्पण में समस्त शास्त्र प्रतिबिम्बित थे मैं उन कवियों को बहुत मानता हूँ-उनका आदर करता हूँ । मुझे उन अन्य कवियों से क्या प्रयोजन है जो व्यर्थ ही अपने को कवि माने हुए हैं ॥४०॥

मैं उन पुराण के रचने वाले कवियों को नमस्कार करता हूँ जिनके मुखकमल में सरस्वती साक्षात् निवास करती है तथा जिनके वचन अन्य कवियों की कविता में सूत्रपात का कार्य करते हैं-मूलभूत होते हैं ॥४१॥

वे सिद्धसेन कवि जयवन्त हों जो कि प्रवादीरूप हाथियों के झुण्ड के लिए सिंह के समान हैं, नैगमादि नय ही जिनकी केसर (अयाल-गरदन पर के बाल) तथा अस्ति नास्ति आदि विकल्प ही जिनके पैने नाखून थे ॥४२॥

मैं उन महाकवि समन्तभद्र को नमस्कार करता हूँ जो कि कवियों में ब्रह्मा के समान हैं और जिनके वचनरूप वज्र के पात से मिथ्यामतरूपी पर्वत चूर-चूर हो जाते थे ॥४३॥

स्वतन्त्र कविता करने वाले कवि, शिष्यों को ग्रन्थ के मर्म तक पहुँचाने वाले गमक-टीकाकार, शास्त्रार्थ करने वाले वादी और मनोहर व्याख्यान देने वाले वाग्मी इन सभी के मस्तक पर समन्तभद्र स्वामी का यश चूड़ामणि के समान आचरण करने वाला है, अर्थात् वे सबमें श्रेष्ठ थे ॥४४॥

मैं उन श्रीदत्त के लिए नमस्कार करता हूँ जिनका शरीर तपोलक्ष्मी से अत्यन्त सुन्दर है और जो प्रवादीरूपी हस्तियों के भेदन में सिंह के समान थे ॥४५॥

विद्वानों की सभा में जिनका नाम कह देने मात्र से सब का गर्व दूर हो जाता है वे यशोभद्र स्वामी हमारी रक्षा करें ॥४६॥

मैं उन प्रभाचन्द्र कवि की स्तुति करता हूँ जिनका यश चन्द्रमा की किरणों के समान अत्यन्त शुक्ल है और जिन्होंने चन्द्रोदय की रचना करके जगत को हमेशा के लिए आह्लादित किया है ॥४७॥

वास्तव में चन्द्रोदय की (न्यायकुमुदचन्द्रोदय की) रचना करने वाले उन प्रभाचन्द्र आचार्य के कल्पान्त काल तक स्थिर रहने वाले तथा सज्जनों के मुकुटभूत यश की प्रशंसा कौन नहीं करता? अर्थात् सभी करते हैं ॥४८॥

जिनके वचनों से प्रकट हुए चारों आराधनारूप मोक्षमार्ग (भगवती आराधना) की आराधना कर जगत् के जीव सुखी होते हैं वे शिवकोटि मुनीश्वर भी हमारी रक्षा करें ॥४९॥

जिनकी जटारूप प्रबलयुक्ति पूर्ण वृत्तियाँ-टीकाएँ काव्यों के अनुचिन्तन में ऐसी शोभायमान होती थीं मानो हमें उन काव्यों का अर्थ ही

बतला रही हों, ऐसे वे जटासिंहनन्दि आचार्य (वराङ्गचरित के कर्ता) हम लोगों की रक्षा करें ॥५०॥

वे काणभिक्षु जयवान् हों जिनके धर्मरूप सूत्र में पिरोये हुए मनोहर वचनरूप निर्मल मणि कथाशास्त्र के अलंकारपने को प्राप्त हुए थे **अर्थ** ात् जिनके द्वारा रचे गये कथाग्रन्थ सब ग्रन्थों में अत्यन्त श्रेष्ठ हैं ॥५१॥

जो कवियों में तीर्थकर के समान थे अथवा जिन्होंने कवियों को पथप्रदर्शन करने के लिए किसी लक्षणग्रन्थ की रचना की थी और जिनका वचनरूपी तीर्थ विद्वानों के शब्दसम्बन्धी दोषों को नष्ट करने वाला है ऐसे उन देवाचार्य-देवनन्दी का कौन वर्णन कर सकता है ॥५२॥

भट्टाकलङ्क, श्रीपाल और पात्रकेसरी आदि आचार्यों के अत्यन्त निर्मल गुण विद्वानों के हृदय में मणिमाला के समान सुशोभित होते हैं ॥ ५३॥

वे वादिसिंह कवि किसके द्वारा पूज्य नहीं हैं जो कि कवि, प्रशस्त व्याख्यान देने वाले और गमकों-टीकाकारों में सबसे उत्तम थे ॥५४॥

वे अत्यन्त प्रसिद्ध वीरसेन भट्टारक हमें पवित्र करें जिनकी आत्मा स्वयं पवित्र है, जो कवियों में श्रेष्ठ हैं, जो लोकव्यवहार तथा काव्यस्वरूप के महान् ज्ञाता है तथा जिनकी वाणी के सामने औरों की तो बात ही क्या, स्वयं सुरगुरु बृहस्पति की वाणी भी सीमित-अल्प जान पड़ती है ॥५५-५६॥

धवलादि सिद्धान्तों के ऊपर अनेक उपनिबन्ध-प्रकरणों के रचने वाले हमारे गुरु श्रीवीरसेन भट्टारक के कोमल चरणकमल हमेशा हमारे मनरूप सरोवर में विद्यमान रहे ॥५७॥

श्रीवीरसेन गुरु की धवल, चन्द्रमा के समान निर्मल और समस्त लोक को धवल करने वाली वाणी (धवलाटीका) तथा कीर्ति को मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ ॥५८॥

वे जयसेन गुरु हमारी रक्षा करें जो कि तपोलक्ष्मी के जन्मदाता थे, शास्त्र और शान्ति के भण्डार थे, विद्वानों के समूह के अग्रणी-प्रधान थे, वे कवि परमेश्वर लोक में कवियों द्वारा पूज्य थे जिन्होंने शब्द और **अर्थ** के संग्रहरूप समस्त पुराण का संग्रह किया था ॥५५-६०॥

इन ऊपर कहे हुए कवियों के सिवाय और भी अनेक कवि हैं उनका गुणगान तो दूर रहा नाम मात्र भी कहने में कौन समर्थ हो सकता है **अर्थ** ात् कोई नहीं । मङ्गल प्राप्ति की अभिलाषा से मैं उन जगत् पूज्य सभी कवियों का सत्कार करता हूँ ॥६१॥

संसार में वे ही पुरुष कवि हैं और वे ही चतुर हैं जिनकी कि वाणी धर्मकथा के अंगपने को प्राप्त होती है **अर्थ** ात् जो अपनी वाणी-द्वारा धर्मकथा की रचना करते हैं ॥६२॥

कविता भी वही प्रशंसनीय समझी जाती है जो धर्मशास्त्र से सम्बन्ध रखती है । धर्मशास्त्र के सम्बन्ध से रहित कविता मनोहर होने पर भी मात्र पापास्रव के लिए होती है ॥६३॥

कितने ही मिथ्यादृष्टि कानों को प्रिय लगने वाले मनोहर काव्यग्रन्थों की रचना करते हैं परन्तु उनके वे काव्य अधर्मानुबन्धी होने से धर्मशास्त्र के निरूपक न होने से सज्जनों को सन्तुष्ट नहीं कर सकते ॥६४॥

लोक में कितने ही कवि ऐसे भी हैं जो काव्यनिर्माण के लिए उद्यम करते हैं परन्तु वे बोलने की इच्छा रखने वाले गूँगे पुरुष की तरह केवल हँसी को ही प्राप्त होते हैं ॥६५॥

योग्यता न होने पर भी अपने को कवि मानने वाले कितने ही लोग दूसरे कवियों के कुछ वचनों को लेकर उसकी छाया मात्र कर देते हैं **अर्थ** ात् अन्य कवियों की रचना में थोड़ा-सा परिवर्तन कर उसे अपनी मान लेते हैं जैसे कि नकली व्यापारी दूसरों के थोड़े से कपड़े लेकर उनमें कुछ परिवर्तन कर व्यापारी बन जाते हैं ॥६६॥

शृंगारादि रसों से भरी हुई रसीली कवितारूपी कामिनी के भोगने में उसकी रचना करने में असमर्थ हुए कितने ही कवि उस प्रकार सहायकों की वांछा करते हैं जिस प्रकार कि स्त्रीसंभोग में असमर्थ कामीजन औषधादि सहायकों की वांछा करते हैं ॥६७॥

कितने ही कवि अन्य कवियों द्वारा रचे गये शब्द तथा **अर्थ** में कुछ परिवर्तन कर उनसे अपने काव्यग्रन्थों का प्रसार करते हैं जैसे कि व्यापारी अन्य पुरुषों द्वारा बनाये हुए माल में कुछ परिवर्तन कर अपनी छाप लगा कर उसे बेचा करते हैं ॥६८॥

कितने ही कवि ऐसी कविता करते हैं जो शब्दों से तो सुन्दर होती है परन्तु **अर्थ** से शून्य होती है । उनकी यह कविता लाख की बनी हुई कंठी के समान उत्कृष्ट शोभा को प्राप्त नहीं होती ॥६९॥

कितने ही कवि सुन्दर **अर्थ** को पाकर भी उसके योग्य सुन्दर पदयोजना के बिना सज्जन पुरुषों को आनन्दित करने के लिए समर्थ नहीं

हो पाते जैसे कि भाग्य से प्राप्त हुई कृपण मनुष्य की लक्ष्मी योग्य पद-स्थान योजना के बिना सत्पुरुषों को आनन्दित नहीं कर पाती ॥७०॥
कितने ही कवि अपने इच्छानुसार काव्य बनाने का प्रारम्भ तो कर देते हैं परन्तु शक्ति न होने से उसकी पूर्ति नहीं कर सकते अतः वे टैक्स के भार से दबे हुए बहुकुटुम्बी व्यक्ति के समान दुःखी होते हैं ॥७१॥

कितने ही कवि अपनी कविता-द्वारा कपिल आदि आप्ताभासों के उपदिष्ट मन का पोषण करते हैं-मिथ्यामार्ग का प्रचार करते हैं। ऐसे कवियों का कविता करना व्यर्थ है क्योंकि कुकवि कहलाने की अपेक्षा अकवि कहलाना ही अच्छा है ॥७२॥

कितने ही कवि ऐसे भी हैं जिन्होंने न्याय, व्याकरण आदि महाविद्याओं का अभ्यास नहीं किया है तथा जो संगीत आदि कलाशास्त्रों के ज्ञान से दूर हैं फिर भी वे काव्य करने की चेष्टा करते हैं, अहो इनके साहस को देखो ॥७३॥

इसलिए बुद्धिमानों को शास्त्र और **अर्थ** का अच्छी तरह अभ्यास कर तथा महाकवियों की उपासना करके ऐसे काव्य की रचना करनी चाहिए जो धर्मोपदेश से सहित हो, प्रशंसनीय हो और यश को बढ़ाने वाला हो ॥७४॥

उत्तम कवि दूसरों के द्वारा निकाले हुए दोषों से कभी नहीं डरता। क्या अन्धकार को नष्ट करने वाला सूर्य उलूक के भय से उदित नहीं होता ? ॥७५॥

अन्यजन सन्तुष्ट हों अथवा नहीं कवि को अपना प्रयोजन पूर्ण करने के प्रति ही उद्यम करना चाहिए। क्योंकि कल्याण की प्राप्ति अन्य पुरुषों की आराधना से नहीं होती किन्तु श्रेष्ठ मार्ग के उपदेश से होती है ॥७६॥

कितने ही कवि प्राचीन हैं और कितने ही नवीन हैं तथा उन सबके मत जुड़े-जुड़े हैं अतः उन सबको प्रसन्न करने के लिए कौन समर्थ हो सकता है ? ॥७७॥

क्योंकि कोई शब्दों की सुन्दरता को पसंद करते हैं, कोई मनोहर **अर्थ**सम्पत्ति को चाहते हैं, कोई समास की अधिकता को अच्छा मानते हैं और कोई पृथक्-पृथक् रहने वाली अलमस्त पदावली को ही चाहते हैं ॥७८॥

कोई मृदुल-सरल रचना को चाहते हैं, कोई कठिन रचना को चाहते हैं, कोई मध्यम श्रेणी की रचना पसन्द करते हैं और कोई ऐसे भी हैं जिनकी रुचि सबसे विलक्षण-अनोखी है ॥७९॥

इस प्रकार भिन्न-भिन्न विचार होने के कारण बुद्धिमान् पुरुषों को प्रसन्न करना कठिन कार्य है। तथा सुभाषितों से सर्वथा अपरिचित रहने वाले मूर्ख मनुष्य को वश में करना उनकी अपेक्षा भी कठिन कार्य है ॥८०॥

दुष्ट पुरुष निर्दोष और मनोहर कथा को भी दूषित कर देते हैं, जैसे चन्दनवृक्ष की मनोहर कान्ति से युक्त नयी कोपलों को सर्प दूषित कर देते हैं ॥८१॥

परन्तु सज्जन पुरुष सदोष रचना को भी निर्दोष बना देते हैं जैसे कि शरद् ऋतु पंक सहित सरोवरों को पंकरहित-निर्मल बना देती है ॥८२॥

दुर्जन पुरुष दोषों को चाहते हैं और सज्जन पुरुष गुणों को। उनका यह सहज स्वभाव है जिसकी चिकित्सा बहुत समय में भी नहीं हो सकती **अर्थ** अतः उनका यह स्वभाव किसी प्रकार भी नहीं छूट सकता ॥८३॥

जब कि सज्जनों का धन गुण है और दुर्जनों का धन दोष, तब उन्हें अपना-अपना धन ग्रहण कर लेने में भला कौन बुद्धिमान् पुरुष बाधक होगा ? ॥८४॥

अथवा दुर्जन पुरुष हमारे काव्य से दोषों को ग्रहण कर लेवें जिससे गुण-ही-गुण रह जायें यह बात हमको अत्यन्त इष्ट है क्योंकि जिस काव्य से समस्त दोष निकाल लिये गये हों वह काव्य निर्दोष होकर उत्तम हो जायेगा ॥८५॥

जिस प्रकार मन्त्रविद्या को सुनकर भूत, पिशाचादि महाग्रहों से पीड़ित मनुष्यों का मन दुःखी होता है उसी प्रकार निर्दोष धर्मकथा को सुनकर दुर्जनों का मन दुःखी होता है ॥८६॥

जिन पुरुषों की बुद्धि मिथ्यात्व से दूषित होती है उन्हें धर्मरूपी औषधि तो अरुचिकर मालूम होती ही है साथ में उत्तमोत्तम अन्य पदार्थ भी बुरे मालूम होते हैं जैसे कि पित्तज्वर वाले को औषधि या अन्य दुग्ध आदि उत्तम पदार्थ भी बुरे-कड़वे मालूम होते हैं ॥८७॥

कविरूप मन्त्रवादियों के द्वारा प्रयोग में लाये हुए सुभाषित रूप मंत्रों को सुनकर दुर्जन पुरुष भूतादि ग्रहों के समान प्रकोप को प्राप्त होते हैं ॥८८॥

जिस प्रकार बहुत दिन से जमे हुए बाँस की गाँठदार जड़ स्वभाव से टेढ़ी होती है उसे कोई सीधा नहीं कर सकता उसी प्रकार चिरसंचित मायाचार से पूर्ण दुर्जन मनुष्य भी स्वभाव से टेढ़ा होता है उसे कोई सीधा-सरल परिणामी नहीं कर सकता अथवा जिस तरह कोई कुत्ते की पूँछ को सीधा नहीं कर सकता उसी तरह दुर्जन को भी सीधा नहीं कर सकता ॥८९॥

यह एक आश्चर्य की बात है कि सज्जन पुरुष चिरकाल के सतत प्रयत्न से भी जगत् को अपने समान सज्जन बनाने के लिए समर्थ नहीं हो पाते परन्तु दुर्जन पुरुष उसे शीघ्र ही दुष्ट बना लेते हैं ॥९०॥

ईर्ष्या नहीं करना, दया करना तथा गुणी जीवों से प्रेम करना यह सज्जनता की अन्तिम अवधि है और इसके विपरीत **अर्थात्** ईर्ष्या करना, निर्दयी होना तथा गुणी जीवों से प्रेम नहीं करना यह दुर्जनता की अन्तिम अवधि है । यह सज्जन और दुर्जनों का स्वभाव ही है ऐसा निश्चय कर सज्जनों में न तो विशेष राग ही करना चाहिए और न दुर्जनों का अनादर ही करना चाहिए ॥९१-९२॥

कवियों के अपने कर्तव्य की पूर्ति में सज्जन पुरुष ही अवलम्बन होते हैं ऐसा मानकर मैं अलंकार, गुण, रीति आदि लहरों से भरे हुए कवितारूपी समुद्र को लाँघना चाहता हूँ **अर्थात्** सत्पुरुषों के आश्रय से ही मैं इस महान् काव्य ग्रन्थ को पूर्ण करना चाहता हूँ ॥९३॥ काव्यस्वरूप के जानने वाले विद्वान्, कवि के भाव अथवा कार्य को काव्य कहते हैं । कवि का वह काव्य सर्वसंमत **अर्थ** से सहित, ग्राम्यदोष से रहित, अलंकार से युक्त और प्रसाद आदि गुणों से शोभित होना चाहिए ॥९४॥

कितने ही विद्वान् **अर्थ** की सुन्दरता को वाणी का अलंकार कहते हैं और कितने ही पदों की सुन्दरता को, किन्तु हमारा मत है कि अर्थ और पद दोनों की सुन्दरता ही वाणी का अलंकार है ॥९५॥

सज्जन पुरुषों का बनाया हुआ जो काव्य अलंकारसहित, शृंगारादि रसों से युक्त, सौन्दर्य से ओतप्रोत और उच्छिष्टता रहित **अर्थात्** मौलिक होता है वह काव्य सरस्वतीदेवी के मुख के समान शोभायमान होता है अर्थात् जिस प्रकार शरीर में मुख सबसे प्रधान अंग है उसके बिना शरीर की शोभा और स्थिरता नहीं होती उसी प्रकार सर्व लक्षणपूर्ण काव्य ही सब शास्त्रों में प्रधान है तथा उसके बिना अन्य शास्त्रों की शोभा और स्थिरता नहीं हो पाती ॥९६॥

जिस काव्य में न तो रीति की रमणीयता है, न पदों का लालित्य है और न रस का ही प्रवाह है उसे काव्य नहीं कहना चाहिए वह तो केवल कानों को दुःख देने वाली ग्रामीण भाषा ही है ॥९७॥

जो अनेक **अर्थों** को सूचित करने वाले पदविन्यास से सहित, मनोहर रीतियों से युक्त एवं स्पष्ट अर्थ से उद्भासित प्रबन्धों-काव्यों की रचना करते हैं वे महाकवि कहलाते हैं ॥९८॥

जो प्राचीनकाल के इतिहास से सम्बन्ध रखने वाला हो, जिसमें तीर्थकर चक्रवर्ती आदि महापुरुषों के चरित्र का चित्रण किया गया हो तथा जो धर्म, **अर्थ** और काम के फल को दिखाने वाला हो उसे महाकाव्य कहते हैं ॥९९॥

किसी एक प्रकीर्णक विषय को लेकर कुछ श्लोकों की रचना तो सभी कवि कर सकते हैं परन्तु पूर्वापर का सम्बन्ध मिलाते हुए किसी प्रबन्ध की रचना करना कठिन कार्य है ॥१००॥

जब कि इस संसार में शब्दों का समूह अनन्त है, वर्णनीय विषय अपनी इच्छा के आधीन है, रस स्पष्ट हैं और उत्तमोत्तम छन्द सुलभ हैं तब कविता करने में दरिद्रता क्या है ? **अर्थात्** इच्छानुसार सामग्री के मिलने पर उत्तम कविता ही करना चाहिए ॥१०१॥

विशाल शब्दमार्ग में भ्रमण करता हुआ जो कवि **अर्थरूपी** सघन वनों में घूमने से खेद-खिन्नता को प्राप्त हुआ है उसे विश्राम के लिए महाकविरूप वृक्षों की छाया का आश्रय लेना चाहिए । अर्थात् जिस प्रकार महावृक्षों की छाया से मार्ग की थकावट दूर हो जाती है और चित्त हलका हो जाता है उसी प्रकार महाकवियों के काव्यग्रन्थों के परिशीलन से अर्थाभाव से होने वाली सब खिन्नता दूर हो जाती है और चित्त प्रसन्न हो जाता है ॥१०२॥

प्रतिभा जिसकी जड़ है, माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि गुण जिसकी उन्नत शाखाएँ हैं, और उत्तम शब्द ही जिसके उज्ज्वल पत्ते हैं ऐसा यह महाकविरूपी वृक्ष यशरूपी पुष्पमञ्जरी को धारण करता है ॥१०३॥

अथवा बुद्धि ही जिसके किनारे है, प्रसाद आदि गुण ही जिसमें लहरे हैं, जो गुणरूपी रत्नों से भरा हुआ है, उच्च और मनोहर शब्दों से युक्त है, तथा जिसमें गुरुशिष्य परम्परा रूप विशाल प्रवाह चला आ रहा है ऐसा यह महाकवि समुद्र के समान आचरण करता है ॥१०४॥ हे विद्वान् पुरुषो ! तुम लोग ऊपर कहे हुए काव्यरूपी रसायन का भरपूर उपयोग करो जिससे कि तुम्हारा यशरूपी शरीर कल्पान्त काल

तक स्थिर रह सके । भावार्थ-जिस प्रकार रसायन सेवन करने से शरीर पुष्ट हो जाता है उसी प्रकार ऊपर कहे हुए काव्य, महाकवि आदि के स्वरूप को समझकर कविता करनेवाले का यश चिरस्थायी हो जाता है ॥१०५॥

जो पुरुष यशरूपी धन का संचय और पुण्यरूपी पुण्य का व्यवहार-लेनदेन करना चाहते हैं उनके लिए धर्मकथा को निरूपण करने वाला यह काव्य मूलधन (पूँजी) के समान माना गया है ॥१०६॥

यह निश्चय कर मैं ऐसी कथा को आरम्भ करता हूँ जो धर्मशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाली है, जिसका प्रारम्भ अनेक सज्जन पुरुषों के द्वारा किया गया है तथा जिसमें ऋषभनाथ आदि महापुरुषों के जीवनचरित्र का वर्णन किया गया है ॥१०७॥

जो धर्मकथा कल्पलता के समान, फैली हुई अनेक शाखाओं (डालियों, कथा-उपकथाओं) से सहित है, छाया (अनातप, कान्ति नामक गुण) से युक्त है, फलों (मधुर फल, स्वर्ग मोक्षादि की प्राप्ति) से शोभायमान है, आयों भोगभूमिज मनुष्य, श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा सेवित है, मनोहर है, और उत्तम है । अथवा जो धर्मकथा बड़े सरोवर के समान प्रसन्न (स्वच्छ, प्रसादगुण से सहित) है, अत्यन्त गम्भीर (अगाध, गूढ़ अर्थ से युक्त) है, निर्मल (कीचड़ आदि से रहित, दुःश्रवत्व आदि रोगों से रहित) है, सुखकारी है, शीतल है, और जगत्त्रय के सन्ताप को दूर करने वाली है । अथवा जो धर्मकथा आकाशगंगा के समान गुरुप्रवाह (बड़े भारी प्रवाह, गुरुपरम्परा से युक्त है), पंक (कीचड़, दोष) से रहित है, ताप (गरमी, संसारभ्रमणजन्य खेद) को नष्ट करने वाली है, कुशल पुरुषों (देवों, गणधरादि चतुर पुरुषों) द्वारा किये गये अवतार (प्रवेश, अवगाहन) से सहित है और पुण्य (पवित्र, पुण्यवर्धक) रूप है । अथवा जो धर्मकथा चित्त को प्रसन्न करने, सब प्रकार के मंगलों का संग्रह करने तथा अपने आप में जगत्त्रय के प्रतिबिम्बित करने के कारण दर्पण की शोभा को हँसती हुई-सी जान पड़ती है । अथवा जो धर्मकथा अत्यन्त उन्नत और अभीष्ट फल को देने वाले श्रुतस्कन्धरूपी कल्पवृक्ष से प्राप्त हुई श्रेष्ठ बड़ी शाखा के समान शोभायमान हो रही है । अथवा जो धर्मकथा प्रथमानुयोगरूपी गहरे समुद्र की बेला (किनारे) के समान महागम्भीर शब्दों से सहित है और फैले हुए महान् अर्थ रूप जल से युक्त है । जो धर्मकथा स्वर्ग मोक्षादि के साधक समस्त तन्त्रों का निरूपण करने वाली है, मिथ्यामत को नष्ट करने वाली है, सज्जनों के संवेग को पैदा करने वाली और वैराग्य रस को बढ़ाने वाली है । जो धर्मकथा आश्चर्यकारी अर्थों से भरी हुई है, अत्यन्त मनोहर है, सत्य अथवा परम प्रयोजन को सिद्ध करने वाली है, अनेक बड़ी-बड़ी कथाओं से युक्त है, गुणवान् पूर्वाचार्यों द्वारा जिसकी रचना की गयी है जो यश तथा कल्याण को करने वाली है, पुण्यरूप है और स्वर्गमोक्षादि फलों को देने वाली है ऐसी उस धर्मकथा को मैं पूर्व आचार्यों की आम्नाय के अनुसार कहूँगा । हे सज्जन पुरुषों, उसे तुम सब ध्यान से सुनो ॥१०८-११६॥

बुद्धिमानों को इस कथारम्भ के पहले ही कथा, वक्ता और श्रोताओं के लक्षण अवश्य ही कहना चाहिए ॥११७॥

मोक्ष पुरुषार्थ के उपयोगी होने से धर्म, अर्थ तथा काम का कथन करना कथा कहलाती है । जिसमें धर्म का विशेष निरूपण होता है उसे बुद्धिमान पुरुष सत्कथा कहते हैं ॥११८॥

धर्म के फलस्वरूप जिन अभ्युदयों की प्राप्ति होती है उनमें अर्थ और काम भी मुख्य हैं अतः धर्म का फल दिखाने के लिए अर्थ और काम का वर्णन करना भी कथा कहलाती है । यदि यह अर्थ और काम की कथा धर्मकथा से रहित हो तो विकथा ही कहलायेगी और मात्र पापास्रव का ही कारण होगी ॥११९॥

जिससे जीवों को स्वर्ग आदि अभ्युदय तथा मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है वास्तव में वही धर्म कहलाता है उससे सम्बन्ध रखने वाली जो कथा है उसे सद्धर्मकथा कहते हैं ॥१२०॥

सप्त ऋद्धियों से शोभायमान गणधरादि देवों ने इस सद्धर्मकथा के सात अंग कहे हैं । इन सात अङ्गों से भूषित कथा अलङ्कारों से सजी हुई नटी के समान अत्यन्त सरस हो जाती है ॥१२१॥

द्रव्य, क्षेत्र, तीर्थ, काल, भाव, महाफल और प्रकृत ये सात अंग कहलाते हैं । ग्रंथ के आदि में इनका निरूपण अवश्य होता चाहिए ॥१२२॥ जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल यह छह द्रव्य हैं, ऊर्ध्व, मध्य और पाताल ये तीन लोक क्षेत्र हैं, जिनेन्द्रदेव का चरित्र ही तीर्थ है, भूत, भविष्यत् और वर्तमान यह तीन प्रकार का काल है, क्षायोपशमिक अथवा क्षायिक ये दो भाव हैं, तत्त्वज्ञान का होना फल कहलाता है, और वर्णनीय कथावस्तु को प्रकृत कहते हैं ॥१२३-१२४॥

इस प्रकार ऊपर कहे हुए सात अंग जिस कथा में पाये जायें उसे सत्कथा कहते हैं । इस ग्रन्थ में भी अवसर के अनुसार इन अंगों का विस्तार दिखाया जायेगा ॥१२५॥

वक्ता का लक्षण ऊपर कही हुई कथा का कहने वाला आचार्य वही पुरुष हो सकता है जो सदाचारी हो, स्थिरबुद्धि हो, इन्द्रियों को वश में करने वाला हो, जिसकी सब इन्द्रियाँ समर्थ हों, जिसके अंगोंपांग सुन्दर हों, जिसके वचन स्पष्ट परिमार्जित और सबको प्रिय लगने वाले हों, जिसका आशय जिनेन्द्रमतरूपी समुद्र के जल से धुला हुआ और निर्मल हो, जिसकी वाणी समस्त दोषों के अभाव से अत्यन्त उज्ज्वल हो, श्रीमान् हो, सभाओं को वश में करने वाला हो, प्रशस्त वचन बोलने वाला हो, गम्भीर हो, प्रतिभा से युक्त हो, जिसके व्याख्यान को सत्पुरुष पसंद करते हों, अनेक प्रश्न तथा कुतर्कों को सहने वाला हो, दयालु हो, प्रेमी हो, दूसरे के अभिप्राय को समझने में निपुण हो, जिसने समस्त विद्याओं का अध्ययन किया हो और धीर, वीर हो ऐसे पुरुष को ही कथा कहनी चाहिए ॥१२६-१२९॥
जो अनेक उदाहरणों के द्वारा वस्तुस्वरूप कहने में कुशल है, संस्कृत, प्राकृत आदि अनेक भाषाओं में निपुण है, अनेक शास्त्र और कलाओं का जानकार है वही उत्तम वक्ता कहा जाता है ॥१३०॥

वक्ता को चाहिए कि वह कथा कहते समय अंगुलियाँ नहीं चटकावे, न भौंह ही चलावे, न किसी पर आक्षेप करे, न हँसे, न जोर से बोले और न धीरे ही बोले ॥१३१॥

यदि कदाचित् सभा के बीच में जोर से बोलना पड़े तो उद्धतपना छोड़कर सत्य प्रमाणित वचन इस प्रकार बोले जिससे किसी को क्षोभ न हो ॥१३२॥

वक्ता को हमेशा वही वचन बोलना चाहिए जो हितकारी हो, परिमित हो, धर्मोपदेश से सहित हो और यश को करने वाला हो। अवसर आने पर भी अधर्मयुक्त तथा अकीर्ति को फैलाने वाले वचन नहीं कहना चाहिए ॥१३३॥

इस प्रकार अयुक्तियों का परिहार करने वाली कथा की युक्तियों का सम्यक् प्रकार से विचार कर जो वर्णनीय कथावस्तु का प्रारम्भ करता है वह प्रशंसनीय श्रेष्ठ वक्ता समझा जाता है ॥१३४॥

बुद्धिमान वक्ता को चाहिए कि वह अपने मत की स्थापना करते समय आक्षेपिणी कथा कहे, मिथ्या मत का खण्डन करते समय विक्षेपिणी कथा कहे, पुण्य के फलस्वरूप विभूति आदि का वर्णन करते समय संवेदिनी कथा कहे तथा वैराग्य उत्पादन के समय निर्वेदिनी कथा कहे ॥१३५-१३६॥

इस प्रकार धर्मकथा के अंगभूत आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, संवेदिनी और निर्वेदिनी रूप चारों कथाओं का विचार कर श्रोताओं की योग्यतानुसार वक्ता को कथन करना चाहिए ॥१३७॥

अब आचार्य श्रोताओं का लक्षण कहते हैं-

श्रोता का लक्षण

जो हमेशा धर्मश्रवण करने में लगे रहते हैं विद्वानों ने उन्हें श्रोता माना है। अच्छे और बुरे के भेद से श्रोता अनेक प्रकार के हैं, उनके अच्छे और बुरे भावों के जानने के लिए नीचे लिखे अनुसार दृष्टान्तों की कल्पना की जाती है ॥१३८॥

मिट्टी, चलनी, बकरा, बिलाव, तोता, बगुला, पाषाण, सर्प, गाय, हंस, भैंसा, फूटा घड़ा, डाँस और जोंक इसी प्रकार चौदह प्रकार के श्रोताओं के दृष्टान्त समझना चाहिए। भावार्थ - जैसे मिट्टी पानी का संसर्ग रहते हुए कोमल रहती है, बाद में कठोर हो जाती है। इसी प्रकार जो श्रोता शास्त्र सुनते समय कोमल परिणामी हों परन्तु बाद में कठोर परिणामी हो जायें वे मिट्टी के समान श्रोता हैं। जिस प्रकार चलनी सारभूत आटे को नीचे गिरा देती है और छोक को बचा रखती है उसी प्रकार जो श्रोता वक्ता के उपदेश में से सारभूत तत्त्व को छोड़कर निःसार तत्त्व को ग्रहण करते हैं वे चलनी के समान श्रोता हैं। जो अत्यन्त कामी हैं अर्थात् शास्त्रोपदेश के समय श्रृंगार का वर्णन सुनकर जिनके परिणाम श्रृंगार रूप हो जायें वे अज के समान श्रोता हैं। जैसे अनेक उपदेश मिलने पर भी बिलाव अपनी हिंसक प्रवृत्ति नहीं छोड़ता, सामने आते ही चूहे पर आक्रमण कर देता है उसी प्रकार जो श्रोता बहुत प्रकार से समझाने पर भी क्रूरता को नहीं छोड़ें, अवसर आने पर क्रूर प्रवृत्ति करने लगें वे मार्जार के समान श्रोता हैं। (जैसे तोता स्वयं अज्ञानी है दूसरों के द्वारा कहलाने पर ही कुछ सीख पाता है वैसे ही जो श्रोता स्वयं ज्ञान से रहित है दूसरों के बतलाने पर ही कुछ शब्द मात्र ग्रहण कर पाते हैं वे शुक के समान श्रोता हैं। जो बगुले के समान बाहर से भद्रपरिणामी मालूम होते हों परन्तु जिनका अन्तरङ्ग अत्यन्त दुष्ट हो वे बगुला के समान श्रोता हैं। जिनके परिणाम हमेशा कठोर रहते हैं तथा जिनके हृदय में समझाये जाने पर जिनवाणी रूप जल का प्रवेश नहीं हो पाता वे पाषाण के समान श्रोता हैं। जैसे साँप को पिलाया हुआ दूध भी विषरूप हो जाता है वैसे ही जिनके सामने उत्तम-से-उत्तम उपदेश भी खराब असर करता है

वे सर्प के समान श्रोता हैं। जैसे गाय तृण खाकर दूध देती है वैसे ही जो थोड़ा-सा उपदेश सुनकर बहुत लाभ लिया करते हैं वे गाय के समान श्रोता हैं। जो केवल सार वस्तु को ग्रहण करते हैं वे हंस के समान श्रोता हैं। जैसे भैंसा पानी तो थोड़ा पीता है पर समस्त पानी को गँदला कर देता है। इसी प्रकार जो श्रोता उपदेश तो अल्प ग्रहण करते हैं परन्तु अपने कुतर्कों से समस्त सभा में क्षोभ पैदा कर देते हैं वे भैंसा के समान श्रोता हैं। जिनके हृदय में कुछ भी उपदेश नहीं ठहरे वे छिद्र घट के समान श्रोता हैं। जो उपदेश तो बिल्कुल ही ग्रहण न करें परन्तु सारी सभा को व्याकुल कर दें वे डांस के समान श्रोता हैं। जो गुण छोड़कर सिर्फ अवगुणों को ही ग्रहण करें वे जोंक के समान श्रोता हैं। इन ऊपर कहे हुए श्रोताओं के उत्तम, मध्यम और अधम के भेद से तीन-तीन भेद होते हैं। इनके सिवाय और भी अन्य प्रकार के श्रोता हैं परन्तु उन सबकी गणना से क्या लाभ है ॥१३९-१४०॥

इन श्रोताओं में जो श्रोता गाय और हंस के समान हैं वे उत्तम कहलाते हैं, जो मिट्टी और तोता के समान हैं उन्हें मध्यम जानना चाहिए और बाकी के समान अन्य सब श्रोता अधम माने गये हैं ॥१४१॥

जो श्रोता नेत्र, दर्पण, तराजू और कसौटी के समान गुण-दोषों के बतलाने वाले हैं वे सत्कथारूप रत्न के परीक्षक माने गये हैं ॥१४२॥

श्रोताओं को शास्त्र सुनने के बदले किसी सांसारिक फल की चाह नहीं करनी चाहिए। इसी प्रकार वक्ता को भी श्रोताओं से सत्कार, धन, औषधि और आश्रय-घर आदि की इच्छा नहीं करनी चाहिए ॥१४३॥

स्वर्ग, मोक्ष आदि कल्याणों की अपेक्षा रखकर ही वक्ता को सन्मार्ग का उपदेश देना चाहिए तथा श्रोता को सुनना चाहिए क्योंकि सत्पुरुषों की चेष्टाएं वास्तविक कल्याण की प्राप्ति के लिए ही होती है अन्य लौकिक कार्यों के लिए नहीं ॥१४४॥

जो श्रोता शुश्रूषा आदि गुणों से युक्त होता है वही प्रशंसनीय माना जाता है। इसी प्रकार जो वक्ता वात्सल्य आदि गुणों से भूषित होता है वही प्रशंसनीय माना जाता है ॥१४५॥

शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, स्मृति, ऊह, अपोह और निर्णीति ये श्रोताओं के आठ गुण जानना चाहिए ॥ भावार्थ-सत्कथा को सुनने की इच्छा होना शुश्रूषा गुण है, सुनना श्रवण है, समझकर ग्रहण करना ग्रहण है, बहुत समय तक उसकी धारणा रखना धारण है, पिछले समय ग्रहण किये हुए उपदेश आदि का स्मरण करना स्मरण है, तर्क-द्वारा पदार्थ स्वरूप के विचार करने की शक्ति होना ऊह है, हेय वस्तुओं को छोड़ना अपोह है और युक्ति द्वारा पदार्थ का निर्णय करना निर्णीति गुण है। श्रोताओं में इनका होना अत्यन्त आवश्यक है ॥१४६॥

सत्कथा के सुनने से श्रोताओं को जो पुण्य का संचय होता है उससे उन्हें पहले तो स्वर्ग आदि अभ्युदयों की प्राप्ति होती है और फिर क्रम से मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥१४७॥

इस प्रकार मैंने शास्त्रों के अनुसार आप लोगों को कथामुख (कथा के प्रारम्भ) का वर्णन किया है अब इस कथा के अवतार का सम्बन्ध कहता हूँ सो सुनो ॥१४८॥

कथावतार का वर्णन गुरुपरम्परा से ऐसा सुना जाता है कि पहले तृतीय काल के अन्त में नाभिराज के पुत्र भगवान् ऋषभदेव विहार करते हुए अपनी इच्छा से पृथिवी के मुकुटभूत कैलाश पर्वत पर आकर विराजमान हुए ॥१४९॥

कैलाश पर विराजमान हुए उन भगवान् वृषभदेव की देवों ने भक्तिपूर्वक पूजा की तथा जुड़े हुए हाथों को मुकुट से लगाकर स्तुति की ॥ १५०॥

उसी पर्वत पर त्रिजगद्गुरु भगवान् को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई, उससे हर्षित होकर इन्द्र ने वहाँ समवसरण की रचना क्रायी ॥१५१॥ देवाधिदेव भगवान् आश्चर्यकारी विभूति के साथ जब समवसरण सभा में विराजमान थे तब भक्ति से भरे हुए महाराज भरत ने हर्ष के साथ आकर उन्हें नमस्कार किया ॥१५२॥

महाराज भरत ने मनुष्य और देवों से पूजित उन जिनेन्द्र-देव की अर्थ से भरे हुए अनेक स्तोत्रों द्वारा पूजा की और फिर वे विनय से नत होकर अपने योग्य स्थान पर बैठ गये ॥१५३॥

देदीप्यमान देवों से भरी हुई वह सभा भगवान् से धर्मरूपी अमृत का पान कर उस तरह संतुष्ट हुई थी जिस तरह कि सूर्य के तेज किरणों का पान कर कुमलिनी संतुष्ट होती है ॥१५४॥

इसके अनन्तर मूर्तिमान् विनय की तरह महाराज भरत हाथ जोड़ सभा के बीच खड़े होकर यह वचन कहने लगे ॥१५५॥

प्रार्थना करते समय महाराज भरत के दाँतों की किरणरूपी केशर से शोभायमान मुख से जो मनोहर वाणी निकल रही थी वह ऐसी मालूम

होती थी मानो उनके मुख से प्रसन्न हुई उज्ज्वल वर्णधारिणी सरस्वती ही निकल रही हो ॥१५६॥

हे देव, देव और धरणेन्द्रों से भरी हुई यह सभा आपके निमित्त से प्रबोध-प्रकृष्ट ज्ञान को (पक्ष में विकास को) पाकर कमलिनी के समान शोभायमान हो रही है क्योंकि सबके मुख, कमल के समान अत्यन्त प्रफुल्लित हो रहे हैं ॥१५७॥

हे भगवन् आपके यह दिव्य वचन अज्ञानान्धकाररूप प्रलय में नष्ट हुए जगत् की पुनरुत्पत्ति के लिए सींचे गये अमृत के समान मालूम होते हैं ॥१५८॥

हे देव, यदि अज्ञानान्धकार को नष्ट करने वाले आपके वचनरूप किरण प्रकट नहीं होते तो निश्चय से यह समस्त जगत् अज्ञानरूपी सघन अन्धकार में पड़ा रहता ॥१५९॥

हे देव, आपके दर्शन मात्र से ही मैं कृतार्थ हो गया हूँ, यह ठीक ही है महानिधि को पाकर कौन कृतार्थ नहीं होता ? ॥१६०॥

आपके वचन सुनकर तो मैं और भी अधिक कृतार्थ हो गया क्योंकि जब लोग अमृत को देखकर ही कृतार्थ हो जाते हैं तब उसका स्वाद लेने वाला क्या कृतार्थ नहीं होगा अर्थात् अवश्य ही होगा ॥१६१॥

हे नाथ, वन में मेघ का बरसना सबको इष्ट है यह कहावत जो सुनी जाती थी सो आज यहाँ आपके द्वारा धर्मरूपी जल की वर्षा देखकर मुझे प्रत्यक्ष हो गयी । भावार्थ-जिस प्रकार वन में पानी की वर्षा सबको अच्छी लगती है उसी प्रकार इस कैलाश के कानन में आपके द्वारा होने वाली धर्मरूपी जल की वर्षा सबको अच्छी लग रही है ॥१६२॥

हे भगवन्, उपदेश देते हुए आपने किस पदार्थ को छोड़ा है ? अर्थात् किसी को भी नहीं । क्या सघन अन्धकार को नष्ट करने वाला सूर्य किसी पदार्थ को प्रकाशित करने से बाकी छोड़ देता है ? अर्थात् नहीं ॥१६३॥

हे भगवन् आपके द्वारा दिखलाये हुए तत्त्वों में सत्पुरुषों की बुद्धि कभी भी मोह को प्राप्त नहीं होती । क्या महापुरुषों के द्वारा दिखाये हुए विशाल मार्ग में नेत्र वाला पुरुष कभी गिरता है अर्थात् नहीं गिरता ॥१६४॥

हे स्वामिन्, तीनों लोकों की लक्ष्मी के मुख देखने के लिए मंगल दर्पण के समान आचरण करने वाले आपके इन वचनों के विस्तार में प्रतिबिम्बित हुई संसार की समस्त वस्तुओं को यद्यपि मैं देख रहा हूँ तथापि मेरे हृदय में कुछ पूछने की इच्छा उठ रही है और उस इच्छा का कारण आपके वचनरूपी अमृत के निरन्तर पान करते रहने की लालसा ही समझनी चाहिए ॥१६५-१६६॥

हे देव, यद्यपि लोग कह सकते हैं कि गणधर को छोड़कर साक्षात् आपसे पूछने वाला यह कौन है ? तथापि मैं इस बात को कुछ नहीं समझता, आपकी सातिशय भक्ति ही मुझे आपसे पूछने के लिए प्रेरित कर रही है ॥१६७॥

हे भगवन् पदार्थ का विशेष स्वरूप जानने की इच्छा, अधिक लाभ की भावना, श्रद्धा की अधिकता अथवा कुछ करने की इच्छा ही मुझे आपके सामने वाचाल कर रही है ॥१६८॥

हे भगवन् मैं तीर्थकर आदि महापुरुषों के उस पुण्य को सुनना चाहता हूँ जिसमें सर्वज्ञप्रणीत समस्त धर्मों का संग्रह किया गया हो । हे देव, मुझ पर प्रसन्न होइए, दया कीजिए और कहिए कि आपके समान कितने सर्वज्ञ-तीर्थकर होंगे ? मेरे समान कितने चक्रवर्ती होंगे ? कितने नारायण, कितने बलभद्र और कितने उनके शत्रु-प्रतिनारायण होंगे ? उनका अतीत चरित्र कैसा था ? वर्तमान में और भविष्यत् में कैसा होगा ? हे वक्तृश्रेष्ठ, यह सब मैं आपसे सुनना चाहता हूँ ॥१६९-१७१॥

हे सबका हित करने वाले जिनेन्द्र, यह भी कहिए कि वे सब किन-किन नामों के धारक होंगे ? किस-किस गोत्र में उत्पन्न होंगे ? उनके सहोदर कौन-कौन होंगे ? उनके क्या-क्या लक्षण होंगे ? वे किस आकार के धारक होंगे ? उनके क्या-क्या आभूषण होंगे ? उनके क्या-क्या अस्त्र होंगे ? उनकी आयु और शरीर का प्रमाण क्या होगा ? एक-दूसरे में कितना अन्तर होगा ? किस युग में कितने युगों के अंश होते हैं ? एक युग से दूसरे युग में कितना अन्तर होगा ? युगों का परिवर्तन कितनी बार होता है ? युग के कौनसे भाग में मनु-कुलकर उत्पन्न होते हैं ? वे क्या जानते हैं ? एक मनु से दूसरे मनु के उत्पन्न होने तक कितना अन्तराल होता है ? हे देव, यह सब जानने का मुझे कौतूहल उत्पन्न हुआ है सो यथार्थ रीति से मुझे इन सब तत्वों का स्वरूप कहिए ॥१७२-१७५॥

इसके सिवाय लोक का स्वरूप, काल का अवतरण, वंशों की उत्पत्ति, विनाश और स्थिति, क्षत्रिय आदि वर्णों की उत्पत्ति भी मैं आपके श्रीमुख से जानना चाहता हूँ ॥१७६॥

हे जिनेन्द्रसूर्य, अनादिकाल की वासना से उत्पन्न हुए मिथ्याज्ञान से सातिशय बड़े हुए मेरे इस संशयरूपी अन्धकार को आप अपने

वचनरूप किरणों के द्वारा शीघ्र ही नष्ट कीजिए ॥१७७॥

इस प्रकार प्रश्न कर महाराज भरत जब चुप हो गये और कथा सुनने में उत्सुक होते हुए अपने योग्य आसन पर बैठ गये तब समस्त सभा ने भरत महाराज के इस प्रश्न की सातिशय प्रशंसा की जो कि समय के अनुसार किया गया था, प्रकाशमान अर्थों से भरा हुआ था, पूर्वापर सम्बन्ध से सहित था तथा उद्धृतपने से रहित था ॥१७८-१७९॥

उस समय उनके इस प्रश्न को सुनकर सब देवता लोग महाराज भरत की ओर आँख उठाकर देखने लगे जिससे ऐसा मालूम होता था मानो वे उन पर पुष्पवृष्टि ही कर रहे हैं ॥१८०॥

हे भरतेश्वर, आप धन्य हैं, आज आप हमारे भी पूज्य हुए हैं । इस प्रकार इन्द्रों ने उनकी प्रशंसा की थी सो ठीक ही है, विनय से किसकी प्रशंसा नहीं होती ? अर्थात् सभी की होती है ॥१८१॥

संसार के सब पदार्थों को एक साथ जानने वाले भगवान् वृषभनाथ-यद्यपि प्रश्न के बिना ही भरत महाराज के अभिप्राय को जान गये थे तथापि वे श्रोताओं के अनुरोध से प्रश्न के पूर्ण होने की प्रतीक्षा करते रहे ॥१८२॥

इस प्रकार महाराज भरत के द्वारा प्रार्थना किये गये आदिनाथ भगवान् सातिशय गम्भीर वाणी से पुराण का अर्थ कहने लगे ॥१८३॥

उस समय भगवान् के मुख से जो वाणी निकल रही थी वह बड़ा ही आश्चर्य करने वाली थी क्योंकि उसके निकलते समय न तो तालू, कण्ठ, ओठ, आदि अवयव ही हिलते थे और न दाँतों की किरण ही प्रकट हो रही थी ॥१८४॥

अथवा सचमुच में भगवान् का मुखकमल ही इस सरस्वती का उत्पत्तिस्थान था उसने वहाँ उत्पन्न होकर ही जगत् को वश में किया ॥१८५॥ भगवान् के मुख से जो दिव्य ध्वनि प्रकट हो रही थी वह बोलने की इच्छा के बिना ही प्रकट हो रही थी सो ठीक है क्योंकि जगत् का उद्धार चाहने वाले महापुरुषों की चेष्टाएँ आश्चर्य करने वाली ही होती हैं ॥१८६॥

जिस प्रकार नहरों के जल का प्रवाह एकरूप होने पर भी अनेक प्रकार के वृक्षों को पाकर अनेकरूप हो जाता है उसी प्रकार जिनेन्द्रदेव की वाणी एकरूप होने पर भी पृथक्-पृथक् श्रोताओं को प्राप्त कर अनेकरूप हो जाती है । भावार्थ--भगवान् की दिव्य ध्वनि उद्गम स्थान से एकरूप ही प्रकट होती है परन्तु उसमें सर्वभाषारूप परिणमन होने का अतिशय होता है जिससे सब श्रोता लोग उसे अपनी-अपनी भाषा में समझ जाते हैं ॥१८७॥

वे जगद्गुरु भगवान् स्वयं कृतकृत्य होकर भी धर्मोपदेश के द्वारा दूसरों की भलाई के लिए उद्योग करते थे । इससे निश्चय होता है कि महापुरुषों की चेष्टाएँ स्वभाव से ही परोपकार के लिए होती हैं ॥१८८॥

उनके मुख से प्रकट हुई दिव्यवाणी ने उस विशाल सभा को अमृत की धारा के समान सन्तुष्ट किया था क्योंकि अमृतधारा के समान ही उनकी वाणी भव्य जीवों का सन्ताप दूर करने वाली थी, जन्म-मरण के दुःख से छुड़ाने वाली थी ॥१८९॥

महाराज भरत ने पहले जो कुछ पूछा था उस सबको भगवान् वृषभदेव बिना किसी कहे के क्रमपूर्वक कहने लगे ॥१९०॥

जगद्गुरु भगवान् वृषभदेव ने सबसे पहले उत्सर्पिणीकाल सम्बन्धी तिरेसठ शलाकापुरुषों का चरित्र निरूपण करने वाले अत्यन्त गम्भीर पुराण का निरूपण किया, फिर अवसर्पिणीकाल का आश्रय कर तत्सम्बन्धी तिरेसठ शलाकापुरुषों की कथा कहने की इच्छा से पीठिकासहित उनके पुराण का वर्णन किया ॥१९१-१९२॥

भगवान् वृषभनाथ ने तृतीय काल के अन्त में जो पूर्वकालीन इतिहास कहा था, वृषभसेन गणधर ने उसे अर्थरूप से अध्ययन किया ॥ १९३॥

तदनन्तर गणधरों में प्रधान वृषभसेन गणधर ने भगवान् की वाणी को अर्थरूप से हृदय में धारण कर जगत् के हित के लिए उसकी पुराणरूप से रचना की ॥१९४॥

वही पुराण अजितनाथ आदि शेष तीर्थकरों, गणधरों तथा बड़े-बड़े ऋषियों-द्वारा प्रकाशित किया गया ॥१९५॥

तदनन्तर चतुर्थ काल के अन्त में एक समय सिद्धार्थ राजा के पुत्र सर्वज्ञ महावीर स्वामी विहार करते हुए राजगृही के विपुलाचल पर्वत पर आकर विराजमान हुए ॥१९६॥

इसके बाद पता चलने पर राजगृही के अधिपति विनयवान् श्रेणिक महाराज ने जाकर उन अन्तिम तीर्थकर भगवान् महावीर से उस पुराण को पूछा ॥१९७॥

महाराज श्रेणिक के प्रति महावीर स्वामी के अनुग्रह का विचार कर गौतम गणधर ने उस समस्त पुराण का वर्णन किया ॥१९८॥

गौतम स्वामी चिरकाल तक उसका स्मरण-चिन्तन करते रहे, बाद में उन्होंने उसे सुधर्माचार्य से कहा और सुधर्माचार्य ने जम्बूस्वामी से कहा ॥१९९॥

उसी समय से लेकर आज तक यह पुराण बीच में नष्ट नहीं होने वाली गुरुपरम्परा के क्रम से चला आ रहा है । इसी पुराण का मैं भी इस समय शक्ति के अनुसार प्रकाश करूँगा ॥२००॥

इस कथन से यह सिद्ध होता है कि इस पुराण के मूलकर्ता अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर हैं और निकट क्रम की अपेक्षा उत्तर ग्रन्थकर्ता गौतम गणधर हैं ॥२०१॥

महाराज श्रेणिक के प्रश्न को उद्देश्य करके गौतम स्वामी ने जो उत्तर दिया था उसी का अनुसंधान-विचार कर मैं इस पुराण ग्रन्थ की रचना करता हूँ ॥२०२॥

यह प्रतिमुख नाम का प्रकरण कथा के सम्बन्ध को सूचित करने वाला है तथा कथा की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए उपयोगी है अतः मैंने यहाँ उसका वर्णन किया है ॥२०३॥

यह पुराण ऋषियों के द्वारा कहा गया है इसलिए नियम से प्रमाणभूत है । अतएव आत्मकल्याण चाहने वालों को इसका श्रद्धान, अध्ययन और ध्यान करना चाहिए ॥२०४॥

यह पुराण पुण्य बढ़ाने वाला है, पवित्र है, उत्तम मंगलरूप है, आयु बढ़ाने वाला है, श्रेष्ठ है, यश बढ़ाने वाला है और स्वर्ग प्रदान करने वाला है ॥२०५॥

जो मनुष्य इस पुराण की पूजा करते हैं उन्हें शान्ति की प्राप्ति होती है, उनके सब विघ्न नष्ट हो जाते हैं; जो इसके विषय में जो कुछ पूछते हैं उन्हें सन्तोष और पुष्टि की प्राप्ति होती है; जो इसे पढ़ते हैं उन्हें आरोग्य तथा अनेक मङ्गलों की प्राप्ति होती है और जो सुनते हैं उनके कर्मों की निर्जरा हो जाती है ॥२०६॥

इस पुराण के अध्ययन से दुःख देने वाले खोटे स्वप्न नष्ट हो जाते हैं, तथा सुख देनेवाले अच्छे स्वप्नों की प्राप्ति होती है, इससे अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है तथा विचार करने वालों को शुभ अशुभ आदि निमित्तों-शकुनों की उपलब्धि भी होती है ॥२०७॥

पूर्वकाल में वृषभसेन आदि गणधर जिस मार्ग से गये थे इस समय मैं भी उसी मार्ग से जाना चाहता हूँ अर्थात् उन्होंने जिस पुराण का निरूपण किया था उसी का निरूपण मैं भी करना चाहता हूँ सो इससे मेरी हँसी ही होगी, इसके सिवाय हो ही क्या सकता है ? अथवा यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि जिस आकाश में गरुड़ आदि बड़े-बड़े पक्षी उड़ते हैं उसमें क्या छोटे-छोटे पक्षी नहीं उड़ते अर्थात् अवश्य उड़ते हैं ॥२०८॥

इस पुराणरूपी मार्ग को वृषभसेन आदि गणधरों ने जिस प्रकार प्रकाशित किया है उसी प्रकार मैं भी इसे अपनी शक्ति के अनुसार प्रकाशित करता हूँ । क्योंकि लोक में जो आकाश सूर्य की किरणों के समूह से प्रकाशित होता है उसी आकाश को क्या तारागण प्रकाशित नहीं करते ? अर्थात् अवश्य करते हैं । भावार्थ-मैं इस पुराण को कहता अवश्य हूँ परन्तु उसका जैसा विशद निरूपण वृषभसेन आदि गणधरों ने किया था वैसा मैं नहीं कर सकता । जैसे तारागण आकाश को प्रकाशित करते अवश्य हैं परन्तु सूर्य की भाँति प्रकाशित नहीं कर पाते ॥२०९॥

बोध-सम्यग्ज्ञान (पक्ष में विकास) की प्राप्ति कराकर सातिशय शोभित भव्य जीवों के हृदयरूपी कमलों के संकोच को गद्य करने वाला, वचनरूपी किरणों के विस्तार से मिथ्यामतरूपी अन्धकार को नष्ट करने वाला सद्गुण-सदाचार का निरूपण करने वाला अथवा उत्तम छन्दों से अर्पित (पक्ष में गोलाकार) शुद्ध मार्ग-रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग (पक्ष में कण्टकादिरहित उत्तम भाग) को प्रकाशित करने वाला और इन्द्रि-प्रकाशमान शब्द तथा अर्थरूप सम्पत्ति से (पक्ष में उज्ज्वल किरणों से युक्त) सूर्यबिम्ब के साथ स्पर्धा करने वाला यह जिनेन्द्रदेव सम्बन्धी पवित्र-पुण्यवर्धक पुराण जगत् में सदा जयशील रहे ॥२१०॥

इस प्रकार आर्ष नाम से प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्य विरचित त्रिषष्टिलक्षण महापुराण के संग्रह में 'कथामुखवर्णन' नामक प्रथम पर्व समाप्त हुआ ॥१॥

पर्व-02 -- कथामुखवर्णन

पर्व-02 -- कथामुखवर्णन

कथा :

अब मैं देवाधिदेव स्वयम्भू भगवान् वृषभदेव को नमस्कार कर उनके इस महापुराण-सम्बन्धी उपोद्धात-प्रारम्भ का विस्तार के साथ कथन करता हूँ ॥१॥

अथानन्तर धर्म का स्वरूप जानने में जिसकी बुद्धि लग रही है, ऐसे बुद्धिमान् श्रेणिक महाराज ने गणनायक गौतम स्वामी से पूछा ॥२॥
हे भगवत् श्रीवर्द्धमान स्वामी के मुख से यह सम्पूर्ण पुराण अर्थरूप से मैंने सुना है अब आपके अनुग्रह से उसे ग्रन्थरूप से सुनना चाहता हूँ ॥३॥

हे स्वामिन् आप हमारे अकारण बन्धु है, हम पर बिना कारण के ही प्रेम करने वाले हैं तथा जन्म-मरण आदि दुःखदायी रोगों से पीड़ित संसारी प्राणियों के लिए अकारण-स्वार्थरहित वैद्य हैं ॥४॥

हे देव, आकाशगङ्गा के जल के समान स्वच्छ, आपके चरणों के नखों की किरणें जो हमारे शिर पर पड़ रही हैं वे ऐसी मालूम होती हैं मानो मेरा सब ओर से अभिषेक ही कर रही हों । हे स्वामिन्, उग्र तपस्या की लब्धि से सब ओर फैलने वाली आपके शरीर की आभा असमय में ही प्रातःकालीन सूर्य की सान्द्र-सघन शोभा को धारण कर रही है ॥६॥

हे भगवन् जिस प्रकार सूर्य रात में निमीलित हुए कमलों को शीघ्र ही प्रबोधित-विकसित कर देता है उसी प्रकार आपने अज्ञान रूपी निद्रा में निमीलित-सोये हुए इस समस्त जगत् को प्रबोधित-जागृत कर दिया है ॥७॥

हे देव, हृदय के जिस अज्ञानरूपी अन्धकार को चन्द्रमा अपनी किरणों से छू नहीं सकता तथा सूर्य भी अपनी रश्मियों से जिसका स्पर्श नहीं कर सकता उसे आप अपने वचनरूपी किरणों से अनायास ही नष्ट कर देते हैं ॥८॥

हे योगिन्, उत्तरोत्तर बढ़ती हुई आपकी यह बुद्धि आदि सात ऋद्धियों ऐसी मालूम होती हैं मानो कर्मरूपी ईधन के जलाने से उद्दीप्त हुई अग्नि की सात शिखाएँ ही हों ॥९॥

हे भगवन् आपके आश्रय से ही यह समवसरण पुण्य का आश्रम स्थान तथा पवित्र हो रहा है अथवा ऐसा मालूम होता है मानो तपरूपी लक्ष्मी का उपद्रवरहित रक्षावन ही हो ॥१०॥

हे नाथ, इस समवसरण में जो पशु बैठे हुए हैं वे धन्य हैं, इनका शरीर मीठी घास के खाने से अत्यन्त पुष्ट हो रहा है, ये दुष्ट पशुओं (जानवरों) द्वारा होने वाली पीड़ा को कभी जानते ही नहीं हैं ॥११॥

पाद-प्रक्षालन करने से इधर-उधर फैले हुए कमाण्ड के जल से पवित्र हुए ये हरिणों के बच्चे इस तरह बढ़ रहे हैं मानो अमृत पीकर ही बढ़ रहे हो ॥१२॥

इस ओर ये हथिनियाँ सिंह के बच्चे को अपना दूध पिला रही है और ये हाथी के बच्चे स्वेच्छा से सिंहिनी के स्तनों का स्पर्श कर रहे हैं-दूध पी रहे हैं ॥१३॥

अहो बड़े आश्चर्य की बात है कि जिन हरिणों को बोलना भी नहीं आता वे भी मुनियों के समान भगवान् के चरण-कमलों की छाया का आश्रय ले रहे हैं ॥१४॥

जिनकी छालों को कोई छील नहीं सका है तथा जो पुष्प और फलों से शोभायमान हैं ऐसे सब ओर लगे हुए ये वन के वृक्ष ऐसे मालूम होते हैं मानो धर्मरूपी बगीचे के ही वृक्ष हैं ॥१५॥

ये फूली हुई और भ्रमरों से घिरी हुई वनलताएँ कितनी सुन्दर हैं ये सब न्यायवान् राजा की प्रजा की तरह कर-बाधा (हाथ से फल-फूल आदि तोड़ने का दुःख, पक्ष में टैक्स का दुःख) को तो जानती ही नहीं हैं ॥१६॥

आपका यह मनोहर तपोवन जो कि विपुलाचल पर्वत के चारों ओर विद्यमान है, प्रकट हुए दयावन के समान मेरे मन को आनन्दित कर रहा है ॥१७॥

हे भगवत् उग्र तपश्चरण करने वाले ये दिगम्बर तपस्वीजन केवल आपके चरणों के प्रसाद से ही मोक्षमार्ग की उपासना कर रहे हैं ॥१८॥

हे भगवन् आपका माहात्म्य अत्यन्त प्रकट है, आप जगत् के उपकार करने में सातिशय कुशल हैं अतएव आप भव्य समुदाय के सार्थवाह-नायक गिने जाते हैं ॥१९॥

हे महायोगिन्, संसार में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो आपके ज्ञान का विषय न हो, आपकी मनोहर ज्ञानकिरणों तीनों लोकों में फैल रही हैं इसलिए हे देव, आप ही यह पुराण कहिए ॥२०॥

हे भगवन इसके सिवाय एक बात और कहनी है उसे चित्त स्थिर कर सुन लीजिए जिससे मेरा उपकार करने में आपका चित्त और भी दृढ़ हो जाये ॥२१॥

वह बात यह है कि मैंने पहले अज्ञानवश बड़े-बड़े दुराचरण किये हैं । अब उन पापों की शान्ति के लिए ही यह प्रायश्चित्त ले रहा हूँ ॥२२॥
हे नाथ, मुझ अज्ञानी ने पहले हिंसा, झूठ, चोरी, परस्त्रीसेवन और अनेक प्रकार के आरम्भ तथा परिग्रहादि के द्वारा अत्यन्त घोर पापों का संचय किया है ॥२३॥

और तो क्या, मुझ मिथ्यादृष्टि ने मुनिराज के वध करने में भी बड़ा आनन्द माना था जिससे मुझे नरक ले जाने वाले नरकायु कम का ऐसा बन्ध हुआ जो कभी छूट नहीं सकता ॥२४॥

इसलिए हे प्रभो, उस पवित्र पुराण के प्रारम्भ से कहने के लिए मुझ पर प्रसन्न होइए क्योंकि उस पुण्यवर्धक पुराण के सुनने से मेरे पापों का अवश्य ही निराकरण हो जायेगा ॥२५॥

इस प्रकार दाँतों की कान्तिरूपी पुष्पों के द्वारा पूजा और स्तुति करते हुए मगधसम्राट् विनय के साथ ऊपर कहे हुए वचन कहकर चुप हो गये ॥२६॥

तदनन्तर श्रेणिक के प्रश्न से प्रसन्न हुए और तीव्र तपश्चरणरूपी लक्ष्मी से शोभायमान मुनिजन नीचे लिखे अनुसार उन धर्मात्मा श्रेणिक महाराज की प्रशंसा करने लगे ॥२७॥

हे मगधेश्वर, तुम धन्य हो, तुम प्रश्न करने वालों में अत्यन्त श्रेष्ठ हो, इसलिए और भी धन्य हो, आज महापुराणसम्बन्धी प्रश्न पूछते हुए तुमने हम लोगों के चित्त को बहुत ही हर्षित किया है ॥२८॥

हे श्रेणिक, श्रेष्ठ अक्षरों से सहित जिस पुराण को हम लोग पूछना चाहते थे उसे ही तुमने पूछा है । देखो, यह कैसा अच्छा सम्बन्ध मिला है ॥२९॥

जानने की इच्छा प्रकट करना प्रश्न कहलाता है । आपने अपने प्रश्न में धर्म का स्वरूप जानना चाहा है । सो हे श्रेणिक, धर्म का स्वरूप जानने की इच्छा करते हुए आपने सारे संसार को जानना चाहा है **अर्थ** अर्थात् धर्म का स्वरूप जानने की इच्छा से आपने अखिल संसार के स्वरूप को जानने की इच्छा प्रकट की है ॥३०॥

हे श्रेणिक, देखो, यह धर्म एक वृक्ष है । **अर्थ** उसका फल है और काम उसके फलों का रस है । धर्म, अर्थ और काम इन तीनों को त्रिवर्ग कहते हैं, इस त्रिवर्ग की प्राप्ति का मूल कारण धर्म का सुनना है ॥३१॥

हे आयुष्मान्, तुम यह निश्चय करो कि धर्म से ही **अर्थ**, काम, स्वर्ग की प्राप्ति होती है । सचमुच वह धर्म ही अर्थ और काम का उत्पत्ति स्थान है ॥३२॥

जो धर्म की इच्छा रखता है वह समस्त इष्ट पदार्थों की इच्छा रखता है । धर्म की इच्छा रखने वाला मनुष्य ही धनी और सुखी होता है क्योंकि धन, ऋद्धि, सुख संपत्ति आदि सबका मूल कारण एक धर्म ही है ॥३३॥

मनचाही वस्तुओं को देने के लिए धर्म ही कामधेनु है, धर्म ही महान् चिन्तामणि है, धर्म ही स्थिर रहने वाला कल्पवृक्ष है और धर्म ही अविनाशी निधि है ॥३४॥

हे श्रेणिक, देखो धर्म का कैसा माहात्म्य है, जो पुरुष धर्म में स्थिर रहता है-निर्मल भावों से धर्म का आचरण करता है वह उसे अनेक संकटों से बचाता है । तथा देवता भी उस पर आक्रमण नहीं कर सकते, दूर-दूर ही रहते हैं ॥३५॥

हे बुद्धिमन्, विचार, राजनीति, लोकप्रसिद्धि, आत्मानुभव और उत्तम ज्ञानादि की प्राप्ति से भी धर्म का अचिन्त्य माहात्म्य जाना जाता है । भावार्थ-द्रव्यों की अनन्त शक्तियों का विचार, राज-सम्मान, लोकप्रसिद्धि, आत्मानुभव और अवधि मनःपर्यय आदि ज्ञान इन सबकी प्राप्ति धर्म से ही होती है । अतः इन सब बातों को देखकर धर्म का अलौकिक माहात्म्य जानना चाहिए ॥३६॥

यह धर्म नरक निगोद आदि के दुःखों से इस जीव की रक्षा करता है और अविनाशी सुख से मुक्त मोक्षस्थान में इसे पहुँचा देता है इसलिए इसे धर्म कहते हैं ॥३७॥

जो पुराण का **अर्थ** है वही धर्म है, मुनिजन पुराण को पाँच प्रकार का मानते हैं-क्षेत्र, काल, तीर्थ, सत्पुरुष और उनकी चेष्टाएँ ॥३८॥

उच्च, मध्य और पातालरूप तीन लोकों की जो रचना है उसे क्षेत्र कहते हैं । भूत, भविष्यत् और वर्तमानरूप तीन कालों का जो विस्तार है उसे काल कहते हैं । मोक्षप्राप्ति के उपायभूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को तीर्थ कहते हैं । इस तीर्थ को सेवन करने वाले शलाकापुरुष सत्पुरुष कहलाते हैं और पापों को नष्ट करने वाले उन सत्पुरुषों के न्यायोपेत आचरण को उनकी चेष्टाएँ अथवा क्रियाएँ कहते हैं । हे श्रेणिक, तुमने पुराण के इस सम्पूर्ण **अर्थ** को अपने प्रश्न में समाविष्ट कर दिया है ॥३९-४०॥

अहो श्रेणिक, तुम्हारा यह प्रश्न सरल होने पर भी गम्भीर है, सब तत्त्वों से भरा हुआ है तथा क्षेत्र, क्षेत्र को जानने वाला आत्मा सन्मार्ग, काल और सत्पुरुषों का चरित्र आदि का आधारभूत है ॥४१॥

हे बुद्धिमान् श्रेणिक, युग के आदि में भरत चक्रवर्ती ने भगवान् आदिनाथ से यही प्रश्न पूछा था, और यही प्रश्न चक्रवर्ती सगर ने भगवान् अजितनाथ से पूछा था । आज तुमने भी अत्यन्त बुद्धिमान् गौतम गणधर से यही प्रश्न पूछा है । इस प्रकार वक्ता और श्रोताओं की जो प्रमाणभूत-सच्ची परम्परा चली आ रही थी उसे तुमने सुशोभित कर दिया है ॥४२-४३॥

हे श्रेणिक, तुम प्रश्न करने वाले, भगवान् महावीर स्वामी उत्तर देने वाले और हम सब तुम्हारे साथ सुनने वाले हैं । हे राजन् ऐसी सामग्री पहले न तो कभी मिली है और न कभी मिलेगी ॥४४॥

इसलिए पूर्ण श्रुतज्ञान को धारण करने वाले ये गौतम स्वामी इस पुण्य कथा का कहना प्रारम्भ करें और हम सब तुम्हारे साथ सुनें ॥४५॥

इस प्रकार वे सब ऋषिजन महाराज श्रेणिक को धर्म में उत्साहित कर एकाग्रचित्त हो उच्च स्वर से गणधर स्वामी का नीचे लिखा हुआ स्तोत्र पढ़ने लगे ॥४६॥

हे स्वामिन्, यद्यपि प्रत्यक्ष ज्ञान के धारक बड़े-बड़े मुनि भी अपने ज्ञानद्वारा आपके अभ्युदय को नहीं जान सके हैं तथापि हम लोग प्रत्यक्ष स्तोत्रों के द्वारा आपकी स्तुति करने के लिए तत्पर हुए हैं सो यह एक आश्चर्य की ही बात है ॥४७॥

हे ऋषे, आप चौदह महाविद्या (चौदह पूर्व) रूपी सागर के पारगामी है अतः हम लोग मात्र भक्ति से प्रेरित होकर ही आपकी स्तुति करना चाहते हैं ॥४८॥

हे भगवन्, आप भव्य जीवों को मोक्षस्थान की प्राप्ति कराने वाले है, आपकी चन्द्रमा के समान उज्ज्वल कीर्ति फहराती हुई पता का के समान शोभायमान हो रही है ॥४९॥

देव, चारों ओर फैले हुए समुद्र को जिसने अपना आलबाल (क्यारी) बनाया है ऐसी बढ़ती हुई आपकी यह कीर्तिरूपी लता इस समय त्रसनाड़ीरूपी वृक्ष के अग्रभाग पर आक्रमण कर रही हैं-उस पर आरूढ़ हुआ चाहती है ॥५०॥

हे नाथ, बड़े-बड़े मुनि भी यह मानते हैं कि आप योगियों में महायोगी हैं, प्रसिद्ध हैं, असंख्यात गुणों के धारक हैं तथा संघ के अधिपति-गणधर हैं ॥५१॥

उत्कृष्ट वाणी को गौतम कहते हैं और वह उत्कृष्ट वाणी सर्वज्ञ-तीर्थकर की दिव्य ध्वनि ही हो सकती है उसे आप जानते हैं अथवा उसका अध्ययन करते हैं इसलिए आप गौतम माने गये है **अर्थ**ात् आपका यह नाम सार्थक है (श्रेष्ठा गौः, गौतमा, तामधीते वेद वा गौतमः 'तदधीते वेद वा' इत्यणप्रत्ययः) ॥५२॥

अथवा यों समझिए कि भगवान् वर्धमान स्वामी, गौतम **अर्थ**ात् उत्तम सोलहवें स्वर्ग से अवतीर्ण हुए हैं इसलिए वर्धमान स्वामी को गौतम कहते हैं इन गौतम अर्थात् वर्धमान स्वामी द्वारा कही हुई दिव्यध्वनि को आप पढ़ते हैं, जानते हैं इसलिए लोग आपको गौतम कहते हैं । (गौतमादागतः गौतमः 'तत आगतः' इत्यण्, गौतमेन प्रोक्तमिति गौतमम्, गौतमम् अधीते वेद वा गौतमः) ॥५३॥

आपने इन्द्र के द्वारा की हुई अर्चारूपी विभूति को प्राप्त किया है इसलिए आप इन्द्रभूति कहलाते हैं । तथा आपको सम्यग्ज्ञानरूपी कण्ठाभरण प्राप्त हुआ है अतः आप सर्वज्ञदेव श्री वर्धमान स्वामी के साक्षात् पुत्र के समान हैं ॥५४॥

हे देव, आपने अपने चार निर्मल ज्ञानों के द्वारा समस्त संसार को जान लिया है तथा आप बुद्धि के पार को प्राप्त हुए हैं इसलिए विद्वान् लोग आपको बुद्ध कहते हैं ॥५५॥

हे देव, आपको बिना देखे अज्ञानान्धकार से परे रहने वाली केवलज्ञानरूपी उत्कृष्ट ज्योति का प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है, आप उस ज्योति के प्रकाश होने से ज्योतिस्वरूप अनोखे दीपक हैं ॥५६॥

हे स्वामिन् श्रुत देवता के द्वारा वीरूप को धारण करने वाली आपकी सम्यग्ज्ञानरूपी दीपिका जगन्नूपी घर को प्रकाशित करती हुई अत्यन्त शोभायमान हो रही है ॥५७॥

आपके दिव्य वचनों का समूह लोगों के मिथ्यात्व रूपी अन्धकार को नष्ट करता हुआ सूर्य की किरणों के समूह के समान समीचीन मार्ग का प्रकाश करता है ॥५८॥

हे देव, आपकी यह प्रज्ञा लोक में सबसे चढ़ी-नदी है, समस्त विद्याओं में पारंगत है और द्वादशांगरूपी समुद्र में जहाजपने को प्राप्त हैं-अर्थात् जहाज का काम देती है ॥५९॥

हे देव, आपने अत्यन्त ऊँचे वर्धमान स्वामीरूप हिमालय से उस श्रुतज्ञानरूपी गङ्गा नदी का अवतरण कराया है जो कि स्वयं पवित्र है और समस्त पापरूपी रज को धोने वाली है ॥६०॥

हे देव, केवलीभगवान् में मात्र एक केवलज्ञान ही होता है और आप में प्रत्यक्ष परोक्ष के भेद से दो प्रकार का ज्ञान विद्यमान है इसलिए आप श्रुतकेवली कहलाते हैं ॥६१॥

हे देव, हम लोग मोह अथवा अज्ञानान्धकार से रहित मोक्षरूपी परम धाम में प्रवेश करना चाहते हैं अतः आपकी उपासना कर आप से उसका द्वार उघाड़ने का कारण प्राप्त करना चाहते हैं ॥६२॥

हे देव, आप सर्वज्ञ देव के द्वारा कही हुई समस्त विद्याओं को जानते हैं इसलिए आप ब्रह्मसुत कहलाते हैं तथा परंब्रह्मरूप सिद्ध पद की प्राप्ति होना आपके अधीन है, ऐसा अल का स्वरूप जानने वाले योगीश्वर भी कहते हैं ॥६३॥

हे देव, जो दिगम्बर मुनि मोक्ष प्राप्त करने के अभिलाषी हैं वे आपको मस्तक झुकाकर नमस्कार करते हुए उसके उपायभूत-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की उपासना करते हैं ॥६४॥

हे देव, आप महायोगी हैं-ध्यानी हैं अतः आपको नमस्कार हो, आप महाबुद्धिमान् हैं अतः आपको नमस्कार हो, आप महात्मा हैं अतः आपको नमस्कार हो, आप जगत्त्रय के रक्षक और बड़ी-बड़ी ऋद्धियों के धारक हैं अतः आपको नमस्कार हो ॥६५॥

हे देव, आप देशावधि, परमावधि और सर्वावधिरूप अवधिज्ञान को धारण करने वाले हैं अतः आपको नमस्कार हो ॥६६॥

हे देव, आप कोष्ठबुद्धि नामक ऋद्धि को धारण करने वाले हैं अर्थात् जिस प्रकार कोठे में अनेक प्रकार के धान्य भर रहते हैं उसी प्रकार आपके हृदय में भी अनेक पदार्थों का ज्ञान भरा हुआ है, अतः आपको नमस्कार हो । आप बीजबुद्धि नामक ऋद्धि से सहित हैं अर्थात् जिस प्रकार उत्तम जमीन में बोया हुआ एक भी बीज अनेक फल उत्पन्न कर देता है उसी प्रकार आप भी आगम के बीजरूप एक दो पदों को ग्रहण कर अनेक प्रकार के ज्ञान को प्रकट कर देते हैं इसलिए आपको नमस्कार हो । आप पदानुसारी ऋद्धि को धारण करने वाले हैं अर्थात् आगम के आदि, मध्य, अन्त को अथवा जहाँ-कहीं से भी एक पदकों सुनकर भी समस्त आगम को जान लेते हैं अतः आपको नमस्कार हो । आप संभिन्नश्रोतृ ऋद्धि को धारण करने वाले हैं अर्थात् आप नौ योजन चौड़े और बारह योजन लम्बे क्षेत्र में फैले हुए चक्रवर्ती के कटकसम्बन्धी समस्त मनुष्य और तिर्यज्चों के अक्षरात्मक तथा अनक्षरात्मक मिले हुए शब्दों को एक साथ ग्रहण कर सकते हैं अतः आपको बार-बार नमस्कार हो ॥६७॥

आप ऋजुमति और विपुलमति नामक दोनों प्रकार के मनःपर्ययज्ञान से सहित हैं अतः आपको नमस्कार हो । आप प्रत्येक बुद्ध हैं इसलिए आपको नमस्कार हो तथा आप स्वयंबुद्ध हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥६८॥

हे स्वामिन् दशपूर्वों का पूर्ण ज्ञान होने से आप जगत् में पूज्यता को प्राप्त हुए हैं अतः आपको नमस्कार हो । इसके सिवाय आप समस्त पूर्व विद्याओं के पारगामी हैं अतः आपको नमस्कार हो ॥६९॥

हे नाथ, आप पक्षोपवास, मासोपवास आदि कठिन तपस्याएँ करते हैं, आतापनादि योग लगाकर दीर्घकाल तक कठिन-कठिन तप तपते हैं । अनेक गुणों से सहित अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं और अत्यन्त तेजस्वी हैं अतः आपको नमस्कार हो ॥७०॥

हे देव, आप अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व इन आठ विक्रिया ऋद्धियों की सिद्धि को प्राप्त हुए हैं अर्थात् आप अपने शरीर को परमाणु के समान सूक्ष्म कर सकते हैं, मेरु से भी स्थूल बना सकते हैं, अत्यन्त भारी (वजनदार) कर सकते हैं, हलका (कम वजनदार) बना सकते हैं, आप जमीन पर बैठे-बैठे ही मेरु पर्वत की चोटी छू सकते हैं अथवा देवों के आसन कम्पायमान कर सकते हैं, आप अढ़ाई द्वीप में चाहे जहाँ जा सकते हैं अथवा जल में स्थल की तरह स्थल में जल की तरह चल सकते हैं, आप

चक्रवर्ती के समान विभूति को प्राप्त कर सकते हैं और विरोधी जीवों को भी वश में कर सकते हैं अतः आपको नमस्कार हो । इनके सिवाय हे देव, आप आमर्ष, क्ष्वेल, वाविप्रुट, जल्ल और सर्वौषधि आदि ऋद्धियों से सुशोभित हैं अर्थात् आपके वमन की वायु समस्त रोगों को नष्ट कर सकती है, आपके मुख से निकले हुए कफ को स्पर्श कर बहने वाली वायु सब रोगों को हर सकती है, आपके मुख से निकली हुई वायु सब रोगों को नष्ट कर सकती है, आपके मल को स्पर्श कर बहती हुई वायु सब रोगों को हर सकती है और आपके शरीर को स्पर्श कर बहती हुई वायु सब रोगों को दूर कर सकती है । इसलिए आपको नमस्कार हो ॥७१॥

हे देव, आप अमृतसाविणी, मधुसाविणी, क्षीरसाविणी और वृतसाविणी आदि रस ऋद्धियों को धारण करने वाले हैं अर्थात् भोजन में मिला हुआ विष भी आपके प्रभाव से अमृतरूप हो सकता है भोजन मीठा न होने पर भी आपके प्रभाव से मीठा हो सकता है, आपके निमित्त से भोजनगृह अथवा भोजन में दूध झरने लग सकता है और आपके प्रभाव से भोजनगृह से घी की कमी दूर हो सकती है । अतः आपको नमस्कार हो । इनके सिवाय आप मनोबल, वचनबल और कायबल ऋद्धि से सम्पन्न हैं अर्थात् आप समस्त द्वादशाङ्ग का अन्तर्मुहूर्त में अर्थरूप से चिन्तन कर सकते हैं, समस्त द्वादशाङ्ग का अन्तर्मुहूर्त में शब्दों द्वारा उच्चारण कर सकते हैं और शरीरसम्बन्धी अतुल्य बल से सहित हैं अतः आपको नमस्कार हो ॥७२॥

हे देव, आप जलचारण, जंघाचारण, फलचारण, श्रेणीचारण, तन्तुचारण, पुष्पचारण और अम्बरचारण आदि चारण ऋद्धियों से युक्त हैं अर्थात् आप जल में भी स्थल के समान चल सकते हैं तथा ऐसा करने पर जलकायिक और जलचर जीवों को आपके द्वारा किसी प्रकार की बाधा नहीं होगी । आप बिना कदम उठाये ही आकाश में चल सकते हैं । आप वृक्षों में लगे फलों पर से गमन कर सकते हैं और ऐसा करनेपर भी वे फल वृक्ष से टूटकर नीचे नहीं गिरेंगे । आप आकाश में श्रेणीबद्ध गमन कर सकते हैं, बीच में आये हुए पर्वत आदि भी आपको नहीं रोक सकते । आप सूत अथवा मकड़ी के जाल के तन्तुओं पर गमन कर सकते हैं पर वे आपके भार से टूटेंगे नहीं । आप पुष्पों पर भी गमन कर सकते हैं परन्तु वे आपके भार से नहीं टूटेंगे और न उसमें रहने वाले जीवों को किसी प्रकार का कष्ट होगा । और इनके सिवाय आप आकाश में भी सर्वत्र गमनागमन कर सकते हैं । इसलिए आपको नमस्कार हो । हे स्वामिन्, आप अक्षीण ऋद्धि के धारक हैं अर्थात् आप जिस भोजनशाला में भोजन कर आवे उसका भोजन चक्रवर्ती के कटक को खिलाने पर भी क्षीण नहीं होगा और आप यदि छोटे से स्थान में भी बैठकर धर्मोपदेश आदि देंगे तो उस स्थान पर समस्त मनुष्य और देव आदि के बैठने पर भी संकीर्णता नहीं होगी । इसलिए आपको नमस्कार हो ॥७३॥

हे नाथ, संसार में आप ही परम हितकारी बन्धु हैं, आप ही परमगुरु हैं और आपकी सेवा करने वाले पुरुषों को ज्ञानरूपी सम्पत्ति की प्राप्ति होती है ॥७४॥

हे भगवन् इस संसार में आपने ही समस्त धर्मशास्त्रों का वर्णन किया है अतः ये बड़े-बड़े योगी आपको ही नमस्कार करते हैं ॥७५॥

हे देव, मोक्षरूपी परम कल्याण की प्राप्ति आपसे ही होती है ऐसा मानकर हम लोग आपमें श्रद्धा रखते हुए आपके चरणरूप वृक्षों की छाया का आश्रय लेते हैं ॥७६॥

हे देव, आपकी स्तुति करने से हमारी वचनगुप्ति की हानि होती है, आपका स्मरण करने से मनोगुप्ति में बाधा पहुँचती है तथा आपको नमस्कार करने में कायगुप्ति की हानि होती है सो भले ही हो हमें इसकी चिन्ता नहीं, हम सदा ही आपकी स्तुति करेंगे, आपका स्मरण करेंगे और आपको नमस्कार करेंगे ॥७७॥

हे स्वामिन् जगत् में श्रेष्ठ और स्तुति करने के योग्य आपकी हम लोगों ने जो ऊपर लिखे अनुसार क्षति की है उसके फलस्वरूप हमें तिरसठ शलाकापुरुषों का पुराण सुनाइए, यही हम सब प्रार्थना करते हैं ॥७८॥

हे देव, पुराण के सुनने से हमें जो सुयोग्य धर्म की प्राप्ति होगी उससे हम कवितारूप पुराण की ही आशा करते हैं ॥७९॥

हे नाथ, आपके चरणों की आराधना करने से हमारे जो कुछ पुण्य का संचय हुआ है उससे हमें भी आपकी इस उत्कृष्ट महासम्पत्ति की प्राप्ति हो ॥८०॥

हे देव, आपके प्रसाद से हमारी यह प्रार्थना सफल हो । आज राजर्षि श्रेणिक के साथ-साथ हम सब श्रोताओं पर कृपा कीजिए ॥८१॥

इस प्रकार मुनियों ने जब उच्च स्वर से स्तोत्रों से जो गणधर गौतम स्वामी की स्तुति की थी उससे उस समय मुनि समाज में पुण्यवर्द्धक बड़ा भारी कोलाहल होने लगा था ॥८२॥

इस प्रकार समुदाय रूप से बड़े-बड़े मुनियों ने जब गणधर देव की स्तुति की तब वे प्रसन्न हुए । सो ठीक ही है क्योंकि योगीजन भक्ति के द्वारा वशीभूत होते ही है ॥८३॥

इस प्रकार मुनियों ने जब बड़ी शान्ति और गम्भीरता के साथ स्तुति कर गणधर महाराज से प्रार्थना की तब उन्होंने उनके अनुग्रह में अपना चित्त लगाया-उस ओर ध्यान दिया ॥८४॥

इसके अनन्तर जब स्तुति से उत्पन्न होने वाला कोलाहल शान्त हो गया और सब लोग हाथ जोड़कर पुराण सुनने की इच्छा से सावधान हो चुपचाप बैठ गये तब वे भगवान् गौतम स्वामी श्रोताओं को संबोधते हुए गम्भीर मनोहर और उत्कृष्ट अर्थ से भरी हुई वाणी द्वारा कहने लगे । उस समय जो दाँतों की उज्ज्वल किरणें निकल रही थीं उनसे ऐसा मालूम होता था मानों वे शब्द सम्बन्धी समस्त दोषों के अभाव से अत्यन्त निर्मल हुई सरस्वती देवी को ही साक्षात् प्रकट कर रहे हों । उस समय वे गणधर स्वामी ऐसे शोभायमान हो रहे थे जैसे भक्तिरूपी मूल्य के द्वारा अपनी इच्छानुसार खरीदने के अभिलाषी मुनिजनों को सुभाषित रूपी महारत्नों का समूह ही दिखला रहे हों । उस समय वे अपने दाँतों के किरणरूपी फूलों को सारी सभा में बिखेर रहे थे जिससे ऐसा मालूम होता था मानो सरस्वती देवी के प्रवेश के लिए रङ्गभूमि को ही सजा रहे हो । मन की प्रसन्नता को विभक्त करने के लिए ही मानो सब ओर फैली हुई अपनी स्वच्छ और प्रसन्न दृष्टि के द्वारा वे गौतम स्वामी समस्त सभा का प्रक्षालन करते हुए-से मालूम होते थे । यद्यपि वे ऋषिराज तपश्चरण के माहात्म्य से प्राप्त हुए आसन पर बैठे हुए थे तथापि अपने उत्कृष्ट माहात्म्य से ऐसे मालूम होते थे मानो समस्त लोक के ऊपर ही बैठे हों । उस समय वे न तो सरस्वती को ही अधिक कष्ट देना चाहते थे और न इन्द्रियों को ही अधिक चलायमान करना चाहते थे । बोलते समय उनके मुख का सौन्दर्य भी नष्ट नहीं हुआ था । उस समय उन्हें न तो पसीना आता था, न परिश्रम ही होता था, न किसी बात का भय ही लगता था और न वे बोलते-बोलते स्खलित ही होते थे-चूकते थे । वे बिना किसी परिश्रम के ही अतिशय प्रौढ़-गम्भीर सरस्वती को प्रकट कर रहे थे । वे उस समय सम, सीधे और विस्तृत स्थान पर पड़ेआसन से बैठे हुए थे जिससे ऐसे मालूम होते थे मानो शरीर द्वारा वैराग्य की अन्तिम सीमा को ही प्रकट कर रहे हों । उस समय उनका बायाँ हाथ पर्यङ्क पर था और दाहिना हाथ उपदेश देने के लिए कुछ ऊपर को उठा हुआ था जिससे ऐसे मालूम होते थे मानो वे मार्दव (विनय) धर्म को नृत्य ही करा रहे हों अर्थात् उच्चतम विनय गुण को प्रकट कर रहे हों ॥८५-९५॥ वे कहने लगे-हे आयुष्मान् बुद्धिमान् भव्यजनो, मैंने श्रुतस्कन्ध से जैसा कुछ इस पुराण को सुना है सो ज्यों का त्यों आप लोगों के लिए कहता हूँ, आप लोग ध्यान से सुनें ॥९६॥

हे श्रेणिक, आदि ब्रह्मा प्रथम तीर्थकर भगवान् वृषभदेव ने भरत चक्रवर्ती के लिए जो पुराण कहा था उसे ही मैं आज तुम्हारे लिए कहता हूँ, तुम ध्यान देकर सुनो ॥९७॥

श्रुतस्कन्ध के चार महा अधिकार वर्णित किये गये हैं उनमें पहले अनुयोग का नाम प्रथमानुयोग है । प्रथमानुयोग में तीर्थकर आदि सत्पुरुषों के चरित्र का वर्णन होता है ॥९८॥

दूसरे महाधिकार का नाम करणानुयोग है । इसमें तीनों लोकों का वर्णन उस प्रकार लिखा होता है जिस प्रकार किसी ताम्रपत्र पर किसी की वंशावली लिखी होती है ॥९९॥

जिनेन्द्रदेव ने तीसरे महाधिकार को चरणानुयोग बतलाया है । इसमें मुनि और श्रावकों के चरित्र की शुद्धि का निरूपण होता है ॥१००॥

चौथा महाधिकार द्रव्यानुयोग है इसमें प्रमाण नय निक्षेप तथा सत्संख्या क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्पबहुत्व, निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति, विधान आदि के द्वारा द्रव्यों का निर्णय किया जाता है ॥१०१॥

आनुपूर्वी आदि के भेद से उपक्रम के पाँच भेद माने गये हैं । इस पुराण के प्रारम्भ में उन उपक्रमों का शास्त्रानुसार सम्बन्ध लगा लेना चाहिए ॥१०२॥

प्रकृत अर्थात् जिसका वर्णन करने की इच्छा है ऐसे पदार्थ को श्रोताओं की बुद्धि में बैठा देना-उन्हें अच्छी तरह समझा देना सो उपक्रम है इसका दूसरा नाम उपोद्घात भी है ॥१०३॥

१. आनुपूर्वी, २. नाम, ३. प्रमाण, ४. अभिधेय और ५. अर्थाधिकार ये उपक्रम के पाँच भेद हैं ॥१०४॥

यदि चारों महाधिकारों को पूर्व क्रम से गिना जाये तो प्रथमानुयोग पहला अनुयोग होता है और यदि उलटे क्रम से गिना जाये तो यही प्रथमानुयोग अन्त का अनुयोग होता है । अपनी इच्छानुसार जहाँ कही से भी गणना करने पर यह दूसरा तीसरा आदि किसी भी संख्या

का हो सकता है ॥१०५॥

ग्रन्थ के नाम कहने को नाम उपक्रम कहते हैं यह प्रथमानुयोग, श्रुतस्कन्ध के चारों अनुयोगों में सबसे पहला है इसलिए इसका प्रथमानुयोग यह नाम सार्थक गिना जाता है ॥१०६॥

ग्रन्थ-विस्तार के भय से डरने वाले श्रोताओं के अनुरोध से अब इस ग्रन्थ का प्रमाण बतलाता हूँ । वह प्रमाण अक्षरों की संख्या तथा अथ इन दोनों की अपेक्षा बतलाया जायेगा ॥१०७॥

यद्यपि यह प्रथमानुयोगरूप ग्रन्थ **अर्थ** की अपेक्षा अपरिमेय है-संख्या से रहित है तथापि शब्दों की अपेक्षा परिमेय है-संख्येय है तब उसका एक अंश प्रथमानुयोग असंख्येय कैसे हो सकता है ॥१०८॥

३२ अक्षरों के अनुष्टुप् श्लोकों के द्वारा गणना करने पर प्रथमानुयोग में दो लाख करोड़, पचपन हजार करोड़, चार सौ बयालीस करोड़ और इकतीस लाख सात हजार पाँच सौ (२५५४४२३१०७५००) श्लोक होते हैं ॥ १०९-११०॥

इस प्रकार ग्रन्थप्रमाण का निश्चय कर अब उसके पदों की संख्या का वर्णन करते हैं । प्रथमानुयोग ग्रन्थ के पदों की गणना पाँच हजार मानी गयी है और सोलह सौ चौतीस करोड़ तिरासी लाख सात हजार आठ सौ अठासी (१६३४८३०७८८८) अक्षरों का एक मध्यम पद होता है । इस मध्यमपद के द्वारा ही ग्यारह अङ्ग तथा चौदह पूर्वों की ग्रन्थ संख्या का वर्णन किया जाता है ॥१११-११३॥

यह जो ऊपर प्रमाण बतलाया है सो द्रव्यश्रुत का ही है, भावयुक्त का नहीं है । वह भाव की अपेक्षा श्रुतज्ञान रूप है जो कि सत्यार्थ, विरोधरहित और केवलिप्रणीत हैं ॥११४॥

सम्पूर्ण द्वादशाङ्ग ही इस पुराण का अभिधेय विषय है क्योंकि इसके बाहर न तो कोई विषय ही है और न शब्द ही है ॥११५॥

जिस प्रकार महामूल्य रत्नों की उत्पत्ति समुद्र से होती है उसी प्रकार सुभाषितरूपी रत्नों की उत्पत्ति इस पुराण से होती है ॥११६॥

इस पुराण में तीर्थकर, चक्रवर्ती, इन्द्र, बलभद्र और नारायणों की सम्पदा तथा मुनियों की ऋद्धियों का उनकी प्राप्ति के कारणों के साथ-साथ वर्णन किया जायेगा ॥११७॥

इसी प्रकार संसारी जीव, मुक्त जीव, बन्ध, मोक्ष, इन दोनों के कारण, छह द्रव्य और नव पदार्थ ये सब इस ग्रन्थ के **अर्थ** संग्रह हैं अर्थात् इस सबका इसमें वर्णन किया जायेगा ॥११८॥

इस पुराण में तीनों लोकों की रचना, तीनों कालों का संग्रह, संसार की उत्पत्ति और विनाश इन सबका वर्णन किया जायेगा ॥११९॥

सत्यदर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप मार्ग, मोक्ष रूप इसका फल तथा धर्म, **अर्थ** और काम ये पुरुषार्थ इन सत्र का जो कुछ विस्तार है वह सब इस ग्रन्थ की अभिधेयता को धारण करता है अर्थात् उसका इसमें कथन किया जायेगा ॥१२०॥

अधिक कहने से क्या, जो कुछ जितनी निर्बाध धर्म को सृष्टि है वह सब इस ग्रन्थ की वर्णनीय वस्तु है ॥१२१॥

जो सुभाषित दूसरी जगह बहुत समय तक खोजने पर भी नहीं मिल सकते उनका संग्रह इस पुराण में अपनी इच्छानुसार पद-पद पर किया जा सकता है ॥१२२॥

इस ग्रन्थ में जो पदार्थ उत्तम ठहराया गया है वह दूसरी जगह भी उत्तम होगा तथा जो इस ग्रन्थ में बुरा ठहराया गया है वह सभी जगह बुरा ही ठहराया जायेगा । भावार्थ-यह ग्रन्थ पदार्थों की अच्छाई तथा बुराई की परीक्षा करने के लिए कसौटी के समान है ॥१२३॥

इस प्रकार यह महापुराण बहुत भारी विषयों का निरूपण करने वाला है । अब इसके **अर्थ** अधिकारी की संख्या का नियम कहते हैं ॥ १२४॥

इस ग्रन्थ में तिरसठ महापुरुषों का वर्णन किया जायेगा इसलिए उसी संख्या के अनुसार ऋषियों ने इसके तिरसठ ही अधिकार कहे हैं ॥ १२५॥

इस पुराण स्कन्ध के तिरसठ अधिकार व अवयव अवश्य हैं परन्तु इसके अवान्तर अधिकारों का विस्तार अमर्यादित है ॥१२६॥

कोई-कोई आचार्य ऐसा भी कहते हैं कि तीर्थकरों के पुराणों में चक्रवर्ती आदि के पुराणों का भी संग्रह हो जाता है इसलिए चौबीस हो पुराण समझना चाहिए । जो कि इस प्रकार हैं-पहला पुराण वृषभनाथ का, दूसरा अजितनाथ का, तीसरा संभवनाथ का, चौथा अभिनन्दननाथ का, पाँचवाँ सुमतिनाथ का, छठा पद्मप्रभ का, सातवाँ सुपार्श्वनाथ का, आठवाँ चन्द्रप्रभ का, नौवाँ पुष्पदन्त का, दसवाँ शीतलनाथ का, ग्यारहवाँ श्रेयान्सनाथ का, बारहवाँ वासुपूज्य का, तेरहवाँ विमलनाथ का, चौदहवाँ अनन्तनाथ का, पन्द्रहवाँ धर्मनाथ का,

सोलहवाँ शान्तिनाथ का, सत्रहवाँ कुन्थुनाथ का, अठारहवाँ अरनाथ का, उन्नीसवाँ मल्लिनाथ का, बीसवाँ मुनिसुव्रतनाथ का, इकीसवाँ नमिनाथ का, बाईसवाँ नेमिनाथ का, तेईसवाँ पार्श्वनाथ का और चौबीस वाँ सन्मति-महावीर स्वामी का ॥१२७-१३३॥

इस प्रकार चौबीस तीर्थकरों के ये चौबीस पुराण हैं इनका जो समूह है वही महापुराण कहलाता है ॥१३४॥

आज मैंने जिस महापुराण का वर्णन किया है वह इस अवसर्पिणी युग के अन्त में निश्चय से बहुत ही अल्प रह जायेगा ॥१३५॥

क्योंकि दुःषम नामक पाँचवें काल के दोष से मनुष्यों की बुद्धियाँ उत्तरोत्तर घटती जायेंगी और बुद्धियों के घटने से पुराण के ग्रन्थ का विस्तार भी घट जायेगा ॥१३६॥

उसका स्पष्ट निरूपण इस प्रकार समझना चाहिए-हमारे पीछे श्रुतकेवली सुधर्माचार्य जो कि हमारे ही समान हैं, इस महापुराण को पूर्णरूप से प्रकाशित करेंगे ॥१३७॥

उनसे यह सम्पूर्ण पुराण श्री जम्बूस्वामी सुनेंगे और वे अन्तिम केवली होकर इस लोक में उसका पूर्ण प्रकाश करेंगे ॥१३८॥

इस समय मैं, सुधर्माचार्य और जम्बूस्वामी तीनों ही पूर्ण श्रुतज्ञान को धारण करने वाले हैं-श्रुतकेवली हैं। हम तीनों क्रम-क्रम से केवलज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो जायेंगे ॥१३९॥

हम तीनों केवलियों का काल भगवान् वर्धमान स्वामी की मुक्ति के बाद बासठ वर्ष का है ॥१४०॥

तदनन्तर सौ वर्ष में क्रमक्रम से विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु व बुद्धिमान् आचार्य होंगे। ये आचार्य ग्यारह अन्न और चौदह पूर्वरूप महाविद्याओं के पारंगत अर्थात् श्रुतकेवली होंगे और पुराण को सम्पूर्णरूप से प्रकाशित करते रहेंगे ॥१४१-१४२॥

इनके अनन्तर क्रम से विशाखाचार्य, प्रोष्ठिलाचार्य, क्षत्रियाचार्य, जयाचार्य, नागसेन, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिमान् गङ्गदेव और धर्मसेन ये ग्यारह आचार्य ग्यारह अन्न और दश पूर्व के धारक होंगे। उनका काल १८३ वर्ष होगा। उस समय तक इस पुराण का पूर्ण प्रकाश होता रहेगा ॥१४३-१४५॥

इनके बाद क्रम से नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंसाचार्य ये पाँच महा तपस्वी मुनि होंगे। ये सब ग्यारह अङ्ग के धारक होंगे, इनका समय २२० दो सौ बीस वर्ष माना जाता है। उस समय यह पुराण एक भाग कम अर्थात् तीन चतुर्थांश रूप में प्रकाशित रहेगा फिर योग्य पात्र का अभाव होने से भगवान् का कहा हुआ यह पुराण अवश्य ही कम होता जायेगा ॥१४६-१४८॥

इनके बाद सुभद्र यशोभद्र भद्रबाहु और लोहाचार्य ये चार आचार्य होंगे जो कि विशाल कीर्ति के धारक और प्रथम अंग (आचारांग) रूपी समुद्र के पारगामी होंगे। इन सबका समय अठारह वर्ष होगा। उस समय इस पुराण का एक चौथाई भाग ही प्रचलित रह जायेगा ॥१४५-१५०॥

इसके अनन्तर अर्थात् वर्धमान स्वामी के मोक्ष जानें से ६८३ छह सौ तिरासी वर्ष बाद यह पुराण क्रम-क्रम से थोड़ा-थोड़ा घटता जायेगा। उस समय लोगों की बुद्धि भी कम होती जायेगी इसलिए विरले आचार्य ही इसे अल्परूप में धारण कर सकेंगे ॥१५१॥

इस प्रकार ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न गुरुपरिपाटी द्वारा यह पुराण जब और जिस मात्रा में प्रकाशित होता रहेगा उसका स्मरण करने के लिए जिनसेन आदि महाबुद्धिमान् पूज्य और श्रेष्ठ कवि उत्पन्न होंगे ॥१५२-१५३॥

श्री वर्धमान स्वामी ने जिसका निरूपण किया है वह पुराण ही श्रेष्ठ और प्रामाणिक है इसके सिवाय और सब पुराण पुराणाभास हैं उन्हें केवल वाणी के दोषमात्र जानना चाहिए ॥१५४॥

जब कि पञ्चपरमेष्ठियों का नाम लेना ही जीवों को पवित्र कर देता है तब बार-बार उनकी कथारूप अमृत का पान करना तो कहना ही क्या है? वह तो अवश्य ही जीवों को पवित्र कर देता है-कर्ममल से रहित कर देता है ॥१५५॥

जब यह बात है तो श्रद्धालु भव्य जीवों को पुण्यरूपी रत्नों से भरे हुए इस पुराणरूपी समुद्र में अवश्य ही अवगाहन करना चाहिए ॥१५६॥ ऊपर जिस पुराण का लक्षण कहा है अब यहाँ क्रम से उसी को कहेंगे और उसमें भी सबसे पहले भगवान् वृषभनाथ के पुराण की कारिका कहेंगे ॥१५७॥

श्री वृषभनाथ के पुराण में काल का वर्णन, कुलकरों को उत्पत्ति, वंशों का निकलना, भगवान् का साम्राज्य, अरहन्त अवस्था, निर्वाण और युग का विच्छेद होना ये महाधिकार हैं। अन्य पुराणों में जो अधिकार होंगे वे समयानुसार बताये जायेंगे ॥१५८-१५९॥

यह इस कथा का उपोद्घात है, अब आगे इस कथा की पीठिका, कालावतार और कुलकरों की स्थिति कहेंगे ॥१६०॥

इस प्रकार गौतम स्वामी के कहने पर भक्ति से नम्र हुई वह मुनियों की समस्त सभा पुराण सुनने की इच्छा से श्रेणिक महाराज के साथ सावधान हो गयी, सो ठीक ही है क्योंकि ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा जो कि आप्त पुरुषों के हितकारी वचनों का अनादर करे ॥१६१॥
इस प्रकार जो आचार्य-परम्परा से प्राप्त हुआ है, निर्दोष है, पुण्यरूप है और युग के आदि में भरत चक्रवर्ती के लिए भगवान् वृषभदेव के द्वारा कहा गया था, ऐसा यह जगत् को पवित्र करने वाला उत्कृष्ट तीर्थस्वरूप पुराणरूपी पवित्र जल तुम लोगों के समस्त पाप कलंकरूपी कीचड़ को धोकर तुम्हें परम शुद्धि प्रदान करे ॥१६२॥

इस प्रकार आर्ष नाम से प्रसिद्ध, श्रीभगवज्जिनसेनाचार्य विरचित त्रिषष्टिलक्षण महापुराण के संग्रह में 'कथामुखवर्णन' नामक द्वितीय पर्व समाप्त हुआ ॥२॥

पर्व-03 -- पीठिकावर्णन

पर्व-03 -- पीठिकावर्णन

कथा :

मैं उन वृषभनाथ स्वामी को नमस्कार करके इस महापुराण की पीठिका का व्याख्यान करता हूँ जो कि इस अवसर्पिणी युग के सबसे प्राचीन मुनि हैं, जिन्होंने कर्मरूपी शत्रुओं को जीत लिया है और विनाश से रहित हैं ॥१॥

काल-द्रव्य अनादिनिधन है, वर्तना उसका लक्षण माना गया है (जो द्रव्यों की पर्यायों के बदलने में सहायक हो उसे वर्तना कहते हैं) यह काल-द्रव्य अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु बराबर है और असंख्यात होने के कारण समस्त लोकाकाश में भरा हुआ है । भावार्थ-काल-द्रव्य का एक-एक परमाणु लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर स्थित है ॥२॥

उस काल-द्रव्य में अनन्त पदार्थों के परिणमन कराने की सामर्थ्य है अतः वह स्वयं असंख्यात होकर भी अनन्त पदार्थों के परिणमन में सहकारी होता है ॥३॥

जिस प्रकार कुम्हार के चाक के घूमने में उसके नीचे लगी हुई कील कारण है उसी प्रकार पदार्थों के परिणमन होने में काल द्रव्य सहकारी कारण है । संसार के समस्त पदार्थ अपने-अपने गुण-पर्यायों द्वारा स्वयमेव ही परिणमन को प्राप्त होते रहते हैं और काल-द्रव्य उनके उस परिणमन में मात्र सहकारी कारण होता है । जब कि पदार्थों का परिणमन अपने-अपने गुण-पर्याय रूप होता है तब अनायास ही सिद्ध हो जाता है कि वे सब पदार्थ सर्वदा पृथक्-पृथक् रहते हैं अर्थात् अपना स्वरूप छोड़कर परस्पर में मिलते नहीं हैं ॥४॥

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश ये पाँच अस्तिकाय हैं अर्थात् सत्स्वरूप होकर बहुप्रदेशी है । इनमें काल-द्रव्य का पाठ नहीं है, इसलिए वह है ही नहीं इस प्रकार कितने ही लोग मानते हैं परन्तु उनका वह मानना ठीक नहीं है क्योंकि यद्यपि एक प्रदेशी होने के कारण काल द्रव्य का पंचास्तिकायों में पाठ नहीं है तथापि छह द्रव्यों में तो उसका पाठ किया गया है । इसके सिवाय युक्ति से भी काल द्रव्य का सिद्धाव सिद्ध होता है । वह युक्ति इस प्रकार है कि संसार में जो घड़ी, घाटा आदि व्यवहार काल प्रसिद्ध है वह पर्याय है । पर्याय का मूलभूत कोई न कोई पर्यायी अवश्य होता है क्योंकि बिना पर्यायी के पर्याय नहीं हो सकती इसलिए व्यवहार काल का मूलभूत मुख्य काल द्रव्य है । मुख्य पदार्थ के बिना व्यवहार-गौण पदार्थ की सत्ता सिद्ध नहीं होती । जैसे कि वास्तविक सिंह के बिना किसी प्रतापी बालक में सिंह का व्यवहार नहीं किया जा सकता, वैसे ही मुख्य काल के बिना घड़ी, घाटा आदि में काल द्रव्य का व्यवहार नहीं किया जा सकता । परन्तु होता अवश्य है इससे काल द्रव्य का अस्तित्व अवश्य मानना पड़ता है ॥५-७॥

यद्यपि इनमें एक से अधिक बहुप्रदेशों का अभाव है इसलिए इसे अस्तिकायों में नहीं गिना जाता है तथापि इसमें अगुरुलघु आदि अनेक गुण तथा उनके विकारस्वरूप अनेक पर्याय अवश्य हैं क्योंकि यह द्रव्य है, जो-जो द्रव्य होता है उसमें गुणपर्यायों का समूह अवश्य रहता है । द्रव्यत्व का गुणपर्यायों के साथ जैसा सम्बन्ध है वैसे बहुप्रदेशों के साथ नहीं है । अतः बहुप्रदेशों का अभाव होने पर भी काल पदार्थ द्रव्य माना जा सकता है और इस तरह काल नामक पृथक् पदार्थ की सत्ता सिद्ध हो जाती है ॥८॥

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश को अस्तिकाय कहने से ही यह सब होता है कि काल द्रव्य अस्तिकाय नहीं है क्योंकि विपक्षी के रहते हुए ही विशेषण की सार्थकता सिद्ध हो सकती है । जिस प्रकार छह द्रव्यों में चेतनरूप आत्मद्रव्य को जीव कहना ही पुद्गलादि पाँच द्रव्यों को अजीव सिद्ध कर देता है उसी प्रकार जीवादि को अस्तिकाय कहना ही काल को अनस्तिकाय सिद्ध कर देता है ॥९॥

इस मुख्य काल के अतिरिक्त जो घड़ी, घंटा आदि है वह व्यवहारकाल कहलाता है । यहाँ यह याद रखना आवश्यक होगा कि

व्यवहारकाल मुख्य काल से सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है वह उसी के आश्रय से उत्पन्न हुआ उसकी पर्याय ही है। यह छोटा है, यह बड़ा है आदि बातों से व्यवहारकाल स्पष्ट जाना जाता है ऐसा सर्वज्ञदेव ने वर्णन किया है ॥१०॥

यह व्यवहारकाल वर्तमान लक्षणरूप निश्चय काल-द्रव्य के द्वारा ही प्रवर्तित होता है और वह भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान रूप होकर संसार का व्यवहार चलाने के लिए समर्थ होता है अथवा कल्पित किया जाता है ॥११॥

वह व्यवहारकाल समय, आवलि, उच्छ्वास, नाड़ी आदि के भेद से अनेक प्रकार का होता है। यह व्यवहारकाल सूर्यादि ज्योतिश्चक्र के घूमने से ही प्रकट होता है ऐसा विद्वान् लोग जानते हैं ॥१२॥

यदि भव, आयु, काय और शरीर आदि की स्थिति का समय जोड़ा जाये तो वह अगत समयरूप होता है और उसका परिवर्तन भी अनन्त प्रकार से होता है ॥१३॥

उस व्यवहारकाल के दो भेद कहे जाते हैं-१. उत्सर्पिणी और २. अवसर्पिणी। जिसमें मनुष्यों के बल, आयु और शरीर का प्रमाण क्रम-क्रम से बढ़ता जाये उसे उत्सर्पिणी कहते हैं और जिसमें वे क्रम-क्रम से घटते जायें उसे अवसर्पिणी कहते हैं ॥१४॥

उत्सर्पिणी काल का प्रमाण दस कोड़ाकोड़ी सागर है तथा अवसर्पिणी काल का प्रमाण भी इतना ही है। इन दोनों को मिलाकर बीस कोड़ाकोड़ी सागर का एक कल्प काल होता है ॥१५॥

हे राजन् इन उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीकाल के प्रत्येक के छह-छह भेद होते हैं। अब क्रमपूर्वक उनके नाम कहे जाते हैं सो सुनो ॥१६॥

अवसर्पिणी काल के छह भेद ये हैं -- पहला सुषमासुषमा, दूसरा सुषमा, तीसरा सुषमादुःषमा, चौथा दुःषमासुषमा, पाँचवाँ दुःषमा और छठा अतिदुःषमा अथवा दुःषमदुःषमा ये अवसर्पिणी के भेद जानना चाहिए। उत्सर्पिणी काल के भी छह भेद होते हैं जो कि उक्त भेदों से विपरीत रूप हैं, जैसे १. दुःषमादुःषमा, २. दुःषमा, ३. दुःषमासुषमा, ४. सुषमादुःषमा, ५. सुषमा और ६. सुषमासुषमा ॥१७-१८॥

समा काल के विभाग को कहते हैं तथा सु और दुर् उपसर्ग-क्रम से अच्छे और बुरे अर्थ में आते हैं। सु और दूर उपसर्गों को पृथक्-पृथक् समा के साथ जोड़ देने तथा व्याकरण के नियमानुसार सको ष कर देने से सुषमा तथा दुःषमा शब्दों की सिद्धि होती है। जिनका अर्थ क्रम से अच्छा काल और बुरा काल होता है, इस तरह उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के छहों भेद सार्थक नाम वाले हैं ॥१९॥

इसी प्रकार अपने अवान्तर भेदों से सहित उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल भी सार्थक नाम से युक्त हैं क्योंकि जिसमें स्थिति आदि की वृद्धि होती रहे उसे उत्सर्पिणी और जिसमें घटती होती रहे उसे अवसर्पिणी कहते हैं ॥२०॥

ये उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी नामक दोनों ही भेद कालचक्र के परिभ्रमण से अपने छहों कालों के साथ-साथ कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष की तरह घूमते रहते हैं अर्थात् जिस तरह कृष्णपक्ष के बाद शुक्लपक्ष और शुक्लपक्ष के बाद कृष्णपक्ष बदलता रहता है उसी तरह अवसर्पिणी के बाद उत्सर्पिणी और उत्सर्पिणी के बाद अवसर्पिणी बदलती रहती है ॥२१॥

पहले इस भरतक्षेत्र के मध्यवर्ती आर्यखण्ड में अवसर्पिणी का पहला भेद सुषमा-सुषमा नाम का काल बीत रहा था उस काल का परिमाण चार कोड़ाकोड़ी सागर था, उस समय यहाँ नीचे लिखे अनुसार व्यवस्था थी ॥२२-२३॥

देवकुरु और उत्तरकुरु नामक उत्तर भोगभूमियों में जैसी स्थिति रहती है ठीक वैसी ही स्थिति इस भरतक्षेत्र में युग के प्रारम्भ अर्थात् अवसर्पिणी के पहले काल में थी ॥२४॥

उस समय मनुष्यों की आयु तीन पल्य की होती थी और शरीर की ऊँचाई छह हजार धनुष की थी ॥२५॥

उस समय यहाँ जो मनुष्य थे उनके शरीर के अस्थिबन्धन वज्र के समान सुदृढ़ थे, वे अत्यन्त सौम्य और सुन्दर आकार के धारक थे। उनका शरीर तपाये हुए सुवर्ण के समान देदीप्यमान था ॥२६॥

मुकुट, कुण्डल, हार, करधनी, कड़ा, बाजूबन्द और यज्ञोपवीत इन आभूषणों को वे सर्वदा धारण किये रहते थे ॥२७॥

वहाँ के मनुष्यों को पुण्य के उदय से अनुपम रूप सौन्दर्य तथा अन्य सम्पदाओं की प्राप्ति होती रहती है इसलिए वे स्वर्ग में देवों के समान अपनी-अपनी स्त्रियों के साथ चिरकाल तक क्रीड़ा करते रहते हैं ॥२८॥

वे पुरुष सबके सब बड़े बलवान् बड़े धीरवीर, बड़े तेजस्वी, बड़े प्रतापी, बड़े सामर्थ्यवान् और बड़े पुण्यशाली होते हैं। उनके वक्षःस्थल बहुत ही विस्तृत होते हैं तथा वे सब पूज्य समझे जाते हैं ॥२९॥

उन्हें तीन दिन बाद भोजन की इच्छा होती है, सौ कल्पवृक्षों से प्राप्त हुए बदरीफल बराबर उत्तम भोजन ग्रहण करते हैं ॥३०॥

उन्हें न तो कोई परिश्रम करना पड़ता है, न कोई रोग होता है, न मलमूत्रादि की बाधा होती है, न मानसिक पीड़ा होती है, न पसीना ही आता है और न अकाल में उनकी मृत्यु ही होती है। वे बिना किसी बाधा के सुखपूर्वक जीवन बिताते हैं ॥३१॥

वहाँ की स्त्रियाँ भी उतनी ही आयु की धारक होती हैं, उनका शरीर भी उतना ही ऊँचा होता है और वे अपने पुरुषों के साथ ऐसी शोभायमान होती हैं जैसी कल्पवृक्षों पर लगी हुई कल्पलताएँ ॥३२॥

वे स्त्रियाँ अपने पुरुषों में अनुरक्त रहती हैं और पुरुष अपनी स्त्रियों में अनुरक्त रहते हैं। वे दोनों ही अपने जीवन पर्यन्त बिना किसी क्लेश के भोग-सम्पदाओं का उपभोग करते रहते हैं ॥३३॥

देवों के समान उनका रूप स्वभाव से सुन्दर होता है, उनके वचन स्वभाव से मीठे होते हैं और उनकी चेष्टाएँ भी स्वभाव से चतुर होती हैं ॥ ३४॥

इच्छानुसार मनोहर आहार, घर, बाजे, माला, आभूषण और वस्त्र आदिक समस्त भोगोपभोग की सामग्री इन्हें इच्छा करते ही कल्पवृक्षों से प्राप्त हो जाती है ॥३५॥

जिनके पल्लवरूपी वस्त्र मन्द सुगन्धित वायु के द्वारा हमेशा हिलते रहते हैं। ऐसे सदा प्रकाशमान रहने वाले वहाँ के कल्पवृक्ष अत्यन्त शोभायमान रहते हैं ॥३६॥

सुषमासुषमा नामक काल के प्रभाव से उत्पन्न हुई क्षेत्र की सामर्थ्य से वृद्धि को प्राप्त हुए वे कल्पवृक्ष वहाँ के जीवों को मनोवांछित पदार्थ देने के लिए सदा समर्थ रहते हैं ॥३७॥

वे कल्पवृक्ष पुण्यात्मा पुरुषों को मनचाहे भोग देते रहते हैं इसलिए जानकार पुरुषों ने उनका कल्पवृक्ष यह नाम सार्थक ही कहा है ॥३८॥ वे कल्पवृक्ष दस प्रकार के हैं-१. मद्याङ्ग, २. तुर्याङ्ग, ३. विभूषाङ्ग, ४. स्रगङ्ग (माल्याङ्ग), ५. ज्योतिरङ्ग, ६. दीपाङ्ग, ७. गृहाङ्ग, ८. भोजनाङ्ग, ९. पात्राङ्ग और १०. वस्त्राङ्ग। वे सब अपने-अपने नाम के अनुसार ही कार्य करते हैं इसलिए इनके नाम मात्र कह दिये हैं; अधिक विस्तार के साथ उनका कथन नहीं किया है ॥३९-४०॥

इस प्रकार वहाँ के मनुष्य अपने पूर्व पुण्य के उदय से चिरकाल तक भोगों को भोगकर आयु समाप्त होते ही शरद्ऋतु के मेघों के समान विलीन हो जाते हैं ॥४१॥

आयु के अन्त में पुरुष को जम्हाई आती है और स्त्री को छींक। उसी से पुण्यात्मा पुरुष अपना-अपना शरीर छोड़कर स्वर्ग चले जाते हैं ॥ ४२॥

उस समय के मनुष्य स्वभाव से ही कोमल परिणामी होते हैं, इसलिए वे भद्रपुरुष मरकर स्वर्ग ही जाते हैं। स्वयं के सिवाय उनकी और कोई गति नहीं होती ॥४३॥

इस प्रकार अवसर्पिणी काल के प्रथम सुषमासुषमा नामक काल का कुछ वर्णन किया है। यहाँ की और समस्त विधि उत्तरकुरु के समान समझना चाहिए ॥४४॥

इसके अनन्तर जब क्रम-क्रम से प्रथम काल पूर्ण हुआ और कल्पवृक्ष, मनुष्यों का बल, आयु तथा शरीर की ऊँचाई आदि सब घटती को प्राप्त हो चले तब सुषमा नामक दूसरा काल प्रवृत्त हुआ। इसका प्रमाण तीन कोड़ाकोड़ी सागर था ॥४५-४६॥

उस समय इस भारतवर्ष में कल्पवृक्षों के द्वारा उत्कृष्ट विभूति को विस्तृत करती हुई मध्यम भोगभूमि की अवस्था प्रचलित हुई ॥४७॥

उस वक्त यहाँ के मनुष्य देवों के समान कान्ति के धारक थे, उनकी आयु दो पल्य की थी, उनका शरीर चार हजार-धनुष ऊँचा था तथा उनकी सभी चेष्टाएँ शुभ थीं ॥४८॥

उनके शरीर की कान्ति चन्द्रमा की कलाओं के साथ स्पर्धा करती थी अर्थात् उनसे भी कहीं अधिक सुन्दर थी, उनकी मुसकान बड़ी ही उज्ज्वल थी। वे दो दिन बाद कल्पवृक्ष से प्राप्त हुए बहेड़े के बराबर उत्तम अन्न खाते थे ॥४९॥

उस समय यहाँ की शेष सब व्यवस्था हरिक्षेत्र के समान थी फिर क्रम से जब द्वितीय काल पूर्ण हो गया और कल्पवृक्ष तथा मनुष्यों के बल, विक्रम आदि घट गये तब जघन्य भोगभूमि की व्यवस्था प्रकट हुई ॥५०-५१॥

उस समय न्यायवान् राजा के सदृश मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता हुआ तीसरा सुषमादुःषमा नाम का काल यथाक्रम से प्रवृत्त हुआ ॥ ५२॥

उसकी स्थिति दो कोड़ाकोड़ी सागर की थी । उस समय इस भारतवर्ष में मनुष्यों की स्थिति एक पल्य की थी । उनके शरीर एक कोश ऊँचे थे, वे प्रियङ्गु के समान श्यामवर्ण थे और एक दिन के अन्तर से आँवले के बराबर भोजन ग्रहण करते थे ॥५२-५४॥

इस प्रकार क्रम-क्रम से तीसरा काल व्यतीत होने पर जब इसमें पल्य का आठवाँ भाग शेष रह गया तब कल्पवृक्षों की सामर्थ्य घट गयी और ज्योतिरङ्ग जाति के कल्पवृक्षों का प्रकाश अत्यन्त मन्द हो गया ॥५५-५६॥

तदनन्तर किसी समय आषाढ़ सुदी पूर्णिमा के दिन सायंकाल के समय आकाश के दोनों भागों में अर्थात् पूर्व दिशा में उदित होता हुआ चमकीला चन्द्रमा और पश्चिम में अस्त होता हुआ सूर्य दिखलायी पड़ा ॥५७॥

उस समय वे सूर्य और चन्द्रमा ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो आकाशरूपी समुद्र में सोने के बने हुए दो जहाज ही हों अथवा आकाशरूपी हस्ती के गण्डस्थल के समीप सिन्दूर से बने हुए दो चन्द्रक (गोलाकार चिह्न) ही हों । अथवा पूर्णिमारूपी स्त्री के दोनों हाथों पर रखे हुए खेलने के मनोहर लाख निर्मित दो गोले ही हों । अथवा आगे होने वाले दुःषम-सुषमा नामक कालरूपी नवीन राजा के प्रवेश के लिए जगत्‍रूपी धर के विशाल दरवाजे पर रखे हुए मानो दो सुवर्णकलश ही हों । अथवा तारारूपी फेन और बुध, मंगल आदि ग्रहरूपी मगरमच्छों से भरे हुए आकाशरूपी समुद्र के मध्य में सुवर्ण के दो मनोहर जलक्रीड़ागृह ही बने हों । अथवा सद्वृत्त-गोलाकार (पक्ष में सदाचारी) और असंग-अकेले (पक्ष में परिग्रहरहित) होने के कारण साधुसमूह का अनुकरण कर रहे हों अथवा शीतकर-शीतल किरणों से युक्त (पक्ष में अल्प टैक्स लेने वाला) और तीव्रकर-उष्ण किरणों से युक्त (पक्ष में अधिक टैक्स से लेने वाला) होने के कारण क्रम से न्यायी और अन्यायी राजा का ही अनुकरण कर रहे हों ॥५८-६२॥

उस समय वहाँ प्रतिश्रुति नाम से प्रसिद्ध पहले कुलकर विद्यमान थे जो कि सबसे अधिक तेजस्वी थे और प्रजाजनों के नेत्र के समान शोभायमान थे अर्थात् नेत्र के समान प्रजाजनों को हितकारी मार्ग बतलाते थे ॥६३॥

जिनेन्द्रदेव ने उनकी आयु पल्य के दसवें भाग और ऊँचाई एक हजार आठ सौ धनुष बतलायी है ॥६४॥

उनके मस्तक पर प्रकाशमान मुकुट शोभायमान हो रहा था, कानों में सुवर्णमय कुण्डल चमक रहे थे और वे स्वयं मेरु पर्वत के समान ऊँचे थे इसलिए उनके वक्षःस्थल पर पड़ा हुआ रत्नों का हार झरने के समान मालूम होता था । उनका उन्नत और श्रेष्ठ शरीर नाना प्रकार के आभूषणों की कान्ति के भार से अतिशय प्रकाशमान हो रहा था, उन्होंने अपने बढ़ते हुए तेज से सूर्य को भी तिरस्कृत कर दिया था । वे बहुत ही ऊँचे थे इसलिए ऐसे मालूम होते थे मानो जगत्‍रूपी धर की ऊँचाई को नापने के लिए खड़े किये गये मापदण्ड ही हों । इसके सिवाय वे जन्मान्तर के संस्कार से प्राप्त हुए अवधिज्ञान को भी धारण किये हुए थे इसलिए वही सबमें उत्कृष्ट बुद्धिमान् गिने जाते थे ॥

६५-६७॥

वे देदीप्यमान दातों की किरणोंरूपी जल से दिशाओं का बार-बार प्रक्षालन करते हुए जब प्रजा को सन्तुष्ट करने वाले वचन बोलते थे तब ऐसे मालूम होते थे मानो अमृत का रस ही प्रकट कर रहे हों । पहले कभी नहीं दिखने वाले सूर्य और चन्द्रमा को देखकर भयभीत हुए भोगभूमिज मनुष्यों को उन्होंने उनका निम्नलिखित स्वरूप बतलाकर भयरहित किया था ॥६८-६९॥

उन्होंने कहा -- हे भद्र पुरुषों, तुम्हें जो ये दिख रहे हैं वे सूर्य, चन्द्रमा नाम के ग्रह हैं, ये महाकान्ति के धारक हैं तथा आकाश में सर्वदा घूमते रहते हैं । अभी तक इनका प्रकाश ज्योतिरङ्ग जाति के कल्पवृक्षों के प्रकाश से तिरोहित रहता था इसलिए नहीं दिखते थे परन्तु अब चूँकि कालदोष के वश से ज्योतिरङ्ग वृक्षों का प्रभाव कम हो गया है अतः दिखने लगे हैं । इनसे तुम लोगों को कोई भय नहीं है अतः भयभीत नहीं होओ ॥७०-७१॥

प्रतिश्रुति के इन वचनों से उन लोगों को बहुत ही आश्वासन हुआ । इसके बाद प्रतिश्रुति ने इस भरतक्षेत्र में होने वाली व्यवस्थाओं का निरूपण किया ॥७२॥

इन धीर-वीर प्रतिश्रुति ने हमारे वचन सुने हैं इसलिए प्रसन्न होकर उन भोगभूमिजों ने प्रतिश्रुति इसी नाम से स्तुति की और कहा कि-अहो महाभाग, अहो बुद्धिमान् आप चिरंजीव रहें तथा हम पर प्रसन्न हों क्योंकि आपने हमारे दुःखरूपी समुद्र में नौका का काम दिया है अर्थात् हित का उपदेश देकर हमें दुःखरूपी समुद्र से उद्धृत किया है ॥७३-७४॥

इस प्रकार प्रतिश्रुति का स्तवन तथा बार-बार सत्कार कर वे सब आर्य उनकी आज्ञानुसार अपनी-अपनी स्त्रियों के साथ अपने-अपने घर चले गये ॥७५॥

इसके बाद क्रम-क्रम से समय के व्यतीत होने तथा प्रतिश्रुति कुलकर के स्वर्गवास हो जाने पर जब असंख्यात करोड़ वर्षों का मन्वन्तर (एक कुलकर के बाद दूसरे कुलकर के उत्पन्न होने तक बीच का काल) व्यतीत हो गया तब समीचीन बुद्धि के धारक सन्मति नाम के द्वितीय कुलकर का जन्म हुआ । उनके वस्त्र बहुत ही शोभायमान थे तथा वे स्वयं अत्यन्त ऊँचे थे इसलिए चलते-फिरते कल्पवृक्ष के समान मालूम होते थे ॥७६-७७॥

उनके केश बड़े ही सुन्दर थे, वे अपने मस्तक पर मुकुट बाँधे हुए थे, कानों में कुंडल पहिने थे, उनका वक्षःस्थल हार से सुशोभित था, इन सब कारणों से वे अत्यन्त शोभायमान हो रहे थे ॥७८॥

उनकी आयु अमम के बराबर संख्यात वर्षों की थी और शरीर की ऊँचाई एक हजार तीन सौ धनुष थी ॥७९॥

इनके समय में ज्योतिरङ्ग जाति के कल्पवृक्षों की प्रभा बहुत ही मन्द पड़ गयी थी तथा उनका तेज बुझते हुए दीपक के समान नष्ट होने के सम्मुख ही था ॥८०॥

एक दिन रात्रि के प्रारम्भ में जब थोड़ा-थोड़ा अन्धकार था तब तारागण आकाशरूपी अङ्गण को व्याप्त कर-सब ओर प्रकाशमान होने लगे ॥८१॥

उस समय अकस्मात् तारों को देखकर भोगभूमिज मनुष्य अत्यन्त भ्रम में पड़ गये अथवा अत्यन्त व्याकुल हो गये । उन्हें भय ने इतना कम्पायमान कर दिया जितना कि प्राणियों की हिंसा मुनिजनों को कम्पायमान कर देती है ॥८२॥

सन्मति कुलकर ने क्षण-भर विचार कर उन आर्य पुरुषों से कहा कि हे भद्र पुरुषों, यह कोई उत्पात नहीं है इसलिए आप व्यर्थ ही भय के वशीभूत न हों ॥८३॥

ये तारे हैं, यह नक्षत्रों का समूह है, ये सदा प्रकाशमान रहने वाले सूर्य, चन्द्र आदि ग्रह हैं और यह तारों से भरा हुआ आकाश है ॥८४॥

यह ज्योतिश्चक्र सर्वदा आकाश में विद्यमान रहता है, अब से पहले भी विद्यमान था, परन्तु ज्योतिरङ्ग जाति के वृक्षों के प्रकाश से तिरोभूत था । अब उन वृक्षों की प्रभा क्षीण हो गयी है इसलिए स्पष्ट दिखायी देने लगा है ॥८५॥

आज से लेकर सूर्य, चन्द्रमा, तारे आदि का उदय और अस्त होता रहेगा और उससे रात-दिन का विभाग होता रहेगा ॥८६॥

उन बुद्धिमान् सन्मति ने सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण, ग्रहों का एक राशि से दूसरी राशि पर जाना, दिन और अयन आदि का संक्रमण बतलाते हुए ज्योतिष विद्या के मूल कारणों का भी उल्लेख किया था ॥८७॥

वे आर्य लोग भी उनके वचन सुनकर शीघ्र ही भयरहित हो गये । वास्तव में वे सन्मति प्रजा का उपकार करने वाली कोई सर्वश्रेष्ठ ज्योति ही थे ॥८८॥

समीचीन बुद्धि के देने वाले यह सन्मति ही हमारे स्वामी हों इस प्रकार उनकी प्रशंसा और पूजा कर वे आर्य पुरुष अपने-अपने स्थानों पर चले गये ॥८९॥

इनके बाद असंख्यात करोड़ वर्षों का अन्तराल काल बीत जाने पर इस भरतक्षेत्र में क्षेमंकर नाम के तीसरे मनु हुए ॥९०॥

उनकी भुजाएँ युग के समान लम्बी थीं । शरीर ऊँचा था, वक्षस्थल विशाल था, आभा चमक रही थी तथा मस्तक मुकुट से शोभायमान था । इन सब बातों से वे मेरु पर्वत से भी अधिक शोभायमान हो रहे थे ॥९१॥

इस महाप्रतापी मनु की आयु अटट बराबर थी और शरीर की ऊँचाई आठ सौ धनुष की थी ॥९२॥

पहले जो पशु, सिंह, व्याघ्र आदि अत्यन्त भद्रपरिणामी थे जिनका लालन-पालन प्रजा अपने हाथ से ही किया करती थी वे अब इनके समय विकार को प्राप्त होने लगे मुंह फाड़ने लगे और भयंकर शब्द करने लगे ॥९३॥

उनकी इस भयंकर गर्जना से मिले हुए विकार भाव को देखकर प्रजाजन डरने लगे तथा बिना किसी आश्चर्य के निश्चल बैठे हुए क्षेमंकर मनु के पास जाकर उनसे पूछने लगे ॥९४॥

हे देव, सिंह व्याघ्र आदि जो पशु पहले बड़े शान्त थे, जो अत्यन्त स्वादिष्ट घास खाकर और तालाबों का रसायन के समान रसीला पानी पीकर पुष्ट हुए थे, जिन्हें हम लोग अपनी गोदी में बैठाकर अपने हाथों से खिलाते थे, हम जिन पर अत्यन्त विश्वास करते थे और जो बिना किसी उपद्रव के हम लोगों के साथ-साथ रहा करते थे आज वे ही पशु बिना किसी कारण के हम लोगों को सींगों से मारते हैं, दाढ़ों और नखों से हमें विदारण किया चाहते हैं और अत्यन्त भयंकर दिख पड़ते हैं । हे महाभाग, आप हमारा कल्याण करने वाला कोई उपाय

बतलाइए । चूँकि आप सकल संसार का क्षेम-कल्याण सोचते रहते हैं इसलिए सच्चे क्षेमंकर हैं ॥९५-९८॥

इस प्रकार उन आर्यों के वचन सुनकर क्षेमंकर मनु को भी उनसे मित्रभाव उत्पन्न हो गया और वे कहने लगे कि आपका कहना ठीक है । ये पशु पहले वास्तव में शान्त थे परन्तु अब भयंकर हो गये हैं इसलिए इन्हें छोड़ देना चाहिए । ये काल के दोष से विकार को प्राप्त हुए हैं अब इनका विश्वास नहीं करना चाहिए । यदि तुम इनकी उपेक्षा करोगे तो ये अवश्य ही बाधा करेंगे ॥९९-१००॥

क्षेमंकर के उक्त वचन सुनकर उन लोगों ने सींग वाले और दाढ़ वाले दुष्ट पशुओं का साथ छोड़ दिया, केवल निरुपद्वी गाय-भैंस आदि पशुओं के साथ रहने लगे ॥१०१॥

क्रम-क्रम से समय बीतने पर क्षेमंकर मनु की आयु पूर्ण हो गयी । उसके बाद जब असंख्यात करोड़ वर्षों का मन्वन्तर व्यतीत हो गया तब अत्यन्त ऊँचे शरीर के धारक, दोषों का निग्रह करने वाले और सज्जनों में अग्रसर क्षेमंकर नामक चौथे मनु हुए । उन महात्मा की आयु तुटिक प्रमाण वर्षों की थी और शरीर की ऊँचाई सात सौ पचहत्तर धनुष थी । इनके समय में जब सिंह, व्याघ्र आदि दुष्ट पशु अतिशय प्रबल और क्रोधी हो गये तब इन्होंने लकड़ी लाठी आदि उपायों से इनसे बचने का उपदेश दिया । चूँकि इन्होंने दुष्ट जीवों से रक्षा करने के उपायों का उपदेश देकर प्रजा का कल्याण किया था इसलिए इनका क्षेमंधर यह सार्थक नाम प्रसिद्ध हुआ था ॥१०२-१०६॥

इनके बाद पहले की भाँति फिर भी असंख्यात करोड़ वर्षों का मन्वन्तर पड़ा । फिर क्रम से प्रजा के पुण्योदय से सीमंकर नाम के कुलकर उत्पन्न हुए । इनका शरीर चित्र-विचित्र वस्त्रों तथा माला आदि से शोभायमान था । जैसे इन्द्र स्वर्ग की लक्ष्मी का उपभोग करता है वैसे ही यह भी अनेक प्रकार की भोगलक्ष्मी का उपभोग करते थे । महाबुद्धिमान् आचार्यों ने उनकी आयु कमल प्रमाण वर्षों की बतलायी है तथा शरीर की ऊँचाई सात सौ पचास धनुष की । इनके समय में जब कल्पवृक्ष अल्प रह गये और फल भी अल्प देने लगे तथा इसी कारण से जब लोगों में विवाद होने लगा तब सीमंकर मनु ने सोच-विचारकर वचनों द्वारा कल्पवृक्षों की सीमा नियत कर दी अर्थात् इस प्रकार की व्यवस्था कर दी कि इस जगह के कल्पवृक्ष से इतने लोग काम लें और उस जगह के कल्पवृक्ष से इतने लोग काम लें । प्रजा ने उक्त व्यवस्था से ही उन मनु का सीमंकर यह सार्थक नाम रख लिया था ॥१०७-१११॥

इनके बाद पहले की भाँति मन्वन्तर व्यतीत होने पर सीमन्धर नाम के छठे मनु उत्पन्न हुए । उनकी बुद्धि बहुत ही पवित्र थी । वह नलिन प्रमाण आयु के धारक थे, उनके मुख और नेत्रों की कान्ति कमल के समान थी तथा शरीर की ऊँचाई सात सौ पच्चीस धनुष की थी । इनके समय में जब कल्पवृक्ष अत्यन्त थोड़े रह गये तथा फल भी बहुत थोड़े देने लगे और उस कारण से जब लोगों में भारी कलह होने लगा, कलह ही नहीं, एक-दूसरे को बाल पकड़-पकड़कर मारने लगे तब उन सीमन्धर मनु ने कल्याण स्थापना की भावना से कल्पवृक्षों की सीमाओं को अन्य अनेक वृक्ष तथा छोटी-छोटी झाड़ियों से चिह्नित कर दिया था ॥११२-११५॥

इनके बाद फिर असंख्यात करोड़ वर्षों का अन्तर हुआ और कल्पवृक्षों की शक्ति आदि हर एक उत्तम वस्तुओं में क्रम-क्रम से घटती होने लगी तब मन्वन्तर को व्यतीत कर विमलवाहन नाम के सातवें मनु हुए । उनका शरीर भोगलक्ष्मी से आलिङ्गित था, उनकी आयु पद्म-प्रमाण वर्षों की थी । शरीर सात सौ धनुष ऊँचा और लक्ष्मी से विभूषित था । इन्होंने हाथी, घोड़ा आदि सवारी के योग्य पशुओं पर कुथार, अंकुश, पलान, तोबरा आदि लगाकर सवारी करने का उपदेश दिया था ॥११६-११९॥

इनके बाद असंख्यात करोड़ वर्षों का अन्तराल रहा । फिर चक्षुष्मान् नाम के आठवें मनु उत्पन्न हुए, वे पद्माङ्ग प्रमाण आयु के धारक थे और छह-सौ पचहत्तर धनुष ऊँचे थे । उनके शरीर की शोभा बड़ी ही सुन्दर थी । इनके समय से पहले के लोग अपनी सन्तान का मुख नहीं देख पाते थे, उत्पन्न होते ही माता-पिता की मृत्यु हो जाती थी परन्तु अब वे क्षण-भर पुत्र का मुख देखकर मरने लगे । उनके लिए यह नयी बात थी इसलिए भय का कारण हुई । उस समय भयभीत हुए आर्य पुरुषों को चक्षुष्मान् मनु ने यथार्थ उपदेश देकर उनका भय छुड़ाया था । चूँकि उनके समय माता पिता अपने पुत्रों को क्षण-भर देख सके थे इसलिए उनका चक्षुष्मान् यह सार्थक नाम प्रसिद्ध हुआ ॥ १२०-१२४॥

तदनन्तर करोड़ों वर्षों का अन्तर व्यतीत कर यशस्वान् नाम के नौवें मनु हुए । वे बड़े ही यशस्वी थे । उन महापुरुष की आयु कुमुद प्रमाण वर्षों की थी । उनके शरीर की ऊँचाई छह सौ पचास धनुष की थी । उनके समय में प्रजा अपनी सन्तानों का मुख देखने के साथ-साथ उन्हें आशीर्वाद देकर तथा क्षण-भर ठहर कर परलोक गमन करती थी-मृत्यु को प्राप्त होती थी । इनके उपदेश से प्रजा अपनी सन्तानों को आशीर्वाद देने लगी थी इसलिए उत्तम सन्तान वाली प्रजा ने प्रसन्न होकर इनको यश वर्णन किया इसी कारण उनका यशस्वान् यह सार्थक

नाम पड़ गया था ॥१२५-१२८॥

इनके बाद करोड़ों वर्षों का अन्तर व्यतीत कर अभिचन्द्र नाम के दसवें मनु उत्पन्न हुए। उनका मुख चन्द्रमा के समान सौम्य था, कुमुदा में प्रमाण उनकी आयु थी, उनका मुकुट और कुण्डल अतिशय देदीप्यमान था। वे छह सौ पच्चीस धनुष ऊँचे तथा देदीप्यमान शरीर के धारक थे। यथायोग्य अवयवों में अनेक प्रकार के आभूषणरूप मंजरियों को धारण किये हुए थे। उनका शरीर महाकान्तिमान् था और स्वयं पुण्य के फल से शोभायमान थे इसलिए फूले-फले तथा ऊँचे कल्पवृक्ष के समान शोभायमान होते थे। उनके समय प्रजा अपनी-अपनी सन्तानों का मुख देखने लगी-उन्हें आशीर्वाद देने लगी तथा रात के समय कौतुक के साथ चन्द्रमा दिखला-दिखलाकर उनके साथ कुछ क्रीड़ा भी करने लगी। उस समय प्रजा ने उनके उपदेश से चन्द्रमा के सम्मुख खड़ा होकर अपनी सन्तानों को क्रीड़ा करायी थी-उन्हें खिलाया था इसलिए उनका अभिचन्द्र यह सार्थक नाम प्रसिद्ध हुआ ॥१२९-१३३॥

फिर उतना ही अन्तर व्यतीत कर चन्द्राभ नाम के ग्यारहवें मनु हुए। उनका मुख चन्द्रमा के समान था, ये समय की गतिविधि के जानने वाले थे। इनकी आयु नयुत प्रमाण वर्षों की थी। ये अनेक शोभायमान सामुद्रिक लक्षणों से उज्ज्वल थे। इनका शरीर छह सौ धनुष ऊँचा था तथा उदय होते हुए सूर्य के समान देदीप्यमान था। ये समस्त कलाओं-विद्याओं को धारण किये हुए ही उत्पन्न हुए थे, जनता को अतिशय प्रिय थे, तथा अपनी मन्द मुसकान से सबको आह्लादित करते थे इसलिए उदित होते ही सोलह कलाओं को धारण करने वाले लोकप्रिय और चन्द्रिका से युक्त चन्द्रमा के समान शोभायमान होते थे। इनके समय में प्रजाजन अपनी सन्तानों को आशीर्वाद देकर अत्यन्त प्रसन्न तो होते ही थे, परन्तु कुछ दिनों तक उनके साथ जीवित भी रहने लगे थे, तदनन्तर सुखपूर्वक परलोक को प्राप्त होते थे। उन्होंने चन्द्रमा के समान सब जीवों को आह्लादित किया था इसलिए उनका चन्द्राभ यह सार्थक नाम प्रसिद्ध हुआ था ॥१३४-१३८॥ तदनन्तर अपने योग्य अन्तर को व्यतीत कर प्रजा के नेत्रों को आनन्द देने वाले, मनोहर शरीर के धारक मरुदेव नाम के बारहवें कुलकर उत्पन्न हुए। उनके शरीर की ऊँचाई पाँच सौ पचहत्तर धनुष की थी और आयु नयुत प्रमाण वर्षों की थी। वे सूर्य के समान देदीप्यमान थे अथवा वह स्वयं ही एक विलक्षण सूर्य थे, क्योंकि सूर्य के समान तेजस्वी होने पर भी लोग उन्हें सुखपूर्वक देख सकते थे जब कि चकाचौंध के कारण सूर्य को कोई देख नहीं सकता। सूर्य के समान उदय होने पर भी वे कभी अस्त नहीं होते थे-उनका कभी पराभव नहीं होता था जब कि सूर्य अस्त हो जाता है और जमीन में स्थित रहते हुए भी वे आकाश को प्रकाशित करते थे जब कि सूर्य आकाश में स्थित रहकर ही उसे प्रकाशित करता है (पक्ष में वस्त्रों से शोभायमान थे)। इनके समय में प्रजा अपनी-अपनी सन्तानों के साथ बहुत दिनों तक जीवित रहने लगी थी तथा उनके मुख देखकर और शरीर को स्पर्श कर सुखी होती थी। वे मरुदेव ही वहाँ के लोगों के प्राण थे क्योंकि उनका जीवन मरुदेव के ही अधीन था अथवा यों समझिए-अब उनके द्वारा ही जीवित रहते थे इसलिए प्रजाने उन्हें मरुदेव इस सार्थक नाम से पुकारा था। इन्हीं मरुदेव ने उस समय जलरूप दुर्गम स्थानों में गमन करने के लिए छोटी-बड़ी नाव चलाने का उपदेश दिया था तथा पहाड़ रूप दुर्गम स्थान पर चढ़ने के लिए इन्होंने सीढ़ियाँ बनवायी थीं। इन्हीं के समय में अनेक छोटे-छोटे पहाड़, उपसमुद्र तथा छोटी-छोटी नदियाँ उत्पन्न हुई थीं तथा नीच राजाओं के समान अस्थिर रहने वाले मेघ भी जब कभी बरसने लगे थे ॥१३९-१४५॥ इनके बाद समय व्यतीत होने पर जब कर्मभूमि की स्थिति धीरे-धीरे समीप आ रही थी-अर्थात् कर्मभूमि की रचना होने के लिए जब थोड़ा ही समय बाकी रह गया था तब बड़े प्रभावशाली प्रसेनजित् नाम के तेरहवें कुलकर उत्पन्न हुए। इनकी आयु एक पर्व प्रमाण थी और शरीर की ऊँचाई पाँच-सौ पचास धनुष की थी। वे प्रसेनजित् महाराज मार्ग-प्रदर्शन करने के लिए प्रजा के तीसरे नेत्र के समान थे, अज्ञानरूपी दोष से रहित थे और उदय होते ही पद्मा-लक्ष्मी के करग्रहण से अतिशय शोभायमान थे, इन सब बातों से वे सूर्य के समान मालूम होते थे क्योंकि सूर्य भी मार्ग दिखाने के लिए तीसरे नेत्र के समान होता है, अन्धकार से रहित होता है और उदय होते ही कमलों के समूह को आनन्दित करता है। इनके समय में बालकों की उत्पत्ति जरायु से लिपटी हुई होने लगी अर्थात् उत्पन्न हुए बालकों के शरीर पर मांस की एक पतली झिल्ली रहने लगी। इन्होंने अपनी प्रजा को उस जरायु के खींचने अथवा फाड़ने आदि का उपदेश दिया था। मनुष्यों के शरीर पर जो आवरण होता है उसे जरायुपटल अथवा प्रसेन कहते हैं। तेरहवें मनु ने उसे जीतने दूर करने आदि का उपदेश दिया था इसलिए वे प्रसेनजित् कहलाते थे। अथवा प्रसा शब्द का अर्थ प्रसूति-जन्म लेना है तथा इन शब्द का अर्थ स्वामी होता है। जरायु उत्पत्ति को रोक लेती है अतः उसी को प्रसेन-जन्म का स्वामी कहते हैं (प्रज्ञा+इति=प्रसेन) इन्होंने उस प्रसेन के नष्ट करने अथवा जीतने के उपाय बतलाये थे इसलिए इनका प्रसेनजित् नाम पड़ा था ॥१४६-१५१॥

इनके बाद ही नाभिराज नाम के कुलकर हुए थे, ये महाबुद्धिमान् थे । इनसे पूर्ववती युग-श्रेष्ठ कुलकरों ने जिस लोकव्यवस्था के भार को धारण किया था यह भी उसे अच्छी तरह धारण किये हुए थे । उनकी आयु एक करोड़ पूर्व की थी और शरीर की ऊँचाई पाँच-सौ पच्चीस धनुष थी । इनका मस्तक मुकुट से शोभायमान था और दोनों कान कुण्डलों से अलंकृत थे इसलिए वे नाभिराज उस मेरु पर्वत के समान शोभायमान हो रहे थे जिसका ऊपरी भाग दोनों तरफ घूमते हुए सूर्य और चन्द्रमा से शोभायमान हो रहा है । उनका मुखकमल अपने सौन्दर्य से गर्वपूर्वक पौर्णमासी के चन्द्रमा का तिरस्कार कर रहा था तथा मन्द मुसकान से जो दाँतों की किरणें निकल रही थी वे उसमें केसर की भाँति शोभायमान हो रही थीं । जिस प्रकार हिमवान पर्वत गङ्गा के जल-प्रवाह से युक्त अपने तट को धारण करता है उसी प्रकार नाभिराज अनेक आभरणों से उज्ज्वल और रत्नहार से भूषित अपने वक्षःस्थल को धारण कर रहे थे । वे उत्तम अँगुलियों और हथेलियों से युक्त जिन दो भुजाओं को धारण किये हुए थे वे ऊपर को फण उठाये हुए सर्पों के समान शोभायमान हो रहे थे । तथा बाजूबन्दों से सुशोभित उनके दोनों कन्धे ऐसे मालूम होते थे मानो सर्पसहित निधियों के दो घोड़े ही हों । वे नाभिराज जिस कटि भाग को धारण किये हुए थे वह अत्यन्त सुदृढ़ और स्थिर था, उसके अस्थिबन्ध वज्रमय थे तथा उसके पास ही सुन्दर नाभि शोभायमान हो रही थी । उस कटि भाग को धारण कर वे ऐसे मालूम होते थे मानो मध्यलोक को धारण कर ऊर्ध्व और अधोभाग में विस्तार को प्राप्त हुआ लोक स्कन्ध ही हो । वे करधनी से शोभायमान कमर को धारण किये थे जिससे ऐसे मालूम होते थे मानो सब ओर फैले हुए रत्नों से युक्त रत्नद्वीप को धारण किये हुए समुद्र ही हो । वे वज्र के समान मजबूत, गोलाकार और एक-दूसरे से सटी हुई जिन जंघाओं को धारण किये हुए थे वे ऐसी मालूम होती थीं मानो जगद्रूपी घर के भीतर लगे हुए दो मजबूत खम्भे हों । उनके शरीर का ऊर्ध्व भाग वक्षःस्थलरूपी शिला से युक्त होने के कारण अत्यन्त वजनदार था मानो यह समझकर ही ब्रह्मा ने उसे निश्चलरूप से धारण करने के लिए उनकी ऊरुओं (घुटनों से ऊपर का भाग) सहित जंघाओं (पिंडरियों) को बहुत ही मजबूत बनाया था । वे जिस चरणतल को धारण किये हुए थे वह चन्द्र, सूर्य, नदी, समुद्र, मच्छ, कच्छप आदि अनेक शुभलक्षणों से सहित था जिससे वह ऐसा मालूम होता था मानो यह चर-अचर रूप सभी संसार सेवा करने के लिए उसके आश्रय में आ पड़ा हो । इस प्रकार स्वाभाविक मधुरता और सुन्दरता से बना हुआ नाभिराज का जैसा शरीर था, मैं मानता हूँ कि वैसा शरीर देवों के अधिपति इन्द्र को भी मिलना कठिन है ॥१५२-१६३॥

इनके समय में उत्पन्न होते वक्त बालक की नाभि में नाल दिखायी देने लगा था और नाभिराज ने उसके काटने की आज्ञा दी थी इसलिए इनका 'नाभि' यह सार्थक नाम पड़ा गया था ॥१६४॥

उन्हीं के समय आकाश में कुछ सफेदी लिये हुए काले रंग के सघन मेघ प्रकट हुए थे । वे मेघ इन्द्रधनुष से सहित थे ॥१६५॥

उस समय काल के प्रभाव से पुद्गल परमाणुओं में मेघ बनाने की सामर्थ्य उत्पन्न हो गयी थी, इसलिए सूक्ष्म पुद्गलों द्वारा बने हुए मेघों के समूह छिद्ररहित लगातार समस्त आकाश को घेर कर जहाँ-जहाँ फैल गये थे ॥१६६॥

वे मेघ बिजली से युक्त थे, गम्भीर गर्जना कर रहे थे और पानी बरसा रहे थे जिससे ऐसे शोभायमान होते थे मानो सुवर्ण की मालाओं से सहित, मद बरसाने वाले और गरजते हुए हस्ती ही हों ॥१६७॥

उस समय मेघों की गम्भीर गर्जना से टकरायी हुई पहाड़ों की दीवारों से जो प्रतिध्वनि निकल रही थी उससे ऐसा मालूम होता था मानो वे पर्वत की दीवारें कुपित होकर प्रतिध्वनि के बहाने आक्रोश वचन (गालियाँ) ही कह रही हों ॥१६८॥

उस समय मेघमाला द्वारा बरसाये हुए जलकणों को धारण करने वाला ठण्डा वायु मयूरों के पंखों को फैलाता हुआ बह रहा था ॥१६९॥
आकाश में बादलों का आगमन देखकर हर्षित हुए चातक पक्षी मनोहर शब्द बोलने लगे और मोरों के समूह अकस्मात् ताण्डव नृत्य करने लगे ॥१७०॥

उस समय धाराप्रवाह बरसते हुए मेघों के समूह ऐसे मालूम होते थे मानो जिनसे धातुओं के निर्झर निकल रहे हैं ऐसे पर्वतों का अभिषेक करने के लिए तत्पर हुए हों ॥१७१॥

पहाड़ों पर कहीं-कहीं गेरू के रंग से लाल हुए नदियों के जो पूर बड़े वेग से बह रहे थे वे ऐसे मालूम होते थे मानो मेघों के प्रहार से निकले हुए पहाड़ों के रक्त के प्रवाह ही हों ॥१७२॥

वे बादल गरजते हुए मोटी धार से बरस रहे थे जिससे ऐसा मालूम होता था मानो कल्पवृक्षों का क्षय हो जाने से शोक से पीड़ित हो रुदन ही कर रहे हों-रो-रोकर आँसू बहा रहे हों ॥१७३॥

वायु के आघात से उन मेघों से ऐसा गम्भीर शब्द होता था मानो बजाने वाले के हाथ की चोट से मृदङ्ग का ही शब्द हो रहा हो। उसी समय आकाश में बिजली चमक रही थी, जिससे ऐसा मालूम होता था मानो आकाशरूपी रङ्गभूमि में अनेक रूप धारण करती हुई तथा क्षण-क्षण में यहाँ-वहाँ अपना शरीर घुमाती हुई कोई नटी नृत्य कर रही हो ॥१७४-१७५॥

उस समय चातक पक्षी ठीक बालकों के समान आचरण कर रहे थे क्योंकि जिस प्रकार बालक पयोधर-माता के स्तन में आसक्त होते हैं उसी प्रकार चातक पक्षी भी पयोधर-मेघों में आसक्त थे, बालक जिस तरह कठिनाई से प्राप्त हुए पय-दूध को पीते हुए तृप्त नहीं होते उसी तरह चातक पक्षी भी कठिनाई से प्राप्त हुए पय-जल को पीते हुए तृप्त नहीं होते थे, और बालक जिस प्रकार माता से प्रेम रखते हैं उसी प्रकार चातक पक्षी भी मेघों से प्रेम रखते थे ॥१७६॥

अथवा वे बादल पामर मनुष्यों के सर के समान आचरण करते थे क्योंकि जिस प्रकार पामर मनुष्य स्त्री में आसक्त हुआ करते हैं उसी प्रकार वे भी बिजलीरूपी स्त्री में आसक्त थे, पामर मनुष्य जिस प्रकार खेती के योग्य वर्षाकाल की अपेक्षा रखते हैं उसी प्रकार वे भी वर्षाकाल की अपेक्षा रखते थे, पामर मनुष्य जिस प्रकार महाजड़ अर्थात् महामूर्ख होते हैं उसी प्रकार वे भी महाजल अर्थात् भारी जल से भरे हुए थे (संस्कृत-साहित्य में श्लेष आदि के समय ड और ल में अभेद होता है) और पामर मनुष्य जिस प्रकार खेती करने में तत्पर रहते हैं उसी प्रकार मेघ भी खेती कराने में तत्पर थे ॥१७७॥

यद्यपि वे बादल बुद्धिरहित थे तथापि पुद्गल परमाणुओं की विचित्र परिणति होने के कारण शीघ्र ही बरसकर अनेक प्रकार की विकृति को प्राप्त हो जाते थे ॥१७८॥

उस समय मेघों से जो पानी की बूँदें गिर रही थीं वे मोतियों के समान सुन्दर थीं तथा उन्होंने सूर्य की किरणों के ताप से तपी हुई पृथ्वी को शान्त कर दिया था ॥१७९॥

इसके अनन्तर मेघों से पड़े हुए जल की आर्द्रता, पृथ्वी का आधार, आकाश का अवगाहन, वायु का अन्तर्नीहार अर्थात् शीतल परमाणुओं का संचय करना और धूप की उष्णता इन सब गुणों के आश्रय से उत्पन्न हुई द्रव्य क्षेत्र काल भाव रूपी सामग्री को पाकर खेतों में अनेक अंकुर पैदा हुए, वे अंकुर पास-पास जमे हुए थे तथापि अंकुर अवस्था से लेकर फल लगने तक निरन्तर धीरे-धीरे बढ़ते जाते थे। इसी प्रकार और भी अनेक प्रकार के धान्य बिना बोये ही सब ओर पैदा हुए थे। वे सब धान्य प्रजा के पूर्वोपार्जित पुण्य कर्म के उदय से अथवा उस समय के प्रभाव से ही समय पाकर पक गये तथा फल देने के योग्य हो गये ॥१८०-१८३॥

जिस प्रकार पिता के मरने पर पुत्र उनके स्थान पर आरूढ़ होता है उसी प्रकार कल्पवृक्षों का अभाव होने पर वे धान्य उनके स्थान पर आरूढ़ हुए थे ॥१८४॥

उस समय न तो अधिक वृष्टि होती थी और न कम, किन्तु मध्यम दरजे की होती थी इसलिए सब धान्य बिना किसी विघ्न-बाधा के फलसहित हो गये थे ॥१८५॥

साठी, चावल, कलम, व्रीहि, जौ, गेहूँ, कांगनी, सामा, कोदो, नीवार (तिन्नी) बटाने, तिल, अलसी, मसूर, सरसों, धनियाँ जीरा, मूँग, उड़द, अरहर, रोंसा, मोठ, चना, कुलथी और तेवरा आदि अनेक प्रकार के धान्य तथा कुसुम्भ (जिसकी कुसुमानी-लाल रंग बनता है) और कपास आदि प्रजा की आजीविका के हेतु उत्पन्न हुए थे ॥१८६-१८८॥

इस प्रकार भोगोपभोग के योग्य इन धान्यों के मौजूद रहते हुए भी उनके उपयोग को नहीं जानने वाली प्रजा बार-बार मोह को प्राप्त होती थी-वह उन्हें देखकर बार-बार भ्रम में पड़ जाती थी ॥१८९॥

इस युग परिवर्तन के समय कल्पवृक्ष बिल्कुल ही नष्ट हो गये थे इसलिए प्रजाजन निराश्रय होकर अत्यन्त व्याकुल होने लगे ॥१९०॥

उस समय आहार संज्ञा के उदय से उन्हें तीव्र भूख लग रही थी परन्तु उनके शान्त करने का कुछ उपाय नहीं जानते थे इसलिए जीवित रहने के संदेह से उनके चित्त अत्यन्त व्याकुल हो उठे। अन्त में वे सब लोग उस युग के मुख्य नायक अन्तिम कुलकर भी नाभिराज के पास जाकर बड़ी दीनता से इस प्रकार प्रार्थना करने लगे ॥१९१-१९२॥

हे नाथ, मनवांछित फल देने वाले तथा कल्पान्त काल तक नहीं भुलाये जाने के योग्य कल्पवृक्षों के बिना अब हम पुण्यहीन अनाथ लोग किस प्रकार जीवित रहें ॥१९३॥

हे देव, इस ओर ये अनेक वृक्ष उत्पन्न हुए हैं जो कि फलों के बोझ से झुकी हुई अपनी शाखाओं द्वारा इस समय मानो हम लोगों को बुला

ही रहे हों ॥१९४॥

क्या ये वृक्ष छोड़ने योग्य हैं ? अथवा इनके फल सेवन करने योग्य हैं यदि हम इनके फल ग्रहण करें तो ये हमें मारेंगे या हमारी रक्षा करेंगे ॥ १९५॥

तथा इन वृक्षों के समीप ही सब दिशाओं में ये कोई छोटी-छोटी झाड़ियाँ जम रही हैं, उनकी शिखाएँ फलों के भार से झुक रही हैं जिससे ये अत्यन्त शोभायमान हो रही है ॥१९६॥

इनका क्या उपयोग है ? इन्हें किस प्रकार उपयोग में लाना चाहिए ? और इच्छानुसार इसका संग्रह किया जा सकता है अथवा नहीं ? हे स्वामिन् आज यह सब बातें हमसे कहिए ॥१९७॥ हे देव नाभिराज, आप यह सब जानते हैं और हम लोग अनभिज्ञ हैं-मूर्ख हैं अतएव दुःखी होकर आप से पूछ रहे हैं इसलिए हम लोगों पर प्रसन्न होइए और कहिए ॥१९८॥

इस प्रकार जो आर्य पुरुष हमें क्या करना चाहिए इस विषय में मूढ़ थे तथा अत्यन्त घबड़ाये हुए थे 'उनसे डरो मत' ऐसा कहकर महाराज नाभिराज नीचे लिखे वाक्य कहने लगे ॥१९९॥

चूँकि अब कल्पवृक्ष नष्ट हो गये हैं इसलिए पके हुए फलों के भार से नम्र हुए ये साधारण वृक्ष ही अब तुम्हारा वैसा उपकार करेंगे जैसा कि पहले कल्पवृक्ष करते थे ॥२००॥

हे भद्रपुरुषो, ये वृक्ष तुम्हारे भोग्य हैं इस विषय में तुम्हें कोई संशय नहीं करना चाहिए । परन्तु (हाथ का इशारा कर) इन विषवृक्षों को दूर से ही छोड़ देना चाहिए ॥२०१॥

ये स्तम्बकारी आदि कोई औषधियाँ हैं, इनके मसाले आदि के साथ पकाये गये अन्न आदि खाने योग्य पदार्थ अत्यन्त स्वादिष्ट हो जाते हैं ॥ २०२॥

और ये स्वभाव से ही मीठे तथा लम्बे-लम्बे पौड़े और इसके पेड़ लगे हुए हैं । इन्हें दाँतों से अथवा यन्त्रों से पेलकर इनका रस निकालकर पीना चाहिए ॥२०३॥

उन दयालु महाराज नाभिराज ने थाली आदि अनेक प्रकार के बरतन हाथी के गण्डस्थल पर मिट्टी द्वारा बनाकर उन आर्य पुरुषों को दिये तथा इसी प्रकार बनाने का उपदेश दिया ॥२०४॥

इस प्रकार महाराज नाभिराज द्वारा बताये हुए उपायों से प्रजा बहुत ही प्रसन्न हुई । उसने नाभिराज मनु का बहुत ही सत्कार किया तथा उन्होंने उस काल के योग्य जिस वृत्ति का उपदेश दिया था वह उसी के अनुसार अपना कार्य चलाने लगी ॥२०५॥

उस समय यहाँ भोगभूमि की व्यवस्था नष्ट हो चुकी थी, प्रजा का हित करने वाले केवल नाभिराज ही उत्पन्न हुए थे इसलिए वे ही कल्पवृक्ष की स्थिति को प्राप्त हुए थे अर्थात् कल्पवृक्ष के समान प्रजा का हित करते थे ॥२०६॥

ऊपर प्रतिश्रुति को आदि लेकर नाभिराज पर्यन्त जिन चौदह मनुओं का क्रम-क्रम से वर्णन किया है वे सब अपने पूर्वभव में विदेह क्षेत्रों में उच्च कुलीन महापुरुष थे ॥२०७॥

उन्होंने उस भव में पुण्य बढ़ाने वाले पात्रदान तथा यथायोग्य व्रताचरणरूपी अनुष्ठानों के द्वारा सम्यग्दर्शन प्राप्त होने से पहले ही भोगभूमि की आयु बाँध ली थी, बाद में श्री जिनेन्द्र के समीप रहने से उन्हें क्षायिक सम्यग्दर्शन तथा श्रुतज्ञान की प्राप्ति हुई थी और जिसके फलस्वरूप आयु के अन्त में मरकर वे इस भरतक्षेत्र में उत्पन्न हुए थे ॥२०८-२०९॥

इन चौदह में से कितने ही कुलकरों को जातिस्मरण था और कितने ही अवधिज्ञानरूपी नेत्र के धारक थे इसलिए उन्होंने विचार कर प्रजा के लिए ऊपर कहे गये नियोगों-कार्यों का उपदेश दिया था ॥२१०॥

ये प्रजा के जीवन का उपाय जानने से मनु तथा आर्य पुरुषों को कुल की भाँति इकट्ठे रहने का उपदेश देने से कुलकर कहलाते थे । इन्होंने अनेक वंश स्थापित किये थे इसलिए कुलधर कहलाते थे तथा युग के आदि में होने से ये युगादि पुरुष भी कहे जाते थे ॥२११-२१२॥

भगवान् वृषभदेव तीर्थंकर भी थे और कुलकर भी माने गये थे । इसी प्रकार भरत महाराज चक्रवर्ती भी थे और कुलधर भी कहलाते थे ॥ २१३॥

उन कुलकरों में से आदि के पाँच कुलकरों ने अपराधी मनुष्यों के लिए 'हा' इस दण्ड की व्यवस्था की थी अर्थात् खेद है कि तुमने ऐसा अपराध किया । उनके आगे के पाँच कुलकरों ने 'हा' और 'मा' इन दो प्रकार के दण्डों की व्यवस्था की थी अर्थात् खेद है जो तुमने ऐसा

अपराध किया, अब आगे ऐसा नहीं करना । शेष कुलकरों ने 'हा' 'मा' और 'धिक' इन तीन प्रकार के दण्डों की व्यवस्था की थी अर्थात् खेद है, अब ऐसा नहीं करना और तुम्हें धिक्कार है जो रोकने पर भी अपराध करते हो ॥२१४-२१५॥

भरत चक्रवर्ती के समय लोग अधिक दोष या अपराध करने लगे थे इसलिए उन्होंने वध, बन्धन आदि शारीरिक दण्ड देने की भी रीति चलायी थी ॥२१६॥

इन मनुओं की आयु ऊपर अमम आदि की संख्या द्वारा बतलायी गयी है इसलिए अब उनका निश्चय करने के लिए उनकी परिभाषाओं का निरूपण करते हैं ॥२१७॥

चौरासी लाख वर्षों का एक पूर्वाङ्ग होता है । चौरासी लाख का वर्ग करने अर्थात् परस्पर गुणा करने से जो संख्या आती है उसे पर्व कहते हैं (८४००००० × ८४००००० = ७०५६०००००००००) इस संख्या में एक करोड़ का गुणा करने से जो लब्ध आवे उतना एक पूर्व कोटि कहलाता है । पूर्व की संख्या में चौरासी का गुणा करने पर जो लब्ध हो उसे पर्वाङ्ग कहते हैं तथा पर्वाङ्ग में पूर्वाङ्ग अर्थात् चौरासी लाख का गुणा करने से पर्व कहलाता है ॥२१८-२१९॥

इसके आगे जो नयुताङ्ग नयुत आदि संख्याएँ कही हैं उनके लिए भी क्रम से यही गुणाकार करना चाहिए । भावार्थ-पर्व को चौरासी से गुणा करने पर नयुताङ्ग, नयुताङ्ग को चौरासी लाख से गुणा करने पर नयुत; नयुत को चौरासी से गुणा करने पर कुमुदाङ्ग, कुमुदाङ्ग को चौरासी लाख से गुणा करने पर कुमुद; कुमुद को चौरासी से गुणा करने पर पद्माङ्ग, और पद्माङ्ग को चौरासी लाख से गुणा करने पर पद्म; पद्म को चौरासी से गुणा करने पर नलिनाङ्ग, और नलिनाङ्ग को चौरासी लाख से गुणा करने पर नलिन होता है । इसी प्रकार गुणा करने पर आगे की संख्याओं का प्रमाण निकलता है ॥२२०॥

अब क्रम से उन संख्या के भेदों के नाम कहे जाते हैं जो कि अनादिनिधन जैनागम में रूढ़ हैं ॥२२१॥

पूर्वाङ्ग, पूर्व, पर्वाङ्ग, पर्व, नयुताङ्ग, नयुत, कुमुदाङ्ग, कुमुद, पद्माङ्ग, पद्म, नलिनाङ्ग, नलिन, कमलाङ्ग, कमल, तुव्यङ्ग, तुटिक, अट्टाङ्ग, अट्ट, अममाङ्ग अमम, हाहाङ्ग, हाहा, हूहङ्ग, हूह, लताङ्ग, लता, महालताङ्ग, महालता, शिरःप्रकम्पित, हस्तप्रहेलित और अचल ये सब उक्त संख्या के नाम हैं जो कि काल-द्रव्य की पर्याय हैं । यह सब संख्येय हैं-संख्यात के भेद हैं इसके आगे का संख्या से रहित है-असंख्यात है ॥२२२-२२७॥

ऊपर मनुओं-कुलकरों की जो आयु कही है उसे इन भेदों में ही यथासंभव समझ लेना चाहिए । जो बुद्धिमान् पुरुष इस संख्या ज्ञान को जानता है वही पौराणिक-पुराण का जानकार विद्वान् हो सकता है ॥२२८॥

ऊपर जिन कुलकरों का वर्णन कर चुके हैं यथाक्रम से उनके नाम इस प्रकार हैं-पहले प्रतिश्रुति, दूसरे सन्मति, तीसरे क्षेमंकर, चौथे क्षेमंधर, पाँचवें सीमंकर, छठे सीमंधर, सातवें विमलवाहन, आठवें चक्षुष्मान् नौवें यशस्वान् दसवें अभिचन्द्र, ग्यारहवें चन्द्राभ, बारहवें, मरुदेव, तेरहवें प्रसेनजित् और चौदहवें नाभिराज । इनके सिवाय भगवान् वृषभदेव तीर्थंकर भी थे और मनु भी तथा भरत चक्रवर्ती भी थे और मनु भी ॥२२९-२३२॥

अब संक्षेप में उन कुलकरों के कार्य का वर्णन करता हूँ-प्रतिश्रुति ने सूर्य चन्द्रमा के देखने से भयभीत हुए मनुष्यों के भय को दूर किया था, तारों से भरे हुए आकाश के देखने से लोगों को जो भय हुआ था उसे सन्मति ने दूर किया था, क्षेमंकर ने प्रजा में क्षेम-कल्याण का प्रचार किया था, क्षेमंधर ने कल्याण धारण किया था, सीमंकर ने आर्य पुरुषों की सीमा नियत की थी, सीमंधर ने कल्पवृक्षों की सीमा निश्चित की थी, विमलवाहन ने हाथी आदि पर सवारी करने का उपदेश दिया था, सबसे अग्रसर रहने वाले चक्षुष्मान् ने पुत्र के मुख देखने की परम्परा चलायी थी, यशस्वान् का सब कोई यशोगान करते थे, अभिचन्द्र ने बालकों की चन्द्रमा के साथ क्रीड़ा कराने का उपदेश दिया था, चन्द्राभ के समय माता-पिता अपने पुत्रों के साथ कुछ दिनों तक जीवित रहने लगे थे, मरुदेव के समय माता-पिता अपने पुत्रों के साथ बहुत दिनों तक जीवित रहने लगे थे, प्रसेनजित् ने गर्भ के ऊपर रहने वाले जरायु रूपी मल के हटाने का उपदेश दिया था और नाभिराज ने नाभि-नाल काटने का उपदेश देकर प्रजा को आश्वासन दिया था । उन नाभिराज ने वृषभदेव को उत्पन्न किया था ॥२३३-२३७॥

इस प्रकार जब गौतम गणधर ने बड़े आदर के साथ युग के आदिपुरुषों-कुलकरों की उत्पत्ति का कथन किया तब वह मुनियों की समस्त सभा राजा श्रेणिक के साथ परम आनन्द को प्राप्त हुई ॥२३८॥

उस समय महावीर स्वामी की शिष्य परम्परा के सर्वश्रेष्ठ आचार्य गौतम स्वामी काल के छह भेदों का तथा कुलकरों के कार्यों का वर्णन कर

भगवान् आदिनाथ का पवित्र पुराण कहने के लिए तत्पर हुए और मगधेश्वर से बोले कि हे श्रेणिक, सुनो ॥२३५॥

इस प्रकार आर्ष नाम से प्रसिद्ध, भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टि लक्षण महापुराण संग्रह में पीठिकावर्णन नामक तृतीय पर्व समाप्त हुआ ॥३॥

पर्व-04 -- श्रीमहाबलाभ्युदयवर्णन

पर्व-04 -- श्रीमहाबलाभ्युदयवर्णन

कथा :

जो बुद्धिमान् मनुष्य ऊपर कहे हुए पवित्र तीनों पर्वों का अध्ययन करता है वह सम्पूर्ण पुराण का अर्थ समझकर इस लोक तथा परलोक में आनन्द को प्राप्त होता है ॥१॥

इस प्रकार महापुराण की पीठिका कहकर अब श्री वृषभदेव स्वामी का चरित कहूँगा ॥२॥

पुराणों में लोक, देश, नगर, राज्य, तीर्थ, दान, तप, गति और फल इन आठ बातों का वर्णन अवश्य ही करना चाहिए ॥३॥

लोक का नाम कहना, उसकी व्युत्पत्ति बतलाना, प्रत्येक दिशा तथा उसके अन्तरालों की लम्बाई, चौड़ाई आदि बतलाना इनके सिवाय और भी अनेक बातों का विस्तार के साथ वर्णन करना लोकाख्यान कहलाता है ॥४॥

लोक के किसी एक भाग में देश, पहाड़, द्वीप तथा समुद्र आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन करने को जानकार सम्यग्ज्ञानी पुरुष देशाख्यान कहते हैं ॥५॥

भारतवर्ष आदि क्षेत्रों में राजधानी का वर्णन करना, पुराण जानने वाले आचार्यों के मत में पुराख्यान अर्थात् नगर वर्णन कहलाता है ॥६॥

उस देश का यह भाग अमुक राजा के आधीन है अथवा वह नगर अमुक राजा का है इत्यादि वर्णन करना जैन शास्त्रों में राजाख्यान कहा गया है ॥७॥

जो इस अपार संसार समुद्र से पार करे उसे तीर्थ कहते हैं ऐसा तीर्थ जिनेन्द्र भगवान् का चरित्र ही हो सकता है अतः उसके कथन करने को तीर्थाख्यान कहते हैं ॥८॥

जिस प्रकार का तप और दान करने से जीवों को अनुपम फल की प्राप्ति होती हो उस प्रकार के तप, तथा दान का कथन करना तपदान कथा कहलाती है ॥९॥ नरक आदि के भेद से गतियों के चार भेद माने गये हैं उनके कथन करने को गत्याख्यान कहते हैं ॥१०॥

संसारी जीवों को जैसा कुछ पुण्य और पाप का फल प्राप्त होता है उसका मोक्षप्राप्ति पर्यन्त वर्णन करना फलाख्यान कहलाता है ॥११॥

ऊपर कहे हुए आठ आख्यानों में से यहाँ नामानुसार सबसे पहले लोकाख्यान का वर्णन किया जाता है । अन्य सात आख्यानों का वर्णन भी समयानुसार किया जायेगा ॥१२॥

जिसमें जीवादि पदार्थ अपनी-अपनी पर्यायोंसहित देखे जायें उसे लोक कहते हैं । तत्त्वों के जानकार आचार्यों ने लोक का यही स्वरूप बतलाया है [लोक्यन्ते जीवादिपदार्था यस्मिन् स लोकः] ॥१३॥

जहाँ जीवादि द्रव्यों का विस्तार निवास करता हो उसे क्षेत्र कहते हैं । सार्थक नाम होने के कारण विद्वान् पुरुष लोक को ही क्षेत्र कहते हैं ॥१४॥

जीवादि पदार्थों को अवगाह देने वाला यह लोक अकृत्रिम है - किसी का बनाया हुआ नहीं है, नित्य है इसका कभी सर्वथा प्रलय नहीं होता, अपने-आप ही बना हुआ है और अनन्त आकाश के ठीक मध्य भाग में स्थित है ॥१५॥

कितने ही मूर्ख लोग कहते हैं कि इस लोक का बनाने वाला कोई-न-कोई अवश्य है । ऐसे लोगों का दुराग्रह दूर करने के लिए यहाँ सर्व-प्रथम सृष्टिवाद की ही परीक्षा की जाती है ॥१६॥

यदि यह मान लिया जाये कि इस लोक का कोई बनाने वाला है तो यह विचार करना चाहिए कि वह सृष्टि के पहले लोक की रचना करने के पूर्व सृष्टि के बाहर कहाँ रहता था ? किस जगह बैठकर लोक की रचना करता था ? यदि यह कही कि वह आधाररहित और नित्य है तो उसने इस सृष्टि को कैसे बनाया और बनाकर कहाँ रखा ? ॥१७॥

दूसरी बात यह है कि आपने उस ईश्वर को एक तथा शरीररहित माना है इससे भी वह सृष्टि का रचयिता नहीं हो सकता क्योंकि एक ही ईश्वर अनेक रूप संसार की रचना करने में समर्थ कैसे हो सकता है ? तथा शरीररहित अमूर्तिक ईश्वर से मूर्तिक वस्तुओं की रचना कैसे हो

सकती है ? क्योंकि लोक में यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि मूर्तिक वस्तुओं की रचना मूर्तिक पुरुषों द्वारा ही होती है जैसे कि मूर्तिक कुम्हार से मूर्तिक घट की ही रचना होती है ॥१८॥

एक बात यह भी है - जब कि संसार के समस्त पदार्थ कारण-सामग्री के बिना नहीं बनाये जा सकते तब ईश्वर उसके बिना ही लोक को कैसे बना सकेगा ? यदि यह कहो कि वह पहले कारण-सामग्री को बना लेता है बाद में लोक को बनाता है तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि इसमें अनवस्था दोष आता है । कारण-सामग्री को बनाने में भी कारण-सामग्री की आवश्यकता होती है, यदि ईश्वर उस कारण-सामग्री को भी पहले बनाता है तो उसे द्वितीय कारण-सामग्री के योग्य तृतीय कारण-सामग्री को उसके पहले भी बनाना पड़ेगा । और इस तरह उस परिपाटी का कभी अन्त नहीं होगा ॥१९॥

यदि यह कहो कि वह कारण-सामग्री स्वभाव से ही अपने आप ही बन जाती है, उसे ईश्वर ने नहीं बनाया है तो यह बात लोक में भी लागू हो सकती है - मानना चाहिए कि लोक भी स्वतः सिद्ध है उसे किसीने नहीं बनाया । इसके अतिरिक्त एक बात यह भी विचारणीय है कि उस ईश्वर को किसने बनाया ? यदि उसे किसीने बनाया है तब तो ऊपर लिखे अनुसार अनवस्था दोष आता है और यदि वह स्वतः सिद्ध है - उसे किसी ने भी नहीं बनाया है तो यह लोक भी स्वतः सिद्ध हो सकता है - अपने आप बन सकता है ॥२०॥

यदि यह कहो कि वह ईश्वर स्वतन्त्र है तथा सृष्टि बनाने में समर्थ है इसलिए सामग्री के बिना ही इच्छा मात्र से लोक को बना लेता है तो आपकी यह इच्छा मात्र है । इस युक्तिशून्य कथन पर भला कौन बुद्धिमान् मनुष्य विश्वास करेगा ? ॥२१॥

एक बात यह भी विचार करने योग्य है कि यदि वह ईश्वर कृतकृत्य है - सब कार्य पूर्ण कर चुका है - उसे अब कोई कार्य करना बाकी नहीं रह गया है तो उसे सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा ही कैसे होगी ? क्योंकि कृतकृत्य पुरुष को किसी प्रकार की इच्छा नहीं होती । यदि यह कहो कि वह अकृतकृत्य है तो फिर वह लोक को बनाने के लिए समर्थ नहीं हो सकता । जिस प्रकार अकृतकृत्य कुम्हार लोक को नहीं बना सकता ॥२२॥

एक बात यह भी है कि आपका माना हुआ ईश्वर अमूर्तिक है, निष्क्रिय है, व्यापी है और विकाररहित है सो ऐसा ईश्वर कभी भी लोक को नहीं बना सकता क्योंकि यह ऊपर लिख आये हैं कि अमूर्तिक ईश्वर से मूर्तिक पदार्थों की रचना नहीं हो सकती । किसी कार्य को करने के लिए हस्त-पादादि के संचालन रूप कोई-न-कोई क्रिया अवश्य करनी पड़ती है परन्तु आपने तो ईश्वर को निष्क्रिय माना है इसलिए वह लोक को नहीं बना सकता । यदि सक्रिय मानो तो वह असंभव है क्योंकि क्रिया उसी के हो सकती है जिसके कि अधिष्ठान से कुछ क्षेत्र बाकी बचा हो परन्तु आपका ईश्वर तो सर्वत्र व्यापी है वह क्रिया किस प्रकार कर सकेगा ? इसके सिवाय ईश्वर को सृष्टि रचने की इच्छा भी नहीं हो सकती क्योंकि आपने ईश्वर को निर्विकार माना है । जिसकी आत्मा में रागद्वेष आदि विकार नहीं है उसके इच्छा का उत्पन्न होना असम्भव है ॥२३॥

जब कि ईश्वर कृतकृत्य है तथा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में किसी की चाह नहीं रखता तब सृष्टि के बनाने में इसे क्या फल मिलेगा? इस बात का भी तो विचार करना चाहिए, क्योंकि बिना प्रयोजन केवल स्वभाव से ही सृष्टि की रचना करता है तो उसकी वह रचना निरर्थक सिद्ध होती है । यदि यह कहो कि उसकी यह क्रीड़ा ही है, क्रीड़ा मात्र से ही जगत् को बनाता है तब तो दुःख के साथ कहना पड़ेगा कि आपका ईश्वर बड़ा मोही है, बड़ा अज्ञानी है जो कि बालकों के समान निष्प्रयोजन कार्य करता है ॥२४-२५॥

यदि कहो कि ईश्वर जीवों के शरीरादिक उनके कर्मों के अनुसार ही बनाता है अर्थात् जो जैसा कर्म करता है उसके वैसे ही शरीरादि की रचना करता है तो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि इस प्रकार मानने से आपका ईश्वर ईश्वर ही नहीं ठहरता । उसका कारण यह है कि वह कर्मों की अपेक्षा करने से जुलाहे की तरह परतन्त्र हो जायेगा और परतन्त्र होने से ईश्वर नहीं रह सकेगा, क्योंकि जिस प्रकार जुलाहा सूत तथा अन्य उपकरणों के परतन्त्र होता है तथा परतन्त्र होने से ईश्वर नहीं कहलाता इसी प्रकार आपका ईश्वर भी कर्मों के परतन्त्र है तथा परतन्त्र होने से ईश्वर नहीं कहला सकता । ईश्वर तो सर्वतन्त्रस्वतन्त्र हुआ करता है ॥२६॥

यदि यह कहो कि जीव के कर्मों के अनुसार सुख-दुःखादि कार्य अपने आप होते रहते हैं ईश्वर उनमें निमित्त माना ही जाता है तो भी आपका यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जब सुख-दुःखादि कार्य कर्मों के अनुसार अपने आप सिद्ध हो जाते हैं तब खेद है कि आप व्यर्थ ही ईश्वर की पुष्टि करते हैं ॥२७॥

कदाचित् यह कहा जाये कि ईश्वर बड़ा प्रेमी है - दयालु है इसलिए वह जीवों का उपकार करने के लिए ही सृष्टि की रचना करता है तो फिर

उसे इस समस्त सृष्टि को सुखरूप तथा उपद्रवरहित ही बनाना चाहिए था । दयालु होकर भी सृष्टि के बहुभाग को दुःखी क्यों बनाता है ॥ २८ ॥

एक बात यह भी है कि सृष्टि के पहले जगत् था या नहीं यदि था तो फिर स्वतः सिद्ध वस्तु के रचने में उसने व्यर्थ परिश्रम क्यों किया ? और यदि नहीं था तो उसकी वह रचना क्या करेगा ? क्योंकि जो वस्तु आकाश कमल के समान सर्वथा असत् है उसकी कोई रचना नहीं कर सकता ॥२९॥

यदि सृष्टि का बनाने वाला ईश्वर मुक्त है - कर्ममल कलंक से रहित है तो वह उदासीन - रागद्वेष से रहित होने के कारण जगत् की सृष्टि नहीं कर सकता । और यदि संसारी है - कर्ममल कलंक से सहित है तो वह हमारे तुम्हारे समान ही ईश्वर नहीं कहलायेगा तब सृष्टि किस प्रकार करेगा ? इस तरह यह सृष्टिवाद किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होता ॥३०॥

जरा इस बात का भी विचार कीजिए कि वह ईश्वर लोक को बनाता है इसलिए लोक के समस्त जीव उसकी सन्तान के समान हुए फिर वही ईश्वर सबका संहार भी करता है इसलिए उसे अपनी सन्तान के नष्ट करने का भारी पाप लगता है । कदाचित् यह कहो कि दुष्ट जीवों का निग्रह करने के लिए ही वह संहार करता है तो उससे अच्छा तो यही है कि वह दुष्ट जीवों को उत्पन्न ही नहीं करता ॥३१॥

यदि आप यह कहें - कि 'जीवों के शरीरादि की उत्पत्ति किसी बुद्धिमान् कारण से ही हो सकती है क्योंकि उनकी रचना एक विशेष प्रकार की है । जिस प्रकार किसी ग्राम आदि की रचना विशेष प्रकार की होती है अतः वह किसी बुद्धिमान् कारीगर का बनाया हुआ होता है उसी प्रकार जीवों के शरीरादिक की रचना भी विशेष प्रकार की है अतः वे भी किसी बुद्धिमान् कर्ता के बनाये हुए हैं और वह बुद्धिमान् कर्ता ईश्वर ही है' ॥३२॥

परन्तु आपका यह हेतु ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करने में समर्थ नहीं क्योंकि विशेष रचना आदि की उत्पत्ति अन्य प्रकार से भी हो सकती है ॥३३॥

इस संसार में शरीर, इन्द्रियाँ, सुख-दुःख आदि जितने भी अनेक प्रकार के पदार्थ देखे जाते हैं उन सबकी उत्पत्ति चेतन - आत्मा के साथ सम्बंध रखने वाले कर्मरूपी विधाता के द्वारा ही होती है ॥३४॥

इसलिए हम प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं कि संसारी जीवों के अंग-उपांग आदि में जो विचित्रता पायी जाती है वह सब निर्माण नामक नामकर्मरूपी विधाता की कुशलता से ही उत्पन्न होती है ॥३५॥

इन कर्मों की विचित्रता से अनेकरूपता को प्राप्त हुआ यह लोक ही इस बात को सिद्ध कर देता है कि शरीर, इन्द्रिय आदि अनेक रूपधारी संसार का कर्ता संसारी जीवों की आत्माएँ ही हैं और कर्म उनके सहायक हैं । अर्थात् ये संसारी जीव ही अपने कर्म के उदय से प्रेरित होकर शरीर आदि संसार की सृष्टि करते हैं ॥३६॥

विधि, स्रष्टा, विधाता, दैव, पुराकृत कर्म और ईश्वर ये सब कर्मरूपी ईश्वर के पर्याय वाचक शब्द हैं इनके सिवाय और कोई लोक का बनाने वाला नहीं है ॥३७॥

जब कि ईश्वरवादी पुरुष आकाश काल आदि की सृष्टि ईश्वर के बिना ही मानते हैं तब उनका यह कहना कहाँ रहा कि संसार की सब वस्तुएँ ईश्वर के द्वारा ही बनायी गयी हैं इस प्रकार प्रतिज्ञा भंग होने के कारण शिष्ट पुरुषों को चाहिए कि वे ऐसे सृष्टिवादी का निग्रह करें जो कि व्यर्थ ही मिथ्यात्व के उदय से अपने दूषित मत का अहंकार करता है ॥३८॥

इसलिए मानना चाहिए कि यह लोक काल द्रव्य की भाँति ही अकृत्रिम है अनादि निधन है - आदि-अन्त से रहित है और जीव, अजीव आदि तत्त्वों का आधार होकर हमेशा प्रकाशमान रहता है ॥३९॥

न इसे कोई बना सकता है न इसका संहार कर सकता है, यह हमेशा अपनी स्वाभाविक स्थिति में विद्यमान रहता है तथा अधोलोक तिर्यक्लोक और ऊर्ध्वलोक इन तीन भेदों से सहित है ॥४०॥

वेत्रासन, झल्लरी और मृदंग का जैसा आकार होता है अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक का भी ठीक वैसा ही आकार होता है । अर्थात् अधोलोक वेत्रासन के समान नीचे विस्तृत और ऊपर सकड़ा है, मध्यम लोक झल्लरी के समान सब ओर फैला हुआ है और ऊर्ध्वलोक मृदंग के समान बीच में चौड़ा तथा दोनों भागों में सकड़ा है ॥४१॥

अथवा दोनों पाँव फैलाकर और कमर पर दोनों हाथ रखकर खड़े हुए पुरुष का जैसा आकार होता है बुद्धिमान् पुरुष लोक का भी वैसा ही

आकार मानते हैं ॥४२॥

यह लोक अनन्तानन्त आकाश के मध्यभाग में स्थित तथा घनोदधि घनवात और तनुवात इन तीन प्रकार के विस्तृत वातवलियों से घिरा हुआ है और ऐसा मालूम होता है मानो अनेक रस्सियों से बना हुआ छींका ही हो ॥४३॥

नीचे से लेकर ऊपर तक उपर्युक्त तीन वातवलियों से घिरा हुआ यह लोक ऐसा मालूम होता मानो तीन कपड़ों से ढका हुआ सुप्रतिष्ठ (ठौना) ही हो ॥४४॥

विद्वानों ने मध्यम लोक का विस्तार एक राजू कहा है तथा पूरे लोक की ऊंचाई उससे चौदह गुणी अर्थात् चौदह राजू कही है ॥४५॥

यह लोक अधोभाग में सात राजू, मध्यभाग में एक

राजू, ऊर्ध्वलोक के मध्यभाग में पाँच राजू और सबसे ऊपर एक राजू चौड़ा है ॥४६॥

इस लोक के ठीक बीच में मध्यम लोक है जो कि असंख्यात द्वीपसमुद्रों से शोभायमान है । वे द्वीपसमुद्र क्रम-क्रम से दूने-दूने विस्तार वाले हैं तथा वलय के समान हैं । भावार्थ – जम्बूद्वीप थाली के समान तथा बाकी द्वीप समुद्र वलय के समान बीच में खाली है ॥४७॥

इस मध्यम लोक के मध्यभाग में जम्बूद्वीप है । यह जम्बूद्वीप गोल है तथा लवणसमुद्र से घिरा हुआ है । इसके बीच में नाभि के समान मेरु पर्वत है ॥४८॥

यह जम्बूद्वीप एक लाख योजन चौड़ा है तथा हिमवत् आदि छह कुलाचलों, भरत आदि सात क्षेत्रों और गङ्गा सिन्धु आदि चौदह नदियों से विभक्त होकर अत्यन्त शोभायमान हो रहा है ॥४९॥

मेरु पर्वतरूपी मुकुट और लवणसमुद्ररूपी करधनी से युक्त यह जम्बूद्वीप ऐसा शोभायमान होता है मानो सब द्वीपसमुद्रों का राजा ही हो ॥ ५०॥

इसी जम्बूद्वीप में मेरु पर्वत से पश्चिम की ओर विदेह क्षेत्र में एक गन्धिल नामक देश है जो कि स्वर्ग के टुकड़े के समान शोभायमान है ॥ ५१॥

इस देश की पूर्व दिशा में मेरु पर्वत है, पश्चिम में ऊर्मिमालिनी नाम की विभंग नदी है, दक्षिण में सीतोदा नदी है और उत्तर में नीलगिरि है ॥ ५२॥

यह देश विदेह क्षेत्र के अन्तर्गत है । वहाँ से मुनि लोग हमेशा कर्मरूपी मल को नष्ट कर विदेह (विगत देह) - शरीररहित होते हुए निर्वाण को प्राप्त होते रहते हैं इसलिए उस क्षेत्र का विदेह नाम सार्थक और रूढ़ि दोनों ही अवस्थाओं को प्राप्त है ॥५३॥

उस गन्धिल देश की प्रजा हमेशा प्रसन्न रहती है तथा अनेक प्रकार के उत्सव किया करती है, उसे हमेशा मनचाहे भोग प्राप्त होते रहते हैं इसलिए वह स्वर्ग को भी अच्छा नहीं समझती है ॥५४॥

उस देश के प्रत्येक घर में स्वभाव से ही सुन्दर स्त्रियाँ हैं, स्वभाव से ही चतुर पुरुष हैं और स्वभाव से ही मधुर वचन बोलने वाले बालक हैं ॥ ५५॥

उस देश में मनुष्यों की चतुराई उनके चतुराईपूर्ण वेषों से प्रकट होती है । उनके आभूषणों से उनकी सम्पत्ति का ज्ञान होता है तथा भोग-विलासों से उनके यौवन का प्रारम्भ सूचित होता है ॥५६॥

वहाँ के मनुष्य उत्तम पात्रों में दान देने तथा देवाधिदेव अरहन्त भगवान् की पूजा करने ही में प्रेम रखते हैं । वे लोग शील की रक्षा करने में ही अपनी अत्यन्त शक्ति दिखलाते हैं और प्रोषधोपवास धारण करने में ही रुचि रखते हैं । भावार्थ – यह परिसंख्या अलंकार है ।

परिसंख्या का संक्षिप्त अर्थ नियम है । इसलिए इस लोक का भाव यह हुआ कि वहाँ के मनुष्यों की प्रीति पात्रदान आदि में ही थी विषयवासनाओं में नहीं थी, उनकी शक्ति शीलव्रत की रक्षा के लिए ही थी निर्बलों को पीड़ित करने के लिए नहीं थी और उनकी रुचि प्रोषधोपवास धारण करने में ही थी वेश्या आदि विषय के साधनों में नहीं थी ॥५७॥

उस गन्धिल देश में श्री जिनेन्द्ररूपी सूर्य का उदय रहता है इसलिए वहाँ मिथ्यादृष्टियों का उद्भव कभी नहीं होता जैसे कि दिन में सूर्य का उदय रहते हुए जुगनुओं का उद्भव नहीं होता ॥५८॥

उस देश के बाग फलशाली वृक्षों से हमेशा शोभायमान रहते हैं तथा उनमें जो कोकिलाँ मनोहर शब्द करती हैं उनसे ऐसा जान पड़ता है मानो वे बाग उन शब्दों के द्वारा पथिकों को बुला ही रहे हैं ॥५९॥

उस देश के सीमा प्रदेशों पर हमेशा फलों से शोभायमान धान आदि के खेत ऐसे मालूम होते हैं मानो स्वर्गादि फलों से शोभायमान धार्मिक क्रियाएँ ही हों ॥६०॥

उस देश में धान के खेतों के समीप आकाश से जो तोताओं की पंक्ति नीचे उतरती है उसे खेती की रक्षा करने वाली गोपिकाएँ ऐसा मानती हैं मानो हरे-हरे मणियों का बना हुआ तोरण ही उतर रहा हो ॥६१॥

मन्द-मन्द हवा से हिलते हुए फूलों के बोझ से झुके हुए वायु के आघात से शब्द करते हुए वहाँ के धान के खेत ऐसे मालूम होते हैं मानो पक्षियों को ही उड़ा रहे हों ॥६२॥

उस देश में पथिक लोग यन्त्रों के चीं-चीं शब्दों से शोभायमान पौड़ों तथा ईखों के खेतों में जाकर अपनी इच्छानुसार ईख का मीठा-मीठा रस पीते हैं ॥६३॥

उस देश के गाँव इतने समीप बसे हुए हैं कि मुर्गा एक गाँव से दूसरे गाँव तक सुखपूर्वक उड़कर जा सकता है, उनकी सीमाएँ परस्पर मिली हुई हैं तथा सीमाएँ भी धान के ऐसे खेतों से शोभायमान हैं जो थोड़े ही परिश्रम से फल जाते हैं ॥६४॥

उस देश के लोग जब एक कला को अच्छी तरह सीख चुकते हैं तभी दूसरी कलाओं का सीखना प्रारम्भ करते हैं अर्थात् वहाँ के मनुष्य हर एक विषय का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने का उद्योग करते हैं तथा उस देश में गुणाधिरोपणौद्धत्य-गुण न रहते हुए भी अपने आपको गुणी बताने की उद्विग्नता नहीं है ॥६५॥

उस देश में यदि मुनियों में शिथिलता है तो शरीर में ही है अर्थात् लगातार उपवासादि के करने से उनका शरीर ही शिथिल हुआ है समाधि-ध्यान आदि में नहीं है। इसके सिवाय निग्रह (दमन) यदि है तो इन्द्रियसमूह में ही है अर्थात् इन्द्रियों की विषयप्रवृत्ति रोकी जाती है प्राणिसमूह में कभी निग्रह नहीं होता अर्थात् प्राणियों का कोई घात नहीं करता ॥६६॥

उस देश में उद्गासध्वनि (कोलाहल) पक्षियों के घोंसलों में ही है अन्यत्र उद्गासध्वनि - (परदेश-गमन सूचक शब्द) नहीं है। तथा वर्णसंकरता (अनेक रंगों का मेल) चित्रों के सिवाय और कहीं नहीं है - वहाँ के मनुष्य वर्णसंकरव्यभिचारजात नहीं है ॥६७॥

उस देश में यदि भंग शब्द का प्रयोग होता है तो तरंगों में ही (भंग नाम तरंग-लहर का है) होता है वहाँ के मनुष्यों में कभी भंग (विनाश) नहीं होता। मद-तरुण हाथियों के गण्डस्थल से झरने वाला तरल पदार्थ का विकार हाथियों में होता है वहाँ के मनुष्यों में मद अहंकार का विकार नहीं होता है। दण्ड (कमलपुष्प के भीतर का वह भाग जिसमें कि कमलगट्टा लगना है) की कठोरता कमलों में ही है वहाँ के मनुष्यों में दण्डपारुष्य नहीं है - उन्हें कड़ी सजा नहीं दी जानी। तथा जल का संग्रह तालाबों में ही होता है, वहाँ के मनुष्यों में जल्द-संग्रह (ड और ल में अभेद होने के कारण जड़-संग्रह-मूर्ख मनुष्यों का संग्रह) नहीं होता ॥६८॥

उस देश के नगर स्वर्ग के समान हैं, गाँव देवकुरु-उत्तरकुरु भोगभूमि के समान हैं, घर स्वर्ग के विमानों के साथ स्पर्धा करने वाले हैं और मनुष्य देवों के समान हैं ॥६९॥

उस देश के हाथी ऐरावत आदि दिग्गजों के साथ स्पर्धा करने वाले हैं, स्त्रियाँ दिक्कुमारियों के समान हैं और दिग्विजय करने वाले राजा दिक्पालों के समान हैं ॥७०॥

उस देश में मनुष्यों का सन्ताप दूर करने वाली तथा स्वच्छ जल से भरी हुई अनेक बावड़ियाँ शोभायमान हो रही हैं। किनारे पर लगे हुए वृक्षों की छाया से उन बावड़ियों में गरमी का प्रवेश बिलकुल ही नहीं हो पाता है तथा वै प्याऊओं के समान जान पड़ती हैं ॥७१॥

उस देश के कुएँ तालाब आदि भले ही जलाशय (मूर्खपक्ष में जड़ता से युक्त) हों तथापि वे अपनी रसवत्ता से मधुर जल से लोगों का सन्ताप दूर करते हैं ॥७२॥

उस देश की नदियाँ ठीक वेश्याओं के समान शोभायमान होती हैं। क्योंकि वेश्याएँ जैसे विपङ्का अर्थात् विशिष्ट पङ्क-पाप से सहित होती हैं उसी प्रकार नदियाँ भी विपङ्का अर्थात् कीचड़रहित हैं। वेश्याएँ जैसे ग्राहवती-धनसञ्चय करने वाली होती हैं उसी तरह नदियाँ भी ग्राहवती-मगरमच्छों से भरी हुई हैं। वेश्याएँ जैसे ऊपर से स्वच्छ होती हैं उसी प्रकार नदियाँ भी स्वच्छ साफ हैं। वेश्याएँ जैसे कुटिलवृत्ति-मायाचारिणी होती हैं उसी तरह नदियाँ भी कुटिलवृत्ति-टेढ़ी बहने वाली हैं। वेश्याएँ जैसे अलङ्घ्य होती हैं - विषयी मनुष्यों द्वारा वशीभूत नहीं होती हैं उसी प्रकार नदियाँ भी अलङ्घ्य हैं - गहरी होने के कारण तैरकर पार करने योग्य नहीं हैं। वेश्याएँ जैसे सर्वभोग्या - ऊँच-नीच सभी मनुष्यों के द्वारा भोग्य होती हैं उसी प्रकार नदियाँ भी सर्वभोग्य-पशु, पक्षी, मनुष्य आदि सभी जीवों के द्वारा भोग्य हैं। वेश्याएँ जैसे

विचित्रा - अनेक वर्ण की होती हैं उसी प्रकार नदियाँ भी विचित्रा - अनेकवर्ण - अनेक रंग की अथवा विविध प्रकार के आश्चर्यों से युक्त है और वेश्याएँ जैसे निम्नगा-नीच पुरुषों की ओर जाती हैं उसी प्रकार नदियाँ भी निम्नगा-ढाल जमीन की ओर जाती हैं ॥७३॥

उस देश में तालाबों के किनारे कण्ठ में मृणाल का टुकड़ा लग जाने से व्याकुल हुए हंस अनेक प्रकार के मनोहर शब्द करते हैं ॥७४॥

उस देश के वनों में मद् से निमीलित नेत्र हुए जंगली हाथी निरन्तर इस प्रकार घूमते हैं मानो दिग्गजों को ही बुला रहे हों ॥७५॥

जिसके सींगों की नोक पर कीचड़ लगी हुई तथा जो बड़ी कठिनाई से वश में किये जा सकते हैं ऐसे गर्वीले बैल उस देश के खेतों में स्थलकमलिनियों को उखाड़ा करते हैं ॥७६॥

उस देश के जिनमन्दिरों में संगीत के समय जो तबला बजते हैं, उनके शब्दों को मेघ का शब्द समझकर हर्ष से उन्मत्त हुए मयूर असमय में ही वर्षा ऋतु के बिना ही नृत्य करते रहते हैं ॥७७॥

उस देश की गायें यथासमय गर्भ धारण कर मनोहर शब्द करती हुई अपने पय-दूध से सबका पोषण करती हैं, इसलिए वे मेघ के समान शोभायमान होती हैं क्योंकि मेघ भी यथासमय जलरूप गर्भ को धारण कर मनोहर गर्जना करते हुए अपने पय-जल से सबका पोषण करते हैं ॥७८॥

उस देश में बरसते हुए मेघ मदोन्मत्त हाथियों के समान शोभायमान होते हैं । क्योंकि हाथी जिस प्रकार पताकाओं के सहित होते हैं उसी प्रकार मेघ भी बलाकाओं की पंक्तियों से सहित है, हाथी जिस प्रकार गम्भीर गर्जना करते हैं उसी प्रकार मेघ भी, गम्भीर गर्जना करते हैं और हाथी जैसे मद बरसाते हैं वैसे ही मेघ भी पानी बरसाते हैं ॥७९॥

उस देश में सुयोग्य राजा की प्रजा को कर (टैक्स) की बाधा कभी छू भी नहीं पाती तथा हमेशा सुकाल रहने से वहाँ न अतिवृष्टि आदि ईतियाँ हैं और न किसी प्रकार की अनीतियाँ ही हैं ॥८०॥

ऐसे इस गन्धिल देश के मध्य भाग में एक विजयार्थ नाम का बड़ा भारी पर्वत है जो चाँदीमय है । तथा अपनी सफेद किरणों से कुलाचल पर्वतों की हँसी करता हुआ मालूम होता है ॥८१॥

वह विजयार्थ पर्वत धरातल से पच्चीस योजन ऊँचा है और ऊँचे शिखरों से ऐसा मालूम होता है मानो स्वर्गलोक का स्पर्श करने के लिए ही उद्यत हो ॥८२॥

वह पर्वत मूल से लेकर दश योजन को ऊँचाई तक पचास योजन, बीच में तीस योजन और ऊपर दश योजन चौड़ा है ॥८३॥

वह पर्वत ऊँचाई का एक चतुर्थांश भाग अर्थात् सवा छह योजन जमीन के भीतर प्रविष्ट हैं तथा गन्धिल देश की चौड़ाई के बराबर लम्बा है जिससे ऐसा जान पड़ता है मानो उस देश को नापने का मापदण्ड ही हो ॥८४॥

उस पर्वत के ऊपर दश-दश योजन चौड़ी दो श्रेणियाँ हैं जो उत्तर श्रेणी और दक्षिण श्रेणिक के नाम से प्रसिद्ध हैं । उन पर विद्याधरों के निवासस्थान बने हैं जो अपने सौन्दर्य से देवों के विमानों का भी उपहास करते हैं ॥८५॥

विद्याधर स्त्रियों के इधर-उधर घूमने से उनके पैरों का जो महावर उस पर्वत पर लग जाता है उससे वह ऐसा शोभायमान होता है मानो उसे हमेशा लाल-लाल कमलों का उपहार ही दिया जाता हो ॥८६॥ उस पर्वत की शक्ति को कोई भेदन नहीं कर सकता, वह अविनाशी है, अनेक विद्याधर उसकी उपासना करते हैं तथा स्वयं अत्यन्त निर्मलता को धारण किये हुए हैं, इसलिए सिद्ध परमेष्ठी की आत्मा के समान शोभायमान होता है क्योंकि सिद्ध परमेष्ठी की आत्मा भी अभेद्य शक्ति की धारक है, अविनाशी है, सम्यग्ज्ञानी जीवों के द्वारा सेवित है और कर्ममल कलंक से रहित होने के कारण स्थायी विशुद्धता को धारण करती हैं - अत्यन्त निर्मल है ॥८७॥

अथवा वह पर्वत भव्यजीव के समान है क्योंकि जिस प्रकार भव्य जीव अनादिकाल से शुद्धि अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के द्वारा प्राप्त होने योग्य निर्मलता की शक्ति को धारण करता है, उसी प्रकार वह पर्वत भी अनादिकाल से शुद्धि अर्थात् निर्मलता की शक्ति को धारण करता है । अन्तर केवल इतना ही है कि पर्वत दीक्षा धारण नहीं कर सकता जब कि भव्य जीव दीक्षा धारण कर तपस्या कर सकता है ॥८८॥

वह पर्वत हमेशा विद्याधरों के द्वारा आराध्य हैं - विद्याधर उसकी सेवा करते हैं, स्वयं निर्मल रूप है, सनातन है - अनादि से चला आया है और सुनिश्चित प्रमाण है - लम्बाई चौड़ाई आदि के निश्चित प्रमाण से सहित है, इसलिए ठीक जैनागम की स्थिति को धारण करता है, क्योंकि जैनागम भी विद्याधरों के द्वारा सम्यग्ज्ञान के धारक विद्वान् पुरुषों के द्वारा आराध्य हैं - बड़े-बड़े विद्वान् उसका ध्यान, अध्ययन

आदि करते हैं, निर्मलरूप है - पूर्वा पर विरोध आदि दोषों से रहित है, सनातन है - द्रव्य दृष्टि की अपेक्षा अनादि से चला आया है और सुनिश्चित प्रमाण है - युक्तिसिद्ध प्रत्यक्ष परोक्षप्रमाणों से प्रसिद्ध है ॥८९॥

उस पर्वत पर चारण ऋद्धि के धारक मुनि हमेशा सिंह के समान विहार करते रहते हैं क्योंकि जिस प्रकार सिंह अकेला होता है उसी प्रकार वे मुनि भी एकाकी (अकेले) रहते हैं, सिंह को जैसे इधर-उधर घूमने का भय नहीं रहता वैसे ही उन मुनियों को भी इधर-उधर घूमने अथवा चतुर्गतिरूप संसार का भय नहीं होता, सिंह के नख जैसे बड़े होते हैं उसी प्रकार दीर्घ तपस्या के कारण उन मुनियों के नख भी बड़े होते हैं और सिंह जिस प्रकार धीर होता है उसी प्रकार वे मुनि भी अत्यन्त धीर वीर हैं ॥९०॥

वह पर्वत अपनी दोनों श्रेणियों से ऐसा मालूम होता है मानो दोनों पंख फैलाकर स्वर्गलोक की शोभा देखने की इच्छा से उड़ना ही चाहता हो ॥९१॥

उस पर्वत के मनोहर शिखरों पर किन्नर और नागकुमार जाति के देव चिरकाल तक क्रीड़ा करते-करते अपने घरों को भी भूल जाते हैं ॥ ९२॥

उस पर्वत की रजतमयी सफेद दीवारों पर आश्रय लेने वाले शरद्ऋतु के श्वेत बादलों का पता लोगों को तब होता है जब कि वे छोटी-छोटी बूँदों से बरसते हैं, गरजते हैं और इधर-उधर चलने लगते हैं ॥९३॥

वह पर्वत अपने ऊँचे-ऊँचे शिखरों द्वारा देवों के अनेक आवासों को धारण करता है। वे आवास चमकीले मणियों से युक्त हैं और उस पर्वत के चूणामणि के समान मालूम होते हैं। उन शिखरों पर अनेक सिद्धायतन (जैनमन्दिर) भी बने हुए हैं ॥९४॥

वह विजयार्थपर्वतरूपी राजा मुकुटों के समान अत्यन्त ऊँचे कूटों को धारण करता है। वे मुकुट अथवा कूट महामूल्य रत्नों से चित्र-विचित्र हो रहे हैं तथा सुर और असुर उनकी प्रशंसा करते हैं ॥९५॥

वह पर्वत देदीप्यमान वज्रमय कपाटों से युक्त दरवाजों को धारण करता है जिससे ऐसा मालूम होता है मानो अपने सारभूत धन को रखने के लिए लम्बे-चौड़े महादुर्ग-किले को धारण कर रहा हो ॥९६॥

वह पर्वत अत्यन्त विशुद्ध और अलङ्घ्य है इसलिए ही मानो गङ्गा सिन्धु नाम की महानदियों ने नीलगिरि की गोद से (मध्य भाग से) आकर उसके पादों-चरणों-अथवा समीपवर्ती शाखाओं का आश्रय लिया है ॥९७॥

वह पर्वततट के समीप खड़े हुए अनेक वनों से शोभायमान है इसलिए नीलवस्त्र को पहने हुए बलभद्र की उत्कृष्ट शोभा को धारण कर रहा है ॥९८॥

वह पर्वत वन के चारों ओर बनी हुई ऊँची वनवेदी को धारण किये हुए है जिससे ऐसा मालूम होता है मानो किसी के द्वारा बनायी गयी सुन्दर सीमा अथवा सौन्दर्य की अवधि को ही धारण कर रहा हो ॥९९॥

उस पर्वत पर कल्पवृक्षों के मध्यमार्ग से सुगन्धित वायु हमेशा धीरे-धीरे बहता रहता है, उस वायु में इधर-उधर घूमने वाली विद्याधरियों के नुपूरों का मनोहर शब्द भी मिला होता है ॥१००॥

वह पर्वत अपनी पूर्व और पश्चिम की कोटियों से दिशाओं के किनारों-

का मर्दन करता हुआ ऐसा मालूम होता है मानो जगत् के भारी से भारी भार को धारण करने में सामर्थ्य रखने वाले अपने माहात्म्य को ही प्रकट कर रहा हो ॥१०१॥

यदि यह पर्वत तिर्यक् प्रदेशों में लम्बा न होकर क्रीड़ामात्र से आकाश में ही बड़ा जाता तो जगत्त्रयी कुटी में कहां समाता ? ॥१०२॥

वह पर्वत इतना ऊंचा और इतना निर्मल है कि अपने ऊँचे-ऊँचे शिखरों द्वारा कुलाचलो के साथ भी स्पर्धा के लिए तैयार रहता है ॥१०३॥

ऐसे उस विजयार्थ पर्वत की उत्तर श्रेणी में एक, अलका नाम की श्रेष्ठ पुरी है जो केश वाली विद्याधरियों के मुख के साथ-साथ चन्द्रमा की भी हंसी उड़ाती है ॥१०४॥

बड़े भारी अम्युदय को प्राप्त वह नगरी उस उत्तरश्रेणी में इस प्रकार सुशोभित होती है जिस प्रकार कि पाण्डुक शिला पर जिनेन्द्रदेव की अभिषेक क्रिया सुशोभित होती है ॥१०५॥

वह अलकापुरी किसी बड़े व्याकरण पर बनी हुई प्रक्रिया के समान अतिशय विस्तृत है तथा भगवत् जिनेन्द्रदेव की दिव्य ध्वनि में जिस प्रकार नाना भाषात्मता है अर्थात् नाना भाषारूप परिणमन करने का अतिशय विद्यमान है उसी प्रकार उस नगरी में भी नाना भाषात्मता

है अर्थात् नाना भाषाएँ उस नगरी में बोली जाती है ॥१०६॥

वह नगरी ऊँचे-ऊँचे गोपुर-दरवाजों से सहित अत्यन्त उन्नत प्राकार (कोट) को धारण किये हुए है जिससे ऐसी जान पड़ती है मानो वेदिका के वलय को धारण किये हुए जम्बूद्वीप की स्थली ही हो ॥१०७॥

उस नगरी की परिखा में अनेक कमल फूले हुए हैं और उन कमलों पर चारों ओर भौरे फिर रहे हैं जिससे ऐसा मालूम होता है मानो वह परिखा इधर-उधर घूमते हुए भ्रमररूपी सुन्दर अंजन से सुशोभित कमलरूपी नेत्रों के द्वारा वहाँ के विद्याधरों को देख रही हो ॥१०८॥

उस नगरी के चारों ओर परिखा से घिरा हुआ जो कोट है वह केवल उसकी शोभा के लिए ही है, क्योंकि उस नगरी का पालन करने वाला विद्याधर नरेश अपनी भुजाओं से ही प्रजा की रक्षा करता है ॥१०९॥

उस नगरी के बड़े-बड़े पक्के मकानों के शिखर पर फहराती हुई पताकाएं, कैलास के शिखर पर उतरती हुई हंसमाला को तिरस्कृत करती हैं ॥११०॥

उस नगरी के प्रत्येक घर में फूले हुए कमलों से शोभायमान अनेक वापिकाएँ हैं । उनमें कलहंस (बत्तख) पक्षी मनोहर शब्द करते हैं जिनसे वे ऐसी जान पड़ती है मानो मानसरोवर की हंसी ही कर रही हों ॥१११॥

उस नगरी में अनेक वापिकाएँ स्त्रियों के समान शोभायमान हो रही हैं क्योंकि स्वच्छ जल ही उनका वस्त्र है, नील कमल ही कर्णफुल है, कमल ही मुख है और शोभायमान कुवलय ही नेत्र हैं ॥११२॥

उस नगरी में कोई ऐसा मनुष्य नहीं है जो अज्ञानी हो कोई ऐसी स्त्री नहीं है जो शील से रहित हो, कोई ऐसा घर नहीं है जो बगीचे से रहित हो और कोई ऐसा बगीचा नहीं है जो फलों से रहित हो ॥११३॥

उस नगरी में कभी ऐसे उत्सव नहीं होते जो जिनपूजा के बिना ही किये जाते हों तथा मनुष्यों का ऐसा मरण भी नहीं होता जो संन्यास की विधि से रहित हो ॥११४॥

उस नगरी में धान के ऐसे खेत निरन्तर शोभायमान रहते हैं जो बिना बोये-बखरे ही समय पर पक जाते हैं और पुण्य के समान प्रजा को महाफल देते हैं ॥११५॥

उस नगरी के उपवनों में ऐसे अनेक छोटे-छोटे वृक्ष (पौधे) हैं जिन्हें अभी पूरी स्थिरता-दृढ़ता प्राप्त नहीं हुई है । अन्य लोग उनकी यत्नपूर्वक रक्षा करते हैं तथा बालकों की भाँति उन्हें पय-जल (पक्ष में दूध) पिलाते हैं ॥११६॥

उस नगरी के बाजार किसी महासागर के समान शोभायमान हैं क्योंकि उनमें महासागर के समान ही शब्द होता रहता है महासागर के समान ही रत्न चमकते रहते हैं और महासागर में जिस प्रकार जल जन्तु सब ओर घूमते रहते हैं उसी प्रकार उनमें भी मनुष्य घूमते रहते हैं ॥११७॥

उस नगरी में विकोशत्व - (खिल जाने पर कुड़मल - बौड़ी का अभाव) कमलों में ही होता है, वहाँ के मनुष्यों में विकोशत्व - (खजानो का अभाव) नहीं होता । भीरुता केवल स्त्रियों में ही है वहाँ के मनुष्यों में नहीं, अधरता ओठों में ही है वहाँ के मनुष्यों में अधरता-नीचता नहीं है । निस्त्रिंशता - खड्गपना तलवारों में ही है वहाँ के मनुष्यों में निस्त्रिंशता-कूरता नहीं है । यांचा - वधू की याचना करना और करग्रह-पाणिग्रहण (विवाह काल में होने वाला संस्कारविशेष) विवाह में ही होता है वहाँ के मनुष्यों में यांचा - भिक्षा माँगना और करग्रह - टैक्स वसूल करना अथवा अपराध होने पर जंजीर आदि से हाथों का पकड़ा जाना नहीं होता । म्लानता - मुरझा जाना पुष्पमालाओं में ही है वहाँ के मनुष्यों में म्लानता - उदासीनता अथवा निष्प्रभता नहीं है और बन्धन-रस्सी वगैरह से बाँधा जाना केवल हाथियों में ही है वहाँ के मनुष्यों में बन्धन-कारागार आदि का बन्धन नहीं है ॥११८-११९॥

उस नगरी के उपवन ठीक वधूवर अर्थात् दम्पति के समान सबको अतिशय प्रिय लगते हैं क्योंकि वधूवर को लोग जैसे बड़ी उत्सुकता से देखते हैं उसी प्रकार वहाँ के उपवनों को भी लोग बड़ी उत्सुकता से देखते हैं । वधूवर जिस प्रकार वयस्कान्त - तरुण अवस्था से सुन्दर होते हैं उसी प्रकार उपवन भी वयस्कान्त - पक्षियों से सुन्दर होते हैं । वधूवर जिस प्रकार सपुष्पक - पुष्पमालाओं से सहित होते हैं उसी प्रकार उपवन भी सपुष्पक - फूलों से सहित होते हैं । और वधूवर जिस प्रकार बणांकित - बाणचिह्न से चिह्नित अथवा धनुषबाण से सहित होते हैं उसी प्रकार उपवन भी बाण जाति के वृक्षों से सहित होते हैं ॥१२०॥

इस प्रकार जिसका माहात्म्य प्रसिद्ध है और जो अनेक प्रकार के सच्चरित्र ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णों से व्याप्त है ऐसी वह अलकानगरी

उस विजयार्थ पर्वतरूपी राजा के मस्तक पर गोल तथा उत्तम रंग वाले तिलक के समान सुशोभित होती है ॥१२१॥

उस अलकापुरी का राजा अतिबल नाम का विद्याधर था जो कि शत्रुओं के बल का क्षय करने वाला था और जिसकी आज्ञा को समस्त विद्याधर राजा मुकुट के समान अपने मस्तक पर धारण करते थे ॥१२२॥

वह अतिबल राजा धर्म से ही (धर्म से अथवा स्वभाव से) विजयलाभ करता था शूरवीर था और शत्रुसमूह को जीतने वाला था । उसने सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव इन छह गुणों से बड़े-बड़े शत्रुओं को जीत लिया था ॥१२३॥

वह राजा हमेशा वृद्ध मनुष्यों की संगति करता था तथा उसने इन्द्रियों के सब विषय जीत लिये थे इसीलिए वह अपनी सेना द्वारा बड़े-बड़े शत्रुओं को लीलामात्र में ही उखाड़ देता था - नष्ट कर देता था ॥१२४॥

वह राजा दिग्गज के समान था क्योंकि जिस प्रकार दिग्गज महान् उदय से सहित होता है उसी प्रकार वह राजा भी महान् उदय (वैभव) से सहित था, दिग्गज जिस प्रकार ऊँचे वंश (पीठ की रीढ़) का धारक होता है उसी प्रकार वह राजा भी सर्वश्रेष्ठ वंश-कुल का धारक था - उच्च कुल में पैदा हुआ था । दिग्गज जिस प्रकार भास्वन्महाकर - प्रकाशमान लम्बी सूँड़ का धारक होता है उसी प्रकार वह राजा भी देदीप्यमान लम्बी भुजाओं का धारक था तथा दिग्गज जिस प्रकार अपने महादान से भारी मदजल से भ्रमर आदि आश्रित प्राणियों का पोषण करता है उसी प्रकार वह राजा भी अपने महादान - विपुल दान से शरण में आये हुए पुरुषों का पोषण करता था ॥१२५॥

उस राजा के मुख से शोभायमान दाँतों की किरणें निकल रही थीं तथा दोनों भौंहें कुछ ऊपर को उठी हुई थीं इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो उसके मुख ने चन्द्रिका से शोभित चन्द्रमा को जीत लिया है और इसीलिए उसने अपनी भौंहोंरूप दोनों पताकाएँ फहरा रखी हों ॥

१२६॥

महाराज अतिबल का मस्तक ठीक त्रिकूटाचल के शिखर के समान शोभायमान था क्योंकि जिस प्रकार त्रिकूटाचल-सपुष्पकेश-पुष्पक विमान के स्वामी रावण से सहित था उसी प्रकार उनका मस्तक भी सपुष्पकेश - अर्थात् पुष्पयुक्त केशों से सहित था । त्रिकूटाचल का शिखर जिस प्रकार सदानव-दानवों से-राक्षसों से सहित था उसी प्रकार उनका मस्तक भी सदानव - हमेशा नवीन था - श्याम केशों से सहित था । और त्रिकूटाचल के समीप जिस प्रकार जल के झरने झरा करते हैं उसी प्रकार उनके मस्तक के समीप चौर ढुल रहे थे ॥१२७॥ वह राजा गुणों का समुद्र था, उसका वक्षस्थल अत्यन्त विस्तृत था, सुन्दर था और हाररूपी लताओं से घिरा हुआ था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो लक्ष्मी का क्रीड़ाद्वीप ही हो । १२८॥

उस राजा की दोनों भुजाएँ हाथी की सूँड़ के समान थीं, जाँघें कामदेव के तरकस के समान थीं, पिंडरियाँ पद्मरागमणि के समान सुदृढ़ थीं और चरणकमलों के समान सुन्दर कान्ति के धारक थे ॥१२९॥

अथवा इस राजा के प्रत्येक अंग का वर्णन करना व्यर्थ है क्योंकि संसार में सुन्दर वस्तुओं की उपमा देने योग्य जो भी वस्तुएँ हैं उन सबको यह अपने अंगों के द्वारा जीतना चाहता है । भावार्थ - संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसकी उपमा देकर उस राजा के अंगों का वर्णन किया जाये ॥१३०॥

उस राजा की मनोहर अंगों को धारण करने वाली मनोहरा नाम की रानी थी जो अपनी सौन्दर्यशोभा के द्वारा ऐसी मालूम होती थी मानो कामदेव का विजयी बाण ही हो ॥१३१॥

वह रानी अपने पति के लिए हास्यरूपी पुष्प से शोभायमान लता के समान प्रिय थी और जिनवाणी के समान हित चाहने वाली तथा यश को बढ़ाने वाली थी ॥१३२॥

उन दोनों के अतिशय भाग्यशाली महाबल नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ । उस पुत्र के उत्पन्न होते ही उसके समस्त सहोदरों में प्रेमभाव एकत्रित हो गया था ॥१३३॥

कलाओं में कुशलता, शूरवीरता, दान, बुद्धि, क्षमा, दया, धैर्य, सत्य और शौच ये उनके स्वाभाविक गुण थे ॥१३४॥

उस महाबल का शरीर तथा गुण ये दोनों प्रतिदिन परस्पर की ईर्ष्या से वृद्धि को प्राप्त हो रहे थे अर्थात् गुणों की वृद्धि देखकर शरीर बढ़ रहा था और शरीर की वृद्धि से गुण बढ़ रहे थे । सो ठीक ही है क्योंकि एक स्थान पर रहने वालों में क्रिया की समानता होने से ईर्ष्या हुआ ही करती है ॥१३५॥

उस पुत्र ने गुरुओं के समीप आन्वीक्षिकी आदि चारों विद्याओं का अध्ययन किया था तथा वह पुत्र उन विद्याओं से ऐसा शोभायमान होता

था जैसा कि उदित होता हुआ सूर्य अपनी प्रभाओं से शोभायमान होता है ॥१३६॥

उसे पूर्वभव के प्रबल संस्कार के योग से समस्त विद्याएँ स्वतः हो उठीं जिनसे वह वायु के समागम से अग्नि के समान और भी अधिक देदीप्यमान हो गया ॥१३७॥

महाराज अतिबल ने अपने पुत्र की योग्यता प्रकट करने वाले विनय आदि गुण देखकर उसके लिए युवराज पद देना स्वीकार किया ॥ १३८॥

उस समय पिता, पुत्र दोनों में विभक्त हुई राज्यलक्ष्मी पहले से कहीं अधिक विस्तृत हो हिमालय और समुद्र दोनों में पड़ती हुई आकाशगंगा की तरह चिरकाल तक शोभायमान होती रही ॥१३९॥

यद्यपि राजा अतिबल के और भी अनेक पुत्र थे तथापि वे उस एक महाबल पुत्र से ही अपने आपको पुत्रवान् माना करते थे जिस प्रकार कि आकाश में यद्यपि अनेक ग्रह होते हैं तथापि वह एक समूह के द्वारा ही प्रकाशमान होता है अन्य ग्रहों से नहीं ॥१४०॥

इसके अनन्तर किसी दिन राजा अतिबल विषयभोगों से विरक्त हुए और कामभोगों से तृष्णारहित होकर दीक्षाग्रहण करने के लिए उद्यम करने लगे ॥१४१॥

उस समय उन्होंने विचार किया कि यह राज्य विषपुष्प के समान अत्यन्त विषम और प्राणहरण करने वाला है । दृष्टिविष सर्प के समान महा भयानक है, व्यभिचारिणी स्त्री के समान नाश करने वाला है तथा भोगी हुई पुष्पमाला के समान उच्छिष्ट है अतः सर्वथा हेय है - छोड़ने योग्य है, स्वाभिमानी पुरुषों के सेवन करने योग्य नहीं है ॥१४२-१४३॥

वे बुद्धिमान् महाराज अतिबल फिर भी विचार करने लगे कि मैं उत्तम क्षमा धारण कर अथवा ध्यान, अध्ययन आदि के द्वारा समर्थ होकर अपनी आत्मशक्ति को बढ़ाकर इस संसाररूपी बेल को अवश्य ही उखाड़ूंगा ॥१४४॥

इस संसाररूपी बेल की मिथ्यात्व ही जड़ है, जन्म-मरण आदि ही इसके पुष्प हैं और अनेक व्यसन अर्थात् दुःख प्राप्त होना ही इसके फल हैं । केवल विषयरूपी आसव का पान करने के लिए ये प्राणीरूपी भौरे निरन्तर इस लता की सेवा किया करते हैं । यह यौवन क्षणभंगुर है और ये पञ्चेन्द्रियों के भोग यद्यपि अनेक बार भोगे गये हैं तथापि इनसे तृप्ति नहीं होती, तृप्ति होना तो दूर रही किन्तु तृष्णारूपी अग्नि की सातिशय वृद्धि होती है । यह शरीर भी अत्यन्त अपवित्र, घृणा का स्थान और नश्वर है । आज अथवा कल बहुत शीघ्र ही मृत्युरूपी वज्र से पिसकर नष्ट हो जायेगा । अथवा दुःखरूपी फल से युक्त और परिग्रहरूपी गाँठों से भरा हुआ यह शरीररूपी बाँस मृत्युरूपी अग्नि से जलकर चट-चट शब्द करता हुआ शीघ्र ही भस्मरूप हो जायेगा । ये बन्धुजन बन्धन के समान हैं, धन दुःख को बढ़ाने वाला है और विषय विष मिले हुए भोजन के समान विषम हैं । लक्ष्मी अत्यन्त चञ्चल है, सम्पदाएं जल की लहरों के समान क्षणभंगुर हैं, अथवा कहाँ तक कहा जाये यह सभी कुछ तो अस्थिर है इसलिए राज्य भोगना अच्छा नहीं - इसे हर एक प्रकार से छोड़ ही देना चाहिए ॥ १४५-१५०॥

इस प्रकार निश्चय कर धीर-वीर महाराज अतिबल ने राज्याभिषेक पूर्वक अपना समस्त राज्य पुत्र-महाबल के लिए सौंप दिया । और अपने बन्धन से छुटकारा पाये हुए हाथी के समान घर से निकलकर अनेक विद्याधरों के साथ वन में जाकर दीक्षा ले ली ॥१५१-१५२॥ इसके पश्चात् महाराज अतिबल पवित्र जिनलिङ्ग धारण कर चिरकाल तक कठिन तपश्चरण करने लगे । उनका वह तपश्चरण किसी विजिगीषु (शत्रुओं पर विजय पाने की अभिलाषी) सेना के समान था क्योंकि वह सेना जिस प्रकार गुप्ति-वरछा आदि हथियारों तथा समितियों-समूहों से सुसंवृत रहती है, उसी प्रकार उनका वह तपश्चरण भी मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, और कायगुप्ति इन तीन गुप्तियों से तथा ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और प्रतिष्ठापन इन पाँच समितियों से सुसंवृत-सुरक्षित था । अथवा उनका वह तपश्चरण किसी महासर्प के फण में लगे हुए रत्नों के समान अन्य साधारण मनुष्यों को दुर्लभ था । उनका वह तपश्चरण दोषों से रहित था तथा नाभिराजा के समय होने वाले वस्त्राभूषणरहित कल्पवृक्ष के समान शोभायमान था । अथवा यों कहिए कि वह तपश्चरण भविष्यत्काल में सुख का कारण होने से गुरुओं के सद्गुणों के समान था । निश्चित निवास स्थान से रहित होने के कारण पक्षियों के मण्डल के समान था । विषाद, भय, दीनता आदि का अभाव हो जाने से सिद्धस्थान - मोक्ष-मन्दिर के समान था । क्षमा-शान्ति का आधार होने के कारण (पक्ष में पृथिवी का आधार होने के कारण) वातवलय की उपमा को प्राप्त हुआ-सा जान पड़ता था । तथा परिग्रहरहित होने के कारण पृथक् रहने वाले परमाणु के समान था । मोक्ष का कारण होने से निर्मल रत्नत्रय के तुल्य था । अतिशय उदार गुणों से सहित था, विपुल तेज से प्रकाशमान

और आत्मबल से संयुक्त था ॥१५३-१५८॥

इस प्रकार अतिबल के दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् उसके बलशाली पुत्र महाबल ने राज्य का भार धारण किया । उस समय अनेक विद्याधर नम्र होकर उसके चरणकमलों की पूजा किया करते थे ॥१५९॥

वह महाबल दैव और पुरुषार्थ दोनों से सम्पन्न था, उसकी चेष्टाएँ वीर मानव के समान थीं तथा उसने शत्रुओं के बल का संहार कर अपनी भुजा का बल प्रसिद्ध किया था ॥१६०॥

जिस प्रकार मन्त्रशक्ति के प्रभाव से बड़े-बड़े सर्प सामर्थ्यहीन होकर विकार से रहित हो जाते हैं - वशीभूत हो जाते हैं उसी प्रकार उसकी मन्त्रशक्ति विमर्शशक्ति के प्रभाव से बड़े-बड़े शत्रु सामर्थ्यहीन होकर विकार से रहित वशीभूत हो जाते थे ॥१६१॥

जिस प्रकार स्वादिष्ट और पके हुए फलों से शोभायमान आम्रवृक्ष पर प्रजा की प्रेमपूर्ण दृष्टि पड़ती है उसी प्रकार माधुर्य आदि अनेक गुणों से शोभायमान राजा महाबल पर भी प्रजा की प्रेमपूर्ण दृष्टि पड़ा करती थी ॥१६२॥

वह न तो अत्यन्त कठोर था और न अतिशय कोमलता को ही धारण किये था किन्तु मध्यम वृत्ति का आश्रय कर उसने समस्त जगत् को वशीभूत कर लिया था ॥१६३॥

जिस प्रकार ग्रीष्म काल के आश्रय से उड़ती हुई धूलि को मेघ शान्त कर दिया करते हैं उसी प्रकार समृद्धि चाहने वाले उस राजा ने समयानुसार उद्धत हुए - गर्व को प्राप्त हुए अन्तरंग (काम, क्रोध, मद, मात्सर्य, लोभ और मोह) तथा बाह्य दोनों प्रकार के शत्रुओं को शान्त कर दिया था ॥१६४॥

उस राजा के धर्म, अर्थ और काम, परस्पर में किसी को बाधा नहीं पहुँचाते थे - वह समानरूप से तीनों का पालन करता था जिससे ऐसा मालूम होता था मानो इसके कार्य की चतुराई से उक्त तीनों वर्ग परस्पर में मित्रता को ही प्राप्त हुए हों ॥१६५॥

राजारूपी हस्ती राज्य पाकर प्रायः मद से (गर्व से पक्ष में मदजल से) कठोर हो जाते हैं परन्तु वह महाबल मद से कठोर नहीं हुआ था बल्कि स्वच्छ बुद्धि का धारक हुआ था ॥१६६॥

अन्य राजा लोग जवानी, रूप, ऐश्वर्य, कुल, जाति आदि गुणों से मद-गर्व करने लगते हैं परन्तु महाबल के उक्त गुणों ने एक शान्ति भाव ही धारण किया था ॥१६७॥

प्रायः राजपुत्र राज्यलक्ष्मी के निमित्त से परम अहंकार को प्राप्त हो जाते हैं परन्तु महाबल राज्यलक्ष्मी को पाकर भी शान्त रहता था जैसे कि मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनि काम विद्या से सदा निर्विकार और शान्त रहते हैं ॥१६८॥

राजा महाबल के राज्य करने पर अन्याय शब्द ही नष्ट हो गया था तथा भय और क्षोभ प्रजा को कभी स्वप्न में भी नहीं होते थे ॥१६९॥
उस राजा के राज्यकार्य के देखने में गुप्तचर और विचारशक्ति ही नेत्र का काम देते थे । नेत्र तो केवल मुख की शोभा के लिए अथवा पदार्थों के देखने के लिए ही थे ॥१७०॥

कुछ समय बाद यौवन का प्रारम्भ होने पर समस्त कलाओं के धारक महाबल का रूप उतना ही लोकप्रिय हो गया था जितना कि सोलहों कलाओं को धारण करने वाले चन्द्रमा का होता है ॥१७१॥

राजा महाबल और कामदेव दोनों ही सुन्दर शरीर के धारक थे । अभी तक राजा को कामदेव की उपमा ही दी जाती थी परन्तु कामदेव अदृश्य हो गया और राजा महाबल दृश्य ही रहे इससे ऐसा मालूम होता था मानो कामदेव ने उसकी उपमा को दूर से ही छोड़ दिया था ॥१७२॥

उस राजा के मस्तक पर भ्रमर के समान काले, कोमल और घुँघराले बाल थे, ऊपर से मुकुट लगा था जिससे वह मस्तक ऐसा मालूम होता था मानो काले मेघों से सहित मेरु पर्वत का शिखर ही हो ॥१७३॥

इस राजा का ललाट अतिशय विस्तृत और ऊँचा था जिससे ऐसा शोभायमान होता था मानो लक्ष्मी के विश्राम के लिए एक सुवर्णमय शिला ही बनायी गयी हो ॥१७४॥

उस राजा की अतिशय लम्बी और टेढ़ी भौंहों की रेखाएँ ऐसी मालूम होती थीं मानो कामदेव की अस्त्रशाला में रखी हुई दो धनुषयष्टि ही हों ॥१७५॥

भौंहरूपी चाप के समीप में रहने वाली उसकी दोनों आँखें ऐसी शोभायमान होती थीं मानो समस्त जगत् को जीतने की इच्छा करनेवाले

कामदेव के बाण चलाने के दो यन्त्र ही हों ॥१७६॥

रत्नजड़ित कुण्डलों से शोभायमान उसके दोनों मनोहर कान ऐसे मालूम होते थे मानो सरस्वती देवी के झूलने के लिए दो झूले ही पड़े हों ॥ १७७॥

दोनों नेत्रों के बीच में उसकी ऊंची नाक ऐसी जान पड़ती थी मानो नेत्रों की वृद्धिविषयक स्पर्धा को रोकने के लिए बीच में एक लम्बा पुल ही बाँध दिया हो ॥१७८॥

उस राजा का मुख सुगन्धित कमल के समान शोभायमान था । जिसमें दाँतों की सुन्दर किरणें ही केशर थीं और ओठ ही जिसके पत्ते थे ॥ १७९॥

हार की किरणों से शोभायमान उसका विस्तीर्ण वक्षःस्थल ऐसा मालूम होता था मानो जल से भरा हुआ विस्तृत, उत्कृष्ट और सन्तोष को देने वाला लक्ष्मी का स्नानगृह ही हो ॥१८०॥

केयूर (बाहुबन्ध) की कान्ति से सहित उसके दोनों कन्धे ऐसे शोभायमान होते थे मानो लक्ष्मी के विहार के लिए बनाये गये दो मनोहर क्रीड़ाचल ही हों ॥१८१॥

वह युग (जुआँरी) के समान लम्बी और मनोहर हथेलियों से अंकित भुजाओं को धारणकर रहा था जिससे ऐसा मालूम हो रहा था मानो कोंपलों से शोभायमान दो बड़ी-बड़ी शाखाओं को धारण करने वाला कल्पवृक्ष ही हो ॥१८२॥

वह राजा गम्भीर नाभि से युक्त और त्रिवलि से शोभायमान मध्य भाग को धारण किये हुए था जिससे ऐसा मालूम होता था मानो भँवर और तरंगों से सहित बालू के टीले को धारण करने वाला समुद्र ही हो ॥१८३॥

करधनी से घिरा हुआ उसका स्थूल नितम्ब ऐसा शोभायमान होता था मानो वेदिका से घिरा हुआ जम्बूद्वीप ही हो ॥१८४॥

देदीप्यमान कान्ति की धारण करने और कदली स्तम्भ की समानता रखने वाली उसकी दोनों जाँघें ऐसी शोभायमान होती थीं मानो स्त्रियों के दृष्टिरूपी बाण चलाने के लिए खड़े किये गये दो निशानें ही हों ॥१८५॥

वह महाबल वज्र के समान स्थिर तथा सुन्दर आकृति वाली पिंडरियों को धारण किये हुए था जिससे ऐसा मालूम होता था मानो कामदेव के विजयी बाणों को तीक्ष्ण करने के लिए दो शाण ही धारण किये हो ॥१८६॥

वह अंगुलीरूपी पलों से युक्त शोभायमान तथा नखों की किरणोंरूपी केशर से युक्त जिन दो चरणकमलों को धारण कर रहा था वे ऐसे जान पड़ते थे मानो लक्ष्मी के रहने के लिए कुलपरम्परा से चले आये दो घर ही हो ॥१८७॥

इस प्रकार महाबल का रूप बहुत ही सुन्दर था, उसमें नवयौवन के कारण अनेक हाव-भाव विलास उत्पन्न होते रहते थे जिससे ऐसा मालूम होता था मानो सब जगह का सौन्दर्य यहाँ पर ही इकट्ठा हुआ हो ॥१८८॥

उस राजा ने केवल अपने रूप की शोभा से ही जगत् को नहीं जीता था किन्तु वृद्ध जनों की संगति से प्राप्त हुई मन्त्रशक्ति के द्वारा भी जीता था ॥१८९॥

उस राजा के चार मन्त्री थे जो महाबुद्धिमान् स्नेही और दीर्घदर्शी थे । वे चारों ही मन्त्री राजा के बाह्य प्राणों के समान मालूम होते थे ॥ १९०॥

उनके नाम क्रम से महामति, सम्भिन्नमति, शतमति और स्वयंबुद्ध थे । ये चारों ही मन्त्री राज्य के स्थिर रत्नस्तम्भ के समान थे ॥१९१॥

उन चारों मन्त्रियों में स्वयं बुद्धनामक मन्त्री शुद्ध सम्यग्दृष्टि था और बाकी तीन मन्त्री मिथ्यादृष्टि थे । यद्यपि उनमें इस प्रकार का मतभेद था परन्तु स्वामी के हितसाधन करने में वे चारों ही तत्पर रहा करते थे ॥१९२॥

वे चारों ही मन्त्री उस राज्य के चरण के समान थे । उनकी उत्तम योजना करने से महाबल का राज्य समवृत्त के समान अतिशय विस्तार को प्राप्त हुआ था । भावार्थ - वृत्त छन्द को कहते हैं, उसके तीन भेद हैं - समवृत्त, अर्धसमवृत्त और विषमवृत्त । जिसके चारों पाद - चरण एक समान लक्षण के धारक होते हैं उसे समवृत्त कहते हैं । जिसके प्रथम और तृतीय तथा द्वितीय और चतुर्थ पाद एक समान लक्षण के धारक हों उसे अर्धसमवृत्त कहते हैं और जिसके चारों पाद भिन्न-भिन्न लक्षणों के धारक होते हैं उन्हें विषमवृत्त कहते हैं । जिस प्रकार एक समान लक्षण के धारक चारों पादों - चरणों की योजना से रचना से समवृत्त नामक छन्द का भेद प्रसिद्ध होता है तथा, प्रस्तार आदि की अपेक्षा से विस्तार को प्राप्त होता है उसी प्रकार उन चारों मन्त्रियों की योजना से सम्यक् कार्यविभाग से राजा महाबल का राज्य

प्रसिद्ध हुआ था तथा अपने अवान्तर विभागों से विस्तार को प्राप्त हुआ था ॥१९३॥

राजा महाबल कभी पूर्वोक्त चारों मंत्रियों के साथ, कभी तीन के साथ, कभी दो के साथ और कभी यथार्थवादी एक स्वयंबुद्ध मन्त्री के साथ अपने राज्य का विस्तार किया करता था ॥१९४॥

वह राजा स्वयं ही कार्य का निश्चय कर लेता था । मन्त्री उसके निश्चित किये हुए कार्य की प्रशंसा मात्र किया करते थे जिस प्रकार कि तीर्थंकर भगवान दीक्षा लेते समय स्वयं विरक्त होते हैं, लौकान्तिक देव मात्र उनके वैराग्य की प्रशंसा ही किया करते हैं ॥१९५॥

भावार्थ – राजा महाबल इतने अधिक बुद्धिमान और दीर्घदर्शी - विचारक थे कि उनके निश्चित विचारों को कोई मन्त्री सदोष नहीं, कर सकता था ॥१९६॥

अनेक विद्याधरों का स्वामी राजा महाबल उपयुक्त चारों मंत्रियों पर राज्यभार रखकर अनेक स्त्रियों के साथ चिरकाल तक कामदेव के निवास स्थान को जीतने और नन्दनवन के प्रदेशों की समानता रखने वाले उपवनों में बार-बार विहार करता था । विहार करते समय घनीभूत मन्दार वृक्षों के मध्य में भ्रमण करने के कारण सुखप्रद शीतल, मन्द तथा सुगन्धित वायु के द्वारा उसका संभोगजन्य समस्त खेद दूर हो जाता था ॥१९७॥

इस प्रकार पुण्य के उदय से नमस्कार करने वाले विद्याधरों के देदीप्यमान मुकुटों में लगे हुए मकर आदि के चिह्नों से जिसके चरणकमल बार-बार स्पृष्ट हो रहे थे - छुए जा रहे थे और जिसे आगे चलकर तीर्थंकर की महनीय विभूति प्राप्त होने वाली थी ऐसा वह महाबल राजा, मेरुपर्वत पर इन्द्र के समान, विजयार्थ पर्वत पर चिरकाल तक क्रीड़ा करता रहा ॥१९८॥

इस प्रकार आर्ष नाम से प्रसिद्ध, भगवज्जिनसेनाचार्य रचित, त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रह में 'श्रीमहाबलाभ्युदयवर्णन' नाम का चतुर्थ पर्व पूर्ण हुआ ॥४॥

पर्व-05 -- ललिताङ्ग स्वर्गभोग वर्णन

पर्व-05 -- ललिताङ्ग स्वर्गभोग वर्णन

कथा :

तदनन्तर, किसी दिन राजा महाबल की जन्मगाँठ का उत्सव हो रहा था । वह उत्सव मंगलगीत, वादित्र तथा नृत्य आदि के आरम्भ से भरा हुआ था ॥१॥

उस समय विद्याधरों के अधिपति राजा महाबल सिंहासन पर बैठे हुए थे । अनेक वारांगनाएँ उन पर क्षीरसमुद्र के समान श्वेतवर्ण चामर ढोर रही थीं ॥२॥

उनके समीप खड़ी हुई वे तरुण स्त्रियाँ ऐसी मालूम होती थीं मानो कामदेवरूपी वृक्ष की मंजरियाँ ही हों, अथवा सौन्दर्यरूपी सागर की तरंग ही हों अथवा सुन्दरता की कलिकाएँ ही हों ॥३॥

अपने-अपने विशाल वक्षःस्थलों से समीप के प्रदेश को आच्छादित करने वाले तथा मुकुटों से शोभायमान अनेक विद्याधर राजा महाबल को घेरकर बैठे हुए थे । उनके बीच में बैठे हुए महाबल ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो अनेक पर्वतों से घिरा हुआ या उनके बीच में स्थित सुमेरुपर्वत ही हो ॥४॥

उनके वक्षःस्थल पर चन्द्रमा के समान उज्ज्वल कान्ति का धारक-श्वेत हार पड़ा हुआ था जो कि हिमवत् पर्वत के शिखर पर पड़ते हुए झरने के समान शोभायमान हो रहा था ॥५॥

जिस प्रकार विस्तृत आकाश में जलकाय के इधर-उधर चलती हुई हंसों की पंक्ति शोभायमान होती है उसी प्रकार राजा महाबल के विस्तीर्ण वक्षःस्थल पर इन्द्रनीलमणि से सहित मोतियों की कण्ठी शोभायमान हो रही थी ॥६॥

उस समय मन्त्री, सेनापति, पुरोहित, सेठ तथा अन्य अधिकारी लोग राजा महाबल को घेरकर बैठे हुए थे ॥७॥

वे राजा किसी के साथ हंसकर, किसी के साथ सम्भाषण कर, किसी को स्थान देकर, किसी को दान देकर, किसी का सम्मान कर और किसी की ओर आदरसहित देखकर उन समस्त सभासदों को सन्तुष्ट कर रहे थे ॥८॥

वे महाबल संगीत आदि अनेक कलाओं के जानकार विद्वान् पुरुषों की गोष्ठी का बार-बार अनुभव करते जाते थे । तथा श्रोताओं के समक्ष कलाविद् पुरुष परस्पर में जो स्पर्धा करते थे उसे भी देखते जाते थे । इसी बीच में सामन्तों-द्वारा भेजे हुए दूतों को द्वारपालों के हाथ

बुलवाकर उनका बार-बार यथायोग्य सत्कार कर लेते थे । तथा अन्य देशों के राजाओं के प्रतिष्ठित पुरुषों-द्वारा लायी हुई भेंट का अवलोकन कर उनका सम्मान भी करते जाते थे । इस प्रकार परम आनन्द को विस्तृत करते हुए, आश्चर्यकारी विभव से सहित वे महाराज महाबल मन्त्रिमण्डल के साथ-साथ स्वेच्छानुसार सभामण्डप में बैठे हुए थे ॥९-१२॥

उस समय तीक्ष्णबुद्धि के धारक तथा इष्ट और मनोहर वचन बोलने वाले स्वयंबुद्ध मन्त्री ने राजा को अतिशय प्रसन्न देखकर स्वामी का हित करने वाले नीचे लिखे वचन कहे ॥१३॥

हे विद्याधरों के स्वामी, जरा इधर सुनिए, मैं आपके कल्याण करने वाले कुछ वचन कहूँगा । हे प्रभो, आपको जो यह विद्याधरों की लक्ष्मी प्राप्त हुई है उसे आप केवल पुण्य का ही फल समझिए ॥१४॥

हे राजन् धर्म से इच्छानुसार सम्पत्ति मिलती है, उससे इच्छानुसार सुख की प्राप्ति होती है और उससे मनुष्य प्रसन्न रहते हैं इसलिए यह परम्परा केवल धर्म से ही प्राप्त होती है ॥१५॥

राज्य, सम्पदा, भोग, योग्य कुल में जन्म, सुन्दरता, पाण्डित्य, दीर्घ आयु और आरोग्य, यह सब पुण्य का ही फल समझिए ॥१६॥

हे विभो, जिस प्रकार कारण के बिना कभी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, दीपक के बिना कभी किसीने कहीं प्रकाश नहीं देखा, बीज के बिना अंकुर नहीं होता, मेघ के बिना वृष्टि नहीं होती और छत्र के बिना छाया नहीं होती उसी प्रकार धर्म के बिना सम्पदाएँ प्राप्त नहीं होतीं ॥१७-१८॥

जिस प्रकार विष खाने से जीवन नहीं होता, ऊसर जमीन से धान्य उत्पन्न नहीं होते और अग्नि से आह्लाद उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार अधर्म से सुख की प्राप्ति नहीं होती ॥१९॥

जिससे स्वर्ग आदि अभ्युदय तथा मोक्षपुरुषार्थ की निश्चित रूप से सिद्धि होती है उसे धर्म कहते हैं । हे राजन् मैं इस समय उसी धर्म का विस्तार के साथ वर्णन करता हूँ उसे सुनिए ॥२१॥

धर्म वही है जिसका मूल दया हो और सम्पूर्ण प्राणियों पर अनुकम्पा करना दया है । इस दया की रक्षा के लिए ही उत्तम क्षमा आदि शेष गुण कहे गये हैं ॥२१॥

इन्द्रियों का दमन करना, क्षमा धारण करना, हिंसा नहीं करना, तप, ज्ञान, शील, ध्यान और वैराग्य ये उस दयारूप धर्म के चिह्न हैं ॥२२॥

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह का त्याग करना ये सब सनातन (अनादिकाल से चले आये) धर्म कहलाते हैं ॥२३॥

इसलिए हे महाभाग, राज्य आदि समस्त विभूति को धर्म का फल जानकर उसके अभिलाषी पुरुषों को अपनी दृष्टि हमेशा धर्म में स्थिर रखनी चाहिए ॥२४॥

हे बुद्धिमन् यदि आप इस चंचल लक्ष्मी को स्थिर करना चाहते हैं तो आपको यह अहिंसादि रूप धर्म मानना चाहिए तथा शक्ति के अनुसार उसका पालन भी करना चाहिए ॥२५॥

इस प्रकार स्वामी का कल्याण चाहने वाला स्वयंबुद्ध मन्त्री जब धर्म से सहित, अर्थ से भरे हुए और यश को बढ़ाने वाले वचन कहकर चुप हो रहा तब उसके वचनों को सुनने के लिए असमर्थ महामति नाम का दूसरा मिथ्यादृष्टि मन्त्री नीचे लिखे अनुसार बोला ॥२६-२७॥

महामति मन्त्री, भूतवाद का आलम्बन कर चार्वाक मत का पोषण करता हुआ जीवतत्त्व के विषय में दूषण देने लगा ॥२८॥

वह बोला-हे देव, धर्मों के रहते हुए ही उसके धर्म का विचार करना संगत (ठीक) होता है परन्तु आत्मा नामक धर्म का अस्तित्व सिद्ध नहीं है इसलिए धर्म का फल कैसे हो सकता है ? ॥२९॥

जिस प्रकार महुआ, गुड़, जल आदि पदार्थों के मिला देने से उसमें मादक शक्ति उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार पृथिवी, जल, वायु और अग्नि के संयोग से उनमें चेतना उत्पन्न होती है ॥३१॥

इसलिए इस लोक में पृथिवी आदि तत्त्वों से बने हुए हमारे शरीर से पृथक् रहने वाला चेतना नाम का कोई पदार्थ नहीं है क्योंकि शरीर से पृथक् उसकी उपलब्धि नहीं देखी जाती । संसार में जो पदार्थ प्रत्यक्षरूप से पृथक् सिद्ध नहीं होते उनका अस्तित्व नहीं माना जाता, जैसे कि आकाश के फूल का ॥३१॥

जब कि चेतनाशक्ति नाम का जीव पृथक् पदार्थ सिद्ध नहीं होता तब किसी के पुण्य-पाप और परलोक आदि कैसे सिद्ध हो सकते हैं शरीर का नाश हो जाने से ये जीव जल के बबूले के समान एक क्षण में विलीन हो जाते हैं ॥३२॥

इसलिए जो मनुष्य प्रत्यक्ष का सुख छोड़कर परलोक सम्बन्धी सुख चाहते हैं वे दोनों लोकों के सुख से च्युत होकर व्यर्थ ही क्लेश उठाते हैं ॥३३॥

अत एव वर्तमान के सुख छोड़कर परलोक के सुख की इच्छा करना ऐसा है जैसे कि मुख में आये हुए मांस को छोड़कर मोहवश किसी शृगाल का मछली के लिए छलाँग भरना है । अर्थात् जिस प्रकार शृगाल मछली की आशा से मुख में आये हुए मांस को छोड़कर पछताता है उसी प्रकार परलोक के सुखों की आशा से वर्तमान के सुखों को छोड़ने वाला पुरुष भी पछताता है 'आधी छोड़ एक को धावै, ऐसा डूबा थाह न पावै' ॥३४॥

परलोक के सुखों की चाह से ठगाये हुए जो मूर्ख मानव प्रत्यक्ष के भागों को छोड़ देते हैं वे मानो सामने परोसा हुआ भोजन छोड़कर हाथ ही चाटते हैं अर्थात् परोक्ष सुख की आशा से वर्तमान के सुख छोड़ना भोजन छोड़कर हाथ चाटने के तुल्य है ॥३५॥

इस प्रकार भूतवादी महामति मन्त्री अपने पक्ष की युक्तियाँ देकर जब चुप हो रहा तब बात करने की खुजली से उत्पन्न हुए कुछ हास्य को धारण करने वाला सम्भिन्नमति नाम का तीसरा मन्त्री भी केवल विज्ञानवाद का आश्रय लेकर जीव का अभाव सिद्ध करता हुआ नीचे लिखे अनुसार अपने मत की सिद्धि करने लगा ॥३६-३७॥

वह बोला-हे जीववादिन् स्वयंबुद्ध, आपका कहा हुआ जीव नाम का कोई पृथक् पदार्थ नहीं है क्योंकि उसकी पृथक् उपलब्धि नहीं होती । यह समस्त जगत् विज्ञानमात्र है क्योंकि क्षणभंगुर है । जो-जो क्षण-भंगुर होते हैं वे सब ज्ञान के विकार होते हैं । यदि ज्ञान-विकार न होकर स्वतन्त्र पृथक् पदार्थ होते तो वे नित्य होते, परन्तु संसार में कोई नित्य पदार्थ नहीं है इसलिए वे सब ज्ञान के विकारमात्र हैं ॥३८॥

वह विज्ञान निरंश है-अवान्तर भागों से रहित है, बिना परम्परा उत्पन्न किये ही उसका नाश हो जाता है और वेद-वेदक तथा संवित्तिरूप से भिन्न प्रकाशित होता है । अर्थात् वह स्वभावतः न तो किसी अन्य ज्ञान के द्वारा जाना जाता है और न किसी को जानता ही है, एक क्षण रहकर समूह नष्ट हो जाता है ॥३९॥

वह ज्ञान नष्ट होने के पहले ही अपनी सांवृतिक सन्तान छोड़ जाता है जिससे पदार्थों का स्मरण होता रहता है । वह सन्तान अपने सन्तानी ज्ञान से भिन्न नहीं है ॥४१॥

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि विज्ञान की सन्तान प्रतिसन्तान मान लेने से पदार्थ का स्मरण तो सिद्ध हो जायेगा परन्तु प्रत्यभिज्ञान सिद्ध नहीं हो सकेगा । क्योंकि प्रत्यभिज्ञान की सिद्धि के लिए पदार्थ को अनेक क्षणस्थायी मानना चाहिए जो कि आपने माना नहीं है । पूर्व क्षण में अनुभूत पदार्थ का द्वितीयादि क्षण में प्रत्यक्ष होने पर जो जोड़रूप ज्ञान होता है उसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं । उक्त प्रश्न का समाधान इस प्रकार है-क्षणभंगुर पदार्थ में जो प्रत्यभिज्ञान आदि होता है वह वास्तविक नहीं है किन्तु भ्रान्त है । जिस प्रकार की काटे जाने पर फिर से बड़े हुए नखों और केशों में ये वे ही नख केश हैं इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान भ्रान्त होता है ॥४१॥

(संसार) स्कन्ध दुःख कहे जाते हैं । वे स्कन्ध विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार और रूप के भेद से पाँच प्रकार के कहे गये हैं । पाँचों इन्द्रियाँ, शब्द आदि उनके विषय, मन और धर्मायतन (शरीर) ये बारह आयतन हैं । जिस आत्मा और आत्मीय भाव से संसार में रलाने वाले रागादि उत्पन्न होते हैं उसे समुदय सत्य कहते हैं । 'सब पदार्थ क्षणिक हैं' इस प्रकार की क्षणिक नैरात्म्यभावना मार्ग सत्य है तथा इन स्कन्धों के नाश होने को निरोध अर्थात् मोक्ष कहते हैं ॥४१॥

इसलिए विज्ञान की सन्तान से अतिरिक्त जीव नाम का कोई पदार्थ नहीं है जो कि परलोकरूप फल को भोगने वाला हो ॥४२॥

अतएव परलोक सम्बन्धी दुःख दूर करने के लिए प्रयत्न करने वाले पुरुषों का परलोकभय वैसा ही है जैसा कि टिटिहरी को अपने ऊपर आकाश के पड़ने का भय होता है ॥४३॥

इस प्रकार विज्ञानवादी सम्भिन्नमति मन्त्री जब अपना अभिप्राय प्रकट कर चुप हो गया तब अपनी प्रशंसा करता हुआ शतमति नाम का चौथा मन्त्री नैरात्म्यवाद (शून्यवाद) का आलम्बन कर नीचे लिखे अनुसार कहने लगा ॥४४॥

यह समस्त जगत् शून्यरूप है । इसमें नर, पशु-पक्षी, घट-पट आदि पदार्थों का जो प्रतिभास होता है वह सब मिथ्या है । भ्रान्ति से ही वैसा प्रतिभास होता है जिस प्रकार स्वप्न अथवा इन्द्रजाल आदि में हाथी आदि का मिथ्या प्रतिभास होता है ॥४५॥

इसलिए जब कि सारा जगत् मिथ्या है तब तुम्हारा माना हुआ जीव कैसे सिद्ध हो सकता है और उसके अभाव में परलोक भी कैसे सिद्ध हो सकता है क्योंकि यह सब गन्धर्वनगर की तरह असत् स्वरूप है ॥४६॥

अतः जो पुरुष परलोक के लिए तपश्चरण तथा अनेक अनुष्ठान आदि करते हैं वे व्यर्थ ही क्लेश को प्राप्त होते हैं । ऐसे जीव यथार्थज्ञान से रहित हैं ॥४७॥

जिस प्रकार ग्रीष्मऋतु में मरुभूमि पर पड़ती हुई सूर्य की चमकीली किरणों को जल समझकर मृग व्यर्थ ही दौड़ा करते हैं उसी प्रकार ये भोगाभिलाषी मनुष्य परलोक के सुखों को सच्चा सुख समझकर व्यर्थ ही दौड़ा करते हैं-उनकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं ॥४८॥ इस प्रकार खोटे दृष्टान्त और खोटे हेतुओं द्वारा सारहीन वस्तु का प्रतिपादन कर जब शतमति भी चुप हो रहा तब स्वयंबुद्ध मन्त्री कहने के लिए उद्यत हुए ॥४९॥

हे भूतवादिन्, 'आत्मा नहीं है' यह आप मिथ्या कह रहे हैं क्योंकि पृथ्वी आदि भूतचतुष्टय के अतिरिक्त ज्ञानदर्शनरूप चैतन्य की भी प्रतीति होती है ॥५१॥

वह चैतन्य शरीररूप नहीं है और न शरीर चैतन्यरूप ही है क्योंकि दोनों का परस्पर विरुद्ध स्वभाव है । चैतन्य चित्स्वरूप हैं-ज्ञान दर्शनरूप है और शरीर अचित्स्वरूप हैं-जड़ है ॥५१॥

शरीर और चैतन्य दोनों मिलकर एक नहीं हो सकते क्योंकि दोनों में परस्पर विरोधी गुणों का योग पाया जाता है । चैतन्य का प्रतिभास तलवार के समान अन्तरंगरूप होता है और शरीर का प्रतिभास म्यान के समान बहिरंगरूप होता है । भावार्थ-जिस प्रकार म्यान में तलवार रहती है । यहाँ म्यान और तलवार दोनों में अभेद नहीं होता उसी प्रकार 'शरीर में चैतन्य है' यहाँ शरीर और आत्मा में अभेद नहीं होता । प्रतिभास भेद होने से दोनों ही पृथक्-पृथक् पदार्थ सिद्ध होते हैं ॥५२॥

यह चैतन्य न तो पृथिवी आदि भूतचतुष्टय का कार्य है और न उनका कोई गुण ही है । क्योंकि दोनों की जातियाँ पृथक्-पृथक् हैं । एक चैतन्यरूप है तो दूसरा जड़रूप है । यथार्थ में कार्यकारणभाव और गुणगुणीभाव सजातीय पदार्थों में ही होता है विजातीय पदार्थों में नहीं होता । इसके सिवाय एक कारण यह भी है कि पृथिवी आदि से बने हुए शरीर का ग्रहण उसके एक अंशरूप इन्द्रियों के द्वारा ही होता है जब कि ज्ञानरूप चैतन्य का स्वरूप अतीन्द्रिय है-ज्ञानमात्र से ही जाना जाता है । यदि चैतन्य, पृथिवी आदि का कार्य अथवा स्वभाव होता तो पृथिवी आदि से निर्मित शरीर के साथ-ही-साथ इन्द्रियों द्वारा उसका भी ग्रहण अवश्य होता, परन्तु ऐसा होता नहीं है । इससे स्पष्ट सिद्ध है कि शरीर और चैतन्य पृथक्-पृथक् पदार्थ हैं ॥५३॥ वह चैतन्य शरीर का भी विकार नहीं हो सकता क्योंकि भस्म आदि जो शरीर के विकार हैं उनसे वह विसदृश होता है । यदि चैतन्य शरीर का विकार होता तो उसके भस्म आदि विकाररूप ही चैतन्य होना चाहिए था परन्तु ऐसा नहीं होता, इससे सिद्ध है कि चैतन्य शरीर का विकार नहीं है । दूसरी बात यह भी है कि शरीर का विकार मूर्तिक होगा परन्तु यह चैतन्य अमूर्तिक है-रूप, रस, गन्ध, स्पर्श से रहित है-इन्द्रियों द्वारा उसका ग्रहण नहीं होता ॥५४॥

शरीर और आत्मा का सम्बन्ध ऐसा है जैसा कि घर और दीपक का होता है । आधार और आधेय रूप होने से घर और दीपक जिस प्रकार पृथक् सिद्ध पदार्थ हैं उसी प्रकार शरीर और आत्मा भी पृथक् सिद्ध पदार्थ हैं ॥५५॥

आपका सिद्धान्त है कि शरीर के प्रत्येक अंगोपांग की रचना पृथक्-पृथक् भूतचतुष्टय से होती है सो इस सिद्धान्त के अनुसार शरीर के प्रत्येक अंगोपांग में पृथक्-पृथक् चैतन्य होना चाहिए क्योंकि आपका मत है कि चैतन्य भूतचतुष्टय का ही कार्य है । परन्तु देखा इससे विपरीत जाता है । शरीर के सब अंगोपांगों में एक ही चैतन्य का प्रतिभास होता है, उसका कारण यह भी है कि जब शरीर के किसी एक अंग में कण्टकादि चुभ जाता है तब सारे शरीर में दुःख का अनुभव होता है । इससे मालूम होता है कि सब अंगोपांगों में न्यास होकर रहने वाला चैतन्य भूतचतुष्टय का कार्य होता तो वह भी प्रत्येक अंगों में पृथक्-पृथक् ही होता ॥५६॥

इसके सिवाय इस बात का भी विचार करना चाहिए कि मूर्तिमान् शरीर से मूर्तिरहित चैतन्य की उत्पत्ति कैसे होगी ? क्योंकि मूर्तिमान् और अमूर्तिमान् पदार्थों में कार्यकारण भाव नहीं होता ॥५७॥

कदाचित् आप यह कहें कि मूर्तिमान् पदार्थ से भी अमूर्तिमान् पदार्थ की उत्पत्ति हो सकती है, जैसे कि मूर्तिमान् इन्द्रियों से अमूर्तिमत् ज्ञान उत्पन्न हुआ देखा जाता है, सो भी ठीक नहीं है क्योंकि इन्द्रियों से उत्पन्न हुए ज्ञान को हम अमूर्तिक ही मानते हैं ॥५८॥

उसका कारण भी यह है कि यह आत्मा मूर्तिक कर्मों के साथ बन्ध को प्राप्त कर एक रूप हो गया है इसलिए कथंचित् मूर्तिक माना जाता है । जब कि आत्मा भी कथंचित् मूर्तिक माना जाता है तब इन्द्रियों से उत्पन्न हुए ज्ञान को भी मूर्तिक मानना उचित है । इससे सिद्ध हुआ कि मूर्तिक पदार्थों से अमूर्तिक पदार्थों की उत्पत्ति नहीं होती ॥५९॥

इसके सिवाय एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि पृथिवी आदि भूतचतुष्टय में जो शरीर के आकार परिणमन हुआ है वह भी किसी अन्य निमित्त से हुआ है । यदि उस निमित्त पर विचार किया जाये तो कर्मसहित संसारी आत्मा को छोड़कर और दूसरा क्या निमित्त हो सकता है ? अर्थात् कुछ नहीं । भावार्थ-कर्मसहित संसारी आत्मा ही पृथिवी आदि को शरीररूप परिणमन करता है, इससे शरीर और आत्मा की सत्ता पृथक् सिद्ध होती है ॥६१॥

यदि कहो कि जीव पहले नहीं था, शरीर के साथ ही उत्पन्न होता है और शरीर के साथ ही नष्ट हो जाता है इसलिए जल के बबूले के समान है जैसे जल का बबूला जल में ही उत्पन्न होकर उसी में नष्ट हो जाता है वैसे ही यह जीव भी शरीर के साथ उत्पन्न होकर उसी के साथ नष्ट हो जाता है सो आपका यह मानना ठीक नहीं है क्योंकि शरीर और जीव दोनों ही विलक्षण-विसदृश पदार्थ हैं । विसदृश पदार्थ से विसदृश पदार्थ की उत्पत्ति किसी भी तरह नहीं हो सकती ॥६१॥

आपका कहना है कि शरीर से चैतन्य की उत्पत्ति होती है-यहाँ हम पूछते हैं कि शरीर चैतन्य की उत्पत्ति में उपादान कारण है अथवा सहकारी कारण उपादान कारण तो हो नहीं सकता क्योंकि उपादेय-चैतन्य से शरीर विजातीय पदार्थ है । यदि सहकारी कारण मानो तो यह हमें भी इष्ट है परन्तु उपादान कारण की खोज फिर भी करनी चाहिए । कदाचित् यह कहो कि सूक्ष्म रूप से परिणत भूतचतुष्टय का समुदाय ही उपादान कारण है तो आपका यह कहना असत् है क्योंकि सूक्ष्म भूतचतुष्टय के संयोग-द्वारा उत्पन्न हुए शरीर से वह चैतन्य पृथक् ही प्रतिभासित होता है । इसलिए जीवद्रव्य को ही चैतन्य का उपादान कारण मानना ठीक है चूँकि वही उसका सजातीय और सलक्षण है ॥६२-६४॥

भूतवादी ने जो पुष्प, गुड़, पानी आदि के मिलने से मदशक्ति के उत्पन्न होने का दृष्टान्त दिया है, उपयुक्त कथन से उसका भी निराकरण हो जाता है क्योंकि मदिरा के कारण जो गुड़ आदि हैं वे जड़ और मूर्तिक हैं तथा उनसे जो मादक शक्ति उत्पन्न होती है वह भी जड़ और मूर्तिक है । भावार्थ-मादक शक्ति का उदाहरण विषम है । क्योंकि प्रकृत में आप सिद्ध करना चाहते हैं विजातीय द्रव्य से विजातीय की उत्पत्ति और उदाहरण दे रहे हैं सजातीय द्रव्य से सजातीय की उत्पत्ति का ॥६५॥

वास्तव में भूतवादी चार्वाक अपिशाचों से ग्रसित हुआ जान पड़ता है । यदि ऐसा नहीं होता तो इस संसार को जीवरहित केवल पृथिवी, जल, तेज, वायुरूप ही कैसे कहता ॥६६॥

कदाचित् भूतवादी यह कहे कि पृथिवी आदि भूतचतुष्टय में चैतन्यशक्ति अव्यक्तरूप से पहले से ही रहती है सो वह भी ठीक नहीं है क्योंकि अचेतन पदार्थ में चेतनशक्ति नहीं पायी जाती, यह बात अत्यन्त प्रसिद्ध है ॥६७॥

इस उपयुक्त कथन से सिद्ध हुआ कि जीव कोई भिन्न पदार्थ है और ज्ञान उसका लक्षण है । जैसे इस वर्तमान शरीर में जीव का अस्तित्व है उसी प्रकार पिछले और आगे के शरीर में भी उसका अस्तित्व सिद्ध होता है क्योंकि जीवों का वर्तमान शरीर पिछले शरीर के बिना नहीं हो सकता । उसका कारण यह है कि वर्तमान शरीर में स्थित आत्मा में जो दुग्धपानादि क्रियाएँ देखी जाती हैं वे पूर्वभव का संस्कार ही हैं । यदि वर्तमान शरीर के पहले इस जीव का कोई शरीर नहीं होता और यह नवीन ही उत्पन्न हुआ होता तो जीव की सहसा दुग्धपानादि में प्रवृत्ति नहीं हो सकती । इसी प्रकार वर्तमान शरीर के बाद भी यह जीव कोई-न-कोई शरीर धारण करेगा क्योंकि इन्द्रिय ज्ञानसहित आत्मा बिना शरीर के रह नहीं सकता ॥६८॥

जहाँ यह जीव अपने अगले-पिछले शरीरों से युक्त होता है वहीं उसका परलोक कहलाता है और उन शरीरों में रहने वाला आत्मा परलोकी कहा जाता है तथा वही परलोकी आत्मा परलोक सम्बन्धी पुण्य-पापों के फल को भोगता है ॥६९॥

इसके सिवाय, जातिस्मरण से जीवन-मरणरूप आवागमन से और आप्त प्रणीत आगम से भी जीव का पृथक् अस्तित्व सिद्ध होता है ॥ ७१॥

जिस प्रकार किसी यन्त्र में जो हलन-चलन होता है वह किसी अन्य चालक की प्रेरणा से होता है । इसी प्रकार इस शरीर में भी जो यातायातरूपी हलन-चलन हो रहा है वह भी किसी अन्य चालक की प्रेरणा से ही हो रहा है वह चालक आत्मा ही है । इसके सिवाय शरीर की जो चेष्टाएँ होती हैं सो हित-अहित के विचारपूर्वक होती हैं-इससे भी जीव का अस्तित्व पृथक् जाना जाता है ॥७१॥

यदि आपके कहे अनुसार पृथिवी आदि भूतचतुष्टय के संयोग से जीव उत्पन्न होता है तो भोजन पकाने के लिए आग पर रखी हुई बटलोई में भी जीव की उत्पत्ति हो जानी चाहिए क्योंकि वहाँ भी तो अग्नि, पानी, वायु और पृथिवीरूप भूतचतुष्टय का संयोग होता है ॥७२॥

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि भूतवादियों के मत में अनेक दूषण हैं इसलिए यह निश्चय समझिए कि भूतवादियों का मत निरे मूर्खों का प्रलाप है उसमें कुछ भी सार नहीं है ॥७३॥

इसके अनन्तर स्वयं बुद्ध ने विज्ञानवादी से कहा कि आप इस जगत् को विज्ञान मात्र मानते हैं-विज्ञान से अतिरिक्त किसी पदार्थ का सद्भाव नहीं मानते परन्तु विज्ञान से ही विज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि आपके मतानुसार साध्य, साधन दोनों एक हो जाते हैं-विज्ञान ही साध्य होता है और विज्ञान ही साधन होता है। ऐसी हालत में तत्त्व का निश्चय कैसे हो सकता है ? ॥७४॥

एक बात यह भी है कि संसार में बाह्यपदार्थों की सिद्धि वाक्यों के प्रयोग से ही होती है। यदि वाक्यों का प्रयोग न किया जाये तो किसी भी पदार्थ की सिद्धि नहीं हो गई और उस अवस्था में संसार का व्यवहार बन्द हो जायेगा। यदि वह वाक्य विज्ञान से भिन्न है तो वाक्यों का प्रयोग रहते हुए विज्ञानाद्वैत सिद्ध नहीं हो सकता। यदि यह कहो कि वे वाक्य भी विज्ञान ही हैं तो हे मुझे, बता कि तूने 'यह संसार विज्ञान मात्र है' इस विज्ञानाद्वैत की सिद्धि किसके द्वारा की है ? इसके सिवाय एक बात यह भी विचारणीय है कि जब तू निरंश निर्विभाग विज्ञान को ही मानता है तब ग्राह्य आदि का भेदव्यवहार किस प्रकार सिद्ध हो सकेगा ? भावार्थ-विज्ञान पदार्थों को जानता है इसलिए ग्राहक कहलाता है और पदार्थ ग्राह्य कहलाते हैं जब तू ग्राह्य-पदार्थों की सत्ता ही स्वीकृत नहीं करता तो ज्ञान-ग्राहक किस प्रकार सिद्ध हो सकेगा ? यदि ग्राह्य को स्वीकार करता है तो विज्ञान का अद्वैत नष्ट हुआ जाता है ॥७५-७६॥

ज्ञान का प्रतिभास घट-पटादि विषयों के आकार से शून्य नहीं होता अर्थात् घट-पटादि विषयों के रहते हुए ही ज्ञान उन्हें जान सकता है, यदि घट-पटादि विषय न हों तो उन्हें जानने वाला ज्ञान भी नहीं हो सकता। क्या कभी प्रकाश करने योग्य पदार्थों के बिना भी कहीं कोई प्रकाशक प्रकाश करने वाला होता है अर्थात् नहीं होता। इस प्रकार यदि ज्ञान को मानते हो तो उसके विषयभूत पदार्थों को भी मानना चाहिए ॥७७॥

हम पूछते हैं कि आपके मत में एक विज्ञान से दूसरे विज्ञान का ग्रहण होता है अथवा नहीं यदि होता है तो आपके माने हुए विज्ञान में निरालम्बता का अभाव हुआ अर्थात् वह विज्ञान निरालम्ब नहीं रहा, उसने द्वितीय विज्ञान को जाना इसलिए उन दोनों में ग्राह्य-ग्राहक भाव सिद्ध हो गया जो कि विज्ञानाद्वैत का बाधक है। यदि यह कहो कि एक विज्ञान दूसरे विज्ञान को ग्रहण नहीं करता तो फिर आप उस द्वितीय विज्ञान को जो कि अन्य सन्तानरूप है, सिद्ध करने के लिए क्या हेतु देंगे कदाचित् अनुमान से उसे सिद्ध करोगे तो घट-पट आदि बाह्य पदार्थों की स्थिति भी अवश्य सिद्ध हो जायेगी क्योंकि जब साध्य-साधनरूप अनुमान मान लिया तब विज्ञानाद्वैत कहाँ रहा ? उसके अभाव में अनुमान के विषयभूत घट-पटादि पदार्थ भी अवश्य मानने पड़ेंगे ॥७८-७९॥

यदि यह संसार केवल विज्ञानमय ही है तो फिर समस्त वाक्य और ज्ञान मिथ्या हो जायेंगे, क्योंकि जब बाह्य घट-पटादि पदार्थ ही नहीं हैं तो ये वाक्य और ज्ञान सत्य हैं तथा ये असत्य यह सत्यासत्य व्यवस्था कैसे हो सकेगी ? ॥८१॥

जब आप साधन आदि का प्रयोग करते हैं तब साधन से भिन्न साध्य भी मानना पड़ेगा और वह साध्य घट-पट आदि बाह्य पदार्थ ही होगा। इस तरह विज्ञान से अतिरिक्त बाह्य पदार्थों का भी सद्भाव सिद्ध हो जाता है। इसलिए आपका यह विज्ञानाद्वैतवाद केवल बालकों की बोली के समान सुनने में ही मनोहर लगता है ॥८१॥

इस प्रकार विज्ञानवाद का खण्डन कर स्वयम्बुद्ध शून्यवाद का खण्डन करने के लिए तत्पर हुए। वे बोले कि-आपके शून्यवाद में भी, शून्यत्व को प्रतिपादन करनेवाले वचन और उनसे उत्पन्न होने वाला ज्ञान है, या नहीं ? इस प्रकार दो विकल्प उत्पन्न होते हैं ॥८२॥

यदि आप इन विकल्पों के उत्तर में यह कहें कि हाँ, शून्यत्व को प्रतिपादन करने वाले वचन और ज्ञान दोनों ही हैं; तब खेद के साथ कहना पड़ता है कि आप जीत लिये गये क्योंकि वाक्य और विज्ञान की तरह आपको सब पदार्थ मानने पड़ेंगे। यदि यह कहो कि हम वाक्य और विज्ञान को नहीं मानते तो फिर शून्यता की सिद्धि किस प्रकार होगी भावार्थ-यदि आप शून्यता प्रतिपादक वचन और विज्ञान को स्वीकार करते हैं तो वचन और विज्ञान के विषयभूत जीवादि समस्त पदार्थ भी स्वीकृत करने पड़ेंगे। इसलिए शून्यवाद नष्ट हो जायेगा और यदि वचन तथा विज्ञान को स्वीकृत नहीं करते हैं तब शून्यवाद का समर्थन व मनन किसके द्वारा करेंगे ॥८३॥

ऐसी अवस्था में आपका यह शून्यवाद का प्रतिपादन करना उन्मत्त पुरुष के रोने के समान व्यर्थ है। इसलिए यह सिद्ध हो जाता है कि जीव शरीरादि से पृथक् पदार्थ है तथा दया, संयम आदि लक्षण वाला धर्म भी अवश्य है ॥८४॥

तत्त्वज्ञ मनुष्य उन्हीं तत्त्वों को मानते हैं जो सर्वज्ञ देव के द्वारा कहे हुए हों। इसलिए विद्वानों को चाहिए कि वे आप्ताभास पुरुषों द्वारा कहे

हुए तत्त्वों को हेय समझें ॥८५॥

इस प्रकार स्वयम्बुद्ध मन्त्री के वचनों से वह सम्पूर्ण सभा आत्मा के सद्भाव के विषय में संशयरहित हो गयी अर्थात् सभी ने आत्मा का पृथक् अस्तित्व स्वीकार कर लिया और सभा के अधिपति राजा महाबल भी अतिशय प्रसन्न हुए ॥८६॥

वे परवादीरूपी वृक्ष भी स्वयम्बुद्ध मन्त्री के वचनरूपी वज्र के कठोर प्रहार से शीघ्र ही म्लान हो गये ॥८७॥

इसके अनन्तर जब सब सभा शान्तभाव से चुपचाप बैठ गयी तब स्वयम्बुद्ध मन्त्री दृष्ट श्रुत और अनुभूत पदार्थ से सम्बन्ध रखने वाली कथा कहने लगे ॥८८॥

हे महाराज, मैं एक कथा कहता हूँ उसे सुनिए । कुछ समय पहले आपके वंश में चूड़ामणि के समान एक अरविन्द नाम का विद्याधर हुआ था ॥८९॥

वह अपने पुण्योदय से अहंकारी शत्रुओं के भुजाओं का गर्व दूर करता हुआ इस उत्कृष्ट अलका नगरी का शासन करता था ॥९१॥

वह राजा विद्याधरों के योग्य अनेक उत्तमोत्तम भोगों का अनुभव करता रहता था । उसके दो पुत्र हुए, एक का नाम हरिचन्द्र और दूसरे का नाम कुरुविन्द था ॥९१॥

उस अरविन्द राजा ने बहुत आरम्भ को बढ़ाने वाले रौद्रध्यान के चिन्तन से तीव्र दुःख देने वाली नरकआयु का बन्ध कर लिया था ॥९२॥

जब उसके मरने के दिन निकट आये तब उसके दाहज्वर उत्पन्न हो गया जिससे दिनों-दिन शरीर का अत्यन्त दुःसह सन्ताप बढ़ने लगा ॥९३॥

वह राजा न तो लाल कमलों से सुवासित जल के द्वारा, न पंखों की शीतल हवा के द्वारा, न मणियों के हार के द्वारा और न चन्दन के लेप के द्वारा ही सुख-शान्ति को पा सका था ॥९४॥

उस समय पुण्य क्षय होने से उसकी समस्त विद्याएँ उसे छोड़कर चली गयी थीं इसलिए वह उस गजराज के समान अशक्त हो गया था जिसकी कि मदशक्ति सर्वथा क्षीण हो गयी हो ॥९५॥

जब वह दाहज्वर से समस्त शरीर में बेचैनी पैदा करने वाले सन्ताप को नहीं सह सका तब उसने एक दिन अपने हरिचन्द्र पुत्र को बुलाकर कहा ॥९६॥

हे पुत्र, मेरे शरीर में यह सन्ताप बढ़ता ही जाता है । देखो तो, लाल कमलों की जो मालाएँ सन्ताप दूर करने के लिए शरीर पर रखी गयी थीं वे कैसी मुरझा गयी हैं ॥९७॥

इसलिए हे पुत्र, तुम मुझे अपनी विद्या के द्वारा शीघ्र ही उत्तरकुरु देश में भेज दो और उत्तरकुरु में भी उन वनों में भेजना जो कि सीतोदा नदी के तट पर स्थित हैं तथा अत्यन्त शीतल हैं ॥९८॥

कल्पवृक्षों को हिलाने वाली तथा सीता नदी की तरंगों से उठी हुई वहाँ की शीतल वायु मेरे इस सन्ताप को अवश्य ही शान्त कर देगी ॥९९॥

पिता के ऐसे वचन सुनकर राजपुत्र हरिचन्द्र ने अपनी आकाशगामिनी विद्या भेजी परन्तु राजा अरविन्द का पुण्य क्षीण हो चुका था इसलिए वह विद्या भी उसका उपकार नहीं कर सकी अर्थात् उसे उत्तरकुरु देश नहीं भेज सकी ॥१०१॥

जब आकाशगामिनी विद्या भी अपने कार्य से विमुख हो गयी तब पुत्र ने समझ लिया कि पिता की बीमारी असाध्य है । इससे वह बहुत उदास हुआ और किंकर्तव्यविमूढ़-सा हो गया ॥१०१॥

अनन्तर किसी एक दिन दो छिपकली परस्पर में लड़ रही थीं । लड़ते-लड़ते एक की पूँछ टूट गयी, पूँछ से निकली हुई रक्त की कुछ बूँदें राजा अरविन्द के शरीर पर आकर पड़ी ॥१०२॥

उन खून की बूँदों से उसका शरीर ठण्डा हो गया-दाहज्वर की व्यथा शान्त हो गयी । पाप के उदय से वह बहुत ही सन्तुष्ट हुआ और विचारने लगा कि आज मैंने दैवयोग से बड़ी अच्छी औषधि पा ली है ॥१०३॥

उसने कुरुविन्द नाम के दूसरे पुत्र को बुलाकर कहा कि हे पुत्र, मेरे लिए खून से भरी हुई एक बावड़ी बनवा दो ॥१०४॥

राजा अरविन्द को विभंगावधि ज्ञान था इसलिए विचार कर फिर बोला-इसी समीपवर्ती वन में अनेक प्रकार के मृग रहते हैं उन्हीं से तू अपना काम कर अर्थात् उन्हें मारकर उनके खून से बावड़ी भर दे ॥१०५॥

वह कुरुविन्द पाप से डरता रहता था इसलिए पिता के ऐसे वचन सुनकर तथा कुछ विचारकर पापमय कार्य करने के लिए असमर्थ होता हुआ क्षण-भर चुपचाप खड़ा रहा ॥१०६॥

तत्पश्चात् वन में गया वहाँ किन्हीं अवधिज्ञानी मुनि से जब उसे मालूम हुआ कि हमारे पिता की मृत्यु अत्यन्त निकट है तथा उन्होंने नरकायु का बन्ध कर लिया है तब वह उस पापकर्म के करने से रुक गया ॥१०७॥

परन्तु पिता के वचन भी उल्लंघन करने योग्य नहीं हैं ऐसा मानकर उसने कृत्रिम रुधिर अर्थात् लाख के रंग से भरी हुई एक बावड़ी बनवायी ॥१०८॥

पापकार्य करने में अतिशय चतुर राजा अरविन्द ने जब बावड़ी तैयार होने का समाचार सुना तब वह बहुत ही हर्षित हुआ जैसे कोई दरिद्र पुरुष पहले कभी प्राप्त नहीं हुए निधान को देखकर हर्षित होता है ॥१०९॥

जिस प्रकार पापी नारकी जीव वैतरणी नदी को बहुत अच्छी मानता है उसी प्रकार वह पापी अरविन्द राजा भी लाख के लाल रंग से धोखा खाकर अर्थात् सचमुच का रुधिर समझकर उस बावड़ी को बहुत अच्छी मान रहा था ॥१११॥

जब वह उस बावड़ी के पास लाया गया तो आते ही उसके बीच में सो गया और इच्छानुसार क्रीड़ा करने लगा । परन्तु कुल्ला करते ही उसे मालूम हो गया कि यह कृत्रिम रुधिर है ॥१११॥

यह जानकर पापरूपी समुद्र को बढ़ाने के लिए चन्द्रमा के समान वह बुद्धिरहित राजा अरविन्द, मानो नरक की पूर्ण आयु प्राप्त करने की इच्छा से ही रुष्ट होकर पुत्र को मारने के लिए दौड़ा परन्तु बीच में इस तरह गिरा कि अपनी ही तलवार से उसका हृदय विदीर्ण हो गया तथा मर गया ॥११२-११३॥

वह कुमरण को पाकर पाप के योग से नरकगति को प्राप्त हुआ । हे राजन् ! यह कथा इस अलका नगरी में लोगों को आज तक याद है ॥ ११४॥

जिस प्रकार दाँत टूट जाने से न हाथी अपना मुँह नीचा कर लेता है अथवा जिस प्रकार फण का मणि उखाड़ लेने से सर्प तेज रहित हो जाता है अथवा सूर्य अस्त हो जाने से जिस प्रकार कमल मुरझा जाता है उसी प्रकार पिता की मृत्यु से कुरुविन्द ने अपना मुँह नीचा कर लिया, उसका सब तेज जाता रहा तथा सारा शरीर मुरझा गया-शिथिल हो गया । इस प्रकार वह शोचनीय अवस्था को प्राप्त हुआ था ॥ ११५-११६॥

हे राजन् अब दूसरी कथा सुनिए-समुद्र के समान विस्तीर्ण आपके इस वंश में एक दण्ड नाम का विद्याधर हो गया है । वह बड़ा प्रतापी था । उसने अपने समस्त शत्रुओं को दण्डित किया था ॥११७॥

जिस प्रकार समुद्र से मणि उत्पन्न होता है उसी प्रकार उस दण्ड विद्याधर से भी मणिमाली नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ । जब वह बड़ा हुआ तब राजा दण्ड ने उसे युवराज पद पर नियुक्त कर दिया और आप इच्छानुसार भोग भोगने लगा ॥११८॥

वह विषयों में इतना अधिक उलूक हो रहा था कि चिरकाल तक भोगों को भोगकर भी तृप्त नहीं होता था बल्कि स्त्री, वस्त्र तथा आभूषण आदि में पहले की अपेक्षा अधिक आसक्त होता जाता था ॥११९॥

अत्यन्त विषयासक्ति के कारण मायाचारी चेष्टाओं को करनेवाले उस आर्तध्यानी राजा ने तीव्र संक्लेश भावों से तिर्यक् आयु का बन्ध किया ॥१२१॥

चूँकि मरते समय उसका आर्तध्यान नाम का कुध्यान पूर्णता को प्राप्त हो रहा था, इसलिए कुमरण से मरकर वह मोह के उदय से अपने भण्डार में बड़ा भारी अजगर हुआ ॥१२१॥

उसे जातिस्मरण भी हो गया था इसलिए वह भण्डारी की तरह भण्डार में केवल अपने पुत्र को ही प्रवेश करने देता था अन्य को नहीं ॥ १२२॥

एक दिन अतिशय बुद्धिमान् राजा मणिमाली किन्हीं अवधिज्ञानी मुनिराज से पिता के अजगर होने आदि का समस्त वृत्तान्त मालूम कर पितृभक्ति से उनका मोह दूर करने के लिए भण्डार में गया और धीरे से अजगर के आगे खड़ा होकर स्नेहयुक्त वचन कहने लगा ॥

१२३-१२४॥

हे पिता, तुमने धन, ऋद्धि आदि में अत्यन्त ममत्व और विषयों में अत्यन्त आसक्ति की थी इसी दोष से तुम इस समय इस कुयोनि में

सर्पपर्याय में आकर पड़े हो ॥१२५॥

यह विषयरूपी आमिष अत्यन्त कटुक है, दुर्जर है और किंपाक (विषफल) फल के समान है इसलिए धिक्कार के योग्य है । हे पिताजी, इस विषयरूपी आमिष को अब भी छोड़ दो ॥१२६॥

हे तात, जिस प्रकार रथ का पहिया निरन्तर संसार-परिभ्रमण करता रहता है-चलता रहता है उसी प्रकार यह विषय भी निरन्तर संसार-परिभ्रमण करता रहता है-स्थिर नहीं रहता अथवा संसार चतुर्गतिरूप संसार का वन्य करता रहता है । यद्यपि यह कण्ठस्थ प्राणों के समान कठिनाई से छोड़े जाते हैं परन्तु त्याज्य अवश्य हैं ॥१२७॥

ये विषय शिकारी के गाने के समान हैं जो पहले मनुष्यरूपी हरिणों को ठगने के लिए विश्वास दिलाते हैं और बाद में भयंकर हो प्राणों का हरण किया करते हैं ॥१२८॥

जिस प्रकार ताम्बूल चूना, खैर और सुपारी का संयोग पाकर राग-लालिमा को बढ़ाते हैं उसी प्रकार ये विषय भी स्त्री-पुत्रादि का संयोग पाकर रागस्नेह को बढ़ाते हैं और बढ़ते हुए अन्धकार के समान समीचीन भाग को रोक देते हैं ॥१२९॥

जिस प्रकार जैनमत मतान्तरों का खण्डन कर देता है उसी प्रकार ये विषय भी पिता, गुरु आदि के हितोपदेशरूपी मतों का खण्डन कर देते हैं । ये बिजली की चमक के समान चञ्चल हैं और इंद्रधनुष के समान विचित्र हैं ॥१३१॥

अधिक कहने से क्या लाभ ? देखो, विषयों से उत्पन्न हुआ यह विषयसुख इस जीव को संसाररूपी अटवी में घुमाता है ॥१३१॥

जो इस विषय रस की आसक्ति से विमुख रहकर अपने आत्मा को अपने आपमें स्थिर रखते हैं ऐसे मुनियों के समूह को नमस्कार हो । वृक्ष का राजा मणिमाली ने विषयों की निन्दा की ॥१३२॥ तदनन्तर अपने पुत्र के धर्मवाक्यरूपी सूर्य के द्वारा उस अजगर का सम्पूर्ण मोहरूपी गाढ़ अन्धकार नष्ट हो गया ॥१३३॥

उस अजगर को अपने पिछले जीवन पर भारी पश्चात्ताप हुआ और उसने धर्मरूपी औषधि ग्रहण कर महाविष के समान भयंकर विषयासक्ति छोड़ दी ॥१३४॥

उसने संसार से भयभीत होकर आहार-पानी छोड़ दिया, शरीर से भी ममत्व त्याग दिया और उसके प्रभाव से वह आयु के अन्त में शरीर त्याग कर बड़ी ऋद्धि का धारक देव हुआ ॥१३५॥

उस देव ने अवधिज्ञान के द्वारा अपने पूर्व भव जान मणिमाली के पास आकर उसका सत्कार किया तथा उसे प्रकाशमान मणियों से शोभायमान एक मणियों का हार दिया ॥१३६॥

रत्नों की किरणों से शोभायमान तथा लक्ष्मी के हार के समान निर्मल वह हार आज भी आपके कण्ठ में दिखायी दे रहा है ॥१३७॥

हे राजन्, इसके सिवाय एक और भी वृत्तान्त मैं ज्यों का त्यों कहता हूँ । उस वृत्तान्त के देखने वाले कितने ही वृद्ध विद्याधर आज भी विद्यमान हैं ॥१३८॥

शतबल नाम के आपके दादा हो गये हैं जो अपने मनोहर गुणों के द्वारा प्रजा को हमेशा सुयोग्य राजा से युक्त करते थे ॥१३९॥

उन भाग्यशाली शतबल ने चिरकाल तक राज्य भोग कर आपके पिता के लिए राज्य का भार सौंप दिया था और स्वयं भोगों से निःस्पृह हो गये थे ॥१४१॥

उन्होंने सम्यग्दर्शन से पवित्र होकर श्रावक के व्रत ग्रहण किये थे और विशुद्ध परिणामों से देवायु का बन्ध किया था ॥१४१॥

उनने उपवास अवमौदर्य आदि सत्प्रवृत्ति को धारण कर आयु के अन्त में यथायोग्य रीति से समाधिमरण पूर्वक शरीर छोड़ा ॥१४२॥

जिससे महेन्द्रस्वर्ग में बड़ी-बड़ी ऋद्धियों के धारक श्रेष्ठ देव हुए । वहाँ वे अणिमा, महिमा आदि गुणों से सहित थे तथा सात सागर प्रमाण उनकी स्थिति थी ॥१४३॥

किसी एक दिन आप सुमेरु पर्वत के नन्दनवन में क्रीड़ा करने के लिए मेरे साथ गये हुए थे वहीं पर वह देव भी आया था । आपको देखकर बड़े स्नेह के साथ उसने उपदेश दिया था कि हे कुमार, यह जैनधर्म ही उत्तम धर्म है यही स्वर्ग आदि अभ्युदयों की प्राप्ति का साधन है इसे तुम कभी नहीं भूलना ॥१४४-१४५॥

यह कथा कहकर स्वयंबुद्ध कहने लगा कि- हे राजन् आपके पिता के दादा का नाम सहस्रबल था । अनेक विद्याधर राजा उन्हें नमस्कार करते थे और अपने मस्तक पर उनकी आज्ञा धारण करते थे ॥१४६॥

उन्होंने भी अपने पुत्र शतबल महाराज को राज्य देकर मोक्ष प्राप्त करने वाली उत्कृष्ट जिनदीक्षा ग्रहण की थी ॥१४७॥

वे तपस्वरूपी किरणों के द्वारा समस्त पृथिवी को प्रकाशित करते और मिथ्यात्वरूपी अन्धकार की घटा को विघटित करते हुए सूर्य के समान विहार करते रहे ॥१४८॥

फिर क्रम से केवलज्ञान प्राप्त कर मनुष्य, देव और धरणेन्द्रों के द्वारा पूजित हो अनन्त अपार और नित्य मोक्ष पद को प्राप्त हुए ॥१४९॥

हे आयुष्मन् इसी प्रकार इन्द्रियों को वश में करने वाले आपके पिता भी आपके लिए राज्यभार सौंप कर वैराग्यभाव से उत्कृष्ट जिनदीक्षा को प्राप्त हुए हैं और पुत्र, पौत्र तथा अनेक विद्याधर राजाओं के साथ तपस्या करते हुए मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त करना चाहते हैं ॥१५०-१५१॥

हे राजन् मैंने धर्म और अधर्म के फल का दृष्टान्त देने के लिए ही आपके वंश में उत्पन्न हुए उन विद्याधर राजाओं का वर्णन किया है जिनके कि कथारूपी दुन्दुभि अत्यन्त प्रसिद्ध हैं ॥१५२॥

आप ऊपर कहे हुए चारों दृष्टान्तों को चारों ध्यानों का फल समझिए क्योंकि राजा अरविन्द रौद्रध्यान के कारण नरक गया । दण्ड नाम का राजा आर्तध्यान से भण्डार में अजगर हुआ राजा शतबल धर्मध्यान के प्रताप से देव हुआ और राजा सहस्रबल ने शुक्लध्यान के माहात्म्य से मोक्ष प्राप्त किया । इन चारों ध्यानों में से पहले के दो-आर्त और रौद्रध्यान अशुभ ध्यान है जो कुगति के कारण हैं और आगे के दो-धर्म तथा शुक्लध्यान शुद्ध हैं, वे स्वर्ग और मोक्ष के कारण हैं ॥१५३॥

इसलिए हे बुद्धिमान् महाराज, धर्मसेवन करने वाले पुरुषों को न तो स्वर्गादिक के भोग दुर्लभ हैं और न मोक्ष ही । यह बात आप प्रत्यक्ष प्रमाण तथा सर्वज्ञ वीतराग के उपदेश से निश्चित कर सकते हैं ॥१५४॥

हे राजन् यदि आप निर्दोष फल चाहते हैं तो आपको भी जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहे हुए प्रसिद्ध महिमा से युक्त इस जैन धर्म की उपासना करनी चाहिए ॥१५५॥

इस प्रकार स्वयम्बुद्ध मन्त्री के कहे हुए उदार और गम्भीर वचन सुनकर वह सम्पूर्ण सभा बड़ी प्रसन्न हुई तथा परम आस्तिक्य भाव को प्राप्त हुई ॥१५६॥

स्वयम्बुद्ध के वचनों से समस्त सभासदों को यह विश्वास हो गया कि यह जिनेन्द्रप्रणीत धर्म ही वास्तविक तत्त्व है अन्य मत-मतान्तर नहीं ॥ १५७॥

तत्पश्चात् समस्त सभासद् उसकी इस प्रकार स्तुति करने लगे कि यह स्वयम्बुद्ध सम्यग्दृष्टि है, ब्रती है, गुण और शील से सुशोभित है, मन, वचन, काय का सरल है, गुरुभक्त है, शास्त्रों का वेत्ता है, अतिशय बुद्धिमान् है, उत्कृष्ट श्रावकों के योग्य उत्तम गुणों से प्रशंसनीय है और महात्मा है ॥१५८-१५९॥

विद्याधरों के अधिपति महाराज महाबल ने भी महाबुद्धिमान् स्वयम्बुद्ध की प्रशंसा कर उसके कहे हुए वचनों को स्वीकार किया तथा प्रसन्न होकर उसका अतिशय सत्कार किया ॥१६१॥

इसके बाद किसी एक दिन स्वयम्बुद्ध मन्त्री अकृत्रिम चैत्यालय में विराजमान जिन-प्रतिमाओं की भक्तिपूर्वक वन्दना करने की इच्छा से मेरुपर्वत पर गया ॥१६१॥

वह पर्वत जिनेन्द्र भगवान् के समवसरण के समान शोभायमान हो रहा है क्योंकि जिस प्रकार समवसरण (अशोक, सप्तच्छद, आम्र और चम्पक) चार वनों से सुशोभित होता है उसी प्रकार वह पर्वत भी चार (भद्रशाल, नन्दन, सौमनस और पाण्डुक) वनों से सुशोभित है । वह अनादि निधन है तथा प्रमाण से (एक लाख योजन) सहित है इसलिए श्रुतस्कन्ध के समान है क्योंकि आर्यदृष्टि से श्रुतस्कन्ध भी अनादिनिधन है और प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणों से सहित है । अथवा वह पर्वत किसी उत्तम महाराज के समान है क्योंकि जिस प्रकार महाराज अनेक महीभूतों (राजाओं) का अधीश होता है उसी प्रकार वह पर्वत भी अनेक महीभूतों (पर्वतों) का अधीश है । महाराज जिस प्रकार सुवृत्त (सदाचारी) और सदास्थिति (समीचीन सभा से युक्त) होता है उसी प्रकार वह पर्वत भी सुवृत्त (गोलाकार) और सदास्थिति (सदा विद्यमान) रहता है । तथा महाराज जिस प्रकार प्रवृद्धकटक बड़ी सेना का नायक होता है उसी प्रकार वह पर्वत भी प्रवृद्धकटक (ऊँचे शिखर वाला) है । अथवा वह पर्वत आदि पुरुष श्री वृषभदेव के समान जान पड़ता है क्योंकि सुधार वृषभदेव जिस प्रकार सर्वलोकोत्तर हैं-लोक में सबसे श्रेष्ठ हैं उसी प्रकार वह पर्वत भी सर्वलोकोत्तर है-सब देशों से उत्तर दिशा में विद्यमान है । भगवान् जिस प्रकार सब मध्य को (सब राजाओं में) ज्येष्ठ थे उसी प्रकार वह पर्वत भी सब भूभूतों (पर्वतों) में ज्येष्ठ-उत्कृष्ट है । भगवान् जिस प्रकार महान् थे उसी प्रकार

वह पर्वत भी महान् है और भगवान् जिस प्रकार सुवर्ण वर्ण के थे उसी प्रकार वह पर्वत भी सुवर्ण वर्ण का है । अथवा वह मेरु पर्वत इन्द्र के समान सुशोभित है क्योंकि इन्द्र जिस प्रकार वज्र (वज्रमयी शस्त्र) से सहित होता है उसी प्रकार वह पर्वत भी वज्र (हीरों) से सहित होता है । इन्द्र जिस प्रकार अप्सरःसंश्रय (अप्सराओं का आश्रय) होता है उसी प्रकार वह पर्वत भी अप्सरःसंश्रय (जल से भरे हुए तालाबों का आधार) है । और इन्द्र का शरीर जैसे चारों ओर फैलती हुई ज्योति (तेज) से सुशोभित होता है उसी प्रकार उस पर्वत का शरीर भी चारों ओर फैले हुए ज्योतिषी देवों से सुशोभित है । सौधर्म स्वर्ग का इन्द्रक विमान इस पर्वत की चूलिका के अत्यन्त निकट है (बालमात्र के अन्तर से विद्यमान है) इसलिए ऐसा मालूम होता है मानो स्वर्गलोक को धारण करने के लिए एक ऊँचा खम्भा ही खड़ा हो । वह पर्वत अपनी कटनियों से जिन वन-पंक्तियों को धारण किये हुए है वे हमेशा फूलों से उज्ज्वल रहती हैं तथा ऐसी मालूम होती हैं मानो कल्पवृक्षों के साथ स्पर्धा करके ही सब ऋतुओं के फल फूल दे रही हों । वह पर्वत सुवर्णमय है ऊँचाई और अनेक रत्नों की कान्ति से सहित है इसलिए ऐसा जान पड़ता है मानो जिनेन्द्रदेव के अभिषेक के लिए देवों के द्वारा बनाया हुआ सुवर्णमय ऊँचा और रत्नखचित सिंहासन ही हो । उस पर्वत पर श्री जिनेन्द्रदेव का अभिषेक होता है तथा अनेक चैत्यालय विद्यमान हैं मानो इन्हीं दो कारणों से उत्पन्न हुए पुण्य के द्वारा वह बिना किसी रोक-टोक के स्वर्ग को प्राप्त हुआ है अर्थात् स्वर्ग तक ऊँचा चला गया है । अथवा वह पर्वत लवणसमुद्र के नीले जलरूपी सुन्दरवस्त्रों को धारण किये हुए जम्बूद्वीपरूपी महाराज के अच्छी तरह लगाये गये मुकुट के समान मालूम होता है । अथवा यह जगत् एक सरोवर के समान है क्योंकि यह सरोवर की भाँति ही कुलाचलरूपी बड़ी ऊँची लहरों से शोभायमान है, संगीत के लिए बजते हुए बाजों के शब्दरूपी पक्षियों के शब्दों से सुशोभित है, गङ्गा, सिन्धु आदि महानदियों के जलरूपी मृणाल से विभूषित है, नन्दनादि महावनरूपी कमलपत्रों से आच्छन्न है, सुर और असुरों के सभाभवनरूपी कमलों से शोभित है, तथा सुखरूप मकरन्द के प्रेमी जीवरूपी भ्रमरावली को धारण किये हुए है । ऐसे इस जगत् रूपी सरोवर के बीच में वह पीत वर्ण का सुवर्णमय मेरु पर्वत ऐसा जान पड़ता है मानो प्रलयकाल के पवन से बड़ा हुआ तथा एक जगह इकट्ठा हुआ कमलों की केशर का समूह हो । वास्तव में वह पर्वत, पर्वतों का राजा है क्योंकि राजा जिस प्रकार रत्नजड़ित कटकों (कड़ों) से युक्त होता है उसी प्रकार वह पर्वत भी रत्नजड़ित कटकों (शिखरों) से युक्त है और राजा जिस प्रकार मुकुट से शोभायमान होता है उसी प्रकार वह पर्वत भी चूलिकारूपी देदीप्यमान मुकुट से शोभायमान है । इस प्रकार वर्णन युक्त तथा जिनमन्दिरों से शोभायमान वह मेरु पर्वत स्वयम्बुद्ध मन्त्री ने देखा ॥१६२-१७५॥

अद्भूत शोभायुक्त उस मेरु पर्वत को देखता हुआ वह मन्त्री अत्यन्त आनन्द को प्राप्त हुआ और बड़े आश्चर्य से उसके समीपवर्ती प्रदेशों का नीचे लिखे अनुसार निरूपण करने लगा ॥१७६॥

इस गिरिराज ने अपने शिखरों के अग्रभाग से समस्त आकाशरूपी आंगन को घेर लिया है जिससे ऐसा शोभायमान होता है मानो लोकनाड़ी की लम्बाई ही नाप रहा हो ॥१७७॥

मनोहर तथा घनी छाया वाले वृक्षों से शोभायमान इस पर्वत के शिखरों पर वे देव लोग अपनी-अपनी देवियों के साथ सदा निवास करते हैं ॥१७८॥

इस पर्वत के प्रत्यन्त पर्वत (समीपवर्ती छोटी-छोटी पर्वत श्रेणियाँ) यहाँ से लेकर निषध और नील पर्वत तक चले गये हैं सो ठीक ही है क्योंकि बड़ों की चरण सेवा करने वाला कौन पुरुष बड़प्पन को प्राप्त नहीं होता ॥१७९॥

इसके चरणों (प्रत्यन्त पर्वतों) के आश्रित रहने वाले ये गजदन्त पर्वत ऐसे जान पड़ते हैं मानो निषध और नील पर्वत ने भक्तिपूर्वक सेवा के लिए अपने हाथ ही फैलाये हों ॥१८१॥

ये सीता, सीतोदा नाम की महानदियों मानो भय से ही इसके पास नहीं आकर दो कोश की दूरी से समुद्र की ओर जा रही हैं ॥१८१॥

इस पर्वत के चारों ओर यह भद्रशाल वन है जो अपनी शोभा से देवकुरु तथा उत्तरकुरु की शोभा को तिरस्कृत कर रहा है और अपने वृक्षों के द्वारा इस पर्वत सम्बन्धी चारों ओर के भूमिभाग को सदा अलंकृत करता रहता है ॥१८२॥

इधर नन्दनवन, इधर सौमनस वन और इधर पाण्डुक वन शोभायमान है । ये तीनों ही वन सदा फूले हुए वृक्षों से अत्यन्त मनोहर हैं ॥१८३॥

इधर ये अर्धचन्द्राकार देवकुरु तथा उत्तरकुरु शोभायमान हो रहे हैं, इधर शोभावान् जम्बूवृक्ष है और इधर यह शालमली वृक्ष है ॥१८४॥

इस पर्वत के चारों वनों में ये जिनेन्द्रदेव के चैत्यालय शोभायमान हैं जो कि रत्नों की कान्ति से भासमान अपने शिखरों के द्वारा आकाशरूपी आंगन को प्रकाशित कर रहे हैं ॥१८५॥

यह पर्वत सदा पुण्यजनों (यक्षों) से व्याप्त रहता है । अनेक बाग-बगीचे तथा जिनालयों से सहित है तथा इसके समीप ही अनेक नदियाँ और विदेह क्षेत्र विद्यमान हैं इसलिए यह किसी नगर के समान मालूम हो रहा है । क्योंकि नगर भी सदा पुण्यजनों (धर्मात्मा लोगों) से व्याप्त रहता है, बाग-बगीचे और जिन-मन्दिरों से सहित होता है तथा उसके समीप अनेक नदियाँ और खेत विद्यमान रहते हैं ॥१८६॥
अथवा यह पर्वत संसारी जीवरूपी भ्रमरों से सहित तथा भरतादि क्षेत्ररूपी पत्रों से शोभायमान इस जम्बूद्वीपरूपी कमल की कर्णिका के समान भासित होता है ॥१८७॥

इस प्रकार उत्कृष्ट महिमा से युक्त यह सुमेरुपर्वत, जान पड़ता है कि आज भी तीनों लोकों की लम्बाई का उल्लंघन कर रहा है ॥१८८॥
इस तरह दूर से ही वर्णन करता हुआ स्वयम्बुद्ध मन्त्री उस मेरु पर्वत पर ऐसा जा पहुँचा मानो जिनमन्दिरों ने अपने ध्वजारूपी हाथों से उसे आदरसहित बुलाया ही हो ॥१८९॥

वहाँ अनादिनिधन, हमेशा प्रकाशित रहने वाले और देवों से पूजित अकृत्रिम चैत्यालयों को पाकर वह स्वयंबुद्ध मन्त्री परम आनन्द को प्राप्त हुआ ॥१९१॥

उसने पहले प्रदक्षिणा दी । फिर भक्तिपूर्वक बार-बार नमस्कार किया और फिर पूजा की । इस प्रकार यथाक्रम से भद्रशाल आदि वनों की समस्त अकृत्रिम प्रतिमाओं की वन्दना की ॥१९१॥

वन्दना के बाद उसने सौमनसवन के पूर्व दिशा सम्बन्धी चैत्यालय में पूजा की तथा भक्तिपूर्वक प्रणाम करके क्षण-भर के लिए वह वहीं बैठ गया ॥१९२॥

इतने में ही उसने पूर्व विदेह क्षेत्र सम्बन्धी महाकच्छ देश के अरिष्ट नामक नगर से आये हुए, आकाश में चलने वाले आदित्यगति और अरिंजय नाम के दो मुनि अकस्मात् देखे । वे दोनों ही मुनि युगन्धर स्वामी के समवसरणरूपी सरोवर के मुख्य हंस थे ॥१९३-१९४॥
अतिशय बुद्धिमान् स्वयम्बुद्ध मन्त्री ने सम्मुख जाकर उनकी पूजा की, बार-बार प्रणाम किया और जब वे सुखपूर्वक बैठ गये तब उनसे नीचे लिखे अनुसार अपने मनोरथ पूछे ॥१९५॥

हे भगवन् आप जगत् को जानने के लिए अवधिज्ञानरूपी प्रकाश धारण करते हैं इसलिए आप से मैं कुछ मनोगत बात पूछता हूँ, कृपा कर उसे कहिए ॥१९६॥

हे स्वामिन् इस लोक में अत्यन्त प्रसिद्ध विद्याधरों का अधिपति राजा महाबल हमारा स्वामी है वह भव्य है अथवा अभव्य ? इस विषय में मुझे संशय है ॥१९७॥

जिनेन्द्रदेव के कहे हुए सन्मार्ग का स्वरूप दिखाने वाले हमारे वचनों को जैसे वह प्रमाणभूत मानता है वैसे श्रद्धान भी करेगा या नहीं यह बात मैं आप दोनों के अनुग्रह से जानना चाहता हूँ ॥१९८॥

इस प्रकार प्रश्न कर जब स्वयम्बुद्ध मन्त्री चुप हो गया तब उनमें से आदित्यगति नाम के अवधिज्ञानी मुनि कहने लगे ॥१९५॥

हे भव्य, तुम्हारा स्वामी भव्य ही है, वह तुम्हारे वचनों पर विश्वास करेगा और दसवें भव में तीर्थकर पद भी प्राप्त करेगा ॥२०१॥

वह इसी जम्बूद्वीप के भरत नामक क्षेत्र में आने वाले युग के प्रारम्भ में ऐश्वर्यवान् प्रथम-तीर्थकर होगा ॥२०१॥

अब मैं संक्षेप से इसके उस वैभव का वर्णन करता हूँ जहाँ कि इसने भोगों की इच्छा के साथ-साथ धर्म का बीज बोया था । राजन् तुम सुनो ॥२०२॥

इसी जम्बूद्वीप में मेरुपर्वत से पश्चिम की ओर विदेह क्षेत्र में एक गन्धिला-नाम का देश है उसमें सिंहपुर नाम का नगर है जो कि इन्द्र के नगर के समान सुन्दर है । उस नगर में एक श्रीषेण नाम का राजा हो गया है । वह राजा चन्द्रमा के समान सबको प्रिय था । उसकी एक अत्यन्त सुन्दर सुन्दरी नाम की स्त्री थी ॥२०३-२०४॥

उन दोनों के पहले जयवर्मा नाम का पुत्र हुआ और उसके बाद उसका छोटा भाई श्रीवर्मा हुआ । वह श्रीवर्मा सब लोगों को अतिशय प्रिय था ॥२०५॥

वह छोटा पुत्र माता-पिता के लिए भी स्वभाव से ही प्यारा था सो ठीक ही है सन्तानपना समान रहने पर भी किसी पर अधिक प्रेम होता ही है ॥२०६॥

पिता श्रीषेण ने मनुष्यों का अनुराग तथा उत्साह देखकर छोटे पुत्र श्रीवर्मा के मस्तक पर ही राज्यपट्ट बाँधा और इसके बड़े भाई जयवर्मा

की उपेक्षा कर दी ॥२०७॥

पिता की इस उपेक्षा से जयवर्मा को बड़ा वैराग्य हुआ जिससे वह अपने पापों की निन्दा करता हुआ स्वयंप्रभुगुरु से दीक्षा लेकर तपस्या करने लगा ॥२०८॥

जयवर्मा अभी नवदीक्षित ही था-उसे दीक्षा लिये बहुत समय नहीं हुआ था कि उसने विभूति के साथ आकाश में जाते हुए महीधर नाम के विद्याधर को आँख उठाकर देखा । उस विद्याधर को देखकर जयवर्मा ने निदान किया कि मुझे आगामी भव में बड़े-बड़े विद्याधरों के भोग प्राप्त हों । वह ऐसा विचार ही रहा था कि इतने में एक भयंकर सर्प ने बामी से निकलकर उसे डस लिया । वह भोगों की इच्छा करते हुए ही मरा था इसलिए यहाँ महाबल हुआ है और कभी तृप्त न करने वाले विद्याधरों के उचित भोगों को भोग रहा है । पूर्वभव के संस्कार से ही वह चिरकाल तक भोगों में अनुरक्त रहा है किन्तु आपके वचन सुनकर शीघ्र ही इनसे विरक्त होगा ॥२०९-२१२॥

आज रात को उसने स्वप्न में देखा है कि तुम्हारे सिवाय अन्य तीन दुष्ट मन्त्रियों ने उसे बलात्कार किसी भारी कीचड़ में फँसा दिया है और तुमने उन दुष्टों मन्त्रियों की भर्त्सना कर उसे कीचड़ से निकाला है और सिंहासन पर बैठाकर उसका अभिषेक किया है ॥२१३-२१४॥

इसके सिवाय दूसरे स्वप्न में देखा है कि अग्नि की एक प्रदीप्त ज्वाला बिजली के समान चंचल और प्रतिक्षण क्षीण होती जा रही है । उसने ये दोनों स्वप्न आज ही रात्रि के अन्तिम समय में देखे हैं ॥२१५॥

अत्यन्त स्पष्ट रूप से दोनों स्वप्नों को देख वह तुम्हारी प्रतीक्षा करता हुआ ही बैठा है इसलिए तुम शीघ्र ही जाकर उसे समझाओ ॥२१६॥ वह पूछने के पहले ही आप से इन दोनों स्वप्नों को सुनकर अत्यन्त विस्मित होगा और प्रसन्न होकर निःसन्देह आपके समस्त वचनों को स्वीकृत करेगा ॥२१७॥

जिस प्रकार प्यासा चातक मेघ में पड़े हुए जल में, और जन्मान्ध पुरुष तिमिर रोग दूर करने वाली श्रेष्ठ औषधि में अतिशय प्रेम करता है उसी प्रकार मुक्तिरूपी सी की दूत के समान काललब्धि के द्वारा प्रेरित हुआ महाबल आप से प्रबोध पाकर समीचीन धर्म में अतिशय प्रेम करेगा ॥२१८-२१९॥

राजा महाबल ने जो पहला स्वप्न देखा है उसे तुम उसके आगामी भव में प्राप्त होने वाली विभूति का सूचक समझों और द्वितीय स्वप्न को उसकी आयु के अतिशय हास को सूचित करने वाला जानो ॥२२१॥

यह निश्चित है कि अब उसकी आयु एक माह की ही शेष रह गयी है इसलिए हे भद्र, इसके कल्याण के लिए शीघ्र ही प्रयत्न करो, प्रमादी न होओ ॥२२१॥

यह कहकर और स्वयंबुद्ध मन्त्री को आशीर्वाद देकर गगनगामी आदित्यगति नाम के मुनिराज अपने साथी अरिंजय के साथ-साथ अन्तर्हित हो गये ॥२२२॥

मुनिराज के वचन सुनने से कुछ व्याकुल हुआ स्वयंबुद्ध भी महाबल के समझाने के लिए शीघ्र ही वहाँ से लौट आया ॥२२३॥

और तत्काल ही महाबल के पास जाकर उसे प्रतीक्षा में बैठा हुआ देख प्रारम्भ से लेकर स्वप्नों के फल पर्यन्त विषय को सूचित करने वाले ऋषिराज के समस्त वचन सुनाने लगा ॥२२४॥

तदनन्तर उसने यह उपदेश भी दिया कि हे बुद्धिमन्, जिनेन्द्र भगवान् का कहा हुआ यह धर्म ही समस्त दुःखों की परम्परा का नाश करने वाला है इसलिए उसी में बुद्धि लगाइए, उसी का पालन कीजिए ॥२२५॥

बुद्धिमान् महाबल ने स्वयंबुद्ध से अपनी आयु का क्षय जानकर विधिपूर्वक शरीर छोड़ने-समाधिमरण धारण करने में अपना चित्त लगाया ॥ २२६॥

अतिशय समृद्धिशाली राजा अपने घर के बगीचे के जिनमन्दिर में भक्तिपूर्वक आष्टाह्निक महायज्ञ करके वहीं दिन व्यतीत करने लगा ॥ २२७॥

वह अपना वैभवशाली राज्य अतिबल नामक पुत्र को सौंपकर तथा मन्त्री आदि समस्त लोगों से पूछकर परम स्वतन्त्रता को प्राप्त हो गया ॥२२८॥

तत्पश्चात् वह शीघ्र ही परमपूज्य सिद्धकूट चैत्यालय पहुँचा । वहाँ उसने सिद्ध प्रतिमाओं की पूजा कर निर्भय हो संन्यास धारण किया ॥ २२९॥

बुद्धिमान् महाबल ने गुरु की साक्षीपूर्वक जीवनपर्यन्त के लिए आहार पानी तथा शरीर से ममत्व छोड़ने की प्रतिज्ञा की और वीरशय्या आसन धारण की ॥२३१॥

वह महाबल आराधनारूपी नाव पर आरूढ़ होकर संसाररूपी सागर को तैरना चाहता था इसलिए उसने स्वयंबुद्ध मन्त्री को निर्यापकाचार्य (सल्लेखना की विधि कराने वाले आचार्य, पक्ष में-नाव चलाने वाला खेवटिया) बनाकर उसका बहुत ही सम्मान किया ॥२३१॥

वह शत्रु, मित्र आदि में समता धारण करने लगा, सब जीवों के साथ मैत्रीभाव का विचार करने लगा, हमेशा अनुत्सुक रहने लगा और बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग कर परिग्रहत्यागी मुनि के समान मालूम होने लगा ॥२३२॥

वह धीर-वीर महाबल शरीर तथा आहार त्याग करने का व्रत धारण कर आराधनाओं की परम विशुद्धि को प्राप्त हुआ था, उस समय उसका चित्त भी अत्यन्त स्थिर था ॥२३३॥

उस धीर-वीर ने प्रायोपगमन नाम का संन्यास धारण कर शरीर से बिलकुल ही स्नेह छोड़ दिया था इसलिए वह शरीर रक्षा के लिए न तो स्वकृत उपकारों की इच्छा रखता था और न परकृत उपकारों की ॥२३४॥

भावार्थ-संन्यास मरण के तीन भेद हैं-१. भक्त प्रत्याख्यान, २. इंगिनीमरण और ३. प्रायोपगमन । (१) भक्तप्रतिज्ञा अर्थात् भोजन की प्रतिज्ञा कर जो संन्यासमरण हो उसे भक्तप्रतिज्ञा कहते हैं, इसका काल अन्तर्मुहूर्त से लेकर बारह वर्ष तक का है । (२) अपने शरीर की सेवा स्वयं करे, किसी दूसरे से रोगादि का उपचार न करावे । ऐसे विधान से जो संन्यास धारण किया जाता है उसे इंगिनीमरण कहते हैं । (३) और जिसमें स्वकृत और परकृत दोनों प्रकार के उपचार न हों उसे प्रायोपगमन कहते हैं । राजा महाबल ने प्रायोपगमन नाम का तीसरा संन्यास धारण किया था ॥२३४॥

कठिन तपस्या करने वाले महाबल महाराज का शरीर तो कृश हो गया था परन्तु पञ्चपरमेष्ठियों का स्मरण करते रहने से परिणामों की विशुद्धि बढ़ गयी थी ॥२३५॥

निरन्तर उपवास करने वाले उन महाबल के शरीर में शिथिलता अवश्य आ गयी थी परन्तु ग्रहण की हुई प्रतिज्ञा में रंचमात्र भी शिथिलता नहीं आयी थी, सो ठीक है क्योंकि प्रतिज्ञा में शिथिलता नहीं करना ही महापुरुषों का व्रत है ॥२३६॥

शरीर के रक्त, मांस आदि रसों का क्षय हो जाने से वह महाबल शर्दु ऋतु के मेघों के समान अत्यन्त दुर्बल हो गया था । अथवा यों समझिए कि उस समय वह राजा देवों के समान रक्त, मांस आदि से रहित शरीर को धारणकर रहा था ॥२३७॥

राजा महाबल ने मरण का प्रारम्भ करने वाले व्रत धारण किये हैं, यह देखकर उसके दोनों नेत्र मानो शोक से ही कहीं जा छिपे थे और पहले के हाव-भाव आदि विलासों से विरत हो गये थे ॥२३८॥

यद्यपि उसके दोनों गालों के रक्त, मांस तथा चमड़ा आदि सब सूख गये थे तथापि उन्होंने अपनी अविनाशिनी कान्ति के द्वारा पहले की शोभा नहीं छोड़ी थी, वे उस समय भी पहले की ही भाँति सुन्दर थे ॥२३९॥

समाधि ग्रहण के पहले उसके जो कन्धे अत्यन्त स्थूल तथा बाजूबन्द की रगड़ से अत्यन्त कठोर थे उस समय वे भी कठोरता को छोड़कर अतिशय कोमलता को प्राप्त हो गये थे ॥२४१॥

उसका उदर कुछ भीतर की ओर झुक गया था और त्रिवली भी नष्ट हो गयी थी इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो हवा के न चलने से तरंगरहित सूखता हुआ तालाब ही हो ॥२४१॥

जिस प्रकार अग्नि में तपाया हुआ सुवर्ण पाषाण अत्यन्त शुद्धि को धारण करता हुआ अधिक प्रकाशमान होने लगता है उसी प्रकार वह महाबल भी तपरूपी अग्नि से तप्त हो अत्यन्त शुद्धि को धारण करता हुआ अधिक प्रकाशमान होने लगता था ॥२४२॥

राजा असह्य शरीर-सन्ताप को लीलामात्र में ही सहन कर लेता था तथा कभी किसी विपत्ति से पराजित नहीं होता था इसलिए उसके साथ युद्ध करते समय परीषह ही पराजय को प्राप्त हुए थे, परीषह उसे अपने कर्त्तव्य मार्ग से क्षत नहीं कर सके थे ॥२४३॥

यद्यपि उसके शरीर में मात्र चमड़ा और हड्डी ही शेष रह गयी थी तथापि उसने अपनी समाधि के बल से अनेक परीषहों को जीत लिया था इसलिए उस समय वह यथार्थ में महाबल सिंह हुआ था ॥२४४॥

उसने अपने मस्तक पर लोकोत्तम परमेष्ठी को तथा हृदय में अरहंत परमेष्ठी को विराजमान किया था और आचार्य, उपाध्याय तथा साधु इन तीन परमेष्ठियों के ध्यानरूपी टोप-कवच और अस्त्र धारण किये थे ॥२४५॥

ध्यान के द्वारा उसके दोनों नेत्र मात्र परमात्मा को ही देखते थे, कान परम मन्त्र (णमोकार मन्त्र) को ही सुनते थे और जिह्वा उसी का पाठ करती थी ॥२४६॥

वह राजा महाबल अपने मनरूपी गर्भगृह में निर्धूम दीपक के समान कर्ममल कलंक से रहित अर्हन्त परमेष्ठी को विराजमान कर ध्यानरूपी तेज के द्वारा मोह अथवा अज्ञानरूपी अन्धकार से रहित हो गया था ॥२४७॥

इस प्रकार महाराज महाबल निरन्तर बाईस दिन तक सल्लेखना की विधि करते रहे । जब आयु का अन्तिम समय आया तब उन्होंने अपना मन विशेष रूप से पञ्चपरमेष्ठियों में लगाया । उसने हस्त कमल जोड़कर ललाट पर स्थापित किये और मन-ही-मन निश्चल रूप से नमस्कार मन्त्र का जाप करते हुए, म्यान से तलवार के समान शरीर से जीव को पृथक् चिन्तन करते और अपने शुद्ध आत्मस्वरूप की भावना करते हुए, स्वयम्बुद्ध मन्त्रि के समक्ष सुखपूर्वक प्राण छोड़े ॥२४८-२५१॥

स्वयम्बुद्ध मन्त्री जिस प्रकार पहले अपनी मन्त्रशक्ति (विचारशक्ति) के द्वारा महाबल में बल (शक्ति अथवा सेना) सन्निहित करता रहता था, उसी प्रकार उस समय भी वह, मन्त्रशक्ति पञ्चनमस्कार मन्त्र के जाप के प्रभाव) के द्वारा उसमें आत्मबल सन्निहित करता रहा, उसका धैर्य नष्ट नहीं होने दिया ॥२५१॥

इस प्रकार निःस्वार्थ भाव से महाराज महाबल की धर्म सहायता करने वाले स्वयम्बुद्ध मन्त्री ने अन्त तक अपने मन्त्रीपने का कार्य किया ॥ २५२॥

तदनन्तर वह महाबल का जीव शरीररूपी भार छोड़ देने के कारण मानो हलका होकर विशाल सुख-सामग्री से भरे हुए ऐशानस्वर्ग को प्राप्त हुआ । वहाँ वह श्रीप्रभ नाम के अतिशय सुन्दर विमान में उपपाद शय्या पर बड़ी ऋद्धि का धारक ललिताङ्ग नाम का उत्तम देव हुआ ॥२५३-२५४॥

मेघरहित आकाश में श्वेत बादलोंसहित बिजली की तरह उपपाद शय्या पर शीघ्र ही उसका वैक्रियिक शरीर शोभायमान होने लगा ॥२५५॥ वह देव अन्तर्मुहूर्त में ही नवयौवन से पूर्ण तथा सम्पूर्ण लक्षणों से सम्पन्न होकर उपपाद शय्या पर ऐसा सुशोभित होने लगा मानो सब लक्षणों से सहित कोई तरुण पुरुष सोकर उठा हो ॥२५६॥

देदीप्यमान कुण्डल, केयूर, मुकुट और बाजूबन्द आदि आभूषण पहने हुए, माला से सहित और उत्तमवस्त्रों को धारण किये हुए ही वह अतिशय कान्तिमान् ललिताङ्ग नामक देव उत्पन्न हुआ ॥२५७॥

उस समय टिमकाररहित नेत्रों से सहित उसका रूप निश्चल बैठी हुई दो मछलियों सहित सरोवर के जल की तरह शोभायमान हो रहा था ॥ २५८॥

अथवा उसका शरीर कल्पवृक्ष की शोभा धारणकर रहा था क्योंकि उसकी दोनों भुजाएँ उज्ज्वल शाखाओं के समान थी, अतिशय शोभायमान हाथों की हथेलियाँ कोमल पल्लवों के समान थीं और नेत्र भ्रमरों के समान थे ॥२५९॥

अथवा ललिताङ्गदेव के रूप का और अधिक वर्णन करने से क्या लाभ है ? उसका वर्णन तो इतना ही पर्याप्त है कि वह योनि के बिना ही उत्पन्न हुआ था और अतिशय सुन्दर था ॥२६१॥

उस समय स्वयं कल्पवृक्षों के द्वारा ऊपर से छोड़ी हुई पुष्पों की वर्षा हो रही थी और दुन्दुभि का गम्भीर शब्द दिशाओं को व्याप्त करता हुआ निरन्तर बढ़ रहा था ॥२६१॥

जल की छोटी-छोटी बूँदों को बिखेरता और नन्दन वन के हिलते हुए कल्पवृक्षों से पुष्पपराग ग्रहण करता हुआ अतिशय सुहावना पवन धीरे-धीरे बह रहा था ॥२६२॥

तदनन्तर सब ओर से नमस्कार करते हुए करोड़ों देवों के शरीर की प्रभा से व्याप्त दिशाओं में दृष्टि घुमाकर ललिताङ्गदेव ने देखा कि यह परम ऐश्वर्य क्या है ? मैं कौन हूँ ? और ये सब कौन हैं जो मुझे दूर-दूर से आकर नमस्कार कर रहे हैं । ललिताङ्गदेव यह सब देखकर क्षणभर के लिए आश्चर्य से चकित हो गया ॥२६३-२६४॥

मैं यहाँ कहाँ आ गया कहाँ से आया आज मेरा मन प्रसन्न क्यों हो रहा है ? यह शय्यातल किसका है ? और यह मनोहर महान् आश्रम कौनसा है इस प्रकार चिन्तन कर ही रहा था कि उसे उसी क्षण अवधिज्ञान प्रकट हो गया । उस अवधिज्ञान के द्वारा ललिताङ्गदेव ने स्वयम्बुद्ध मन्त्री आदि के सब समाचार जान लिये ॥२६५-२६६॥

यह हमारे तप का मनोहर फल है, यह अतिशय कान्तिमान् स्वर्ग है, ये प्रणाम करते हुए तथा शरीर का प्रकाश सब ओर फैलाते हुए देव हैं, यह कल्पवृक्षों से घिरा हुआ शोभायमान विमान है ये मनोहर शब्द करती तथा रुनझुन शब्द करने वाले मणिमय नूपुर पहने हुई देवियाँ हैं, इधर यह अप्सराओं का समूह मन्द-मन्द हँसता हुआ नृत्य कर रहा है, इधर मनोहर और गम्भीर गान हो रहा है, और इधर यह मृदंग बज रहा है। इस प्रकार भवप्रत्यय अवधिज्ञान से पूर्वोक्त सभी बातों का निश्चय कर वह ललिताङ्गदेव अनेक रत्नों की किरणों से शोभायमान शय्या पर सुख से बैठा ही था कि नमस्कार करते हुए अनेक देव उसके पास आये। वे देव ऊँचे स्वर से कह रहे थे कि हे स्वामिन् आपकी जय हो। हे विजयशील, आप समृद्धिमान् हैं। हे नेत्रों को आनन्द देने वाले, महाकान्तिमान् आप सदा बढ़ते रहें-आपके बलविद्या, ऋद्धि आदि की सदा वृद्धि होती रहे ॥२६७-२७१॥

तत्पश्चात् अपने-अपने नियोग से प्रेरित हुए अनेक देव विनयसहित उसके पास आये और मस्तक झुकाकर इस प्रकार कहने लगे कि हे नाथ स्नान की सामग्री तैयार है इसलिए सबसे पहले मङ्गलमय स्नान कीजिए फिर पुण्य को बढ़ाने वाला जिनेन्द्रदेव की पूजा कीजिए। तदनन्तर आपके भाग्य से प्राप्त हुई तथा अपने-अपने गुटों (छोटी टुकड़ियों) के साथ जहाँ-तहाँ (सब ओर से) आने वाली देवों की सब सेना का अवलोकन कीजिए। इधर नाट्यशाला में आकर, लीलासहित भौंह नचाकर नृत्य करती हुई, दर्शनीय सुन्दर देव नर्तकियों को देखिए। हे देव, आज मनोहर वेषभूषा से युक्त देवियों का सम्मान कीजिए क्योंकि निश्चय से देवपर्याय की प्राप्ति का इतना ही तो फल है। इस प्रकार कार्यकुशल ललिताङ्गदेव ने उन देवों के कहे अनुसार सभी कार्य किये सो ठीक ही है क्योंकि अपने नियोगों का उल्लंघन नहीं करना ही महापुरुषों का श्रेष्ठ भूषण है ॥२७२-२७७॥

वह ललिताङ्गदेव तपाये हुए सुवर्ण के समान कान्तिमान था, सात हाथ ऊँचे शरीर का धारक था, साथ-साथ उत्पन्न हुए वस्त्र, आभूषण और माला आदि से विभूषित था, सुगन्धित स्वासोच्छ्वास से सहित था, अनेक लक्षणों से उज्ज्वल था और अणिमा, महिमा आदि गुणों से युक्त था। ऐसा वह ललिताङ्गदेव निरन्तर दिव्य भोगों का अनुभव करने लगा ॥२७८-२७९॥

वह एक हजार वर्ष बाद मानसिक आहार लेता था, एक पक्ष में स्वासोच्छ्वास लेता था तथा स्त्रीसंभोग शरीर द्वारा करता था ॥२८१॥ वह शरीर की कान्ति के समान कभी नहीं मुरझाने वाली उज्ज्वल माला तथा शरत्काल के समान निर्मल दिव्य अम्बर (वस्त्र, पक्ष में आकाश) धारण करता था ॥२८१॥

उस देव के चार हजार देवियाँ थीं तथा सुन्दर लावण्य और विलास-चेष्टाओं से सहित चार महादेवियाँ थीं ॥२८२॥

उन चारों महादेवियों में पहली स्वयंप्रभा, दूसरी कनकप्रभा, तीसरी कनकलता और चौथी विद्युल्लता थी ॥२८३॥

इन सुन्दर स्त्रियों के साथ पुण्य के उदय से प्राप्त होने वाले भोग को निरन्तर भोगते हुए इस ललिताङ्गदेव का बहुत काल बीत गया ॥२८४॥ उसके आयुरूपी समुद्र में अनेक देवियाँ अपनी-अपनी आयु की स्थिति पूर्ण हो जाने से चञ्चल तरङ्गों के समान विलीन हो चुकी थीं ॥ २८५॥ जब उसकी आयु पृथक्त्वपल्य के बराबर अवशिष्ट रह गयी तब उसके अपने पुण्य के उदय से एक स्वयंप्रभा नाम की प्रिय पत्नी प्राप्त हुई ॥२८६॥

वेष-भूषा से सुसज्जित तथा कान्तियुक्त शरीर को धारण करने वाली वह स्वयंप्रभा पति के समीप ऐसी सुशोभित होती थी मानो रूपवती स्वर्ग की लक्ष्मी ही हो ॥२८७॥

जिस प्रकार आम की नवीन मंजरी भ्रमर को अतिशय प्यारी होती है उसी प्रकार वह स्वयंप्रभा ललिताङ्गदेव को अतिशय प्यारी थी ॥२८८॥ वह देव स्वयंप्रभा का मुख देखकर तथा उसके शरीर का स्पर्श कर हस्तिनी में आसक्त रहने वाले हस्ती के समान चिरकाल तक क्रीड़ा करता रहता था ॥२८९॥

वह देव उस स्वयंप्रभा के साथ कभी मनोहर चन्द्रकान्त शिलाओं से युक्त तथा भ्रमर, कोयल आदि पक्षियों द्वारा वाचालित नन्दन आदि वनों से सहित मेरुपर्वत पर, कभी नील निषध आदि बड़े-बड़े पर्वतों पर, कभी विजयार्ध के शिखरों पर, कभी कुण्डलगिरि पर, कभी रुचकगिरि पर, कभी मानुषोत्तर पर्वत पर, कभी नन्दीश्वर महाद्वीप में, कभी अन्य अनेक द्वीपसमुद्रों में और कभी भोगभूमि आदि प्रदेशों में दिव्यसुख भोगता हुआ निवास करता था ॥२९०-२९२॥

इस प्रकार बड़ी-बड़ी ऋद्धियों का धारक और अद्भुत शोभा से युक्त वह ललिताङ्गदेव, अपने किये हुए पुण्य कर्म के उदय से, मन्द-मन्द मुसकान, हास्य और विलास आदि के द्वारा स्पष्ट चेष्टा करने वाली अनेक देवाङ्गनाओं के साथ कुछ अधिक एक सागर तक अपनी

इच्छानुसार उदार और उत्कृष्ट दिव्यभोग भोगता रहा ॥२९३॥

उस बुद्धिमान् ललिताङ्गदेव ने पूर्वभव में अत्यन्त तीव्र असह्य सन्ताप को देनेवाले तपश्चरणों के द्वारा अपने शरीर को निष्कलङ्क किया था इसलिए ही उसने इस भव में मनोहर कान्ति की धारक देवियों के साथ सुख भोगे अर्थात् सुख का कारण तपश्चरण वगैरह से उत्पन्न हुआ धर्म है अतः सुख चाहने वालों को हमेशा धर्म का ही उपार्जन करना चाहिए ॥२९४॥

हे आर्य पुरुषो, यदि अतिशय लक्ष्मी प्राप्त करना चाहते हो तो भोगों की तृष्णा छोड़कर तप में तृष्णा करो तथा निष्पाप श्री जिनेन्द्रदेव की पूजा करो और उन्हीं के वचनों का श्रद्धान करो, अन्य मिथ्यादृष्टि कुकवियों के कहे हुए मिथ्यामतों का अध्ययन मत करो ॥२९५॥

इस प्रकार जो प्रशंसनीय पुरुषार्थों का देने वाला है और करमरूपी कुटिल वन को नष्ट करने के लिए तीक्ष्ण कुठार के समान है ऐसे इस जैनधर्म की सेवा के लिए हे सुखाभिलाषी पण्डितजनो, सदा प्रयत्न करो और दुर्बुद्धि को नष्ट करने वाले जैनमत में आस्था-श्रद्धा करो ॥ २९६॥

इस प्रकार आर्ष नाम से प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्य विरचित त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रह में 'ललिताङ्ग स्वर्गभोग वर्णन' नाम का पञ्चम पर्व पूर्ण हुआ ॥५॥

पर्व-06 -- ललिताङ्गदेव स्वर्ग से च्युत

पर्व-06 -- ललिताङ्गदेव स्वर्ग से च्युत

कथा :

इसके अनन्तर किसी समय उस ललिताङ्गदेव के आभूषण सम्बन्धी निर्मलमणि अकस्मात् प्रातःकाल के दीपक के समान निस्तेज हो गये ॥ १॥

जन्म से ही उसके विशाल वक्षःस्थल पर पड़ी माला ऐसी म्लान हो गयी मानो उसके वियोग से भयभीत हो उसकी लक्ष्मी ही म्लान हो गयी हो ॥२॥

उसके विमानसम्बन्धी कल्पवृक्ष भी ऐसे काँपने लगे मानो उसके वियोगरूपी महावायु से कम्पित होकर भय को ही धारण कर रहे हों ॥३॥
उस समय उसके शरीर की कान्ति भी शीघ्र ही मन्द पड़ गयी थी सो ठीक ही है क्योंकि पुण्यरूपी छत्र का अभाव होने पर उसकी छाया कहां रह सकती है ? अर्थात् कहीं नहीं ॥४॥

उस समय कान्ति से रहित तथा निष्प्रभता को प्राप्त हुए ललिताङ्गदेव को देखकर ऐशानस्वर्ग में उत्पन्न हुए देव शोक के कारण उसे पुनः देखने के लिए समर्थ न हो सके ॥५॥

ललिताङ्गदेव की दीनता देखकर उसके सेवक लोग भी दीनता को प्राप्त हो गये सो ठीक है वृक्ष के चलने पर उसकी शाखा उपशाखा आदि क्या विशेष रूप से नहीं चलने लगते ? अर्थात् अवश्य चलने लगते हैं ॥६॥

उस समय ऐसा मालूम होता था कि इस देव ने जन्म से लेकर आज तक जो देवों सम्बन्धी सुख भोगे हैं वे सबके सब दुःख बनकर ही आये हों ॥७॥

जिस प्रकार शीघ्र गति वाला परमाणु एक ही समय में लोक के अन्त तक पहुँच जाता है उसी प्रकार ललिताङ्गदेव की कण्ठ माला की म्लानता का समाचार भी उस स्वर्ग के अन्त तक व्याप्त हो गया था ॥८॥

अथानन्तर सामानिक जाति के देवों ने उसके समीप आकर उस समय के योग्य तथा उसका विषाद दूर करने वाले नीचे लिखे अनेक वचन कहे ॥९॥

हे धीर, आज अपनी धीरता का स्मरण कीजिए और शोक को छोड़ दीजिए । क्योंकि जन्म, मरण, बुढ़ापा रोग और भय किसे प्राप्त नहीं होते ॥१०॥

स्वर्ग से च्युत होना सबके लिए साधारण बात है क्योंकि आयु क्षीण होनेपर यह स्वर्ग क्षण-भर भी धारण करने के लिए समर्थ नहीं है ॥११॥
सदा प्रकाशमान रहने वाला यह स्वर्ग भी कदाचित् अन्धकाररूप प्रतिभासित होने लगता है क्योंकि जब पुण्यरूपी दीपक बुझ जाता है तब यह सब ओर से अन्धकारमय हो जाता है ॥१२॥

जिस प्रकार पुण्य के उदय से स्वर्ग से निरन्तर प्रीति रहा करती है उसी प्रकार पुण्य क्षीण हो जाने पर उसमें अप्रीति होने लगती है ॥१३॥

आयु के अन्त में देवों के साथ उत्पन्न होने वाली माला ही म्लान नहीं होती है किन्तु पापरूपी आतप के तपते रहने पर जीवों का शरीर भी म्लान हो जाता है ॥१४॥

देवों के अन्त समय में पहले हृदय कम्पायमान होता है, पीछे कल्पवृक्ष कम्पायमान होते हैं । पहले लक्ष्मी नष्ट होती है फिर लजा के साथ शरीर की प्रभा नष्ट होती है ॥१५॥

पाप के उदय से पहले लोगों में अस्नेह बढ़ता है फिर जँभाई की वृद्धि होती है, फिर शरीर के वस्त्रों में भी अप्रीति उत्पन्न हो जाती है ॥१६॥

पहले मान भंग होता है पश्चात् विषयों की इच्छा नष्ट होती है । अज्ञानान्धकार पहले मन को रोकता है पश्चात् नेत्रों को रोकता है ॥१७॥

अधिक कहाँ तक कहा जाये, स्वर्ग से च्युत होने के सम्मुख देव को जो तीव्र दुःख होता है वह नारकी को भी नहीं हो सकता । इस समय उस भारी हरख का आप प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं ॥१८॥

जिस प्रकार उदित हुए सूर्य का अस्त होना निश्चित है उसी प्रकार स्वर्ग में प्राप्त हुए जीवों के अभ्युदयों का पतन होना भी निश्चित है ॥१९॥

इसलिए हे आर्य, कुयोनिरूपी आवर्त में गिराने वाले शोक को प्राप्त न होइए तथा धर्म में मन लगाइए, क्योंकि धर्म ही परम शरण है ॥२०॥

हे आर्य, कारण के बिना कभी कोई कार्य नहीं होता है और चूंकि पण्डितजन पुण्य को ही स्वर्ग तथा मोक्ष का कारण कहते हैं ॥२०॥

इसलिए पुण्य के साधनभूत जैनधर्म ही अपनी बुद्धि लगाकर खेद को छोड़िए, ऐसा करने से तुम निश्चय ही पापरहित हो जाओगे ॥२१॥

इस प्रकार सामानिक देवों के कहने से ललिताङ्गदेव ने धैर्य का अवलम्बन किया, धर्म में बुद्धि लगायी और पन्द्रह दिन तक समस्त लोक के जिन-चैत्यालयों की पूजा की ॥२२॥

तत्पश्चात् अच्युत स्वर्ग की जिनप्रतिमाओं की पूजा करता हुआ वह आयु के अन्त में वहीं सावधान चित्त होकर चैत्यवृक्ष के नीचे बैठ गया

तथा वहीं निर्भय हो हाथ जोड़कर उच्चस्वर से नमस्कार मन्त्र का ठीक-ठीक उच्चारण करता हुआ अदृश्यता को प्राप्त हो गया ॥२४-२५॥

इसी जम्बूद्वीप के महामेरु से पूर्व दिशा की ओर स्थित विदेह क्षेत्र में जो महामनोहर पुष्कलावती नाम का देश है वह स्वर्णभूमि के समान सुन्दर है । उसी देश में एक उत्पलखेटक नाम का नगर है जो कि कमलों से आच्छादित धान के खेतों, कोट और परिखा आदि की शोभा से उस पुष्कलावती देश को भूषित करता रहता है ॥२६-२७॥

उस नगरी का राजा वज्रबाहु था जो कि इन्द्र के समान आज्ञा चलाने में सदा तत्पर रहता था । उसकी रानी का नाम वसुन्धरा था । वह

वसुन्धरा सहनशीलता आदि गुणों से ऐसी शोभायमान होती थी मानो दूसरी वसुन्धरा पृथिवी ही हो ॥२८॥

ललिताङ्ग नाम के स्वर्ग से च्युत होकर उन्हीं वज्रबाहु और वसुन्धरा के, वज्र के समान जंघा होने से 'वज्रजंघ' इस सार्थक नाम को धारण करने वाला पुत्र हुआ ॥२९॥

वह वज्रजंघ शत्रुरूपी कमलों को संकुचित करता हुआ बन्धुरूपी कुमुदों को हर्षित (विकसित) करता था तथा प्रतिदिन कलाओं (चतुराई, पक्ष में चन्द्रमा का सोलहवाँ भाग) की वृद्धि करता था इसलिए द्वितीया के चन्द्रमा के समान बढ़ने लगा ॥३०॥

जब वह यौवन अवस्था को प्राप्त हुआ तब उसकी रूपसंपत्ति अनुपम हो गयी जैसे कि चन्द्रमा क्रम-क्रम से बढ़कर जब पूर्ण हो जाता है तब उसकी कान्ति अनुपम हो जाती है ॥३१॥

उसके शिर पर काले कुटिल और लम्बे बाल ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो कामदेवरूपी काले सर्प के बढ़े हुए बच्चे ही हों ॥३२॥

वह वज्रजंघ, नेत्ररूपी भ्रमर और हास्य की किरणरूपी केशर से सहित अपने मुखकमल में मकरन्दरस के समान मनोहर वाणी को धारण करता था ॥३३॥

कानों से मिले हुए उसके दोनों नेत्र ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो वे अनेक शास्त्रों का श्रवण करने वाले कानों के समीप जाकर उनसे सूक्ष्मदर्शिता (पाण्डित्य और बारीक पदार्थ को देखने की शक्ति) का अभ्यास ही कर रहे हों ॥३४॥

वह वज्रजंघ अपने कण्ठ के समीप जिस हार को धारण किये हुए था वह नीहार-बरफ के समान स्वच्छ कान्ति का धारक था तथा ऐसा मालूम होता था मानो मुखरूपी चन्द्रमा की सेवा के लिए तारों का समूह ही आया हो ॥३५॥

वह अपने विशाल वक्षस्थल पर चन्दन का विलेपन धारण कर रहा था जिससे ऐसा मालूम होता था मानो अपने तट पर शरद् ऋतु की चाँदनी धारण किये हुए मेरु पर्वत ही हो ॥३६॥

मुकुट से शोभायमान उसका मस्तक ठीक मेरु पर्वत के समान मालूम होता था और उसके समीप लम्बी भुजाएँ नील तथा निषध गिरि के

समान शोभायमान होती थीं ॥३७॥

उसके मध्य भाग में नदी की भँवर के समान गम्भीर नाभि ऐसी जान पड़ती थी मानो स्त्रियों की दृष्टिरूपी हथिनियों को रोकने के लिए कामदेव के द्वारा खोदा हुआ एक गड्ढा ही हो ॥३८॥

करधनी से घिरा हुआ उसका कटिभाग ऐसा शोभायमान था मानो सुवर्ण की वेदिका से घिरा हुआ जम्बूवृक्ष के रहने का स्थान ही हो ॥३९॥ स्थिर गोल और एक दूसरे से मिली हुई उसकी दोनों जांघें ऐसी जान पड़ती थीं मानो स्त्रियों के मनरूपी हाथी को बाँधने के लिए दो स्तम्भ ही हों ॥४०॥

उसकी वज्र के समान स्थिर जंघाओं (पिंडरियों) का तो मैं वर्णन ही नहीं करता क्योंकि वह उसके वज्रजंघ नाम से ही गतार्थ हो जाता है । इतना होने पर भी यदि वर्णन करूँ तो मुझे पुनरुक्ति दोष की आशंका है ॥४१॥

उस वज्रजंघ के कुछ लाल और कोमल दोनों चरण ऐसे जान पड़ते थे मानो अविनाशिनी लक्ष्मी से आश्रित चलते-फिरते दो स्थल कमल ही हों ॥४२॥

शास्त्रज्ञान से भूषित उसकी यह रूपसम्पत्ति नेत्रों को उतना ही आनन्द देती थी जितना कि शरद् ऋतु की चाँदनी से भूषित चन्द्रमा की मूर्ति देती है ॥४३॥

पद वाक्य और प्रमाण आदि के विषय में अतिशय प्रवीणता को प्राप्त हुई उसकी बुद्धि सब शाखों में दीपिका के समान देदीप्यमान रहती थी ॥४४॥

वह समस्त कलाओं का ज्ञाता विनयी जितेन्द्रिय और कुशल था इसलिए राज्यलक्ष्मी के कटाक्षों का भी आश्रय हुआ था, वह उसे प्राप्त करना चाहती थी ॥४५॥

उसके स्वाभाविक गुण सब लोगों को प्रसन्न करते थे तथा उसका स्वाभाविक मनुष्य प्रेम उसकी बड़ी भारी योग्यता को पुष्ट करता था ॥ ४६॥

वह वज्रजंघ सरस्वती में अनुराग, कीर्ति में स्नेह और राज्यलक्ष्मी पर भोग करने का अधिकार (स्वामित्व) रखता था इसलिए विद्वानों में सिरमौर समझा जाता था ॥४७॥

यद्यपि वह बुद्धिमान वज्रजंघ उत्कृष्ट यौवन को प्राप्त हो गया था तथापि स्वयंप्रभा के अनुराग से वह प्रायः अन्य स्त्रियों में निस्पृह ही रहता था ॥४८॥

इस प्रकार उस बुद्धिमान वज्रजंघ का समय बड़े आनन्द से व्यतीत हो रहा था । अब स्वयंप्रभा महादेवी स्वर्ग से च्युत होकर कहाँ उत्पन्न हुई इस बात का वर्णन किया जाता है ॥४९॥

ललिताङ्गदेव के स्वर्ग से च्युत होने पर वह स्वयंप्रभा देवी उसके वियोग से चकवा के बिना चकवी की तरह बहुत ही खेदखिन्न हुई ॥५०॥ अथवा ग्रीष्मऋतु में जिस प्रकार पृथ्वी प्रभारहित होकर संताप धारण करने लगती है उसी प्रकार वह स्वयंप्रभा भी पति के विरह में प्रभारहित होकर संताप धारण करने लगी और जिस प्रकार वर्षा ऋतु में कोयल अपना मनोहर आलाप छोड़ देती है उसी प्रकार उसने भी अपना मनोहर आलाप छोड़ दिया था-वह पति के विरह में चुपचाप बैठी रहती थी ॥५१॥

जिस प्रकार दिव्य औषधियों के अभाव में अनेक कठिन बीमारियाँ दुःख देने लगती हैं उसी प्रकार ललिताङ्गदेव के अभाव में उस पतिव्रता स्वयंप्रभा को अनेक मानसिक व्यथाएँ दुःख देने लगी थीं ॥५२॥

तदनन्तर उसकी अन्तःपरिपक्व के सदस्य दृढधर्म नाम के देव ने उसका शोक दूर कर सन्मार्ग में उसकी मति लगायी ॥५३॥

उस समय वह स्वयंप्रभा चित्रलिखित प्रतिमा के समान अथवा मरण के भय से रहित शूर-वीर मनुष्य की बुद्धि के समान भोगों से निस्पृह हो गयी थी ॥५४॥

जो आगामी काल में श्रीमती होने वाली है ऐसी वह मनस्विनी (विचारशक्ति से सहित) स्वयंप्रभा, भव्य जीवों की श्रेणी के समान धर्म सेवन करती हुई छह महीने तक बराबर जिनपूजा करने में उद्यत रही ॥५५॥

तदनन्तर सौमनस वनसम्बन्धी पूर्वदिशा के जिनमन्दिर में चैत्यवृक्ष के नीचे पञ्चपरमेष्ठियों का भले प्रकार स्मरण करते हुए समाधिपूर्वक प्राण त्याग कर स्वर्ग से च्युत हो गयी । वहाँ से च्युत होते ही वह रात्रि का अन्त होने पर तारिका की तरह अदृश्य हो गयी ॥५६-५७॥

जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है ऐसे विदेह क्षेत्र में एक पुण्डरीकिणी नगरी है । वज्रदन्त नामक राजा उसका अधिपति था । उसकी रानी का नाम लक्ष्मीमती था जो वास्तव में लक्ष्मी के समान ही सुन्दर शरीर वाली थी । वह राजा उस रानी से ऐसा शोभायमान होता था जैसे कि कल्पलता से कल्पवृक्ष ॥५८-५९॥

वह स्वयंप्रभा उन दोनों के श्रीमती नाम से प्रसिद्ध पुत्री हुई । वह श्रीमती अपने रूप और सौन्दर्य की लीला से कामदेव की पता का के समान मालूम होती थी ॥६०॥

जिस प्रकार चैत्र मास को पाकर चन्द्रमा की कला लोगों को अधिक आनन्दित करने लगती है उसी प्रकार नवयौवन को पाकर वह श्रीमती भी लोगों को अधिक आनन्दित करने लगती थी ॥६१॥

उसके गुलाबी नखों ने कुरवक पुष्प की कान्ति को जीत लिया था और चरणों की आभा ने अशोकपल्लवों की कान्ति को तिरस्कृत कर दिया था ॥६२॥

वह श्रीमती, रुनझुन शब्द करते हुए नूपुररूपी मत्त भ्रमरों की झंकार से मुखरित तथा लक्ष्मी के सदा निवासस्थान स्वरूप चरणकमलों को धारण कर रही थी ॥६३॥

मैं मानता हूँ कि कमल ने चिरकाल तक पानी में रहकर कण्टकित (रोमाञ्चित, पक्ष में काँटेदार) शरीर धारण किये हुए जो व्रताचरण किया था उसी से वह श्रीमती के चरणों की उपमा प्राप्त कर सका था ॥६४॥

उसकी दोनों जंघाएँ कामदेव के तरकस के समान शोभित थीं, और ऊरुदण्ड (जाँघें) कामदेवरूपी हस्ती के बन्धनस्तम्भ की शोभा धारण कर रहे थे ॥६५॥

शोभायमान वस्त्ररूपी जल से तिरोहित हुआ उसका नितम्बमण्डल किसी सरसी के मरने टीले के समान शोभा को प्राप्त हो रहा था ॥६६॥ वह त्रिवलियों से सुशोभित तथा दक्षिणावर्त्त नाभि से युक्त मध्यभाग को धारण कर रही थी इसलिए ऐसी जान पड़ती थी मानो भँवर से शोभायमान और लहरों से युक्त जल को धारण करने वाली नदी ही हो ॥६७॥

उसका मध्यभाग स्तनों का बोझ बढ़ जाने की चिन्ता से ही मानो कृश हो गया था और इसीलिए उसने रोमावलि के छल से मानों सहारे की लकड़ी धारण की थी ॥६८॥

वह नाभिरन्ध्र के नीचे एक पतली रोमराजि को धारण कर रही थी जो ऐसी जान पड़ती थी मानो दूसरा आश्रय चाहने वाले कामदेवरूपी सर्प का मार्ग ही हो ॥६९॥

वह श्रीमती स्वयं लता के समान थी, उसकी भुजाएँ शाखाओं के समान थीं और नखों की किरणें फूलों की शोभा धारण करती थीं ॥७०॥ जिनका अग्रभाग कुछ-कुछ श्यामवर्ण है ऐसे उसके दोनों स्तन शोभायमान होते थे मानो कामरस से भरे हुए और नीलरत्न की मुद्रा से अंकित दो कलश ही हों ॥७१॥

उसके स्तन तट पर पड़ी हुई हरे रंग की चोली ऐसी शोभायमान हो रही थी मानो कमलमुकुल पर पड़ा हुआ शैल ही हो ॥७२॥

उसके स्तनों के अग्रभाग पर पड़ा हुआ बरफ के समान श्वेत और निर्मल हार कमलकुड्मल (कमल पुष्ट की बौड़ी) को छूने वाले फेन की शोभा धारण कर रहा था ॥७३॥

अनेक रेखाओं से उपलक्षित उसकी ग्रीवा रेखासहित शंख की शोभा धारण कर रही थी तथा वह स्वयं मनोहर कन्धों को धारण किये हुए थी जिससे ऐसी मालूम होती थी मानो निर्मल पंखों के मूलभाग को धारण किये हुए हंसी हो ॥७४॥

नेत्रों को आनन्द देने वाला उसका मुख एक ही साथ चन्द्रमा और कमल दोनों की शोभा धारण कर रहा था क्योंकि वह हास्यरूपी चाँदनी से चन्द्रमा के समान जान पड़ता था और दाँतों की किरणरूपी केशर से कमल के समान मालूम होता था ॥७५॥

चन्द्रमा ने अपनी कलाओं की वृद्धि और हानि के द्वारा चिरकाल तक चान्द्रायण व्रत किया था इसलिए मानो उसके फलस्वरूप ही वह श्रीमती के मुख की उपमा को प्राप्त हुआ था ॥७६॥

उसके नेत्र इतने बड़े थे कि उन्होंने उत्पल धारण किये हुए कानों का भी उल्लंघन कर दिया था सो ठीक ही है अपना विस्तार रोकने वाले को कौन सह सकता है भले ही वह समीपवर्ती क्यों न हो ॥७७॥

उसके नेत्रों के समीप कर्ण फूलरूपी कमल ऐसे दिखाई देते थे मानो अपनी शोभा पर हँसने वाले नेत्रों की शोभा को देखना ही चाहते हैं ॥

वह श्रीमती अपने मुखकमल के ऊपर (मस्तक पर) काली अलकावली को धारण किये हुए थी सो ठीक ही है, आश्रय में आये हुए निरुपद्रवी मलिन पदार्थों को भी कौन धारण नहीं करता ? अर्थात् सभी करते हैं ॥७९॥

वह कुछ नीचे की ओर लटके हुए, कोमल और कुटिल केशपाश को धारण कर रही थी जिससे ऐसी जान पड़ती थी मानो काले सर्प के लम्बायमान शरीर को धारण किये हुए चन्दनवृक्ष की लता ही हो ॥८०॥

इस प्रकार वह श्रीमती कामदेव को भी उन्मत्त बनाने वाली रूप सम्पत्ति को धारण करने के कारण ऐसी मालूम होती थी मानो देवांगनाओं के रूप के सारभूत अंशों से ही बनायी गयी हो ॥८१॥

ऐसा मालूम पड़ता था कि ब्रह्मा ने लक्ष्मी को चंचल बनाकर जो पाप उपार्जन किया था वह उसने श्रीमती को बनाकर धो डाला था ॥८२॥ चन्द्रमा की कला के समान जनसमूह को आनन्द देने वाली उस श्रीमती को देख-देखकर उसके माता-पिता अत्यन्त प्रीति को प्राप्त होते थे ॥८३॥

तदनन्तर किसी एक दिन वह श्रीमती सूर्य की किरणों के समान निर्मल, महामूल्य रत्नों से शोभायमान और स्वर्ग विमान को भी लज्जित करने वाले राजभवन में सो रही थी ॥८४॥

उसी दिन उससे सम्बन्ध रखने वाली यह विचित्र घटना हुई कि उसी नगर के मनोहर नामक उद्यान में श्रीयशोधर गुरु विराजमान थे उन्हें उसी दिन केवलज्ञान प्राप्त हुआ इसलिए स्वर्ग के देव अपनी विभूति के साथ विमानों पर आरूढ़ होकर उनकी पूजा करने के लिए आये थे ॥८५-८६॥

उस समय भ्रमरों के साथ-साथ, दिशाओं को व्याप्त करने वाली जो पुष्पवर्षा हो रही थी वह ऐसी सुशोभित होती थी मानो यशोधर महाराज के दर्शन करने के लिए स्वर्ग लक्ष्मी द्वारा भेजी हुई नेत्रों की परम्परा ही हो ॥८७॥

उस समय मन्द-मन्द हिलते हुए मन्दारवृक्षों की सघन केशर से कुछ पीला हुआ तथा इकट्ठे हुए भ्रमरों की गुंजार से मनोहर वायु शब्द करता हुआ बह रहा था ॥८८॥

और बजते हुए दुन्दुभि बाजों के शब्दों से दसों दिशा को व्याप्त करता हुआ देवों के हर्ष से उत्पन्न होनेवाला बड़ा भारी कोलाहल हो रहा था ॥८९॥

वह श्रीमती प्रातःकाल के समय अकस्मात् उस कोलाहल को सुनकर उठी और मेघों की गर्जना सुनकर डरी हुई विमान समान भयभीत हो गयी ॥९०॥

उस समय देवों का आगमन देखकर उसे शीघ्र ही अजन्म का स्मरण हो आया, जिससे वह ललिताङ्गदेव का स्मरण कर बार-बार उत्कण्ठित होती हुई मूर्च्छित हो गयी ॥९१॥

तत्पश्चात् सखियों ने अनेक शीतलोपचार और पंखा की वायु से आश्वासन देकर उसे सचेत किया परन्तु फिर भी उसने अपना मुँह ऊपर नहीं उठाया ॥९२॥

उस समय मनोहर, प्रभा से देदीप्यमान, सुन्दर और अनेक उत्तम-उत्तम लक्षणों से सहित उस ललिताङ्ग का शरीर श्रीमती के हृदय में लिखे हुए के समान शोभायमान हो रहा था ॥९३॥

अनेक आशंकाएँ करती हुई सखियों ने उससे उसका कारण भी पूछा परन्तु वह चुपचाप बैठी रही । ललिता की प्राप्ति पर्यन्त मुझे मौन रखना ही श्रेयस्कर है ऐसा सोचकर मौन रह गयी ॥९४॥

तदनन्तर घबड़ायी हुई सखियों ने पहरेदारों के साथ जाकर उसके माता-पिता से सब वृत्तान्त कह सुनाया ॥९५॥

सखियों की बात सुनकर उसके माता-पिता शीघ्र ही उसके पास गये और उसकी वह अवस्था देखकर शोक को प्राप्त हुए ॥९६॥

हे पुत्री, हमारा आलिंगन कर, गोद में आ इस प्रकार समझाये जाने पर भी जब वह मूर्च्छित हो चुपचाप बैठी रही तब समस्त चेष्टाओं और मन के विकारों को जानने वाले वज्रदन्त महाराज रानी लक्ष्मीमती से बोले-हे तन्वि, अब यह तुम्हारी पुत्री पूर्ण यौवन अवस्था को प्राप्त हो गयी है ॥९७-९८॥

हे सुन्दर दाँतों वाली, देख, यह इसका शरीर कैसा अनुपम और कान्ति युक्त हो गया है । ऐसा शरीर स्वर्ग की दिव्यांगनाओं को भी दुर्लभ

है ॥१९॥

इसलिए हे सुन्दरि, इस समय इसका यह विकार कुछ भी दोष उत्पन्न नहीं कर सकता । अतएव हे देवि, तू अन्य-रोग आदि की शंका करती हुई व्यर्थ ही भय को प्राप्त न हो ॥१००॥

निश्चय ही आज इसके हृदय में कोई पूर्वभव का स्मरण हो आया है क्योंकि संसारी जीव प्रायः पुरातन संस्कारों का स्मरण कर मूर्च्छित हो ही जाते हैं ॥१०१॥

यह कहते-कहते वज्रदन्त महाराज कन्या को आश्वासन देने के लिए पण्डिता नामक धाय को नियुक्त कर लक्ष्मीमती के साथ उठ खड़े हुए ॥१०२॥

कन्या के पास से वापस आने पर महाराज वज्रदन्त के सामने एक साथ दो कार्य आ उपस्थित हुए । एक तो अपने गुरु यशोधर महाराज को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई थी अतएव उनकी पूजा के लिए जाना और दूसरा आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ था अतएव दिग्विजय के लिए जाना ॥१०३॥

महाराज वज्रदन्त एक साथ इन दोनों कार्यों का प्रसंग आने पर निश्चय नहीं कर सके कि इनमें पहले किसे करना चाहिए और इसीलिए वे क्षण-भर के लिए व्याकुल हो उठे ॥१०४॥

तत्पश्चात् इनमें पहले किसे करना चाहिए इस बात का विचार करते हुए बुद्धिमान् वज्रदन्त ने निश्चय किया कि सबसे पहले गुरुदेव-यशोधर महाराज के केवलज्ञान की पूजा करनी चाहिए ॥१०५॥

क्योंकि बुद्धिमान् पुरुषों को दूरवर्ती कार्य की अपेक्षा निकटवर्ती कार्य ही पहले करना चाहिए, उसके बाद दूरवर्ती मुख्य कार्य करना चाहिए । इसलिए जिस अर्हन्त पूजा से पुण्य होगा है, जिससे बड़े-बड़े अभ्युदय प्राप्त होते हैं, तथा जो धर्ममय आवश्यक कार्य हैं ऐसे अर्हन्तपूजा आदि प्रधान कार्य को ही पहले करना चाहिए ॥१०६॥

मन में ऐसा विचार कर वह राजा वज्रदन्त पुण्य बढ़ाने वाली यशोधर महाराज की उत्कृष्ट पूजा करने के लिए उठ खड़ा हुआ ॥१०८॥ तदनन्तर सेना के साथ जाकर उसने जगद्गुरु यशोधर महाराज की पूजा की । पूजा करते समय उसका मुखकमल अत्यन्त प्रफुल्लित हो रहा था ॥१०९॥

प्रकाशमान बुद्धि के धारक वज्रदन्त ने ज्यों ही यशोधर गुरु के चरणों में प्रणाम किया त्यों ही उसे अवधिज्ञान प्राप्त हो गया, सो ठीक ही है, विशुद्ध परिणामों से की गयी भक्ति क्या फलीभूत नहीं होगी? अथवा क्या-क्या फल नहीं देगी ? ॥११०॥

उस अवधिज्ञान से राजा ने जान लिया कि पूर्वभव में मैं अच्युत स्वर्ग का इन्द्र था और यह मेरी पुत्री श्रीमती ललितांगदेव की स्वयंप्रभा नामक प्रिया थी ॥१११॥

वह बुद्धिमान् वज्रदन्त वन्दना आदि करके वहाँ से लौटा और पुत्री श्रीमती को पण्डिता धाय के लिए सौंपकर शीघ्र ही दिग्विजय के लिए चल पड़ा ॥११२॥

इन्द्र के समान कान्ति का धारक वह चक्रवर्ती चक्ररत्न की पूजा करके हाथी, घोड़ा, रथ, पियादे, देव और विद्याधर इस प्रकार पडंग सेना के साथ दिशाओं को जीतने के लिए गया ॥११३॥

तदनन्तर अतिशय चतुर पण्डिता नाम की धाय किसी एक दिन एकान्त में श्रीमती को समझाने के लिए इस प्रकार चातुर्य से भरे वचन कहने लगी ॥११४॥

वह उस समय अशोकवाटिका के मध्य में चन्द्रकान्त शिलातल पर बैठी हुई थी तथा अपने कोमल हाथों से [सामने बैठी हुई] श्रीमती के अंगों का बड़े प्यार से स्पर्श कर रही थी । बोलते समय उसके मुखकमल से जो दाँतों की किरणरूपी जल का प्रवाह बह रहा था उससे ऐसी मालूम होती थी मानो वह श्रीमती के हृदय का सन्ताप ही दूर कर रही हो ॥११५-११६॥

वह कहने लगी-हे पुत्रि, मैं समस्त कार्यों की योजना में पण्डिता हूँ-अतिशय चतुर हूँ । इसलिए मेरा पण्डिता यह नाम सत्य है-सार्थक है । इसके सिवाय मैं तुम्हारी माता के समान हूँ और प्राणों के समान सदा साथ रहने वाली प्रियसखी हूँ ॥११७॥

इसलिए हे धन्य कन्ये, तू यहाँ मुझसे अपने मौन का कारण कह । क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि रोग माता से नहीं छिपाया जाता ॥११८॥

मैंने अपने चित्त में तेरी इस चेष्टा का अच्छी तरह से विचार किया है परन्तु मुझे कुछ भी मालूम नहीं हुआ इसलिए हे कन्ये, ठीक-ठीक कह

॥११९॥

हे सखि, क्या यह काम का उन्माद है अथवा किसी ग्रह की पीड़ा है? प्रायः करके यौवन के प्रारम्भ में कामरूपी ग्रह का उपद्रव हुआ ही करता है ॥१२०॥

इस तरह पण्डिता धाय के द्वारा पूछे जाने पर श्रीमती ने अपना मुरझाया हुआ मुख इस प्रकार नीचा कर लिया जिस प्रकार कि सूर्यास्त के समय कमलिनी मुरझाकर नीचे झुक जाती है। वह मुख नीचा करके कहने लगी-यह सच है कि मैं ऐसे वचन किसी के भी सामने नहीं कह सकती क्योंकि मेरा हृदय लज्जा से पराधीन हो रहा है ॥१२१-१२२॥

किंतु आज मैं तुम्हारे सामने कहती हुई लज्जित नहीं होती हूँ उसका कारण भी है कि मैं इस समय अत्यन्त दुःखी हो रही हूँ और: आप हमारी माता के तुल्य तथा चिरपरिचिता है ॥१२३॥

इसलिए हे मनोहरांगि, सुन, मैं कहती हूँ। यह मेरी कथा बहुत बड़ी है। आज देवों का आगमन देखने से मुझे अपने पूर्वभव के चरित्र का स्मरण हो आया है ॥१२४॥

वह पूर्वभव का चरित्र कैसा है अथवा वह कथा कैसी है? इन सब बातों को मैं विस्तार के साथ कहती हूँ। वह सब विषय मेरी स्मृति में अनुभव किये के समान स्पष्ट प्रतिभासित हो रहा है ॥१२५॥

हे कमलनयने, इसी मध्यलोक में एक धातकीखण्ड नाम का महाद्वीप है वह अपनी शोभा से स्वर्गभूमि को तिरस्कृत करता है। इस द्वीप के पूर्व मेरु से पश्चिम दिशा की ओर स्थित विदेह क्षेत्र में एक गन्धिला नाम का देश है जो कि अपनी शोभा से देवकुरु और उत्तरकुरु को भी जीत सकता है। उस देश में एक पाटली नाम का आम है उसमें नागदत्त नाम का एक वैश्य रहता था। उसकी स्त्री का नाम सुमति था और उन दोनों के क्रम से नन्द, नन्दिमित्र, नन्दिषेण, वरसेन और जयसेन ये पाँच पुत्र तथा मदनकान्ता और श्रीकान्ता नाम की दो पुत्रियाँ उत्पन्न हुई। पूर्वभव में मैं इन्हीं के घर निर्माणा नाम की सबसे छोटी पुत्री हुई थी ॥१२६-१३०॥

किसी दिन मैंने चारणचरित नामक मनोहर वन में अम्बरतिलक पर्वत पर विराजमान अवधिज्ञान से सहित तथा अनेक ऋद्धियों से भूषित पिहितास्रव नामक मुनिराज के दर्शन किये। दर्शन और नमस्कार कर मैंने उनसे पूछा कि हे भगवन्, मैं किस कर्म से इस दरिद्रकुल में उत्पन्न हुई हूँ। हे प्रभो, कृपा कर इसका कारण कहिए और मुझ दीन तथा अतिशय उद्विग्न स्त्री-जन पर अनुग्रह कीजिए ॥१३१-१३३॥ इस प्रकार पूछे जाने पर वे मुनिराज मधुर वाणी से कहने लगे कि हे पुत्रि, पूर्वभव में तू अपने कर्मोदय से इसी देश के पलालपर्वत नामक ग्राम में देविलमाम नामक पटेल की सुमति ली के उदर से धनश्री नाम से अप्रसिद्ध पुत्री हुई थी ॥१३४-१३५॥

किसी दिन तूने पाठ करते हुए समाधिगुप्त मुनिराज के समीप मरे हुए कुत्ते का दुर्गन्धित कलेवर डाला था और अपने इस अज्ञानपूर्ण कार्य से खुश भी हुई थी। यह देखकर मुनिराज ने उस समय तुझे उपदेश दिया था कि बालिके, तूने यह बहुत ही विरुद्ध कार्य किया है, भविष्य में उदय के समय यह तुझे दुःखदायी और कटुक फल देगा क्योंकि पूज्य पुरुषों का किया हुआ अपमान अन्य पर्याय में अधिक सन्ताप देता है ॥१३६-१३८॥

मुनिराज के ऐसा कहने पर धनश्री ने उसी समय उनके सामने जाकर अपना अपराध क्षमा कराया और कहा कि हे भगवन् मैंने यह कार्य अज्ञानवश ही किया है इसलिए क्षमा कर दीजिए ॥१३९॥

उस उपशम भाव से क्षमा माँग लेने से तुझे कुछ थोड़ा-सा पुण्य प्राप्त हुआ था उसी से तू इस समय मनुष्ययोनि में इस अतिशय दरिद्र कुल में उत्पन्न हुई है ॥१४०॥

इसलिए हे कल्याणि, कल्याण करने वाले जिनेन्द्रगुणसम्पत्ति और श्रुतज्ञान इन दो उपवास व्रतों को क्रम से ग्रहण करो ॥१४१॥

हे आर्य, विधिपूर्वक किया गया यह अनशन तप, किये हुए कर्मों को बहुत शीघ्र नष्ट करनेवाला माना गया है ॥१४२॥

तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृति के कारणभूत सोलह भावनाएँ, पाँच कल्याणक, आठ प्रातिहार्य तथा चौतीस अतिशय इन तिरसठ गुणों को उद्देश्य कर जो उपवास व्रत किया जाता है उसे जिनेन्द्रगुणसम्पत्ति कहते हैं। भावार्थ-इस व्रत में जिनेन्द्र भगवान् के तिरसठ गुणों को लक्ष्य कर तिरसठ उपवास किये जाते हैं जिनकी व्यवस्था इस प्रकार है-सोलह कारण भावनाओं की सोलह प्रतिपदा, पंच कल्याणकों की पाँच पंचमी, आठ प्रातिहार्यों की आठ अष्टमी और चौतीस अतिशयों की बीस दशमी तथा चौदह चतुर्दशी इस प्रकार तिरसठ उपवास होते हैं ॥१४३-१४४॥

पूर्वोक्त प्रकार से जिनेन्द्रगुणसम्पत्तिनामक व्रत में तिरसठ उपवास करना चाहिए ऐसा गणधरादि मुनियों ने कहा है । अब इस समय श्रुतज्ञान नामक उपवास व्रत का स्वरूप कहा जाता है ॥१४५॥

अट्ठाईस, ग्यारह, दो, अठासी, एक, चौदह, पाँच, छह, दो और एक इस प्रकार मतिज्ञान आदि भेदों की एक सौ अठावन संख्या होती है । उनका नामानुसार क्रम इस प्रकार है कि मतिज्ञान के अट्ठाईस, अंगों के ग्यारह, परिकर्म के दो, सूत्र के अट्ठासी, अनुयोग का एक, पूर्व के चौदह, चूलिका के पाँच, अवधिज्ञान के छह, मनःपर्ययज्ञान के दो और केवलज्ञान का एक-इस प्रकार ज्ञान के इन एक सौ अठावन भेदों की प्रतीति कर जो एक सौ अठावन दिन का उपवास किया जाता है उसे श्रुतज्ञान उपवास व्रत कहते हैं । हे पुत्रि, तू भी विधिपूर्वक ऊपर कहे हुए दोनों अनशन व्रतों को आचरण कर ॥१४६-१५०॥

हे पुत्रि, इन दोनों व्रतों का मुख्य फल केवलज्ञान की प्राप्ति और गौण फल स्वर्गादि की प्राप्ति है ॥१५१॥

हे कल्याणि, देख, मुनि शाप देने तथा अनुग्रह करने-दोनों में समर्थ होते हैं, इसलिए उनका अपमान करना दोनों लोकों में दुःख देने वाला है ॥१५२॥

जो पुरुष वचन द्वारा मुनियों का उल्लंघन-अनादर करते हैं वे दूसरे भव में गूँगे होते हैं । जो मन से निरादर करते हैं उनकी मन से सम्बन्ध रखने वाली स्मरणशक्ति नष्ट हो जाती है और जो शरीर से तिरस्कार करते हैं उन्हें ऐसे कौनसे दुःख हैं जो प्राप्त नहीं होते हैं ? इसलिए बुद्धिमान् पुरुषों को तपस्वी मुनियों का कभी अनादर नहीं करना चाहिए । हे मुग्धे, जो मनुष्य, क्षमारूपी धन को धारण करने वाले मुनियों की, मोहरूपी काष्ठ से उत्पन्न हुई, विरोधरूपी वायु से प्रेरित हुई, दुर्वचनरूपी तिलगों से भरी हुई और क्षमारूपी भस्म से ढकी हुई क्रोधरूपी अग्नि को प्रज्वलित करते हैं उनके द्वारा, दोनों लोकों में होने वाला अपना कौन-सा हित नष्ट नहीं किया जाता ॥१५३-१५६॥ इस प्रकार मैं मुनिराज के हितकारी वचन मानकर और जिनेन्द्रगुणसम्पत्ति तथा श्रुतज्ञान नामक दोनों व्रतों के विधिपूर्वक उपवास कर आयु के अन्त में स्वर्ग गयी ॥१५७॥

वहाँ ललितांगदेव की स्वयंप्रभा नाम की मनोहर महादेवी हुई और वहाँ से ललितांगदेव के साथ मध्यलोक में आकर मैंने व्रत देने वाले पिहितासव गुरु की पूजा की ॥१५८॥

बड़ी-बड़ी ऋद्धियों को धारण करने वाली मैंने उस ऐशान स्वर्ग में श्रीप्रभविमान के अधिपति ललितांगदेव के साथ अनेक भोग भोगे तथा बलों से च्युत होकर यहाँ वज्रदन्त चक्रवर्ती के श्रीमती नाम की पुत्री हुई हूँ । हे सखि, यहाँ तक ही मेरी पूर्वभव की कथा है ॥१५९॥ हे कृशोदरि, ललितांगदेव के स्वर्ग से च्युत होने पर मैं छह महीने तक जिनेन्द्रदेव की पूजा करती रही फिर वहाँ से चलकर यहाँ उत्पन्न हुई हूँ ॥१६०॥

मैं इस समय उसी का स्मरण कर उसके अन्वेषण के लिए प्रयत्न कर रही हूँ और इसीलिए मैंने मौन धारण किया है ॥१६१॥

हे सखी, देख, यह ललितांग अब भी मेरे मन में निवास कर रहा है । ऐसा मालूम होता है मानो किसी ने टाँकी द्वारा उकेरकर सदा के लिए मेरे मन में स्थिर कर दिया हो । यद्यपि आज उसका वह दिव्य-वैक्रियिक शरीर नहीं है तथापि वह अपनी दिव्य शक्ति से अनंगता (शरीर का अभाव और कामदेवपना) धारण कर मेरे मन में अधिष्ठित है ॥१६२॥

हे सुमुखि, जो अतिशय सौम्य है, सुन्दर है, साथ-साथ उत्पन्न हुए वस्त्र तथा माला आदि से सहित है, प्रकाशमान आभरणों से उज्ज्वल है और सुखकर स्पर्श से सहित है ऐसे ललितांगदेव के शरीर को मैं सामने देख रही हूँ, उसके हाथ के स्पर्श से लालित सुखद स्पर्श को भी देख रही हूँ परन्तु उसकी प्राप्ति के बिना मेरा यह शरीर कृशता को नहीं छोड़ रहा है ॥१६३-१६४॥

ये अश्रुबिन्दु निरन्तर मेरे नेत्रों से निकल रहे हैं जिससे ऐसा मालूम होता है कि ये हमारा दुःख देखने के लिए असमर्थ होकर उस ललितांग को खोजने के लिए ही मानो उद्यत हुए हैं ॥१६५॥

इतना कहकर वह श्रीमती फिर भी पण्डिता सखी से कहने लगी कि हे प्रिय सखी, तू ही मेरे पति को खोजने के लिए समर्थ है । तेरे सिवाय और कोई यह कार्य नहीं कर सकता ॥१६६॥

हे कमलनयने, आज तेरे रहते हुए मुझे दुःख कैसे हो सकता है ? सूर्य की प्रभा के देदीप्यमान रहते हुए भी क्या कमलिनी को दुःख होता है ? अर्थात् नहीं होता ॥१६७॥

हे सखी, तू समस्त कार्यों के करने में अतिशय निपुण है अतएव तू सचमुच में पण्डिता है-तेरा पण्डिता नाम सार्थक है । इसलिए मेरे इस

कार्य की सिद्धि तुझे पर ही अवलम्बित हैं ॥१६८॥

हे सखि, मेरे प्राणपति ललितांग को खोजकर मेरे प्राणों की रक्षा कर क्योंकि स्त्रियों की विपत्ति दूर करने के लिए स्त्रियाँ ही अवलम्बन होती हैं ॥१६९॥

इस कार्य की सिद्धि के लिए मैं आज तुझे एक उपाय बताती हूँ । वह यह है कि मैंने पूर्वभव सम्बन्धी चरित्र को बताने वाला एक चित्रपट बनाया है ॥१७०॥

उसमें कहीं-कहीं चित्त प्रसन्न करने वाले गूढ़ विषय भी लिखे गये हैं । इसके सिवाय वह धूर्त मनुष्यों के मन को भ्रान्ति में डालने वाला है । हे सखी, तू इसे लेकर जा ॥१७१॥

धृष्टता के कारण उद्धत बुद्धि को धारण करने वाले जो पुरुष झूठमूठ ही यदि अपने-आपको पति कहें-मेरा पति बनना चाहें उन्हें गूढ़ विषयों के संकट में हास्यकिरणरूपी वस्त्र से आच्छादित करना अर्थात् चित्रपट देखकर झूठमूठ ही हमारा पति बनना चाहें उनसे तू गूढ़ विषय पूछना जब वे उत्तर न दे सकें तो अपने मन्द हास्य से उन्हें लज्जित करना ॥१७२॥

इस प्रकार जब श्रीमती कह चुकी तब ईषत् हास्य की किरणों के बहाने पुष्पांजलि बिखेरती हुई पण्डिता सखी, उसके चित्त को आश्वासन देनेवाले वचन कहने लगी ॥१७३॥

हे मधुरभाषिणि, मेरे रहते हुए तेरे चित्त को सन्ताप नहीं हो सकता क्योंकि आम्रमंजरी के रहते हुए कोयल को दुःख कैसे हो सकता है ? ॥ १७४ ॥

हे सखी, जिस प्रकार कवि की बुद्धि सुश्लिष्ट-अनेक भावों को सूचित करने वाले उत्तम अर्थ को और लक्ष्मी जिस प्रकार उद्योगशाली मनुष्य को खोज लाती है उसी प्रकार मैं भी तेरे पति को खोज लाती हूँ ॥१७५॥

हे सखी , मैं चतुर बुद्धि की धारक हूँ तथा कार्य करने में हमेशा उद्यत रहती हूँ इसलिए तेरा यह कार्य अवश्य सिद्ध कर दूंगी । तू यह निश्चित जान कि मुझे इन तीनों लोकों में कोई भी कार्य कठिन नहीं है ॥१७६॥

इसलिए हे सुन्दरि, जिस प्रकार माधवी लता प्रकट होते हुए प्रवालों और अंकुरों के समूह को धारण करती है उसी प्रकार अब तू अनेक प्रकार के आभरणों के विन्यास को धारण कर ॥१७७॥

इस कार्य की सिद्धि में तुझे संशय नहीं करना चाहिए क्योंकि श्रीमती के द्वारा चाहे हुए पदार्थों की सिद्धि निःसन्देह ही होती है ॥१७८॥ वह पण्डिता इस प्रकार कहकर तथा उस श्रीमती को समझाकर उसके द्वारा दिये हुए चित्रपट को लेकर शीघ्र ही महापूत नामक अथवा अत्यन्त पवित्र जिनमन्दिर गयी ॥१७९॥

वह जिनमन्दिर रत्नों की किरणों से शोभायमान अपने ऊँचे उठे हुए शिखरों से ऐसा जान पड़ता था मानो फण ऊँचा किये हुए शेषनाग ही सन्तुष्ट होकर पाताल लोक से निकला हो ॥१८०॥

उस मन्दिर की दीवारें ठीक वेश्याओं के समान थीं क्योंकि जिस प्रकार वेश्याएँ वर्णसंकरता (ब्राह्मणादि वर्णों के साथ व्यभिचार) से उत्पन्न हुई तथा अनेक आश्चर्यकारी कार्यों से सहित होकर जगत् के कामी पुरुषों की चित्त हरण करती हैं उसी प्रकार वे दीवारें भी वर्णसंकरता (काले पीले नीले लाल आदि रंगों के मेल) से बने हुए अनेक चित्रों से सहित होकर जगत् के सब जीवों का चित्त हरण करती थी ॥१८१॥ रात को भी दिन बनाने में समर्थ और मणियों से चित्र-विचित्र रहने वाले अपने ऊँचे-ऊँचे शिखरों से वह मन्दिर ऐसा मालूम होता था मानो स्वर्ग का उन्मीलन ही कर रहा है-स्वर्ग को भी प्रकाशित कर रहा हो ॥१८२॥

उस मन्दिर में निरन्तर अनेक मुनियों के समूह गम्भीर शब्दों से स्तोत्रादिक का पाठ करते रहते थे जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो वह आये हुए भव्य जीवों के साथ सम्भाषण ही कर रहा दो ॥१८३॥

उसकी शिखरों के अग्रभाग पर लगी हुई तथा वायु के द्वारा हिलती हुई पताकाएँ ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो वन्दना भक्ति आदि के लिए देवों को ही बुला रही हों ॥१८४॥

उस मन्दिर के झरोखों से निकलते हुए धूम के धूम ऐसे मालूम होते थे मानो स्वर्ग को भेंट देने के लिए नवीन मेघों को ही बना रहे हों ॥ १८५ ॥

उस मन्दिर के शिखरों के चारों ओर जो चंचल किरणों के धारक तारागण चमक रहे थे वे ऊपर आकाश में स्थित रहने वाले देवों को

पुष्पोपहार की भ्रान्ति उत्पन्न किया करते थे अर्थात् देव लोग यह समझते थे कि कहीं शिखर पर किसी ने फूलों का उपहार तो नहीं चढ़ाया है ॥१८६॥

वह चैत्यालय सदृत्तसंगत-सम्यक्चारित्र के धारक मुनियों से सहित था, अनेक चित्रों के समूह से शोभायमान था, और स्तोत्रपाठ आदि के शब्दों से सहित था इसलिए किसी महाकाव्य के समान सुशोभित हो रहा था क्योंकि महाकाव्य भी, सदृत्त-वसन्ततिलक आदि सुन्दर-सुन्दर छन्दों से सहित होता है, मुरज कमल छत्र हार आदि चित्र श्लोकों से मनोहर होता है और उत्तम-उत्तम शब्दों से सहित होता है ॥ १८७॥

उस चैत्यालय पर पताकाएँ फहरा रही थीं, भीतर बजते हुए घण्टे लटक रहे थे, स्तोत्र आदि के पढ़ने से गम्भीर शब्द हो रहा था, और स्वयं अनेक मजबूत खम्भों से स्थिर था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो कोई बड़ा हाथी ही हो क्योंकि हाथी पर भी पताका फहराती है, उसके गले में मनोहर शब्द करता हुआ घण्टा बँधा रहता है । वह स्वयं गम्भीर गर्जना के शब्द से सहित होता है तथा मजबूत खम्भों से बँधा रहने के कारण स्थिर होता है ॥१८८॥

वह चैत्यालय पाठ करने वाले मनुष्यों के पवित्र शब्दों तथा वन्दना करने वाले मनुष्यों की जय-जय ध्वनि से असमय में ही समूहों को मदोन्मत्त बना देता था अर्थात् मन्दिर में होने वाले शब्द को मेघ का शब्द समझकर मयूर वर्षा के बिना ही मदोन्मत्त हो जाते थे ॥१८९॥ वह चैत्यालय अत्यन्त ऊँचे-ऊँचे शिखरों से सहित था, अनेक चारण (मागध स्तुतिपाठक) सब उसकी स्तुति किया करते थे और अनेक विद्याधर (परमागम के जानने वाले) उसकी सेवा करते थे इसलिए ऐसा शोभायमान होता था मानो मेरु पर्वत ही हो क्योंकि मेरु पर्वत भी अत्यन्त ऊँचे शिखरों से सहित है, अनेक चारण (ऋद्धि के धारक मुनिजन) उसकी स्तुति करते रहते हैं तथा अनेक विद्याधर उसकी सेवा करते हैं ॥१९०॥

इत्यादि वर्णनयुक्त उस चैत्यालय में जाकर पण्डिता धाय ने पहले जिनेन्द्र देव की वन्दना की फिर वह वहाँ की चित्रशाला में अपना चित्रपट फैलाकर आये हुए लोगों की परीक्षा करने की इच्छा से बैठ गयी ॥१९१॥

विशाल बुद्धि के धारक कितने ही पुरुष आकर बड़ी सावधानी से उस चित्रपट को देखने लगे और कितने ही उसे देखकर यह क्या है इस प्रकार जोर से बोलने लगे ॥१९२॥

वह पण्डिता समुचित वाक्यों से उन सबका उत्तर देती हुई और पण्डितामास-मूर्ख लोगों पर मन्द हास्य का प्रकाश डालती हुई गम्भीर भाव से वहाँ बैठी थी ॥१९३॥

अनन्तर जिसने समस्त दिशाओं को जीत लिया है और जिसे समस्त मनुष्य विद्याधर और देव नमस्कार करते हैं ऐसा वज्रदन्त चक्रवर्ती दिग्विजय से वापस लौटा ॥१९४॥

उस समय चक्रवर्ती ने बत्तीस हजार राजाओं द्वारा किये हुए राज्याभिषेक महोत्सव को प्राप्त किया था सो ठीक ही है, पुण्य से क्या-क्या नहीं प्राप्त होता ? ॥१९५॥

यद्यपि वह चक्रवर्ती और वे बत्तीस हजार राजा हाथ, पाँव, मुख आदि अवयवों से समान आकार के धारक थे तथापि वह चक्रवर्ती अपने पुण्य के माहात्म्य से उन सबके द्वारा पूज्य हुआ था ॥१९६॥

इसका शरीर अनुपम था, मुख चन्द्रमा के समान सौम्य था, और नेत्र कमल के समान सुन्दर थे । पुण्य के उदय से वह समस्त मनुष्य और देवों से बढ़कर शोभायमान हो रहा था ॥१९७॥

इसके दोनों पाँवों में जो शंख, चक्र, अंकुश आदि के चिह्न शोभायमान थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो लक्ष्मी ने ही चक्रवर्ती के ये सब लक्षण लिखे हैं ॥१९८॥

अव्यर्थ आज्ञा के धारक महाराज वज्रदन्त जब पृथ्वी का शासन करते थे तब कोई भी प्रजा अपराध नहीं करती थी इसलिए कोई भी पुरुष दण्ड का भागी नहीं होता था ॥१९९॥

वह चक्रवर्ती वक्षःस्थल पर लक्ष्मी को और मुखकमल में सरस्वती को धारण करता था परन्तु अत्यन्त प्रिय कीर्ति को धारण करने के लिए उसके पास कोई स्थान ही नहीं रहा इसलिए उसने अकेली कीर्ति को लोक के अन्त तक पहुँचा दिया था । अर्थात् लक्ष्मी और सरस्वती तो उसके समीप रहती थीं और कीर्ति समस्त लोक में फैली हुई थी ॥२००॥

वह राजा चन्द्रमा के समान कान्तिमान और सूर्य के समान उत्कर (तेजस्वी अथवा उत्कृष्ट टैक्स वसूल करने वाला) था । आश्चर्यकारी उदय को धारण करने वाला वह राजा कान्ति और तेज दोनों को उत्कृष्ट रूप से धारण करता था ॥२०१॥

पुण्य-रूपी कल्पवृक्ष के बड़े से बड़े फल इतने ही होते हैं यह बात सूचित करने के लिए ही मानो उस चक्रवर्ती के चौदह महारत्न प्रकट हुए थे ॥२०२॥

उसके यहाँ पुण्य की राशि के समान नौ अक्षय निधियाँ प्रकट हुई थीं, उन निधियाँ से उसका भण्डार हमेशा भरा रहता था ॥२०३॥

इस प्रकार वह पुण्यवान चक्रवर्ती छह खण्डों से शोभित पृथिवी का पालन करता हुआ चिरकाल तक दस प्रकार के भोग, भोगता रहा ॥ २०४॥

इस प्रकार देदीप्यमान मुकुट और प्रकाशमान रत्नों के कुण्डल धारण करने वाला वह कार्यकुशल चक्रवर्ती कुछ ही दिनों में दिग्विजय कर लौटा और अपनी विजय सेना के साथ राजधानी में प्रविष्ट हुआ । उस समय वह ऐसा शोभायमान हो रहा था जैसा कि देदीप्यमान मुकुट और रत्न-कुण्डलों को धारण करने वाला कार्यकुशल इन्द्र अपनी देवसेना के साथ अमरावती में प्रवेश करते समय शोभित होता है ॥२०५॥ समस्त कार्य कर चुकने पर भी जिसके हृदय में पुत्री-श्रीमती के विवाह की कुछ चिन्ता विद्यमान है, ऐसे उत्कृष्ट शोभा के धारक उस वज्रदन्त चक्रवर्ती ने मन्द-मन्द वायु के द्वारा हिलती हुई पताकाओं से शोभायमान तथा अन्य अनेक उत्तम-उत्तम शोभा से श्रेष्ठ अपने नगर में प्रवेश किया था ॥२०६॥

जिसकी सेना के लोगों ने लवंग की लताओं से व्याप्त समुद्रतट के वनों में चन्दन लताओं का चूर्ण किया है, उन वनों में बैठी हुई देवांगनाओं ने जिन्हें अपने आलस्य भरे सुशोभित नेत्रों से धीरे-धीरे देखा है और जिन्होंने विजयार्थ पर्वत की गुफाओं को स्वच्छ कर उनमें आश्रय प्राप्त किया है ऐसा वह सर्वत्र विजय प्राप्त करने वाला वज्रदन्त चक्रवर्ती अपने पुण्य के फल से प्राप्त हुई पृथिवी का चिरकाल तक पालन करता रहा ॥२०७॥

दिग्विजय के समय जो समुद्र के समीप वन वेदिका के मध्यभाग को प्राप्त हुआ, जिसने विजयार्थ पर्वत के तटों का उल्लंघन किया जिसने तरंगों से चंचल समुद्र की स्त्रीरूप गंगा और सिन्धु नदी को पार किया और हिमवत् कुलाचल की ऊँचाई को तिरस्कृत किया-उस पर अपना अधिकार किया ऐसा वह जिनशासन का ज्ञाता वज्रदन्त चक्रवर्ती समस्त दिशाओं को जीतकर चक्रवर्ती की पर्ण लक्ष्मी को प्राप्त हुआ ॥२०८॥

इस प्रकार आर्ष नाम से प्रसिद्ध, मगवज्जिनसेनाचार्य विरचित त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रह में ललितांगदेव का स्वर्ग से च्युत होने आदिका वर्णन करने वाला छठा पर्व पूर्ण हुआ ॥६॥

पर्व-07 -- श्रीमती और वज्रजंघ का समागम

पर्व-07 -- श्रीमती और वज्रजंघ का समागम

कथा :

अनन्तर कार्य-कुशल चक्रवर्ती ने मानसिक पीड़ा से पीड़ित पुत्री को बुलाकर मन्द हास्य की किरणरूपी जल के द्वारा सिंचन करते हुए की तरह नीचे लिखे अनुसार उपदेश दिया ॥१॥

हे पुत्री, शोक को मत प्राप्त हो, मौन का संकोच कर, मैं अवधिज्ञान के द्वारा तेरे पति का सब वृत्तान्त जानता हूँ ॥२॥

हे पुत्री, तू शीघ्र ही सुखपूर्वक स्नान कर, अलंकार धारण कर और चन्द्रबिम्ब के समान उज्ज्वल दर्पण में अपने मुख की शोभा देख ॥३॥

भोजन कर और मधुर बातचीत से प्रिय सखीजनों को सन्तुष्ट कर । तेरे इष्ट पति का समागम आज या कल अवश्य ही होगा ॥४॥

श्रीयशोधर महायोगी के केवलज्ञान महोत्सव के समय मुझे अवधिज्ञान प्राप्त हुआ था, उसी से मैं कुछ भवों का वृत्तान्त जानने लगा हूँ ॥५॥

हे पुत्री, तू अपने, मेरे और अपने पति के पूर्वजन्म सम्बन्धी वृत्तान्त सुन । मैं तेरे लिए पृथक्-पृथक् कहता हूँ ॥६॥

इस भव से पहले पाँचवें भव में मैं अपनी ऋद्धियों से स्वर्गपुरी के समान शोभायमान और महादेदीप्यमान इसी पुण्डरीकिणी नगरी में अर्धचक्रवर्ती का पुत्र चन्द्रकीर्ति नाम से प्रसिद्ध हुआ था । उस समय जयकीर्ति नाम का मेरा एक मित्र था जो हमारे ही साथ वृद्धि को प्राप्त हुआ था ॥७-८॥

समयानुसार पिता से कुलपरम्परा से चली आयी उत्कृष्ट राज्यविभूति को पाकर मैं इसी नगर में अपने मित्र के साथ चिरकाल तक क्रीड़ा

करता रहा ॥९॥

उस समय मैं अणुव्रत धारण करने वाला गृहस्थ था । फिर क्रम से समय बीतने पर आयु के अन्त समय में समाधि धारण करने के लिए चन्द्रसेन नामक गुरु के पास पहुँचा । वहाँ प्रीतिवर्धन नाम के उद्यान में आहार तथा शरीर का त्याग कर संन्यास विधि के प्रभाव से चौथे माहेन्द्र स्वर्ग में उत्पन्न हुआ ॥१०-११॥

वहाँ मैं सात सागर की आयु का धारक सामानिक जाति का देव हुआ । मेरा मित्र जयकीर्ति भी वहीं उत्पन्न हुआ । वह भी मेरे ही समान ऋद्धियों का धारक हुआ था ॥१२॥

आयु के अन्त में वहाँ से च्युत होकर हम दोनों पुष्कर नामक द्वीप में पूर्वमेरुसम्बन्धी पूर्वविदेह क्षेत्र में मंगलावती देश के रत्नसंचय नगर में श्रीधर राजा के पुत्र हुए । मैं बलभद्र हुआ और जयकीर्ति का जीव नारायण हुआ । मेरा जन्म श्रीधर महाराज की मनोहरा नाम की रानी से हुआ था और श्रीवर्मा मेरा नाम था तथा जयकीर्ति का जन्म उसी राजा की दूसरी रानी मनोरमा से हुआ था और उसका नाम विभीषण था । हम दोनों भाई राज्य पाकर वहाँ दीर्घकाल तक क्रीड़ा करते रहे ॥१३-१५॥

हमारे पिता श्रीधर महाराज ने मुझे राज्यभार सौंपकर सुधर्माचार्य से दीक्षा ले ली और अनेक प्रकार के उपवास करके सिद्ध पद प्राप्त कर लिया ॥१६॥

मेरी माता मनोहरा मुझ पर बहुत स्नेह रखती थी इसलिए पवित्र व्रतों का पालन करती हुई और सुधर्माचार्य के द्वारा बताये हुए तपों का आचरण करती हुई वह चिरकाल तक घर में ही रही ॥१७॥

उसने विधिपूर्वक कर्मक्षपण नामक व्रत के उपवास किये थे और आयु के अन्त में समाधिपूर्वक शरीर छोड़ा था जिससे मरकर स्वर्ग में ललितांगदेव हुई ॥१८॥

तदनन्तर कुछ समय बाद मेरे भाई विभीषण की मृत्यु हो गयी और उसके वियोग से मैं जब बहुत शोक कर रहा था तब ललितांगदेव ने आकर अनेक उपायों से मुझे समझाया था ॥१९॥

कि हे पुत्र, तू अज्ञानी पुरुष के समान शोक मत कर और यह निश्चय समझ कि इस संसार में जन्म-मरण आदि के भय अवश्य ही हुआ करते हैं ॥२०॥

इस प्रकार जो पहले मेरी माता थी उस ललितांगदेव के समझाने से मैंने शोक छोड़ा और प्रसन्नचित्त होकर धर्म में मन लगाया ॥२१॥

तत्पश्चात् मैंने श्री युगन्धर मुनि के समीप पाँच हजार राजाओं के साथ जिनदीक्षा ग्रहण की ॥२२॥

और अत्यन्त कठिन, किन्तु उत्तम फल देनेवाले सिंहनिष्क्रीडित तथा सर्वतोभद्र नामक तप को विधिपूर्वक तपकर मति श्रुत अवधिज्ञानरूपी निर्मल प्रकाश को प्राप्त किया । फिर आयु के अन्त में मरकर अनल्प ऋद्धियों से युक्त अच्युत नामक सोलहवें स्वर्ग में इन्द्र पदवी प्राप्त की । वहाँ मेरी आयु बाईस सागर प्रमाण थी ॥२३-२४॥

अत्यन्त कान्तिमान उस अच्युत स्वर्ग में मैं दिव्य भोगों को भोगता रहा । किसी दिन मैंने माता के स्नेह से ललिताङ्ग के समीप जाकर उसकी पूजा की ॥२५॥

मैं उसे अत्यन्त चमकीले प्रीतिवर्धन नाम के विमान में बैठाकर अपने स्वर्ग (सोलहवाँ स्वर्ग) ले गया और वहाँ उसका मैंने बहुत ही सत्कार किया ॥२६॥

इस प्रकार मेरी माता का जीव ललिताङ्ग, अत्यन्त सुख संयुक्त स्वर्ग में दिव्य भोगों को भोगता हुआ जब तक विद्यमान रहा तब तक मैंने कई बार उसका सत्कार किया ॥२७॥

तदनन्तर ललिताङ्गदेव वहाँ से चयकर जम्बूद्वीप के पूर्वविदेह क्षेत्र में मंगलावती देश के विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी में गन्धर्वपुर के राजा वासव विद्याधर के घर उसकी प्रभावती नाम की महादेवी से महीधर नाम का पुत्र हुआ ॥२८-२९॥

राजा वासव अपना सब राज्यभार महीधर पुत्र के लिए सौंपकर तथा अरिंजय नामक मुनिराज के समीप मुक्तावली तप तपकर निर्वाण को प्राप्त हुए । रानी प्रभावती पद्यावती आर्यिका के समीप दीक्षित हो उत्कृष्ट रत्नावली तप तपकर अच्युत स्वर्ग में प्रतीन्द्र हुई और तब तक इधर महीधर भी अनेक विद्याओं को सिद्ध कर आश्चर्यकारी विभव से सम्पन्न हो गया ॥३०-३२॥

तदनन्तर किसी दिन मैं पुष्करार्ध द्वीप के पश्चिम भाग के पूर्व विदेहसम्बन्धी वत्सकावती देश में गया वहाँ प्रभाकरी नगरी में श्री विनयन्धर

मुनिराज की निर्वाण-कल्याण की पूजा की और पूजा समाप्त कर मेरु पर्वत पर गया वहाँ उस समय नन्दनवन के पूर्व दिशासम्बन्धी चैत्यालय में स्थित राजा महीधर को (ललितांग का जीव) विद्याओं की पूजा करने के लिए उद्यत देखकर मैंने उसे उच्चस्वर में इस प्रकार समझाया-अहो भद्र, जानते हो, मैं अच्युत स्वर्ग का इन्द्र हूँ और तू ललितांग है। तू मेरी माता का जीव है इसलिए तुझ पर मेरा असाधारण प्रेम है। हे भद्र, दुःख देने वाले इन विषयों की आसक्ति से अब विरक्त हो ॥३३-३७॥

इस प्रकार से उससे कहा ही था कि वह विषयभोगों से विरक्त हो गया और महीकम्प नामक ज्येष्ठ पुत्र के लिए राज्यभार सौंपकर अनेक विद्याधरों के साथ जगन्नन्दन मुनि का शिष्य हो गया, तथा कनकावली तप तपकर उसके प्रभाव से प्राणत स्वर्ग में बीस सागर की स्थिति का धारक इन्द्र हुआ। वहाँ वह अनेक भोगों को भोगकर धातकीखण्ड द्वीप के पूर्व दिशासम्बन्धी पश्चिमविदेह क्षेत्र में स्थित गन्धिलदेश के अयोध्या नामक नगर में जयवर्मा राजा के घर उसकी सुप्रभा रानी से अजितंजय नामक पुत्र हुआ ॥३८-४१॥

कुछ समय बाद राजा जयवर्मा ने अपना समस्त राज्य अजितंजय पुत्र के लिए सौंपकर अभिनन्दन मुनिराज के समीप दीक्षा ले ली और आचाम्लवर्धन तप तपकर कर्म बन्धन से रहित हो मोक्षरूप उत्कृष्ट पद को प्राप्त कर लिया। उस मोक्ष में आत्यन्तिक, अविनाशी और अव्याबाध उत्कृष्ट सुख प्राप्त होता है ॥४२-४३॥

रानी सुप्रभा भी सुदर्शना नाम की गणिनी के पास जाकर तथा रत्नावली व्रत के उपवास कर अच्युत स्वर्ग के अनुदिश विमान में देव हुई ॥४४॥

तदनन्तर अजितंजय राजा चक्रवर्ती होकर किसी दिन भक्तिपूर्वक अभिनन्दन स्वामी की वन्दना के लिए गया। वन्दना करते समय उसके पापास्रव के द्वार रुक गये थे इसलिए उसका पिहितास्रव नाम पड़ गया। पिहितास्रव इस सार्थक नाम को पाकर वह सुदीर्घ काल तक राज्यसुख का अनुभव करता रहा ॥४५-४६॥

किसी दिन खेदपूर्वक मैंने उसे इस प्रकार समझाया-हे भव्य, तू इन नष्ट हो जाने वाले विषयों में आसक्त मत हो। देख, पण्डित जन उस तृप्ति को ही सुख कहते हैं जो विषयों से उत्पन्न न हुई हो तथा अन्त से रहित हो। वह तृप्ति मनुष्य तथा देवों के उत्तमोत्तम विषय भोगने पर भी नहीं हो सकती। ये भोग बार-बार भोगे जा चुके हैं, इनमें कुछ भी रस नहीं बदलता। जब इनमें वही पहले का रस है तब फिर चर्वण किये हुए का पुनः चर्वण करने में क्या लाभ है? जो इन्द्र सम्बन्धी भोगों से तृप्त नहीं हुआ वह क्या मनुष्यों के भोगों से तृप्त हो सकेगा इसलिए तृप्ति नहीं करने वाले इन विनाशीक सुखों से बाज आओ, इन्हें छोड़ो ॥४७-५०॥

इस प्रकार मेरे वचनों से जिसे वैराग्य उत्पन्न हो गया है ऐसे पिहितास्रव राजा ने बीस हजार बड़े-बड़े राजाओं के साथ मन्दिरस्थविर नामक मुनिराज के समीप दीक्षा लेकर अवधिज्ञान तथा चारण ऋद्धि प्राप्त की। उन्हीं पिहितास्रव मुनिराज ने अम्बरतिलक नामक पर्वत पर पूर्वभव में तुम्हें स्वर्ग के श्रेष्ठ सुख देने वाले जिनगुण सम्पत्ति और श्रुतज्ञान सम्पत्ति नाम के व्रत दिये थे। इस प्रकार हे पुत्री, जो पिहितास्रव पहले मेरे गुरु थे-माता के जीव थे वही पिहितास्रव व्रतदान की अपेक्षा तेरे भी पूज्य गुरु हुए। मेरी माता के जीव ललितांग ने मुझे उपदेश दिया था इसलिए मैंने गुरु के स्नेह से अपने समय में होने वाले बाईस ललितांग देवों की पूजा की थी ॥५१-५४॥

[उन बाईस ललितांगों में से पहला ललितांग तो मेरी माता मनोहरा का जीव था जो कि क्रम से जन्मान्तर में पिहितास्रव हुआ] और अन्त का ललितांग तेरा पति था जो कि पूर्वभव में महाबल था तथा स्वयम्बुद्ध मन्त्री के उपदेश से देवों की विभूति का अनुभव करने वाला हुआ था ॥५५॥

वह बाईसवाँ ललितांग स्वर्ग से च्युत होकर इस समय मनुष्यलोक में स्थित है। वह हमारा अत्यन्त निकट सम्बन्धी है। हे पुत्री, वही तेरा पति होगा ॥५६॥

हे कमलानने, मैं उस विषय का परिचय कराने वाली एक कथा और कहता हूँ उसे भी सुन। जब मैं अच्युत स्वर्ग का इन्द्र था तब एक बार ब्रह्मेन्द्र और लान्तव स्वर्ग के इन्द्रों ने भक्तिपूर्वक मुझ से पूछा था कि हम दोनों ने युगन्धर तीर्थकर के तीर्थ में सम्यग्दर्शन प्राप्त किया है इसलिए इस समय उनका पूर्ण चरित्र जानना चाहते हैं ॥५७-५८॥

उस समय मैंने उन दोनों इन्द्रों तथा अपनी इच्छा से साथ-साथ आये हुए तुम दोनों दम्पतियों (ललितांग और स्वयंप्रभा) के लिए युगन्धर स्वामी का चरित्र इस प्रकार कहा था ॥५९॥

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में एक वत्सकावती देश है जो कि भोगभूमि के समान है। इसी देश में सीता नदी की दक्षिण दिशा की ओर

एक सुसीमा नाम का नगर है। उसमें किसी समय प्रहसित और विकसित नाम के दो विद्वान् रहते थे, वे दोनों ज्ञानरूपी धन सहित अत्यन्त बुद्धिमान् थे ॥६०-६१॥

उस नगर के अधिपति श्रीमान् अजितंजय राजा थे। उनके मन्त्री का नाम अमितमति और अमितमति की स्त्री का नाम सत्यभामा था।

प्रहसित, इन दोनों का ही बुद्धिमान् पुत्र था और विकसित इसका मित्र था। ये दोनों सदा साथ-साथ रहते थे ॥६२-६३॥

ये दोनों विद्वान् हेतु, हेत्वाभास, छल, जाति आदि सब विषयों के पण्डित, व्याकरणरूपी समुद्र के पारगामी, सभा को प्रसन्न करने में तत्पर, राजमान्य, वादविवादरूपी खुजली को नष्ट करने के लिए उत्तम वैद्य तथा विद्वानों की गोष्ठी में यथार्थ ज्ञान की परीक्षा के लिए कसौटी के समान थे ॥६४-६५॥

किसी दिन उन दोनों विद्वानों ने राजा के साथ अमृतसाविणी ऋद्धि के धारक मतिसागर नामक मुनिराज के दर्शन किये ॥६६॥

राजा ने मुनिराज से जीवतत्त्व का स्वरूप पूछा, उत्तर में वे मुनिराज जीवतत्त्व का निरूपण करने लगे, उसी समय प्रश्न करने में चतुर होने के कारण वे दोनों विद्वान् प्रहसित और विकसित हठपूर्वक बोले कि उपलब्धि के बिना हम जीवतत्त्व पर विश्वास कैसे करें? जब कि जीव ही नहीं है तब मरने के बाद होने वाला परलोक और पुण्य-पाप आदि का फल कैसे हो सकता है? ॥६७-६८॥

वे धीर-वीर मुनिराज उन विद्वानों के ऐसे उपालम्भरूप वचन सुनकर उन्हें समझाने वाले नीचे लिखे वचन कहने लगे ॥६९॥

आप लोगों ने जीव का अभाव सिद्ध करने के लिए जो अनुपलब्धि हेतु दिया है (जीव नहीं है क्योंकि वह अनुपलब्ध है) वह असत् हेतु है क्योंकि उसमें हेतुसम्बन्धी अनेक दोष पाये जाते हैं ॥७०॥

उपलब्धि पदार्थों के सद्भाव का कारण नहीं हो सकती क्योंकि अल्प ज्ञानियों को परमाणु आदि सूक्ष्म, राम, रावण आदि अन्तरित तथा मेरु आदि दूरवर्ती पदार्थों की भी उपलब्धि नहीं होती परन्तु इन सर्व का सद्भाव माना जाता है इसलिए जीव का अभाव सिद्ध करने के लिए आपने जो हेतु दिया है वह व्यभिचारी है ॥७१॥

इसके सिवाय एक बात हम आपसे पूछते हैं कि आपने अपने पिता के पितामह को देखा है या नहीं? यदि नहीं देखा है, तो वे थे या नहीं? यदि नहीं थे तो आप कहाँ से उत्पन्न हुए? और थे, तो जब आपने उन्हें देखा ही नहीं है-आपको उनकी उपलब्धि हुई ही नहीं; तब उसका सद्भाव कैसे माना जा सकता है। यदि उनका सद्भाव मानते हो तो उन्हीं की भाँति जीव का भी सद्भाव मानना चाहिए ॥७२॥

यदि यह मान भी लिया जाये कि जीव का अभाव है; तो अनुपलब्धि होने से ही उसका अभाव सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसे कितने ही सूक्ष्म पदार्थ हैं जिनका अस्तित्व तो है परन्तु उपलब्धि नहीं होती ॥७३॥

जैसे जीव अर्थ को कहने वाले 'जीव' शब्द और उसके ज्ञान का जीवज्ञान-सद्भाव माना जाता है, उसी प्रकार उसके वाच्यभूत बाह्य-जीव अर्थ के भी सद्भाव को मानने में क्या हानि है क्योंकि जब जीव पदार्थ ही नहीं होता तो उसके वाचक शब्द कहाँ से आते और उनके सुनने से वैसा ज्ञान भी कैसे होता? ॥७४॥

जीव शब्द अभ्रान्त बाह्य पदार्थ की अपेक्षा रखता है क्योंकि वह संज्ञावाचक शब्द है। जो-जो संज्ञावाचक शब्द होते हैं, वे किसी संज्ञा से अपना सम्बन्ध रखते हैं जैसे लौकिक घट आदि शब्द, भ्रान्ति शब्द, मत शब्द और हेतु आदि शब्द। इत्यादि युक्तियों से मुनिराज ने जीवतत्त्व का निर्णय किया, जिसे सुनकर उन दोनों विद्वानों ने ज्ञान का अहंकार छोड़कर मुनि को नमस्कार किया ॥७५-७६॥

उन दोनों विद्वानों ने उन्हीं मुनि के समीप उत्कृष्ट तप ग्रहण कर सुदर्शन और आचाम्लवर्द्धन व्रतों के उपवास किये ॥७७॥

विकसित ने नारायण पद प्राप्त होने का निदान भी किया। आयु के अन्त में दोनों शरीर छोड़कर महाशुक्र स्वर्ग में इन्द्र और प्रतीन्द्र पद पर सोलह सागर प्रमाण स्थिति के धारक उत्तम देव हुए। वे वहाँ सुख में तन्मय होकर स्वर्ग-लक्ष्मी का अनुभव करने लगे ॥७८-७९॥

अपनी आयु के अन्त में दोनों वहाँ से चयकर धातकीखण्ड द्वीप के पश्चिम भाग सम्बन्धी पूर्वविदेह क्षेत्र में पुष्कलावती देश की पुण्डरीकिणी नगरी में राजा धनंजय की जयसेना और यशस्वती रानी के बलभद्र और नारायण का पद धारण करने वाले पुत्र उत्पन्न हुए। अब उत्पत्ति की अपेक्षा दोनों के क्रम में विपर्यय हो गया था। अर्थात् बलभद्र ऊर्ध्वगामी था और नारायण अधोगामी था। बड़े पुत्र का नाम महाबल था और छोटे का नाम अतिबल था (महाबल प्रहसित का जीव था और अतिबल विकसित का जीव था) ॥८०-८२॥

राज्य के अन्त में जब नारायण अतिबल की आयु पूर्ण हो गयी तब महाबल ने समाधिगुप्त मुनिराज के पास दीक्षा लेकर अनेक तप तपे, जिससे आयु के अन्त में शरीर छोड़कर वह प्राणत नामक चौदहवें स्वर्ग में इन्द्र हुआ ॥८३॥

वहाँ वह बीस सागर तक देवों की लक्ष्मी का उपभोग करता रहा । आयु पूर्ण होने पर वहाँ से चयकर धातकीखण्ड द्वीप के पश्चिम भाग सम्बन्धी पूर्वविदेह क्षेत्र में स्थित वत्सकावती देश की प्रभाकरी नगरी के अधिपति तथा अपने प्रताप से समस्त शत्रुओं को नष्ट करने वाले महासेन राजा की वसुन्धरा नामक रानी से जयसेन नाम का पुत्र हुआ । वह पुत्र चन्द्रमा के समान समस्त प्रजा को आनन्दित करता था ॥ ८४-८६ ॥

अनुक्रम से उसने चक्रवर्ती होकर पहले तो चिरकाल तक प्रजा का शासन किया और फिर भोगों से विरक्त हो जिनदीक्षा धारण की ॥ ८७ ॥ सीमन्धर स्वामी के चरणकमलों के मूल में सोलहकारण भावनाओं का चिन्तन करते हुए उसने बहुत समय तक निर्दोष तपश्चरण किया ॥ ८८ ॥

फिर आयु का अन्त होने पर उपरिम ग्रैवेयक के मध्यभाग अर्थात् आठवें ग्रैवेयक में अहमिन्द्र पद प्राप्त किया । वहाँ तीस सागर तक दिव्य सुखों का अनुभव कर वहाँ से अवतीर्ण हुआ और पुष्करार्थ द्वीप के पूर्वविदेह क्षेत्र में मंगलावती देश के रत्न-संचय नगर में अजितंजय राजा की वसुमती रानी से युगन्धर नाम का प्रसिद्ध पुत्र हुआ । वह पुत्र मनुष्य तथा देवों द्वारा पूजित था ॥ ८९-९१ ॥ वही पुत्र गर्भ-जन्म और तप इन तीनों कल्याणों में इन्द्र आदि देवों-द्वारा की हुई पूजा को प्राप्त कर आज अनुक्रम से केवलज्ञानी हो सबके द्वारा पूजित हो रहा है ॥ ९२ ॥

इस प्रकार उस प्रहसित के जीव ने पुण्यकर्म से छयासठ सागर (१६+२०+३०=६६) तक स्वर्गों के सुख भोग कर अरहन्त पद प्राप्त किया है ॥ ९३ ॥

ये युगन्धर स्वामी इस युग के सबसे श्रेष्ठ पुरुष हैं, तीर्थंकर हैं, धर्मरूपी रथ के चलाने वाले हैं तथा भव्यजीवरूप कमल वन को विकसित करने के लिए सूर्य के समान हैं । ऐसे ये तीर्थंकर देव हमारी रक्षा करें-संसार के दुःख दूर कर मोक्ष पद प्रदान करें ॥ ९४ ॥

उस समय मेरे ये वचन सुनकर अनेक जीव सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुए थे तथा आप दोनों भी (ललितांग और स्वयम्भूभा) परम धर्मप्रेम को प्राप्त हुए थे ॥ ९५ ॥

हे पुत्री, तुम्हें इस बात का स्मरण होगा कि जब पिहितास्रव भट्टारक को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था उस समय हम लोगों ने साथ-साथ जाकर ही उनकी पूजा की थी ॥ ९६ ॥

हे पुत्री, तू यह भी जानती होगी कि हम लोग क्रीड़ा करने के लिए स्वयम्भूरमण समुद्र तथा अंजनगिरि पर जाया करते थे ॥ ९७ ॥

इस प्रकार पिता के कह चुकने पर श्रीमती ने कहा कि हे तात, आपके प्रसाद से मैं यह सब जानती हूँ ॥ ९८ ॥

अम्बरतिलक पर्वत पर गुरुदेव पिहितास्रव मुनि के केवलज्ञान की जो पूजा की थी वह भी मुझे याद है तथा अंजनगिरि और स्वयम्भूरमण समुद्र में जो विहार किये थे वे सब मुझे याद है ॥ ९९ ॥

हे पिताजी, वे सब बातें प्रत्यक्ष की तरह मेरे हृदय में प्रतिभासित हो रही हैं किन्तु मेरा पति ललितांग कहाँ उत्पन्न हुआ है इसी विषय में मेरा चित्त चंचल हो रहा है ॥ १०० ॥

इस प्रकार कहती हुई श्रीमती से वज्रदन्त पुनः कहने लगे कि हे पुत्री, जब तुम दोनों स्वर्ग में स्थित थे तब मैं तुम्हारे च्युत होने के पहले ही अच्युत स्वर्ग से च्युत हो गया था और इस नगरी में यशोधर महाराज तथा वसुन्धरा रानी के वज्रदन्त नाम का श्रेष्ठ पुत्र हुआ हूँ ॥ १०१-१०२ ॥

जब आप दोनों की आयु में पचास हजार पूर्व वर्ष बाकी थे तब मैं स्वर्ग से च्युत हुआ था ॥ १०३ ॥

तुम दोनों भी अपनी बाकी आयु भोगकर स्वर्ग से च्युत हुए और इसी देश में यथायोग्य राजपुत्र और राजपुत्री हुए हो ॥ १०४ ॥

आज से तीसरे दिन तेरा ललितांग के जीव राजपुत्र के साथ समागम हो जायेगा । तेरी पण्डिता सखी आज ही उसके सब समाचार स्पष्ट रूप से लायेगी ॥ १०५ ॥

हे पुत्री, वह ललितांग तेरी बुआ के ही पुत्र उत्पन्न हुआ है और वही तेरा भर्ता होगा । यह समागम ऐसा आ मिला है मानो जिस बेल को खोज रहे हों वह स्वयं ही अपने पाँव में आ लगी हो ॥ १०६ ॥

हे पुत्री तेरी मामी आज आ रही हैं इसलिए उन्हें लाने के लिए हम लोग भी उनके सम्मुख जाते हैं ऐसा कहकर राजा वज्रदन्त उठकर वहाँ से बाहर चले गये ॥ १०७ ॥

राजा गये ही थे कि उसी क्षण पण्डिता सखी आ पहुँची । उस समय उसका मुख प्रफुल्लित हो रहा था और मुख की प्रसन्न कान्ति कार्य की

सफलता को सूचित कर रही थी। वह आकर श्रीमती से बोली ॥१०८॥

हे कन्ये, तू भाग्य से बढ़ रही है (तेरा भाग्य बढ़ा बलवान् है)। आज तेरा मनोरथ पूर्ण हुआ है। मैं विस्तार के साथ सब समाचार कहती हूँ, सावधान होकर सुन ॥१०९॥

उस समय मैं तेरी आज्ञा से चित्रपट लेकर यहाँ से गयी और अनेक आश्चर्यों से भरे हुए महापूत नामक जिनालय में जा ठहरी ॥११०॥
मैंने वहाँ जाकर तेरा विचित्र चित्रपट फैलाकर रख दिया। अपने-आपको पण्डित मानने वाले कितने ही मूर्ख लोग उसका आशय नहीं समझ सके। इसलिए देखकर ही वापस चले गये थे ॥१११॥

हाँ, वासव और दुर्दान्त, जो झूठ बोलने में बहुत ही चतुर थे, हमारा चित्रपट देखकर बहुत प्रसन्न हुए और फिर अपने अनुमान से बोले कि हम दोनों चित्रपट का स्पष्ट आशय जानते हैं। किसी राजपुत्री को जाति-स्मरण हुआ है, इसलिए उसने अपने पूर्वभव की समस्त चेष्टाएँ लिखी हैं ॥११२-११३॥

इस प्रकार कहते-कहते वे बड़ी चतुराई से बोले कि इस राजपुत्री के पूर्व जन्म के पति हम ही हैं। मैंने बहुत देर तक हँसकर कहा कि कदाचित् ऐसा हो सकता है ॥११४॥

अनन्तर जब मैंने उनसे चित्रपट के गूढ़ अर्थों के विषय में प्रश्न किये और उन्हें उत्तर देने के लिए बाध्य किया तब वे चुप रह गये और लज्जित हो चुपचाप वहाँ से चले गये ॥११५॥

तत्पश्चात् तेरे श्वशुर का तरुण पुत्र वज्रजंघ वहाँ आया, जो अपने दिव्य शरीर, कान्ति और तेज के द्वारा समस्त भूतल में अनुपम था ॥११६॥
उस भव्य ने आकर पहले जिनमन्दिर की प्रदक्षिणा दी। फिर जिनेन्द्रदेव की स्तुति कर उन्हें प्रणाम किया, उनकी पूजा की और फिर चित्रशाला में प्रवेश किया ॥११७॥

वह श्रीमान् इस चित्रपट को देखकर बोला कि ऐसा मालूम होता है मानो इस चित्रपट में लिखा हुआ चरित्र मेरा पहले का जाना हुआ हो ॥११८॥

इस चित्रपट पर जो यह चित्र चित्रित किया गया है इसकी शोभा वाणी के अगोचर है। यह चित्र लम्बाई चौड़ाई ऊँचाई आदि के ठीक-ठीक प्रमाण से सहित है तथा इसमें ऊँचे-नीचे सभी प्रदेशों का विभाग ठीक-ठीक दिखलाया गया है ॥११९॥

अहा, यह चित्र बड़ी चतुराई से भरा हुआ है, इसकी दीप्ति बहुत ही शोभायमान है, यह रस और भावों से सहित है, मनोहर है तथा रेखाओं की मधुरता से संगत है ॥१२०॥

इस चित्र में मेरे पूर्वभव का सम्बन्ध विस्तार के साथ लिखा गया है। ऐसा जान पड़ता मानो मैं अपने पूर्वभव में होने वाले श्रीप्रभ विमान के अधिपति ललितांगदेव के स्वामित्व को साक्षात् देख रहा हूँ ॥१२१॥

अहा, यहाँ यह स्त्री का रूप अत्यन्त शोभायमान हो रहा है। यह अनेक प्रकार के आभरणों से उज्ज्वल है और ऐसा जान पड़ता है मानो स्वयंप्रभा का ही रूप हो ॥१२२॥

किन्तु इस चित्र में कितने ही गूढ़ विषय क्यों दिखलाये गये हैं मालूम होता है कि अन्य लोगों को मोहित करने के लिए ही यह चित्र बनाया गया है ॥१२३॥

यह ऐशान स्वर्ग लिखा गया है। यह दैदीप्यमान श्रीप्रभविमान चित्रित किया गया है और यह श्रीप्रभविमान के अधिपति ललितांगदेव के समीप स्वयंप्रभा देवी दिखलायी गयी है ॥१२४॥

यह कल्पवृक्षों की पंक्ति है, यह फूले हुए कमलों से शोभायमान सरोवर है, यह मनोहर दोलागृह है और यह अत्यन्त सुन्दर कृत्रिम पर्वत है ॥१२५॥

इधर यह प्रणय-कोप कर पराङ्मुख बैठी हुई स्वयंप्रभा दिखलायी गयी है जो कल्पवृक्षों के समीप वायु से झकोर हुई लता के समान शोभायमान हो रही है ॥१२६॥

इधर तट भाग पर लगे हुए मणियों की फैलती हुई प्रभारूपी परदा से तिरोहित मेरुपर्वत के तट पर हम दोनों की मनोहर क्रीड़ा दिखलायी गयी है ॥१२७॥

इधर, अन्तःकरण में छिपे हुए प्रेम के साथ कपट से कुछ ईर्ष्या करती हुई स्वयंप्रभा ने यह अपना पैर हठपूर्वक मेरी गोदी से हटाकर शय्या

के मध्यभाग पर रखा है ॥१२८॥

इधर, यह स्वयंप्रभा मणिमय नुपूरों की झंकार से मनोहर अपने चरणकमल के द्वारा मेरा ताड़न करना चाहती है परन्तु गौरव के कारण ही मानो सखी के समान इस करधनी ने उसे रोक दिया है ॥१२९॥

इधर दिखाया गया है कि मैं बनावटी कोप किये हुए बैठा हूँ और मुझे प्रसन्न करने के लिए अति नम्रीभूत हुई स्वयंप्रभा अपना मस्तक मेरे चरणों पर रख रही है ॥१३०॥

इधर यह अच्युत स्वर्ग के इन्द्र के साथ हुई भेंट तथा पिहितास्रव गुरु की पूजा आदि का विस्तार दिखलाया गया है और इस स्थान पर परस्पर के प्रेमभाव से उत्पन्न हुआ रति आदि भाव दिखलाया गया है ॥१३१॥

यद्यपि इस चित्र में अनेक बातें दिखला दी गयी हैं; परन्तु कुछ बातें छूट भी गयी हैं। जैसे कि एक दिन मैं प्रणय-कोप के समय इस स्वयंप्रभा के चरण पर पड़ा था और यह अपने कोमल कर्णफूल से मेरा ताड़न कर रही थी; परन्तु वह विषय इसमें नहीं दिखाया गया है ॥ १३२॥

एक दिन इसने मेरे वक्षःस्थल पर महावर लगे हुए अपने पैर के अँगूठे से छाप लगायी थी। वह क्या थी मानो यह हमारा पति है इस बात को सूचित करने वाला चिह्न ही था। परन्तु वह विषय भी यहां नहीं दिखाया गया है ॥३३३॥

मैंने इसके प्रियंगु फाल के समान कान्तिमान् कपोलफलक पर कितनी ही बार पत्र-रचना की थी, परन्तु वह विषय भी इस चित्र में नहीं दिखाया है ॥१३४॥

निश्चय से यह हाथ की ऐसी चतुराई स्वयंप्रभा के जीव की ही है क्योंकि चित्रकला के विषय में ऐसी चतुराई अन्य किसी स्त्री के नहीं हो सकती ॥१३५॥

इस प्रकार तर्क-वितर्क करता हुआ वह राजकुमार व्याकुल की तरह शून्यहृदय और निमीलितनयन होकर क्षण-भर कुछ सोचता रहा ॥ १३६॥

उस समय उसकी आँखों से आँसू झर रहे थे, वह अन्त की मरण अवस्था को प्राप्त हुआ ही चाहता था कि दैव योग से उसी समय मूर्च्छा ने सखी के समान आकर उसे पकड़ लिया, अर्थात् वह मूर्च्छित हो गया ॥१३७॥

उसकी वैसी अवस्था देखकर केवल मुझे ही विषाद नहीं हुआ था, किन्तु चित्र में स्थित मूर्तियों का अन्तःकरण भी आर्द्र हो गया था ॥१३८॥ अनन्तर परिचारकों ने उसे अनेक उपायों से सचेत किया किन्तु उसकी चित्तवृत्ति तेरी ही ओर लगी रही। उसे समस्त दिशा ऐसी दिखती थी मानो तुझसे ही व्याप्त हों ॥१३९॥

थोड़ी ही देर बाद जब वह सचेत हुआ तो मुझसे इस प्रकार पूछने लगा कि हे भद्रे, इस चित्र में मेरे पूर्वभव की ये चेष्टाएँ किसने लिखी हैं ? ॥१४०॥

मैंने उत्तर दिया कि तुम्हारी मामी की एक श्रीमती नाम की पुत्री है, वह स्त्रियों की सृष्टि की एक मात्र मुख्य नायिका है-वह स्त्रियों में सबसे अधिक सुन्दर है और पति-वरण करने के योग्य अवस्था में विद्यमान है-अविवाहित है ॥१४१॥

हे राजकुमार, तुम उसे उज्ज्वल वस्त्र से शोभायमान कामदेव की पताका ही समझो, अथवा स्त्रीसृष्टि की माधुर्य से शोभायमान अन्तिम निर्माणरेखा ही जानो अर्थात् स्त्रियों में इससे बढ़कर सुन्दर स्त्रियों की रचना नहीं हो सकती ॥१४२॥

उसके लम्बायमान कटाक्ष क्या हैं मानो पूर्ण यौवन के प्रारम्भ को सूचित करनेवाले सूत्रपात ही हैं। उसके ऐसे कटाक्षों से ही कामदेव अपने बाणों के कौशल की प्रशंसा करता है अर्थात् उसके लम्बायमान कटाक्षों को देखकर मालूम होता है कि उसके शरीर में पूर्ण यौवन का प्रारम्भ हो गया है तथा कामदेव जो अपने बाणों की प्रशंसा किया करता है सो उसके कटाक्षों के भरोसे ही किया करता है ॥१४३॥ उसका मुखरूपी चन्द्रमा सदा दाँतों की उज्ज्वल किरणों से शोभायमान रहता है। इसलिए ऐसा जान पड़ता है मानो लक्ष्मी के हाथ में स्थित क्रीड़ाकमल को ही जीतना चाहता हो ॥१४४॥

चलते समय, उसके लाक्षा रस से रंगे हुए चरणों को लालकमल समझकर भ्रमर शीघ्र ही घेर लेते हैं ॥१४५॥

उसके कर्णफूल पर बैठी तथा मनोहर शब्द करती हुई भ्रमरियाँ ऐसी मालूम होती हैं मानो उसे कामशास्त्र का उपदेश ही दे रही हों और इसीलिए वे ताड़ना करने पर भी नहीं हटती हों ॥१४६॥

राजा वज्रदन्त की प्रियपुत्री उस श्रीमती ने ही इस चित्र में अपना कलाकौशल दिखलाया है ॥१४७॥

जो लक्ष्मी की तरह अनेक अर्थीजनों के द्वारा प्रार्थनीय है अर्थात् जिसे अनेक अर्थीजन चाहते हैं । जो यौवनवती होने के कारण स्थूल और कठोर स्तनों से सहित है तथा जो अच्छे-अच्छे मनुष्यों-द्वारा खोज करने के योग्य है अर्थात् दुर्लभ है, ऐसी वह श्रीमती आज आपकी खोज कर रही है । आपकी खोज के लिए ही उसने मुझे यहाँ भेजा है । इसलिए समझना चाहिए कि आपके समान और कोई पुण्यवान् नहीं है ॥१४८॥

वह प्यारी श्रीमती आपका स्वर्ग का (पूर्वभव का) नाम ललिताङ्ग बतलाती है । परन्तु वह झूठ है क्योंकि आप इस मनुष्य-भव में भी सौम्य तथा सुन्दर अंगों के धारक होने से साक्षात् ललिताङ्ग दिखायी पड़ते हैं ॥१४९॥

इस प्रकार मेरे कहने पर वह राजकुमार कहने लगा कि ठीक पण्डिते, ठीक, तुमने बहुत अच्छा कहा । अभिलषित पदार्थों की सिद्धि में कर्मों का उदय भी बड़ा विचित्र होता है ॥१५०॥

देखो, अनुकूलता को प्राप्त हुआ कर्मों का उदय जीवों को जन्मान्तर से लाकर इस दूसरे भव में भी शीघ्र मिला देता है ॥१५१॥

अनुकूलता को प्राप्त हुआ दैव अभीष्ट पदार्थ को किसी दूसरे द्वीप से, दिशाओं के अन्त से, किसी टापू से अथवा समुद्र से भी लाकर उसका संयोग करा देता है ॥१५२॥

इस प्रकार जो अनेक वचन कह रहा था, जिसके हाथ से पसीना निकल रहा था तथा जिसे कौतूहल उत्पन्न हो रहा था, ऐसे उस राजकुमार वज्रजंघ ने हमारा चित्रपट अपने हाथ में ले लिया और यह अपना चित्र हमारे हाथ में सौंप दिया । देख, इस चित्र में तेरे चित्र से मिलते-जुलते सभी विषय स्पष्ट दिखायी दे रहे हैं ॥१५३-१५४॥

जिस प्रकार प्रत्याहारशास्त्र (व्याकरणशास्त्र) में सूत्र, वर्ण और धातुओं के अनुबन्ध का क्रम स्पष्ट रहता है उसी प्रकार इस चित्र में भी रेखाओं, रंगों और अनुकूल भावों का क्रम अत्यन्त स्पष्ट दिखाई दे रहा है अर्थात् जहाँ जो रेखा चाहिए वहाँ वही रेखा खींची गयी है; जहाँ जो रंग चाहिए वहाँ वह रंग भरा गया है और जहाँ जैसा भाव दिखाना चाहिए वहीं वैसा ही भाव दिखाया गया है ॥१५५॥

राजकुमार ने मुझे यह चित्र क्या सौंपा है मानो अपने मन का अनुराग ही सौंपा है अथवा तेरे मनोरथ को सिद्ध करने के लिए सत्यंकार (बयाना) ही दिया है ॥१५६॥

अपना चित्र मुझे सौंप देने के बाद राजकुमार ने हाथ फैलाकर कहा कि हे आर्य, तेरा दर्शन फिर भी कभी हो, इस समय जाओ, हम भी जाते हैं । इस प्रकार कहकर यह जिनालय से निकलकर बाहर चला गया ॥१५७॥

और मैं उस समाचार को ग्रहण कर यहाँ आयी हूँ । ऐसा कहकर पण्डिता ने वज्रजंघ का दिया हुआ चित्रपट फैलाकर श्रीमती के सामने रख दिया ॥१५८॥

उस चित्रपट को उसने बड़ी देर तक गौर से देखा, देखकर उसे अपने मनोरथ पूर्ण होने का विश्वास हो गया और उसने सुख की साँस ली । जिस प्रकार चिरकाल से संतप्त हुई चातकी मेघ का आगमन देखकर हर्षित होती है, जिस प्रकार हंसी शरद ऋतु में किनारे की निकली हुई जमीन देखकर प्रसन्न होती है, जिस प्रकार भव्यजीवों की पंक्ति अध्यात्मशास्त्र को देखकर प्रमुदित होती है, जिस प्रकार कोयल फूले हुए आमों का वन देखकर आनन्दित होती है और जिस प्रकार देवों की सेना नन्दीश्वर द्वीप को पाकर प्रसन्न होती है; उसी प्रकार श्रीमती उस चित्रपट को पाकर प्रसन्न हुई थी । उसकी सब आकुलता दूर हो गयी थी । सो ठीक ही है अभिलषित वस्तु की प्राप्ति किसकी उत्कण्ठा दूर नहीं करती ? ॥१५९-१६२॥

तत्पश्चात् श्रीमती इच्छानुसार वर प्राप्त होने से कृतार्थ हो जायेगी इस बात का समर्थन करने के लिए पण्डिता श्रीमती से उस अवसर के योग्य वचन कहने लगी ॥१६३॥

कि हे कल्याणि, दैवयोग से अब तू शीघ्र ही अनेक कल्याण प्राप्त कर । तू विश्वास रख कि अब तेरा प्राणनाथ के साथ समागम शीघ्र ही होगा ॥१६४॥

वह राजकुमार वहाँ से चुपचाप चला गया इसलिए अविश्वास मत कर, क्योंकि उस समय भी उसका चित्त तुझमें ही लगा हुआ था । इस बात का मैंने अच्छी तरह निश्चय कर लिया है ॥१६५॥

वह जाते समय दरवाजे पर बहुत देर तक विलम्ब करता रहा, बार-बार मुझे देखता था और सुखपूर्वक गमन करने योग्य उत्तम मार्ग में

चलता हुआ भी पद-पद पर स्थलित हो जाता था । वह हंसता था, जँभाई लेता था, कुछ स्मरण करता था, दूर तक देखता था और उष्ण तथा लम्बी साँस छोड़ता था । इन सब चिह्नों से जान पड़ता था कि उसमें कामज्वर बढ़ रहा है ॥१६६-१६७॥

वह वज्रजंघ राजा वज्रदन्त का भानजा है और लक्ष्मीमती देवी के भाई का पुत्र (भतीजा) है । इसलिए तेरे माता-पिता भी उसे श्रेष्ठ वर समझते हैं ॥१६८॥

इसके सिवाय वह लक्ष्मीमान् है, उच्चकुल में उत्पन्न हुआ है, चतुर है, सुन्दर है और सज्जनों का मान्य है । इस प्रकार उसमें वर के योग्य अनेक गुण विद्यमान हैं ॥१६९॥

हे कल्याणि, तू लक्ष्मी और सरस्वती की सपत्नी (सौत) होकर सैकड़ों सुखों का अनुभव करती हुई चिरकाल तक उसके हृदयरूपी घर में निवास कर ॥१७०॥

यदि सामान्य (गुणों की बराबरी) की अपेक्षा विचार किया जाये तो लक्ष्मी और सरस्वती दोनों ही तेरी उपमा को नहीं पा सकतीं, क्योंकि तू अनोखी लक्ष्मी है और अनोखी ही सरस्वती है । जिसके पत्ते फटे हुए हैं, जो सदा संकुचित (संकीर्ण) होता रहता है और जो परागरूपी धूलि से सहित है ऐसे कमलरूपी झोपड़ी में जिस लक्ष्मी का जन्म हुआ है उसे लक्ष्मी नहीं कह सकते यह तो अलक्ष्मी है-दरिद्रा है । भला, तुम्हें उसकी उपमा कैसे दी जा सकती है ? इसी प्रकार उच्छिष्ट तथा चञ्चल जिह्वा के अग्रभागरूपी पल्लव पर जिसका जन्म हुआ है वह सरस्वती भी नीच कुल में उत्पन्न होने के कारण तेरी उपमा को प्राप्त नहीं हो सकती । क्योंकि तेरा कुल अतिशय शुद्ध है-उत्तम कुल में ही तू उत्पन्न हुई है ॥१७१-१७३॥

हे लताङ्गि (लता के समान कृश अंगों को धारण करने वाली) जिस प्रकार पवित्र मानससरोवर में राजहंसी क्रीड़ा किया करती है उसी प्रकार तू पति के आगमन के लिए सारा नगर कैसा अतिशय कौतुकपूर्ण हो रहा है ॥१७६॥

इस तरह पण्डिता ने वज्रजंघ सम्बन्धी अनेक मनोहर बातें कहकर श्रीमती को सुखी किया, परन्तु वह उसकी प्राप्ति के विषय में अबतक भी निराकुल नहीं हुई ॥१७७॥

इधर पण्डिता ने श्रीमती से जब तक सब समाचार कहे तब तक महाराज वज्रदन्त, विशाल भ्रातृप्रेम को विस्तृत करते हुए आधी दूर तक जाकर वज्रबाहु राजा को ले आये ॥१७८॥

राजा वज्रदन्त अपने बहनोई, बहन और भानजे को देखकर परम प्रीति को प्राप्त हुए सो ठीक ही है क्योंकि इष्टजनों का दर्शन प्रीति के लिए ही होता है ॥१७९॥

तदनन्तर कुछ देर तक कुशलमंगल की बातें होती रही और फिर चक्रवर्ती की ओर से सब पाहुनों का उचित सत्कार किया गया ॥१८०॥

स्वयं चक्रवर्ती के द्वारा किये हुए सत्कार को पाकर राजा वज्रबाहु बहुत प्रसन्न हुआ । सच है, स्वामी के द्वारा किया हुआ सत्कार सेवकों की प्रीति के लिए ही होता है ॥१८१॥

इस प्रकार जब सब बन्धु संतोषपूर्वक सुख से बैठे हुए थे तब चक्रवर्ती ने अपने बहनोई राजा वज्रबाहु से नीचे लिखे हुए वचन कहे ॥१८२॥

यदि आपकी मुझ पर असाधारण प्रीति है तो मेरे घर में जो कुछ वस्तु आपको अच्छी लगती हो वही ले लीजिए ॥१८३॥

आज आप पुत्र और स्त्रीसहित मेरे घर पधारे हैं इसलिए मेरा मन प्रीति की अन्तिम अवधि को प्राप्त हो रहा है ॥१८४॥

आप मेरे इष्ट बन्धु हैं और आज पुत्रसहित मेरे घर आये हुए हैं इसलिए देने के योग्य इससे बढ़कर और ऐसा कौन-सा अवसर मुझे प्राप्त हो सकता है ॥१८५॥

इसलिए इस अवसर पर ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो मैं आपके लिए न दे सकूँ । हे प्रणयिन्, मुझ प्रार्थी के इस प्रेम को भंग मत कीजिए ॥१८६॥

इस प्रकार प्रेम के वशीभूत चक्रवर्ती के वचन सुनकर राजा वज्रबाहु ने इस प्रकार उत्तर दिया । हे चक्रिन्, आपके प्रसाद से मेरे यहाँ सब कुछ है, आज मैं आप से किस वस्तु की प्रार्थना करूँ ? ॥१८७॥

आज आपने सम्मानपूर्वक जो मेरे साथ स्वयं साम का प्रयोग किया है-भेंट आदि करके स्नेह प्रकट किया है सो मानो आपने मुझे स्नेह की सबसे ऊँची भूमि पर ही चढ़ा दिया है ॥१८८॥

हे देव, नष्ट हो जाने वाला यह धन कितनी-सी वस्तु है ? यह आपने सम्पन्न बनाने वाली अपनी दृष्टि मुझ पर अर्पित कर दी है मेरे लिए यही

बहुत है ॥१८९॥

हे देव, आज आपने मुझे स्नेह से भरी हुई दृष्टि से देखा है इसलिए मैं आज कृतकृत्य हुआ हूँ, धन्य हुआ हूँ और मेरा जीवन भी आज सफल हुआ है ॥१९०॥

हे देव, जिस प्रकार लोक में शास्त्रों की रचना करने वाले तथा प्रसिद्ध धातुओं से बने हुए जीव अजीव आदि शब्द परोपकार करने के लिए ही अर्थों को धारण करते हैं, उसी प्रकार आप-जैसे उत्तम पुरुष भी परोपकार करने के लिए ही अर्थों (धनधान्यादि विभूतियों) को धारण करते हैं ॥१९१॥

हे देव, आपको उसी वस्तु से सन्तोष होता है जो कि याचकों के उपयोग में आती है और इससे भी बढ़कर सन्तोष उस वस्तु से होता है जो कि धन आदि के विभाग से रहित (सम्मिलित रूप से रहने वाले) बन्धुओं के उपयोग में आती है ॥१९२॥

इसलिए, आपके जिस धन को मैं अपनी इच्छानुसार भोग सकता हूँ ऐसा वह धन धरोहररूप से आपके ही पास रहे, इस समय मुझे आवश्यकता नहीं है। हे देव, आप से धन नहीं माँगने में मुझे कुछ अहंकार नहीं है और न आपके विषय में कुछ अनादर ही है ॥१९३॥

हे देव, यद्यपि मुझे किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है तथापि आपकी आज्ञा को पूज्य मानता हुआ आप से प्रार्थना करता हूँ कि आप अपनी श्रीमती नाम की उत्तम कन्या मेरे पुत्र वज्रजंघ के लिए दे दीजिए ॥१९४॥

यह वज्रजंघ प्रथम तो आपका भानजा है, और दूसरे आपका भानजा होने से ही इसका उच्चकुल प्रसिद्ध है। तीसरे आज आपने जो इसका सत्कार किया है वह इसकी योग्यता को पुष्ट कर रहा है ॥१९५॥

अथवा यह सब कहना व्यर्थ है। वज्रजंघ हर प्रकार से आपकी कन्या ग्रहण करने के योग्य है। क्योंकि लोक में ऐसी कहावत प्रसिद्ध है कि कन्या चाहे हंसती हो चाहे रोती हो, अतिथि उसका अधिकारी होता है ॥१९६॥

इसलिए हे स्वामिन्, अपने भानजे वज्रजंघ को पुत्री देने के लिए प्रसन्न होइए। मैं आशा करता हूँ कि मेरी प्रार्थना सफल हो और यह कुमार वज्रजंघ ही उसका पति हो ॥१९७॥

हे देव, धन, सवारी आदि वस्तुएँ तो मुझे आप से अनेक बार मिल चुकी है इसलिए उनसे क्या प्रयोजन है? अब की बार तो कन्यारत्न दीजिए जो कि पहले कभी नहीं मिला था ॥१९८॥

इस प्रकार राजा वज्रबाहु ने जो प्रार्थना की थी उसे चक्रवर्ती ने यह कहते हुए स्वीकार कर लिया कि आपने जैसा कहा है वैसा ही हो, युवावस्था को प्राप्त हुए इन दोनों का यह समागम अनुकूल ही है ॥१९९॥

स्वभाव से ही सुन्दर शरीर को धारण करने वाला यह वज्रजंघ वर हो और अनेक गुणों से युक्त कन्या श्रीमती उसकी वधू हो ॥२००॥

इन दोनों का प्रेम जन्मान्तर से चला आ रहा है इसलिए इस जन्म में भी चन्द्रमा और चाँदनी के समान इन दोनों का योग्य समागम हो ॥२०१॥

इस लोकोत्तर कार्य का मैंने पहले से ही विचार कर लिया था। अथवा इन दोनों का दैव (कर्मों का उदय) इस विषय में पहले से ही सावधान हो रहा है। इस विषय में हम लोग कौन हो सकते हैं? ॥२०२॥

इस प्रकार चक्रवर्ती के द्वारा कहे हुए वचनों का सत्कार कर वह पवित्र बुद्धि का धारक राजा वज्रबाहु प्रीति की परम सीमा पर आरूढ़ हुआ-अत्यन्त प्रसन्न हुआ ॥२०३॥

उस समय वज्रजंघ की माता वसुन्धरा महादेवी अपने पुत्र की विवाहरूप सम्पदा से इतनी अधिक हर्षित हुई कि अपने अंग में भी नहीं समा रही थी ॥२०४॥

उस समय वसुन्धरा के शरीर में पुत्र के विवाहरूप महोत्सव से रोमांच उठ आये थे जो ऐसे जान पड़ते थे मानो हर्ष के अंकुर ही हो ॥२०५॥ मंत्री, महामंत्री, सेनापति, पुरोहित, सामन्त तथा नगरवासी आदि सभी लोगों ने उस विवाह की प्रशंसा की ॥२०६॥

यह कुमार वज्रजंघ कामदेव के समान सुन्दर आकृति का धारक है और यह श्रीमती अपनी सौन्दर्य-सम्पत्ति से रति को जीतना चाहती है ॥२०७॥

यह कुमार सुन्दर है और यह कन्या भी सुन्दरी है इसलिए देव-देवाङ्गनाओं की लीला को धारण करने वाले इन दोनों का योग्य समागम होना चाहिए ॥२०८॥

इस प्रकार आनन्द के विस्तार को धारण करता हुआ वह नगर बहुत ही शोभायमान हो रहा था और राजमहल का तो कहना ही क्या था ? वह तो मानो दूसरी ही शोभा को प्राप्त हो रहा था, उसकी शोभा ही बदल गयी थी ॥२०९॥

चक्रवर्ती की आज्ञा से विश्वकर्मा नामक मनुष्य रत्न ने महामूल्य रत्नों और सुवर्ण से विवाहमण्डप तैयार किया था ॥२१०॥

उस विवाहमण्डप में सुवर्ण के खम्भे लगे हुए थे और उनके नीचे रत्नों से शोभायमान बड़े-बड़े तलकुम्भ लगे हुए थे, उन तलकुम्भों से वे सुवर्ण के खम्भे ऐसे सुशोभित हो रहे थे जैसे कि सिंहासनों से राजा सुशोभित होते हैं ॥२११॥

उस मण्डप में स्फटिक की दीवारों पर अनेक मनुष्य के प्रतिबिम्ब पड़ते थे जिनसे वे चित्रित हुई-सा जान पड़ती थी और इसीलिए दर्शकों का मन अनुरक्षित कर रही थीं ॥२१२॥

उस मण्डप की भूमि नील रत्नों से बनी हुई थी, उस पर जहां-तहां फूल बिखरे गये थे । उन फूलों से वह ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो ताराओं से व्याप्त नीला आकाश ही हो ॥२१३॥

उस मण्डप के भीतर जो मोतियों की मालाएँ लटकती थी वे ऐसी भली मालूम होती थीं मानो किसी ने कौतुकवश फेनसहित मृणाल ही लटका दिये हैं ॥२१४॥

उस मण्डप के मध्य में पद्मराग मणियों की एक बड़ी वेदी बनी थी जो ऐसी जान पड़ती थी मानो मनुष्यों के हृदय का अनुराग ही वेदी के आकार में परिणत हो गया हो ॥२१५॥

उस मण्डप के पर्यन्त भाग में चूना से पुते हुए सफेद शिखर ऐसे शोभायमान होते थे मानो अपनी शोभा से सन्तुष्ट होकर देवों के विमानों की हँसी ही उड़ा रहे हों ॥२१६॥

उस मण्डप के सब ओर एक छोटी-सी वेदिका बनी हुई थी, वह वेदिका उसके कटिसूत्र के समान जान पड़ती थी । उस वेदिकारूप कटिसूत्र से घिरा हुआ मण्डप ऐसा मालूम होता था मानो सब ओर से दिशा को रोकने वाली सौन्दर्य की सीमा से ही घिरा हो ॥२१७॥

अनेक प्रकार के रत्नों से बहुत ऊँचा बना हुआ उसका गोपुर-द्वार ऐसा मालूम होता था मानो रत्नों की फैलती हुई कान्ति के समूह से इन्द्रधनुष ही बना रहा हो ॥२१८॥

उस मण्डप का भीतरी दरवाजा सब प्रकार के रत्नों से बनाया गया था और उसके दोनों ओर मङ्गल-द्रव्य रखे गये थे, जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो लक्ष्मी के प्रवेश के लिए ही बनाया गया हो ॥२१९॥

उसी समय वज्रदन्त चक्रवर्ती ने महापूत चैत्यालय में आठ दिन तक कल्पवृक्ष नामक महापूजा की थी ॥२२०॥

तदनन्तर ज्योतिषियों के द्वारा बताया हुआ शुभ दिन शुभ लग्न और चन्द्रमा तथा ताराओं के बल से सहित शुभ मुहूर्त आया । उस दिन नगर विशेषरूप से सजाया गया । चारों ओर तोरण लगाये गये तथा और भी अनेक विभूति प्रकट की गयी जिससे वह स्वर्गलोक के समान शोभायमान होने लगा । राजभवन के आँगन में सब ओर सघन चन्दन छिड़का गया तथा गुंजार करते हुए भ्रमरों से सुशोभित पुष्प सब ओर बिखरे गये । इन सब कारण से वह राजभवन का आँगन बहुत ही शोभायमान हो रहा था । उस आँगन में वधू-वर बैठाये गये तथा विधि-विधान के जानने वाले लोगों ने पवित्र जल से भरे हुए रत्नजड़ित सुवर्णमय कलशों से उनका अभिषेक किया ॥२२१-२२४॥

उस समय राजमन्दिर में शंख के शब्द से मिला हुआ बड़े-बड़े दुन्दुभियों का भारी कोलाहल हो रहा था और वह आकाश को भी उल्लंघन कर सब ओर फैल गया था ॥२२५॥

श्रीमती और वज्रजंघ के उस विवाहाभिषेक के समय अन्तःपुर का ऐसा कोई मनुष्य नहीं था जो हर्ष से सन्तुष्ट होकर नृत्य न कर रहा हो ॥ २२६॥

उस समय वारांगनाएँ, कुलवधूएँ और समस्त नगर-निवासी जन उन दोनों वरवधूओं को आशीर्वाद के साथ-साथ पवित्र पुष्प और अक्षतों के द्वारा प्रसाद प्राप्त करा रहे थे ॥२२७॥

अभिषेक के बाद उन दोनों वर-वधू ने क्षीरसागर की लहरों के समान अत्यन्त उज्ज्वल, महीन और नवीन रेशमी वस्त्र धारण किया ॥२२८॥

तत्पश्चात् दोनों वर-वधू अतिशय मनोहर प्रसाधन-गृह में जाकर पूर्व दिशा की ओर मुँह करके बैठ गये और वहाँ उन्होंने विवाह मंगल के योग्य उत्तम-उत्तम आभूषण धारण किये ॥२२९॥

पहले उन्होंने अपने सारे शरीर में चन्दन का लेप किया । फिर ललाट पर विवाहोत्सव के योग्य, घिसे हुए चन्दन का तिलक लगाया ॥२३०॥

तदनन्तर सफेद चन्दन अथवा केशर से शोभायमान वक्षःस्थल पर गोल नक्षत्रमाला के समान सुशोभित बड़े-बड़े मोतियों के बने हुए हार धारण किये ॥२३१॥

कुटिल केशों से सुशोभित उनके मस्तक पर धारण की हुई पुष्पमाला नीलगिरि के शिखर के समीप बहती हुई सीता नदी के समान शोभायमान हो रही थी ॥२३२॥

उन दोनों ने कानों में ऐसे कर्णभूषण धारण किये थे कि जिनमें लगे हुए रत्नों की किरणों से उनका मुख-कमल उत्कृष्ट शोभा को प्राप्त हो रहा था ॥२३३॥

वे दोनों शरद्ऋतु की चाँदनी अथवा मृणाल तन्तु के समान सुशोभित सफेद, घुटनों तक लटकती हुई पुष्पमालाओं से अतिशय शोभायमान हो रहे थे ॥२३४॥

कड़े, बाजूबंद, केयर और अँगूठी आदि आभूषण धारण करने से उन दोनों की भुजाएँ भूषणांग जाति के कल्पवृक्ष की शाखाओं की तरह अतिशय सुशोभित हो रही थीं ॥२३५॥

उन दोनों ने अपने-अपने नितम्ब भाग पर करधनी पहनी थी । उसमें लगी हुई छोटी-छोटी घण्टियाँ (बोरा) मधुर शब्द कर रही थीं । उन करधनियों से वे ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो उन्होंने कामदेवरूपी हस्ती के विजय-सूचक बाजे ही धारण किये हों ॥२३६॥

श्रीमती के दोनों चरण मणिमय नूपुरों की झंकार से ऐसे मालूम होते थे मानो भ्रमरों के मधुर शब्दों से शोभायमान कमल ही हों ॥२३७॥ विवाह के समय आभूषण धारण करना चाहिए, केवल इसी पद्धति को पूर्ण करने के लिए उन्होंने बड़े-बड़े आभूषण धारण किये थे । नहीं तो उनके सुन्दर शरीर की शोभा ही उनका आभूषण थी ॥२३८॥

साक्षात् लक्ष्मी के समान लक्ष्मीमति ने स्वयं अपनी पुत्री श्रीमती को अलंकृत किया था और साक्षात् वसुन्धरा पृथिवी के समान वसुन्धरा ने अपने पुत्र वज्रजंघ को आभूषण पहनाये थे ॥२३९॥

इस प्रकार अलंकार धारण करने के बाद वे दोनों जिसकी मंगल क्रिया पहले ही की जा चुकी है ऐसी रत्न-वेदी पर यथायोग्य रीति से बैठाये गये ॥२४०॥

मणिमय दीपकों के प्रकाश से जगमगाती हुई और मङ्गल-द्रव्यों से सुशोभित वह वेदी उन दोनों के बैठ जाने से ऐसी शोभायमान होने लगी थी मानो देव-देवियों से सहित मेरु पर्वत का तट ही हो ॥२४१॥

उस समय समुद्र के समान गम्भीर शब्द करते हुए, डंडों से बजाये गये नगाड़े बड़ा ही मधुर शब्द कर रहे थे ॥२४२॥

वाराङ्गनाएँ मधुर मंगल गीत गा रही थीं और बन्दीजन मागध जनों के साथ मिलकर चारों ओर उत्साहवर्धक मङ्गल पाठ पढ़ रहे थे ॥२४३॥ जिनकी भाँ: कुछ-कुछ ऊपर को उठी हुई हैं ऐसी वाराङ्गनाएँ लय-तान आदि से सुशोभित तथा रुन-झुन शब्द करते हुए नूपुर और मेखलाओं से मनोहर नृत्य कर रही थीं ॥२४४॥

तदनन्तर जिनके मस्तक सिद्ध प्रतिमा के जल से पवित्र किये गये हैं ऐसे वधू-वर अतिशय शोभायमान सुवर्ण के पाटे पर बैठाये गये ॥२४५॥

घुटनों तक लम्बी भुजाओं के धारक चक्रवर्ती ने स्वयं अपने हाथ में शृंगार धारण किया । वह शृंगार सुवर्ण से बना हुआ था, बड़े-बड़े रत्नों से खचित था तथा मोतियों से अतिशय उज्ज्वल था ॥२४६॥

मुख पर रखे हुए अशोक वृक्ष के पल्लवों से वह शृंगार ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो इन दोनों वर-वधूओं के हस्तपल्लव की उत्तम कान्ति का अनुकरण ही कर रहा हो ॥२४७॥

तदनन्तर आप दोनों दीर्घकाल तक जीवित रहें, मानो यह सूचित करने के लिए ही ऊँचे लगार से छोड़ी गयी जलधारा वज्रजंघ के हस्त पर पड़ी ॥२४८॥

तत्पश्चात् बड़ी-बड़ी भुजाओं को धारण करनेवाले वज्रजंघ ने हर्ष के साथ श्रीमती का पाणिग्रहण किया । उस समय उसके कोमल स्पर्श के सुख से वज्रजंघ के दोनों नेत्र बन्द हो गये थे ॥२४९॥

वज्रजंघ के हाथ के स्पर्श से श्रीमती के शरीर में भी पसीना आ गया था जैसे कि चन्द्रमा की किरणों के स्पर्श से चन्द्रकान्त मणि की बनी हुई पुतली में जलबिन्दु उत्पन्न हो जाते हैं ॥२५०॥

जिस प्रकार मेघों की वृष्टि से पृथ्वी का सन्ताप नष्ट हो जाता है उसी प्रकार वज्रजंघ के हाथ के स्पर्श से श्रीमती के शरीर का चिरकालीन सन्ताप भी नष्ट हो गया था ॥२५१॥

उस समय वज्रजंघ के समागम से श्रीमती किसी बड़े कल्पवृक्ष से लिपटी हुई कल्प-लता की तरह सुशोभित हो रही थी ॥२५२॥

वह श्रीमती स्त्री-संसार में सबसे श्रेष्ठ थी, समीप में बैठी हुई उस श्रीमती से वह वज्रजंघ भी ऐसा सुशोभित होता था जैसे रति से कामदेव सुशोभित होता है ॥२५३॥

इस प्रकार लोगों को परमानन्द देने वाला उन दोनों का विवाह गुरुजनों की साक्षीपूर्वक बड़े वैभव के साथ समाप्त हुआ ॥२५४॥

उस समय सब लोग उस विवाहिता श्रीमती का बड़ा आदर करते थे और कहते थे कि यह श्रीमती सचमुच में श्रीमती है अर्थात् लक्ष्मीमती है ॥२५५॥

उत्तम आकृति के धारक, देव-देवाङ्गनाओं के समान क्रीड़ा करने वाले तथा अमृत के समान आनन्द देने वाले उन वधू और वर को जो भी देखता था उसी का चित्त आनन्द से सन्तुष्ट हो जाता था ॥२५६॥

जो स्वर्गलोक में दुर्लभ है ऐसे उस विवाहोत्सव को देखकर देखने वाले पुरुष परम आनन्द को प्राप्त हुए थे और सभी लोग उसकी प्रशंसा करते थे ॥२५७॥

वे कहते थे कि चक्रवर्ती बड़ा भाग्यशाली है जिसके यह ऐसा उत्तम स्त्री-रत्न उत्पन्न हुआ है और वह उसने सब लोगों की प्रशंसा के स्थानभूत वज्रजंघरूप योग्य स्थान में नियुक्त किया है ॥२५८॥

इसकी यह पुण्यवती माता पुत्रवतियों में सबसे श्रेष्ठ है जिसने लक्ष्मी के समान कान्ति वाली यह उत्तम सन्तान उत्पन्न की है ॥२५९॥

इस वज्रजंघकुमार ने पूर्व जन्म में कौन-सा तप तपा था जिससे कि संसार का सारभूत और अतिशय कान्ति का धारक यह स्त्री-रत्न इसे प्राप्त हुआ है ॥२६०॥

चूँकि इस कन्या ने वज्रजंघ को पति बनाया है इसलिए यह कन्या धन्य है, मान्य है और भाग्यशालिनी है। इसके समान और दूसरी कन्या पुण्यवती नहीं हो सकती ॥२६१॥

पूर्व जन्म में इन दोनों ने न जाने कौन-सा उपवास किया था, कौन-सा भारी तप तपा था, कौन-सा दान दिया था, कौन-सी पूजा की थी अथवा कौन-सा व्रत पालन किया था ॥२६२॥

अहो, धर्म का बड़ा माहात्म्य है, तपश्चरण से उत्तम सामग्री प्राप्त होती है, दान देने से बड़े-बड़े फल प्राप्त होते हैं और दयारूपी बेल पर उत्तम-उत्तम फल फलते हैं ॥२६३॥

अवश्य ही इन दोनों ने पूर्वजन्म में महापूजा अर्हन्त देव की उत्कृष्ट पूजा की होगी क्योंकि पूज्य पुरुषों की पूजा अवश्य ही सम्पदा की परम्परा प्राप्त कराती रहती है ॥२६४॥

इसलिए जो पुरुष अनेक कल्याण, धन-ऋद्धि तथा विपुल सुख चाहते हैं उन्हें स्वर्ग आदि महाफल देनेवाले श्री अरहन्त देव के कहे हुए मार्ग में ही अपनी बुद्धि लगानी चाहिए ॥२६५॥

इस प्रकार दर्शक लोगों के वार्तालाप से प्रशंसनीय वे दोनों वर-वधू अपने इष्ट बन्धुओं से परिवारित हो सभा-मण्डप में सुख से बैठे थे ॥ २६६॥

उस विवाहोत्सव में दरिद्र लोगों ने अपनी दरिद्रता छोड़ दी थी, कृपण लोगों ने अपनी कृपणता छोड़ दी थी और अनाथ लोग सनाथता को प्राप्त हो गये थे ॥२६७॥

चक्रवर्ती ने इस महोत्सव में दान, मान, सम्भाषण आदि के द्वारा अपने समस्त बन्धुओं का सम्मान किया था तथा दासी दास आदि भृत्यों को भी सन्तुष्ट किया था ॥२६८॥

उस समय घर-घर बड़ा सन्तोष हुआ था, घर-घर पताकाएँ फहरायी गयी थीं, घर-घर वर के विषय में बात हो रही थी और घर-घर वधू की प्रशंसा हो रही थी ॥२६९॥

उस समय प्रत्येक दिन बड़ा सन्तोष होता था, प्रत्येक दिन धर्म में भक्ति होती थी और प्रत्येक दिन इन्द्र जैसी विभूति से वधू-वर का सत्कार किया जाता था ॥२७०॥

तत्पश्चात् दूसरे दिन अपना धार्मिक उत्साह प्रकट करने के लिए उद्युक्त हुआ वज्रजंघ सायंकाल के समय अनेक दीपकों का प्रकाश कर महापूत चैत्यालय को गया ॥२७१॥

अतिशय कान्ति का धारक वज्रजंघ आगे-आगे जा रहा था और श्रीमती उसके पीछे-पीछे जा रही थी । जैसे कि अन्धकार को नष्ट करनेवाले सूर्य के पीछे-पीछे उसकी दैदीप्यमान प्रभा जाती है ॥२७२॥

वह वज्रजंघ पूजा की बड़ी भारी सामग्री साथ लेकर जिनमन्दिर पहुँचा । वह मन्दिर मेरु पर्वत के समान ऊँचा था, क्योंकि उसके शिखर भी अत्यन्त ऊँचे थे ॥२७३॥

श्रीमती के साथ-साथ चैत्यालय की प्रदक्षिणा देता हुआ वज्रजंघ ऐसा शोभायमान हो रहा था जैसा कि महाकान्ति से युक्त सूर्य मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा देता हुआ शोभायमान होता है ॥२७४॥

प्रदक्षिणा के बाद उसने ईर्यापथशुद्धि की अर्थात् मार्ग चलते समय होनेवाली शारीरिक अशुद्धता को दूर किया तथा प्रमादवश होने वाली जीवहिंसा को दूर करने के लिए प्रायश्चित्त आदि किया । अनन्तर, अनेक विभूतियों को धारण करने वाले जिनमन्दिर के भीतर प्रवेश कर वहाँ महातपस्वी मुनियों के दर्शन किये और उनकी वन्दना की । फिर गन्धकुटी के मध्य में विराजमान जिनेन्द्रदेव की सुवर्णमयी प्रतिमा की अभिषेकपूर्वक चन्दन आदि द्रव्यों से पूजा की ॥२७५-२७६॥

पूजा करने के बाद उस महाबुद्धिमान् वज्रजंघ ने स्तुति करने के योग्य जिनेन्द्रदेव को साक्षात् कर (प्रतिमा को साक्षात् जिनेन्द्रदेव मानकर) उत्तम अर्थों से भरे हुए स्तोत्रों से उनकी स्तुति करना प्रारम्भ किया ॥२७७॥

हे देव ! आप कर्मरूपी शत्रुओं को जीतने वालों में सर्वश्रेष्ठ हैं, और मानसिक व्यथाओं से रहित हैं इसलिए आपको नमस्कार हो । हे ईश, आज मैं कर्मरूपी शत्रुओं का नाश करने की इच्छा से आपकी आराधना करता हूँ ॥२७८॥

हे देव, आपके अनन्त गुणों की स्तुति स्वयं गणधरदेव भी नहीं कर सकते तथापि मैं भक्तिवश आपकी स्तुति प्रारम्भ करता हूँ क्योंकि भक्ति ही कल्याण करने वाली है ॥२७९॥

हे प्रभो, आपका भक्त सदा सुखी रहता है, लक्ष्मी भी आपके भक्त पुरुष के समीप ही जाती है आप में अत्यन्त स्थिर भक्ति स्वर्गादि के भोग प्रदान करती है और अन्त में मोक्ष भी प्राप्त कराती है ॥२८०॥

इसलिए ही भव्य जीव शुद्ध मन, वचन, काय से आपकी स्तुति करते हैं । हे देव, फल चाहने वाले जो पुरुष आपकी सेवा करते हैं उनके लिए आप स्पष्ट रूप से कल्पवृक्ष के समान आचरण करते हैं अर्थात् मन वांछित फल देते हैं ॥२८१॥

हे प्रभो, आपने धर्मोपदेशरूपी वर्षा करके, दुष्कर्मरूपी सन्ताप से अत्यन्त प्यासे संसारी जीवरूपी चातकों को नवीन मेघ के समान आनन्दित किया है ॥२८२॥

हे देव, जिस प्रकार कार्य की सिद्धि चाहने वाले पुरुष सूर्य के द्वारा प्रकाशित हुए मार्ग की सेवा करते हैं-उसी मार्ग से आते-जाते हैं उसी प्रकार आत्महित चाहने वाले पुरुष आपके द्वारा दिखलाये हुए मोक्षमार्ग की सेवा करते हैं ॥२८३॥

हे देव, आपके द्वारा निरूपित तत्त्व जन्ममरणरूपी संसार के नाश करने का कारण है तथा इसी से प्राणियों की इस लोक और परलोकसम्बन्धी समस्त कार्यों की सिद्धि होती है ॥२८४॥

हे प्रभो, आपने लक्ष्मी के सर्वस्वभूत तथा उत्कृष्ट वैभव से युक्त साम्राज्य को छोड़कर भी इच्छा से सहित हो मुक्तिरूपी लक्ष्मी का वरण किया है, यह एक आश्चर्य की बात है ॥२८५॥

हे देव, आप दयारूपी लता से वेष्टित हैं, स्वर्ग आदि बड़े-बड़े फल देने वाले हैं, अत्यन्त उन्नत हैं-उदार हैं और मनवान्वित पदार्थ प्रदान करने वाले हैं इसलिए आप कल्पवृक्ष के समान हैं ॥२८६॥

हे देव, आपने कर्मरूपी बड़े-बड़े शत्रुओं को नष्ट करने की इच्छा से तपरूपी धार से शोभायमान धर्मरूपी चक्र को बिना किसी घबराहट के अपने हाथ में धारण किया है ॥२८७॥

हे देव, कर्मरूपी शत्रुओं को जीतते समय आपने न तो अपनी भौंह ही चढ़ायी, न ओठ ही चबाये, न मुख की शोभा नष्ट की और न अपना स्थान ही छोड़ा है ॥२८८॥

हे देव, आपने दयालु होकर भी मोहरूपी प्रबल शत्रु को नष्ट करने की इच्छा से अतिशय कठिन तपश्चरणरूपी कुठार पर अपना हाथ

चलाया है अर्थात् उसे अपने हाथ में धारण किया है ॥२८९॥

हे देव, अज्ञानरूपी जल के सींचने से उत्पन्न हुई और अनेक दुःखरूपी फल को देने वाली संसाररूपी लता आपके द्वारा वर्धित होने पर भी बढ़ाये जाने पर भी बढ़ती नहीं है यह भारी आश्चर्य की बात है (पक्ष में आपके द्वारा छेदी जाने पर बढ़ती नहीं है अर्थात् आपने संसाररूपी लता का इस प्रकार छेदन किया है कि वह फिर कभी नहीं बढ़ती ।) भावार्थ-संस्कृत में 'वृधु' धातु का प्रयोग छेदना और बढ़ाना इन दो अर्थों में होता है । श्लोक में आये हुए वर्धिता शब्द का जब 'बढ़ाना' अर्थ में प्रयोग किया जाता है तब विरोध होता है और जब छेदन अर्थ में प्रयोग किया जाता है तब उसका परिहार हो जाता है ॥२९०॥

हे भगवन्, आपके चरण-कमल के प्रसन्न होने पर लक्ष्मी प्रसन्न हो जाती है और उनके विमुख होने पर लक्ष्मी भी विमुख हो जाती है । हे देव, आपकी यह मध्यस्थ वृत्ति ऐसी ही विलक्षण है ॥२९१॥

हे जिनेन्द्र, यद्यपि आप अन्यत्र नहीं पायी जाने वाली प्रातिहार्यरूप विभूति को धारण करते हैं तथापि संसार में परम वीतराग कहलाते हैं, यह बड़े आश्चर्य की बात है ॥२९२॥

शीतल छाया से युक्त तथा आश्रय लेने वाले भव्य जीवों के शोक को दूर करता हुआ यह आपका अतिशय उन्नत अशोकवृक्ष बहुत ही शोभायमान हो रहा है ॥२९३॥

हे जिनेन्द्र, जिस प्रकार फूले हुए कल्पवृक्ष मेरु पर्वत के सब तरफ पुष्पवृष्टि करते हैं उसी प्रकार ये देव लोग भी आपके सब ओर आकाश से पुष्पवृष्टि कर रहे हैं ॥२९४॥

हे देव समस्त भाषारूप परिणत होने वाली आपकी दिव्य ध्वनि उन जीवों के भी मन का अज्ञानान्धकार दूर कर देती है जो कि मनुष्यों की भाँति स्पष्ट वचन नहीं बोल सकते ॥२९५॥

हे जिन, आपके दोनों तरफ दुराये जाने वाले, चन्द्रमा की किरणों के समान उज्ज्वल दोनों चमर ऐसे शोभायमान हो रहे हैं मानों ऊपर से पड़ते हुए पानी के झरने ही हों ॥२९६॥

हे जिनराज, मेरु पर्वत के शिखर के साथ ईर्ष्या करने वाला और सुवर्ण का बना हुआ आपका यह सिंहासन बड़ा ही भला मालूम होता है ॥ २९७॥

हे देव, सूर्यमण्डल के साथ विद्वेष करने वाला तथा जगत् के अन्धकार को दूर करने वाला और सब ओर फैलता हुआ आपका यह भामण्डल आपके शरीर को अलंकृत कर रहा है ॥२९८॥

हे देव, आकाश में जो दुन्दुभि का गम्भीर शब्द हो रहा है वह मानो जोर-जोर से यही घोषणा कर रहा है कि संसार के एक मात्र स्वामी आप ही हैं ॥२९९॥

हे देव, चन्द्रबिम्ब के साथ स्पर्धा करने वाले और अत्यन्त ऊँचे आपके तीनों छत्र आपके सर्वश्रेष्ठ प्रभाव को प्रकट कर रहे हैं ॥३००॥

हे जिन, ऊपर कहे हुए आपके इन आठ प्रातिहार्यों का समूह ऐसा शोभायमान हो रहा है मानो एक जगह इकट्ठे हुए तीनों लोकों के सर्वश्रेष्ठ पदार्थों का सार ही हो ॥३०१॥

हे देव, यह प्रातिहार्यों का समूह आपकी वैराग्यरूपी संपत्ति को रोकने के लिए समर्थ नहीं है क्योंकि यह भक्तिवश देवों के द्वारा रचा गया है ॥३०२॥

हे जिनदेव, आपके चरणों के स्मरण मात्र से हाथी, सिंह, दावानल, सर्प, भील, विषम समुद्र, रोग और बन्धन आदि सब उपद्रव शान्त हो जाते हैं ॥३०३॥

जिसके गण्डस्थल से झरते हुए मदरूपी जल के द्वारा दुर्दिन प्रकट किया जा रहा है तथा जो आघात करने के लिए उद्यत है ऐसे हाथी को पुरुष आपके स्मरण मात्र से ही जीत लेते हैं ॥३०४॥

बड़े-बड़े हाथियों के गण्डस्थल भेदन करने से जिसके नख अतिशय कठिन हो गये हैं ऐसा सिंह भी आपके चरणों का स्मरण करने से अपने पैरों में पड़े हुए जीव को नहीं मार सकता है ॥३०५॥

हे देव, जिसकी ज्वालाएँ बहुत ही प्रदीप्त हो रही हैं तथा जो उन बढ़ती हुई ज्वालाओं के कारण ऊँची उठ रही है ऐसी अग्नि यदि आपके चरण-कमलों के स्मरणरूपी जल से शान्त कर दी जाये तो फिर वह अग्नि भी उपद्रव नहीं कर सकती ॥३०६॥

क्रोध से जिसका फण ऊपर उठा हुआ है और जो भयंकर विष उगल रहा है ऐसा सर्प भी आपके चरणरूपी औषध के स्मरण से शीघ्र ही विषरहित हो जाता है ॥३०७॥

हे देव, आपके चरणों के अनुगामी धनी व्यापारी जन प्रचण्ड लुटेरों के धनुषों की टंकार से भयंकर वन में भी निर्भय होकर इच्छानुसार चले जाते हैं ॥३०८॥

जो प्रबल वायु की असामयिक अचानक वृद्धि से कम्पित हो रहा है ऐसे बड़ी-बड़ी लहरों वाले समुद्र को भी आपके चरणों की सेवा करने वाले पुरुष लीलामात्र में पार हो जाते हैं ॥३०५॥

जो मनुष्य कुढ़ंगे स्थानों में उत्पन्न हुए फोड़ों आदि के बड़े-बड़े घावों से रोगी हो रहे हैं वे भी आपके चरणरूपी औषध का स्मरण करने मात्र से शीघ्र ही नीरोग हो जाते हैं ॥३१०॥

हे भगवन् आप कर्मरूपी बन्धनों से रहित हैं । इसलिए मजबूत बन्धनों से बँधा हुआ भी मनुष्य आपका स्मरण कर तत्काल ही बन्धनरहित हो जाता है ॥३११॥

हे जिनेन्द्रदेव, आपने विघ्नों के समूह को भी विघ्नित किया है-उन्हें नष्ट किया है इसलिए अपने विघ्नों के समूह को नष्ट करने के लिए मैं भक्तिपूर्ण हृदय से आपकी उपासना करता हूँ ॥३१२॥

हे देव, एकमात्र आप ही तीनों लोकों को प्रकाशित करने वाली ज्योति हैं, आप ही समस्त जगत् के एकमात्र स्वामी हैं, आप ही समस्त संसार के एकमात्र बन्धु हैं और आप ही समस्त लोक के एकमात्र गुरु हैं ॥३१३॥

आप ही धर्मरूपी विद्याओं के आदि स्थान हैं, आप ही समस्त योगियों में प्रथम योगी हैं, आप ही धर्मरूपी तीर्थ के प्रथम प्रवर्तक हैं, और आप ही प्राणियों के प्रथम गुरु हैं ॥३१४॥

आप ही सबका हित करने वाले हैं, आप ही सब विद्याओं के स्वामी हैं और आप ही समस्त लोक को देखने वाले हैं । हे देव, आपकी स्तुति का विस्तार कहाँ तक किया जाये । अबतक जितनी स्तुति कर चुका हूँ मुझ-जैसे अल्पज्ञ के लिए उतनी ही बहुत है ॥३१५॥

हे देव, इस प्रकार आपकी वन्दना कर मैं आपको प्रणाम करता हूँ और उसके फलस्वरूप आपसे किसी सीमित अन्य फल की याचना नहीं करता हूँ । किन्तु हे जिन, आप में ही मेरी भक्ति सदा अचल रहे यही प्रदान कीजिए क्योंकि वह भक्ति ही स्वर्ग तथा मोक्ष के उत्तम फल उत्पन्न कर देती है ॥३१६॥

इस प्रकार श्रीमान् वज्रजंघ राजा ने जिनेन्द्र देव को उत्तम रीति से नमस्कार किया, उनकी स्तुति और पूजा की । फिर रागद्वेष से रहित मुनिसमूह की भी क्रम से पूजा की । तदनन्तर श्रीजिनेन्द्रदेव के गुणों का बार-बार स्मरण करता हुआ वह वज्रजंघ राज्यादि की विभूति प्राप्त करने के लिए हर्ष से श्रीमती के साथ-साथ अनेक ऋद्धियों से शोभायमान पुण्डरीकिणी नगरी में प्रविष्ट हुआ ॥३१७॥

वहाँ भरतभूमि के बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजाओं ने उस लक्ष्मीवान् वज्रजंघ का राज्याभिषेकपूर्वक भारी सम्मान किया था । इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करते हुए हजारों राजाओं के द्वारा बार-बार प्राप्त हुई कल्याण परम्परा का अनुभव करते हुए और श्रीमती के साथ उत्तमोत्तम भोग भोगते हुए वज्रजंघ ने दीर्घकाल तक उसी पुण्डरीकिणी नगरी में निवास किया था ॥३१८॥

इस प्रकार आर्ष नाम से प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रह में श्रीमती और वज्रजंघ के समागम का वर्णन करने वाला सातवाँ पर्व पूर्व हुआ ॥७॥

पर्व-08 -- श्रीमती और वज्रजंघ द्वारा पात्रदान

पर्व-08 -- श्रीमती और वज्रजंघ द्वारा पात्रदान

कथा :

विवाह हो जाने के बाद वज्रजंघ ने, जहाँ नित्य ही अनेक उत्सव होते रहते थे ऐसे चक्रवर्ती के भवन में उत्तम-उत्तम भोगोपभोग सम्पदाओं के द्वारा भोगोपभोगों का अनुभव करते हुए दीर्घकाल तक निवास किया था ॥१॥

वहाँ श्रीमती के स्तनों का स्पर्श करने तथा मुखरूपी कमल के देखने से उसे बड़ी प्रसन्नता होती थी सो ठीक ही है क्योंकि इष्ट वस्तु के आश्रय से सभी को प्रसन्नता होती है ॥२॥

जिस प्रकार भौरा कमल से रस और सुवास को ग्रहण करता हुआ कभी सन्तुष्ट नहीं होता उसी प्रकार राजा वज्रजंघ भी श्रीमती के

मुखरूपी कमल से रस और सुवास को ग्रहण करता हुआ कभी सन्तुष्ट नहीं होता था । सच है, कामसेवन से कभी सन्तोष नहीं होता ॥३॥
श्रीमती का मुखरूपी चन्द्रमा चमकीले दाँतों की किरणरूपी चाँदनी से हमेशा उज्ज्वल रहता था इसलिए वज्रजंघ उसे टिमकाररहित लालसापूर्ण दृष्टि से देखता रहता था ॥४॥

श्रीमती ने अत्यन्त मनोहर कटाक्षावलोकन, लीलासहित मुसकान और मधुर भाषणों के द्वारा उसका चित्त अपने अधीन कर लिया था ॥५॥
श्रीमती की कमर पतली थी और उदर किसी नदी के गहरे कुण्ड के समान था । क्योंकि कुण्ड जिस प्रकार लहरों से मनोहर होता है उसी प्रकार उसका उदर भी त्रिवलि से (नाभि के नीचे रहने वाली तीन रेखाओं से) मनोहर था और कुण्ड जिस प्रकार आवर्त से शोभायमान होता है उसी प्रकार उसका उदर भी नाभिरूपी आवर्त से शोभायमान था । इस तरह जिसका मध्य भाग कृश है ऐसी किसी नदी के कुण्ड के समान श्रीमती के उदर प्रदेश पर वह वज्रजंघ रमण करता था ॥६॥

तरुण हंस के समान वह वज्रजंघ, करधनीरूपी पक्षियों के शब्द से शब्दायमान उस श्रीमती के मनोहर नितम्बरूपी पुलिन पर चिरकाल तक क्रीड़ा करके सन्तुष्ट रहता था ॥७॥

स्तनों से वस्त्र हटाकर उन पर हाथ फेरता हुआ वज्रजंघ ऐसा शोभायमान होता था जैसा कि कमलिनी के कुड्मल (बौड़ी) का स्पर्श करता हुआ मदोन्मत्त हाथी शोभायमान होता है ॥८॥

जो स्तनरूपी चक्रवाक पक्षियों से सहित है, चन्दनद्रवरूपी कीचड़ से युक्त है और स्तनवस्त्र (कंचुकी) रूपी शेवाल से शोभित है ऐसे उस श्रीमती के वक्षः-स्थलरूपी सरोवर में वह वज्रजंघ निरन्तर क्रीड़ा करता था ॥९॥

उस सुन्दरी तथा सहृदया श्रीमती ने कामपाश के समान अपनी कोमल भुजलताओं को वज्रजंघ के गले में डालकर उसका मन बाँध लिया था-अपने वश कर लिया था ॥१०॥

वह वज्रजंघ श्रीमती की कोमल बाहुओं के स्पर्श से स्पर्शन इन्द्रिय को, मुखरूपी कमल के रस और गन्ध से रसना तथा घ्राण इन्द्रिय को, सम्भाषण के समय मधुर शब्दों को सुनकर कर्ण इन्द्रिय को और शरीर के सौन्दर्य को निरखकर नेत्र इन्द्रिय को तृप्त करता था । इस प्रकार वह पाँचों इन्द्रियों को सब प्रकार से चिरकाल तक सन्तुष्ट करता था सो ठीक ही है इन्द्रियसुख चाहने वाले जीवों को इसके सिवाय और कोई उपाय नहीं है ॥११-१२॥

करधनी रूपी महासर्प से घिरे हुए होने के कारण अन्य पुरुषों को अप्राप्य श्रीमती के कटिभागरूपी बड़े खजाने पर वज्रजंघ निरन्तर क्रीड़ा किया करता था ॥१३॥

जब कभी श्रीमती प्रणयकोप से कुपित होती थी तब वह धीरे-धीरे वज्रजंघ के केश पकड़कर खींचने लगती थी तथा कर्णोत्पल के कोमल प्रहारों से उसका ताड़न करने लगती थी । उसकी इन चेष्टाओं से वज्रजंघ को बड़ा ही सन्तोष और सुख होता था ॥१४॥

परस्पर की खीचातानी से जिसके आभरण अस्त-व्यस्त होकर गिर पड़े हैं तथा जो रतिकालीन स्वेद-बिन्दुओं से कर्दम युक्त हो गया है ऐसे श्रीमती के शरीर में उसे बड़ा सन्तोष होता था । सो ठीक है कामीजन इसी को उत्कृष्ट सुख समझते हैं ॥१५॥

राजमहल में झरोखे के समीप ही इनकी शय्या थी इसलिए झरोखे से आने वाली मन्द-मन्द वायु से इनका रति-श्रम दूर होता रहता था ॥ १६॥

श्रीमती का मुखरूपी चन्द्रमा वज्रजंघ के आनन्द को बढ़ाता था, उसके नेत्र, नेत्रों का सुख विस्तृत करते थे तथा उसके दोनों स्तन अपूर्व स्पर्श-सुख को बढ़ाते थे ॥१७॥

जिस प्रकार कोई रोगी पुरुष उत्तम औषध पाकर समय पर उसका सेवन करता हुआ ज्वर आदि से रहित होकर सुखी हो जाता है उसी प्रकार वज्रजंघ भी उस कन्यारूपी अमृत को पाकर समय पर उसका सेवन करता हुआ काम-ज्वर से रहित होकर सुखी हो गया था ॥१८॥

वह वज्रजंघ कभी तो नन्दन वन के साथ स्पर्धा करनेवाले श्रेष्ठ वृक्षों से शोभायमान और महाविभूति से युक्त घर के उद्यानों में श्रीमती के साथ रमण करता था और कभी लतागृहों (निकुंजों) से शोभायमान तथा क्रीड़ा-पर्वतों से सहित बाहर के उद्यानों में उत्सुक होकर क्रीड़ा करता था ॥१९-२०॥

कभी फूली हुई लताओं से झरे हुए पुष्पों से शोभायमान नदीतट के प्रदेशों में विहार करता था ॥२१॥

और कभी कमलों की परागरज के समूह से पीले हुए बावड़ी के जल में प्रिया के साथ जलक्रीड़ा करता था ॥२२॥

वह वज्रजंघ जलक्रीड़ा के समय सुवर्णमय पिचकारियों से अपनी प्रिया श्रीमती के तीखे कटाक्षों वाले मुख-कमल का सिंचन करता था ॥ २३ ॥

पर श्रीमती जब प्रिय पर जल डालने के लिए पिचकारी उठाती थी तब उसके स्तनों का आंचल खिसक जाता था और इससे वह लज्जा से विमुख हो जाती थी ॥ २४ ॥

जलक्रीड़ा करते समय श्रीमती के स्तन तट पर जो महीन वस्त्र पानी से भीगकर चिपक गया था वह जल की छाया के समान मालूम होता था । तथा उसने उसके स्तनों की शोभा कम कर दी थी ॥ २५ ॥

श्रीमती के स्तन कुड्मल (बौड़ी) के समान, कोमल भुजाएँ मृणाल के समान और मुख कमल के समान शोभायमान था इसलिए वह जल के भीतर कमलिनी की शोभा धारण कर रही थी ॥ २६ ॥

हमारे ये कमल श्रीमती के मुखकमल की कान्ति को जीतने के लिए समर्थ नहीं हैं-यह विचार कर ही मानो चंचल जल ने श्रीमती के कर्णोत्पल को वापस बुला लिया था ॥ २७ ॥

ऊपर से पड़ती हुई जलधारा से जिसमें सदा वर्षाऋतु बनी रहती है ऐसे धारागृह में (फव्वारा के घर में) वह वज्रजंघ बिजली के समान अपनी प्रिया श्रीमती के साथ सुखपूर्वक क्रीड़ा करता था ॥ २८ ॥

और कभी ताराओं के प्रतिबिम्ब के बहाने जिन पर उपहार के फूल बिखरे गये हैं ऐसे राजमहलों की रत्नमयी छतों पर रात के समय चाँदनी का उपभोग करता हुआ क्रीड़ा करता था ॥ २९ ॥

इस प्रकार दोनों वधू-वर उस पुण्डरीकिणी नगरी में स्वर्गलोक के भोगों से भी बढ़कर मनोहर भोगोपभोगों के द्वारा चिरकाल तक क्रीड़ा करते रहे ॥ ३० ॥

ऊपर कहे हुए भोगों के द्वारा, जिनेन्द्रदेव की पूजा आदि उत्सवों के द्वारा और पात्र दान आदि माङ्गलिक कार्यों के द्वारा उन दोनों का वहाँ बहुत समय व्यतीत हो गया था ॥ ३१ ॥

वहाँ अनेक लोग आकर वज्रजंघ के लिए उत्तम-उत्तम वस्तुएँ भेंट करते थे, पूजा आदि के उत्सव होते रहते थे तथा पुत्र-जन्म आदि के समय अनेक उत्सव मनाये जाते थे जिससे उन दोनों का दीर्घ समय अनायास ही व्यतीत हो गया था ॥ ३२ ॥

वज्रजंघ की एक अनुन्धरी नाम की छोटी बहन थी जो उसी के समान सुन्दरी थी । राजा वज्रबाहु ने वह बड़ी विभूति के साथ चक्रवर्ती के बड़े पुत्र अमिततेज के लिए प्रदान की थी ॥ ३३ ॥

जिस प्रकार कोयल वसन्त को पाकर प्रसन्न होती है उसी प्रकार वह नवविवाहिता सती अनुन्धरी, चक्रवर्ती के पुत्र को पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुई थी ॥ ३४ ॥

इस प्रकार जब सब कार्य पूर्ण हो चुके तब चक्रवर्ती वज्रदन्त महाराज ने अपने नगर को वापस जाने के लिए पूजा सत्कार आदि से सबका सम्मान कर वधू-वर को विदा कर दिया ॥ ३५ ॥

उस समय चक्रवर्ती ने पुत्री के लिए हाथी, घोड़े, रथ, पियादे, रथ, देश और खजाना आदि कुलपरम्परा से चला आया बहुत-सा धन दहेज में दिया था ॥ ३६ ॥

वज्रजंघ और श्रीमती ने अपने गुणों से समस्त पुरवासियों को उन्मुग्ध कर लिया था इसलिए उनके जाने का क्षोभकारक समाचार सुनकर समस्त पुरवासी अत्यन्त व्याकुल हो उठे थे ॥ ३७ ॥

तदनन्तर किसी शुभ दिन श्रीमान् वज्रजंघ ने अपनी पत्नी श्रीमती के साथ प्रस्थान किया । उस समय उनके प्रस्थान को सूचित करने वाले नगाड़ों का गम्भीर शब्द हो रहा था ॥ ३८ ॥

वज्रजंघ अपनी पत्नी के साथ आगे चलने लगे और महाराज वज्रबाहु तथा उनकी पत्नी वसुन्धरा महाराज्ञी उनके पीछे-पीछे जा रहे थे ॥ ३९ ॥

पुरवासी, मन्त्री, सेनापति तथा पुरोहित आदि जो भी उन्हें पहुँचाने गये थे वज्रजंघ ने उन्हें थोड़ी दूर से वापस विदा कर दिया था ॥ ४० ॥

हाथी, घोड़े, रथ और पियादे आदि की विशाल सेना का संचालन करता हुआ वज्रजंघ क्रम-क्रम से उत्पलखेटक नगर में पहुँचा ॥ ४१ ॥

उस समय उस नगरी में अनेक उत्तम-उत्तम रचनाएँ हो गयी थीं, कई प्रकार के उत्सव मनाये जा रहे थे । उस नगर में प्रवेश करता हुआ

अतिशय दैदीप्यमान् वज्रजंघ इन्द्र के समान शोभायमान हो रहा था ॥४२॥

जब वज्रजंघ ने अपनी प्रिया श्रीमती के साथ नगर की प्रधान-प्रधान गलियों में प्रवेश किया तब पुरसुन्दरियों ने महलों की छतों पर चढ़कर उन दोनों पर बड़े प्रेम के साथ अंजलि भर-भरकर फूल बरसाये थे ॥४३॥

उस समय सभी ओर से प्रजाजन आते थे और शुभ आशीर्वाद के साथ-साथ पुष्प तथा अक्षत से मिला हुआ पवित्र प्रसाद उन दोनों दम्पतियों के समीप पहुँचाते थे ॥४४॥

तदनन्तर बजती हुई भेरियों के गम्भीर शब्द से व्याप्त तथा अनेक तोरणों से अलंकृत नगर की शोभा देखते हुए वज्रजंघ ने राजभवन में प्रवेश किया ॥४५॥

वह राजभवन अनेक प्रकार की लक्ष्मी से शोभित था, महा मनोहर था और सर्व ऋतुओं में सुख देने वाली सामग्री से सहित था । ऐसे ही राजमहल में वज्रजंघ श्रीमती के साथ बड़े प्रेम और सुख से निवास करता था ॥४६॥

यद्यपि माता-पिता आदि गुरुजनों के वियोग से श्रीमती खिन्न रहती थी परन्तु वज्रजंघ बड़े प्रेम से अत्यन्त सुन्दर राजमहल दिखलाकर उसका चित्त बहलाता रहता था ॥४७॥

शीलव्रत धारण करने वाली तथा सब सखियों में श्रेष्ठ पण्डिता नाम की सखी भी उसके साथ आयी थी । वह भी नृत्य आदि अनेक प्रकार के विनोदों से उसे प्रसन्न रखती थी ॥४८॥

इस प्रकार निरन्तर भोगोपभोगों के द्वारा समय व्यतीत करते हुए उसके क्रमशः उनचास युगल अर्थात् अट्ठानवे पुत्र उत्पन्न हुए ॥४९॥

तदनन्तर किसी एक दिन महाकान्तिमान् महाराज वज्रबाहु महल की छत पर बैठे हुए शरद् ऋतु के बादलों का उठाव देख रहे थे ॥५०॥

उन्होंने पहले जिस बादल को उठता हुआ देखा था उसे तत्काल में विलीन हुआ देखकर उन्हें वैराग्य उत्पन्न हो गया । वे उसी समय संसार के सब भोगों से विरक्त हो गये और मन में इस प्रकार गम्भीर विचार करने लगे ॥५१॥

देखो, यह शरद् ऋतु का बादल हमारे देखते-देखते राजमहल की आकृति को धारण किये हुए था और देखते-देखते ही क्षण-भर में विलीन हो गया ॥५२॥

ठीक, इसी प्रकार हमारी यह सम्पदा भी मेघ के समान क्षण-भर में विलीन हो जायेगी । वास्तव में यह लक्ष्मी बिजली के समान चंचल है और यौवन की शोभा भी शीघ्र चली जाने वाली है ॥५३॥

ये भोग प्रारम्भ काल में ही मनोहर लगते हैं किन्तु अन्तकाल में (फल देने के समय) भारी सन्ताप देते हैं । यह आयु भी फूटी हुई नाली के जल के समान प्रत्येक क्षण नष्ट होती जाती है ॥५४॥

रूप, आरोग्य, ऐश्वर्य, इष्ट-बन्धुओं का समागम और प्रिय स्त्री का प्रेम आदि सभी कुछ अनवस्थित हैं-क्षणनश्वर हैं ॥५५॥

इस प्रकार विचार कर चंचल लक्ष्मी को छोड़ने के अभिलाषी बुद्धिमान् राजा वज्रबाहु ने अपने पुत्र वज्रजंघ का अभिषेक कर उसे राज्यकार्य में नियुक्त किया ॥५६॥

और स्वयं राज्य तथा भोगों से विरक्त हो शीघ्र ही श्री यमधरमुनि के समीप जाकर पाँच सौ राजाओं के साथ जिनदीक्षा ले ली ॥५७॥

उसी समय वीरबाहु आदि श्रीमती के अट्ठानवे पुत्र भी इन्हीं राजऋषि वज्रबाहु के साथ दीक्षा लेकर संयमी हो गये ॥५८॥

वज्रबाहु मुनिराज ने विशुद्ध परिणामों के धारक वीरबाहु आदि मुनियों के साथ चिरकाल तक विहार किया । फिर क्रम-क्रम से केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्षरूपी परमधाम को प्राप्त किया ॥५९॥

उधर वज्रजंघ भी पिता की राज्य-विभूति प्राप्त कर प्रजा को प्रसन्न करता हुआ चिरकाल तक अनेक प्रकार के भोग भोगता रहा ॥६०॥

अनन्तर किसी एक दिन बड़ी विभूति के धारक तथा अनेक राजाओं से घिरे हुए महाराज वज्रदन्त सिंहासन पर सुख से बैठे हुए थे ॥६१॥

कि इतने में ही वनपाल ने एक नवीन खिला हुआ सुगन्धित कमल लाकर बड़े हर्ष से उनके हाथ पर अर्पित किया ॥६२॥

वह कमल राजा के मुख की सुगन्ध के समान सुगन्धित और बहुत ही सुन्दर था । उन्होंने उसे अपने हाथ में लिया और अपने करकमल से घुमाकर बड़ी प्रसन्नता के साथ सूँघा ॥६३॥

उस कमल के भीतर उसकी सुगन्धि का लोभी एक भ्रमर रुककर मरा हुआ पड़ा था । ज्यों ही बुद्धिमान महाराज ने उसे देखा त्यों ही वे विषयभोगों से विरक्त हो गये ॥६४॥

वे विचारने लगे कि-अहो, यह मदोन्मत्त भ्रमर इसकी सुगन्धि से आकृष्ट होकर यहाँ आया था और रस पीते-पीते ही सूर्यास्त हो जाने से इसी में घिरकर मर गया। ऐसी विषयों की चाह को धिक्कार हो ॥६५॥

ये विषय किंपाक फल के समान विषम हैं। प्रारम्भ काल में अर्थात् सेवन करते समय तो अच्छे मालूम होते हैं परन्तु फल देते समय अनिष्ट फल देते हैं इसलिए इन्हें धिक्कार हो ॥६६॥

प्राणियों का यह शरीर जो कि विषय-भोगों का साधन है शरद्ऋतु के बादल के समान क्षण-भर में विलीन हो जाता है इसलिए ऐसे शरीर को भी धिक्कार हो ॥६७॥

यह लक्ष्मी बिजली की चमक के समान चंचल है, यह इन्द्रिय-सुख भी अस्थिर हैं और धन-धान्य आदि की विभूति भी स्वजन में प्राप्त हुई विभूति के समान शीघ्र ही नष्ट हो जाने वाली है ॥६८॥

जो भोग संसारी जीवों को लुभाने के लिए आते हैं और लुभाकर तुरन्त ही चले जाते हैं ऐसे इन विषयभोगों को प्राप्त करने के लिए हे विद्वज्जनों, तुम क्यों भारी प्रयत्न करते हो ॥६९॥

शरीर, आरोग्य, ऐश्वर्य, यौवन, सुखसम्पदाएँ, गृह, सवारी आदि सभी कुछ इन्द्रधनुष के समान अस्थिर हैं ॥७०॥

जिस प्रकार तृण के अग्रभाग पर लगा हुआ जल का बिन्दु पतन के सम्मुख होता है उसी प्रकार प्राणियों की आयु का विलास पतन के सम्मुख होता है ॥७१॥

यह यमराज संसारी जीवों के साथ सदा युद्ध करने के लिए तत्पर रहता है। वृद्धावस्था इसकी सबसे आगे चलने वाली सेना है, अनेक प्रकार के रोग पीछे से सहायता करने वाले बलवान् सैनिक हैं और कषायरूपी भील सदा इसके साथ रहते हैं ॥७२॥

ये विषय-तृष्णारूपी विषम ज्वालाओं के द्वारा इन्द्रियसमूह को जला देते हैं और विषमरूप से उत्पन्न हुई वेदना प्राणों को नष्ट कर देती है ॥७३॥

जब कि इस संसार में प्राणियों को सुख तो अत्यन्त अल्प है और दुःख ही बहुत है तब फिर इसमें सन्तोष क्या है और कैसे हो सकता है ? ॥७४॥

विषय प्राप्त करने की इच्छा करता हुआ यह प्राणी पहले तो अनेक क्लेशों से दुःखी होता है फिर भोगते समय तृप्ति न होने से दुःखी होता है और फिर वियोग हो जाने पर पश्चात्ताप करता हुआ दुःखी होता है। भावार्थ-विषय-सामग्री की तीन अवस्थाएँ होती हैं-१ अर्जन, २ भोग और ३ वियोग। यह जीव उक्त तीनों ही अवस्थाओं में दुःखी रहता है ॥७५॥

जो कुल आज अत्यन्त धनाढ्य और सुखी माना जाता है वह कल दरिद्र हो सकता है और जो आज अत्यन्त दुःखी है वही कल धनाढ्य और सुखी हो सकता है ॥७६॥

यह सांसारिक सुख दुःख उत्पन्न करने वाला है, धन विनाश से सहित है, संयोग के बाद वियोग अवश्य होता है और सम्पत्तियों के अनन्तर विपत्तियाँ आती हैं ॥७७॥

इस प्रकार समस्त संसार को अनित्यरूप से देखते हुए चक्रवर्ती ने अन्त में नीरस होने वाले विषयों को विष के समान माना था ॥७८॥

इस तरह विषयभोगों से विरक्त होकर चक्रवर्ती ने अपने साम्राज्य का भार अपने अमिततेज नामक पुत्र के लिए देना चाहा ॥७९॥

और राज्य देने की इच्छा से उससे बार-बार आग्रह भी किया परन्तु वह राज्य लेने के लिए तैयार नहीं हुआ। इसके तैयार न होने पर इसके छोटे भाइयों से कहा गया परन्तु वे भी तैयार नहीं हुए ॥८०॥

अमिततेज ने कहा-हे देव, जब आप ही इस राज्य को छोड़ना चाहते हैं तब यह हमें भी नहीं चाहिए। मुझे यह राज्यभार व्यर्थ मालूम होता है। हे पूज्य, मैं आपके साथ ही तपोवन को चलूँगा इससे आपकी आज्ञा भंग करने का दोष नहीं लगेगा। हमने यह निश्चय किया है कि जो गति आपकी है वही गति मेरी भी है ॥८१-८२॥

तदनन्तर, वज्रदन्त चक्रवर्ती ने पुत्रों का राज्य नहीं लेने का दृढ़ निश्चय जानकर अपना राज्य, अमिततेज के पुत्र पुण्डरीक के लिए दे दिया। उस समय वह पुण्डरीक छोटी अवस्था का था और वही सन्तान की परिपाटी का पालन करने वाला था ॥८३॥

राज्य की व्यवस्था कर राजर्षि वज्रदन्त यशोधर तीर्थकर के शिष्य गुणधर मुनि के समीप गये और वहाँ अपने पुत्र, स्त्रियों तथा अनेक राजाओं के साथ दीक्षित हो गये ॥८४॥

महाराज वज्रदन्त के साथ साठ हजार रानियों ने, बीस हजार राजाओं ने और एक हजार पुत्रों ने दीक्षा धारण की थी ॥८५॥

उसी समय श्रीमती की सखी पण्डिता ने भी अपने अनुरूप दीक्षा धारण की थी-व्रत ग्रहण किये ये । वास्तव में पाण्डित्य वही है जो संसार से उद्धार कर दे ॥८६॥

तदनन्तर, जिस प्रकार सूर्य के वियोग से कमलिनी शोक को प्राप्त होती है उसी प्रकार चक्रवर्ती वज्रदन्त और अमिततेज के वियोग से लक्ष्मीमती और अनुन्धरी शोक को प्राप्त हुई थीं ॥८७॥

पश्चात् जिन्होंने दीक्षा नहीं ली थी मात्र दीक्षा का उत्सव देखने के लिए उनके साथ-साथ गये थे ऐसे प्रजा के लोग, मन्त्रियों-द्वारा अपने आगे किये गये पुण्डरीक बालक को साथ लेकर नगर में प्रविष्ट हुए । उस समय वे सब शोक से कान्ति शून्य हो रहे थे ॥८८॥

तदनन्तर लक्ष्मीमती को इस बात की भारी चिन्ता हुई कि इतने बड़े राज्य पर एक छोटा-सा अप्रसिद्ध बालक स्थापित किया गया है । यह हमारा पौत्र (नाती या पोता) है । बिना किसी पक्ष की सहायता के मैं इसकी रक्षा किस प्रकार कर सकूँगी । मैं यह सब समाचार आज ही बुद्धिमान् वज्रजंघ के पास भेजती हूँ । उनके द्वारा अधिष्ठित (व्यवस्थित हुआ) इस बालक का यह राज्य अवश्य ही निष्कण्टक हो जायेगा अन्यथा इस पर आक्रमण कर बलवान् राजा इसे अवश्य ही नष्ट कर देंगे ॥८९-९१॥

ऐसा निश्चय कर लक्ष्मीमती ने गन्धर्वपुर के राजा मन्दरमाली और रानी सुन्दरी के चिन्तागति और मनोगति नामक दो विद्याधर पुत्र बुलाये । वे दोनों ही पुत्र चक्रवर्ती से भारी स्नेह रखते थे पवित्र हृदय वाले, चतुर, उच्चकुल में उत्पन्न, परस्पर में अनुरक्त, समस्त शास्त्रों के जानकार और कार्य करने में बड़े ही कुशल थे ॥९२-९३॥

इन दोनों को एक पिटारे में रखकर समाचारपत्र दिया तथा दामाद और पुत्री को देने के लिए अनेक प्रकार की भेंट दी और नीचे लिखा हुआ सन्देश कहकर दोनों को वज्रजंघ के पास भेज दिया ॥९४॥

वज्रदन्त चक्रवर्ती अपने पुत्र और परिवार के साथ वन को चले गये हैं-वन में जाकर दीक्षित हो गये हैं । उनके राज्य पर कमल के समान मुख वाला पुण्डरीक बैठाया गया है । परन्तु कहाँ तो चक्रवर्ती का राज्य और कहाँ यह दुर्बल बालक ? सचमुच एक बड़े भारी बैल के द्वारा उठाने योग्य भार के लिए एक छोटा-सा बछड़ा नियुक्त किया गया । यह पुण्डरीक बालक है और हम दोनों सास बहू स्त्री हैं इसलिए यह बिना स्वामी का राज्य प्रायः नष्ट हो रहा है । अब इसकी रक्षा आप पर ही अवलम्बित है । अतएव अविलम्ब आइए । आप अत्यन्त बुद्धिमान् हैं । इसलिए आपके सन्निधान से यह राज्य निरुपद्रव हो जायेगा ॥९५-९८॥

ऐसा सन्देश लेकर वे दोनों उसी समय आकाशमार्ग से चलने लगे । उस समय वे समीप में स्थित मेघों को अपने वेग से दूर तक खींचकर ले जाते थे ॥९९॥

वे कहीं पर अपने मार्ग में रुकावट डालने वाले ऊँचे-ऊँचे मेघों को चीरते हुए जाते थे । उस समय उन मेघों से जो पानी की बूँदें पड़ रही थीं उनसे ऐसे मालूम होते थे मानो आँसू ही बहा रहे हों । कहीं नदियों को देखते जाते थे, वे नदियाँ दूर होने के कारण ऊपर से अत्यन्त कृश और श्वेतवर्ण दिखाई पड़ती थीं जिससे ऐसा मालूम होता था मानो वर्षाकालरूपी पति के विरह से कृश और पाण्डुरवर्ण हो गयी हों । वे पर्वत भी देखते जाते थे उन्हें दूरी के कारण वे पर्वत गोल-गोल दिखाई पड़ते थे जिससे ऐसे मालूम होते थे मानो सूर्य के सन्ताप से डरकर जमीन में ही छिपे जा रहे हों । वे बावड़ियों का जल भी देखते जाते थे । दूरी के कारण वह जल उन्हें अत्यन्त गोल मालूम होता था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो पृथ्वीरूप स्त्री ने चन्दन का सफेद तिलक ही लगाया हो । इस प्रकार प्रत्येक क्षण मार्ग की शोभा देखते हुए वे दोनों अनुक्रम से उत्पलखेटक नगर जा पहुँचे । वह नगर संगीत काल में होने वाले गम्भीर शब्दों से दिशाओं को बधिर (बहरा) कर रहा था ॥१००-१०४॥

जब वे दोनों भाई राजमन्दिर के समीप पहुँचे तब द्वारपाल उन्हें भीतर ले गये । उन्होंने राजमन्दिर में प्रवेश कर राजसभा में बैठे हुए वज्रजंघ के दर्शन किये ॥१०५॥

उन दोनों विद्याधरों ने उन्हें प्रणाम किया और फिर उनके सामने, लायी हुई भेंट तथा जिसके भीतर पत्र रखा हुआ है ऐसा रत्नमय पिटारा रख दिया ॥१०६॥

महाराज वज्रजंघ ने पिटारा खोलकर उसके भीतर रखा हुआ आवश्यक पत्र ले लिया । उसे देखकर उन्हें चक्रवर्ती के दीक्षा लेने का निर्णय हो गया और इस बात से वे बहुत ही विस्मित हुए ॥१०७॥

वे विचारने लगे कि अहो, चक्रवर्ती बड़ा ही पुण्यात्मा है जिसने इतने बड़े साम्राज्य के वैभव को छोड़कर पवित्र अंग वाली स्त्री के समान दीक्षा धारण की है ॥१०८॥

अहो चक्रवर्ती के पुत्र भी बड़े पुण्यशाली और अचिन्त्य साहस के धारक हैं जिन्होंने इतने बड़े राज्य को ठुकराकर पिता के साथ ही दीक्षा धारण की है ॥१०९॥

फूले हुए कमल के समान मुख की कान्ति का धारक बालक पुण्डरीक राज्य के इन महान् भार को वहन करने से लिए नियुक्त किया गया है और मामी लक्ष्मीमती कार्य चलाना कठिन है यह समझकर राज्य में शान्ति रखने के लिए शीघ्र ही मेरा सन्निधान चाहती है अर्थात् मुझे बुला रही हैं ॥११०-१११॥

इस प्रकार कार्य करने में चतुर बुद्धिमान् वज्रजंघ ने पत्र के अर्थ का निश्चय कर स्वयं निर्णय कर लिया और अपना निर्णय श्रीमती को भी समझा दिया ॥११२॥

पत्र के सिवाय उन विद्याधरों ने लक्ष्मीमती का कहा हुआ मौखिक सन्देश भी सुनाया था जिससे वज्रजंघ को पत्र के अर्थ का ठीक-ठीक निर्णय हो गया था । तदनन्तर बुद्धिमान् वज्रजंघ ने पुण्डरीकिणी पुरी जाने का विचार किया ॥११३॥

पिता और भाई के दीक्षा लेने आदि के समाचार सुनकर श्रीमती को बहुत दुःख हुआ था परन्तु वज्रजंघ ने उसे समझा दिया और उसके साथ भी गुण-दोष का विचार कर साथ-साथ वहाँ जाने का निश्चय किया ॥११४॥

तदनन्तर खूब आदर-सत्कार के साथ उन दोनों विद्याधर दूतों को उन्होंने आगे भेज दिया और स्वयं उनके पीछे प्रस्थान करने की तैयारी की ॥११५॥

तदनन्तर मतिवर, आनन्द, धनमित्र और अकम्पन इन चारों महामन्त्री, पुरोहित, राजसेठ और सेनापतियों ने तथा और भी चलने के लिए उद्यत हुए प्रधान पुरुषों ने आकर राजा वज्रजंघ को उस प्रकार घेर लिया था जिस प्रकार कि कहीं जाते समय इन्द्र को देव लोग घेर लेते हैं ॥११६-११७॥

उस कार्यकुशल वज्रजंघ ने उसी दिन शीघ्र ही प्रस्थान कर दिया । प्रस्थान करते समय अधिकारी कर्मचारियों में बड़ा भारी कोलाहल हो रहा था ॥११८॥

वे अपने सेवकों से कह रहे थे कि तुम रानियों के सवार होने के लिए शीघ्र ही ऐसी हथिनियाँ लाओ जिनके गले में सुवर्णमय मालाएँ पड़ी हों, पीठ पर सुवर्णमय मालाएँ पड़ी हों और जो मदरहित होने के कारण कुलीन स्त्रियों के समान साध्वी हों । तुम लोग शीघ्र चलने वाली खबरियों को जीन कसकर शीघ्र ही तैयार करो । तुम स्त्रियों के चढ़ने के लिए पालकी लाओ और तुम पालकी ले जानेवाले मजबूत कहारों को खोजो । तुम शीघ्रगामी तरुण घोड़ों को पानी पिलाकर और जीन कसकर शीघ्र ही तैयार करो । तुम शीघ्र ही ऐसी दासियाँ बुलाओ जो सब काम करने में चतुर हों और खासकर रसोई बनाना, अनाज कूटना, शोधना आदि का कार्य कर सकें । तुम सेना के आगे-आगे जाकर ठहरने की जगह पर डेरा-तम्बू आदि तैयार करो तथा घास-भुस आदि के ऊँचे-ऊँचे ढेर लगाकर भी तैयार करो । तुम लोग सब सम्पदाओं के अधिकारी हो इसलिए महाराज की भोजनशाला में नियुक्त किये जाते हो । तुम बिना किसी प्रतिबन्ध के भोजनशाला की समस्त योग्य सामग्री इकट्ठी करो तुम बहुत दूध देने वाली और बछड़ों सहित सुन्दर-सुन्दर गाय ले जाओ, मार्ग में उन्हें जलसहित और छाया वाले प्रदेशों में सुरक्षित रखना । तुम लोग हाथ में चमकीली तलवार लेकर मछलियों सहित समुद्र की तरङ्गों के समान शोभायमान होते हुए बड़े प्रयत्न से राजा के रनवास की रक्षा करना । तुम वृद्ध कंचुकी लोग अन्तःपुर की स्त्रियों के मध्य में रहकर बड़े आदर के साथ अंग रक्षा का कार्य करना । तुम लोग यहाँ ही रहना और पीछे के कार्य बड़ी सावधानी से करना । तुम साथ-साथ जाओ और अपने-अपने कार्य देखो । तुम लोग जाकर देश के अधिकारियों से इस बात की शीघ्र ही प्रेरणा करो कि वे अपनी योग्यतानुसार सामग्री लेकर महाराज को लेने के लिए आयें । मार्ग में तुम हाथियों और घोड़ों की रक्षा करना, तुम ऊँटों का पालन करना और तुम बहुत दूध देने वाली बछड़ों सहित गायों की रक्षा करना । तुम महाराज के लिए शान्तिवाचन करके रत्नत्रय के साथ-साथ जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा की पूजा करो । तुम पहले जिनेन्द्रदेव का अभिषेक करो और फिर शान्तिवाचन के साथ-साथ पवित्र आशीर्वाद देते हुए महाराज के मस्तक पर गन्धोदक से मिले हुए सिद्धों के शेषाक्षत क्षेपण करो । तुम ज्योतिषी लोग ग्रहों के शुभोदय आदि का अच्छा निरूपण करते हो इसलिए महाराज की यात्रा की सफलता के लिए प्रस्थान का उत्तम समय बतलाओ । इस प्रकार उस समय वहाँ महाराज वज्रजंघ के प्रस्थान के लिए सामग्री इकट्ठी करने वाले

कर्मचारियों का भारी कोलाहल हो रहा था ॥११९-१३५॥

तदनन्तर राजभवन के आगे का चौक हाथी, घोड़े, रथ और हथियार लिये हुए पियादों से खचाखच भर गया था ॥१३६॥

उस समय ऊपर उठे हुए सफेद छत्रों से तथा मयूरपिच्छ के बने हुए नीले-नीले वस्त्रों से आकाश व्याप्त हो गया था जिससे वह ऐसा जान पड़ता था मानो कुछ सफेद और कुछ काले मेघों से ही व्याप्त हो गया हो ॥१३७॥

उस समय तने हुए छत्रों के समूह से सूर्य का तेज भी रुक गया था सो ठीक ही है । सद्वृत्त-सदाचारी पुरुषों के समीप तेजस्वी पुरुषों का भी तेज नहीं ठहर पाता । छत्र भी सद्वृत्त-सदाचारी (पक्ष में) गोल थे इसलिए उनके समीप सूर्य का तेज नहीं ठहर पाया था ॥१३८॥

उस समय रथों और हाथियों पर लगी हुई पताकाएँ वायु के वेग से हिलती हुई आपस में मिल रही थीं जिससे ऐसी जान पड़ती थीं मानो बहुत समय बाद एक दूसरे को देखकर सन्तुष्ट हो परस्पर में मिल ही रही हों ॥१३९॥

घोड़ों की टापों से उठी हुई धूल आगे-आगे उड़ रही थी जिससे ऐसा मालूम होता था मानो वह वज्रजंघ को मार्ग दिखाने के लिए ही आकाशप्रदेश का उल्लंघन कर रही हो ॥१४०॥

हाथियों की मदधारा से, उनकी हट से निकले हुए जल के छींटों से और घोड़ों की लार तथा फेन से पृथ्वी की सब धूल जहाँ की तहाँ शान्त हो गयी थी ॥१४१॥

तदनन्तर, नगर से बाहर निकलती हुई वह सेना किसी महानदी के समान अत्यन्त शोभायमान हो रही थी क्योंकि जिस प्रकार महानदी में फेन होता है उसी प्रकार उस सेना में सफेद छत्र थे और नदी में जिस प्रकार लहरें होती हैं उसी प्रकार उसमें अनेक घोड़े थे ॥१४२॥

अथवा बड़े-बड़े हाथी ही जिसमें बड़े-बड़े जल जन्तु थे, घोड़े ही जिसमें तरंगें थीं और चंचल तलवारें ही जिसमें मछलियाँ थीं ऐसी वह सेनारूपी नदी बड़ी ही सुशोभित हो रही थी ॥१४३॥

उस सेना ने ऊंची-नीची जमीन को सम कर दिया था तथा वह चलते समय बड़े भारी मार्ग में भी नहीं समाती थी इसलिए वह अपनी इच्छानुसार जहाँ-तहाँ फैलकर जा रही थी ॥१४४॥

प्रायः नवीन वस्तु ही लोगों को अधिक आनन्द देती है, लोक में जो यह कहावत प्रसिद्ध है वह बिल्कुल ठीक है इसीलिए तो मद के लोभी भ्रमर जंगली हाथियों के गण्डस्थल छोड़-छोड़कर राजा वज्रजंघ की सेना के हाथियों के मद बहाने वाले गण्डस्थलों में विलीन हो रहे थे और सुगन्ध के लोभी कितने ही भ्रमर वन के मनोहर वृक्षों को छोड़कर महाराज के हाथियों पर आ लगे थे ॥१४५-१४६॥

मार्ग में जगह-जगह पर फल और फूलों के भार से झुके हुए तथा घनी छाया वाले बड़े-बड़े वृक्ष लगे हुए थे । उनसे ऐसा मालूम होता था मानो मनोहर वन उन वृक्षों के द्वारा मार्ग में महाराज वज्रजंघ का सत्कार ही कर रहे हों ॥१४७॥

उस समय स्त्रियों ने कर्णफूल आदि आभूषण बनाने के लिए अपने करपल्लवों से वनलताओं के बहुत से फूल और पत्ते तोड़ लिये थे ॥ १४८॥

मालूम होता है कि उन वन के वृक्षों को अवश्य ही अक्षीणपुष्प नाम की ऋद्धि प्राप्त हो गयी थी इसीलिए तो सैनिकों द्वारा बहुत से फूल तोड़ लिये जाने पर भी उन्होंने फूलों की शोभा का परित्याग नहीं किया था ॥१४९॥

अथानन्तर घोड़ों के हींसने और हाथियों की गम्भीर गर्जना के शब्दों से शब्दायमान वह सेना क्रम-क्रम से शष्प नामक सरोवर पर जा पहुँची ॥१५०॥

उस सरोवर की लहरें कमलों की पराग के समूह से पीली-पीली हो रही थीं और इसीलिए वह पिघले हुए सुवर्ण के समान पीले तथा शीतल जल को धारण कर रहा था ॥१५१॥

उस सरोवर के किनारे के प्रदेश हरे-हरे वनखण्डों से घिरे हुए थे इसलिए सूर्य की किरणें उसे सन्तप्त नहीं कर सकती थीं सो ठीक ही है जो संवृत है-वन आदि से घिरा हुआ है (पक्ष में गुप्ति समिति आदि से कर्मों का संवर करने वाला है) और जिसका अन्तःकरण-मध्यभाग (पक्ष में हृदय) आर्द्र है-जल से सहित होने के कारण गीला है (पक्ष में दया से भीगा है) उसे कौन सन्तप्त कर सकता है ॥१५२॥

उस सरोवर में लहरें उठ रही थीं और किनारे पर हंस, चकवा आदि पक्षी मधुर शब्द कर रहे थे जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो यह सरोवर लहररूपी हाथ उठाकर पक्षियों के द्वारा मधुर शब्द करता हुआ 'यहाँ ठहरिए' इस तरह वज्रजंघ की सेना को बुला ही रहा हो ॥

१५३॥

तदनन्तर, जिसके किनारे छोटे-बड़े वृक्ष और लताओं से घिरे हुए हैं तथा जहाँ मन्द-मन्द वायु बहती रहती है ऐसे उस सरोवर के तट पर वज्रजंघ की सेना ठहर गयी ॥१५४॥

जिस प्रकार व्याकरण में 'वध' 'घस्लृ' आदि आदेश होने पर हन् आदि स्थानी अपना स्थान छोड़ देते हैं उसी प्रकार उस तालाब के किनारे बलवान् प्राणियों द्वारा ताड़ित हुए दुर्बल प्राणियों ने अपने स्थान छोड़ दिये थे । भावार्थ-सैनिकों से डरकर हरिण आदि निर्बल प्राणी अन्यत्र चले गये थे और उनके स्थान पर सैनिक ठहर गये थे ॥१५५॥

उस सेना के क्षोभ से पक्षियों ने अपने घोंसले छोड़ दिये थे, मृग भयभीत हो गये थे और सिंहों ने धीरे-धीरे आँखें खोली थीं ॥१५६॥ सेना के जो स्त्री-पुरुष वन वृक्षों के नीचे ठहरे थे उन्होंने उनकी डालियों पर अपने आभूषण, वस्त्र आदि टाँग दिये थे इसलिए वे वृक्ष कल्पवृक्ष की शोभा को प्राप्त हो रहे थे ॥१५७॥

पुष्प तोड़ते समय वे वृक्ष अपनी डालियों से झुक जाते थे जिससे ऐसा मालूम होता था मानो वे वृक्ष आतिथ्य-सत्कार को उत्तम समझकर उन पुष्प तोड़ने वालों के प्रति अपनी अनुकूलता ही प्रकट कर रहे हों ॥१५८॥

सेना की स्त्रियाँ उस सरोवर के जल में स्नान पर्यन्त प्रवेश कर स्नान कर रही थीं, उस समय वे ऐसी शोभायमान हो रही थीं मानो सरोवर का जल अदृष्टपूर्व सौन्दर्य का लाभ समझकर उन्हें अपने आपमें निगल ही रहा हो ॥१५९॥

भार ढोने से जिनके मजबूत कन्धों में बड़ी-बड़ी भट्टें पड़ गयी हैं, ऐसे कहार लोगों को प्रवेश करते हुए देखकर वह तालाब 'इनके नहाने से हमारा बहुत-सा जल व्यर्थ ही खर्च हो जायेगा' मानो इस भय से ही काँप उठा था ॥१६०॥

इस तालाब के किनारे चारों ओर लगे हुए तम्बू ऐसे मालूम होते थे मानो वनलक्ष्मी ने भविष्यत्काल में तीर्थंकर होने वाले वज्रजंघ के लिए उत्तम भवन ही बना दिये हों ॥१६१॥

जमीन में लोटने के बाद खड़े होकर हींसते हुए घोड़े ऐसे मालूम होते थे मानो तेल लगाकर पुष्ट हुए उद्धत मल्ल ही हों ॥१६२॥

पीठ की उत्तम रीढ़ वाले हाथी भी भ्रमरों के द्वारा मदपान करने के कारण कुपित होने पर ही मानो महावतों द्वारा बाँध दिये गये थे जैसे कि जगत्पूज्य और कुलीन भी पुरुष मदपान के कारण बाँधे जाते हैं ॥१६३॥

तदनन्तर जब समस्त सेना अपने-अपने स्थान पर ठहर गयी तब राजा वज्रजंघ मार्ग तय करने में चतुर-शीघ्रगामी घोड़े पर बैठकर शीघ्र ही अपने डेरे में जा पहुँचे ॥१६४॥

घोड़ों के खुरों से उठी हुई धूलि से जिसके शरीर रूक्ष हो रहे हैं ऐसे घुड़सवार लोग पसीने से युक्त होकर उस समय डेरों में पहुँचे थे जिस समय कि सूर्य उनके ललाट को तपा रहा था ॥१६५॥

जहाँ सरोवर के जल की तरंगों से उठती हुई मन्द वायु के द्वारा भारी शीतलता विद्यमान थी ऐसे तालाब के किनारे पर बहुत ऊँचे तम्बू में राजा वज्रजंघ ने सुखपूर्वक निवास किया ॥१६६॥

तदनन्तर आकाश में गमन करने वाले श्रीमान् दमधर नामक मुनिराज, सागरसेन नामक मुनिराज के साथ-साथ वज्रजंघ के पड़ाव में पधारे ॥१६७॥

उन दोनों मुनियों ने वन में ही आहार लेने की प्रतिज्ञा की थी इसलिए इच्छानुसार विहार करते हुए वज्रजंघ के डेरे के समीप आये ॥१६८॥

वे मुनिराज अतिशय कान्ति के धारक थे, और पापकर्मों से रहित थे इसलिए ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो स्वर्ग और मोक्ष के साक्षात् मार्ग ही हों ऐसे दोनों मुनियों को राजा वज्रजंघ ने दूर से ही देखा ॥१६९॥

जिन्होंने अपने शरीर की दीप्ति से वन का अन्धकार नष्ट कर दिया है ऐसे दोनों मुनियों को राजा वज्रजंघ ने संभ्रम के साथ उठकर पड़गाहन किया ॥१७०॥

पुण्यात्मा वज्रजंघ ने रानी श्रीमती के साथ बड़ी भक्ति से उन दोनों मुनियों को हाथ जोड़ अर्घ दिया और फिर नमस्कार कर भोजनशाला में प्रवेश कराया ॥१७१॥

वहाँ वज्रजंघ ने उन्हें ऊँचे स्थानपर बैठाया, उनके चरणकमलों का प्रक्षालन किया, पूजा की, नमस्कार किया, अपने मन, वचन, काय को शुद्ध किया और फिर श्रद्धा, तुष्टि, भक्ति, अलोभ, क्षमा, ज्ञान और शक्ति इन गुणों से विभूषित होकर विशुद्ध परिणामों से उन गुणवान् दोनों मुनियों को विधिपूर्वक आहार दिया । उसके फलस्वरूप नीचे लिखे हुए पञ्चाश्चर्य हुए । देव लोग आकाश से रत्नवर्षा करते थे,

पुष्पवर्षा करते थे, आकाशगंगा के जल के छींटों को बरसाता हुआ मन्द-मन्द वायु चल रहा था, दुन्दुभि बाजों की गम्भीर गर्जना हो रही थी और दिशाओं को व्याप्त करने वाले 'अहो दानम् अहो दानम्' इस प्रकार के शब्द कहे जा रहे थे ॥१७२-१७५॥

तदनन्तर वज्रजंघ, जब दोनों मुनिराजों को वन्दना और पूजा कर वापस भेज चुका तब उसे अपने कंचुकी के कहने से मालूम हुआ कि उक्त दोनों मुनि हमारे ही अन्तिम पुत्र हैं ॥१७६॥

राजा वज्रजंघ श्रीमती के साथ-साथ बड़े प्रेम से उनके निकट गया और पुण्य प्राप्ति की इच्छा से सद्गृहस्थों का धर्म सुनने लगा ॥१७७॥

दान, पूजा, शील और प्रोषण आदि धर्मों का विस्तृत स्वरूप सुन चुकने के बाद वज्रजंघ ने उनसे अपने तथा श्रीमती के पूर्वभव पूछे ॥ १७८ ॥

उनमें से दमधर नाम के मुनि अपने दाँतों की किरणों से दिशाओं में प्रकाश फैलाते हुए उन दोनों के पूर्वभव कहने लगे ॥१७८॥

हे राजन्, तू इस जन्म से चौथे जन्म में जम्बूद्वीप के विदेह क्षेत्र में स्थित गन्धिल देश के सिंहपुर नगर में राजा श्रीषेण और अतिशय मनोहर सुन्दरी नाम की रानी के ज्येष्ठ पुत्र हुआ था। वहाँ तूने विरक्त होकर जैनेश्वरी दीक्षा धारण की। परन्तु संयम प्रकट नहीं कर सका और विद्याधर राजाओं के भोगों में चित्त लगाकर मृत्यु को प्राप्त हुआ जिससे पूर्वोक्त गन्धिल देश के विजयार्थ पर्वत की उत्तर श्रेणी पर अलका नाम की नगरी में महाबल हुआ। वहाँ तूने मनचाहे भोगों का अनुभव किया। फिर स्वयम्बुद्ध मन्त्री के उपदेश से आत्मज्ञान प्राप्त कर तूने जिनपूजा कर समाधिमरण से शरीर छोड़ा और ललितांगदेव हुआ। वहाँ से च्युत होकर अब वज्रजंघ नाम का राजा हुआ है ॥१८०-१८४॥ यह श्रीमती भी पहले एक भव में धातकीखण्डद्वीप में पूर्व मेरु से पश्चिम की ओर गन्धिलदेश के पलालपर्वत नामक ग्राम में किसी गृहस्थ की पुत्री थी। वहाँ कुछ पुण्य के उदय से तू उसी देश के पाटली नामक ग्राम में किसी वणिक के निर्नामिका नाम की पुत्री हुई। वहाँ उसने पिहितास्रव नामक मुनिराज के आश्रय से विधिपूर्वक जिनेन्द्रगुणसम्पत्ति और श्रुतज्ञान नामक व्रतों के उपवास किये जिसके फलस्वरूप श्रीप्रभ विमान में स्वयंप्रभा देवी हुई। जब तुम ललितांगदेव की पर्याय में थे तब यह तुम्हारी प्रिय देवी थी और अब वहाँ से चयकर वज्रदन्त चक्रवर्ती के श्रीमती पुत्री हुई है ॥१८५-१८८॥

इस प्रकार राजा वज्रजंघ ने श्रीमती के साथ अपने पूर्वभव सुनकर कौतूहल से अपने इष्ट सम्बन्धियों के पूर्वभव पूछे ॥१८९॥

हे नाथ, ये मतिवर, आनन्द, धनमित्र और अकम्पन मुझे अपने भाई के समान अतिशय प्यारे हैं इसलिए आप प्रसन्न होइए और इनके पूर्वभव कहिए। इस प्रकार राजा का प्रश्न सुनकर उत्तर में मुनिराज कहने लगे ॥१९०॥

हे राजन् इसी जम्बूद्वीप के पूर्वविदेह क्षेत्र में एक वत्सकावती नाम का देश है जो कि स्वर्ग के समान सुन्दर है, उसमें एक प्रभाकरी नाम की नगरी है। यह मतिवर पूर्वभव में इसी नगरी में अतिग्रंथ नाम का राजा था। वह विषयों में अत्यन्त आसक्त रहता था। उसने-बहुत आरम्भ और परिग्रह के कारण नरक आयु का बन्ध कर लिया था जिससे वह मरकर पङ्कप्रभा नाम के चौथे नरक में उत्पन्न हुआ। वहाँ दशसागर तक नरकों के दुःख भोगता रहा ॥१९१-१९३॥

उसने पूर्वभव में पूर्वोक्त प्रभाकरी नगरी के समीप एक पर्वत पर अपना बहुत-सा धन गाड़ रखा था। वह नरक से निकलकर इसी पर्वत पर व्याघ्र हुआ ॥१९४॥

तत्पश्चात् किसी एक दिन प्रभाकरी नगरी का राजा प्रीतिवर्धन अपने प्रतिकूल खड़े हुए छोटे भाई को जीतकर लौटा और उसी पर्वतपर ठहर गया ॥१९५॥

वह वहाँ अपने छोटे भाई के साथ बैठा हुआ था इतने में पुरोहित ने आकर उससे कहा कि आज यहाँ आपको मुनिदान के प्रभाव से बड़ा भारी लाभ होने वाला है ॥१९६॥

हे राजन् वे मुनिराज यहाँ किस प्रकार प्राप्त हो सकेंगे। इसका उपाय मैं अपने दिव्यज्ञान से जानकर आपके लिए कहता हूँ। सुनिए-॥ १९७॥

हम लोग नगर में यह घोषणा दिलाये देते हैं कि आज राजा के बड़े भारी हर्ष का समय है इसलिए समस्त नगरवासी लोग अपने-अपने घरों पर पताकाएँ फहराओ, तोरण बाँधो और घर के आँगन तथा नगर की गलियों में सुगन्धित जल सींचकर इस प्रकार फूल बिखेर दो कि बीच में कहीं कोई रन्ध्र खाली न रहे ॥१९८-१९९॥

ऐसा करने से नगर में जाने वाले मुनि अप्रासुक होने के कारण नगर को अपने विहार के अयोग्य समझ लौटकर यहाँ पर अवश्य ही आयेंगे

॥२००॥

पुरोहित के वचनों से सन्तुष्ट होकर राजा प्रीतिवर्धन ने वैसा ही किया जिससे मुनिराज लौटकर वहाँ आये ॥२०१॥

पिहितासव नाम के मुनिराज एक महीने के उपवास समाप्त कर आहार के लिए भ्रमण करते हुए क्रम-क्रम से राजा प्रीतिवर्धन के घर में प्रविष्ट हुए ॥२०२॥

राजा ने उन्हें विधिपूर्वक आहार दान दिया जिससे देवों ने आकाश से रत्नों की वर्षा की और वे रत्न मनोहर शब्द करते हुए भूमि पर पड़े ॥ २०३॥

राजा अतिगृन्ध के जीव सिंह ने भी वहाँ यह सब देखा जिससे उसे जाति-स्मरण हो गया । वह अतिशय शान्त हो गया, उसकी मूर्च्छा (मोह) जाती रही और यहाँ तक कि उसने शरीर और आहार से भी ममत्व छोड़ दिया ॥२०४॥

वह सब परिग्रह अथवा कषायों का त्याग कर एक शिलातल पर बैठ गया । मुनिराज पिहितासव ने भी अपने अवधिज्ञानरूपी नेत्र से अकस्मात् सिंह का सब वृत्तान्त जान लिया ॥२०५॥

और जानकर उन्होंने राजा प्रीतिवर्धन से कहा कि-हे राजन्, इस पर्वत पर कोई श्रावक होकर (श्रावक के व्रत धारण कर) संन्यास कर रहा है तुम्हें उसकी सेवा करनी चाहिए ॥२०६॥

वह आगामी काल में भरतक्षेत्र के प्रथम तीर्थंकर श्रीवृषभदेव के चक्रवर्ती पद का धारक पुत्र होगा और उसी भव से मोक्ष प्राप्त करेगा इस विषय में कुछ भी सन्देह नहीं है ॥२०७॥

मुनिराज के इन वचनों से राजा प्रीतिवर्धन को भारी आश्चर्य हुआ । उसने मुनिराज के साथ वहाँ जाकर अतिशय साहस करने वाले सिंह को देखा ॥२०८॥

तत्पश्चात् राजा ने उसकी सेवा अथवा समाधि में योग्य सहायता की और यह देव होने वाला है यह समझकर मुनिराज ने भी उसके कान में नमस्कार मन्त्र सुनाया ॥२०९॥

वह सिंह अठारह दिन तक आहार का त्याग कर समाधि से शरीर छोड़ दूसरे स्वर्ग के दिवाकरप्रभ नामक विमान में दिवाकरप्रभ नाम का देव हुआ ॥२१०॥

इस आश्चर्य को देखकर राजा प्रीतिवर्धन के सेनापति, मन्त्री और पुरोहित भी शीघ्र ही अतिशय शान्त हो गये ॥२११॥

इन सभी ने राजा के द्वारा दिये हुए पात्रदान की अनुमोदना की थी इसलिए आयु समाप्त होने पर वे उत्तरकुरु भोगभूमि में आर्य हुए ॥ २१२॥

और आयु के अस्त में ऐशान स्वर्ग में लक्ष्मीमान् देव हुए । उनमें से मन्त्री, कांचन नामक विमान में कनकाभ नाम का देव हुआ, पुरोहित रुषित नाम के विमान में प्रभंजन नाम का देव हुआ और सेनापति प्रभानामक विमान में प्रभाकर नाम का देव हुआ । आपकी ललितांगदेव की पर्याय में ये सब आपके ही परिवार के देव थे ॥२१३-२१४॥

सिंह का जीव वहाँ से च्युत हो मतिसागर और श्रीमती का पुत्र होकर आपका मतिवर नाम का मन्त्री हुआ है ॥२१५॥

प्रभाकर का जीव स्वर्ग से च्युत होकर अपराजित सेनानी और आर्जवा का पुत्र होकर आपका अकम्पन नाम का सेनापति हुआ है ॥२१६॥

कनकप्रभ का जीव श्रुतकीर्ति और अनन्तमती का पुत्र होकर आपका आनन्द नाम का प्रिय पुरोहित हुआ है ॥२१७॥

तथा प्रभंजन देव वहाँ से च्युत होकर धनदत्त और धनदत्ता का पुत्र होकर आपका धनमित्र नाम का सम्पत्तिशाली सेठ हुआ है ॥२१८॥

इस प्रकार मुनिराज के वचन सुनकर राजा वज्रजंघ और श्रीमती-दोनों ही धर्म के विषय में अतिशय प्रीति को प्राप्त हुए ॥२१९॥

राजा वज्रजंघ ने फिर भी बड़े आश्चर्य के साथ उन मुनिराज से पूछा कि ये नकुल, सिंह, वानर और शूकर चारों जीव आपके मुख-कमल को देखने में दृष्टि लगाये हुए इन मनुष्यों से भरे हुए स्थान में भी निर्भय होकर क्यों बैठे हैं ? ॥२२०-२२१॥

इस प्रकार राजा के पूछने पर चारण ऋद्धि के धारक ऋषिराज बोले, हे राजन्, यह सिंह पूर्वभव में इसी देश के प्रसिद्ध हस्तिनापुर नामक नगर में सागरदत्त वैश्य से उसकी धनवती नामक स्त्री में उग्रसेन नाम का पुत्र हुआ था ॥२२२-२२३॥

वह उग्रसेन स्वभाव से ही अत्यन्त क्रोधी था इसलिए उस अज्ञानी ने पृथिवी भेद के समान अप्रत्याख्यानावरण क्रोध के निमित्त से तिर्यच आयु का बन्ध कर लिया था ॥२२४॥

एक दिन उस दुष्ट ने राजा के भण्डार की रक्षा करने वाले लोगों को घुड़ककर वहाँ से बलपूर्वक बहुत-सा घी और चावल निकालकर वेश्याओं को दे दिया ॥२२५॥

जब राजा ने यह समाचार सुना तब उसने उसे बँधवा कर थप्पड़, लात, हंसा आदि की बहुत ही मार दिलायी जिससे वह तीव्र वेदना सहकर मरा और यहाँ यह व्याघ्र हुआ है ॥२२६॥

हे राजन् यह सूकर पूर्वभव में विजय नामक नगर में राजा महानन्द से उसकी रानी वसन्तसेना में हरिवाहन नाम का पुत्र हुआ था । वह अप्रत्याख्यानावरण मान के उदय से हड्डी के समान मान को धारण करता था इसलिए माता-पिता का भी विनय नहीं करता था ॥

२२७-२२८॥

और इसीलिए उसे तिर्यच आयु का बन्ध हो गया था । एक दिन यह माता-पिता का अनुशासन नहीं मानकर दौड़ा जा रहा था कि पत्थर के खम्भे से टकराकर उसका शिर फूट गया और इसी वेदना में आर्तध्यान से मरकर यह सूकर हुआ है ॥२२९॥

हे राजन्, यह वानर पूर्वभव में धन्यपुर नाम के नगर में कुबेर नामक वणिक के घर उसकी सुदत्ता नाम की स्त्री के गर्भ से नागदत्त नाम का पुत्र हुआ था वह मेंडें के सींग के समान अप्रत्याख्यानावरण माया को धारण करता था ॥२३०-२३१॥

एक दिन इसकी माता, नागदत्त की छोटी बहन के विवाह के लिए अपनी दुकान से इच्छानुसार छोट-छाँटकर कुछ सामान ले रही थी । नागदत्त उसे ठगना चाहता था परन्तु किस प्रकार ठगना चाहिए ? इसका उपाय वह नहीं जानता था इसलिए उसी उधेड़बुन में लगा रहा और अचानक आर्तध्यान से मरकर तिर्यज्च आयु का बन्ध होने से यहां यह वानर अवस्था को प्राप्त हुआ है ॥२३२-२३३॥

और-हे राजन्, यह नकुल (नेवला) भी पूर्वभव में इसी सुप्रतिष्ठित नगर में लोलुप नाम का हलवाई था । वह धन का बड़ा लोभी था ॥२३४॥ किसी समय वहाँ का राजा जिनमन्दिर बनवा रहा था और उसके लिए वह मजदूरों से ईंटें बुलाता था । वह लोभी मूर्ख हलवाई उन मजदूरों को कुछ पुआ वगैरह देकर उनसे छिपकर कुछ ईंटें अपने घर में डलवा लेता था । उन ईंटों के फोड़ने पर उनमें से कुछ में सुवर्ण निकला । यह देखकर इसका लोभ और भी बढ़ गया । उस सुवर्ण के लोभ से उसने बार-बार मजदूरों को पुआ आदि देकर उनसे बहुत-सी ईंटें अपने घर डलवाना प्रारम्भ किया ॥२३५-२३७॥

एक दिन उसे अपनी पुत्री के गाँव जाना पड़ा । जाते समय वह पुत्र से कह गया कि हे पुत्र, तुम भी मजदूरों को कुछ भोजन देकर उनसे अपने घर ईंटें डलवा लेना ॥२३८॥

यह कहकर वह तो चला गया परन्तु पुत्र ने उसके कहे अनुसार घर पर ईंटें नहीं डलवायी । जब वह दुष्ट लौटकर घर आया और पुत्र से पूछने पर जब उसे सब हाल मालूम हुआ तब वह पुत्र से भारी कुपित हुआ ॥२३९॥

उस मूर्ख ने लकड़ी तथा पत्थरों की मार से पुत्र का शिर फोड़ डाला और उस दुःख से दुःखी होकर अपने पैर भी काट डाले ॥२४०॥

अन्त में वह राजा के द्वारा मारा गया और मरकर इस नकुल पर्याय को प्राप्त हुआ है । वह हलवाई अप्रत्याख्यानावरण लोभ के उदय से ही इस दशा तक पहुँचा है ॥२४१॥

हे राजन् आपके दान को देखकर ये चारों ही परम हर्ष को प्राप्त हो रहे हैं और इन चारों को ही जाति-स्मरण हो गया है जिससे ये संसार से बहुत ही विरक्त हो गये हैं ॥२४२॥

आपके दिये हुए दान की अनुमोदना करने से इन सभी ने उत्तम भोगभूमि की आयु का बन्ध किया है । इसलिए ये भय छोड़कर धर्मश्रवण करने की इच्छा से यहाँ बैठे हुए हैं ॥२४३॥

हे राजन् इस भव से आठवें आगामी भव में तुम वृषभनाथ तीर्थकर होकर मोक्ष प्राप्त करोगे और उसी भव में ये सब भी सिद्ध होंगे, इस विषय में कुछ भी सन्देह नहीं है ॥२४४॥

और तब तक ये पुण्यशील जीव आपके साथ-साथ ही देव और मनुष्यों के उत्तम-उत्तम सुख तथा विभूतियों का अनुभोग करते रहेंगे ॥ २४५॥

इस श्रीमती का जीव भी आपके तीर्थ में दानतीर्थ की प्रवृत्ति चलाने वाला राजा श्रेयान्स होगा और उसी भव से उत्कृष्ट कल्याण अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होगा, इसमें संशय नहीं है ॥२४६॥

इस प्रकार चारण ऋद्धिधारी मुनिराज के वचन सुनकर राजा वज्रजंघ का शरीर हर्ष से रोमाञ्चित हो उठा जिससे ऐसा मालूम होता था

मानो प्रेम के अंकुरों से व्याप्त ही हो गया हो ॥२४७॥

तदनन्तर राजा उन दोनों मुनिराजों को नमस्कार कर रानी श्रीमती और अतिशय प्रसन्न हुए मतिवर आदि के साथ अपने डेरे पर लौट आया ॥२४८॥

तत्पश्चात् वायुरूपी वस्तु को धारण करने वाले (दिगम्बर) वे दोनों मुनिराज मुनियों की वृत्ति परिग्रहरहित होती है इस बात को प्रकट करते हुए वायु के साथ-साथ ही आकाशमार्ग से विहार कर गये ॥२४९॥

राजा वज्रजंघ ने उन मुनियों के गुणों का ध्यान करते हुए उत्कण्ठित चित्त होकर उस दिन का शेष भाग अपनी सेना के साथ उसी शष्प नामक सरोवर के किनारे व्यतीत किया ॥२५०॥

तदनन्तर वहाँ से कितने ही पड़ाव चलकर वे पुण्डरीकिणी नगरी में जा पहुँचे । वहाँ जाकर राजा वज्रजंघ ने शोक से पीड़ित हुई सती लक्ष्मीमती देवी को देखा और भाई के मिलने की उत्कण्ठा से सहित अपनी छोटी बहन अनुन्धरी को भी देखा । दोनों को धीरे-धीरे आश्वासन देकर समझाया तथा पुण्डरीक के राज्य को निष्कण्टक कर दिया ॥२५१-२५२॥

उसने साम, दाम, दण्ड, भेद आदि उपायों से समस्त प्रजा को अनुरक्त किया और सरदारों तथा आश्रित राजाओं का भी सम्मान कर उन्हें पहले की भाँति (चक्रवर्ती के समय के समान) अपने-अपने कार्यों में नियुक्त कर दिया ॥२५३॥

तत्पश्चात् प्रातःकालीन सूर्य के समान देदीप्यमान पुण्डरीक बालक को राज्य-सिंहासन पर बैठाकर और राज्य की सब व्यवस्था सुयोग्य मन्त्रियों के हाथ सौंपकर राजा वज्रजंघ लौटकर अपने उत्पलखेटक नगर में आ पहुँचे ॥२५४॥

उत्कृष्ट शोभा से सुशोभित महाराज वज्रजंघ ने प्रिया श्रीमती के साथ बड़े ठाट-बाट से स्वर्गपुरी के समान सुन्दर अपने उत्पलखेटक नगर में प्रवेश किया । प्रवेश करते समय नगर की मनोहर स्त्रियाँ अपने नेत्रों-द्वारा उनके सौन्दर्य-रस का पान कर रही थीं । नगर में प्रवेश करता हुआ वज्रजंघ ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो स्वर्ग में प्रवेश करता हुआ इन्द्र ही हो ॥२५५॥

क्या यह इन्द्र है ? अथवा कुबेर है ? अथवा धरणेन्द्र है ? अथवा शरीरधारी कामदेव है ? इस प्रकार नगर की नर-नारियों की बातचीत के द्वारा जिनकी प्रशंसा हो रही है ऐसे अत्यन्त शोभायमान और उत्कृष्ट विभूति के धारक वज्रजंघ ने अपने श्रेष्ठ भवन में प्रवेश किया ॥२५६॥
छहों ऋतुओं में हर्ष उत्पन्न करने वाले उस मनोहर राजमहल में कामदेव के समान सुन्दर वज्रजंघ अपने पुण्य के उदय से प्राप्त हुए मनवांछित भोगों को भोगता हुआ सुख से निवास करता था । तथा जिस प्रकार संभोगादि उचित उपायों के द्वारा इन्द्र इन्द्राणी को प्रसन्न रखता है उसी प्रकार वह वज्रजंघ संभोग आदि उपायों से श्रीमती को प्रसन्न रखता था । वह सदा जैन धर्म का स्मरण रखता था और दिशाओं में अपनी कीर्ति फैलाता रहता था ॥२५७॥

इस प्रकार आर्ष नाम से प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रह में श्रीमती और वज्रजंघ के पात्रदान का वर्णन करने वाला आठवां पर्व समाप्त हुआ ॥८॥

पर्व-09 -- श्रीमती और वज्रजंघ को सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति

पर्व-09 -- श्रीमती और वज्रजंघ को सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति

कथा :

तदनन्तर धर्म, अर्थ और काम इन तीन वर्गों के संसर्ग से मनोहर राज्य करने वाले महाराज वज्रजंघ का छहों ऋतुओं के सुन्दर भोग भोगते हुए बहुत-सा समय व्यतीत हो गया ॥१॥

अपनी प्रिया श्रीमती के साथ वह राजा शरद्ऋतु के प्रारम्भ काल में फूले हुए कमलों से सुशोभित तालाबों के जल में और सप्तपर्ण जाति के वृक्षों की सुगन्धि से मनोहर वनों में क्रीड़ा करता था ॥२॥

कभी वह श्रेष्ठ राजा, राजहंस पक्षी के समान अपनी सहचरी के पीछे-पीछे चलता हुआ प्रिया के नितम्ब के समान मनोहर नदियों के तट प्रदेशों पर सन्तुष्ट होता था ॥३॥

कभी श्रीमती के कानों में नीलकमल का आभूषण पहनाता था । उस समय वह ऐसा जान पड़ता था मानो उस नीलकमल के आभूषणों के छल से उसके नेत्रों की शोभा ही बढ़ा रहा हो ॥४॥

श्रीमती का स्तन मण्डल तालाबों की पराग के समूह से पीला पड़ गया था इसलिए कामदेव के पिटारे के समान जान पड़ता था । राजा

वज्रजंघ उस स्तन-मण्डल को देखता हुआ बहुत ही हर्षित होता था ॥५॥

हेमन्त ऋतु में वह वज्रजंघ धूप की फैलती हुई सुगन्धि से सुगन्धित शयनागार में श्रीमती के स्तनों की उष्णता से परम धैर्य को प्राप्त होता था ॥६॥

तथा शिशिर ऋतु का आगमन होने पर जिसका सम्पूर्ण शरीर केशर से लिप्त हो रहा है और जिसका मुख-कमल प्रसन्नता से खिल रहा है ऐसी प्रिया श्रीमती को गाड़ आलिंगन से प्रसन्न करता था ॥७॥

मधु के मद से उन्मत्त हुई स्त्रियों से हरे-भरे सुन्दर वसन्त में वज्रजंघ अपनी स्त्री के साथ-साथ आमों के वनों में क्रीड़ा करता था ॥८॥

कभी श्रीमती के कानों में अशोक वृक्ष की नयी कली पहनाता था । उस समय वह ऐसा सुशोभित होता था मानो मनुष्य के चित्त को भेदन करने वाले और खून से रंगे हुए अपने लाल-लाल बाण पहनाता हुआ कामदेव ही हो ॥९॥

ग्रीष्म ऋतु में पसीने को सुखाने वाली तालाबों के समीपवर्ती वायु से जिसकी सब थकावट दूर हो गयी है ऐसा वज्रजंघ जलक्रीड़ा कर श्रीमती को प्रसन्न करता हुआ विहार करता था ॥१०॥

चन्दन के द्रव से जिसका सारा शरीर लिप्त हो रहा है और जो कण्ठ में हार पहने हुई है ऐसी श्रीमती को गले में लगाता हुआ वज्रजंघ गरमी से पैदा होने वाले किसी भी परिश्रम को नहीं जानता था ॥११॥

वह कभी शिरीष के फूलों के आभरणों से श्रीमती को सजाता था और फिर उसे साक्षात् शरीर धारण करने वाली ग्रीष्मऋतु की शोभा समझता हुआ बहुत कुछ मानता था ॥१२॥

वर्षाऋतु में जब मेघों के किनारे पर बिजली चमकती थी उस समय वियोग के भय से अत्यन्त भयभीत हुई श्रीमती बिजली के डर से वज्रजंघ का स्वयं गाढ़ आलिंगन करने लगती थी ॥१३॥

उस समय वीरबहूटी नाम के लाल-लाल कीड़ों से व्याप्त पृथ्वी, गम्भीर गर्जना करते हुए मेघ और इन्द्रधनुष ये सब पथिकों के मन को बहुत ही उत्कण्ठित बना रहे थे ॥१४॥ उस समय गरजते हुए बादल मानो यह कहकर ही पथिकों को गमन करने से रोक रहे थे कि आकाश तो हम लोगों ने घेर लिया है और पृथ्वी वीरबहूटी कीड़ों से भरी हुई है अब तुम कहाँ जाओगे ? ॥१५॥

उस समय खिले हुए कुटज जाति के वृक्षों से व्याप्त पर्वत के समीप की भूमि उन्मत्त हुए मयूरों के शब्दों से राजा वज्रजंघ का मन उत्कण्ठित कर रही थी ॥१६॥

जिस समय मयूर नृत्य कर रहे थे ऐसे उस वर्षा के समय में कदम्ब पुष्पों की वायु के सम्पर्क से सुगन्धित शिखरों वाले पर्वत राजा वज्रजंघ का मन हरण कर रहे थे ॥१७॥

जिस समय चमकती हुई बिजली से आकाश प्रकाशमान रहता है ऐसे उस वर्षाकाल में राजा वज्रजंघ अपने सुन्दर महल के अग्रभाग में प्रिया श्रीमती के साथ शयन करता हुआ रमण करता था ॥१८॥

वर्षाऋतु आने पर स्त्रियों का मान दूर करने वाले और उछलते हुए जल से शोभायमान नदियों के पूर से उसे बहुत ही सन्तोष होता था ॥ १९॥

इस प्रकार वह राजा वज्रजंघ अपनी प्रिया श्रीमती के साथ-साथ छहों ऋतुओं के भोगों का अनुभव करता हुआ मानो मूर्ख लोगों को पूर्वभव में किये हुए अपने तप का साक्षात् फल ही दिखला रहा था ॥२०॥

अथानन्तर एक दिन वह वज्रजंघ अपने शयनागार में कोमल, मनोहर और गंगा नदी के बालूदार तट के समान सुशोभित रेशमी चद्दर से उज्ज्वल शय्या पर शयन कर रहा था । जिस शयनागार में वह शयन करता था वह कृष्ण अगुरु की बनी हुई उत्कृष्ट धूप के धूम से अत्यन्त सुगन्धित हो रहा था, मणिमय दीपकों के प्रकाश से उसका समस्त अन्धकार नष्ट हो गया था । जिनके प्रत्येक पाये में रत्न जड़े हुए हैं ऐसे अनेक मंचों से वह शोभायमान था । उसमें जो चारों ओर मोतियों के गुच्छे लटक रहे थे उनसे वह ऐसा मालूम होता था मानो हस ही रहा हो । कुन्द, नीलकमल और मन्दार जाति के फूलों की तीव्र सुगन्धि के कारण उसमें बहुत से भ्रमर आकर इकट्ठे हुए थे । तथा दीवालों पर बने हुए तरह-तरह के चित्रों से वह अतिशय शोभायमान हो रहा था ॥२१-२४॥

श्रीमती के स्तन तट के स्पर्श से उत्पन्न हुए सुख से जिसके नेत्र निमीलित (बन्द) हो रहे हैं ऐसा वह वज्रजंघ मेरु पर्वत की कन्दरा का स्पर्श करते हुए बिजलीसहित बादल के समान शोभायमान हो रहा था ॥२५॥

शयनागार को सुगन्धित बनाने और केशों का संस्कार करने के लिए उस भवन में अनेक प्रकार का सुगन्धि धूप जल रहा था । भाग्यवश उस दिन, सेवक लोग झरोखे के द्वार खोलना भूल गये थे इसलिए वह धूम उसी शयनागार में रुकता रहा । निदान, केशों के संस्कार के लिए जो धूप जल रहा था उसके उठते हुए धूम से वे दोनों पति-पत्नी क्षण-भर में मूर्च्छित हो गये ॥२६॥

उस धूम से उन दोनों के श्वास रुक गये जिससे अन्तःकरण में उन दोनों को कुछ व्याकुलता हुई । अन्त में मध्य रात्रि के समय वे दोनों ही दम्पति दीर्घनिद्रा को प्राप्त हो गये-सदा के लिए सो गये-मर गये ॥२७॥

जिस प्रकार दीपक बुझ जाने पर रुके हुए अन्धकार के समूह से मकान निष्प्रभ-मलीन-हो जाते हैं, उसी प्रकार जीव निकल जाने पर उन दोनों के शरीर क्षण-भर में निष्प्रभ-मलीन-हो गये ॥२८॥

जिस प्रकार समय पाकर उखड़ा हुआ कल्पवृक्ष लता से सहित होने पर भी शोभायमान नहीं होता उसी प्रकार प्राणरहित वज्रजंघ श्रीमती के साथ रहते हुए भी शोभायमान नहीं हो रहा था ॥२९॥

यद्यपि वह धूप उनके भोगोपभोग का साधन था तथापि उससे उनकी मृत्यु हो गयी इसलिए सर्प के फण के समान प्राणों का हरण करने वाले इन भोगों को धिक्कार हो ॥३०॥

जो श्रीमती और वज्रजंघ उत्तम-उत्तम भोगों का अनुभव करते हुए हमेशा सुखी रहते थे वे भी उस समय एक ही साथ शोचनीय अवस्था को प्राप्त हुए थे इसलिए संसार की ऐसी स्थिति को धिक्कार हो ॥३१॥

हे भव्यजन, जब कि भोगोपभोग के साधनों से ही जीवों की ऐसी अवस्था हो जाती है तब अन्त में दुःख देने वाले इन भोगों से क्या प्रयोजन है इन्हें छोड़कर जिनेन्द्रदेव के वीतराग मत में ही प्रीति करो ॥३२॥

उन दोनों ने पात्रदान से प्राप्त हुए पुण्य के कारण उत्तरकुरु भोगभूमि की आयु का बन्ध किया था इसलिए क्षण-भर में वहीं जाकर जन्म-धारण कर लिया ॥३३॥

जम्बूद्वीप सम्बन्धी मेरु पर्वत से उत्तर की ओर उत्तरकुरु नाम की भोगभूमि है जो कि अपनी शोभा से सदा स्वर्ग की शोभा को हँसती रहती है ॥३४॥

जहाँ मद्यांग, वादित्रांग, भूषणांग, मालांग, दीपांग, ज्योतिरांग, गृहांग, भोजनांग, भाजनांग और वस्त्रांग ये सार्थक नाम को धारण करने वाले दश प्रकार के कल्पवृक्ष हैं । ये कल्पवृक्ष अनेक रत्नों के बने हुए हैं और अपनी विस्तृत प्रभा से दशों दिशाओं को प्रकाशित करते रहते हैं ॥३५-३६॥

इनमें मद्यांगजाति के वृक्ष फैलती हुई सुगन्धि से युक्त तथा अमृत के समान मीठे मधु-मैरेय, सीधु, अरिष्ट और आसव आदि अनेक प्रकार के रस देते हैं ॥३७॥

कामोद्दीपन की समानता होने से शीघ्र ही इन मधु आदि को उपचार से मय कहते हैं । वास्तव में ये वृक्षों के एक प्रकार के रस हैं जिन्हें भोगभूमि में उत्पन्न होनेवाले आर्य पुरुष सेवन करते हैं ॥३८॥

मद्यपायी लोग जिस मद्य का पान करते हैं वह नशा करने वाला है और अन्तःकरण को मोहित करने वाला है इसलिए आर्यपुरुषों के लिए सर्वथा त्याज्य है ॥३९॥

वादित्रांग जाति के वृक्ष में दुन्दुभि, मृदंग, झल्लरी, शंख, भेरी, चंगा आदि अनेक प्रकार के बाजे फलते हैं ॥४०॥

भूषणांग जाति के वृक्ष नूपुर, बाजूबन्द, रुचिक, अंगद (अनन्त), करधनी, हार और मुकुट आदि अनेक प्रकार के आभूषण उत्पन्न करते हैं ॥४१॥

मालांग जाति के वृक्ष सब ऋतुओं के फूलों से व्याप्त अनेक प्रकार की मालाएँ और कर्णफूल आदि अनेक प्रकार के कर्णाभरण अधिक रूप से धारण करते हैं ॥४२॥

दीपांग नाम के कल्पवृक्ष मणिमय दीपकों से शोभायमान रहते हैं और प्रकाशमान कान्ति के धारक ज्योतिरांग जाति के वृक्ष सदा प्रकाश फैलाते रहते हैं ॥४३॥

गृहांगजाति के कल्पवृक्ष, ऊँचे-ऊँचे राजभवन, मण्डप, सभागृह, चित्रशाला और नृत्यशाला आदि अनेक प्रकार के भवन तैयार करने के लिए समर्थ रहते हैं ॥४४॥

भोजनांग जाति के वृक्ष, अमृत के समान स्वाद देने वाले, शरीर को पुष्ट करने वाले और छहों रससहित अशन-पान आदि उत्तम-उत्तम आहार उत्पन्न करते हैं ॥४५॥

अशन (रोटी, दाल, भात आदि खाने के पदार्थ), पानक (दूध, पानी आदि पीने के पदार्थ) खाद्य (लड्डू आदि खाने योग्य पदार्थ) और स्वाद्य (पान, सुपारी, जावित्री आदि स्वाद लेने योग्य पदार्थ) ये चार प्रकार के आहार और कड़वा, खट्टा, चरपरा, मीठा, कसैला और खारा ये छह प्रकार के रस हैं ॥४६॥

भाजनांग जाति के वृक्ष थाली, कटोरा, सीप के आकार के बरतन, भृंगार और करक (करवा) आदि अनेक प्रकार के बरतन देते हैं । ये बरतन इन वृक्षों की शाखाओं में लटकते रहते हैं ॥४७॥

और वस्त्रांग जाति के वृक्ष रेशमी वस्त्र, दुपट्टे और धोती आदि अनेक प्रकार के कोमल, चिकने और महामूल्य वस्त्र धारण करते हैं ॥४८॥

ये कल्पवृक्ष न तो वनस्पतिकायिक हैं और न देवों के द्वारा अधिष्ठित ही हैं । केवल, वृक्ष के आकार परिणत हुआ पृथ्वी का सार ही हैं ॥

४९॥

ये सभी वृक्ष अनादिनिधन हैं और स्वभाव से ही फल देने वाले हैं । इन वृक्षों का यह ऐसा स्वभाव ही है इसलिए ये वृक्ष वस्त्र तथा बरतन आदि कैसे देते होंगे, इस प्रकार कुतर्क कर इनके स्वभाव में दूषण लगाना उचित नहीं है । भावार्थ-पदार्थों के स्वभाव अनेक प्रकार के होते हैं इसलिए उनमें तर्क करने की आवश्यकता नहीं है जैसा कि कहा भी है, 'स्वभावोऽतर्कगोचरः' अर्थात् स्वभाव तर्क का विषय नहीं है ॥

५०॥

जिस प्रकार आजकल के अन्य वृक्ष अपने-अपने फलने का समय आने पर अनेक प्रकार के फल देकर प्राणियों का उपकार करते हैं उसी प्रकार उपर्युक्त कल्पवृक्ष भी मनुष्यों के दान के फल से अनेक प्रकार के फल फलते हुए वहाँ के प्राणियों का उपकार करते हैं ॥५१॥

जहाँ की पृथ्वी सब-प्रकार के रत्नों से बनी हुई है और उस पर उज्ज्वल फूलों का उपहार पड़ा रहता है इसलिए उसे शोभा कभी छोड़ती ही नहीं है ॥५२॥

जहाँ की भूमि पर हमेशा चार अंगुल प्रमाण मनोहर घास लहलहाती रहती है जिससे ऐसा मालूम होता है कि मानो हरे रंग के वस्त्र से भूपृष्ठ को ढक रही हो अर्थात् जमीन पर हरे रंग का कपड़ा बिछा हो ॥५३॥

जहाँ के पशु स्वादिष्ट, कोमल और मनोहर तृणरूपी सम्पत्ति को रसायन समझकर बड़े हर्ष से चरा करते हैं ॥५४॥

जहाँ अनेक वापिकाएँ हैं जो कमलों से सहित हैं, उनमें सुवर्ण के समान पीले कमल फूल रहे हैं और जो हंसों के मधुर तथा गम्भीर शब्दों से अतिशय मनोहर जान पड़ती हैं ॥५५॥

जहाँ जगह-जगह पर फूले हुए कमलों से सुशोभित तालाब, उन्मत्त कोकिलाओं से भरे हुए वन और सुन्दर क्रीड़ापर्वत हैं ॥५६॥

जहाँ कोमल वायु वृक्षों को हिलाता हुआ धीरे-धीरे बहता रहता है । वह वायु बहते समय सब ओर कमलों की पराग को उड़ाता रहता है जिससे ऐसा मालूम होता है मानो सब ओर सुगन्धित चूर्ण ही फैला रहा हो ॥५७॥

जहाँ वायु के द्वारा उड़कर आये हुए पुष्पपराग से ढकी हुई पृथ्वी ऐसी शोभायमान हो रही है मानो पीले रंग के रेशमी वस्तु से ढकी हो ॥

५८॥

जहाँ दशों दिशाओं में वायु के द्वारा उड़-उड़कर आकाश में इकट्ठा हुआ पुष्पपराग सब ओर से तने हुए चंदोवा की शोभा धारण करता है ॥

५९॥

जहाँ न गरमी का क्लेश होता है, न पानी बरसता है, न तुषार आदि पड़ता है, न अतिवृष्टि आदि ईतियाँ हैं और न प्राणियों को भय उत्पन्न करने वाले साँप, बिच्छू, खटमल आदि दुष्ट जन्तु ही हुआ करते हैं ॥६०॥

जहाँ न चाँदनी है, न रात-दिन का विभाग और न ऋतुओं का परिवर्तन ही है, जहाँ सुख देने वाले सब पदार्थ सदा एक से रहते हैं ॥६१॥

जहाँ के वन सदा फूलों से युक्त रहते हैं, कमलिनियों में सदा कमल लगे रहते हैं, और रत्न की धूलि से व्याप्त हुए देश सदा सुख से रहते हैं

॥६२॥

जहाँ उत्पन्न हुए आर्य लोग प्रथम सात दिन तक अपनी शय्या पर चित्त पड़े रहते हैं । उस समय आचार्यों ने हाथ का रसीला अंगूठा चूसना ही उनका दिव्य आहार बतलाया है ॥६३॥

तत्पश्चात् विद्वानों का मत है कि वे दोनों दम्पति द्वितीय सप्ताह में पृथ्वीरूपी रंगभूमि में घुटनों के बल चलते हुए एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने लगते हैं ॥६४॥

तदनन्तर तीसरे सप्ताह में वे खड़े होकर अस्पष्ट किन्तु मीठी-मीठी बातें कहने लगते हैं और गिरते-पड़ते खेलते हुए जमीन पर चलने लगते हैं ॥६५॥

फिर चौथे सप्ताह में अपने पैर स्थिरता से रखते हुए चलने लगते हैं तथा पाँचवें सप्ताह में अनेक कलाओं और गुणों से सहित हो जाते हैं ॥६६॥

छठे सप्ताह में पूर्ण जवान हो जाते हैं और सातवें सप्ताह में अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषण धारण कर भोग भोगने वाले हो जाते हैं ॥६७॥

पूर्वभवं में दान देने वाले मनुष्य ही वहाँ उत्पन्न होते हैं । वे उत्पन्न होने के पहले नौ माह तक गर्भ में इस प्रकार रहते हैं जिस प्रकार कि कोई रत्नों के महल में रहता है । उन्हें गर्भ में कुछ भी दुःख नहीं होता । और स्त्री-पुरुष साथ-साथ ही पैदा होते हैं । वे दोनों स्त्री-पुरुष दम्पतिपने को प्राप्त होकर ही रहते हैं ॥६८॥

चूँकि वहाँ जिस समय दम्पति का जन्म होता है उसी समय उनके, माता-पिता का देहान्त हो जाता है इसलिए वहाँ के जीवों में पुत्र आदि का संकल्प नहीं होता ॥६९॥

जहाँ केवल छींक और जँभाई लेने मात्र से ही प्राणियों की मृत्यु हो जाती है अर्थात् अन्त समय में माता को छींक और पुरुष को जँभाई आती है । जहाँ उत्पन्न होने वाले जीव स्वभाव से कोमल परिणामी होने के कारण स्वर्ग को ही जाते हैं ॥७०॥

जहाँ उत्पन्न होने वाले लोगों का शरीर अनेक लक्षणों से सुशोभित तथा छह हजार धनुष ऊँचा होता है ऐसा आप्तप्रणित आगम स्पष्ट वर्णन करते हैं ॥७१॥

जहाँ जीवों की आयु तीन पल्य प्रमाण होती है और आहार तीन दिन के बाद होता है, वह भी बदरीफल (छोटे बेर के) बराबर ॥७२॥

जहाँ उत्पन्न हुए जीवों के न बुढ़ापा आता है, न रोग होता है, न विरह होता है, न शोक होता है, न अनिष्ट का संयोग होता है, न चिन्ता होती है, न दीनता होती है, न नींद आती है, न आलस्य आता है, न नेत्रों के पलक झपकते हैं, न शरीर में मल होता है, न लार बहती है और न पसीना ही आता है ॥७३-७४॥

जहाँ न विरह का उन्माद है, न कामज्वर है, न भोगों का विच्छेद है किन्तु निरन्तर सुख-ही-सुख रहता है ॥७५॥

जहाँ न विषाद है, न भय है, न ग्लानि है, न अरुचि है, न क्रोध है, न कृपणता है, न अनाचार है, न कोई बलवान् है और न कोई निर्बल है ॥७६॥

जहाँ के मनुष्य बालसूर्य के समान देदीप्यमान, पसीनारहित और स्वच्छ वस्त्रों के धारक होते हैं तथा पुण्य के उदय से सदा सुखपूर्वक क्रीड़ा करते रहते हैं ॥७७॥

जहाँ दश प्रकार के कल्पवृक्षों से उत्पन्न हुए भोगों के अनुभव करने से उत्पन्न हुआ सुख चक्रवर्ती की भोग सम्पदाओं का भी उल्लंघन करता है अर्थात् वहाँ के जीव चक्रवर्ती की अपेक्षा अधिक सुखी रहते हैं ॥७८॥

जहाँ मनुष्य बड़ी लम्बी आयु के धारक होते हैं उनकी असमय में मृत्यु नहीं होती । वे अपनी तीन पल्य प्रमाण आयु तक निर्विघ्न रूप से जीवित रहते हैं ॥७९॥

जहाँ सब जीव समान रूप से भोग का अनुभव करते हैं, सबके एक समान सुख का उदय होता है, सभी नीरोग रहकर छहों ऋतुओं के भोगोपभोग प्राप्त करते हैं ॥८०॥

जहाँ उत्पन्न हुए सभी जीव एक सुन्दर आकार के धारक हैं, सभी वज्रवृषभनाराचसंहनन से सहित हैं, सभी दीर्घ आयु के धारक हैं और सभी कान्ति से देवों के समान हैं ॥८१॥

जहाँ स्त्री-पुरुष कल्पवृक्ष की छाया में जाकर लीलापूर्वक मन्द-मन्द हंसते हुए, गाना-बजाना आदि उत्सवों से सदा क्रीड़ा करते रहते हैं ॥८२॥

जहाँ कलाओं में कुशल होना, स्वर्ग के समान सुन्दर शरीर प्राप्त होना, मधुर कंठ होना और मात्सर्य, ईर्ष्या आदि दोषों का अभाव होना आदि बातें स्वभाव से ही होती हैं ॥८३॥

जहाँ के जीव स्वभाव से ही सुन्दर आकार वाले, स्वभाव से ही मनोहर चेष्टाओं वाले और स्वभाव से ही मधुर वचन बोलने वाले होते हैं ।
इस प्रकार वे सदा प्रसन्न रहते हैं ॥८४॥

उत्तम पात्र के लिए दान देने अथवा उनके लिए दिये हुए दान की अनुमोदना करने से जीव जिस भोगभूमि में उत्पन्न होते हैं और
जीवनपर्यंत नीरोग रहकर सुख से बढ़ते रहते हैं ॥८५॥

जो जीव मिथ्यादृष्टि हैं, व्रतों से हीन हैं और केवल भोगों के अभिलाषी हैं वे अपात्रों में दान देकर वहाँ तिर्यज्च पर्याय को प्राप्त होते हैं ॥
८६॥

जो जीव कुशील हैं-खोटे स्वभाव के धारक हैं, मिथ्या आचार के पालक हैं, कुवेषी हैं, मिथ्या उपवास करने वाले हैं, मायाचारी हैं और व्रत
भ्रष्ट हैं वे उस भोगभूमि में हरिण आदि पशु होते हैं ॥८७॥

और जहाँ पशुओं के युगल भी आनन्द से क्रीड़ा करते हैं । उनके परस्पर में न विरोध होता है न वैर होता है और न उनका जीवन ही नीरस
होता है ॥८८॥

इस प्रकार अत्यन्त सुखों से भरे हुए उस उत्तरकुरुक्षेत्र में पात्रदान के प्रभाव से वे दोनों श्रीमती और वज्रजंघ दम्पती अवस्था को प्राप्त हुए-
स्त्री और पुरुषरूप से उत्पन्न हुए ॥८९॥

जिनका वर्णन पहले किया जा चुका है ऐसे नकुल, सिंह, वानर और शूकर भी पात्रदान की अनुमोदना के प्रभाव से वहीं पर दिव्य मनुष्य
शरीर को पाकर भद्रपरिणामी आर्य हुए ॥९०॥

इधर मतिवर, आनन्द, धनमित्र और अकम्पन ये चारों ही जीव श्रीमती और वज्रजंघ के विरह से भारी शोक को प्राप्त हुए और अन्त में
चारों ने ही श्री दृढधर्म नाम के आचार्य के समीप उत्कृष्ट जिनदीक्षा धारण कर ली ॥९१॥

और चारों ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्ररूपी सम्पदा की आराधना कर अपनी-अपनी आयु के अनुसार स्वर्गलोक गये ॥
९२॥

वहाँ तप के प्रभाव से अधोग्रैवेयक के सबसे नीचे के विमान में (पहले ग्रैवेयक में) अहमिन्द्र पद को प्राप्त हुए । सो ठीक ही है । तप सबके
अभीष्ट फलों को फलता है ॥९३॥

अनन्तर एक समय वज्रजंघ आर्य अपनी स्त्री के साथ कल्पवृक्ष की शोभा निहारता हुआ क्षण-भर बैठा ही था ॥९४॥

कि इतने में आकाश में जाते हुए सूर्यप्रभ देव के विमान को देखकर उसे अपनी स्त्री के साथ-साथ ही जातिस्मरण हो गया और उसी क्षण
दोनों को संसार के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो गया ॥९५॥

उसी समय वज्रजंघ के जीव ने दूर से आते हुए दो चारण मुनि देखे । वे मुनि भी उस पर अनुग्रह करते हुए आकाशमार्ग से उतर पड़े ॥९६॥
वज्रजंघ का जीव उन्हें आता हुआ देखकर शीघ्र ही खड़ा हो गया । सच है, पूर्व जन्म के संस्कार ही जीवों को हित-कार्य में प्रेरित करते
रहते हैं ॥९७॥

दोनों मुनियों के समक्ष अपनी स्त्री के साथ खड़ा होता हुआ वज्रजंघ का जीव ऐसा शोभायमान हो रहा था जैसे उदित होते हुए सूर्य और
प्रतिसूर्य के समक्ष कमलिनी के साथ दिन शोभायमान होता है ॥९८॥

वज्रजंघ के जीव ने दोनों मुनियों के चरणयुगल में अर्घ्य चढ़ाया और नमस्कार किया । उस समय उसके नेत्रों से हर्ष के आँसू निकल-निकल
कर मुनिराज के चरणों पर पड़ रहे थे जिससे वह ऐसा जान पड़ता था मानो अश्रुजल से उनके चरणों का प्रक्षालन ही कर रहा हो ॥९९॥
वे दोनों मुनि स्त्री के साथ प्रणाम करते हुए आर्य वज्रजंघ को आशीर्वाद द्वारा आश्वासन देकर मुनियों के योग्य स्थान पर यथाक्रम बैठ गये
॥१००॥

तदनन्तर सुखपूर्वक बैठे हुए दोनों चारण मुनियों से वज्रजंघ नीचे लिखे अनुसार पूछने लगा । पूछते समय उसके मुख से दाँतों की किरणों
का समूह निकल रहा था जिससे ऐसा मालूम होता था मानो वह पुष्पाञ्जलि ही बिखेर रहा हो ॥१०१॥

वह बोला-हे भगवत् आप कहाँ के रहने वाले हैं ? आप कहाँ से आये हैं और आपके आने का क्या कारण है यह सब आज मुझसे कहिए ॥
१०२॥

हे प्रभो, आपके दर्शन से मेरे हृदय में मित्रता का भाव उमड़ रहा है, चित्त बहुत ही प्रसन्न हो रहा है और मुझे ऐसा मालूम होता है कि मानो

आप मेरे परिचित बन्धु हैं ॥१०३॥

इस प्रकार वज्रजंघ का प्रश्न समाप्त होते ही ज्येष्ठ मुनि अपने दांतों की किरणोंरूपी जल के समूह से उसके शरीर का प्रक्षालन करते हुए नीचे लिखे अनुसार उत्तर देने लगे ॥१०४॥

हे आर्य, तू मुझे स्वयम्बुद्ध मन्त्री का जीव जान, जिससे कि तूने महाबल के भव में सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर कर्मों का क्षय करनेवाले जैनधर्म का ज्ञान प्राप्त किया था ॥१०५॥

उस भव में तेरे वियोग से सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर मैंने दीक्षा धारण की थी और आयु के अन्त में संन्यासपूर्वक शरीर छोड़ सौधर्म स्वर्ग के स्वयम्प्रभ विमान में मणिचूल नाम का देव हुआ था । वहाँ मेरी आयु एक सागर से कुछ अधिक थी । तत्पश्चात् वहाँ से च्युत होकर भूलोक में उत्पन्न हुआ हूँ ॥१०६-१०७॥

जम्बूद्वीप के पूर्वविदेह क्षेत्र में स्थित पुष्कलावती देशसम्बन्धी पुण्डरीकिणी नगरी में प्रियसेन राजा और उनकी महाराज्ञी सुन्दरी देवी के प्रीतिकर नाम का बड़ा पुत्र हुआ हूँ और यह महातपस्वी प्रीतिदेव मेरा छोटा भाई है ॥१०८-१०९॥

हम दोनों भाइयों ने भी स्वयंप्रभ जिनेन्द्र के समीप दीक्षा लेकर तपोबल से अवधिज्ञान तथा आकाशगामिनी चारण ऋद्धि प्राप्त की है ॥ ११०॥

हे आर्य, हम दोनों ने अपने अवधिज्ञानरूपी नेत्र से जाना है कि आप यहाँ उत्पन्न हुए हैं । चूँकि आप हमारे परम मित्र थे इसलिए आपको समझाने के लिए हम लोग यहाँ आये हैं ॥१११॥

हे आर्य, तू निर्मल सम्यग्दर्शन के बिना केवल पात्रदान की विशेषता से ही यहाँ उत्पन्न हुआ है यह निश्चय समझ ॥११२॥

महाबल के भव में तूने हमसे ही तत्त्वज्ञान प्राप्त कर शरीर छोड़ा था परन्तु उस समय भोगों की आकांक्षा के वश से तू सम्यग्दर्शन की विशुद्धता को प्राप्त नहीं कर सका था ॥११३॥

अब हम दोनों, सर्वश्रेष्ठ तथा स्वर्ग और मोक्ष सम्बन्धी सुख के प्रधान कारणरूप सम्यग्दर्शन को देने की इच्छा से यहाँ आये हैं ॥११४॥ इसलिए हे आर्य, आज सम्यग्दर्शन ग्रहण कर । उसके ग्रहण करने का यह समय है क्योंकि काललब्धि के बिना इस संसार में जीवों को सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति नहीं होती है ॥११५॥

जब देशनालब्धि और काललब्धि आदि बहिरङ्ग कारण तथा करणलब्धिरूप अन्तरङ्ग कारण सामग्री की प्राप्ति होती है तभी यह भव्य प्राणी विशुद्ध सम्यग्दर्शन का धारक हो सकता है ॥११६॥

जिस जीव का आत्मा अनादिकाल से लगे हुए मिथ्यात्वरूपी कलंक से दूषित हो रहा है, उस जीव को सबसे पहले दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम होने से औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है ॥११७॥

जिस प्रकार पित्त के उदय से उद्भ्रान्त हुई चित्तवृत्ति का अभाव होनेपर क्षीर आदि पदार्थों के यथार्थस्वरूप का परिज्ञान होने लगता है उसी प्रकार अन्तरङ्ग कारणरूप मोहनीय कर्म का उपशम होने पर जीव आदि पदार्थों के यथार्थस्वरूप का परिज्ञान होने लगता है ॥११८॥

जिस प्रकार सूर्य रात्रि सम्बन्धी अन्धकार को दूर किये बिना उदित नहीं होता उसी प्रकार सम्यग्दर्शन मिथ्यात्वरूपी अन्धकार को दूर किये बिना उदित नहीं होता-प्राप्त नहीं होता ॥११९॥

यह भव्य जीव, अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन करणों द्वारा मिथ्यात्वप्रकृति के मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृतिरूप तीन खण्ड कर के कर्मों की स्थिति कम करता हुआ सम्यग्दृष्टि होता है ॥१२०॥

वीतराग सर्वज्ञ देव, आप्तोपज्ञ आगम और जीवादि पदार्थों का बड़ी निष्ठा से श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन माना गया है । यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का मूल कारण है । इसके बिना वे दोनों नहीं हो सकते ॥१२१॥

जीवादि सात तत्त्वों का तीन मूढतारहित और आठ अंगसहित यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है ॥१२२॥

प्रशम, संवेग, आस्तिक्य और अनुकम्पा ये चार सम्यग्दर्शन के गुण हैं और श्रद्धा, रुचि, स्पर्श तथा प्रत्यय ये उसके पर्याय हैं ॥१२३॥

निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, वात्सल्य, स्थितिकरण और प्रभावना ये सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं । इन आठ अंगरूपी किरणों से सम्यग्दर्शनरूपी रत्न बहुत ही शोभायमान होता है ॥१२४॥

हे आर्य, तू इस श्रेष्ठ जैनमार्ग में शंका को छोड़, किसी प्रकार का सन्देह मत कर, भोगों की इच्छा दूर कर, ग्लानि को छोड़कर अमूढदृष्टि

(विवेकपूर्ण दृष्टि) को प्राप्त कर दोष के स्थानों को छिपाकर समीचीन धर्म की वृद्धि कर, मार्ग से विचलित होते हुए धर्मात्मा का स्थितिकरण कर, रत्नत्रय के धारक आर्य पुरुषों के संघ में प्रेमभाव का विस्तार कर और जैन-शासन की शक्ति के अनुसार प्रभावना कर ॥ १२५-१२७॥

देवमूढता, लोकमूढता और पाषण्ड मूढता इन तीन मूढताओं को छोड़ क्योंकि मूढताओं से अन्धा हुआ प्राणी तत्त्वों को देखता हुआ भी नहीं देखता ॥१२८॥

हे आर्य, पदार्थ के ठीक-ठीक स्वरूप का दर्शन करने वाले सम्यग्दर्शन को ही तू धर्म का सर्वस्व समझ, उस सम्यग्दर्शन के प्राप्त हो चुकने पर संसार में ऐसा कोई सुख नहीं रहता जो जीवों को प्राप्त नहीं होता हो ॥१२९॥

इस संसार में उसी पुरुष ने श्रेष्ठ जन्म पाया है, वही कृतार्थ है और वही पण्डित है जिसके हृदय में छलरहित-वास्तविक सम्यग्दर्शन प्रकाशमान रहता है ॥१३०॥

हे आर्य, तू यह निश्चित जान कि यह सम्यग्दर्शन मोक्षरूपी महल की पहली सीढ़ी है । नरकादि दुर्गतियों के द्वार को रोकने वाले मजबूत किवाड़ हैं, धर्मरूपीवृक्ष की स्थिर जड़ है, स्वर्ग और मोक्षरूपी घर का द्वार है और शीलरूपी रत्नहार के मध्य में लगा हुआ श्रेष्ठ रत्न है ॥ १३१-१३२॥

यह सम्यग्दर्शन जीवों को अलंकृत करने वाला है, स्वयं देदीप्यमान है, रत्नों में श्रेष्ठ है, सबसे उत्कृष्ट है और मुक्तिरूपी लक्ष्मी के हार के समान है । ऐसे इस सम्यग्दर्शनरूपी रत्नहार को हे भव्य, तू अपने हृदय में धारण कर ॥१३३॥

जिस पुरुष ने अत्यन्त दुर्लभ इस सम्यग्दर्शनरूपी श्रेष्ठ रत्न को पा लिया है वह शीघ्र ही मोक्ष तक के सुख को पा लेता है ॥१३४॥

देखो, जो पुरुष एक मुहूर्त के लिए भी सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है वह इस संसाररूपी बेल को काटकर बहुत ही छोटी कर देता है **अर्थ** ात् वह अर्द्ध पुद्गल परावर्तन से अधिक समय तक संसार में नहीं रहता ॥१३५॥

जिसके हृदय में सम्यग्दर्शन विद्यमान है वह उत्तम देव और उत्तम मनुष्य पर्याय में ही उत्पन्न होता है । उसके नारकी और तिर्यज्यों के खोटे जन्म कभी भी नहीं होते ॥१३६॥

इस सम्यग्दर्शन के विषय में अधिक कहने से क्या लाभ इसकी तो यही प्रशंसा पर्याप्त है कि सम्यग्दर्शन के प्राप्त होने पर अनन्त संसार भी सान्त (अन्तःसहित) हो जाता है ॥१३७॥

हे आर्य, तू मेरे कहने से अर्हन्त देव की आज्ञा को प्रमाण मानता हुआ अनन्यशरण होकर अन्य रागी द्वेषी देवताओं की शरण में न जाकर सम्यग्दर्शन स्वीकार कर ॥१३८॥

जिस प्रकार शरीर के हस्त, पाद आदि अंगों में मस्तक प्रधान है और मुख में नेत्र प्रधान है उसी प्रकार मोक्ष के समस्त अंगों में गणधरादि देव सम्यग्दर्शन को ही प्रधान अंग मानते हैं ॥१३९॥

हे आर्य, तू लोकमूढता, पाषण्डिमूढता और देवमूढता का परित्याग कर, जिसे मिथ्यादृष्टि प्राप्त नहीं कर सकते ऐसे सम्यग्दर्शन को उज्ज्वल कर-विशुद्ध सम्यग्दर्शन धारण कर ॥१४०॥

तू सम्यग्दर्शनरूपी तलवार के द्वारा संसाररूपी लता की दीर्घता को काट । तू अवश्य ही निकट भव्य है और भविष्यत्काल में तीर्थंकर होने वाला है ॥१४१॥

हे आर्य, इस प्रकार मैंने अरहन्त देव के कहे अनुसार, सम्यग्दर्शन विषय को लेकर, यह उपदेश किया है सो मोहरूपी कल्याण की प्राप्ति के लिए तुझे यह अवश्य ही ग्रहण करना चाहिए ॥१४२॥

। इस प्रकार वे मुनिराज आर्य वज्रजंघ को समझाकर आर्या श्रीमती से कहने लगे कि माता, तू भी बहुत शीघ्र ही संसाररूपी समुद्र से पार करने के लिए नौका के समान इस सम्यग्दर्शन को ग्रहण कर । वृथा ही स्त्रीपर्याय में क्यों खेद-खिन्न हो रही है ॥१४३॥

हे माता, सब स्त्रियों में, रत्नप्रभा को छोड़कर नीचे की छह पृथ्वियों में, भवनवासी व्यन्तर और ज्योतिषी देवों में तथा अन्य नीच पर्यायों में सम्यग्दर्शन जीवों की उत्पत्ति नहीं होती ॥१४४॥

इस निन्द्य स्त्रीपर्याय को धिक्कार है जो कि निर्ग्रन्थ-दिगम्बर मुनिधर्म पालन करने के लिए बाधक है और जिसमें विद्वानों ने करीष (कण्डा की आग) की अग्नि के समान काम का सन्ताप कहा है ॥१४५॥

हे माता, अब तू निर्दोष सम्यग्दर्शन की आराधना कर और इस स्त्रीपर्याय को छोड़कर क्रम से सप्त परम स्थानों को प्राप्त कर । भावार्थ-१ 'सज्जाति', २ 'सद्गृहस्थता' (श्रावक के व्रत), ३ 'पारिव्रज्य' (मुनियों के व्रत), ४ 'सुरेन्द्र पद', ५ 'राज्यपद' ६ 'अरहन्तपद', ७ 'सिद्धपद' ये सात परम स्थान (उत्कृष्ट पद) कहलाते हैं । सम्यग्दृष्टि जीव क्रम-क्रम से इन परम स्थानों को प्राप्त होता है ॥१४६॥

आप लोग कुछ पुण्य भवों को धारण कर ध्यानरूपी अग्नि से समस्त कर्मों को भस्म कर परम पद को प्राप्त करोगे ॥१४७॥

इस प्रकार प्रीतिकर आचार्य के वचनों को प्रमाण मानते हुए आर्य वज्रजंघ ने अपनी स्त्री के साथ-साथ प्रसन्नचित्त होकर सम्यग्दर्शन धारण किया ॥१४८॥ वह वज्रजंघ का जीव अपनी प्रिया के साथ-साथ सम्यग्दर्शन पाकर बहुत ही सन्तुष्ट हुआ । सो ठीक ही है, अपूर्व वस्तु का लाभ प्राणियों के महान् सन्तोष को पुष्ट करता ही है ॥१४९॥

जिस प्रकार कोई राजकुमार सूत्र तन्तु में पिरोयी हुई मनोहर माला को प्राप्त कर अपनी राज्यलक्ष्मी के युवराज पद पर स्थित होता है उसी प्रकार वह वज्रजंघ का जीव भी सूत्र (जैन सिद्धान्त) में पिरोयी हुई मनोहर सम्यग्दर्शनरूपी कण्ठमाला को प्राप्त कर मुक्तिरूपी राज्यसम्पदा के युवराज-पद पर स्थित हुआ था ॥१५०॥

विशुद्ध पुरुष पर्याय के संयोग से निर्वाण प्राप्त करने की इच्छा करती हुई वह सती आर्या भी सम्यक्त्व की प्राप्ति से अत्यन्त सन्तुष्ट हुई थी ॥१५१॥

जो पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ है ऐसे सम्यग्दर्शनरूपी रसायन का आस्वाद कर वे दोनों ही दम्पती कर्म नष्ट करनेवाले जैन धर्म में बड़ी दृढ़ता को प्राप्त हुए ॥१५२॥

पहले कहे हुए सिंह, वानर, नकुल और सूकर के जीव भी गुरुदेव-प्रीतिकर मुनि के चरण-मूल का आश्रय लेकर आर्य वज्रजंघ और आर्या श्रीमती के साथ-साथ ही सम्यग्दर्शनरूपी अमृत को प्राप्त हुए थे ॥१५३॥

जिन्होंने हर्षसूचक चिह्नों से अपने मनोरथ की सिद्धि को प्रकट किया है ऐसे दोनों दम्पतियों को दोनों ही मुनिराज धर्मप्रेम से बार-बार स्पर्श कर रहे थे ॥१५४॥

वह वज्रजंघ का जीव जन्मान्तर सम्बन्धी प्रेम से आँखें फाड़-फाड़कर श्री प्रीतिकर मुनि के चरण-कमलों की ओर देख रहा था और उनके क्षण-भर के स्पर्श से बहुत ही सन्तुष्ट हो रहा था ॥१५५॥

तत्पश्चात् वे दोनों चारण मुनि अपने योग्य देश में जाने के लिए तैयार हुए । उस समय वज्रजंघ के जीव ने उन्हें प्रणाम किया और कुछ दूर तक भेजने के लिए वह उनके पीछे खड़ा हो गया । चलते समय दोनों मुनियों ने, उसे आशीर्वाद देकर हित का उपदेश दिया और कहा कि हे आर्य, फिर भी तेरा दर्शन हो, तू इस सम्यग्दर्शनरूपी समीचीन धर्म को नहीं भूलना । यह कहकर वे दोनों गगनगामी मुनि शीघ्र ही अन्तर्हित हो गये ॥१५६-१५७॥

अनन्तर जब दोनों चारण मुनिराज चले गये तब वह वज्रजंघ का जीव एक क्षण तक बहुत ही उत्कण्ठित होता रहा । सो ठीक ही है, प्रिय मनुष्यों का विरह मन के सन्ताप के लिए ही होता है ॥१५८॥

वह बार-बार मुनियों के गुणों का चिन्तन कर अपने मन को आर्द्र करता हुआ चिर काल तक धर्म बढ़ाने वाले नीचे लिखे हुए विचार करने लगा ॥१५९॥

अहा कैसा आश्चर्य है कि साधु पुरुषों का समागम हृदय से सन्ताप को दूर करता है, परम आनन्द को बढ़ाता है और मन की वृत्ति को सन्तुष्ट कर देता है ॥१६०॥

प्रायः साधु पुरुषों का समागम दूर से ही पाप को नष्ट कर देता है, उत्कृष्ट योग्यता को पुष्ट करता है, और अत्यधिक कल्याण को बढ़ाता है ॥१६१॥

ये साधु पुरुष मोक्षमार्ग को सिद्ध करने में सदा दत्तचित्त रहते हैं । इन्हें सांसारिक लोगों को प्रसन्न करने का कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता ॥ १६२॥

ये मुनिजन केवल परोपकार करने की बुद्धि से ही उनके पास जा-जाकर मोक्षमार्ग का उपदेश दिया करते हैं । वास्तव में यह महापुरुषों का स्वभाव ही है ॥१६३॥

मोक्ष की इच्छा करने वाले ये साधुजन अपने दुःख दूर करने के लिए सदा निर्दय रहते हैं अर्थात् अपने दुःख दूर करने के लिए किसी

प्रकार का कोई आरम्भ नहीं करते । पर के दुःखों में सदा दुःखी रहते हैं अर्थात् उनके दुःख दूर करने के लिए सदा तत्पर रहते हैं । और दूसरों के कार्य सिद्ध करने के लिए निःस्वार्थ भाव से सदा तैयार रहते हैं ॥१६४॥

कहाँ हम और कहाँ ये अत्यन्त निःस्पृह साधु ? और कहाँ यह मात्र सुखों का स्थान भोगभूमि अर्थात् निःस्पृह मुनियों का भोगभूमि में जाकर वहाँ के मनुष्यों को उपदेश देना सहज कार्य नहीं है तथापि ये तपस्वी हम लोगों के उपकार में कैसे सावधान हैं ? ॥१६५॥

ये साधुजन सदा यही प्रयत्न किया करते हैं कि संसार के समस्त जीव सदा सुखी रहें और इसीलिए वे यति (यतते इति यति) कहलाते हैं ॥ १६६॥

जिस प्रकार इन चारण ऋद्धिधारी पुरुषों ने दूर से आकर हम लोगों का उपकार किया उसी प्रकार महापुरुष दूसरों का उपकार करने में सदा प्रीति रखते हैं ॥१६७॥

तपरूपी अग्नि के सन्ताप से जिनका शरीर अत्यन्त कृश हो गया है ऐसे उन चारण मुनियों को मैं अब भी साक्षात् देख रहा हूँ, मानो वे अब भी मेरे सामने ही खड़े हैं ॥१६८॥

मैं उनके चरण-कमलों में प्रणाम कर रहा हूँ और वे दोनों चारणमुनि कोमल हाथ से मस्तक पर स्पर्श करते हुए मुझे स्नेह के वशीभूत कर रहे हैं ॥१६९॥

मुझ, धर्म के प्यासे मानव को उन्होंने सम्यग्दर्शनरूपी अमृत पिलाया है, इसीलिए मेरा मन भोगजन्य सन्ताप को छोड़कर अत्यन्त प्रसन्न हो रहा है ॥१७०॥

वे प्रीतिकर नाम के ज्येष्ठ मुनि सचमुच में प्रीतिकर हैं क्योंकि उनकी प्रीति सर्वत्र गामी है और मार्ग का उपदेश देकर उन्होंने हम लोगों पर अपार प्रेम दर्शाया है । भावार्थ-जो, मनुष्य सब जगह जाने की सामर्थ्य होने पर भी किसी खास जगह किसी खास व्यक्ति के पास जाकर उसे उपदेश आदि देवे तो उससे उसकी अपार प्रीति का पता चलता है । यहाँ पर भी उन मुनियों में चारण ऋद्धि होने से सब जगह जाने की सामर्थ्य थी परन्तु उस समय अन्य जगह न जाकर वे वज्रजंघ के जीव के पास पहुँचे इससे उसके विषय में उनकी अपार प्रीति का पता चलता है ॥१७१॥

महाबल के भव में भी वे मेरे स्वयम्बुद्ध नामक गुरु हुए थे और आज इस भव में भी सम्यग्दर्शन देकर विशेष गुरु हुए हैं ॥१७२॥

यदि संसार में गुरुओं की संगति न हो तो गुणों की प्राप्ति नहीं हो सकती और गुणों की प्राप्ति के बिना इस जीव के जन्म की सफलता कहाँ हो सकती है ? ॥१७३॥

जिस प्रकार सिद्ध रस के संयोग से तांबा आदि धातुएँ सुवर्णपने को प्राप्त हो जाती हैं उसी प्रकार गुरुदेव के उपदेश से प्रकट हुए गुणों के संयोग से भव्य जीव भी शुद्धि को प्राप्त हो जाते हैं ॥१७४॥

जिस प्रकार जहाज के बिना समुद्र नहीं तिरा जा सकता है उसी प्रकार गुरु के उपदेश के बिना यह संसाररूपी समुद्र नहीं तिरा जा सकता ॥१७५॥

जिस प्रकार कोई पुरुष दीपक के बिना गाढ़ अन्धकार में छिपे हुए घट, पट आदि पदार्थों को नहीं देख सकता उसी प्रकार यह जीव भी उपदेश देने वाले गुरु के बिना जीव, अजीव आदि पदार्थों को नहीं जान सकता ॥१७६॥

इस संसार में भाई और गुरु ये दोनों ही पदार्थ मनुष्यों की प्रीति के लिए हैं । पर भाई तो इस लोक में ही प्रीति उत्पन्न करते हैं और गुरु इस लोक तथा परलोक, दोनों ही लोकों में विशेष रूप से प्रीति उत्पन्न करते हैं ॥१७७॥

जब कि गुरु के उपदेश से ही हम लोगों को इस प्रकार की विशुद्धि प्राप्त हुई है तब हम चाहते हैं कि जन्मान्तर में भी मेरी भक्ति गुरुदेव के चरण-कमलों में बनी रहे ॥१७८॥

इस प्रकार चिन्तन करते हुए वज्रजंघ की सम्यक्त्व भावना अत्यन्त दृढ़ हो गयी । यही भावना आगे चलकर इस वज्रजंघ के लिए कल्पलता के समान समस्त इष्ट फल देने वाली होगी ॥१७९॥

श्रीमती के जीव ने भी वज्रजंघ के जीव के समान ऊपर लिखे अनुसार चिन्तन किया था इसलिए इसकी सम्यक्त्व भावना भी सुदृढ़ हो गयी थी । इन दोनों पति-पत्नियों का स्वभाव एक-सा था इसलिए दोनों में एक-सी अखण्ड प्रीति रहती थी ॥१८०॥

इस प्रकार प्रीतिपूर्वक भोग भोगते हुए उन दोनों दम्पतियों का तीन पल्य प्रमाण भारी काल व्यतीत हो गया ॥१८१॥

और दोनों जीवन के अन्त में सुखपूर्वक प्राण छोड़कर बाकी बचे हुए पुण्य से एक घर से दूसरे घर के समान ऐशान स्वर्ग में जा पहुँचे ॥

१८२॥

जिस प्रकार वर्षाकाल में मेघ अपने आप ही उत्पन्न हो जाते हैं और समय पाकर आप ही विलीन हो जाते हैं उसी प्रकार भोगभूमिज जीवों के शरीर अपने आप ही उत्पन्न होते हैं और जीवन के अन्त में अपने आप ही विलीन हो जाते हैं ॥१८३॥

जिस प्रकार वैक्रियिक शरीर में दोष और मल नहीं होते उसी प्रकार भोगभूमिज जीवों के शरीर में भी दोष और मल नहीं होते । उनका शरीर भी देवों के शरीर के समान ही शुद्ध रहता है ॥१८४॥

वह वज्रजंघ आर्य ऐशान स्वर्ग से हमेशा प्रकाशमान रहने वाले श्रीप्रभ विमान में देदीप्यमान कान्ति का धारक श्रीधर नाम का ऋद्धिधारी देव हुआ ॥१८५॥

और आर्या श्रीमती भी सम्यग्दर्शन के प्रभाव से स्त्रीलिङ्ग से छुटकारा पाकर उसी ऐशान स्वर्ग के स्वयम्प्रभ विमान में स्वयम्प्रभ नाम का उत्तम देव हुई ॥१८६॥

सिंह, नकुल, वानर और शूकर के जीव भी अत्यन्त सुखमय इसी ऐशान स्वर्ग में बड़ी-बड़ी ऋद्धियों के धारक देव हुए । सो ठीक ही है पुण्य से क्या दुर्लभ है ? ॥१८७॥

इस संसार में धर्म के बिना स्वर्ग कहाँ और स्वर्ग के बिना सुख कहाँ इसलिए सुख चाहने वाले पुरुषों को चिरकाल तक धर्मरूपी कल्पवृक्ष की ही सेवा करनी चाहिए ॥१८८॥

जो जीव पहले सिंह था वह चित्रांगद नाम के मनोहर विमान में प्रकाशमान मुकुट का धारक चित्रांगद नाम का देव हुआ ॥१८९॥

शूकर का जीव नन्द नामक विमान में प्रकाशमान मुकुट, बाजूबन्द और मणिमय कुण्डलों से भूषित मणिकुण्डली नाम का देव हुआ ॥ १९०॥

वानर का जीव नन्दावर्त नामक विमान में मनोहर नाम का देव हुआ जो कि देवांगनाओं के मन को हरण करने वाले सुन्दर आकार से शोभायमान था ॥१९१॥

और नकुल का जीव प्रभाकर विमान में मनोरथ नाम का देव हुआ जो कि सैकड़ों मनोरथों से प्राप्त हुए दिव्य भोगरूपी अमृत का सेवन करने वाला था ॥१९२॥

इस प्रकार पुण्य के उदय से स्वर्गलोक के सुख भोगने वाले उन छहों जीवों के रूप, सौन्दर्य, भोग आदि का वर्णन ललितांगदेव के समान जानना चाहिए ॥१९३॥

इस प्रकार पुण्य के उदय से स्वर्गलक्ष्मी के नेत्रों को उत्सव देने वाले, अत्यन्त पवित्र और चमकीले शरीर को धारण करने वाला वह ऋद्धिधारी श्रीधर देव मधुर वचन बोलने वाली देवाङ्गनाओं के साथ मनोहर भोग भोगता हुआ अपने ही विमान में अनेक उत्सवों द्वारा क्रीड़ा करता था ॥१९४॥

कभी देवाङ्गनाएँ अपने कोमल करपल्लवों से उसके चरण दबाती थीं, कभी अपने मुखरूपी चन्द्रमा से निकलती हुई मन्द मुसकान की किरणोंरूपी जल से बार-बार उसका अभिषेक करती थीं और कभी भौंहों के विलास से युक्त कटाक्षरूपी बाणों का उसे लक्ष्य बनाती थीं । इस प्रकार आगामी काल में तीर्थकर होने वाला वह प्रसन्नचित्त श्रीधरदेव भोगोपभोग की सामग्री से प्रत्येक क्षण सन्तुष्ट रहता था ॥१९५॥

इस प्रकार आर्षनाम से प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण श्रीमहापुराण संग्रह में श्रीमती और वज्रजंघ आर्य को सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का वर्णन करने वाला नवां पर्व समाप्त हुआ ॥९॥

पर्व-10 -- अच्युतेन्द्र का ऐश्वर्य

पर्व-10 -- अच्युतेन्द्र का ऐश्वर्य

कथा :

अथानन्तर किसी एक दिन श्रीधरदेव को अवधिज्ञान का प्रयोग करने पर यथार्थ रूप से मालूम हुआ कि हमारे गुरु श्रीप्रभ पर्वत पर विराजमान हैं और उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ है ॥१॥

संसार के समस्त प्राणियों के साथ प्रीति करने वाले जो प्रीतिकर मुनिराज थे वे ही इसके गुरु थे । इन्हीं की पूजा करने के लिए अच्छी-

अच्छी सामग्री लेकर श्रीधरदेव उनके सम्मुख गया ॥२॥

जाते ही उसने श्रीप्रभ पर्वत पर विद्यमान सर्वज्ञ प्रीतिकर महाराज की पूजा की, उन्हें नमस्कार किया, धर्म का स्वरूप सुना और फिर नीचे लिखे अनुसार अपने मन की बात पूछी ॥३॥

हे प्रभो, मेरे महाबल भव में जो मेरे तीन मिथ्यादृष्टि मन्त्री थे वे इस समय कहाँ उत्पन्न हुए हैं, वे कौन-सी गति को प्राप्त हुए हैं ॥४॥

इस प्रकार पूछने वाले श्रीधरदेव से सर्वज्ञदेव, अपने वचनरूपी किरणों के द्वारा उसके हृदयगत समस्त अज्ञानान्धकार को नष्ट करते हुए कहने लगे ॥५॥

कि हे भव्य, जब तू महाबल का शरीर छोड़कर स्वर्ग चला गया और मैंने रत्नत्रय को प्राप्त कर दीक्षा धारण कर ली तब खेद है कि वे तीनों ढीठ मन्त्री कुमरण से मरकर दुर्गति को प्राप्त हुए थे ॥६॥

उन तीनों में से महामति और संभिन्नमति ये दो तो उस निगोद स्थान को प्राप्त हुए हैं जहाँ मात्र सघन अज्ञानान्धकार का ही अधिकार है और जहाँ अत्यन्त तप्त खौलते हुए जल में उठने वाली खलबलाहट के समान अनेक बार जन्म-मरण होते रहते हैं ॥७॥

तथा शतमति मन्त्री अपने मिथ्यात्व के कारण नरक गति गया है। यथार्थ में छोटे कर्मों का फल भोगने के लिए नरक ही मुख्य क्षेत्र है ॥८॥

जो जीव मिथ्यात्वरूपी विष से मूर्च्छित होकर समीचीन जैन मार्ग का विरोध करते हैं वे कुयोनिरूपी भँवरों से व्याप्त इस संसाररूपी मार्ग में दीर्घकाल तक घूमते रहते हैं ॥९॥

चूँकि सम्यग्ज्ञान के विरोधी जीव अवश्य ही नरकरूपी गाढ़ अन्धकार में निमग्न होते हैं इसलिए विद्वान् पुरुषों को आप्त प्रणीत सम्यग्ज्ञान का ही निरन्तर अभ्यास करना चाहिए ॥१०॥

यह आत्मा धर्म के प्रभाव से स्वर्ग-मोक्ष रूप उच्च स्थानों को प्राप्त होता है। अधर्म के प्रभाव से अधोगति अर्थात् नरक को प्राप्त होता है। और धर्म-अधर्म दोनों के संयोग से मनुष्य पर्याय को प्राप्त होता है। हे भद्र, तू उपर्युक्त अर्हन्तदेव के वचनों का निश्चय कर ॥११॥

वह तुम्हारा शतबुद्धि मन्त्री मिथ्याज्ञान की दृढ़ता से दूसरे नरक में अत्यन्त भयंकर दुःख भोग रहा है ॥१२॥

पाप से पराजित आत्मा को स्वयं किये हुए अनर्थ का यह फल है जो उसका धर्म से द्वेष और अधर्म से प्रेम होता है ॥१३॥

'धर्म से सुख प्राप्त होता है और अधर्म से दुःख मिलता है' यह बात निर्विवाद प्रसिद्ध है इसीलिए तो बुद्धिमान् पुरुष अनर्थों को छोड़ने की इच्छा से धर्म में ही तत्परता धारण करते हैं ॥१४॥

प्राणियों पर दया करना, सच बोलना, क्षमा धारण करना, लोभ का त्याग करना, तृष्णा का अभाव करना, सम्यग्ज्ञान और वैराग्यरूपी संपत्ति का इकट्ठा करना ही धर्म है और उससे उलटे अदया आदि भाव अधर्म है ॥१५॥

विषयासक्ति जीवों के इन्द्रियजन्य सुख की तृष्णा को बढ़ाती है, इन्द्रियजन्य सुख की तृष्णा प्रज्वलित अग्नि के समान भारी सन्ताप पैदा करती है। तृष्णा से सन्तप्त हुआ प्राणी उसे दूर करने की इच्छा से पाप में अनुरक्त हो जाता है, पाप में अनुराग करने वाला प्राणी धर्म से द्वेष करने लगता है और धर्म से द्वेष करने वाला जीव अधर्म के कारण अधोगति को प्राप्त होता है ॥१६-१७॥

जिस प्रकार समय आने पर (प्रायः वर्षाकाल में) पागल कुत्ते का विष अपना असर दिखलाने लगता है उसी प्रकार किये हुए पापकर्म भी समय पाकर नरक में भारी दुःख देने लगते हैं ॥१८॥

जिस प्रकार अपथ्य सेवन से मूर्ख मनुष्यों का ज्वर बढ़ जाता है उसी प्रकार पापाचरण से मिथ्यादृष्टि जीवों का पाप भी बहुत बढ़ा हो जाता है ॥१९॥

किये हुए कर्मों का परिपाक बहुत ही बुरा होता है। वह सदा कड़वे फल देता रहता है; उसी से यह जीव नरक में पड़कर वहाँ क्षण-भर के लिए भी दुःख से नहीं छूटता ॥२०॥

नरकों में कैसा दुःख है? और वहाँ जीवों की उत्पत्ति किस कारण से होती है? यदि तू यह जानना चाहता है तो क्षण-भर के लिए मन स्थिर कर सुन ॥२१॥

जो जीव हिंसा करने में आसक्त रहते हैं, झूठ बोलने में तत्पर होते हैं, चोरी करते हैं, परस्त्रीरमण करते हैं, मद्य पीते हैं मिथ्यादृष्टि हैं, क्रूर हैं, रौद्रध्यान में तत्पर हैं, प्राणियों में सदा निर्दय रहते हैं, बहुत आरम्भ और परिग्रह रखते हैं, सदा धर्म से द्रोह करते हैं, अधर्म में सन्तोष रखते हैं, साधुओं की निन्दा करते हैं, मात्सर्य से उपहत हैं, धर्मसेवन करने वाले परिग्रहरहित मुनियों से बिना कारण ही क्रोध करते हैं,

अतिशय पापी हैं, मधु और मांस खाने में तत्पर हैं, अन्य जीवों की हिंसा करने वाले कुत्ता-बिल्ली आदि पशुओं को पालते हैं, अतिशय निर्दय हैं स्वयं मधु, मांस खाते हैं और उनके खाने वालों की अनुमोदना करते हैं वे जीव पाप के भार से नरक में प्रवेश करते हैं । इस नरक को ही छोटे कर्मों के फल देने का क्षेत्र जानना चाहिए ॥२२-२७॥

क्रूर जलचर, थलचर, सर्प, सरीसृप, पाप करने वाली स्त्रियाँ और क्रूर पक्षी आदि जीव नरक में जाते हैं ॥२८॥

असैनी पञ्चेन्द्रिय जीव घर्मानामक पहली पृथ्वी तक जाते हैं, सरीसृप-सरकने वाले-गुहा दूसरी पृथ्वी तक जाते हैं, पक्षी तीसरी पृथ्वी तक, सर्प चौथी पृथ्वी तक, सिंह पाँचवीं पृथ्वी तक, स्त्रियाँ छठवीं पृथ्वी तक और पापी मनुष्य तथा मच्छ सातवीं पृथ्वी तक जाते हैं ॥२९-३०॥ रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा ये सात पृथ्वियाँ हैं जो कि क्रम-क्रम से नीचे-नीचे हैं ॥ ३१॥

घर्मा, वंशा, शिला (मेघा), अंजना, अरिष्टा, मघवी और माघवी ये सात पृथ्वियों के क्रम से नामान्तर हैं ॥३२॥

उन पृथ्वियों में वे जीव मधुमक्खियों के छत्ते के समान लटकते हुए घृणित स्थानों में नीचे की ओर मुख कर के पैदा होते हैं । सो ठीक ही है पापी जीवों की उन्नति कैसे हो सकती है ? ॥३३॥

वे जीव पापकर्म के उदय से अन्तर्मुहूर्त में ही दुर्गन्धित, घृणित, देखने के अयोग्य और बुरी आकृति वाले शरीर की पूर्ण रचना कर लेते हैं ॥ ३४॥

जिस प्रकार वृक्ष के पत्ते शाखा से बन्धन टूट जाने पर नीचे गिर पड़ते हैं उसी प्रकार वे नारकी जीव शरीर की पूर्ण रचना होते ही उस उत्पत्तिस्थान से जलती हुई अत्यन्त दुःसह नरक की भूमि पर गिर पड़ते हैं ॥३५॥

वहाँ की भूमि पर अनेक तीक्ष्ण हथियार गड़े हुए हैं, नारकी उन हथियारों की नोक पर गिरते हैं जिसमें उनके शरीर की सब सन्धियाँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं और इस दुःख से दुःखी होकर वे पापी जीव रोने-चिल्लाने लगते हैं ॥३६॥

वहाँ की भूमि की असह्य गरमी से सन्तप्त होकर व्याकुल हुए नारकी गरम भाड़ में डाले हुए तिलों के समान पहले तो उछलते हैं और फिर नीचे गिर पड़ते हैं ॥३७॥

वहाँ पड़ते ही अतिशय क्रोधी नारकी भयंकर तर्जना करते हुए तीक्ष्ण शस्त्रों से उन नवीन नारकियों के शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं ॥ ३८॥

जिस प्रकार किसी डण्डे से ताड़ित हुआ जल बूँद-बूँद होकर बिखर जाता है और फिर क्षण-भर में मिलकर एक हो जाता है उसी प्रकार उन नारकियों का शरीर भी हथियारों के प्रहार से छिन्न-भिन्न होकर जहाँ-तहाँ बिखर जाता है और फिर क्षण-भर में मिलकर एक हो जाता है ॥३९॥

उन नारकियों को अवधिज्ञान होने से अपनी पूर्वभव सम्बन्धी घटनाओं का अनुभव होता रहता है, उस अनुभव से वे परस्पर एक दूसरे को अपना पूर्व बैर बतलाकर आपस में दण्ड देते रहते हैं ॥४०॥

पहले की तीन पृथ्वियों तक अतिशय भयंकर असुरकुमार जाति के देव जाकर वहाँ के नारकियों को उनके पूर्वभव के बैर का स्मरण कराकर परस्पर में लड़ने के लिए प्रेरणा करते रहते हैं ॥४१॥

वहाँ के भयंकर गीध अपनी वज्रमयी चोंच से उन नारकियों के शरीर को चीर डालते हैं और काले-काले कुत्ते अपने पैने नखों से फाड़ डालते हैं ॥४२॥

कितने ही नारकियों को खौलती हुई ताँबा आदि धातुएँ पिलायी जाती हैं जिसके दुःख से वे बुरी तरह चिल्ला-चिल्लाकर शीघ्र ही विलीन (नष्ट) हो जाते हैं ॥४३॥

कितने ही नारकियों के टुकड़े-टुकड़े कर कोल्हू (गन्ना पेलने के यन्त्र) में डालकर पेलते हैं । कितने ही नारकियों को कढ़ाई में खौलाकर उनका रस बनाते हैं ॥४४॥

जो जीव पूर्वपर्याय में मांसभक्षी थे उन नारकियों के शरीर को बलवान् नारकी अपने पैने शस्त्रों से काट-काटकर उनका मांस उन्हें ही खिलाते हैं ॥४५॥

जो जीव पहले बड़े शौक से मांस खाया करते थे, संडासी से उनका मुख फाड़कर उनके गले में जबरदस्ती तपाये हुए लोहे के गोले

निगलाये जाते हैं ॥४६॥

'यह वही तुम्हारी उत्तमप्रिया है' ऐसा कहते हुए बलवान् नारकी अग्नि के फुलिंगों से व्याप्त तपायी हुई लोहे की पुतली का जबरदस्ती गले से आलिंगन कराते हैं ॥४७॥

जिन्होंने पूर्वभव में परस्त्रियों के साथ रति-क्रीड़ा की थी ऐसे नारकी जीवों से अन्य नारकी आकर कहते हैं कि तुम्हें तुम्हारी प्रिया अभिसार करने की इच्छा से संकेत किये हुए केतकीवन के एकान्त में बुला रही है, इस प्रकार कहकर उन्हें कठोर करोंत-जैसे पत्ते वाले केतकीवन में ले जाकर तपायी हुई लोहे की पुतलियों के साथ आलिङ्गन कराते हैं ॥४८-४९॥

उन लोहे की पुतलियों के आलिङ्गन से तत्क्षण ही मूर्च्छित हुए उन नारकियों को अन्य नारकी लोहे के परेनों से मर्मस्थानों में पीटते हैं ॥५०॥
उन लोहे की पुतलियों के आलिंगनकाल में ही जिनके नेत्र दुःख से बन्द हो गये हैं तथा जिनका शरीर अंगारों से जल रहा है ऐसे वे नारकी उसी क्षण जमीन पर गिर पड़ते हैं ॥५१॥

कितने ही नारकी, जिन पर ऊपर से नीचे तक पैने काँटे लगे हुए हैं और जो धौंकनी से प्रदीप्त किये गये हैं ऐसे लोहे के बने हुए सेमर के वृक्षों पर अन्य नारकियों को जबरदस्ती चढ़ाते हैं ॥५२॥

वे नारकी उन वृक्षों पर चढ़ते हैं, कोई नारकी उन्हें ऊपर से नीचे की ओर घसीट देता है और कोई नीचे से ऊपर को घसीट ले जाता है ।

इस तरह जब उनका सारा शरीर छिल जाता है और उससे रुधिर बहने लगता है तब कहीं बड़ी कठिनाई से छुटकारा पाते हैं ॥५३॥

कितने ही नारकियों को भिलावे के रस से भरी हुई नदी में जबरदस्ती पटक देते हैं जिससे क्षण भर में उनका सारा शरीर गल जाता है और उसके खारे जल की लहरें उन्हें लिप्त कर उनके घावों को भारी दुःख पहुँचाती हैं ॥५४॥

कितने ही नारकियों को फुलिङ्गों से व्याप्त जलती हुई अग्नि की शय्या पर सुलाते हैं । दीर्घनिद्रा लेकर सुख प्राप्त करने की इच्छा से वे नारकी उस पर सोते हैं जिससे उनका सारा शरीर जलने लगता है ॥५५॥

गरमी के दुःख से पीड़ित हुए नारकी ज्यों ही असिपत्र वन में (तलवार की धार के समान पैने पत्तों वाले वन में) पहुँचते हैं त्यों ही वहाँ अग्नि के फुलिंगों को बरसाता हुआ प्रचण्ड वायु बहने लगता है । उस वायु के आघात से अनेक आयुधमय पत्ते शीघ्र ही गिरने लगते हैं जिनसे उन नारकियों का सम्पूर्ण शरीर छिन्न-भिन्न हो जाता है और उस दुःख से दुःखी होकर बेचारे दीन नारकी रोने-चिल्लाने लगते हैं ॥ ५६-५७॥
वे नारकी कितने ही नारकियों को लोहे की सलाई पर लगाये हुए मांस के समान लोहदण्डों पर टाँगकर अग्नि में इतना सुखाते हैं कि वे सूखकर बल्लूर (शुष्क मांस) की तरह हो जाते हैं और कितने ही नारकियों को नीचे की ओर मुँह कर पहाड़ की चोटी पर से पटक देते हैं ॥ ५८॥

कितने ही नारकियों के मर्मस्थान और हड्डियों के सन्धिस्थानों को पैनी करोत से विदीर्ण कर डालते हैं और उनके नखों के अग्रभाग में तपायी हुई लोहे की सूइयाँ चुभाकर उन्हें भयंकर वेदना पहुँचाते हैं ॥५९॥

कितने ही नारकियों को पैने शूल के अग्रभाग पर चढ़ाकर घुमाते हैं जिससे उनकी अंतर्द्वियाँ निकलकर लटकने लगती हैं और छलकते हुए खून से उनका सारा शरीर लाल-लाल हो जाता है ॥६०॥

इस प्रकार अनेक घावों से जिनका शरीर जर्जर हो रहा है ऐसे नारकियों को वे बलिष्ठ नारकी खारे पानी से सींचते हैं । जो नारकी घावों की व्यथा से मूर्च्छित हो जाते हैं खारे पानी के सींचने से वे पुनः सचेत हो जाते हैं ॥६१॥

कितने ही नारकियों को पहाड़ की ऊँची चोटी से नीचे पटक देते हैं और फिर नीचे आने पर उन्हें अनेक निर्दय नारकी बड़ी कठोरता के साथ सैकड़ों वज्रमय मुठ्ठियों से मारते हैं ॥६२॥

कितने ही निर्दय नारकी अन्य नारकियों को उनके मस्तक पर मुद्गरों से पीटते हैं जिससे उनके नेत्रों के गोलक (गटेना) निकलकर बाहर गिर पड़ते हैं ॥६३॥

तीसरी पृथिवी तक असुरकुमार देव नारकियों को मेढ़ा बनाकर परस्पर में लड़ाते हैं जिससे उनके मस्तक शब्द करते हुए फट जाते हैं और उनसे रक्त मांस आदि बहुत-सा मल बाहर निकलने लगता है ॥६४॥

जो जीव पहले बड़े उद्दण्ड थे उन्हें वे नारकी तपाये हुए लोहे के आसन पर बैठाते हैं और विधिपूर्वक पैने काँटों के बिछौने पर सुलाते हैं ॥ ६५॥

इस प्रकार नरक की अत्यन्त असह्य और भयंकर वेदना पाकर भयभीत हुए नारकियों के मन में यह चिन्ता उत्पन्न होती है ॥६६॥

कि अहो ! अग्नि की ज्वालाओं से तपी हुई यह भूमि बड़ी ही दुरासद (सुखपूर्वक ठहरने के अयोग्य) है । यहाँ पर सदा अग्नि के फुलिंगों को धारण करने वाला यह वायु बहता रहता है जिसका कि स्पर्श भी सुख से नहीं किया जा सकता ॥६७॥

ये जलती हुई दिशाएँ दिशाओं में आग लगने का सन्देह उत्पन्न कर रही हैं और ये मेघ तप्तधूलि की वर्षा कर रहे हैं ॥६८॥

यह विषवन है जो कि सब ओर से विष लताओं से व्याप्त है और यह तलवार की धार के समान पैने पत्तों से भयंकर असिपत्र वन है ॥६९॥

ये गरम की हुई लोहे की पुतलियाँ नीच व्यभिचारिणी स्त्रियों के समान जबरदस्ती गले का आलिंगन करती हुई हम लोगों को अतिशय सन्ताप देती है (पक्ष में कामोत्तेजन करती है) ॥७०॥

ये कोई महाबलवान् पुरुष हम लोगों को जबरदस्ती लड़ा रहे हैं और ऐसे मालूम होते हैं मानो हमारे पूर्वजन्म सम्बन्धी दुष्कर्मों की साक्षी देने के लिए धर्मराज के द्वारा ही भेजे गये हों ॥७१॥

जिनके शब्द बड़े ही भयानक है, जो अपनी नासिका ऊपर को उठाये हुए है, जो जलती हुई ज्वालाओं से भयंकर हैं और जो मुँह से अग्नि उगल रहे हैं ऐसे ऊँट और गधों का यह समूह हम लोगों को निगलने के लिए ही सामने दौड़ा आ रहा है ॥७२॥

जिनका आकार अत्यन्त भयानक है जिन्होंने अपने हाथ में तलवार उठा रखी है और जो बिना कारण ही लड़ने के लिए तैयार हैं, ऐसे ये पुरुष हम लोगों की तर्जना कर रहे हैं-हम लोगों को घुड़क रहे हैं-डॉट दिखला रहे हैं ॥७३॥

भयंकर रूप से आकाश से पड़ते हुए ये गीध शीघ्र ही हमारे सामने झपट रहे हैं और ये भोंकते हुए कुत्ते हमें अतिशय भयभीत कर रहे हैं ॥७४॥

निश्चय ही इन दुष्ट जीवों के छल से हमारे पूर्वभव के पाप ही हमें इस प्रकार दुःख उत्पन्न कर रहे हैं । बड़े आश्चर्य की बात है कि हम लोगों को सब ओर से दुःखों ने घेर रखा है ॥७५॥

इधर यह दौड़ते हुए नारकियों के पैरों की आवाज सन्ताप उत्पन्न कर रही है और इधर यह करुण विलाप से भरा हुआ किसी के रोने का शब्द आ रहा है ॥७६॥

इधर यह काँव-काँव करते हुए कौवों के कठोर शब्द से विस्तार को प्राप्त हुआ शृगालों का अमंगलकारी शब्द आकाश-पाताल को शब्दायमान कर रहा है ॥७७॥

इधर यह असिपत्र वन में कठिन रूप से चलने वाले वायु के प्रकम्पन से उत्पन्न हुआ शब्द तथा उस वायु के आघात से गिरते हुए पत्तों का कठोर शब्द हो रहा है ॥७८॥

जिसके स्कन्ध भाग पर काँटे लगे हुए हैं ऐसा यह वही कृत्रिम सेमर का पेड़ है जिसकी याद आते ही हम लोगों के समस्त अंग काँटे चुभने के समान दुःखी होने लगते हैं ॥७९॥

इधर यह भिलावे के रस से भरी हुई वैतरणी नाम की नदी है । इसमें तैरना तो दूर रहा इसका स्मरण करना भी भय का देने वाला है ॥८०॥

ये वही नारकियों के रहने के घर (बिल) हैं जो कि गरमी से भीतर-ही-भीतर जल रहे हैं और जिनमें ये नारकी छिद्ररहित साँचे में गली हुई सुवर्ण, चाँदी आदि धातुओं की तरह घुमाये जाते हैं ॥८१॥

यहाँ की वेदना इतनी तीव्र है कि उसे कोई सह नहीं सकता, मार भी इतनी कठिन है कि उसे कोई बरदाश्त नहीं कर सकता । ये प्राण भी आयु पूर्ण हुए बिना छूट नहीं सकते और ये नारकी भी किसी से रोके नहीं जा सकते ॥८२॥

ऐसी अवस्था में हम लोग कहाँ जायें ? कहाँ खड़े हों कहाँ बैठें और कहाँ सोवें ? हम लोग जहाँ-जहाँ जाते हैं वहाँ-वहाँ अधिक-ही-अधिक दुःख पाते हैं ॥८३॥

इस प्रकार यहाँ के इस अपार दुःख से हम कब तिरेंगे पार होंगे हम लोगों की आयु भी इतनी अधिक है कि सागर भी उसके उपमान नहीं हो सकते ॥८४॥

इस प्रकार प्रतिक्षण चिन्तन करते हुए नारकियों को जो निरन्तर मानसिक सन्ताप होता रहता है वही उनके प्राणों को संशय में डाले रखने के लिए समर्थ है अर्थः उक्त प्रकार के सन्ताप से उन्हें मरने का संशय बना रहता है ॥८५॥

इस विषय में और अधिक कहने से क्या लाभ है ? इतना ही पर्याप्त है कि संसार में जो-जो भयंकर दुःख होते हैं उन सभी को, कठिनता से

दूर होने योग्य कर्मों ने नरकों में इकट्ठा कर दिया है ॥८६॥

उन नारकियों को नेत्रों के निमेष मात्र भी सुख नहीं है । उन्हें रात-दिन इसी प्रकार दुःख-ही-दुःख भोगना पड़ता है ॥८७॥

नाना प्रकार के दुःखरूपी सैकड़ों आवर्तों से भरे हुए नरकरूपी समुद्र में डूबे हुए नारकियों को सुख की प्राप्ति तो दूर रही उसका स्मरण होना भी बहुत दूर रहता है ॥८८॥

शीत अथवा उष्ण नरकों में इन नारकियों को जो दुःख होता है वह सर्वथा असह्य और अचिन्त्य है । संसार में ऐसा कोई पदार्थ भी तो नहीं है जिसके साथ उस दुःख की उपमा दी जा सके ॥८९॥

पहले की चार पृथ्वीयों में उष्ण वेदना है । पाँचवीं पृथ्वी में उष्ण और शीत दोनों वेदनाएँ हैं अर्थात् ऊपर के दो लाख बिलों में उष्ण वेदना है और नीचे के एक लाख बिलों में शीत वेदना है । छठी और सातवीं पृथ्वी में शीत वेदना है । यह उष्ण और शीत की वेदना नीचे-नीचे के नरकों में क्रम-क्रम से बढ़ती हुई है ॥९०॥

उन सातों पृथ्वीयों में क्रम से तीस लाख, पच्चीस लाख, पन्द्रह लाख, दस लाख, तीन लाख, पाँच कम एक लाख और पाँच बिल हैं । ये बिल सदा ही जाज्वल्यमान रहते हैं और बड़े-बड़े हैं । इन बिलों में पापी नारकी जीव हमेशा कुम्भीपाक (बन्द घड़े में पकाये जाने वाले जल आदि) के समान पकते रहते हैं ॥९१-९२॥

उन नरकों में क्रम से एक सागर, तीन सागर, सात सागर, दस सागर, सत्रह सागर, बाईस सागर और तैंतीस सागर की उत्कृष्ट आयु है ॥ ९३॥

पहली पृथ्वी में नारकियों के शरीर की ऊँचाई सात धनुष तीन हाथ और छह अंगुल है । और द्वितीय आदि पृथ्वीयों में क्रम-क्रम से दूनी-दूनी समझनी चाहिए । अर्थात् दूसरी पृथ्वी में पन्द्रह धनुष दो हाथ बारह अंगुल, तीसरी पृथ्वी में इकतीस धनुष एक हाथ, चौथी पृथ्वी में बासठ धनुष दो हाथ, पाँचवीं पृथ्वी में एक सौ पच्चीस धनुष, छठी पृथ्वी में दो सौ पचास हाथ और सातवीं पृथ्वी में पाँच सौ धनुष शरीर की ऊँचाई है ॥९४॥

वे नारकी विकलांग हुण्डक संस्थान वाले, नपुंसक, दुर्गन्धयुक्त, बुरे काले रंग के धारक, कठिन स्पर्श वाले, कठोर स्वरसहित तथा दुर्भग (देखने में अप्रिय) होते हैं ॥९५॥

उन नारकियों का शरीर अन्धकार के समान काले और रूखे परमाणुओं से बना हुआ होता है । उन सबकी द्रव्यलेश्या अत्यन्त कृष्ण होती है ॥९६॥

परन्तु भावलेश्या में अन्तर है जो कि इस प्रकार है-पहली पृथ्वी में जघन्य कापोती भावलेश्या है, दूसरी पृथ्वी में मध्यम कापोती लेश्या है, तीसरी पृथ्वी में उत्कृष्ट कापोती लेश्या और जघन्य नील लेश्या है, चौथी पृथ्वी में मध्यम नील लेश्या है, पाँचवीं में उत्कृष्ट नील तथा जघन्य कृष्ण लेश्या है, छठी पृथ्वी में मध्यम कृष्ण लेश्या है और सातवीं पृथ्वी में उत्कृष्ट कृष्ण लेश्या है । इस प्रकार घर्मा आदि सात पृथ्वीयों में क्रम से भावलेश्या का वर्णन किया ॥९७-९८॥

कड़वी तूम्बी और कांजीर के संयोग से जैसा कड़ुआ और अनिष्ट रस उत्पन्न होता है वैसा ही रस नारकियों के शरीर में भी उत्पन्न होता है ॥ ९९॥

कुत्ता, बिलाव, गधा, ऊँट आदि जीवों के मृतक कलेवरों को इकट्ठा करने से जो दुर्गन्ध उत्पन्न होती है वह भी इन नारकियों के शरीर की दुर्गन्ध की बराबरी नहीं कर सकती ॥१००॥

करोत और गोखुरू में जैसा कठोर स्पर्श होता है वैसा ही कठोर स्पर्श नारकियों के शरीर में भी होता है ॥१०१॥

उन नारकियों के अशुभ कर्म का उदय होने से अपृथक् विक्रिया ही होती है और वह भी अत्यन्त विकृत, घृणित तथा कुरूप हुआ करती है । भावार्थ-एक नारकी एक समय में अपने शरीर का एक ही आकार बना सकता है सो वह भी अत्यन्त विकृत, घृणा का स्थान और कुरूप आकार बनाता है, देवों के समान मनचाहे अनेक रूप बनाने की सामर्थ्य नारकी जीवों में नहीं होती ॥१०२॥

पर्याप्तक होते ही उन्हें विभंगावधि ज्ञान प्राप्त हो जाता है जिससे वे पूर्वभव से बैरों का स्मरण कर लेते हैं और उन्हें प्रकट भी करने लगते हैं ॥१०३॥

जो जीव पूर्वजन्म में पाप करने में बहुत ही पण्डित थे, जो खोटे वचन कहने में चतुर थे और दुराचारी थे यह उन्हीं के दुष्कर्म का फल है ॥

१०४॥

हे देव, वह शतबुद्धि मन्त्री का जीव अपने पापकर्म के उदय से ऊपर कहे अनुसार द्वितीय नरक सम्बन्धी बड़े-बड़े दुःखों को प्राप्त हुआ है ॥

१०५॥

इसलिए जो जीव ऊपर कहे हुए नरकों के तीव्र दुःख नहीं चाहते उन बुद्धिमान् पुरुषों को इस जिनेन्द्रप्रणीत धर्म की उपासना करनी चाहिए ॥१०६॥

यही जैन धर्म ही दुःखों से रक्षा करता है, यही धर्म सुख विस्तृत करता है, और यही धर्म कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने वाले मोक्षसुख को देता है ॥१०७॥

इस जैन धर्म से इन्द्रचक्रवर्ती और गणधर के पद प्राप्त होते हैं । तीर्थंकर पद भी इसी धर्म से प्राप्त होता है और सर्वोत्कृष्ट सिद्ध पद भी इसी से मिलता है ॥१०८॥

यह जैन धर्म ही जीवों का बन्धु है, यही मित्र है और यही गुरु है, इसलिए हे देव, स्वर्ग और मोक्ष के सुख देने वाले इस जैनधर्म में ही तू अपनी बुद्धि लगा ॥१०९॥

उस समय प्रीतिकर जिनेन्द्र के ऊपर कहे वचन सुनकर पवित्र बुद्धि का धारक श्रीधरदेव अतिशय धर्मप्रेम को प्राप्त हुआ ॥११०॥

और गुरु के आज्ञानुसार दूसरे नरक में जाकर शतबुद्धि को समझाने लगा कि हे भोले मूर्ख शतबुद्धि, क्या तू मुझ महाबल को जानता है ? ॥१११॥

उस भव में अनेक मिथ्यानियों के आश्रय से तेरा मिथ्यात्व बहुत ही प्रबल हो रहा था । देख, उसी मिथ्यात्व का यह दुःख देनेवाला फल तेरे सामने है ॥११२॥

इस प्रकार श्रीधरदेव के द्वारा समझाये हुए शतबुद्धि के जीव ने शुद्ध सम्यग्दर्शन धारण किया और मिथ्यात्वरूपी मैल के नष्ट हो जाने से उत्कृष्ट विशुद्धि प्राप्त की ॥११३॥

तत्पश्चात् वह शतबुद्धि का जीव आयु के अन्त में भयंकर नरक से निकलकर पूर्व पुष्कर द्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में मंगलावती देश के रत्नसंचयनगर में महीधर चक्रवर्ती के सुन्दरी नामक रानी से जयसेन नाम का पुत्र हुआ । जिस समय उसका विवाह हो रहा था उसी समय श्रीधरदेव ने आकर उसे समझाया जिससे विरक्त होकर उसने यमधर मुनिराज के समीप दीक्षा धारण कर ली । श्रीधरदेव ने उसे नरकों के भयंकर दुःख की याद दिलायी जिससे वह विषयों से विरक्त होकर कठिन तपश्चरण करने लगा ॥११४-११७॥

तदनन्तर आयु के अन्त समय में समाधिपूर्वक प्राण छोड़कर ब्रह्मस्वर्ग में इन्द्र पद को प्राप्त हुआ । देखो, कहाँ तो नारकी होना और कहाँ इन्द्र पद प्राप्त होना । वास्तव में कर्म की गति बड़ी ही विचित्र है ॥११८॥

यह जीव हिंसा आदि अधर्मकार्यों से नरकादि नीच गतियों में उत्पन्न होता है और अहिंसा आदि धर्मकार्यों से स्वर्ग आदि उच्च गतियों को प्राप्त होता है इसलिए उच्च पद की इच्छा करने वाले पुरुष को सदा धर्म में तत्पर रहना चाहिए ॥११९॥

अनन्तर अवधिज्ञानरूपी नेत्र से युक्त उस ब्रह्मेन्द्र ने (शतबुद्धि या जयसेन के जीव ने) ब्रह्म स्वर्ग से आकर अपने कल्याणकारी मित्र श्रीधरदेव की पूजा की ॥१२०॥

अनन्तर वह श्रीधरदेव स्वर्ग से च्युत होकर जम्बूद्वीप सम्बन्धी पूर्व विदेह क्षेत्र में स्वर्ग के समान शोभायमान होने वाले महावत देश के सुसीमानगर में सुदृष्टि राजा की सुन्दरनन्द नाम की रानी से पवित्र-बुद्धि का धारक सुविधि नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ ॥१२१-१२२॥

वह सुविधि बाल्यावस्था से ही चन्द्रमा के समान समस्त कला का भण्डार था और प्रतिदिन लोगों के नेत्रों का आनन्द बढ़ाता रहता था ॥ १२३॥

उस बुद्धिमान् सुविधि ने बाल्य अवस्था में ही समीचीन धर्म का स्वरूप समझ लिया था । सो ठीक ही है, आत्मज्ञानी पुरुषों का चित्त आत्मकल्याण में ही अनुरक्त रहता है ॥१२४॥

वह बाल्य अवस्था में ही लोगों को आनन्द देने वाली रूपसम्पदा को प्राप्त था और पूर्ण युवा होने पर विशेष रूप से मनोहर सम्पदा को प्राप्त हो गया था ॥१२५॥

उस सुविधि का ऊँचा मस्तक सदा मुकुट से अलंकृत रहता था इसलिए अन्य राजाओं के बीच में वह सुविधि उस प्रकार उच्चता धारण

करता था जिस प्रकार कि कुलाचलों के बीच में चूलिकासहित मेरु पर्वत है ॥१२६॥

उसका मुख, सूर्य, चन्द्रमा, तारे और इन्द्रधनुष से सुशोभित आकाश के समान शोभायमान हो रहा था । क्योंकि वह दो कुण्डलों से शोभायमान था जो कि सूर्य और चन्द्रमा के समान जान पड़ते थे तथा कुछ ऊँची उठी हुई भौंहोंसहित चमकते हुए नेत्रों से युक्त हुआ था इसलिए इन्द्रधनुष और ताराओं से युक्त हुआ-सा जान पड़ता था ॥१२७॥

अथवा उसका मुख एक फूले हुए कमल के समान शोभायमान हो रहा था क्योंकि फूले हुए कमल में जिस प्रकार उसकी कलिकाएँ विकसित होती है उसी प्रकार उसके मुख में मनोहर ओठ शोभायमान थे और फूला हुआ कमल जिस प्रकार मनोज्ञ गन्ध से युक्त होता है उसी प्रकार उसका मुख भी श्वासोच्छ्वास की मनोज्ञ गन्ध से युक्त था ॥१२८॥

उसकी नाक स्वभाव से ही लम्बी थी, इसीलिए ऐसी जान पड़ती थी मानो उसने मुख-कमल की सुगन्धि सूँघने के लिए ही लम्बाई धारण की हो । और उसमें जो दो छिद्र थे उनसे ऐसी मालूम होती थी मानो नीचे की ओर मुँह करके उन छिद्रों-द्वारा उसका रसपान ही कर रही हो ॥१२९॥

उसका गला मृणालवलय के समान श्वेत हार से शोभायमान था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो मुखरूपी कमल की उत्तम नाल को ही धारण कर रहा हो ॥१३०॥

बड़े-बड़े रत्नों की किरणों से मनोहर उसका विशाल वक्षःस्थल ऐसा शोभायमान होता था मानो कमलवासिनी लक्ष्मी का जलते हुए दीपकों से शोभायमान निवासगृह ही हो ॥१३१॥

वह सुविधि स्वयं दिग्गज के समान शोभायमान था और उसके ऊँचे उठे हुए दोनों कन्धे दिग्गज के कुम्भस्थल के समान शोभायमान हो रहे थे । क्योंकि जिस प्रकार दिग्गज सद्गति अर्थात् समीचीन चाल का धारक होता है उसी प्रकार वह सुविधि भी सद्गति अर्थात् समीचीन आचरणों का धारक अथवा सत्पुरुषों का आश्रय था । दिग्गज जिस प्रकार सुवंश अर्थात् पीठ की रीढ़ से सहित होता है इसी प्रकार वह सुविधि भी सुवंश अर्थात् उच्च कुल वाला था और दिग्गज जिस प्रकार महोन्नत अर्थात् अत्यन्त ऊँचा होता है उसी प्रकार वह सुनिधि भी महोन्नत अर्थात् अत्यन्त उत्कृष्ट था ॥१३२॥

उस राजा की अत्यन्त लम्बी दोनों भुजाएँ ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो उपद्रवों से लोक की रक्षा करने के लिए वज्र के बने हुए दो अर्गलदण्ड ही हों ॥१३३॥

उसकी दोनों सुन्दर हथेलियाँ नखरूपी ताराओं से शोभायमान थी और सूर्य तथा चन्द्रमा के चिह्नों से सहित थी इसलिए तारे और सूर्य-चन्द्रमा से सहित आकाश के समान शोभायमान हो रही थी ॥१३४॥

उसका मध्य भाग लोक के मध्य भाग की शोभा को धारण करता हुआ अत्यन्त शोभायमान था, क्योंकि लोक का मध्य भाग जिस प्रकार कृश है उसी प्रकार उसका मध्य भाग भी कृश था और जिस प्रकार लोक के मध्य भाग से ऊपर और नीचे का हिस्सा विस्तीर्ण होता है उसी प्रकार उसके मध्य भाग से ऊपर, नीचे का हिस्सा भी विस्तीर्ण था ॥१३५॥

जिस प्रकार मेरु पर्वत इन्द्रधनुषसहित मेघों से घिरे हुए नितम्ब भाग (मध्यभाग को) धारण करता है उसी प्रकार वह सुविधि भी सुवर्णमय करधनी को धारण किये हुए नितम्ब भाग (जघन भाग) को धारण करता था ॥१३६॥

वह सुविधि, सुवर्ण कमल की केशर के समान पीली जिन दो ऊरुओं को धारण कर रहा था वे ऐसी मालूम होती थीं मानो जगत्पूरी घर के दो तोरण-स्तम्भ (तोरण बाँधने के खम्भे) ही हों ॥१३७॥

उसकी दोनों जंघाएँ सुश्लिष्ट थीं अर्थात् संगठित होने के कारण परस्पर में सटी हुई थीं, मनुष्यों के चित्त को प्रसन्न करने वाली थीं और उनके अलंकारों (आभूषणों से) सहित थीं इसलिए किसी उत्तम कवि की सुश्लिष्ट अर्थात् श्लेषगुण से सहित मनुष्यों के चित्त को प्रसन्न करने वाली और उपमा, रूपक आदि अलंकारों से युक्त काव्य-रचना को भी जीतती थीं ॥१३८॥

अत्यन्त कोमल स्पर्श के धारक और लक्ष्मी के द्वारा सेवा करने योग्य (दाबने के योग्य) उसके दोनों चरण-कमल जिस स्वाभाविक लालिमा को धारण कर रहे थे वह ऐसी मालूम होती थी मानो सेवा करते समय लक्ष्मी के कर-पल्लव से छूटकर ही लग गयी हो ॥१३९॥

इस प्रकार वह सुविधि बालक होने पर भी अनेक सामुद्रिक चिह्नों से युक्त प्रकट हुए अपने मनोहर रूप के द्वारा संसार के समस्त जीवों के मन को जबरदस्ती हरण करता था ॥१४०॥

उस जितेन्द्रिय राजकुमार ने काम का उद्रेक करने वाले यौवन के प्रारम्भ समय में ही काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य इन छह अन्तरङ्ग शत्रुओं का निग्रह कर दिया था इसलिए वह तरुण होकर भी वृद्धों के समान जान पड़ता था ॥१४१॥

उसने यथायोग्य समय पर गुरुजनों के आग्रह से उत्तम स्त्री के साथ पाणिग्रहण कराने की अनुमति दी थी और छत्र, चमर आदि राज्य-लक्ष्मी के चिह्न भी धारण किये थे, राज्य-पद स्वीकृत किया था ॥१४२॥

तरुण अवस्था को धारण करने वाला वह सुविधि अभयघोष चक्रवर्ती का भानजा था इसलिए उसने उन्हीं चक्रवर्ती की पुत्री मनोरमा के साथ विवाह किया था ॥१४३॥

सदा अनुकूल सती मनोरमा के साथ वह राजा चिरकाल तक क्रीड़ा करता रहा सो ठीक है । सुशील और अनुकूल स्त्री ही पति को प्रसन्न कर सकती है ॥१४४॥

इस प्रकार प्रीतिपूर्वक क्रीड़ा करते हुए उन दोनों का समय बीत रहा था कि स्वयंप्रभ नाम का देव (श्रीमती का जीव) स्वर्ग से च्युत होकर उन दोनों के केशव नाम का पुत्र हुआ ॥१४५॥

वज्रजंघ पर्याय में जो इसकी श्रीमती नाम की प्यारी स्त्री थी वही इस भव में इसका पुत्र हुआ है । क्या कहा जाये ? संसार की स्थिति ही ऐसी है ॥१४६॥

उस पुत्र पर सुविधि राजा का भारी प्रेम था सो ठीक ही है । जब कि पुत्र मात्र ही प्रीति के लिए होता है तब यदि पूर्वभव का प्रेमपात्र स्त्री का जीव ही आकर पुत्र उत्पन्न हुआ हो तो फिर कहना ही क्या है उस पर तो सबसे अधिक प्रेम होता ही है ॥१४७॥

सिंह, नकुल, वानर और शूकर के जीव जो कि भोगभूमि के बाद द्वितीय स्वर्ग में देव हुए थे वे भी वहाँ से चय कर इसी वत्सकावती देश में सुविधि के समान पुण्याधिकारी होने से उसी के समान विभूति के धारक राजपुत्र हुए ॥१४८॥

सिंह का जीव-चित्रांगद देव स्वर्ग से च्युत होकर विभीषण राजा से उसकी प्रियदत्ता नाम की पत्नी के उदर में वरदत्त नाम का पुत्र हुआ ॥ १४९॥

शूकर का जीव-मणिकुण्डल नाम का देव नन्दिषेण राजा और अनन्तमती रानी के वरसेन नाम का पुत्र हुआ ॥१५०॥

वानर का जीव-मनोहर नाम का देव स्वर्ग से च्युत होकर रतिषेण राजा की चन्द्रमती रानी के चित्रांगद नाम का पुत्र हुआ ॥१५१॥

और नकुल का जीव-मनोरथ नाम का देव स्वर्ग से च्युत होकर प्रभंजन राजा की चित्रमालिनी रानी के प्रशान्तमदन नाम का पुत्र हुआ ॥ १५२॥

समान आकार, समान रूप, समान सौन्दर्य और समान सम्पत्ति के धारण करने वाले वे सभी राजपुत्र अपने-अपने योग्य राज्यलक्ष्मी पाकर चिरकाल तक भोगों का अनुभव करते रहे ॥१५३॥

तदनन्तर किसी दिन वे चारों ही राजा, चक्रवर्ती अभयघोष के साथ विमलवाह जिनेन्द्र देव की वन्दना करने के लिए गये । वहाँ सबने भक्तिपूर्वक वन्दना की और फिर सभी ने विरक्त होकर दीक्षा धारण कर ली ॥१५४॥

वह चक्रवर्ती अठारह हजार राजाओं और पाँच हजार पुत्रों के साथ दीक्षित हुआ था ॥१५५॥

वे सब मुनीश्वर उत्कृष्ट संवेग और निर्वेदरूप परिणामों को प्राप्त होकर स्वर्ग और मोक्ष के मार्गभूत कठिन तप तपने लगे ॥१५६॥

धर्म और धर्म के फलों में उत्कृष्ट प्रीति करना संवेग कहलाता है और शरीर, भोग तथा संसार से विरक्त होने को निर्वेद कहते हैं ॥१५७॥

राजा सुविधि केशव पुत्र के स्नेह से गृहस्थ अवस्था का परित्याग नहीं कर सका था, इसलिए श्रावक के उत्कृष्ट पद में स्थित रहकर कठिन तप तपता था ॥१५८॥

जिनेन्द्रदेव ने गृहस्थों के नीचे लिखे अनुसार ग्यारह स्थान या प्रतिमाएँ कही हैं (१) दर्शनप्रतिमा (२) व्रतप्रतिमा (३) सामायिकप्रतिमा (४) प्रोषधप्रतिमा (५) सचित्तत्यागप्रतिमा (६) दिवामैथुनत्यागप्रतिमा (७) ब्रह्मचर्यप्रतिमा (८) आरम्भत्यागप्रतिमा (९) परिग्रह-त्यागप्रतिमा (१०) अनुमतित्यागप्रतिमा और (११) उद्दिष्टत्यागप्रतिमा । इनमें से सुविधि राजा ने क्रम-क्रम से ग्यारहवाँ स्थान-उद्दिष्टत्यागप्रतिमा धारण की थी ॥१५९-१६१॥

जिनेन्द्रदेव ने गृहस्थाश्रम के उक्त ग्यारह स्थानों में पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इन बारह व्रतों का निरूपण किया है ॥ १६२॥

स्थूल हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह से निवृत्त होने को क्रम से अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रह परिमाणानुव्रत कहते हैं ॥१६३॥

यदि इन पाँच अणुव्रतों को हर एक व्रत की पाँच-पाँच भावनाओं से सुसंस्कृत और सम्यग्दर्शन की विशुद्धि से युक्त कर धारण किया जाये तो उनसे गृहस्थों को बड़े-बड़े फलों की प्राप्ति हो सकती है ॥१६४॥

दिग्विरति, देशविरति और अनर्थदण्डविरति ये तीन गुणव्रत हैं । कोई-कोई आचार्य भोगोपभोग परिमाणव्रत को भी गुणव्रत कहते हैं [और देशव्रत को शिक्षाव्रतों में शामिल करते हैं] ॥१६५॥

सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिसंविभाग और मरण समय में संन्यास धारण करना ये चार शिक्षाव्रत कहलाते हैं । [अनेक आचार्यों ने देशव्रत को शिक्षाव्रत में शामिल किया है और संन्यास का बारह व्रतों से भिन्न वर्णन किया है] ॥१६६॥

गृहस्थों के ये उपर्युक्त बारह व्रत स्वर्गरूपी राजमहल पर चढ़ने के लिए सीढ़ी के समान हैं और नरकादि दुर्गतियों का आवरण करने वाले हैं ॥१६७॥

इस प्रकार सम्यग्दर्शन से पवित्र व्रतों की शुद्धता को प्राप्त हुए राजर्षि सुविधि चिरकाल तक श्रेष्ठ मोक्षमार्ग की उपासना करते रहे ॥१६८॥ अनन्तर जीवन के अन्त समय में परिग्रहरहित दिग्म्बर दीक्षा को प्राप्त हुए सुविधि महाराज ने विधिपूर्वक उत्कृष्ट मोक्षमार्ग की आराधना कर समाधि-मरणपूर्वक शरीर छोड़ा जिससे अच्युत स्वर्ग में इन्द्र हुए ॥१६९॥

वहाँ उनकी आयु बीस सागर प्रमाण थी और उन्हें अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त हुई थीं ॥१७०॥

श्रीमती के जीव केशव ने भी समस्त बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग कर निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण की और आयु के अन्त में अच्युत स्वर्ग में प्रतीन्द्र पद प्राप्त किया ॥१७१॥

जिनका वर्णन ऊपर किया जा चुका है ऐसे वरदत्त आदि राजपुत्र भी अपने-अपने पुण्य के उदय से उसी अच्युत स्वर्ग में सामानिक जाति के देव हुए ॥१७२॥

पूर्ण आयु को धारण करने वाला वह अच्युत स्वर्ग का इन्द्र अणिमा, महिमा आदि आठ गुण, ऐश्वर्य और दिव्य भोगों का अनुभव करता हुआ चिरकाल तक क्रीड़ा करता था ॥१७३॥

उसका शरीर दिव्य प्रभाव से सहित था, स्वभाव से ही सुन्दर था, विष-शस्त्र आदि की बाधा से रहित था और अत्यन्त निर्मल था ॥१७४॥

वह अपने मस्तक पर कल्पवृक्ष के पुष्पों का सेहरा धारण करता था जिससे ऐसा मालूम होता था मानो पूर्वभव में किये हुए तपश्चरण के विशाल फल को मस्तक पर उठाकर सबको दिखा ही रहा हो ॥१७५॥

उसका सुन्दर शरीर साथ-साथ उत्पन्न हुए आभूषणों से ऐसा मालूम होता था मानो उसके प्रत्येक अंग पर दयारूपी लता के प्रशंसनीय फल ही लग रहे हैं ॥१७६॥

समचतुरस्र संस्थान का धारक वह इन्द्र अपने अनेक दिव्य लक्षणों से ऐसा सुशोभित होता था जैसा कि ऊँचे-नीचे सभी प्रदेशों में स्थित फलों से व्याप्त हुआ कल्पवृक्ष सुशोभित होता है ॥१७७॥

काले-काले केश और श्वेतवर्ण की पगड़ी से सहित उसका मस्तक ऐसा जान पड़ता था मानो तापिच्छ पुष्प से सहित और आकाशगंगा के पूर से युक्त हिमालय का शिखर ही हो ॥१७८॥

उस इन्द्र का मुखकमल फूले हुए कमल के समान शोभायमान था, क्योंकि जिस प्रकार कमल पर भौरे होते हैं उसी प्रकार उसके मुख पर शोभायमान नेत्र थे और कमल जिस प्रकार जल से आक्रान्त होता है उसी प्रकार उसका मुख भी मुसकान की सफेद-सफेद किरणों से आक्रान्त था ॥१७९॥

वह अपने मनोहर और विशाल वक्षस्थल पर जिस निर्मल हार को धारण कर रहा था वह ऐसा मालूम होता था मानो मेरु पर्वत के तट पर अवलम्बित शरद् ऋतु के बादलों का समूह ही हो ॥१८०॥

शोभायमान वस्त्र से ढँका हुआ उसका नितम्बमण्डल ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो लहरों से ढँका हुआ समुद्र का बालूदार टीला ही हो ॥१८१॥

देवाङ्गनाओं के मन को हरण करने वाले उसके दोनों सुन्दर ऊरु सुवर्ण कदली के स्तम्भों का सन्देह करते हुए अत्यन्त शोभायमान हो रहे

थे ॥१८२॥

उस इन्द्र के दोनों चरण किसी तालाब के समान मालूम पड़ते थे क्योंकि तालाब जिस प्रकार जल से सुशोभित होता है उसी प्रकार उसके चरण भी नखों की किरणोंरूपी निर्मल जल से सुशोभित थे, तालाब जिस प्रकार कमलों से शोभायमान होता है उसी प्रकार उसके चरण भी कमल के चिह्नों से सहित थे और तालाब जिस प्रकार मच्छ वगैरह से सहित होता है उसी प्रकार उसके चरण भी मत्स्य रेखा आदि से युक्त थे । इस प्रकार उसके चरणों में कोई अपूर्व ही शोभा थी ॥१८३॥

इस तरह अत्यन्त श्रेष्ठ और सुन्दर वैक्रियिक शरीर को धारण करता हुआ वह अच्युतेन्द्र अपने स्वर्ग में उत्पन्न हुए भोगों का अनुभव करता था ॥१८४॥

वह अच्युत स्वर्ग इस मध्यलोक से छह राजु ऊपर चलकर है तथापि पुण्य के उदय से वह सुविधि राजा के भोगोपभोग का स्थान हुआ सो ठीक ही है । पुण्य के उदय से क्या नहीं प्राप्त होता ? ॥१८५॥

उस इन्द्र के उपभोग में आने वाले विमानों की संख्या सर्वज्ञ प्रणीत आगम में जिनेन्द्रदेव ने एक-सौ उनसठ कही है ॥१८६॥

उन एक सौ उनसठ विमानों में एक सौ तेईस विमान प्रकीर्णक हैं, एक इन्द्रक विमान है और बाकी के पैंतीस बड़े-बड़े श्रेणीबद्ध विमान हैं ॥ १८७॥

उन इन्द्र के तैंतीस त्रायस्त्रिंश जाति के उत्तम देव थे । वह उन्हें अपनी स्नेह-भरी बुद्धि से पुत्र के समान समझता था ॥१८८॥

उसके दश हजार सामानिक देव थे । वे सब देव भोगोपभोग की सामग्री से इन्द्र के ही समान थे परन्तु इन्द्र के समान उनकी आज्ञा नहीं चलती ॥१८९॥

उसके अंगरक्षकों के समान चालीस हजार आत्मरक्षक देव थे । यद्यपि स्वर्ग में किसी प्रकार का भय नहीं रहता तथापि इन्द्र की विभूति दिखलाने के लिए ही वे होते हैं ॥१९०॥

अन्त-परिषद्, मध्यमपरिषद् और बाह्यपरिषद् के भेद से उस इन्द्र की तीन सभाएँ थीं । उनमें से पहली परिषद् में एक सौ पच्चीस देव थे, दूसरी परिषद् में दो सौ पचास देव थे और तीसरी परिषद् में पाँच सौ देव थे ॥१९१॥

उस अच्युत स्वर्ग के अन्तभाग की रक्षा करने वाले चारों दिशाओं सम्बन्धी चार लोकपाल थे और प्रत्येक लोकपाल की बत्तीस-बत्तीस देवियाँ थीं ॥१९२॥

उस अच्युतेन्द्र की आठ महादेवियाँ थीं जो कि अपने वर्ण और सौन्दर्यरूपी सम्पत्ति के द्वारा इन्द्र के मनरूपी लोहे को खींचने के लिए बनी हुई पुतलियों के समान शोभायमान होती थीं ॥१९३॥

इन आठ महादेवियों के सिवाय उसके तिरसठ वल्लभिका देवियाँ और थीं तथा एक-एक महादेवी अढ़ाईसौ-अढ़ाईसौ अन्य देवियों से घिरी रहती थी ॥१९४॥

इस प्रकार सब मिलाकर उसकी दो हजार इकहत्तर देवियाँ थीं । इन देवियों का स्मरण करने मात्र से ही उसका चित्त सन्तुष्ट हो जाता था- उसकी कामव्यथा नष्ट हो जाती थी ॥१९५॥

वह इन्द्र उन देवियों के कोमल हाथों के स्पर्श से, मुखकमल के देखने से और मानसिक संभोग से अत्यन्त तृप्ति को प्राप्त होता था ॥१९६॥

इस इन्द्र की प्रत्येक देवी अपनी विक्रिया शक्ति के द्वारा सुन्दर स्त्रियों के दस लाख चौबीस हजार सुन्दर रूप बना सकती थी ॥१९७॥

हाथी, घोड़े, रथ, पियादे, बैल, गन्धर्व और नृत्यकारिणी के भेद से उसकी सेना की सात कक्षाएँ थीं । उनमें से पहली कक्षा में बीस हजार हाथी थे, फिर आगे की कक्षाओं में दूनी-दूनी संख्या थी । उसकी यह विशाल सेना किसी बड़े समुद्र की लहरों के समान जान पड़ती थी ।

यह सातों ही प्रकार की सेना अपने-अपने महत्तर (सर्वश्रेष्ठ) के अधीन रहती थी ॥१९८-१९९॥

उस इन्द्र की एक-एक देवी की तीन-तीन सभाएँ थीं । उनमें से पहली सभा में २५ अप्सराएँ थीं, दूसरी सभा में ५० अप्सराएँ थीं, और तीसरी सभा में सौ अप्सराएँ थीं ॥२००॥

इस प्रकार ऊपर कहे हुए परिवार के साथ अच्युत स्वर्ग में उत्पन्न हुई लक्ष्मी का उपभोग करने वाले उस अच्युतेन्द्र की उत्कृष्ट विभूति का वर्णन करना कठिन है-जितना वर्णन किया जा चुका है उतना ही पर्याप्त है ॥२०१॥

उस अच्युतेन्द्र का मैथुन मानसिक था और आहार भी मानसिक था तथा वह बाईस हजार वर्षों में एक बार आहार करता था ॥२०२॥

ग्यारह महीने में एक बार श्वासोच्छ्वास लेता था और तीन हाथ ऊँचे सुन्दर शरीर को धारण करनेवाला था ॥२०३॥

वह अच्युतेन्द्र धर्म के द्वारा ही उत्तम-उत्तम विभूति प्राप्त हुआ था इसलिए उत्तम-उत्तम विभूतियों के अभिलाषी जनों को जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहे धर्म में ही बुद्धि लगानी चाहिए ॥२०४॥

उस अच्युत स्वर्ग में, जिनके वेष बहुत ही सुन्दर हैं जो उत्तम-उत्तम आभूषण पहने हुई हैं, जो सुगन्धित पुष्पों की मालाओं से सहित हैं, जिनके लम्बी चोटी नीचे की ओर लटक रही है, जो अनेक प्रकार की लीलाओं से सहित हैं, जो मधुर शब्दों से गाती हुई राग-रागिनियों का प्रारम्भ कर रही हैं, और जो हर प्रकार से समान हैं-सदृश हैं अथवा गर्व से युक्त हैं ऐसी देवाङ्गनाएँ उस अच्युतेन्द्र को बड़ा आनन्द प्राप्त करा रही थीं ॥२०५॥

जिनके मुख कमल के समान सुन्दर हैं ऐसी देवाङ्गनाएँ, अपने मनोहर चरणों के गमन, भौंहों के विकार, सुन्दर दोनों नेत्रों के कटाक्ष, अंगोपांगों की लचक, सुन्दर हास्य, स्पष्ट और कोमल हाव तथा रोमाञ्च आदि अनुभवों से सहित रति आदि अनेक भावों के द्वारा उस अच्युतेन्द्र का मन ग्रहण करती रहती थीं ॥२०६॥

जो अपनी विशाल कान्ति से शोभायमान है, जिसकी कोई बराबरी नहीं कर सकता, और जो अपने स्थूल कन्धों से शोभायमान है ऐसा वह समृद्धिशाली अच्युतेन्द्र, स्त्रियों के मुखरूपी चन्द्रमा से अत्यन्त देदीप्यमान अपने विस्तृत विमान में कभी देवाङ्गनाओं के चन्द्रमा की कला के समान निर्मल कपोलरूपी दर्पण में अपना मुख देखता हुआ, कभी उनके मुख की श्वास को सूँघकर उनके मुखरूपी कमल पर भ्रमर-जैसी शोभा को प्राप्त होता हुआ, कभी भौंहरूपी धनुष से, छोड़े हुए उनके नेत्रों के कटाक्षों से घायल हुए अपने हृदय को उन्हीं के कोमल हाथों के स्पर्श से धैर्य बँधाता हुआ, कभी दिव्य भोगों का अनुभव करता हुआ, कभी अनेक देवों से परिवृत होकर हाथी के आकार विक्रिया किये हुए देवों पर चढ़कर गमन करता हुआ और कभी बार-बार जिनेन्द्रदेव की पूजा का विस्तार करता हुआ अपनी देवाङ्गनाओं के साथ चिरकाल तक क्रीड़ा करता रहा ॥२०७-२०८॥

इस प्रकार आर्षनाम से प्रसिद्ध भगवज्जिनेसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रह में श्रीमान् अच्युतेन्द्र के ऐश्वर्य का वर्णन करने वाला दसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥१०॥

पर्व-11 -- वज्रनाभि के सर्वार्थसिद्धिगमन

पर्व-11 -- वज्रनाभि के सर्वार्थसिद्धिगमन

कथा :

स्तोत्रों द्वारा की हुई पूजा ही जिनकी प्राप्ति का उपाय है ऐसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आदि अनेक गुणरूपी जिसकी किरणें प्रकाशमान हो रही हैं और जो भव्य जीवरूपी कमलों के वन को विकसित करने वाला है ऐसा वह जिनेन्द्ररूपी सूर्य तुम सब श्रोताओं को पवित्र करे ॥१॥

अनन्तर जब वह अच्युतेन्द्र स्वर्ग छोड़कर पृथ्वी पर आने के सम्मुख हुआ तब उसके शरीर पर पड़ी हुई कल्पवृक्ष के पुष्पों की माला अचानक मुरझा गयी । वह माला इससे पहले कभी नहीं मुरझायी थी ॥२॥

स्वर्ग से च्युत होने के चिह्न जैसे अन्य साधारण देवों के स्पष्ट प्रकट होते हैं वैसे इन्द्रों के नहीं होते किन्तु कुछ-कुछ ही प्रकट होते हैं ॥३॥

माला मुरझाने से यद्यपि इन्द्र को मालूम हो गया था कि अब मैं स्वर्ग से च्युत होने वाला हूँ तथापि वह कुछ भी दुःखी नहीं हुआ सो ठीक है । वास्तव में महापुरुषों का ऐसा ही धैर्य होता है ॥४॥

जब उसकी आयु मात्र छह माह की बाकी रह गयी तब उस पवित्र बुद्धि के धारक अच्युतेन्द्र ने अर्हन्तदेव की पूजा करना प्रारम्भ कर दिया सो ठीक ही है, प्रायः पण्डितजन आत्मकल्याण के अभिलाषी हुआ ही करते हैं ॥५॥

आयु के अन्त समय में उसने अपना चित्त पञ्चपरमेष्ठियों के चरणों में लगाया और उपभोग करने से बाकी बचे हुए पुण्यकर्म से अधिष्ठित होकर वहाँ की आयु समाप्त की ॥६॥

यद्यपि स्वर्गों के देव सदा सुख के अधीन रहते हैं, महाधैर्यवान् और बड़ी-बड़ी ऋद्धियों के धारक होते हैं तथापि वे स्वर्ग से च्युत हो जाते हैं इसलिए संसार की इस स्थिति को धिक्कार हो ॥७॥

तत्पश्चात् वह अच्युतेन्द्र स्वर्ग से च्युत होकर महाकान्तिमान् जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में स्थित पुष्कलावती देश की पुण्डरीकिणी नगरी

में वज्रसेन राजा और श्रीकान्ता रानी के वज्रनाभि नाम का समर्थ पुत्र उत्पन्न हुआ ॥८-९॥

पहले कहे हुए व्याघ्र आदि के जीव वरदत्त आदि भी क्रम से उन्हीं राजा-रानी के विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित नाम के पुत्र हुए ॥१०॥

जिनका वर्णन पहले किया जा चुका है ऐसे मतिवर मन्त्री आदिक जीव जो अधोग्रैवेयक में अहमिन्द्र हुए थे वहाँ से च्युत होकर उन्हीं राजा रानी के सम्पत्तिशाली पुत्र हुए ॥११॥

जो पहले (वज्रजंघ के समय में) मतिवर नाम का बुद्धिमान् मन्त्री था वह अधोग्रैवेयक से च्युत होकर उनके सुबाहु नाम का पुत्र हुआ । आनन्द पुरोहित का जीव महाबाहु नाम का पुत्र हुआ । सेनापति अकम्पन का जीव पीठ नाम का पुत्र हुआ और धनमित्र सेठ का जीव महापीठ नाम का पुत्र हुआ । सो ठीक ही है, जीव पूर्वभव के संस्कारों से ही एक जगह इकट्ठे होते हैं ॥१२-१३॥

श्रीमती का जीव केशव, जो कि अच्युत स्वर्ग में प्रतीन्द्र हुआ था वह भी वहाँ से च्युत होकर इसी नगरी में कुबेरदत्त वणिक् के उसकी स्त्री अनन्तमती से धनदेव नाम का पुत्र हुआ ॥१४॥

अथानन्तर जब वज्रनाभि पूर्ण यौवन अवस्था को प्राप्त हुआ तब उसका शरीर तपाये हुए सुवर्ण के समान अतिशय देदीप्यमान हो उठा और इसीलिए वह प्रातःकाल के सूर्य के समान बड़ा ही सुशोभित होने लगा ॥१५॥

अत्यन्त काले और टेढ़े बालों से उसका शिर ऐसा सुशोभित होता था जैसा कि वर्षा ऋतु के बादलों से ढका हुआ पर्वत का शिखर ॥१६॥ कुण्डलरूपी सूर्य की किरणों के स्पर्श से जिसके कपोलों का पर्यन्त भाग शोभायमान हो रहा है ऐसे मुखरूपी कमल से वह वज्रनाभि फूले हुए कमलों से सुशोभित किसी सरोवर के समान शोभायमान हो रहा था ॥१७॥

उसके ललाटरूपी पर्वत के तट पर दोनों भौंहरूपी लताएँ नेत्रों की किरणोंरूपी पुष्पमंजरियों और ताररूप भ्रमरों से बहुत ही अधिक शोभायमान हो रही थीं ॥१८॥

उसका मुख श्वासोच्छ्वास की सुगन्धि से सहित था, मुसकानरूपी केशर से युक्त था और स्त्रियों के नेत्ररूपी भ्रमरों का आकर्षण करता था इसलिए ठीक कमल के समान जान पड़ता था ॥१९॥

सदा विकसित रहने वाले उसके मुख-कमल पर जनसमूह के नेत्ररूपी भ्रमरों की पंक्ति मानो कान्तिरूपी आसव को पीने के लिए ही सब ओर से आकर झपटती थी और उसका पान कर अत्यन्त तृप्त होती थी ॥२०॥

दोनों नेत्रों के मध्यभाग में रहने वाली उसकी नाक ऐसी मालूम होती थी मानो अपने-अपने क्षेत्र का उल्लंघन न करने के लिए ब्रह्मा ने उनके बीच में सीमा ही बना दी हो ॥२१॥

गले के समीप पड़े हुए हार से वह ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो वक्षःस्थलवासिनी लक्ष्मी का आलिंगन करने वाले मृणालवलय (गोल कमलनाल) से ही शोभायमान हो रहा हो ॥२२॥

पद्मरागमणियों की किरणों से व्याप्त हुआ उसका वक्षःस्थल ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो उदय होते हुए सूर्य की लाल-लाल सघन प्रभा से आच्छादित हुआ मेरु पर्वत का तट ही हो ॥२३॥

वक्षःस्थल के दोनों ओर उसके ऊँचे कन्धे ऐसे जान पड़ते थे मानो लक्ष्मी की क्रीड़ा के लिए अतिशय ऊँचे दो क्रीड़ा-पर्वत ही बनाये गये हों ॥२४॥

हाररूपी तोरण को धारण करने वाली उसकी दोनों भुजाएं वक्षःस्थलरूपी महल के दोनों ओर खड़े किये गये तोरण बाँधने के खम्भों का सन्देह पैदा कर रही थी ॥२५॥

जिसके शरीर का संगठन वज्र के समान मजबूत है ऐसे उस वज्रनाभि की नाभि के बीच में एक अत्यन्त स्पष्ट वज्र का चिह्न दिखाई देता था जो कि आगामी काल में होने वाले साम्राज्य (चक्रवर्तित्व) का मानो चिह्न ही था ॥२६॥

जो रेशमी वस्त्ररूपी तट से शोभायमान था और रतिरूपी हंसी से सेवित था ऐसा उसका कटिप्रदेश किसी सरोवर की शोभा धारण कर रहा था ॥२७॥

उसके अतिशय गोल और चिकने ऊरु, यहाँ-वहाँ फिरने वाले कामदेवरूपी हस्ती को रोकने के लिए बनाये गये अर्गलदण्डों के समान शोभा को प्राप्त हो रहे थे ॥२८॥

घुटनों और पैर के ऊपर की गाठों से मिली हुई उसकी दोनों जङ्घाएँ ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो लोगों को यह उपदेश देने के लिए ही उद्यत हुई हों कि हमारे समान तुम लोग भी सन्धि (मेल) धारण करो ॥२९॥

अँगुलीरूपी पत्तों से सहित और नखरूपी चन्द्रमा की कान्तिरूपी केशर से युक्त उसके दोनों चरण, कमल की शोभा धारण कर रहे थे और इसीलिए लक्ष्मी चिरकाल से उनकी सेवा करती थी ॥३०॥

इस प्रकार लक्ष्मी का आलिंगन करने से अतिशय सुन्दरता को प्राप्त हुआ उसका शरीर अपने में देवाङ्गनाओं की भी रुचि उत्पन्न करता था- देवाङ्गनाएँ भी उसे देखकर कामातुर हो जाती थी ॥३१॥

उसने शास्त्ररूपी सम्पत्ति का अच्छी तरह अभ्यास किया था इसलिए कामज्वर का प्रकोप बढ़ाने वाले यौवन के प्रारम्भ समय में भी उसे कोई मद उत्पन्न नहीं हुआ था ॥३२॥

जो धर्म, अर्थ, काम इन तीनों पुरुषार्थों को सिद्ध करने वाली है, जो बड़े-बड़े फलों को देने वाली हैं और जो लक्ष्मी का आकर्षण करने में समर्थ हैं ऐसी मन्त्रसहित समस्त राजविद्या उसने पढ़ ली थीं ॥३३॥

उस पर लक्ष्मी और सरस्वती दोनों ही अतिशय प्रेम रखती थीं इसलिए चन्द्रमा के समान निर्मल कीर्ति मानो उन दोनों की ईर्ष्या से ही दशों दिशाओं के अन्त तक भाग गयी थीं ॥३४॥

मालूम होता है कि ब्रह्मा ने उसके गुणों की संख्या करने की इच्छा से ही आकाश में ताराओं के समूह के छल से अनेक रेखाएँ बनायी थीं ॥३५॥

उसका वह मनोहर रूप, वह विद्या और वह यौवन, सभी कुछ लोगों को वशीभूत कर लेते थे, सो ठीक ही है। गुणों से कौन वशीभूत नहीं होता ॥३६॥

यहाँ जो वज्रनाभि के गुणों का वर्णन किया है उसी से अन्य राजकुमारों का भी वर्णन समझ लेना चाहिए। क्योंकि जिस प्रकार तारागण कुछ अंशों में चन्द्रमा के गुणों को धारण करते हैं उसी प्रकार वे शेष राजकुमार भी कुछ अंशों में वज्रनाभि के गुण धारण करते थे ॥३७॥

तदनन्तर, इसकी योग्यता जानकर वज्रसेन महाराज ने अपनी सम्पूर्ण राज्यलक्ष्मी इसे ही सौंप दी ॥३८॥

राजा ने अपने ही सामने बड़े ठाटबाट से इसका राज्याभिषेक कराया तथा मन्त्री और मुकुटबद्ध राजाओं के द्वारा उसका पट्टबन्ध कराया ॥३९॥

पट्टबन्ध के समय वह राजसिंहासन पर बैठा हुआ था और अनेक सुन्दर स्त्रियाँ गंगा नदी के तरंगों के समान निर्मल चमर ढोर रही थी ॥४०॥

चमर ढोरती हुई उन स्त्रियों को देखकर मेरा मन यही उत्प्रेक्षा करता है कि वे मानो राज्यलक्ष्मी के संसर्ग से वज्रनाभि पर पड़ने वाली लोकापवादरूपी धूलि को ही दूर करने के लिए उद्यत हुई हों ॥४१॥

उस समय राज्यलक्ष्मी भी उसके वक्षःस्थल पर गाड़ प्रेम करती थी और ऐसी मालूम होती थी मानो पट्टबन्ध के छल से वह उस पर बाँध ही दी गयी हो ॥४२॥

राजाओं में श्रेष्ठ वज्रसेन महाराज ने अनेक राजाओं के साथ अपना मुकुट वज्रनाभि के मस्तक पर रखा था। उस समय वे ऐसे जान पड़ते थे मानो सबकी साक्षीपूर्वक अपना भार ही उतारकर उसे समर्पण कर रहे हों ॥४३॥

उस समय उसका वक्षःस्थल हार से अलंकृत हो रहा था, भुजाएँ बाजूबन्द आदि आभूषणों से सुशोभित हो रही थीं और कमर करधनी तथा रेशमी वस्त्र की पट्टी से शोभायमान हो रही थी ॥४४॥

अत्यन्त कुशल वज्रसेन महाराज ने, जिसका राज्याभिषेक हो चुका है ऐसे वज्रनाभि के लिए तू बड़ा भारी चक्रवर्ती हो इस प्रकार अनेक राजाओं के साथ-साथ आशीर्वाद देकर अपना समस्त राज्यभार सौंप दिया ॥४५॥

तदनन्तर लौकान्तिक देवों ने आकर महाराज वज्रसेन को समझाया जिससे प्रबुद्ध होकर उन्होंने दीक्षा धारण करने में अपनी बुद्धि लगायी ॥४६॥

जिस समय इन्द्र आदि उत्तम-उत्तम देव भगवान् वज्रसेन की यथायोग्य पूजा कर रहे थे उसी समय उन्होंने दीक्षा लेकर मुक्तिरूपी लक्ष्मी को प्रसन्न किया था ॥४७॥

उस समय भगवान् वज्रसेन के साथ-साथ आसवन नाम के बड़े भारी उपवन में एक हजार अन्य राजाओं ने भी दीक्षा ली थी ॥४८॥

इधर राजा वज्रनाभि राज्य को निष्कण्टक कर उसका पालन करता था और उधर योगिराज भगवान् वज्रसेन भी निर्दोष तपस्या करते थे ॥ ४९ ॥

इधर वज्रनाभि राज्यलक्ष्मी के समागम से अतिशय सन्तुष्ट होता था और उधर उसके पिता भगवान् वज्रसेन भी तपोलक्ष्मी के समागम से अत्यन्त प्रसन्न होते थे ॥५०॥

इधर वज्रनाभि को अपने सम्मिलित भाइयों से बड़ा धैर्य (सन्तोष) प्राप्त होता था और उधर भगवान् वज्रसेन मुनि कल्याण करने वाले गुणों से धैर्य (सन्तोष) को विस्तृत करते थे ॥५१॥

इधर वज्रनाभि मंत्रियों के द्वारा राजाओं के समूह को अपने अनुकूल करता था और उधर मुनीन्द्र वज्रसेन भी तप और ध्यान के द्वारा गुणों के समूह का पालन करते थे । पर इधर पुत्र वज्रनाभि अपने राज्याश्रम में स्थित था और उधर पिता भगवान् वज्रसेन अन्तिम मुनि आश्रम में स्थित थे । इस प्रकार वे दोनों ही परोपकार के लिए कमर बांधे हुए थे और दोनों ही प्रजा की रक्षा करते थे । भावार्थ-वज्रनाभि दुष्ट पुरुषों का निग्रह और शिष्ट पुरुषों का अनुग्रह कर प्रजा का पालन करता था और भगवान् वज्रसेन हित का उपदेश देकर प्रजा (जीवों) की रक्षा करते थे ॥५३॥

वज्रनाभि के आयुधगृह में देदीप्यमान चक्ररत्न प्रकट हुआ था और मुनिराज वज्रसेन के मनरूपी गृह में प्रकाशमान तेज का धारक ध्यानरूपी चक्र प्रकट हुआ था ॥५४॥

राजा वज्रनाभि ने उस चक्ररत्न से समस्त पृथ्वी को जीता था और मुनिराज वज्रसेन ने कर्मों की विजय से अनुपम प्रभाव प्राप्त कर तीनों लोकों को जीत लिया था ॥५५॥

इस प्रकार विजय प्राप्त करने से उत्कृष्ट (श्रेष्ठ) वे दोनों ही पिता-पुत्र परस्पर स्पर्धा करते हुए से जान पड़ते थे । किन्तु एक (वज्रनाभि) की विजय अत्यन्त अल्प थी-छह खण्ड तक सीमित थी और दूसरे (वज्रसेन) की विजय संसार-भर को अतिक्रान्त करने वाली थी-सबसे महान् थी ॥५६॥

धनदेव (श्रीमती और केशव का जीव) भी उस चक्रवर्ती की निधियों और रत्नों में शामिल होने वाला तथा राज्य का अङ्गभूत गृहपति नाम का तेजस्वी रत्न हुआ ॥५७॥

इस प्रकार उस बुद्धिमान् और विशाल अभ्युदय के धारक वज्रनाभि चक्रवर्ती ने चिरकाल तक पृथ्वी का उपभोग कर किसी दिन अपने पिता वज्रसेन तीर्थंकर से अत्यन्त दुर्लभ रत्नत्रय का स्वरूप जाना ॥५८॥

जो चतुर पुरुष रसायन के समान सम्यग्दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनों का सेवन करता है वह अचिन्त्य और अविनाशी मोक्षरूपी पद को प्राप्त होता है ॥५९॥

हृदय से ऐसा विचार कर उस चक्रवर्ती ने अपने सम्पूर्ण साम्राज्य को जीर्ण तृण के समान माना और तप धारण करने में बुद्धि लगायी ॥ ६० ॥

उसने वज्रदन्त नाम के अपने पुत्र के लिए राज्य समर्पण कर सोलह हजार मुकुटबद्ध राजाओं, एक हजार पुत्रों, आठ भाइयों और धनदेव के साथ-साथ मोक्ष प्राप्ति के उद्देश्य से पिता वज्रसेन तीर्थंकर के समीप भव्य जीवों के द्वारा आदर करने योग्य जिनदीक्षा धारण की ॥

६१-६२ ॥ जन्म-मरण के दुःखों से दुःखी हुए अन्य अनेक राजा तप करने के लिए उसके साथ वन को गये थे सो ठीक ही है, शीत से पीड़ित हुआ कौन बुद्धिमान् धूप का सेवन नहीं करेगा ? ॥६३॥

महाराज वज्रनाभि ने दीक्षित होकर जीवन पर्यन्त के लिए मन, वचन, काय से हिंसा, झूठ, चोरी, स्त्री-सेवन और परिग्रह से विरति धारण की थी अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँचों महाव्रत धारण किये थे ॥६४॥

व्रतों में स्थिर होकर उसने पाँच महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं, पाँच समितियों और तीन गुप्तियों को भी धारण किया था । ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और प्रतिष्ठापन ये पाँच समितियाँ तथा कायगुप्ति, वचनगुप्ति और मनोगुप्ति ये तीन गुप्तियाँ दोनों मिलाकर आठ प्रवचन मातृकाएँ कहलाती हैं । प्रत्येक मुनि को इनका पालन अवश्य ही करना चाहिए ऐसा इन्द्र सभा (समवसरण) की रक्षा करने वाले गणधरादि देवों ने कहा है ॥६४-६५॥

तदनन्तर उत्कृष्ट तपस्वी धीर, वीर तथा पापरहित मुनियों का चिन्तन करने वाला और सम्यग्दर्शन से युक्त वह चक्रवर्ती एक चर्याव्रत को प्राप्त हुआ अर्थात् एकाकी विहार करने लगा ॥६६॥

इस प्रकार वह चक्रवर्ती एक चर्याव्रत प्राप्त कर किसी पहाड़ी हाथी के समान तालाब और वन की शोभा देखता हुआ चिरकाल तक मन्द गति से (ईर्यासमितिपूर्वक) पृथ्वी पर विहार करता रहा ॥६७॥

तदनन्तर आत्मा के स्वरूप का चिन्तन करने वाले धीर-वीर वज्रनाभि मुनिराज ने अपने पिता वज्रसेन तीर्थकर के निकट उन सोलह भावनाओं का चिन्तन किया जो कि तीर्थकर पद प्राप्त होने में कारण है ॥६८॥

उसने शंकादि दोषरहित शुद्ध सम्यग्दर्शन धारण किया, विनय धारण की, शील और व्रतों के अतिचार दूर किये, निरन्तर ज्ञानमय उपयोग किया, संसार से भय प्राप्त किया ॥६९॥

अपनी शक्ति को नहीं छिपाकर सामर्थ्य के अनुसार तपश्चरण किया, ज्ञान और संयम के साधनभूत त्याग में चित्त लगाया ॥७०॥

साधुओं के व्रत, शील आदि में विघ्न आने पर उनके दूर करने में वह बार-बार सावधान रहता था क्योंकि हितैषी पुरुषों की सम्पूर्ण चेष्टाएं समाधि अर्थात् दूसरों के विघ्न दूर करने के लिए ही होती हैं ॥७१॥

किसी व्रती पुरुष के रोगादि होने पर वह उसे अपने से अभिन्न मानता हुआ उसका वैयावृत्य (सेवा) करता था क्योंकि वैयावृत्य ही तप का हृदय है-सारभूत तत्त्व है ॥७२॥

वह पूज्य अरहन्त भगवान् में अपनी निश्चल भक्ति को विस्तृत करता था, विनयी होकर आचार्यों की भक्ति करता था, तथा अधिक ज्ञानवान् मुनियों की भी सेवा करता था ॥७३॥

वह सच्चे देव के कहे हुए शास्त्रों में भी अपनी उत्कृष्ट भक्ति बढ़ाता रहता था, क्योंकि जो पुरुष प्रवचन भक्ति (शास्त्रभक्ति) से रहित होता है वह बढ़े हुए रागादि शत्रुओं को नहीं जीत सकता है ॥७४॥

वह अवश (अपराधीन) होकर भी वश-पराधीन (पक्ष में जितेन्द्रिय) था और द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा रखनेवाले समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यकों का पूर्ण रूप से पालन करता था ॥७५॥

तप, ज्ञान आदि किरणों को धारण करनेवाला और भव्य जीवरूपी कमलों को विकसित करनेवाला वह मुनिराजरूपी सूर्य सदा जैनमार्ग को प्रकाशित (प्रभावित) करता था ॥७६॥

जैनशास्त्रों के अनुसार चलने वाले शिष्यों को धर्म में स्थिर रखता हुआ और धर्म में प्रेम रखने वाला वह वज्रनाभि सभी धर्मात्मा जीवों पर अधिक प्रेम रखता था ॥७७॥

इस प्रकार महा धीर-वीर मुनिराज वज्रनाभि ने तीर्थकरत्व की प्राप्ति के कारणभूत उक्त सोलह भावनाओं का चिरकाल तक चिन्तन किया था ॥७८॥

तदनन्तर इन भावनाओं का उत्तम रीति से चिन्तन करते हुए उन श्रेष्ठ मुनिराज ने तीन लोक में क्षोभ उत्पन्न करने वाली तीर्थकर नामक महापुण्य प्रकृति का बन्ध किया ॥७९॥

वह निर्मल कोष्ठबुद्धि, बीजबुद्धि, पदानुसारिणी बुद्धि और संभिन्नश्रोतृबुद्धि इन चार ऋद्धियों को भी प्राप्त हुआ था ॥८०॥

जिस प्रकार कोई राजर्षि राजविद्याओं के द्वारा अपने शत्रुओं के समस्त गमनागमन को जान लेता है ठीक उसी प्रकार प्रकाशमान ऋद्धियों के धारक वज्रनाभि मुनिराज ने भी ऊपर कही हुई चार प्रकार की बुद्धि नामक ऋद्धियों के द्वारा अपने परभव-सम्बन्धी गमनागमन को जान लिया था ॥८१॥

वह दीप्त ऋद्धि के प्रभाव से उत्कृष्ट दीप्ति को प्राप्त हुआ था, तप्त ऋद्धि के प्रभाव से उत्कृष्ट तप तपता था, उग्र ऋद्धि के प्रभाव से उग्र तपश्चरण करता था और भयानक कर्मरूप शत्रुओं के मर्म को भेदन करता हुआ घोर ऋद्धि के प्रभाव से घोर तप तपता था ॥८२॥

मन्त्र (परामर्श)-को जानने वाला वह वज्रनाभि जिस प्रकार पहले राज्य-अवस्था में विजय का अभिलाषी होकर परलोक (शत्रुसमूह) को जीतने के लिए तत्पर होता हुआ मन्त्रियों के साथ बैठकर द्वन्द्व (युद्ध) का विचार किया करता था, उसी प्रकार अब मुनि अवस्था में भी पचनमस्कारादि मन्त्रों का जानने वाला, वह वज्रनाभि कर्मरूप शत्रुओं को जीतने का अभिलाषी होकर परलोक नरकादि पर्यायों को, जीतने के लिए तत्पर होता हुआ तपरूपी मन्त्रियों (मन्त्रशास्त्र के जानकार योगियों) के साथ द्वन्द्व (आत्मा और कर्म अथवा राग और द्वेष

आदि) का विचार किया करता था ॥८३॥

उदार आशय को धारण करनेवाला वज्रनाभि केवल गौरवशाली सिद्ध पद की ही इच्छा रखता था । उसे ऋद्धियों की बिलकुल ही इच्छा नहीं थी फिर भी अणिमा, महिमा आदि अनेक गुणोंसहित विक्रिया ऋद्धि उसे प्राप्त हुई थी ॥८४॥

जगत् का हित करने वाली जल्ल आदि औषधि ऋद्धियाँ भी उसे प्राप्त हुई थीं सो ठीक ही है । कल्पवृक्ष पर लगे हुए फल किसका उपकार नहीं करते ? ॥८५॥

यद्यपि उन मुनिराज के घी, दूध आदि रसों के त्याग करने की प्रतिज्ञा थी तथापि घी, दूध आदि को झराने वाली अनेक रस ऋद्धियाँ प्रकट हुई थीं । सो ठीक ही है, इष्ट पदार्थों के त्याग करने से उनसे भी अधिक महाफलों की प्राप्ति होती है ॥८६॥

बल ऋद्धि के प्रभाव से बल प्राप्त होने के कारण वह कठिन-कठिन परीषहों को भी सह लेता था सो ठीक ही है क्योंकि उसके बिना शीत, उष्ण आदि की व्यथा को कौन सह सकता है ? अर्थात् कोई नहीं ॥८७॥

उसे अक्षीण ऋद्धि प्राप्त हुई थी इसीलिए वह जिस दिन जिस घर में भोजन ग्रहण करता था उस दिन उस घर में अन्न अक्षय हो जाता था-चक्रवर्ती के कटक को भोजन कराने पर भी वह भोजन क्षीण नहीं होता था । सो ठीक ही है, वास्तव में तपा हुआ महान् तप अविनाशी फल को फलता ही है ॥८८॥

विशुद्ध भावनाओं को धारण करने वाले वज्रनाभि मुनिराज जब अपने विशुद्ध परिणामों से उत्तरोत्तर विशुद्ध हो रहे थे तब वे उपशम श्रेणी पर आरूढ़ हुए ॥८९॥

वे अधःकरण के बाद आठवें अपूर्वकरण का आश्रय कर नौवें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान को प्राप्त हुए और उसके बाद जहाँ राग अत्यन्त सूक्ष्म रह जाता है ऐसे सूक्ष्म साम्पराय नामक दसवें गुणस्थान को प्राप्त कर उपशान्त मोह नामक ग्यारहवें गुणस्थान को प्राप्त हुए । वहाँ उनका मोहनीय कर्म बिलकुल ही उपशान्त हो गया था ॥९०॥

सम्पूर्ण मोहनीय कर्म का उपशम हो जाने से वहाँ उन्हें अतिशय विशुद्ध औपशमिक चारित्र प्राप्त हुआ ॥९१॥

अन्तर्मुहूर्त के बाद वे मुनि फिर भी स्वस्थान अप्रमत्त नामक सातवें गुणस्थान में स्थित हो गये अर्थात् ग्यारहवें गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त ठहरकर वहाँ से च्युत हो उसी गुणस्थान में आ पहुँचे जहाँ से कि आगे बढ़ना शुरू किया था । उसका खास कारण यह है कि ग्यारहवें गुणस्थान में आत्मा की स्वाभाविक स्थिति अन्तर्मुहूर्त से आगे है ही नहीं ॥९२॥

मुनिराज वज्रनाभि उत्कृष्ट मन्त्र को जानते थे, उत्कृष्ट तप को जानते थे, उत्कृष्ट पूजा को जानते थे और उत्कृष्ट पद (सिद्धपद) को जानते थे ॥९३॥

तत्पश्चात् आयु के अन्त समय में उस बुद्धिमान् वज्रनाभि ने श्रीप्रभनामक ऊँचे पर्वत पर प्रायोपवेशन (प्रायोपगमन नाम का संन्यास) धारण कर शरीर और आहार से ममत्व छोड़ दिया ॥९४॥

चूँकि इस संन्यास में तपस्वी साधु रत्नत्रयरूपी शय्या पर उपविष्ट होता है-बैठता है, इसलिए इसका प्रायोपवेशन नाम सार्थक है ॥९५॥

इस संन्यास में अधिकतर रत्नत्रय की प्राप्ति होती है इसलिए इसे प्रायेणोपगम भी कहते हैं । अथवा इस संन्यास के धारण करने पर अधिकतर कर्मरूपी शत्रुओं का अपगम-नाश-हो जाता है इसलिए इसे प्रायेणापगम भी कहते हैं ॥९६॥

उस विषय के जानकर उत्तम मुनियों ने इस संन्यास का एक नाम प्रायोपगमन भी बतलाया है और उसका अर्थ यह कहा है कि जिसमें प्रायः करके (अधिकतर) संसारी जीवों के रहने योग्य नगर, ग्राम आदि से हटकर किसी वन में जाना पड़े उसे प्रायोपगमन कहते हैं ॥९७॥

इस प्रकार प्रायोपगमन संन्यास धारण कर वज्रनाभि मुनिराज अपने शरीर का न तो स्वयं ही कुछ उपचार करते थे और न किसी दूसरे से ही उपचार कराने की चाह रखते थे । वे तो शरीर से ममत्व छोड़कर उस प्रकार निराकुल हो गये थे जिस प्रकार कि कोई शत्रु के मृतक शरीर को छोड़कर निराकुल हो जाता है ॥९८॥

यद्यपि उस समय उनके शरीर में चमड़ा और हड्डी ही शेष रह गयी थी एवं उनका उदर भी अत्यन्त कृश हो गया था तथापि वे अपने स्वाभाविक धैर्य का अवलम्बन कर बहुत दिन तक निश्चलचित्त होकर बैठे रहे ॥९९॥

मुनि मार्ग से च्युत न होने और कर्मों की विशाल निर्जरा होने की इच्छा करते हुए वज्रनाभि मुनिराज ने क्षुधा, तृष्णा, शीत-उष्ण, दंश-मशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, शय्या, निषद्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, अदर्शन, रोग, तृणस्पर्श, प्रज्ञा, अज्ञान, मल और सत्कार,

पुरस्कार ये बाईस परिषद सहन किये थे ॥१००-१०२॥

बुद्धिमान् मदरहित और विद्वानों में श्रेष्ठ वज्रनाभि मुनि ने उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ये दश धर्म धारण किये थे । वास्तव में ये ऊपर कहे हुए दश धर्म गणधरों को अत्यन्त इष्ट हैं ॥१०३-१०४॥

इनके सिवाय वे प्रति समय बारह अनुप्रेक्षा का चिन्तन करते रहते थे जैसे कि संसार के सुख, आयु, बल और सम्पदाएँ सभी अनित्य हैं । तथा मृत्यु, बुढ़ापा और जन्म का भय उपस्थित होने पर मनुष्यों को कुछ भी शरण नहीं है; द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप विचित्र परिवर्तनों के कारण यह संसार अत्यन्त दुःखरूप है । ज्ञानदर्शन स्वरूप को प्राप्त होने वाला आत्मा सदा अकेला रहता है । शरीर, धन, भाई और स्त्री वगैरह से यह आत्मा सदा पृथक् रहता है । इस शरीर के नव द्वारों से सदा मल झरता रहता है इसलिए यह अपवित्र है । इस जीव के पुण्य पापरूप कर्मों का आस्रव होता रहता है । गुप्ति समिति आदि कारणों से उन कर्मों का संवर होता है । तप से निर्जरा होती है । यह लोक चौदह राजपूमान ऊँचा है । संसाररूपी समुद्र में रत्नत्रय की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है और दयारूपी धर्म से ही जीवों का कल्याण हो सकता है । इस प्रकार तत्त्वों का चिन्तन करते हुए उन्होंने बारह भावनाओं को भाया । उस समय शुभभावों को धारण करने वाले वे मुनिराज लेश्याओं की अतिशय विशुद्धि को धारण कर रहे थे ॥१०५-१०९॥

वे द्वितीय बार उपशम श्रेणी पर आरूढ़ हुए और पृथक्त्ववितर्क नामक शुक्लध्यान को पूर्ण कर उत्कृष्ट समाधि को प्राप्त हुए ॥११०॥

अन्त में उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थान में प्राण छोड़कर सर्वार्थसिद्धि पहुँचे और वहाँ अहमिन्द्र पद को प्राप्त हुए ॥१११॥

यह सर्वार्थसिद्धि नाम का विमान लोक के अन्त भाग से बारह योजन नीचा है । सबसे अग्रभाग में स्थित और सबसे उत्कृष्ट है ॥११२॥

इसकी लम्बाई, चौड़ाई और गोलाई जम्बूद्वीप के बराबर है । यह स्वर्ग के तिरेसठ पटलों के अन्त में चूड़ामणि रत्न के समान स्थित है ॥

११३॥

चूँकि उस विमान में उत्पन्न होने वाले जीवों के सब मनोरथ अनायास ही सिद्ध हो जाते हैं इसलिए वह सर्वार्थसिद्धि इस सार्थक नाम को धारण करता है ॥११४॥

वह विमान बहुत ही ऊँचाई तथा फहराती हुई पताकाओं से शोभायमान है इसलिए ऐसा जान पड़ता है मानो सुख देने की इच्छा से मुनियों को बुला ही रहा हो ॥११५॥

जिस पर अनेक फूल बिखरे हुए हैं ऐसी वहाँ की नीलमणि की बनी हुई भूमि को देखकर देवता लोगों को ताराओं से व्याप्त आकाश का स्मरण हो आता है ॥११६॥

देवों के प्रतिबिम्ब को धारण करने वाली वहाँ की रत्नमयी दीवालें ऐसी जान पड़ती हैं मानो किसी नये स्वर्ग की सृष्टि ही करना चाहती हो ॥ ११७॥

वहाँ पर रत्नों की किरणों ने अन्धकार को दूर भगा दिया है । सो ठीक ही है, वास्तव में निर्मल पदार्थ मलिन पदार्थों के साथ संगति नहीं करते हैं ॥११८॥

उस विमान के चारों ओर रत्नों की किरणों से जो इन्द्रधनुष बन रहा है उससे ऐसा मालूम होता है मानो चारों ओर चमकीला कोट ही बनाया गया हो ॥११९॥

वहाँ पर लटकती हुई सुगन्धित और सुकोमल फूलों की मालाएँ ऐसी सुशोभित होती हैं मानो वहाँ के इन्द्रों के सौमनस्य (फूलों के बने हुए, उत्तम मन) को ही सूचित कर रही हों ॥१२०॥

उस विमान में निरन्तर रूप से लगी हुई मोतियों की मालाएँ ऐसी जान पड़ती हैं मानो दांतों की स्पष्ट किरणों से शोभायमान वहाँ की लक्ष्मी का हास्य ही हो ॥१२१॥

इस प्रकार अकृत्रिम और श्रेष्ठ रचना से शोभायमान रहने वाले उस विमान में उपपाद शय्या पर वह देव क्षण-भर में पूर्ण शरीर को प्राप्त हो गया ॥१२२॥

दोष, धातु और मल के स्पर्श से रहित, सुन्दर लक्षणों से युक्त तथा पूर्ण यौवन अवस्था को प्राप्त हुआ उसका शरीर क्षण-भर में ही प्रकट हो गया था ॥१२३॥

जिसकी शोभा कभी म्लान नहीं होती, जो स्वभाव से ही सुन्दर है और जो नेत्रों को आनन्द देने वाला है ऐसा उसका शरीर ऐसा सुशोभित

होता था मानो अमृत के द्वारा ही बनाया गया हो ॥१२४॥

इस संसार में जो शुभ सुगन्धित और चिकने परमाणु थे, पुण्योदय के कारण उन्हीं परमाणुओं से उसके शरीर की रचना हुई थी ॥१२५॥
पूर्ण होने के बाद उपपाद शय्या पर अपने ही शरीर की कान्तिरूपी चांदनी से घिरा हुआ वह अहमिन्द्र ऐसा सुशोभित होता था जैसा कि आकाश में चाँदनी से घिरा हुआ पूर्ण चन्द्रमा सुशोभित होता है ॥१२६॥

उस उपपाद शय्या पर बैठा हुआ वह दिव्यहंस (अहमिन्द्र) क्षण-भर तक ऐसा शोभायमान होता रहा जैसा कि गंगा नदी के बालू के टीले पर अकेला बैठा हुआ तरुण हंस शोभायमान होता है ॥१२७॥

उत्पन्न होने के बाद वह अहमिन्द्र निकटवर्ती सिंहासन पर आरूढ़ हुआ था । उस समय वह ऐसा शोभायमान होता था जैसा कि अत्यन्त श्रेष्ठ निषध पर्वत के मध्य पर आश्रित हुआ सूर्य शोभायमान होता है ॥१२८॥

वह अहमिन्द्र अपने पुण्यरूपी जल के द्वारा केवल अभिषिक्त ही नहीं हुआ था किन्तु शारीरिक गुणों के समान अनेक अलंकारों के द्वारा अलंकृत भी हुआ था ॥१२९॥

उसने अपने वक्षःस्थल पर केवल फूलों की माला ही धारण नहीं की थी किन्तु जीवनपर्यन्त नष्ट नहीं होने वाली, साथ-साथ उत्पन्न हुई स्वर्ग की लक्ष्मी भी धारण की थी ॥१३०॥

स्नान और विलेपन के बिना ही जिसका शरीर सदा देदीप्यमान रहता है और जो स्वयं साथ-साथ उत्पन्न हुए वस्त्र तथा आभूषणों से शोभायमान है ऐसा वह अहमिन्द्र देवों के मस्तक पर (अग्रभाग में) ऐसा सुशोभित होता था मानो स्वर्गलोक का एक शिखामणि ही हो अथवा सूर्य ही हो क्योंकि शिखामणि अथवा सूर्य भी स्नान और विलेपन के बिना ही देदीप्यमान रहता है और स्वभाव से ही अपनी प्रभा-द्वारा आकाश को भूषित करता रहता है ॥१३१॥

जिसका निर्मल और उत्कृष्ट शरीर शुद्ध स्फटिक के समान अत्यन्त शोभायमान था तथा जिसके मस्तक पर देदीप्यमान मुकुट शोभायमान हो रहा था ऐसा वह अहमिन्द्र, जिसकी शिखा ऊँची उठी हुई है ऐसी पुण्य की राशि के समान सुशोभित होता था ॥१३२॥

वह अहमिन्द्र मुकुट, अनन्त, बाजूबन्द और कुण्डल आदि आभूषणों से सुशोभित था, सुन्दर मालाएं धारण कर रहा था, उत्तम-उत्तम वस्त्रों से युक्त था और स्वयं शोभा से सम्पन्न था इसलिए अनेक आभूषण माला और वस्त्र आदि को धारण करने वाले किसी कल्पवृक्ष के समान जान पड़ता था ॥१३३॥

अणिमा, महिमा आदि गुणों से प्रशंसनीय वैक्रियक शरीर को धारण करने वाला वह अहमिन्द्र जिनेन्द्रदेव की अकृत्रिम प्रतिमाओं की पूजा करता हुआ अपने ही क्षेत्र में विहार करता था ॥१३४॥

और इच्छामात्र से प्राप्त हुए मनोहर गन्ध, अक्षत आदि के द्वारा विधिपूर्वक पुण्य का बंध करने वाली श्री जिनदेव की पूजा करता था ॥ १३५॥

वह अहमिन्द्र पुण्यात्मा जीवों में सबसे प्रधान था इसलिए उसी सर्वार्थसिद्धि विमान में स्थित रहकर ही समस्त लोक के मध्य में वर्तमान जिनप्रतिमाओं की पूजा करता था ॥१३६॥

उस पुण्यात्मा अहमिन्द्र ने अपने वचनों की प्रवृत्ति जिनप्रतिमाओं के स्तवन करने में लगायी थी, अपना मन उनके गुण-चिन्तन करने में लगाया था और अपना शरीर उन्हें नमस्कार करने में लगाया था ॥१३७॥

धर्म गोष्ठियों में बिना बुलाये सम्मिलित होने वाले, अपने ही समान ऋद्धियों को धारण करने वाले और शुभ भावों से युक्त अन्य अहमिन्द्रों के साथ संभाषण करने में उसे बड़ा आदर होता था ॥१३८॥

अतिशय शोभा का धारक वह अहमिन्द्र कभी तो अपने मन्द हास्य के किरणरूपी जल के पुरों से दिशारूपी दीwalों का प्रक्षालन करता हुआ अहमिन्द्रों के साथ तत्त्वचर्चा करता था और कभी अपने निवासस्थान के समीपवर्ती उपवन के सरोवर के किनारे की भूमि में राजहंस पक्षी के समान-अपने इच्छानुसार विहार करता हुआ चिरकाल तक क्रीड़ा करता था ॥१३९-१४०॥

अहमिन्द्रों का परक्षेत्र में विहार नहीं होता क्योंकि शुक्ललेश्या के प्रभाव से अपने ही भोगों-द्वारा सन्तोष को प्राप्त होने वाले अहमिन्द्रों को अपने निरुपद्रव सुखमय स्थान में जो उत्तम प्रीति होती है वह उन्हें अन्यत्र कहीं नहीं प्राप्त होती । यही कारण है कि उनकी परक्षेत्र में क्रीड़ा करने की इच्छा नहीं होती है ॥१४१-१४२॥

'मैं ही इन्द्र हूँ, मेरे सिवाय अन्य कोई इन्द्र नहीं है' इस प्रकार वे अपनी निरन्तर प्रशंसा करते रहते हैं और इसलिए वे उत्तम देव अहमिन्द्र नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त होते हैं ॥१४३॥

उन अहमिन्द्र के न तो परस्पर में असूया है, न परनिन्दा है, न आत्मप्रशंसा है और न ईर्ष्या ही है। वे केवल सुखमय होकर हर्षयुक्त होते हुए निरन्तर क्रीड़ा करते रहते हैं ॥१४४॥

वह वज्रनाभि का जीव अहमिन्द्र अपने आत्मा के अधीन उत्पन्न हुए उत्कृष्ट सुख को धारण करता था, तैत्तीस सागर प्रमाण उसकी आयु थी और स्वयं अतिशय देदीप्यमान था ॥१४५॥

वह समचतुरस्र संस्थान से अत्यन्त सुन्दर, एक हाथ ऊँचे और हंस के समान श्वेत शरीर को धारण करता था ॥१४६॥

वह साथ-साथ उत्पन्न हुए दिव्य वस्त्र, दिव्यमाला और दिव्य आभूषणों से विभूषित जिस मनोहर शरीर को धारण करता था वह ऐसा जान पड़ता था मानो सौन्दर्य का समूह ही हो ॥१४७॥

उस अहमिन्द्र की वेषभूषा तथा विलास-चेष्टाएँ अत्यन्त प्रशान्त थी, ललित (मनोहर) थी, उदात्त (उत्कृष्ट) थीं और धीर थीं। इसके सिवाय वह स्वयं अपने शरीर की फैलती हुई प्रभारूपी क्षीरसागर में सदा निमग्न रहता था ॥१४८॥

जिसने अपने चमकते हुए आभूषणों के प्रकाश से दशों दिशाओं को प्रकाशित कर दिया था ऐसा वह अहमिन्द्र ऐसा जान पड़ता था मानो एकरूपता को प्राप्त हुआ अतिशय प्रकाशमान तेज का समूह ही हो ॥१४९॥

वह विशुद्ध लेश्या का धारक था और अपने शरीर की शुद्ध तथा प्रकाशमान किरणों से दसों दिशाओं को लिप्त करता था, इसलिए सदा सुखी रहने वाला वह अहमिन्द्र ऐसा मालूम होता था मानो अमृतरस के द्वारा ही बनाया गया हो ॥१५०॥

इस प्रकार वह अहमिन्द्र ऐसे उत्कृष्ट पद को प्राप्त हुआ जो इन्द्रादि देवों के भी अगोचर है, परमानन्द देनेवाला है और सबसे श्रेष्ठ है ॥१५१॥

वह अहमिन्द्र तैत्तीस हजार वर्ष व्यतीत होनेपर मानसिक दिव्य आहार ग्रहण करता हुआ धैर्य धारण करता था ॥१५२॥

और सोलह महीने पन्द्रह दिन व्यतीत होने पर श्वासोच्छ्वास ग्रहण करता था। इस प्रकार वह अहमिन्द्र वहाँ (सर्वार्थसिद्धि में) सुखपूर्वक निवास करता था ॥१५३॥

अपने अवधिज्ञानरूपी दीपक के द्वारा त्रसनाडी में रहनेवाले जानने योग्य मूर्तिक द्रव्यों को उनकी पर्यायोंसहित प्रकाशित करता हुआ वह अहमिन्द्र अतिशय शोभायमान होता था ॥१५४॥

उस अहमिन्द्र के अपने अवधिज्ञान के क्षेत्र बराबर विक्रिया करने की भी सामर्थ्य थी, परन्तु वह रागरहित होने के कारण बिना प्रयोजन कभी विक्रिया नहीं करता था ॥१५५॥

उसका मुख कमल के समान था, नेत्र नीलकमल के समान थे, गाल चन्द्रमा के तुल्य थे और अधर बिम्बफल की कान्ति को धारण करता था ॥१५६॥

अभी तक जितना वर्णन किया है उससे भी अधिक सुन्दर और अतिशय चमकीला उसका शरीर ऐसा शोभायमान होता था मानो एक जगह इकट्ठा किया गया सौन्दर्य का सर्वस्व (सार) ही हो ॥१५७॥

छठे गुणस्थानवर्ती मुनियों के आहारक ऋद्धि से उत्पन्न होने वाला और आभूषणों के बिना ही देदीप्यमान रहनेवाला जो आहारक शरीर होता है ठीक उसके समान ही उस अहमिन्द्र का शरीर देदीप्यमान हो रहा था [विशेषता इतनी ही थी कि वह आभूषणों से प्रकाशमान था] ॥१५८॥

जिनेन्द्रदेव ने जिस एकान्त और शान्तरूप सुख का निरूपण किया है मालूम पड़ता है वह सभी सुख उस अहमिन्द्र में जाकर इकट्ठा हुआ था ॥१५९॥

वज्रनाभि के वे विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित, बाहु, सुबाहु, पीठ और महापीठ नाम के आठों भाई तथा विशाल बुद्धि का धारक धनदेव ये नौ जीव भी अपने पुण्य के प्रभाव से उसी सर्वार्थसिद्धि में वज्रनाभि के समान ही अहमिन्द्र हुए ॥१६०॥

इस प्रकार उस सर्वार्थसिद्धि में वे अहमिन्द्र मोक्षतुल्य सुख का अनुभव करते हुए प्रवीचार (मैथुन) के बिना ही चिरकाल तक सुखी रहते थे ॥१६१॥

उन अहमिन्द्र के शुभ कर्म के उदय से जो निर्बाध सुख प्राप्त होता है वह पहले कहे हुए प्रवीचारसहित सुख से अनन्त गुना होता है ॥१६२॥
जब कि संसार में स्त्रीसमागम से ही जीवों को सुख की प्राप्ति होती है तब उन अहमिन्द्रों के स्त्री-समागम न होने पर सुख कैसे हो सकता है ? यदि इस प्रकार कोई प्रश्न करे तो उसके समाधान के लिए इस प्रकार विचार किया जाता है ॥१६३॥

चूँकि इस संसार में जिनेन्द्रदेव ने आकुलतारहित वृत्ति को ही सुख कहा है, इसलिए वह सुख उन सरागी जीवों के कैसे हो सकता है जिनके कि चित्त अनेक प्रकार की आकुलताओं से व्याकुल हो रहे हैं ॥१६४॥

जिस प्रकार चित्त में मोह उत्पन्न करने से, शरीर में शिथिलता लाने से, तृष्णा (प्यास) बढ़ाने से और सन्ताप रूप होने से ज्वर सुखरूप नहीं होता उसी प्रकार चित्त में मोह, शरीर में शिथिलता, लालसा और सन्ताप बढ़ाने का कारण होने से स्त्री-संभोग भी सुख रूप नहीं हो सकता ॥१६५॥

जिस प्रकार कोई रोगी पुरुष कड़वी औषधि का भी सेवन करता है उसी प्रकार कामज्वर से संतप्त हुआ यह प्राणी भी उसे दूर करने की इच्छा से स्त्रीरूप औषधि का सेवन करता है ॥१६६॥

जब कि मनोहर विषयों का सेवन केवल तृष्णा के लिए है न कि सन्तोष के लिए भी, तब तृष्णारूपी ज्वाला से संतप्त हुआ यह जीव सुखी कैसे हो सकता है ? ॥१६७॥

जिस प्रकार, जो औषधि रोग दूर नहीं कर सके वह औषधि नहीं है, जो जल प्यास दूर नहीं कर सके वह जल नहीं है और जो धन आपत्ति को नष्ट नहीं कर सके वह धन नहीं है । इसी प्रकार जो विषयज सुख तृष्णा नष्ट नहीं कर सके वह विषयज (विषयों से उत्पन्न हुआ) सुख नहीं है ॥१६८-१६९॥

स्त्रीसंभोग से उत्पन्न हुआ सुख केवल कामेच्छारूपी रोगों का प्रतिकार मात्र है-उन्हें दूर करने का साधन है । क्या ऐसा मनुष्य भी औषधि सेवन करता है जो रोगरहित है और स्वास्थ्य को प्राप्त है ? भावार्थ-जिस प्रकार रोगरहित स्वस्थ मनुष्य औषधि का सेवन नहीं करता हुआ भी सुखी रहता है उसी प्रकार कामेच्छारहित सन्तोषी अहमिन्द्र स्त्री-संभोग न करता हुआ भी सुखी रहता है ॥१७०॥

विषयों में अनुराग करने वाले जीवों को जो सुख प्राप्त होता है वह उनका स्वास्थ्य नहीं कहा जा सकता है-उसे उत्कृष्ट सुख नहीं कह सकते, क्योंकि वे विषय, सेवन करने से पहले, सेवन करते समय और अन्त में केवल सन्ताप ही देते हैं ॥१७१॥

विद्वान् पुरुष उसी सुख को चाहते हैं जिसमें कि विषयों से मन की निवृत्ति हो जाती है-चित्त सन्तुष्ट हो जाता है, परन्तु ऐसा सुख उन विषयान्ध पुरुषों को कैसे प्राप्त हो सकता है जिनका चित्त सदा विषय प्राप्त करने में ही खेद-खिन्न बना रहता है ॥१७२॥

विषयों का अनुभव करने पर प्राणियों को जो सुख होता है वह पराधीन है, बाधाओं से सहित है व्यवधानसहित है और कर्मबन्धन का कारण है, इसलिए वह सुख नहीं है किन्तु दुःख ही है ॥१७३॥

ये विषय विष के समान अत्यन्त भयंकर हैं जो कि सेवन करते समय ही अच्छे मालूम होते हैं । वास्तव में उन विषयों से उत्पन्न हुआ मनुष्यों का सुख खाज खुजलाने से उत्पन्न हुए सुख के समान है अर्थात् जिस प्रकार खाज खुजलाते समय तो सुख होता है परन्तु बाद में दाह पैदा होने से उलटा दुःख होने लगता है उसी प्रकार इन विषयों के सेवन करने से उस समय तो सुख होता है किन्तु बाद में तृष्णा की वृद्धि होने से दुःख होने लगता है ॥१७४॥

जिस प्रकार जले हुए घाव पर घीसे हुए गीले चन्दन का लेप कुछ थोड़ा-सा आराम उत्पन्न करता है उसी प्रकार विषय-सेवन करने से उत्पन्न हुआ सुख उस समय कुछ थोड़ा-सा सन्तोष उत्पन्न करता है । भावार्थ-जब तक फोड़े के भीतर विकार विद्यमान रहता है तब तक चन्दन आदि का लेप लगाने से स्थायी आराम नहीं हो सकता इसी प्रकार जब तक मन में विषयों की चाह विद्यमान रहती है तब तक विषय-सेवन करने से स्थायी सुख नहीं हो सकता । स्थायी आराम और सुख तो तब प्राप्त हो सकता है जब कि फोड़े के भीतर से विकार और मन के भीतर से विषयों की चाह निकाल दी जाये । अहमिन्द्रों के मन से विषयों की चाह निकल जाती है इसलिए वे सच्चे सुखी होते हैं ॥१७५॥

जिस प्रकार विकारयुक्त घाव होने पर उसे क्षारयुक्त शस्त्र से चीरने आदि का उपक्रम किया जाता है उसी प्रकार विषयों की चाहरूपी रोग उत्पन्न होने पर उसे दूर करने के लिए विषय-सेवन किया जाता है और इस तरह जीवों का यह विषय-सेवन केवल रोगों का प्रतिकार ही ठहरता है ॥१७६॥

यदि इस संसार में प्रिय स्त्रियों के स्तन, योनि आदि अंग के संसर्ग से ही जीवों को सुख होता हो तो वह सुख पक्षी, हरिण आदि तिर्यज्चों

को भी होना चाहिए ॥१७७॥

यदि स्त्रीसेवन करने वाले जीवों को सुख होता हो तो कार्तिक के महीने में जिसकी योनि अतिशय दुर्गन्धयुक्त फोड़ों के समान हो रही है ऐसी कुत्ती को स्वच्छन्दतापूर्वक सेवन करता हुआ कुत्ता भी सुखी होना चाहिए ॥१७८॥

जिस प्रकार नीम के वृक्ष में उत्पन्न हुआ कीड़ा उसके कड़वे रस को पीता हुआ उसे मीठा जानता है उसी प्रकार संसाररूपी विषा में उत्पन्न हुए ये मनुष्यरूपी कीड़े, स्त्री-संभोग से उत्पन्न हुए खेद को ही सुख मानते हुए उसकी प्रशंसा करते हैं और उसी में प्रीति को प्राप्त होते हैं । भावार्थ-जिस प्रकार नीम का कीड़ा नीम के कड़वे रस को आनन्ददायी मानकर उसी में तल्लीन रहता है अथवा जिस प्रकार विषा का कीड़ा उसके दुर्गन्धयुक्त अपवित्र रस को उत्तम समझकर उसी में रहता हुआ आनन्द मानता है उसी प्रकार यह संसारी जीव संभोगजनित दुःख को सुख मानकर उसी में तल्लीन रहता है ॥१७९-१८०॥

विषयों का सेवन करने से प्राणियों को केवल प्रेम ही उत्पन्न होता है । यदि वह प्रेम ही सुख माना जाये तो विषा आदि अपवित्र वस्तुओं के खाने में भी सुख मानना चाहिए क्योंकि विषयी मनुष्य जिस प्रकार प्रेम को पाकर अर्थात् प्रसन्नता से विषयों का उपभोग करते हैं उसी प्रकार कुत्ता और शूकरों का समूह भी तो प्रसन्नता के साथ विषा आदि अपवित्र वस्तुएं खाता है ॥१८१-१८२॥

अथवा जिस प्रकार विषा के कीड़े को विषा के रस का पान करना ही उत्कृष्ट सुख मालूम होता है उसी प्रकार विषय-सेवन की इच्छा करनेवाले जन्तु को भी निन्द्य विषयों का सेवन करना उत्कृष्ट सुख मालूम होता है ॥१८३॥

जो पुरुष, स्त्री आदि विषयों का उपभोग करता है उसका सारा शरीर काँपने लगता है, श्वास तीव्र हो जाती है और सारा शरीर पसीने से तर हो जाता है । यदि संसार में ऐसा जीव भी सुखी माना जाये तो फिर दुःखी कौन होगा ? ॥१८४॥

जिस प्रकार दाँतों से हड्डी चबाता हुआ कुत्ता अपने को सुखी मानता है उसी प्रकार जिसकी आत्मा विषयों से मोहित हो रही है ऐसा मूर्ख प्राणी भी विषय-सेवन करने से उत्पन्न हुए परिश्रम मात्र को ही सुख मानता है । भावार्थ-जिस प्रकार सूखी हड्डी चबाने से कुत्ते को कुछ भी रस की प्राप्ति नहीं होती वह व्यर्थ ही अपने को सुखी मानता है उसी प्रकार विषय-सेवन करने से प्राणी को कुछ भी यथार्थ सुख की प्राप्ति नहीं होती, वह व्यर्थ ही अपने को सुखी मान लेता है । प्राणियों की इस विपरीत मान्यता का कारण विषयों से आत्मा का मोहित हो जाना ही है ॥१८५॥

इसलिए कर्मों के क्षय से अथवा उपशम से जो स्वाभाविक आह्लाद उत्पन्न होता है वही सुख है । वह सुख अन्य वस्तुओं के आश्रय से कभी उत्पन्न नहीं हो सकता ॥१८६॥

अब कदाचित् यह कहो कि स्वर्गों में रहने वाले देवों को परिवार तथा ऋद्धि आदि सामग्री से सुख होता है परन्तु अहमिन्द्रों के वह सामग्री नहीं है इसलिए उसके अभाव में उन्हें सुख कहाँ से प्राप्त हो सकता है ? तो इस प्रश्न के समाधान में हम दो प्रश्न उपस्थित करते हैं । वे ये हैं- जिनके पास परिवार आदि सामग्री विद्यमान है उन्हें उस सामग्री की सत्तामात्र से सुख होता है अथवा उसके उपभोग करने से ॥

१८७-१८८॥

यदि सामग्री की सत्तामात्र से ही आपके सुख मानना इष्ट है तो उस राजा को भी सुखी होना चाहिए जिसे ज्वर चढ़ा हुआ है और अन्तःपुर की स्त्रियाँ, धन, ऋद्धि तथा प्रतापी परिवार आदि सामग्री जिसके समीप ही विद्यमान है ॥१८९॥

कदाचित् यह कहो कि सामग्री के उपभोग से सुख होता है तो उसका उत्तर पहले दिया जा चुका है कि परिवार आदि सामग्री का उपभोग करनेवाला, उसकी सेवा करने वाला पुरुष अत्यन्त श्रम और कलह को प्राप्त होता है अतः ऐसा पुरुष सुखी कैसे हो सकता है? ॥१९०॥ देखो, ये विषय स्वप्न में प्राप्त हुए भोगों के समान अस्थायी और धोखा देनेवाले हैं । इसलिए निरन्तर आर्तध्यान रूप रहने वाले पुरुषों को उन विषयों से सुख कैसे प्राप्त हो सकता है ? भावार्थ-पहले तौ विषय-सामग्री इच्छानुसार सबको प्राप्त होती नहीं है इसलिए उसकी प्राप्ति के लिए निरन्तर आर्तध्यान करना पड़ता है और दूसरे प्राप्त होकर स्वप्न में दिखे हुए भोगों के समान शीघ्र ही नष्ट हो जाती है इसलिए निरन्तर इष्ट वियोगज आर्तध्यान होता रहता है । इस प्रकार विचार करने से मालूम होता है कि विषय-सामग्री सुख का कारण नहीं है ॥१९१॥

प्रथम तो यह जीव विषयों के इकट्ठे करने में बड़े भारी दुःख को प्राप्त होता है और फिर इकट्ठे हो चुकने पर उनकी रक्षा की चिन्ता करता हुआ अत्यन्त दुःखी होता है ॥१९२॥

तदनन्तर इन विषयों के नष्ट हो जाने से अपार दुःख होता है क्योंकि पहले भोगे हुए विषयों का बार-बार स्मरण करके यह प्राणी बहुत ही दुःखी होता है ॥१९३॥

जो अतृप्तिकर हैं, विनाशशील हैं और जिनका सेवन जीवों के सन्ताप को दूर नहीं कर सकता ऐसे इन विषयों को धिक्कार है ॥१९४॥ जिस प्रकार ईधन से अग्नि की तृष्णा नहीं मिटती और नदियों के पूर से समुद्र की तृष्णा दूर नहीं होती उसी प्रकार भोगे हुए विषयों से कभी जीवों की तृष्णा दूर नहीं होती ॥१९५॥

जिस प्रकार मनुष्य खारा पानी पीकर और भी अधिक प्यासा हो जाता है उसी प्रकार यह जीव, विषयों के संभोग से और भी अधिक तृष्णा को प्राप्त हो जाता है ॥१९६॥

अहो, जिनकी आत्मा पंचेन्द्रियों के विषयों के अधीन हो रही है जो विषयरूपी मांस की तीव्र लालसा रखते हैं और जो अचिन्त्य दुःख को प्राप्त हो रहे हैं ऐसे विषयी जीवों को बड़ा भारी दुःख है ॥१९७॥

वनो में बड़े-बड़े जंगली हाथी जो कि अपने झुण्ड के अधिपति होते हैं और अत्यन्त मदोन्मत्त होते हैं वे भी हथिनी के स्पर्श से मोहित होकर गड्ढों में गिरकर दुःखी होते हैं ॥१९८॥

जिसका जल फूले हुए कमलों से अत्यन्त स्वादिष्ट हो रहा है ऐसे तालाब में अपने इच्छानुसार विहार करने वाली मछली वंशी में लगे हुए मांस की अभिलाषा से प्राण खो बैठती है-वंशी में फँसकर मर जाती है ॥१९९॥

मदोन्मत्त हाथियों के मद की वास ग्रहण करने वाला भौंरा गुंजार करता हुआ उन हाथियों के कर्णरूपी बीजनों के प्रहार से मृत्यु का आह्वान करता है ॥२००॥

पतंग वायु से हिलती हुई दीपक की शिखा पर बार-बार पड़ता है जिससे उसके शरीर स्याही के समान काला हो जाता है और वह इच्छा न रखता हुआ भी मृत्यु को प्राप्त हो जाता है ॥२०१॥

इसी प्रकार जो हरिणियाँ जंगल में अपने इच्छानुसार जहाँ-तहाँ घूमती हैं तथा कोमल और स्वादिष्ट तृण के अंकुर चरकर पुष्ट रहती हैं वे भी शिकारी के गीतों में आसक्त होने से मृत्यु को प्राप्त हो जाती हैं ॥२०२॥

इस प्रकार जब सेवन किया हुआ एक-एक इन्द्रिय का विषय अनेक दुःखों से भरा हुआ है तब फिर समस्त रूप से सेवन किये हुए पाँचों ही इन्द्रियों के विषयों का क्या कहना ? ॥२०३॥

जिस प्रकार नदियों के प्रवाह से खींचा हुआ पदार्थ किसी गहरे गड्ढे में पड़कर उसकी भँवरों में फिरा करता है उसी प्रकार इन्द्रियों के विषयों से खींचा हुआ यह जन्तु नरकरूपी गहरे गड्ढे में पड़कर दुःखरूपी भँवरों में फिरा करता है और दुःखी होता रहता है ॥२०४॥

विषयों से ठगा हुआ यह मूर्ख जन्तु पहले तो अधिक धन की इच्छा करता है और उस धन के लिए प्रयत्न करते समय दुःखी होकर अनेक बखेड़ों को प्राप्त होता है । उस समय क्लिष्ट होने से यह भारी दुःखी होता है । यदि कदाचित् मनचाही वस्तुओं की प्राप्ति नहीं हुई तो शोक को प्राप्त होता है । और यदि मनचाही वस्तु की प्राप्ति भी हो गयी तो उतने से सन्तुष्ट नहीं होता जिससे फिर भी उसी दुःख के लिए दौड़ता है ॥२०५-२०६॥

इस प्रकार यह जीव राग-द्वेष से अपनी आत्मा को दूषित कर ऐसे कर्मों का बन्ध करता है जो बड़ी कठिनाई से छूटते हैं और जिस कर्मजन्य के कारण यह जीव परलोक में अत्यन्त दुःखी होता है ॥२०७॥

इस कर्मबन्ध के कारण ही यह जीव नरकादि दुर्गति में दुःखमय स्थिति को प्राप्त होता है और वहाँ चिरकाल तक अतिशय निन्दनीय बड़े-बड़े दुःख पाता रहता है ॥२०८॥

वहाँ दुःखी होकर यह जीव फिर भी विषयों की इच्छा करता है और उनके प्राप्त होने में तीव्र लालसा रखता हुआ अनेक दुष्कर्म करता है जिससे दुःख देने वाले कर्मों का फिर भी बन्ध करता है । इस प्रकार दुःखी होकर फिर भी विषयों की इच्छा करता है, उसके लिए दुष्कर्म करता है, छोटे कर्मों का बन्ध करता है और उनके उदय से दुःख भोगता है । इस प्रकार चक्रक रूप से परिभ्रमण करता हुआ जीव अत्यन्त दुःख से तैरने योग्य संसाररूपी अपार समुद्र में पड़ता है ॥२०९-२१०॥

इसलिए इस समस्त अनर्थ-परम्परा को विषयों से उत्पन्न हुआ मानकर तीव्र दुःख देने वाले विषयों में प्रीति का परित्याग कर देना चाहिए ॥ २११॥

जब कि स्त्रीवेद, पुरुष-वेद और नपुंसकवेद इन तीनों ही वेदों के सन्ताप-क्रम से सूखे हुए कण्डे की अग्नि और ईंटों के अँवा की अग्नि तृण की अग्नि के समान माने जाते हैं तब उन वेदों को धारण करने वाला जीव सुखी कैसे हो सकता है ॥२१२॥

इसलिए हे श्रेणिक, तू निश्चय कर कि अहमिन्द्र देवों का जो प्रवीचाररहित दिव्य सुख है वह विषयजन्य सुख से कहीं अधिक है ॥२१३॥ इस उपर्युक्त कथन से सिद्धों के उस सुख का भी कथन हो जाता है जो कि विषयों से रहित है, प्रमाणरहित है, अन्तररहित है, उपमारहित है और केवल आत्मा से ही उत्पन्न होता है ॥२१४॥

जो स्वर्गलोक और मनुष्यलोक सम्बन्धी तीनों कालों का इकट्ठा किया हुआ सुख है वह सिद्ध परमेष्ठी के एक क्षण के सुख के बराबर भी नहीं है ॥२१५॥

सिद्धों का वह सुख केवल आत्मा से ही उत्पन्न होता है, बाधारहित है, कर्मों के क्षय से उत्पन्न होता है, परम आह्लाद रूप है, अनुपम है और सबसे श्रेष्ठ है ॥२१६॥

जो सिद्ध परमेष्ठी सब परिग्रहों से रहित हैं, शान्त हैं और उत्कण्ठा से रहित हैं जब वे भी सुखी माने जाते हैं तब अहमिन्द्र पद में तो सुख अपने-आप ही सिद्ध हो जाता है । भावार्थ-जिसके परिग्रह का एक अंश मात्र भी नहीं है ऐसे सिद्ध भगवान् ही जब सुखी कहलाते हैं तब जिनके शरीर अथवा अन्य अल्प परिग्रह विद्यमान हैं ऐसे अहमिन्द्र भी अपेक्षाकृत सुखी क्यों न कहलाये ? ॥२१७॥

जिनके पुण्य का फल प्रकट हुआ है ऐसे स्वर्गलोक से आगे सर्वार्थसिद्धि के रहने वाले उन वज्रनाभि आदि अहमिन्द्रों को जो सुख प्राप्त हुआ था वह ऐसा जान पड़ता था मानो मोक्ष का सुख ही उनके सम्मुख प्राप्त हुआ हो क्योंकि जिस प्रकार मोक्ष का सुख अतिशयरहित, उदार, प्रवीचाररहित, दिव्य (उत्तम) और स्वभाव से ही मनोहर रहता है उसी प्रकार उन अहमिन्द्रों का सुख भी अतिशयरहित, उदार, प्रवीचाररहित, दिव्य (स्वर्गसम्बन्धी) और स्वभाव से ही मनोहर था ॥ भावार्थ-मोक्ष के सुख और अहमिन्द्र अवस्था के सुख में भारी अन्तर रहता है तथापि यहां श्रेष्ठता दिखाने के लिए अहमिन्द्र के सुख में मोक्ष के सुख का सादृश्य बताया है ॥२१८॥

इस संसार में जीवों को सुख-दुःख होते हैं वे दोनों ही अपने-अपने कर्मबन्ध के अनुसार हुआ करते हैं ऐसा श्री अरहन्त देव ने कहा है । वह कर्म पुण्य और पाप के भेद से दो प्रकार का कहा गया है । जिस प्रकार खाये हुए एक ही अन्न का मधुर और कटुक रूप से दो प्रकार का विपाक देखा जाता है उसी प्रकार उन पुण्य और पापरूपी कर्मों का भी क्रम से मधुर (सुखदायी) और कटुक (दुःखदायी) विपाकफल-देखा जाता है ॥२१९॥

पुण्यकर्मों का उत्कृष्ट फल सर्वार्थसिद्धि में और पापकर्मों का उत्कृष्ट फल सप्तम पृथिवी के नारकियों के जानना चाहिए । पुण्य का उत्कृष्ट फल परिणामों को शान्त रखने, इन्द्रियों का दमन करने और निर्दोष चारित्र पालन करने से पुण्यात्मा जीवों को प्राप्त होता है और पाप का उत्कृष्ट फल परिणामों को शान्त नहीं रखने, इन्द्रियों का दमन नहीं करने तथा निर्दोष चारित्र पालन नहीं करने से पापी जीवों को प्राप्त होता है ॥२२०॥

जिस प्रकार बहुत ही शीघ्र जिनेन्द्र लक्ष्मी (तीर्थकर पद) प्राप्त करने वाले इस वज्रनाभि ने शम, दम और यम (चारित्र) की विशुद्धि के लिए आलस्यरहित होकर श्री जिनेन्द्रदेव की कल्याण करने वाली आज्ञा का चिन्तन किया था उसी प्रकार अनुपम सुख से अभिलाषी दुःख के भार को छोड़ने की इच्छा करने वाले, बुद्धिमान् विद्वान् पुरुषों को भी शम, दम, यम की विशुद्धि के लिए आलस्य (प्रमाद) रहित होकर कल्याण करने वाली श्री जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का चिन्तन करना चाहिए-दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह भावनाओं का चिन्तन करना चाहिए ॥२२१॥

इस प्रकार आर्ष नाम से प्रसिद्ध श्री भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रह में श्री भगवान् वज्रनाभि के सर्वार्थसिद्धिगमन का वर्णन करने वाला ग्यारहवां पर्व समाप्त हुआ ॥११॥

पर्व-12 -- भगवान का स्वर्गावतरण

पर्व-12 -- भगवान का स्वर्गावतरण

कथा :

अनन्तर गौतम स्वामी कहने लगे कि जब वह वज्रनाभि का जीव अहमिन्द्रों, स्वर्गलोक से पृथ्वी पर अवतार लेने के सम्मुख हुआ तब इस संसार में जो वृत्तान्त हुआ था अब मैं उसे ही कहूँगा । आप लोग ध्यान देकर सुनिए ॥१॥

इसी बीच में मुनियों ने नम्र होकर पुराण के अर्थ जानने वाले और वक्ताओं में श्रेष्ठ श्री गौतम गणधर से प्रश्न किया ॥२॥

कि हे भगवन् जब इस भारतवर्ष में भोगभूमि की स्थिति नष्ट हो गयी थी और क्रम-क्रम से कर्मभूमि की व्यवस्था फैल चुकी थी उस समय जो कुलकरों की उत्पत्ति हुई थी उसका वर्णन आप पहले ही कर चुके हैं । उन कुलकरों में अन्तिम कुलकर नाभिराज हुए थे जो कि समस्त क्षत्रिय-समूह के अगुआ (प्रधान) थे । उन नाभिराज ने धर्मरूपी सृष्टि के सूत्रधार, महाबुद्धिमान् और इक्ष्वाकु कुल सर्वश्रेष्ठ भगवान् ऋषभदेव को किस आश्रम में उत्पन्न किया था उनके स्वर्गावतार आदि कल्याणकों का ऐश्वर्य कैसा था ? आपके अनुग्रह से हम लोग यह सब जानना चाहते हैं ॥३-६॥

इस प्रकार जब उन मुनियों का प्रश्न समाप्त हो चुका तब गणनायक गौतम स्वामी अपने दाँतों की निर्मल किरणों के द्वारा मुनिजनों को पापरहित करते हुए बोले ॥७॥

कि हम पहले जिस कालसन्धि का वर्णन कर चुके हैं उस कालसन्धि (भोगभूमि का अन्त और कर्मभूमि का प्रारम्भ होने) के समय इसी जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में विजयार्थ पर्वत से दक्षिण की ओर मध्यम-आर्य खण्ड में नाभिराज हुए थे । वे नाभिराज चौदह कुलकरों में अन्तिम कुलकर होने पर भी सबसे अग्रिम (पहले) थे (पक्ष में सबसे श्रेष्ठ थे) । उनकी आयु, शरीर की ऊँचाई, रूप, सौन्दर्य और विलास आदि का वर्णन पहले किया जा चुका है ॥८-९॥

देदीप्यमान मुकुट से शोभायमान और महाकान्ति के धारण करने वाले वे नाभिराज आगामी काल में होने वाले राजाओं के बन्धु थे और अपने गुणरूपी किरणों से लोक में सूर्य के समान शोभायमान हो रहे थे ॥१०॥

वे चन्द्रमा के समान कलाओं (अनेक विद्याओं) के आधार थे, सूर्य के समान तेजस्वी थे, इन्द्र के समान ऐश्वर्यशाली थे और कल्पवृक्ष के समान मनचाहे फल देने वाले थे ॥११॥

उन नाभिराज के मरुदेवी नाम की रानी थी जो कि अपने रूप, सौन्दर्य, कान्ति, शोभा, बुद्धि, द्युति और विभूति आदि गुणों से इन्द्राणी देवी के समान थी ॥१२॥

वह अपनी कान्ति से चन्द्रमा की कला के समान सब लोगों को आनन्द देने वाली थी और ऐसी मालूम होती थी मानो स्वर्ग की स्त्रियों के रूप का सार इकट्ठा करके ही बनायी गयी हो ॥१३॥

उसका शरीर कृश था, ओठ पके हुए बिम्बफल के समान थे, भौंहें अच्छी थीं और स्तन भी मनोहर थे । उन सबसे वह ऐसी जान पड़ती थी मानो कामदेव ने जगत् को जीतने के लिए पताका ही दिखायी हो ॥१४॥

ऐसा मालूम होता है कि किसी चतुर विद्वान् ने उसके रूप की सुन्दरता, उसके हाव, भाव और विलास का अच्छी तरह विचार करके ही नाट्यशास्त्र की रचना की हो । भावार्थ-नाट्यशास्त्र में जिन हाव, भाव और विलास का वर्णन किया गया है वह मानो मरुदेवी के हाव, भाव और विलास को देखकर ही किया गया है ॥१५॥

मालूम होता है कि संगीतशास्त्र की रचना करने वाले विद्वान् ने मरुदेवी की मधुर वाणी में ही संगीत के निषाद, ऋषभ, गान्धार आदि समस्त स्वरों का विचार कर लिया था । इसीलिए तो वह जगत् में प्रसिद्ध हुआ है ॥१६॥

उस मरुदेवी ने अन्य स्त्रियों के सौन्दर्यरूपी सर्वस्व धन का अपहरण कर उन्हें दरिद्र बना दिया था, इसलिए स्पष्ट ही मालूम होता था कि उसने किसी दुष्ट राजा की प्रवृत्ति का अनुसरण किया था क्योंकि दुष्ट राजा भी तो प्रजा का धन अपहरण कर उसे दरिद्र बना देता है ॥१७॥

वह चतुर मरुदेवी अपने दोनों चरणों में अनेक सामुद्रिक लक्षण धारण किये हुए थी । मालूम होता है कि उन लक्षणों को ही उदाहरण मानकर कवियों ने अन्य स्त्रियों के लक्षणों का निरूपण किया है ॥१८॥

उसके दोनों ही चरण कोमल अँगुलियोंरूपी दलों से सहित थे और नखों की किरणरूपी देदीप्यमान केशर से सुशोभित थे इसलिए कमल के समान जान पड़ते थे और दोनों ही साक्षात् लक्ष्मी (शोभा) को धारण कर रहे थे ॥१९॥

मालूम होता है कि मरुदेवी के चरणों ने लाल कमलों को जीत लिया इसीलिए तो वे सन्तुष्ट होकर नखों की किरणरूपी मंजरी के छल से कुछ-कुछ हँस रहे थे ॥२०॥

उसके दोनों चरण नखों के द्वारा कुरबक जाति के वृक्षों को जीतकर भी सन्तुष्ट नहीं हुए थे इसीलिए उन्होंने अपनी गति से हंसिनी की गति के विलास को भी जीत लिया था ॥२१॥

सुन्दर भौंहों वाली उस मरुदेवी के दोनों चरण मणिमय नूपुरों की झंकार से सदा शब्दायमान रहते थे इसलिए गुंजार करते हुए भ्रमरों से सहित कमलों के समान सुशोभित होते थे ॥२२॥

उसके दोनों चरण किसी विजिगीषु (शत्रु को जीतने की इच्छा करने वाले) राजा की शोभा धारण कर रहे थे, क्योंकि जिस प्रकार राजा सन्धिवार्ता को गुप्त रखता है अर्थात् युद्ध करते हुए भी मन में सन्धि करने की भावना रखता है, पार्ष्णि (पीछे से सहायता करने वाली) सेना से युक्त होता है, शत्रु के प्रति यान (युद्ध के लिए प्रस्थान करता है) और आसन (परिस्थितिबश अपने ही स्थान पर चुपचाप रहना) गुण से सहित होता है उसी प्रकार उसके चरण भी गाँठों की सन्धियाँ गुप्त रखते थे अर्थात् पुष्टकाय होने के कारण गाँठों की सन्धियाँ मांसपिण्ड में विलीन थीं इसलिए बाहर नहीं दिखती थीं, पार्ष्णि (एड़ी) से युक्त थे, मनोहर यान (गमन) करते और सुन्दर आसन (बैठना आदि से) सहित थे । इसके सिवाय जैसे विजिगीषु राजा अन्य शत्रु राजाओं को जीतना चाहता है वैसे ही उसके चरण भी अन्य स्त्रियों के चरणों की शोभा जीतना चाहते थे ॥२३॥

उसकी दोनों जंघाओं में जो शोभा थी वह अन्यत्र कहीं नहीं थी । उन दोनों की उपमा परस्पर ही दी जाती थी अर्थात् उसकी वाम जंघा उसकी दक्षिण जंघा के समान थी और दक्षिण जंघा वाम जंघा के समान थी । इसलिए ही उन दोनों का वर्णन अन्य किसी की उपमा देकर नहीं किया जा सकता था ॥२४॥

अत्यन्त मनोहर और परस्पर में एक दूसरे से मिले हुए उसके दोनों घुटने ही क्या जगत् को जीतने के लिए समर्थ है इस चिन्ता से कोई लाभ नहीं था क्योंकि वे अपने सौन्दर्य से जगत् को जीत ही रहे थे ॥२५॥

उसके दोनों ही ऊरु उत्कृष्ट शोभा के धारक थे, सुन्दर थे, मनोहर थे और सुख देनेवाले थे, जिससे ऐसा मालूम पड़ता था मानो देवांगनाओं के साथ स्पर्धा करके ही उसने ऐसे सुन्दर ऊरु धारण किये हो ॥२६॥

मैं ऐसा मानता हूँ कि अभी तक संसार में जो 'वामोरु' (मनोहर ऊरु वाली) शब्द प्रसिद्ध था उसे उस मरुदेवी ने अन्य प्रकार से अपने स्वाधीन करने के लिए ही मानो अन्य स्त्रियों के विजय करने में अपने दोनों ऊरुओं को वामवृत्ति (शत्रु के समान बरताव करने वाले) कर लिया था । भावार्थ-कोशकारों ने स्त्रियों का एक नाम 'वामोरु' भी लिखा है जिसका अर्थ होता है सुन्दर ऊरु वाली स्त्री । परन्तु मरुदेवी ने 'वामोरु' शब्द को अन्य प्रकार से (दूसरे अर्थ से) अपनाया था । वह 'वामोरु' शब्द का अर्थ करती थी 'जिसके ऊरु शत्रुभूत हों ऐसी स्त्री' । मानो उसने अपनी उक्त मान्यता को सफल बनाने के लिए ही अपने ऊरुओं को अन्य स्त्रियों के ऊरुओं के सामने वामवृत्ति अर्थात् अनुरूप बना लिया था । संक्षेप में भाव यह है कि उसने अपने ऊरुओं की शोभा से अन्य स्त्रियों को पराजित कर दिया था ॥२७॥

इसमें कोई सन्देह नहीं कि कामदेव ने मरुदेवी के स्थूल नितम्बमण्डल को ही अपना स्थान बनाकर इतने बड़े विस्तृत संसार को पराजित किया था ॥२८॥

करधनीरूपी कोट से घिरा हुआ उसका कटिमण्डल ऐसा मालूम होता था मानो जगत्-भर में विप्लव करने वाले कामदेव का किला ही हो ॥ २९॥

जिस प्रकार चन्दन की लता, जिसकी काँचली निकल गयी है ऐसे सर्प को धारण करती है उसी प्रकार वह मरुदेवी भी शोभायमान अधोवस्त्र से सटी हुई करधनी को धारण कर रही थी ॥३०॥

उस मरुदेवी के कृश उदरभाग पर अत्यन्त काली रोमों की पंक्ति ऐसी सुशोभित होती थी मानो इन्द्रनील मणि की बनी हुई कामदेव की आलम्बनयष्टि (सहारा लेने की लकड़ी) ही हो ॥३१॥

जिस प्रकार शरदऋतु की नदी भँवर से युक्त और पतली-पतली लहरों से सुशोभित प्रवाह को धारण करती है उसी प्रकार वह मरुदेवी की भी त्रिवलि से युक्त और गम्भीर नाभि से शोभायमान, अपने शरीर के मध्यभाग को धारण करती थी ॥३२॥

उसके अतिशय ऊँचे और विशाल स्तन ऐसे शोभायमान होते थे मानो तारुण्य-लक्ष्मी की क्रीड़ा के लिए बनाये हुए दो क्रीडाचल ही हों ॥ ३३॥

जिस प्रकार आकाशगंगा लहरों में रुके हुए दो चक्रवाक पक्षियों को धारण करती है उसी प्रकार वह मरुदेवी जिन पर केशर लगी हुई है और जो वस्त्र से ढके हुए हैं ऐसे दोनों स्तनों को धारण कर रही थी ॥३४॥

जिसके स्तनों के मध्य भाग में हार की सफेद-सफेद किरणें लग रही थीं ऐसी वह मरुदेवी उस कमलिनी की तरह सुशोभित हो रही थी

जिसके कि कमलों की बोड़ियों के समीप सफेद-सफेद फेन लग रहा है ॥३५॥

सूक्ष्म रेखाओं से उसका शोभायमान कंठ बहुत ही सुशोभित हो रहा था और ऐसा जान पड़ता था मानो विधाता ने अपना निर्माण सम्बन्धी कौशल दिखाने के लिए ही सूक्ष्म रेखाएं उकेरकर उसकी रचना की हो ॥३६॥

जिसके गले में रत्नमय हार लटक रहा है ऐसी वह मरुदेवी पर्वत की उस शिखर के समान शोभायमान होती थी जिस पर कि ऊपर से पहाड़ी नदी के जल का प्रवाह पड़ रहा हो ॥३७॥

शिरीष के फूल के समान अतिशय कोमल अंगों वाली उस मरुदेवी की मणियों के आभूषणों से सुशोभित दोनों भुजाएं, ऐसी भली जान पड़ती थीं मानो मणियों के आभूषणों से सहित कल्पवृक्ष की दो मुख्य शाखाएं ही हों ॥३८॥

उसकी दोनों कोमल भुजाएँ लताओं के समान थीं और वे नखों की शोभायमान किरणों के बहाने हस्तरूपी पल्लवों के पास लगी हुई पुष्पमंजरियाँ धारण कर रही थी ॥३९॥

अशोक वृक्ष के किसलय के समान लाल-लाल हस्तरूपी पल्लवों को धारण करती हुई वह मरुदेवी ऐसी जान पड़ती थी मानो हाथों में इकट्ठे हुए अपने मन के समस्त अनुराग को ही धारण कर रही हो ॥४०॥

जिस प्रकार हंसिनी कुछ नीचे की ओर ढले हुए पंखों के मूल भाग को धारण करती है उसी प्रकार वह मरुदेवी कुछ नीचे की ओर झुके हुए दोनों कन्धों को धारण कर रही थी, उसके वे झुके हुए कन्धे ऐसे मालूम होते थे मानो लटकते हुए केशों का भार धारण करने के कारण खेद-खिन्न होकर ही नीचे की ओर झुक गये हों ॥४१॥

उस कमलनयनी का मुख चन्द्रमण्डल की हंसी उड़ा रहा था क्योंकि उसका मुख सदा कलाओं से सहित रहता था और चन्द्रमा का मण्डल एक पूर्णिमा को छोड़कर बाकी दिनों में कलाओं से रहित होने लगता है, उसका मुख कलंक-रहित था और चन्द्रमण्डल कलंक से सहित था ॥४२॥

चन्द्रमा की शोभा दिन में चन्द्रमा के नष्ट हो जाने के कारण वैधव्य दोष से दूषित हो जाती है और कमलिनी कीचड़ से दूषित रहती हैं इसलिए सदा उज्ज्वल रहने वाले उसके मुख की शोभा की तुलना किस पदार्थ से की जाये ? तुम्हीं कहो ॥४३॥

उसके मन्दहास्य की किरणों से सहित दोनों ओठों की लाली जल के कणों से व्याप्त मूंगा की भी शोभा जीत रही थी ॥४४॥

उत्तम कण्ठ वाली उस मरुदेवी के कण्ठ का राग (स्वर) संगीत की गोष्ठियों में ऐसा प्रसिद्ध था मानो कामदेव के खींचे हुए धनुष की डोरी का शब्द ही हो ॥४५॥

उसके दोनों ही कपोल अपने में प्रतिबिम्बित हुए काले केशों को धारण कर रहे थे सो ठीक ही है शुद्धि को प्राप्त हुए पदार्थ शरण में आये हुए मलिन पदार्थों पर भी अनुग्रह करते हैं-उन्हें स्वीकार करते हैं ॥४६॥

लम्बा और मुख के सम्मुख स्थित हुआ उसकी नासिका का अग्रभाग ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो उसके श्वास की सुगन्धि को सूँघने के लिए ही उद्यत हो ॥४७॥

उसके नयन-कमलों की कान्ति कान के समीप तक पहुँच गयी थी जिससे ऐसी जान पड़ती थी मानो दोनों ही नयन-कमल परस्पर की स्पर्धा से एक दूसरे की चुगली करना चाहते हों ॥४८॥

यद्यपि उसके दोनों कान शास्त्र श्रवण करने से अलंकृत थे तथापि सरस्वती देवी की पूजा के पुष्पों के समान कर्णभूषण पहनाकर फिर भी अलंकृत किये गये थे ॥४९॥

अष्टमी के चन्द्रमा के समान सुन्दर उसका ललाट अतिशय देदीप्यमान हो रहा था और ऐसा मालूम पड़ता था मानो कामदेव की लक्ष्मीरूपी स्त्री का मनोहर दर्पण ही हो ॥५०॥

उसके अत्यन्त काले केश मुखकमल पर इकट्ठे हुए भौरों के समान जान पड़ते थे और उसकी भौंहों ने कामदेव की डोरीसहित धनुष-लता को भी जीत लिया था ॥५१॥

उसके अतिशय काले, टेढ़े और लम्बे केशों का समूह ऐसा शोभायमान होता था मानो मुखरूपी चन्द्रमा को ग्रसने के लोभ से राहु ही आया हो ॥५२॥

वह मरुदेवी चलते समय कुछ-कुछ ढीली हुई अपनी चोटी से नीचे गिरते हुए फूलों के समूह से पृथ्वी को उपहार सहित करती थी ॥५३॥

इस प्रकार जिसके प्रत्येक अंग उपांग की रचना सुन्दर है ऐसा उसका सुदृढ़ शरीर ऐसा अच्छा जान पड़ता था मानो विधाता ने स्त्रियों की सृष्टि करने के लिए एक सुन्दर प्रतिबिम्ब ही बनाया हो ॥५४॥

संसार में जो स्त्रियाँ अतिशय यश वाली, दीर्घ आयु वाली, उत्तम सन्तान वाली, मंगलरूपिणी और उत्तम पति वाली थी वे सब मरुदेवी से पीछे थीं, अर्थात् मरुदेवी उन सबमें मुख्य थी ॥५५॥

वह गुणरूपी रत्नों की खान थी, पुण्यरूपी सम्पत्तियों की पृथिवी थी, पवित्र सरस्वती देवी थी और बिना पढ़े ही पण्डिता थी ॥५६॥

वह सौभाग्य की परम सीमा थी, सुन्दरता की उत्कृष्ट पुष्टि थी, मित्रता की परम प्रीति थी और सज्जनता की उत्कृष्ट गति (आश्रय) थी ॥ ५७॥

वह कामशास्त्र की सजेता थी, कलाशास्त्ररूपी नदी का प्रवाह थी, कीर्ति का उत्पत्तिस्थान थीं और पातिव्रत्य धर्म की परम सीमा थी ॥५८॥

उस मरुदेवी के विवाह के समय इन्द्र के द्वारा प्रेरित हुए उत्तम देवों ने बड़ी विभूति के साथ उसका विवाहोत्सव किया था ॥५९॥

पुण्यरूपी सम्पत्ति उसके मातृभाव को प्राप्त हुई थी, लज्जा सखी अवस्था को प्राप्त हुई थी और अनेक गुण उसके परिजनो के समान थे । भावार्थ-पुण्यरूपी सम्पत्ति ही उसकी माता थी, लज्जा ही उसकी सखी थी और दया, उदारता आदि गुण ही उसके परिवार के लोग थे ॥ ६०॥

रूप प्रभाव और विज्ञान आदि के द्वारा वह बहुत ही प्रसिद्धि को प्राप्त हुई थी तथा अपने स्वामी नाभिराज के मनरूपी हाथी को बाँधने के लिए खम्भे के समान मालूम पड़ती थी ॥६१॥

उसके मुखरूपी चन्द्रमा की मुसकानरूपी चाँदनी, नेत्रों के उत्सव को बढ़ाती हुई अपने पति नाभिराज के मनरूपी समुद्र के क्षोभ को हर समय विस्तृत करती रहती थी ॥६२॥

महाराज नाभिराज रूप और लावण्यरूपी सम्पदा के द्वारा उसे साक्षात् लक्ष्मी के समान मानते थे और उसके विषय में अपने उत्कृष्ट सन्तोष को उस तरह विस्तृत करते रहते थे जिस तरह कि निर्मल बुद्धि के विषय में मुनि अपना उत्कृष्ट सन्तोष विस्तृत करते रहते हैं ॥६३॥

वह परिहास के समय कुवचन बोलकर पति के मर्म-स्थान को कष्ट नहीं पहुंचाती थी और सम्भोग-काल में सदा उनके अनुकूल-प्रवृत्ति करती थी इसलिए वह अपने पति नाभिराज के परिहार और लेह के विषय में मन्त्रिणी का काम करती थी ॥६४॥

वह मरुदेवी नाभिराज को प्राणों से भी अधिक प्यारी थी, वे उससे उतना ही स्नेह करते थे जितना कि इन्द्र इन्द्राणी से करता है ॥६५॥

अतिशय शोभायुक्त महाराज नाभिराज देदीप्यमान वस्त्र और आभूषणों से सुशोभित उस मरुदेवी से आलिंगित शरीर होकर ऐसे शोभायमान होते थे जैसे देदीप्यमान वस्त्र और आभूषणों को धारण करने वाली कल्पलता से वेष्टित हुआ (लिपटा हुआ) कल्पवृक्ष ही हो ॥ ६६॥

संसार में महाराज नाभिराज ही सबसे अधिक पुण्यवान् थे और मरुदेवी ही सबसे अधिक पुण्यवती थी । क्योंकि जिनके, स्वयम्भू भगवान् वृषभदेव पुत्र होंगे उनके समान और कौन हो सकता है ? ॥६७॥

उस समय भोगोपभोगों में अतिशय तल्लीनता को प्राप्त हुए वे दोनों दम्पती ऐसे जान पड़ते थे मानो भोगभूमि की नष्ट हुई लक्ष्मी को ही साक्षात् दिखला रहे हों ॥६८॥

मरुदेवी और नाभिराज से अलंकृत पवित्र स्थान में जब कल्पवृक्षों का अभाव हो गया तब वहाँ उनके पुण्य के द्वारा बार-बार बुलाये हुए इन्द्र ने एक नगरी की रचना की ॥६९॥

इन्द्र की आज्ञा से शीघ्र ही अनेक उत्साही देवों ने बड़े आनन्द के साथ स्वर्गपुरी के समान उस नगरी की रचना की ॥७०॥

उन देवों ने वह नगरी विशेष सुन्दर बनायी थी जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो इस मध्य लोक में स्वर्गलोक का प्रतिबिम्ब रखने की इच्छा से ही उन्होंने उसे अत्यन्त सुन्दर बनाया हो ॥७१॥

'हमारा स्वर्ग बहुत ही छोटा है क्योंकि यह त्रिदशावास है अर्थात् सिर्फ त्रिदश=तीस व्यक्तियों के रहने योग्य स्थान है (पक्ष में त्रिदश=देवों के रहने योग्य स्थान है)' -ऐसा मानकर ही मानो उन्होंने सैकड़ों हजारों मनुष्यों के रहने योग्य उस नगरी (विस्तृत स्वर्ग) की रचना की थी ॥ ७२॥

उस समय जो मनुष्य जहाँ-तहाँ बिखरे हुए रहते थे, देवों ने उन सबको लाकर उस नगरी में बसाया और सबके सुभीते के लिए अनेक

प्रकार के उपयोगी स्थानों की रचना की ॥७३॥

उस नगरी के मध्य भाग में देवों ने राजमहल बनाया था वह राजमहल इन्द्रपुरी के साथ स्पर्धा करने वाला था और बहुमूल्य अनेक विभूतियों से सहित था ॥७४॥

जबकि उस नगरी की रचना करनेवाले कारीगर स्वर्ग के देव थे उनका अधिकारी सूत्रधार (मेंट) इन्द्र था और मकान वगैरह बनाने के लिए सम्पूर्ण पृथ्वी पड़ी थी तब वह नगरी प्रशंसनीय क्यों न हो ? ॥७५॥

देवों ने उस नगरी को वप्र (धूलि के बने हुए छोटे कोट), प्राकार (चार मुख्य दरवाजों से सहित, पत्थर के बने हुए मजबूत कोट) और परिखा आदि से सुशोभित किया था । उस नगरी का नाम अयोध्या था । वह केवल नाममात्र से अयोध्या नहीं थी किन्तु गुणों से भी अयोध्या थी । कोई भी शत्रु उससे युद्ध नहीं कर सकते थे इसलिए उसका वह नाम सार्थक था (अरिभिः योद्धुं न शक्या-अयोध्या) ॥७६॥ उस नगरी का दूसरा नाम साकेत भी था क्योंकि वह अपने अच्छे-अच्छे मकानों से बड़ी ही प्रशंसनीय थी । उन मकानों पर पताकाएँ फहरा रही थीं जिससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो स्वर्गलोक के मकानों को बुलाने के लिए अपनी पताकारूपी भुजाओं के द्वारा संकेत ही कर रहे हों । (आकेतैः गुहैः सह वर्तमाना=साकेता, 'स+आकेता'-घरों से सहित) ॥७७॥

वह नगरी सुकोशल देश में थी इसलिए देश के नाम से 'सुकोशला' इस प्रसिद्धि को भी प्राप्त हुई थी । तथा वह नगरी अनेक विनीत-शिक्षित-पढ़े-लिखे विनयवान् या सभ्य मनुष्यों से व्याप्त थी इसलिए वह 'विनीता' भी मानी गयी थी-उसका एक नाम 'विनीता' भी था ॥ ७८॥

वह सुकोशला नाम की राजधानी अत्यन्त प्रसिद्ध थी और आगे होने वाले बड़े भारी देश की नाभि (मध्यभाग की) शोभा धारण करती हुई सुशोभित होती थी ॥७९॥

राजभवन, वप्र, कोट और खाई से सहित वह नगर ऐसा जान पड़ता था मानो आगे-कर्मभूमि के समय में होने वाले नगरों की रचना प्रारम्भ करने के लिए एक प्रतिबिम्ब-नकशा ही बनाया गया हो ॥८०॥

अनन्तर उस अयोध्या नगरी में सब देवों ने मिलकर किसी शुभ दिन, शुभ मुहूर्त, शुभ योग और शुभ लग्न में हर्षित होकर पुण्याहवाचन किया ॥८१॥

जिन्हें अनेक सम्पदाओं की परम्परा प्राप्त हुई थी ऐसे महाराज नाभिराज और मरुदेवी ने अत्यन्त आनन्दित होकर पुण्याहवाचन के समय ही उस अतिशय ऋद्धियुक्त अयोध्या नगरी में निवास करना प्रारम्भ किया था ॥८२॥

"इन दोनों के सर्वज्ञ ऋषभदेव पुत्र जन्म लेंगे" यह समझकर इन्द्र ने अभिषेकपूर्वक उन दोनों की बड़ी पूजा की थी ॥८३॥

तदनन्तर छह महीने बाद ही भगवान् वृषभदेव यहाँ स्वर्ग से अवतार लेंगे ऐसा जानकर देवों ने बड़े आदर के साथ आकाश से रत्नों की वर्षा की ॥८४॥

इन्द्र के द्वारा नियुक्त हुए कुबेर ने जो रत्न की वर्षा की थी वह ऐसी सुशोभित होती थी मानो वृषभदेव की सम्पत्ति उत्सुकता के कारण उनके आने से पहले ही आ गयी हो ॥८५॥

वह रत्नवृष्टि हरिन्मणि इन्द्रनील मणि और पद्मराग आदि मणियों की किरणों के समूह से ऐसी देदीप्यमान हो रही थी मानो सरलता को प्राप्त होकर (एक रेखा में सीधी होकर) इन्द्रधनुष की शोभा ही आ रही हो ॥८६॥

ऐरावत हाथी की सूँड के समान स्थूल, गोल और लम्बी आकृति को धारण करने वाली वह रत्नों की धारा ऐसी शोभायमान होती थी मानो पुण्यरूपी उसके बड़े मोटे अंकुरों की सन्तति ही हो ॥८७॥

अथवा अतिशय सघन तथा आकाश पृथ्वी को रोककर पड़ती हुई वह रत्नों की धारा ऐसी सुशोभित होती थी मानो कल्पवृक्षों के द्वारा छोड़े हुए अंकुरों की परम्परा ही हो ॥८८॥

अथवा आकाश रूपी आँगन से पड़ती हुई वह सुवर्णमयी वृष्टि ऐसी शोभायमान हो रही थी मानो स्वर्ग से अथवा विमानों से ज्योतिषी देवों की उत्कृष्ट प्रभा ही आ रही हो ॥८९॥

अथवा आकाश से बरसती हुई रत्नवृष्टि को देखकर लोग यही उत्प्रेक्षा करते थे कि क्या जगत् में क्षोभ होने से निधियों का गर्भपात हो रहा है ॥९०॥

आकाशरूपी आँगन में जहाँ-तहाँ फैले हुए वे रत्न क्षणभर के लिए ऐसे शोभायमान होते थे मानो देवों के हाथियों ने कल्पवृक्षों के फल ही तोड़-तोड़कर डाले हों ॥११॥

आकाशरूपी आँगन में वह असंख्यात रत्नों की धारा ऐसी जान पड़ती थी मानो समय पाकर फैली हुई नक्षत्रों की चंचल और चमकीली पङ्क्ति ही हो ॥१२॥

अथवा उस रत्न-वर्षा को देखकर क्षणभर के लिए यही उत्प्रेक्षा होती थी कि स्वर्ग से मानो परस्पर मिले हुए बिजली और इन्द्रधनुष ही देवों ने नीचे गिरा दिये हों ॥१३॥

अथवा देव और विद्याधर उसे देखकर क्षणभर के लिए यही आशंका करते थे कि यह क्या आकाश में बिजली की कान्ति है अथवा देवों की प्रभा है ॥१४॥

कुबेर ने जो यह हिरण्य अर्थात् सुवर्ण की वृष्टि की थी वह ऐसी मालूम होती थी मानो जगत् को भगवान् की 'हिरण्यगर्भता' बतलाने के लिए ही की हो (जिसके गर्भ में रहते हुए हिरण्य-सुवर्ण की वर्षा आदि हो वह हिरण्यगर्भ कहलाता है) ॥१५॥

इस प्रकार स्वामी वृषभदेव के स्वर्गावतरण से छह महीने पहले से लेकर अतिशय पवित्र नाभिराज के घर पर रत्न और सुवर्ण की वर्षा हुई थी ॥१६॥

और इस प्रकार गर्भावतरण से पीछे भी नौ महीने तक रत्न तथा सुवर्ण की वर्षा होती रही थी सो ठीक ही है क्योंकि होने वाले तीर्थंकर का आश्चर्यकारक बड़ा भारी प्रभाव होता है ॥१७॥

भगवान् के गर्भावतरण-उत्सव के समय यह समस्त पृथ्वी रत्नों से व्याप्त हो गयी थी, देव हर्षित हो गये थे और समस्त लोक क्षोभ को प्राप्त हो गया था ॥१८॥

भगवान् के गर्भावतरण के समय यह पृथ्वी गंगा नदी के जल के कणों से सींची गयी थी तथा अनेक प्रकार के रत्नों से अलंकृत की गयी थी इसलिए वह भी किसी गर्भिणी स्त्री के समान भारी हो गयी थी ॥१९॥

उस समय रत्न और फूलों से व्याप्त तथा सुगन्धित जल से सींची गयी यह पृथिवीरूपी स्त्री स्नान कर चन्दन का विलेपन लगाये और आभूषणों से सुसज्जित-सी जान पड़ती थी ॥२०॥

अथवा उस समय वह पृथिवी भगवान् वृषभदेव की माता मरुदेवी की सदृशता को प्राप्त हो रही थी क्योंकि मरुदेवी जिस प्रकार नाभिराज को प्रिय थी उसी प्रकार वह पृथ्वी उन्हें प्रिय थी और मरुदेवी जिस प्रकार रजस्वला न होकर पुष्पवती थी उसी प्रकार वह पृथ्वी भी रजस्वला (धूलि से युक्त) न होकर पुष्पवती (जिस पर फूल बिखरे हुए थे) थी ॥२०१॥

अनन्तर किसी दिन मरुदेवी राजमहल में गंगा की लहरों के समान सफेद और रेशमी चद्दर से उज्ज्वल कोमल शय्या पर सो रही थी । सोते समय उसने रात्रि के पिछले प्रहर में जिनेन्द्र देव के जन्म को सूचित करने वाले तथा शुभ फल देने वाले नीचे लिखे हुए सोलह स्वप्न देखे ॥ १०२-१०३॥

सबसे पहले उसने इन्द्र का ऐरावत हाथी देखा । वह गम्भीर गर्जना कर रहा था तथा उसके दोनों कपोल और सूँड़ इन तीन स्थानों से मद झर रहा था इसलिए वह ऐसा जान पड़ता था मानो गरजता और बरसता हुआ शरद् ऋतु का बादल ही हो ॥१०४॥

दूसरे स्वप्न में उसने एक बैल देखा । उस बैल के कन्धे नगाड़े के समान विस्तृत थे, वह सफेद कमल के समान कुछ-कुछ शुक्ल वर्ण था । अमृत की राशि के समान सुशोभित था और मन्द गम्भीर शब्द कर रहा था ॥१०५॥

तीसरे स्वर्ण में उसने एक सिंह देखा । उस सिंह का शरीर चन्द्रमा के समान शुक्लवर्ण था और कन्धे लाल रंग के थे इसलिए वह ऐसा मालूम होता था मानो चाँदनी और सन्ध्या के द्वारा ही उसका शरीर बना हो ॥१०६॥

चौथे स्वप्न में उसने अपनी शोभा के समान लक्ष्मी को देखा । वह लक्ष्मी कमलों के बने हुए ऊँचे आसन पर बैठी थी और देवों के हाथी सुवर्णमय कलशों से उसका अभिषेक कर रहे थे ॥१०७॥

पाँचवें स्वप्न में उसने बड़े ही आनन्द के साथ दो पुष्प-मालाएं देखी । उन मालाओं पर फूलों की सुगन्धि के कारण बड़े-बड़े भौरे आ लगे थे और वे मनोहर झंकार शब्द कर रहे थे जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो उन मालाओं ने गाना ही प्रारम्भ किया हो ॥१०८॥

छठे स्वप्न में उसने पूर्ण चन्द्रमण्डल देखा । वह चन्द्रमण्डल तारा से सहित था और उत्कृष्ट चाँदनी से युक्त था इसलिए ऐसा जान पड़ता था

मानो मोतियों से सहित हँसता हुआ अपना मरुदेवी का मुख-कमल ही हो ॥१०९॥

सातवें स्वप्न में उसने उदयाचल से उदित होते हुए तथा अन्धकार को नष्ट करते हुए सूर्य को देखा । यह सूर्य ऐसा मालूम होता था मानो मरुदेवी के माङ्गलिक कार्य में रखा हुआ सुवर्णमय कलश ही हो ॥११०॥

आठवें स्वप्न में उसने सुवर्ण के दो कलश देखे । उन कलशों के मुख कमलों से ढके हुए थे जिससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो हस्तकमल से आच्छादित हुए अपने दोनों स्तनकलश ही हों ॥१११॥

नौवें स्वप्न में फूले हुए कुमुद और कमलों से शोभायमान तालाब में क्रीड़ा करती हुई दो मछलियाँ देखी । वे मछलियाँ ऐसी मालूम होती थीं मानो अपने (मरुदेवी के) नेत्रों की लम्बाई ही दिखला रही हों ॥११२॥

दसवें स्वप्न में उसने एक सुन्दर तालाब देखा । उस तालाब का पानी तैरते हुए कमलों की केशर से पीला-पीला हो रहा था जिससे ऐसा मालूम होता था मानो पिघले हुए सुवर्ण से ही भरा हो ॥११३॥

ग्यारहवें स्वप्न में उसने क्षुभित हो बेला (तट) को उल्लंघन करता हुआ समुद्र देखा । उस समय उस समुद्र में उठती हुई लहरों से कुछ-कुछ गम्भीर शब्द हो रहा था और जल के छोटे-छोटे कण बढ़कर उसके चारों ओर पड़ रहे थे जिससे ऐसा मालूम होता था मानो वह अट्टाहास ही कर रहा हो ॥११४॥

बारहवें स्वप्न में उसने एक ऊँचा सिंहासन देखा । वह सिंहासन सुवर्ण का बना हुआ था और उसमें अनेक प्रकार के चमकीले मणि लगे हुए थे जिससे ऐसा मालूम होता था मानो वह मेरु पर्वत के शिखर की उत्कृष्ट शोभा ही धारण कर रहा हो ॥११५॥

तेरहवें स्वप्न में उसने एक स्वर्ग का विमान देखा । वह विमान बहुमूल्य श्रेष्ठ रत्नों से देदीप्यमान था और ऐसा मालूम होता था मानो देवों के द्वारा उपहार में दिया हुआ, अपने पुत्र का प्रसूतिगृह (उत्पत्तिस्थान) ही हो ॥११६॥

चौदहवें स्वप्न में उसने पृथिवी को भेदन कर ऊपर आया हुआ नागेन्द्र का भवन देखा । वह भवन ऐसा मालूम होता था मानो पहले दिखे हुए स्वर्ग के विमान के साथ स्पर्धा करने के लिए ही उद्यत हुआ हो ॥११७॥

पन्द्रहवें स्वप्न में उसने अपनी उठती हुई किरणों से आकाश को पल्लवित करने वाली रत्नों की राशि देखी । उस रत्नों की राशि को मरुदेवी ने ऐसा समझा था मानो पृथ्वी देवी ने उसे अपना खजाना ही दिखाया हो ॥११८॥

और सोलहवें स्वप्न में उसने जलती हुई प्रकाशमान तथा धूमरहित अग्नि देखी । वह अग्नि ऐसी मालूम होती थी मानो होने वाले पुत्र का मूर्तिधारी प्रताप ही हो ॥११९॥

इस प्रकार सोलह स्वप्न देखने के बाद उसने देखा कि सुवर्ण के समान पीली कान्ति का धारक और ऊँचे कन्धों वाला एक ऊँचा बैल हमारे मुख-कमल में प्रवेश कर रहा है ॥१२०॥

तदनन्तर वह बजते हुए बाजों की ध्वनि से जग गयी और बन्दीजनों के नीचे लिखे हुए मंगलकारक मंगल-गीत सुनने लगी ॥१२१॥

उस समय मरुदेवी को सुख-पूर्वक जगाने के लिए, जिनकी वाणी अत्यन्त स्पष्ट है ऐसे पुण्य पाठ करने वाले बन्दीजन उच्च स्वर से नीचे लिखे अनुसार मंगल पाठ पढ़ रहे थे ॥१२२॥

हे देवि, यह तेरे जागने का समय है जो कि ऐसा मालूम होता है मानो कुछ-कुछ फूले हुए कमलों के द्वारा तुम्हें हाथ ही जोड़ रहा हो ॥१२३॥

तुम्हारे मुख की कान्ति से पराजित होने के कारण ही मानो जिसकी समस्त चाँदनी नष्ट हो गयी है ऐसे चन्द्रमण्डल को धारण करती हुई यह रात्रि कैसी विचित्र शोभायमान हो रही है ॥१२४॥

हे देवि, अब कान्तिरहित चन्द्रमा में जगत् का आदर कम हो गया है इसलिए प्रफुल्लित हुआ यह तेरा मुख-कमल ही समस्त जगत् को आनन्दित करे ॥१२५॥

यह चन्द्रमा छिपी हुई किरणों (पक्ष में हाथों) से अपनी दिशारूपी स्त्रियों के मुख का स्पर्श कर रहा है जिससे ऐसा मालूम होता है मानो परदेश जाने के लिए अपनी प्यारी स्त्रियों से आज्ञा ही लेना चाहता हो ॥१२६॥

ताराओं का समूह भी अब आकाश में कहीं-कहीं दिखाई देता है और ऐसा जान पड़ता है मानो जाने की जल्दी से रात्रि के हार की शोभा ही टूट-टूटकर बिखर गयी हो ॥१२७॥

हे देवि, इधर तालाबों पर ये सारस पक्षी मनोहर और गम्भीर शब्द कर रहे हैं और ऐसे मालूम होते हैं मानो मंगल-पाठ करते हुए हम लोगों

के साथ-साथ तुम्हारी स्तुति ही करना चाहते हों ॥१२८॥

इधर घर की बावड़ी में भी कमलिनी के कमलरूपी मुख प्रफुलित हो गये हैं और उन पर भौरे शब्द कर रहे हैं जिससे ऐसा मालूम होता है मानो कमलिनी उच्च-स्वर से आपका यश गा रही हो ॥१२९॥

इधर रात्रि में परस्पर के विरह से अतिशय सन्तप्त हुआ यह चकवा-चकवी का युगल अब तालाब की तरंगों के स्पर्श से कुछ-कुछ आश्वासन प्राप्त कर रहा है ॥१३०॥

अतिशय दाह करने वाली चन्द्रमा की किरणों से हृदय में अत्यन्त दुःखी हुए चकवा-चकवी अब मित्र (सूर्य) के समागम की प्रार्थना कर रहे हैं, भावार्थ-जैसे जब कोई किसी के द्वारा सताया जाता है तब वह अपने मित्र के साथ समागम की इच्छा करता है वैसे ही चकवा-चकवी चन्द्रमा के द्वारा सताये जाने पर मित्र अर्थात् सूर्य के समागम की इच्छा कर रहे हैं ॥१३१॥

इधर बहुत जल्दी होनेवाले स्त्रियों के वियोग से उत्पन्न हुए दुःख की सूचना करने वाली मुर्गों की तेज आवाज कामी पुरुषों के मन को सन्ताप पहुंचा रही है ॥१३२॥

शान्तस्वभावी चन्द्रमा की कोमल किरणों से रात्रि का जो अन्धकार नष्ट नहीं हो सका था वह अब तेज किरण वाले सूर्य के उदय के सम्मुख होते ही नष्ट हो गया है ॥१३३॥

अपनी किरणों के द्वारा रात्रि सम्बन्धी अन्धकार को नष्ट करने वाला सूर्य आगे चलकर उदित होगा परन्तु उससे अनुराग (प्रेम और लाली) करने वाली सन्ध्या पहले से ही प्रकट हो गयी है और ऐसी जान पड़ती है मानों सूर्यरूपी सेनापति की आगे चलने वाली सेना ही हो ॥१३४॥ यह उदित होता हुआ सूर्यमण्डल एक साथ दो काम करता है-एक तो कमलिनियों के समूह में विकास को विस्तृत करता है और दूसरा कुमुदिनियों के समूह में म्लानता का विस्तार करना है ॥१३५॥

अथवा कमलिनी के कमलरूपी मुख को प्रफुल्लित हुआ देखकर यह कुमुदिनी मानो ईर्ष्या से म्लानता को प्राप्त हो रही है ॥१३६॥ यह सूर्य अपने ऊँचे कर अर्थात् किरणों को (पक्ष में हाथों को) सामने फैलाता हुआ उदित हो रहा है जिससे ऐसा मालूम होता है मानो पूर्व दिशारूपी स्त्री के गर्भ से कोई तेजस्वी बालक ही पैदा हो रहा हो ॥१३७॥

निषध पर्वत के समीप आरक्त (लाल) मण्डल का धारक यह सूर्य ऐसा जान पड़ता है मानो इन्हीं के द्वारा इकट्ठा किया हुआ सब सन्ध्याओं का राग (लालिमा) ही हो ॥१३८॥

सूर्य का उदय होते ही समस्त अन्धकार नष्ट हो गया, चकवा-चकवियों का क्लेश दूर हो गया, कमलिनी विकसित हो गयी और सारा जगत् प्रकाशमान हो गया ॥१३९॥

अब प्रभात के समय फूले हुए कमलिनियों के वन से कमलों की सुगन्ध ग्रहण करता हुआ यह शीतल पवन सब ओर बह रहा है ॥१४०॥ इसलिए हे देवी, स्पष्ट ही यह तेरे जागने का समय आ गया है । अतएव जिस प्रकार हंसिनी बालू के टीले को छोड़ देती है उसी प्रकार तू भी अब अपनी निर्मल शय्या छोड़ ॥१४१॥

तेरा प्रभात सदा मंगलमय हो, तू सैकड़ों कल्याण को प्राप्त हो और जिस प्रकार पूर्व दिशा सूर्य को उत्पन्न करती है उसी प्रकार तू भी तीन लोक को प्रकाशित करने वाले पुत्र को उत्पन्न कर ॥१४२॥

यद्यपि वह मरुदेवी स्वप्न देखने के कारण, बन्दीजनों के मंगल-गान से बहुत पहले ही जाग चुकी थी, तथापि उन्होंने उसे फिर से जगाया । इस प्रकार जागृत होकर उसने समस्त संसार को आनन्दमय देखा ॥१४३॥

शुभ स्वप्न देखने से जिसे अत्यन्त आनन्द हो रहा है ऐसी जागी हुई मरुदेवी फूली हुई कमलिनी के समान कण्टकित अर्थात् रोमांचित (पक्ष में काँटों से व्याप्त) शरीर धारण कर रही थी ॥१४४॥

तदनन्तर वह मरुदेवी स्वप्न देखने से उत्पन्न हुए आनन्द को मानो अपने शरीर में धारण करने के लिए समर्थ नहीं हुई थी इसीलिए वह मंगलमय स्नान कर और वस्त्राभूषण धारण कर अपने पति के समीप पहुँची ॥१४५॥

उसने वहाँ जाकर उचित विनय से महाराज नाभिराज के दर्शन किये और फिर सुखपूर्वक बैठकर, राज्यसिंहासन पर बैठे हुए महाराज से इस प्रकार निवेदन किया ॥१४६॥

हे देव, आज मैं सुख से सो रही थी, सोते ही सोते मैंने रात्रि के पिछले भाग में आश्चर्यजनक फल देने वाले ये सोलह स्वप्न देखे हैं ॥१४७॥

स्वच्छ और सफेद शरीर धारण करने वाला ऐरावत हाथी, दुन्दुभि के समान शब्द करता हुआ बैल, पहाड़ की चोटी को उल्लंघन करने वाला सिंह, देवों के हाथियों द्वारा नहलायी गयी लक्ष्मी, आकाश में लटकती हुई दो माला, आकाश को प्रकाशमान करता हुआ चन्द्रमा, उदय होता हुआ सूर्य, मनोहर मछलियों का युगल, जल से भरे हुए दो कलश, स्वच्छ जल और कमलों से सहित सरोवर, क्षुब्ध और भँवर से युक्त समुद्र, देदीप्यमान सिंहासन, स्वर्ग से आता हुआ विमान, पृथिवी से प्रकट होता हुआ नागेन्द्र का भवन, प्रकाशमान किरणों से शोभित रत्नों की राशि और जलती हुई देदीप्यमान अग्नि । इन सोलह स्वप्नों को देखने के बाद हे राजन् मैंने देखा है कि एक सुवर्ण के समान पीला बैल मेरे मुख में प्रवेश कर रहा है । हे देव, आप इन स्वप्नों का फल कहिए । इनके फल सुनने की मेरी इच्छा निरन्तर बढ़ रही है सो ठीक ही है अपूर्व वस्तु के देखने से किसका मन कौतुक-युक्त नहीं होता है ? ॥१४८-१५३॥

तदनन्तर, अवधिज्ञान के द्वारा जिन्होंने स्वप्नों का उत्तम फल जान लिया है और जिनकी दाँतों की किरणें अतिशय शोभायमान हो रही हैं ऐसे महाराज नाभिराज मरुदेवी के लिए स्वप्नों का फल कहने लगे ॥१५४॥

हे देवि, सुन, हाथी के देखने से तेरे उत्तम पुत्र होगा, उत्तम बैल देखने से वह समस्त लोक में ज्येष्ठ होगा ॥१५५॥

सिंह के देखने से वह अनन्त बल से युक्त होगा, मालाओं के देखने से समीचीन धर्म के तीर्थ (आम्नाय) का चलाने वाला होगा, लक्ष्मी के देखने से वह सुमेरु पर्वत के मस्तक पर देवों के द्वारा अभिषेक को प्राप्त होगा ॥१५६॥

पूर्ण चन्द्रमा के देखने से समस्त लोगों को आनन्द देने वाला होगा, सूर्य के देखने से देदीप्यमान प्रभा का धारक होगा, दो कलश देखने से अनेक निधियों को प्राप्त होगा, मछलियों का युगल देखने से सुखी होगा ॥१५७॥

सरोवर के देखने से अनेक लक्षणों से शोभित होगा, समुद्र के देखने से केवली होगा, सिंहासन के देखने से जगत् का गुरु होकर साम्राज्य को प्राप्त करेगा ॥१५८॥

देवों का विमान देखने से वह स्वर्ग से अवतीर्ण होगा, नागेन्द्र का भवन देखने से अवधिज्ञान रूपी लोचनों से सहित होगा ॥१५९॥

चमकते हुए रत्नों की राशि देखने से गुणों की खान होगा, और निर्धूम अग्नि के देखने से कर्मरूपी इन्धन को जलाने वाला होगा ॥१६०॥

तथा तुम्हारे मुख में जो वृषभ ने प्रवेश किया है उसका फल यह है कि तुम्हारे निर्मल गर्भ में भगवान् वृषभदेव अपना शरीर धारण करेंगे ॥१६१॥

इस प्रकार नाभिराज के वचन सुनकर उसका सारा शरीर हर्ष से रोमांचित हो गया जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो परम आनन्द से निर्भर होकर हर्ष के अंकुरों से ही व्याप्त हो गया हो ॥१६२॥

जब अवसर्पिणी काल के तीसरे सुषमदुःषम नामक काल में चौरासी लाख पूर्व तीन वर्ष आठ माह और एक पक्ष बाकी रह गया था तब आषाढ़ कृष्ण द्वितीया के दिन उत्तराषाढ़ नक्षत्र में वज्रनाभि अहमिन्द्र, देवायु का अन्त होने पर सर्वार्थसिद्धि विमान से च्युत होकर मरुदेवी के गर्भ में अवतीर्ण हुआ और वहाँ सीप के सम्पुट में मोती की तरह सब बाधाओं से निर्मुक्त होकर स्थित हो गया ॥१-३॥

उस समय समस्त इन्द्र अपने-अपने यहाँ होने वाले चिह्नों से भगवान् के गर्भावतार का समय जानकर वहाँ आये और सभी ने नगर की प्रदक्षिणा देकर भगवान् के माता-पिता को नमस्कार किया ॥४॥

सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र ने देवों के साथ-साथ संगीत प्रारम्भ किया । उस समय कहीं गीत हो रहे थे, कहीं बाजे बज रहे थे और कहीं मनोहर नृत्य हो रहे थे ॥५॥

नाभिराज के महल का आँगन स्वर्गलोक से आये हुए देवों के द्वारा खचाखच भर गया था । इस प्रकार गर्भकल्याणक का उत्सव कर वे देव अपने-अपने स्थानों पर वापस चले गये ॥६॥) उसी समय से लेकर इन्द्र की आज्ञा से दिक्कुमारी देवियाँ उस समय होने योग्य कार्यों के द्वारा दासियों के समान मरुदेवी की सेवा करने लगीं ॥१६३॥

श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी इन षट्कुमारी देवियों ने मरुदेवी के समीप रहकर उसमें क्रम से अपने-अपने शोभा, लज्जा, धैर्य, स्तुति, बोध और विभूति नामक गुणों का संचार किया था । अर्थात् श्री देवी ने मरुदेवी की शोभा बढ़ा दी, ह्री देवी ने लज्जा बढ़ा दी, धृति देवी ने धैर्य बढ़ाया, कीर्ति देवी ने स्तुति की, बुद्धि देवी ने बोध (ज्ञान) को निर्मल कर दिया और लक्ष्मी देवी ने विभूति बढ़ा दी । इस प्रकार उन देवियों के सेवा संस्कार से वह मरुदेवी ऐसी सुशोभित होने लगी थी जैसे कि अग्नि के संस्कार से मणि सुशोभित होने लगता है ॥१६४-१६५॥

परिचर्या करते समय देवियों ने सबसे पहले स्वर्ग से लाये हुए पवित्र पदार्थों के द्वारा माता का गर्भ शोधन किया था ॥१६६॥

वह माता प्रथम तो स्वभाव से ही निर्मल और सुन्दर थी इतने पर देवियों ने उसे विशुद्ध किया था । इन सब कारणों से वह उस समय ऐसी शोभायमान होने लगी थी मानो उसका शरीर स्फटिक मणि से ही बनाया गया हो ॥१६७॥

उन देवियों में कोई तो माता के आगे अष्ट मंगलद्रव्य धारण करती थीं, कोई उसे ताम्बूल देती थीं, कोई स्नान कराती थीं और कोई वस्त्राभूषण आदि पहनाती थी ॥१६८॥

कोई भोजनशाला के काम में नियुक्त हुई, कोई शय्या बिछाने के काम में नियुक्त हुई, कोई पैर दाबने के काम में नियुक्त हुई और कोई तरह-तरह की सुगन्धित पुष्प मालाएँ पहनाकर माता की सेवा करने में नियुक्त हुई ॥१६९॥

जिस प्रकार सूर्य की प्रभा कमलिनी के कमल का स्पर्श कर उसे अनुरागसहित (लालीसहित) कर देती है उसी प्रकार शृङ्गारित करते समय कोई देवी मरुदेव के मुख का स्पर्श कर उसे अनुरागसहित (प्रेमसहित) कर रही थी ॥१७०॥

ताम्बूल देने वाली देवी हाथ में पान लिये हुए ऐसी सुशोभित होती थी मानो जिसकी शाखा के अग्रभाग पर तोता बैठा हो ऐसी कोई लता ही हो ॥१७१॥

कोई देवी अपने कोमल हाथ से माता के लिए आभूषण दे रही थी जिससे वह ऐसी शोभायमान हो रही थी मानो जिसकी शाखा के अग्रभाग पर आभूषण प्रकट हुए हों ऐसी कल्पलता ही हो ॥१७२॥

मरुदेवी के लिए कोई देवियाँ कल्पलता के समान रेशमी वस्त्र दे रही थीं, कोई दिव्य मालाएँ दे रही थी ॥१७३॥

कोई देवी अपने हाथ पर रखे हुए सुगन्धित द्रव्यों के विलेपन से मरुदेवी के शरीर को सुवासित कर रही थी । विलेपन की सुगन्धि के कारण उस देवी के हाथ पर अनेक भौरे आकर गुंजार करते थे जिससे वह ऐसी मालूम होती थी मानो सुगन्धित द्रव्यों की उत्पत्ति आदि का वर्णन करने वाले गन्धशास्त्र की युक्ति ही हो ॥१७४॥

माता की अंग-रक्षा के लिए हाथ में नंगी तलवार-धारण किये हुई कितनी ही देवियाँ ऐसी शोभायमान होती थीं मानो जिनमें मछलियां चल रही हैं ऐसी सरसी (तलैया) ही हो ॥१७५॥

कितनी ही देवियाँ पुष्प की पराग से भरी हुई राजमहल की भूमि को बुहार रही थीं और उस पराग की सुगन्ध से आकर इकट्ठे हुए भौरों को अपने स्तन ढकने के वस्तु से उड़ाती भी जाती थीं ॥१७६॥

कितनी ही देवियाँ आलस्यरहित होकर पृथिवी को गीले कपड़े से साफ कर रही थीं और कितनी ही देवियाँ घिसे हुए गाई चन्दन से पृथिवी को सींच रही थीं ॥१७७॥

कोई देवियाँ माता के आगे रत्नों के चूर्ण से रंगावली का विन्यास करती थीं-रंग-बिरंगे चौक पूरती थीं, बैल-बूटा खींचती थीं और कोई सुगन्धि फैलाने वाले, कल्पवृक्षों के फूलों से माता की पूजा करती थीं-उन्हें फूलों का उपहार देती थीं ॥१७८॥

कितनी ही देवियाँ अपना शरीर छिपाकर दिव्य प्रभाव दिखलाती हुई योग्य सेवाओं के द्वारा निरन्तर माता की शुश्रूषा करती थीं ॥१७९॥

बिजली के समान प्रभा से चमकते हुए शरीर को धारण करने वाली कितनी ही देवियाँ माता के योग्य और अच्छे लगने वाले पदार्थ लाकर उपस्थित करती थीं ॥१८०॥

कितनी ही देवियाँ अन्तर्हित होकर अपने दिव्य प्रभाव से माता के लिए माला, वस्त्र, आहार और आभूषण आदि देती थीं ॥१८१॥

जिनका शरीर नहीं दिख रहा है ऐसी कितनी ही देवियाँ आकाश में स्थित होकर बड़े जोर से कहती थीं कि माता मरुदेवी की रक्षा बड़े ही प्रयत्न से की जाये ॥१८२॥

जब माता चलती थीं तब वे देवियाँ उसके वस्त्रों को कुछ ऊपर उठा लेती थीं, जब बैठती थीं तब आसन लाकर उपस्थित करती थीं और जब खड़ी होती थीं तब सब ओर खड़ी होकर उनकी सेवा करती थीं ॥१८३॥

कितनी ही देवियाँ रात्रि के प्रारम्भ काल में राजमहल के अग्रभाग पर अतिशय चमकीले मणियों के दीपक रखती थीं । वे दीपक सब ओर से अन्धकार को नष्ट कर रहे थे ॥१८४॥

कितनी ही देवियाँ सायंकाल के समय योग्य वस्तुओं के द्वारा माता की आरती उतारती थी, कितनी ही देवियाँ दृष्टि दोष दूर करने के लिए उतारना उतारती थीं और कितनी ही देवियाँ मन्त्राक्षरों के द्वारा उसका रक्षाबन्धन करती थी ॥१८५॥

निरन्तर के जागरण से जिनके नेत्र टिमकाररहित हो गये हैं ऐसी कितनी ही देवियाँ रात के समय अनेक प्रकार के हथियार धारण कर माता की सेवा करती थी अथवा उनके समीप बैठकर पहरा देती थीं ॥१८६॥

वे देवांगनाएँ कभी जलक्रीड़ा से और कभी वनक्रीड़ा से, कभी कथा-गोष्ठी से (इकट्ठे बैठकर कहानी आदि कहने से) उन्हें सन्तुष्ट करती थी ॥१८७॥

वे कभी संगीतगोष्ठी से, कभी वादित्रगोष्ठी से और कभी नृत्यगोष्ठी से उनकी सेवा करती थीं ॥१८८॥

कितनी ही देवियाँ नेत्रों के द्वारा अपना अभिप्राय प्रकट करने वाली गोष्ठियों में लीलापूर्वक भौंह नचाती हुई और बढ़ते हुए लय के साथ शरीर को लचकाती हुई नृत्य करती थीं ॥१८९॥

कितनी ही देवियाँ नृत्य क्रीड़ा के समय आकाश में जाकर फिरकी लेती थीं और वहाँ अपने चंचल अंगों तथा शरीर की उत्कृष्ट कान्ति से ठीक बिजली के समान शोभायमान होती थी ॥१९०॥

नृत्य करते समय नाट्य-शास्त्र में निश्चित किये हुए स्थानों पर हाथ फैलाती हुई कितनी ही देवियाँ ऐसी मालूम होती थीं मानो जगत् को जीतने के लिए साक्षात् कामदेव से धनुर्वेद ही सीख रही हो ॥१९१॥

कोई देवी रंग-बिरंगे चौक के चारों ओर फूल बिखेर रही थी और उस समय वह ऐसी मालूम होती थी मानो चित्रशाला में कामदेवरूपी ग्रह को नियुक्त ही करना चाहती हो ॥१९२॥

नृत्य करते समय उन देवांगनाओं के स्तनरूपी कमलों की बोड़ियाँ भी हिल रही थीं जिससे ऐसी जान पड़ती थीं मानो उन देवांगनाओं के नृत्य का कौतुहलवश अनुकरण ही कर रही हों ॥१९३॥

देवांगनाओं की उस नृत्यगोष्ठी में बार-बार भौंहरूपी चाप खींचे जाते थे और उनपर बार-बार कटाक्षरूपी बाण चढ़ाये जाते थे जिससे वह ऐसी मालूम होती थी मानो कामदेव की धनुषविद्या का किया हुआ अभ्यास ही हो ॥१९४॥

नृत्य करते समय वे देवियाँ दाँतों की किरणें फैलाती हुई मुस्कराती जाती थीं, स्पष्ट और मधुर गाना गाती थीं, नेत्रों से कटाक्ष करती हुई देखती थीं और लय के साथ फिरकी लगाती थीं, इस प्रकार उन देवियों का वह नृत्य तथा हाव-भाव आदि अनेक प्रकार के विलास, सभी कामदेव के बाणों के सहायक बाण मालूम होते थे और रसिकता को प्राप्त हुई शरीरसम्बन्धी चेष्टाओं से मिले हुए उनके शरीर का तो कहना ही क्या है-वह तो हरएक प्रकार से अत्यन्त सुन्दर दिखाई पड़ता था ॥१९५-१९६॥

वे नृत्य करने वाली देवियाँ अनेक प्रकार की गति, तरह-तरह के गीत अथवा नृत्यविशेष, और विचित्र शरीर की चेष्टासहित फिरकी आदि के द्वारा माता के मन को नृत्य देखने के लिए उत्कण्ठित करती थीं ॥१९७॥

कितनी ही देवांगनाएँ संगीत-गोष्ठियों में कुछ-कुछ हँसते हुए मुखों से ऐसी सुशोभित होती थी जैसे कुछ-कुछ विकसित हुए कमलों से कमलिनियाँ सुशोभित होती हैं ॥१९८॥

जिनकी भौंहें बहुत ही छोटी-छोटी हैं ऐसी कितनी ही देवियाँ ओठों के अग्रभाग से वीणा दबाकर बजाती हुई ऐसी शोभायमान हो रही थीं मानो हंसकर कामदेवरूपी अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए ही प्रयत्न कर रही हों ॥१९९॥

यह एक बड़े आश्चर्य की बात थी कि वीणा बजाने वाली कितनी ही देवियाँ अपने हस्तरूपी पल्लवों से वीणा की लकड़ी को साफ करती हुई देखने वालों के मनरूपी वृक्षों को पल्लवित अर्थात् पल्लवों से युक्त कर रही थी । (पक्ष में हर्षित अथवा शृंगार रस से सहित कर रही थी ।) भावार्थ-उन देवाङ्गनाओं के हाथ पल्लवों के समान थे वीणा बजाते समय उनके हाथरूपी पल्लव वीणा की लकड़ी अथवा उसके तारों पर पड़ते थे । जिससे वह वीणा पल्लवित अर्थात् नवीन पत्तों से व्याप्त हुई-सी जान पड़ती थी परन्तु आचार्य ने यहाँ पर वीणा को पल्लवित न बताकर देखने वालों के मनरूप वृक्षों को पल्लवित बतलाया है जिससे विरोधमूलक अलंकार प्रकट हो गया है, परन्तु पल्लवित शब्द का हर्षित अथवा शृंगाररस से सहित अर्थ बदल देने पर वह विरोध दूर हो जाता है । संक्षेप में भाव यह है कि वीणा बजाते समय उन देवियों के हाथों की चंचलता, सुन्दरता और बजाने की कुशलता आदि देखकर दर्शक पुरुषों का मन हर्षित हो जाता था ॥२००॥

कितनी ही देवियाँ संगीत के समय गम्भीर शब्द करने वाली वीणाओं को हाथ की अँगुलियों से बजाती हुई गा रही थी ॥२०१॥

उन देवियों के हाथ की अँगुलियों से ताड़ित हुई वीणाएँ मनोहर शब्द कर रही थीं सो ठीक ही है वीणा का यह एक आश्चर्यकारी गुण है कि ताड़न से ही वश होता है ॥२०२॥

उन देवांगनाओं के ओठों को वंशों (बांसुरी) के द्वारा डसा हुआ देखकर ही मानो वीणाओं के तूँबे उनके कठिन स्तनमण्डल से आ लगे थे । भावार्थ-वे देवियाँ मुंह से बाँसुरी और हाथ से वीणा बजा रही थीं ॥२०३॥

कितनी ही देवियाँ मृदंग बजाते समय, अपनी भुजाएं ऊपर उठाती थीं जिससे वे ऐसी मालूम होती थी मानो उस कला-कौशल के विषय से अपनी प्रशंसा ही करना चाहती हों ॥२०४॥

उस समय उन बजाने वाली देवियों के हाथ के स्पर्श से वे मृदंग गम्भीर शब्द कर रहे थे जिससे ऐसे जान पड़ते थे मानो ऊँचे स्वर से उन बजाने वाली देवियों के कला-कौशल को ही प्रकट कर रहे हों ॥२०५॥

उन देवियों के हाथ से बार-बार ताड़ित हुए मृदंग मानो यही ध्वनि कर रहे थे कि देखो, हम लोग वास्तव में मृदंग (मृत्+अङ्ग) अर्थात् मिट्टी के अङ्ग (मिट्टी से बने हुए) नहीं है किन्तु सुवर्ण के बने हुए हैं । भावार्थ-मृदंग शब्द रूढ़ि से ही मृदंग (वाद्यविशेष) अर्थ को प्रकट करता है ॥ २०६॥

उस समय पणव आदि देवों के बाजे बड़ी गम्भीर ध्वनि से बज रहे थे मानो लोगों से यही कह रहे थे कि हम लोग सदा सुन्दर शब्द ही करते हैं, बुरे शब्द कभी नहीं करते और इसीलिए बड़े परिश्रम से बजाने योग्य हैं ॥२०७॥

प्रातःकाल के समय कितनी ही देवियाँ बड़े-बड़े शंख बजा रही थीं और वे ऐसे मालूम होते थे मानो उन देवियों के हाथों से होने वाली पीड़ा को सहन करने के लिए असमर्थ होकर ही चिल्ला रहे हों ॥२०८॥

प्रातःकाल में माता को जगाने के लिए जो ऊँची ताल के साथ तुरही बाजे बज रहे थे उनके साथ कितनी ही देवियाँ मनोहर और गम्भीर रूप से मंगलगान गाती थीं ॥२०९॥

इस प्रकार उन देवियों के द्वारा की हुई सेवा से मरुदेवी ऐसी शोभायमान होती थी मानो किसी प्रकार एकरूपता को प्राप्त हुई तीनों लोकों की लक्ष्मी ही हो ॥२१०॥

इस तरह बड़े संभ्रम के साथ दिक्कुमारी देवियों के द्वारा सेवित हुई उस मरुदेवी ने बड़ी ही उत्कृष्ट शोभा धारण की थी और वह ऐसी मालूम पड़ती थी मानो शरीर में प्रविष्ट हुए देवियों के प्रभाव से ही उसने ऐसी उत्कृष्ट शोभा धारण की हो ॥२११॥

अथानन्तर, नौवाँ महीना निकट आने पर वे देवियाँ नीचे लिखे अनुसार विशिष्ट-विशिष्ट काव्य-गोष्ठियों के द्वारा बड़े आदर के साथ गर्भिणी मरुदेवी को प्रसन्न करने लगीं ॥२१२॥

जिनमें अर्थ गूढ़ है, क्रिया गूढ़ है, पाद (श्लोक का चौथा हिस्सा) गूढ़ है अथवा जिनमें बिन्दु छूटा हुआ है, मात्रा छुटी हुई या अक्षर छूटा हुआ है ऐसे कितने ही श्लोकों से तथा कितने ही प्रकार के अन्य श्लोकों से वे देवियाँ मरुदेवी को प्रसन्न करती थीं ॥२१३॥

वे देवियाँ कहने लगीं कि हे माता, क्या तुमने इस संसार में एक चन्द्रमा को ही कोमल (दुर्बल) देखा है जो इसके समस्त कलारूपी धन को जबरदस्ती छीन रही हो । भावार्थ-इस श्लोक में व्याजस्तुति अलंकार है अर्थात् निन्दा के छल से देवी की स्तुति की गयी है । देवियों के कहने का अभिप्राय यह है कि आपके मुख की कान्ति जैसे-जैसे बढ़ती जाती है वैसे-वैसे ही चन्द्रमा की कान्ति घटती जाती है अर्थात् आपके कान्तिमान मुख के सामने चन्द्रमा कान्तिरहित मालूम होने लगा है । इससे जान पड़ता है कि आपने चन्द्रमा को दुर्बल समझकर उसके कलारूपी समस्त धन का अपहरण कर लिया है ॥२१४॥

हे माता, आपके मुखरूपी चन्द्रमा के द्वारा यह कमल अवश्य हो जीता गया है क्योंकि इसीलिए वह सदा संकुचित होता रहता है । कमल की इस पराजय को चन्द्रमण्डल भी नहीं सह सका है और न आपके मुख को ही जीत सका है इसलिए कमल के समान होने से वह भी सदा संकोच को प्राप्त होता रहता है ॥२१५॥

हे माता, चूर्ण कुन्तलसहित आपके मुखकमल ने भ्रमरसहित कमल को अवश्य ही जीत लिया है इसीलिए तो वह भय से मानो आज तक बार-बार संकोच को प्राप्त होता रहता है ॥२१६॥

हे माता, ये भ्रमर तुम्हारे मुख को कमल समझ बार-बार सम्मुख आकर इसे सूँघते हैं और संकुचित होने वाली कमलिनी से अपने मरने आदि की शंका करते हुए फिर कभी उसके सम्मुख नहीं जाते हैं । भावार्थ-आपका मुख-कमल सदा प्रफुल्लित रहता है और कमलिनी का कमल रात के समय निमीलित हो जाता है । कमल के निमीलित होने से भ्रमर को हमेशा उसमें बन्द होकर मरने का भय बना रहता है । आज उस भ्रमर को सुगन्ध ग्रहण करने के लिए सदा प्रफुल्लित रहने वाला आपका मुख कमलरूपी निर्बाध स्थान मिल गया है इसलिए

अब वह लौटकर कमलिनी के पास नहीं जाता है ॥२१७॥

हे कमलनयनी ! ये भ्रमर आपके मुखरूपी कमल को सूँघकर ही कृतार्थ हो जाते हैं इसीलिए वे फिर पृथ्वी से उत्पन्न हुए अन्य कमल के पास नहीं जाते अथवा ये भ्रमर आपके मुखरूपी कमल को सूँघकर कृतार्थ होते हुए महाराज नाभिराज का ही अनुकरण करते हैं ।
भावार्थ-जिस प्रकार आपका मुख सूँघकर आपके पति महाराज नाभिराज सन्तुष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार ये भ्रमर भी आपका मुख सूँघकर सन्तुष्ट हो जाते हैं ॥२१८॥

तदनन्तर वे देवियाँ माता से पहेलियाँ पूछने लगीं । एक ने पूछा कि हे माता, बताइए वह कौन पदार्थ है ? जो कि आप में रक्त अर्थात् आसक्त है और आसक्त होने पर भी महाराज नाभिराज को अत्यन्त प्रिय है, कामी भी नहीं है, नीच भी नहीं है, और कान्ति से सदा तेजस्वी रहता है । इसके उत्तर में माता ने कहा कि मेरा 'अधर' (नीचे का ओठ) ही है क्योंकि वह रक्त अर्थात् लाल वर्ण का है, महाराज नाभिराज को प्रिय है कामी भी नहीं है, शरीर के उच्च भाग पर रहने के कारण नीच भी नहीं है और कान्ति से सदा तेजस्वी रहता है ॥

२१९॥

किसी दूसरी देवी ने पूछा कि हे पतली भौंहों वाली और सुन्दर विलासों से युक्त माता, बताइए आपके शरीर के किस स्थान में कैसी रेखा अच्छी समझी जाती है और हस्तिनी का दूसरा नाम क्या है ? दोनों प्रश्नों का एक ही उत्तर दीजिए । माता ने उत्तर दिया 'करेणुका' ।
भावार्थ-पहले प्रश्न का उत्तर है 'करे+अणुका' अर्थात् हाथ में पतली रेखा अच्छी समझी जाती है और दूसरे प्रश्न का उत्तर है 'करेणुका' अर्थात् हस्तिनी का दूसरा नाम करेणुका है ॥२२०॥

किसी देवी ने पूछा-हे मधुर-भाषिणी माता, बताओ कि सीधे, ऊँचे और छायादार वृक्षों से भरे हुए स्थान को क्या कहते हैं ? और तुम्हारे शरीर में सबसे सुन्दर अंग क्या है ? दोनों का एक ही उत्तर दीजिए । माता ने उत्तर दिया 'साल-कानन' अर्थात् सीधे ऊँचे और छायादार वृक्षों से व्याप्त स्थान को 'साल-कानन' (सागौन वृक्षों का वन) कहते हैं और हमारे शरीर में सबसे सुन्दर अङ्ग

'सालकानन' (स+अलक+आनन अर्थात् चूर्णकुन्तल -- सुगन्धित चूर्ण लगाने के योग्य आगे के बाल-जुल्फें) सहित मेरा मुख है ॥२२१॥

किसी देवी ने कहा-हे माता, हे सति, आप आनन्द देने वाली अपनी रूप-सम्पत्ति को ग्लानि प्राप्त न कराइए और आहार से प्रेम छोड़कर अनेक प्रकार का अमृत भोजन कीजिए (इस श्लोक में 'नय' और 'अशान' ये दोनों क्रियाएँ गूढ़ हैं इसलिए इसे क्रियागुप्त कहते हैं) ॥

२२२॥

हे माता, यह सिंह शीघ्र ही पहाड़ की गुफा को छोड़कर उसकी चोटी पर चढ़ना चाहता है और इसलिए अपनी भयंकर सटाओं (गरदन पर के बाल-अयाल) हिला रहा है । (इस श्लोक में 'अधुनात्' यह क्रिया गूढ़ रखी गयी है इसलिए यह भी 'क्रियागुप्त' कहलाता है) ॥२२३॥

हे देवि, गर्भ से उत्पन्न होने वाले पुत्र के द्वारा आपने ही जगत् का सन्ताप नष्ट किया है इसलिए आप एक ही, जगत् को पवित्र करने वाली हैं और आप ही जगत् की माता है । (इस श्लोक में 'अधुना:' यह क्रिया गूढ़ है अतः यह भी क्रियागुप्त श्लोक है) ॥२२४॥

हे देवि, इस समय देवों का उत्सव अधिक बढ़ रहा है इसलिए मैं दैत्यों के चक्र में अरवर्ग अर्थात् अरों के समूह की रचना बिलकुल बन्द कर देती हूँ । (चक्र के बीच में जो खड़ी लकड़ियाँ लगी रहती हैं उन्हें अर कहते हैं । इस थोक में 'अधुनाम्' यह क्रिया गूढ़ है इसलिए यह भी क्रियागुप्त कहलाता है) ॥२२५॥

कुछ आदमी कड़कती हुई धूप में खड़े हुए थे उनसे किसी ने कहा कि 'यह तुम्हारे सामने घनी छाया वाला बड़ा भारी बड़ का वृक्ष खड़ा है' ऐसा कहने पर भी उनमें से कोई भी वहाँ नहीं गया । हे माता, कहिए यह कैसा आश्चर्य है इसके उत्तर में माता ने कहा कि इस श्लोक में जो 'वटवृक्ष:' शब्द है उसकी सन्धि 'वटो+वृक्ष:' इस प्रकार तोड़ना चाहिए और उसका अर्थ ऐसा करना चाहिए कि 'रे लड़के, तेरे सामने यह मेघ के समान कान्तिवाला (काला) बड़ा भारी रीछ (भालू) बैठा है' ऐसा कहने पर कड़ी धूप में भी उसके पास कोई मनुष्य नहीं गया तो क्या आश्चर्य है (यह स्पष्टान्धक श्लोक है) ॥२२६॥

हे माता, आपका स्तन मुक्ताहाररुचि है अर्थात् मोतियों के हार से शोभायमान है, उष्णता से सहित है, सफेद चन्दन से चर्चित है और कुछ-कुछ सफेद वर्ण है इसलिए किसी विरही मनुष्य के समान जान पड़ता है क्योंकि विरही मनुष्य भी मुक्ताहाररुचि होता है, अर्थात् आहार से प्रेम छोड़ देता है, कामज्वरसम्बन्धी उष्णता से सहित होता है, शरीर का सन्ताप दूर करने के लिए चन्दन का लेप लगाये रहता है और विरह की पीड़ा से कुछ-कुछ सफेद वर्ण हो जाता है । (यह श्लेषोपमांलकार है) ॥२२७॥

हे माता, तुम्हारे संसार को आनन्द उत्पन्न करने वाला, कर्मरूपी ईधन को जलाने वाला और तपाये हुए सुवर्ण के समान कान्ति धारण करने वाला पुत्र उत्पन्न होगा । (यह श्लोक गूढ़चतुर्थक कहलाता है क्योंकि इस श्लोक के चतुर्थ पाद में जितने अक्षर हैं वे सबके सब पहले के तीन पादों में आ चुके हैं जैसे 'जगता जनिता नन्दो निरस्तदुरितेन्धनः । संतप्तकनकच्छायो जनिता ते स्तनन्धयः ॥') ॥२२८॥

हे माता, आपका वह पुत्र सदा जयवन्त रहे जो कि जगत् को जीतने वाला है, काम को पराजित करने वाला है, सज्जनों का आधार है, सर्वज्ञ है, तीर्थकर है और कृतकृत्य है (यह निरौष्ठय श्लोक है क्योंकि इसमें ओठ से उच्चारण होने वाले 'उकार, पवर्ग और उपध्मानीय अक्षर नहीं हैं) ॥२२९॥

हे कल्याणि, हे पतिव्रते, आपका वह पुत्र सैकड़ों कल्याण दिखाकर ऐसे स्थान को (मोक्ष) प्राप्त करेगा जहाँ से पुनरागमन नहीं होता इसलिए आप सन्तोष को प्राप्त होओ (यह श्लोक भी निरौष्ठय है) ॥२३०॥

हे सुन्दर दाँतों वाली देवि, देखो, ये देव इन्द्रों के साथ अपनी-अपनी स्त्रियों को साथ लिये हुए बड़े उत्सुक होकर नन्दीश्वर द्वीप और पर्वत पर क्रीड़ा करने के लिए जा रहे हैं । (यह श्लोक बिन्दुमान् हैं अर्थात् 'सुदतीन्द्रैः' की जगह सुदन्तीन्द्रैः' ऐसा दकार पर बिन्दु रखकर पाठ दिया है, इसी प्रकार 'नदीश्वरं' के स्थान पर बिन्दु रखकर 'नन्दीश्वरं' कर दिया है और 'मदराग' की जगह बिन्दु रखकर 'मन्दराग' कर दिया है इसलिए बिन्दुच्युत होनेपर इस श्लोक का दूसरा अर्थ इस प्रकार होता है, हे देवि, ये देवदन्ती अर्थात् हाथियों के इन्द्रों (बड़े-बड़े हाथियों) पर चढ़कर अपनी-अपनी स्त्रियों को साथ लिये हुए मदरागं सेवितुं अर्थात् क्रीड़ा करने के लिए उत्सुक होकर द्वीप और नन्दीश्वर (समुद्र) को जा रहे हैं ।) ॥२३१॥

हे माता, जिनके दो कपोल और एक सूँड़ इस प्रकार तीन स्थानों से मद झर रहा है तथा जो मेघों की घटा के समान आकाश में इधर-उधर विचर रहे हैं ऐसे ये देवों के हाथी जिन पर अनेक बिन्दु शोभायमान हो रहे हैं ऐसे अपने मुखों से बड़े ही सुशोभित हो रहे हैं । (यह बिन्दुच्युतक श्लोक है इसमें बिन्दु शब्द का बिन्दु हटा देने और घटा शब्द पर रख देने से दूसरा अर्थ हो जाता है, चित्रालंकार में श और स में कोई अन्तर नहीं माना जाता, इसलिए दूसरे अर्थ में 'त्रिधा सुताः' की जगह 'त्रिधा श्रुताः' पाठ समझा जायेगा । दूसरा अर्थ इस प्रकार है कि 'हे देवि ! दो, अनेक तथा बारह इस तरह तीन भेदरूप श्रुतज्ञान के धारण करने वाले तथा घण्टानाद करते हुए आकाश में विचरने वाले ये श्रेष्ठदेव, ज्ञान को धारण करने वाले अपने सुशोभित मुख से बड़े ही शोभायमान हो रहे हैं ।) ॥२३२॥

हे देवि, देवों के नगर का परिखा ऐसा जल धारण कर रही है जो कहीं तो लाल कमलों की पराग से लाल हो रहा है, कहीं कमलों से सहित है, कहीं उड़ती हुई जल की छोटी-छोटी बूँदों से शोभायमान और कहीं जल में विद्यमान रहने वाले मगरमच्छ आदि जलजन्तुओं से भयंकर है । (इस श्लोक में जल के वाचक 'तोय' और 'जल' दो शब्द हैं इन दोनों में एक व्यर्थ अवश्य है इसलिए जल शब्द के बिन्दु को हटाकर 'जलमकरदारुणं' ऐसा पद बना लेते हैं जिसका अर्थ होता है जल में विद्यमान मगरमच्छों से भयंकर । इस प्रकार यह भी बिन्दुच्युतक श्लोक है । परन्तु 'अलंकारचिन्तामणि' में इस श्लोक को इस प्रकार पढ़ा है 'मकरन्दारुणं तोयं धत्ते तत्पुरखातिका । साम्बुजं कचिदुद्विन्दु चकमकरदारुणम् ।' और इसे 'बिन्दुमान् बिन्दुच्युतक' का उदाहरण दिया है जो कि इस प्रकार घटित होता है-श्लोक के प्रारम्भ में 'मकरदारुणं' पाठ था वहाँ बिन्दु देकर 'मकरन्दारुणं' ऐसा पाठ कर दिया और अन्त में 'चलन्मकरन्दारुणं' ऐसा पाठ था वहाँ बिन्दु को च्युत कर चलन्मकरदारुणं (चलते हुए मगरमच्छों से भयंकर) ऐसा पाठ कर दिया है ।) ॥२३३॥

हे माता, सिंह अपने ऊपर घात करने वाली हाथियों की सेना की क्षण-भर के लिए भी उपेक्षा नहीं करता और हे देवि, शीत ऋतु में कौन-सी स्त्री क्या चाहती है ? माता ने उत्तर दिया कि समान जंघाओं वाली स्त्री शीत ऋतु में पुत्र ही चाहती है । (इस श्लोक में पहले चरण के 'बालं' शब्द में आकार की मात्रा च्युत कर 'बलं' पाठ पढ़ना चाहिए जिससे उसका 'सेना' अर्थ होने लगता है और अन्तिम चरण के 'बलं' शब्द में आकार की मात्रा बढ़ाकर 'बालं' पाठ पढ़ना चाहिए जिससे उसका अर्थ पुत्र होने लगता है । इसी प्रकार प्रथम चरण में 'समजं' के स्थान में आकार की मात्रा बढ़ाकर 'सामजं' पाठ समझना चाहिए जिससे उसका अर्थ 'हाथियों की' होने लगता है । इन कारणों से यह श्लोक मात्राच्युतक कहलाता है ।) ॥२३४॥

हे माता, कोई स्त्री अपने पति के साथ विरह होने पर उसके समागम से निराश होकर व्याकुल और मूर्च्छित होती हुई गद्गद् स्वर से कुछ भी खेदखिन्न हो रही है । (इस श्लोक में जब तक 'जगले' पाठ रहता है और उसका अर्थ 'खेदखिन्न होना' किया जाता है तब तक श्लोक का अर्थ सुसंगत नहीं होता, क्योंकि पति के समागम की निराशा होने पर किसी स्त्री का गद्गद् स्वर नहीं होता और न खेदखिन्न होने के साथ

कुछ भी विशेषण की सार्थकता दिखती है इसलिए 'जगले' पाठ में 'ल' व्यञ्जन को च्युत कर 'जगे' ऐसा पाठ करना चाहिए। उस समय श्लोक का अर्थ इस प्रकार होगा कि-हे देवि, कोई स्त्री पति का विरह होने पर उसके समागम से निराश होकर स्वर्ग के चढ़ाव-उतार को कुछ अव्यवस्थित करती हुई उत्सुकतापूर्वक कुछ भी गा रही है।' इस तरह यह श्लोक 'व्यञ्जनच्युतक' कहलाता है ॥२३५॥

किसी देवी ने पूछा कि हे माता, पिंजरे में कौन रहता है? कठोर शब्द करने वाला कौन है जीवों का आधार क्या है? और अक्षरच्युत होने पर भी पढ़ने योग्य क्या है? इन प्रश्नों के उत्तर में माता ने प्रश्नवाचक 'कः' शब्द के पहले एक-एक अक्षर और लगाकर उत्तर दे दिया और इस प्रकार करने से श्लोक के प्रत्येक पाद में जो एक-एक अक्षर कम रहता था उसकी भी पूर्ति कर दी जैसे देवी ने पूछा था 'कः पंजर मध्यास्ते' अर्थात् पिंजड़े में कौन रहता है? माता ने उत्तर दिया 'शुकः पंजरमध्यास्ते' अर्थात् पिंजड़े में तोता रहता है। 'कः परुषनिस्वनः' कठोर शब्द करने वाला कौन है? माता ने उत्तर दिया 'काकः परुषनिस्वनः' अर्थात् कौवा कठोर शब्द करने वाला है। 'कः प्रतिष्ठा जीवानाम्' अर्थात् जीवों का आधार क्या है माता ने उत्तर दिया 'लोकः प्रतिष्ठाजीवानाम्' अर्थात् जीवों का आधार लोक है। और 'कः पाठ्योऽक्षरच्युतः' अर्थात् अक्षरों से च्युत होने पर भी पढ़ने योग्य क्या है? माता ने उत्तर दिया कि 'श्लोकः पाठ्योऽक्षरच्युतः' अर्थात् अक्षर च्युत होने पर भी श्लोक पढ़ने योग्य है। (यह एकाक्षरच्युत प्रश्नोत्तर जाति है) ॥२३६॥

किसी देवी ने पूछा कि हे माता, मधुर शब्द करने वाला कौन है? सिंह की ग्रीवा पर क्या होते हैं? उत्तम गन्ध कौन धारण करता है और यह जीव सर्वज्ञ किसके द्वारा होता है इन प्रश्नों का उत्तर देते समय माता ने प्रश्न के साथ ही दो-दो अक्षर जोड़कर उत्तर दे दिया और ऐसा करने से श्लोक के प्रत्येक पाद में जो दो-दो अक्षर कम थे उन्हें पूर्ण कर दिया। जैसे माता ने उत्तर दिया-मधुर शब्द करने वाले केकी अर्थात् मयूर होते हैं, सिंह की ग्रीवा पर केसर होते हैं, उत्तम गन्ध केतकी का पुष्प धारण करता है, और यह जीव केवलज्ञान के द्वारा सर्वज्ञ हो जाता है (यह द्व्यक्षरच्युत प्रश्नोत्तर जाति है) ॥२३७॥

किसी देवी ने फिर पूछा कि हे माता, मधुर आलाप करने वाला कौन है? पुराना वृक्ष कौन है? छोड़ देने योग्य राजा कौन है? ओर विद्वानों को प्रिय कौन है? माता ने पूर्व श्लोक की तरह यहाँ भी प्रश्न के साथ ही दो-दो अक्षर जोड़कर उत्तर दिया और प्रत्येक पाद के दो-दो कम अक्षरों को पूर्ण कर दिया। जैसे माता ने उत्तर दिया-मधुर आलाप करने वाला कोयल है, कोटर वाला वृक्ष पुराना वृक्ष है, क्रोधी राजा छोड़ देने योग्य है और विद्वानों को विद्वान् ही प्रिय अथवा मान्य है। (यह भी द्व्यक्षरच्युत प्रश्नोत्तर जाति है) ॥२३८॥

किसी देवी ने पूछा कि हे माता, स्वर के समस्त भेदों में उत्तम स्वर कौन-सा है? शरीर की कान्ति अथवा मानसिक रुचि को नष्ट करने वाला रोग कौन-सा है? पति को कौन प्रसन्न कर सकती है और उच्च तथा गम्भीर शब्द करने वाला कौन है इन सभी प्रश्नों का उत्तर माता ने दो-दो अक्षर जोड़कर दिया जैसे कि स्वर के समस्त भेदों में वीणा का स्वर उत्तम है, शरीर की कान्ति अथवा मानसिक रुचि को नष्ट करने वाला कामला (पीलिया) रोग है, कामिनी स्त्री पति को प्रसन्न कर सकती है और उच्च तथा गम्भीर स्वर करने वाली भेरी है। (यह श्लोक भी द्व्यक्षरच्युत प्रश्नोत्तर जाति है) ॥२३९॥

किसी देवी ने फिर पूछा कि हे माता, स्वर के भेदों में उत्तम स्वर कौन-सा है? कान्ति अथवा मानसिक रुचि को नष्ट करने वाला रोग कौन-सा है? कौन-सी स्त्री पति को प्रसन्न कर सकती है और ताड़ित होने पर गम्भीर तथा उच्च शब्द करने वाला बाजा कौन-सा है? इस श्लोक में पहले ही प्रश्न हैं। माता ने इस श्लोक के तृतीय अक्षर को हटाकर उसके स्थान पर पहले श्लोक का तृतीय अक्षर बोलकर उत्तर दिया (यह श्लोक एकाक्षरच्युतक और एकाक्षरच्युतक है) ॥२४०॥

कोई देवी पूछती है कि हे माता, 'किसी वन में एक कौआ संभोगप्रिय कागली का निरन्तर सेवन करता है।' इस श्लोक में चार अक्षर कम हैं उन्हें पूरा कर उत्तर दीजिए। माता ने चारों चरणों में एक-एक अक्षर बढ़ाकर उत्तर दिया कि हे कान्तानने, (हे सुन्दर मुखवाली) कामी पुरुष संभोगप्रिय कामिनी का सदा सेवन करता है (यह श्लोक एकाक्षरच्युतक है) ॥२४१॥

किसी देवी ने फिर पूछा कि हे माता, तुम्हारे गर्भ में कौन निवास करता है? हे सौभाग्यवती, ऐसी कौन-सी वस्तु है जो तुम्हारे पास नहीं है? और बहुत खाने वाले मनुष्य को कौन-सी वस्तु मारती है? इन प्रश्नों का उत्तर ऐसा दीजिए कि जिसमें अन्त का व्यञ्जन एक-सा हो और आदि का व्यञ्जन भिन्न-भिन्न प्रकार का हो। माता ने उत्तर दिया 'तुक्' 'शुक्' 'रुक्' अर्थात् हमारे गर्भ में पुत्र निवास करता है, हमारे समीप शोक नहीं है और अधिक खाने वाले को रोग मार डालता है। (इन तीनों उत्तरों का प्रथम व्यञ्जन अक्षर जुदा-जुदा है और अन्तिम व्यञ्जन सबका एक-सा है) ॥२४२॥

किसी देवी ने पूछा कि हे माता, उत्तम भोजनों में रुचि बढ़ाने वाला क्या है ? गहरा जलाशय क्या है ? और तुम्हारा पति कौन है ? हे तन्वंगि, इन प्रश्नों का उत्तर ऐसे पृथक्-पृथक् शब्दों में दीजिए जिनका पहला व्यंजन एक समान न हो । माता ने उत्तर दिया कि 'सूप' 'कूप' और 'भूप', अर्थात् उत्तम भोजनों में रुचि बढ़ाने वाला सूप (दाल) है, गहरा जलाशय कुआँ है और हमारा पति भूप (राजा नाभिराज) है ॥२४३॥

किसी देवी ने फिर कहा कि हे माता, अनाज में से कौन-सी वस्तु छोड़ दी जाती है ? घड़ा कौन बनाता है ? और कौन पापी चूहों को खाता है ? इनका उत्तर भी ऐसे पृथक्-पृथक् शब्दों में कहिए जिनके पहले के दो अक्षर भिन्न-भिन्न प्रकार के हों । माता ने कहा 'पलाल', 'कुलाल' और 'बिलाव' अर्थात् अनाज में से पियाल छोड़ दिया जाता है, घड़ा कुम्हार बनाता है और बिलाव चूहों को खाता है ॥२४४॥ कोई देवी फिर पूछती है कि हे देवी, तुम्हारा सम्बोधन क्या है ? सत्ता अर्थ को कहने वाला क्रियापद कौन-सा है ? और कैसे आकाश में शोभा होती है ? माता ने उत्तर दिया 'भवति', अर्थात् मेरा सम्बोधन भवति, (भवती शब्द का सम्बोधन का एकवचन) है, सत्ता अर्थ को कहने वाला क्रियापद 'भवति' है (भू-धातु के प्रथम पुरुष का एकवचन) और भवति अर्थात् नक्षत्र सहित आकाश में शोभा होती है (भवत् शब्द का सप्तमी के एकवचन में भवति रूप बनता है) (इन प्रश्नों का भवति उत्तर इसी श्लोक से छिपा है इसलिए इसे 'निहूतैकालापक' कहते हैं) ॥२४५॥

कोई देवी फिर पूछती है कि माता, देवों के नायक इन्द्र भी अतिशय मग्न होकर जिनके उत्तम चरणों की पूजा करते हैं ऐसे जिनेन्द्रदेव को क्या कहते हैं और कैसे हाथी को उत्तम लक्षण वाला जानना चाहिए ? माता ने उत्तर दिया 'सुरवरद' अर्थात् जिनेन्द्रदेव को 'सुरवरद'- देवों को वर देने वाला कहते हैं और सु-रव-रद अर्थात् उत्तम शब्द और दाँतों वाले हाथी को उत्तम लक्षण वाला जानना चाहिए । (इन प्रश्नों का उत्तर बाहर से देना पड़ा है इसलिए इसे 'बहिर्लापिका' कहते हैं) ॥२४६॥

किसी देवी ने कहा कि हे माता, केतकी आदि फूलों के वर्ण से, सन्ध्या आदि के वर्ण से और शरीर के मध्यवर्ती वर्ण से तू अपने पुत्र को सिंह ही समझ । यह सुनकर माता ने कहा कि ठीक है, केतकी का आदि अक्षर 'के' सन्ध्या का आदि अक्षर 'स' और शरीर का मध्यवर्ती अक्षर 'री' इन तीनों अक्षरों को मिलाने से 'केसरी' यह सिंहवाचक शब्द बनता है इसलिए तुम्हारा कहना सच है । (इसे शब्द-प्रहेलिका कहते हैं) ॥२४७॥

(किसी देवी ने फिर कहा कि हे कमलपत्र के समान नेत्रों वाली माता, 'करेणु' शब्द में से क्, र् और ण् अक्षर घटा देने पर जो शेष रूप बचता है वह आपके लिए अक्षय और अविनाशी हो । हे देवि ! बताइए वह कौन-सा रूप है माता ने कहा 'आयुः', अर्थात् करेणुः शब्द में से क् र् और ण् व्यंजन दूर कर देने पर अ+ए+उः ये तीन स्वर शेष बचते हैं । अ और ए के बीच व्याकरण के नियमानुसार सन्धि कर देने से दोनों के स्थान में 'ऐ' आदेश हो जायेगा । इसलिए 'ऐ+उः' ऐसा रूप होगा । फिर इन दोनों के बीच सन्धि होकर अर्थात् 'ऐ' के स्थान में 'आय्' आदेश करने पर आय्+उः=आयुः ऐसा रूप बनेगा । तुम लोगों ने हमारी आयु के अक्षय और अविनाशी होने की भावना की है सो उचित ही है ।) फिर कोई देवी पूछती है कि हे माता, कौन और कैसा पुरुष राजाओं के द्वारा दण्डनीय नहीं होता ? आकाश में कौन शोभायमान होता है ? डर किससे लगता है और हे भीरु ! तेरा निवासस्थान कैसा है ? इन प्रश्नों के उत्तर में माता ने श्लोक का चौथा चरण कहा 'नानागार-विराजितः' । इस एक चरण से ही पहले कहे हुए सभी प्रश्नों का उत्तर हो जाता है । जैसे, ना अनागाः, रविः, आजितः, नानागारविराजितः अर्थात् अपराधरहित मनुष्य राजाओं के द्वारा दण्डनीय नहीं होता, आकाश में रवि (सूर्य) शोभायमान होता है, डर आजि (युद्ध) से लगता है और मेरा निवासस्थान अनेक घरों से विराजमान है । (यह आदि विषम अन्तरालापक श्लोक कहलाता है) ॥ २४८॥

किसी देवी ने फिर पूछा कि हे माता ! तुम्हारे शरीर में गम्भीर क्या है ? राजा नाभिराज की भुजाएं कहाँ तक लम्बी हैं ? कैसी और किस वस्तु में अवगाहन (प्रवेश) करना चाहिए ? और हे पतिव्रते, तुम अधिक प्रशंसनीय किस प्रकार हो ? माता ने उत्तर दिया 'नाभिराजानुगाधिकं' (नाभिः, आजानु, गाधि-कं, नाभिराजानुगा-अधिकं) । श्लोक के इस एक चरण में ही सब प्रश्नों का उत्तर आ गया है जैसे, हमारे शरीर में गम्भीर (गहरी) नाभि है, महाराज नाभिराज की भुजाएं आजानु अर्थात् घुटनों तक लम्बी हैं, गाधि अर्थात् कम गहरे कं अर्थात् जल में अवगाहन करना चाहिए और मैं नाभिराज की अनुगामिनी (आज्ञाकारिणी) होने से अधिक प्रशंसनीय हूँ । (यहाँ प्रश्नों का उत्तर श्लोक में न आये हुए बाहर के शब्दों से दिया गया है इसलिए यह बहिर्लापक अन्त विषम प्रश्नोत्तर है) ॥२४९॥

इस प्रकार उन देवियों ने अनेक प्रकार के प्रश्न कर माता से उन सबका योग्य उत्तर प्राप्त किया । अब वे चित्रबद्ध श्लोकों द्वारा माता का मनोरंजन करती हुई बोली । हे देवि, देखो, आपको प्रसन्न करने के लिए स्वर्गलोक से आयी हुई ये देवियाँ आकाशरूपी रंगभूमि में अनेक प्रकार के करणों (नृत्यविशेष) के द्वारा नृत्य कर रही हैं ॥२५०॥

हे माता, उस नाटक में होने वाले रसीले नृत्य को देखिए तथा देवी के द्वारा लाया हुआ और आकाश में एक जगह इकट्ठा हुआ यह अन्तरा का समूह भी देखिए । (यह गोमूत्रिकाबद्ध श्लोक है) ॥२५१॥

हे तन्वि ! रत्नों की वर्षा से आपके घर के आँगन के चारों ओर की भूमि ऐसी शोभायमान हो रही है मानो किसी बड़े खजाने को ही धारण कर रही हो ॥२५२॥

हे देवि इधर अनेक प्रकार के रत्नों की किरणों से चित्र-विचित्र पड़ती हुई यह रत्नधारा देखिए । इसे देखकर मुझे तो ऐसा जान पड़ता है मानो रत्नधारा के छल से यह स्वर्ग की लक्ष्मी ही आपकी उपासना करने के लिए आपके समीप आ रही है ॥२५३॥

जिसकी आज्ञा अत्यन्त प्रशंसनीय है और जो जितेन्द्रिय पुरुषों में अतिशय श्रेष्ठ है ऐसी हे माता ! देवताओं के आशीर्वाद से आकाश को व्याप्त करने वाली अत्यन्त सुशोभित, जीवों की दरिद्रता को नष्ट करने वाली और नम्र होकर आकाश से पड़ती हुई यह रत्नों की वर्षा तुम्हारे आनन्द के लिए हो (यह अर्धभ्रम श्लोक है-इस श्लोक के तृतीय और चतुर्थ चरण के अक्षर प्रथम तथा द्वितीय चरण में ही आ गये हैं ।) ॥२५४॥

इस प्रकार उन देवियों के द्वारा पूछे हुए कठिन-कठिन प्रश्नों को विशेष रूप से जानती हुई वह गर्भवती मरुदेवी चिरकाल तक सुखपूर्वक निवास करती रही ॥२५५॥

वह मरुदेवी स्वभाव से ही सन्तुष्ट रहती थी और जब उसे इस बात का परिज्ञान हो गया कि मैं अपने उदर में ज्ञानमय तथा उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप तीर्थकर पुत्र को धारण कर रही हूँ तब उसे और भी अधिक सन्तोष हुआ था ॥२५६॥

वह मरुदेवी उस समय अपने गर्भ के अन्तर्गत अतिशय देदीप्यमान तेज को धारण कर रही थी इसलिए सूर्य की किरणों को धारण करने वाली पूर्व दिशा के समान अतिशय शोभा को प्राप्त हुई थी ॥२५७॥

अन्य सब कान्तियों को तिरस्कृत करने वाली रत्नों की धारारूपी विशाल दीपक से जिसका पूर्ण प्रभाव जान लिया गया है ऐसी वह कमलनयनी मरुदेवी किसी दीपक विशेष से जानी हुई खजाने की मध्यभूमि के समान सुशोभित हो रही थी ॥२५८॥

जिसके भीतर अनेक रत्न भरे हुए हैं ऐसी रत्नों की खान की भूमि जिस प्रकार अतिशय शोभा को धारण करती है उसी प्रकार वह मरुदेवी भी गर्भ में स्थित महाबलशाली पुत्र से अतिशय शोभा धारण कर रही थी ॥२५९॥

वे भगवान् ऋषभदेव माता के उदर में स्थित होकर भी उसे किसी प्रकार का कष्ट उत्पन्न नहीं करते थे सो ठीक ही है दर्पण में प्रतिबिम्बित हुई अग्नि क्या कभी दर्पण को जला सकती है अर्थात् नहीं जला सकती ॥२६०॥

यद्यपि माता मरुदेवी का कृश उदर पहले के समान ही त्रिवलियों से सुशोभित बना रहा तथापि गर्भ वृद्धि को प्राप्त होता गया सो यह भगवान् के तेज का प्रभाव ही था ॥२६१॥

न तो माता के उदर में कोई विकार हुआ था, न उसके स्तनों के अग्रभाग ही काले हुए थे और न उसका मुख ही सफेद हुआ था फिर भी गर्भ बढ़ता जाता था यह एक आश्चर्य की बात थी ॥२६२॥

जिस प्रकार मदोन्मत्त भ्रमर कमलिनी के केसर को बिना छुए ही उसकी सुगन्ध मात्र से सन्तुष्ट हो जाता है उसी प्रकार उस समय महाराज नाभिराज भी मरुदेवी के सुगन्धि युक्त मुख को सूँघकर ही सन्तुष्ट हो जाते थे ॥२६३॥

मरुदेवी के निर्मल गर्भ में स्थित तथा मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानों से विशुद्ध अन्तःकरण को धारण करनेवाले भगवान् वृषभदेव ऐसे सुशोभित होते थे जैसा कि स्फटिक मणि के बने हुए घर के बीच में रखा हुआ निश्चल दीपक सुशोभित होता है ॥२६४॥

अनेक देव-देवियाँ जिसका सत्कार कर रही हैं और जो अपने उदर में नाभि-कमल के ऊपर भगवान् वृषभदेव को धारण कर रही हैं ऐसी वह मरुदेवी साक्षात् लक्ष्मी के समान शोभायमान हो रही थी ॥२६५॥

अपने समस्त पापों का नाश करने के लिए इन्द्र के द्वारा भेजी हुई इन्द्राणी भी अप्सराओं के साथ-साथ गुप्तरूप से महासती मरुदेवी की सेवा किया करती थी ॥२६६॥

जिस प्रकार अतिशय शोभायमान चन्द्रमा की कला और सरस्वती देवी किसी को नमस्कार नहीं करती किन्तु सब लोग उन्हें ही नमस्कार करते हैं इसी प्रकार वह मरुदेवी भी किसी को नमस्कार नहीं करती थी, किन्तु संसार के अन्य समस्त लोग स्वयं उसे ही नमस्कार करते थे ॥२६७॥

इस विषय में अधिक कहने से क्या प्रयोजन है इतना कहना ही बस है कि तीनों लोकों में वही एक प्रशंसनीय थी । वह जगत् के स्रष्टा अर्थात् भोगभूमि के बाद कर्मभूमि की व्यवस्था करने वाले श्रीवृषभदेव की जननी थी इसलिए कहना चाहिए कि वह समस्त लोक की जननी थी ॥२६८॥

इस प्रकार जो स्वभाव से ही मनोहर अंगों को धारण करने वाली है, श्री, ह्री आदि देवियाँ जिसकी उपासना करती हैं तथा अनेक प्रकार की शोभा व लक्ष्मी को धारण करने वाले महाराज भी स्वयं जिसकी सेवा करते हैं ऐसी वह मरुदेवी, तीनों लोकों में अत्यन्त सुन्दर श्रीभवन में रहती हुई बहुत ही सुशोभित हो रही थी ॥२६९॥

अत्यन्त सुन्दर अंगों को धारण करने वाली वह मरुदेवी मानो एक कल्पलता ही थी और मन्द हास्यरूपी पुष्पों से मानो लोगों को दिखला रही थी कि अब शीघ्र ही फल लगने वाला है । तथा इसके समीप ही बैठे हुए मङ्गलमय शोभा धारण करने वाले महाराज नाभिराज भी एक ऊँचे कल्पवृक्ष के समान शोभायमान होते थे ॥२७०॥

उस समय मरुदेवी का मुख एक कमल के समान जान पड़ता था क्योंकि वह कमल के समान ही अत्यन्त सुन्दर था, सुगन्धित था और प्रकाशमान दाँतों की किरणमञ्जरीरूप केशर से सहित था तथा वचनरूपी पराग के रस की आशा से उसमें अत्यन्त आसक्त हुए महाराज नाभिराज ही पास बैठे हुए राजहंस पक्षी थे । इस प्रकार उसके मुखरूपी कमल को उदित (उत्पन्न) होते हुए बालकरूपी सूर्य ने अत्यन्त हर्ष को प्राप्त कराया था ॥२७१॥

अथवा उस मरुदेवी का मुख पूर्ण चन्द्रमा के समान था क्योंकि वह भी पूर्ण चन्द्रमा के समान सब लोगों के मन को उत्कृष्ट आनन्द देने वाला था और चन्द्रमा जिस प्रकार अमृत की सृष्टि करता है उसी प्रकार उसका मुख भी बार-बार उत्कृष्ट वचनरूपी अमृत की सृष्टि करता था । महाराज नाभिराज उसके वचनरूपी अमृत को पीने में बड़े सत्पूषण थे इसलिए वे अपने परिवाररूपी कुमुद-समूह के द्वारा विभक्त कर दिये हुए अपने भाग का इच्छानुसार पान करते हुए रमण करते थे । भावार्थ-मरुदेवी की आज्ञा पालन करने के लिए महाराज नाभिराज तथा उनका समस्त परिवार तैयार रहता था ॥२७२॥

इस प्रकार जो प्रकटरूप से अनेक मंगल धारण किये हुए हैं और अनेक देवियाँ आदर के साथ जिसकी सेवा करती हैं ऐसी मरुदेवी परम सुख देने वाले और तीनों लोकों में आश्चर्य करने वाले भगवान् ऋषभदेवरूपी तेजःपुंज को धारण कर रही थी और महाराज नाभिराज कमलों से सुशोभित तालाब के समान जिनेन्द्र होनेवाले पुत्ररूपी सूर्य की प्रतीक्षा करते हुए बड़ी आकांक्षा के साथ परम सुख देनेवाले भारी धैर्य को धारण कर रहे थे ॥२७३॥

इस प्रकार श्रीआर्ष नाम से प्रसिद्ध भगवज्जिनेसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रह में भगवान के स्वर्गावतरण का वर्णन करने वाला बारहवां पर्व समाप्त हुआ ॥१२॥

पर्व-13 -- भगवान का जन्माभिषेक

पर्व-13 -- भगवान का जन्माभिषेक

कथा :

अथानन्तर, ऊपर कही हुई श्री, ह्री आदि देवियाँ जिसकी सेवा करने के लिए सदा समीप में विद्यमान रहती हैं ऐसी माता मरुदेवी ने नव महीने व्यतीत होने पर भगवान् वृषभदेव को उत्पन्न किया ॥१॥

जिस प्रकार प्रातःकाल के समय पूर्व दिशा कमलों को विकसित करने वाले प्रकाशमान सूर्य को प्राप्त करती है उसी प्रकार मरुदेवी ने भी चैत्र कृष्ण नवमी के दिन सूर्योदय के समय उत्तराषाढ़ नक्षत्र और ब्रह्म नामक महायोग में मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानों से शोभायमान, बालक होने पर भी गुणों से वृद्ध तथा तीनों लोकों के एक मात्र स्वामी देदीप्यमान पुत्र को प्राप्त किया ॥२-३॥

तीन ज्ञानरूपी किरणों से शोभायमान, अतिशय कांति का धारक और नाभिराजरूपी उदयाचल से उदय को प्राप्त हुआ वह बालकरूपी सूर्य बहुत ही शोभायमान होता था ॥४॥

उस समय समस्त दिशाएँ स्वच्छता को प्राप्त हुई थीं और आकाश निर्मल हो गया था । ऐसा मालूम होता था मानो भगवान् के गुणों की निर्मलता का अनुकरण करने के लिए ही दिशा और आकाश स्वच्छता को प्राप्त हुए हों ॥५॥

उस समय प्रजा का हर्ष बढ़ रहा था, देव आश्चर्य को प्राप्त हो रहे थे और कल्पवृक्ष ऊँचों से प्रफुल्लित फूल बरसा रहे थे ॥६॥

देवों के दुन्दुभि बाजे बिना बजाये ही ऊँचा शब्द करते हुए बज रहे थे और कोमल, शीतल तथा सुगन्धित वायु धीरे-धीरे बह रही थी ॥७॥

उस समय पहाड़ों को हिलाती हुई पृथिवी भी हिलने लगी थी मानो सन्तोष से नृत्य ही कर रही हो और समुद्र भी लहरा रहा था मानो परम आनन्द को प्राप्त हुआ ॥८॥

तदनन्तर सिंहासन कम्पायमान होने से अवधिज्ञान जोड़कर इन्द्र ने जान लिया कि समस्त पापों को जीतने वाले जिनेन्द्रदेव का जन्म हुआ ॥९॥

आगामी काल में उत्पन्न होने वाले भव्य जीवरूपी कमलों को विकसित करने वाले श्री तीर्थकररूपी सूर्य के उदित होते ही इन्द्र ने उनका जन्माभिषेक करने का विचार किया ॥१०॥

उस समय अकस्मात् सब देवों के आसन कम्पित होने लगे थे और ऐसे मालूम होते थे मानो उन देवों को बड़े संभ्रम के साथ ऊँचे सिंहासनों से नीचे ही उतार रहे हों ॥११॥

जिनके मुकुटों में लगे हुए मणि कुछ-कुछ हिल रहे हैं ऐसे देवों के मस्तक स्वयमेव नम्रीभूत हो गये थे और ऐसे मालूम होते मानो बड़े आश्रय से सुर, असुर आदि सबके गुरु भगवान् जिनेन्द्रदेव के जन्म की भावना ही कर रहे हों ॥१२॥

उस समय कल्पवासी, ज्योतिषी, व्यन्तर और भवनवासी देवों के घरों में क्रम से अपने-आप ही घण्टा, सिंहनाद, भेरी और शंखों के शब्द होने लगे थे ॥१३॥

उठी हुई लहरों से शोभायमान समुद्र के समान उन बाजों का गम्भीर शब्द सुनकर देवों ने जान लिया कि तीन लोक के स्वामी तीर्थकर भगवान् का जन्म हुआ है ॥१४॥

तदनन्तर महासागर की लहरों के समान शब्द करती हुई देवों की सेनाएँ इन्द्र की आज्ञा पाकर अनुक्रम से स्वर्ग से निकलीं ॥१५॥

हाथी, घोड़े, रथ, गन्धर्व, नृत्य करने वाली, पियादे और बैल इस प्रकार इन्द्र की ये सात बड़ी-बड़ी सेनाएँ निकलीं ॥१६॥

तदनन्तर सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र ने इन्द्राणीसहित बड़े भारी (एक लाख योजन विस्तृत) ऐरावत हाथी पर चढ़कर अनेक देवों से परवृत हो प्रस्थान किया ॥१७॥

तत्पश्चात् सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष और लोकपाल जाति के देवों ने उस सौधर्म इन्द्र को चारों ओर से घेर लिया अर्थात् उसके चारों ओर चलने लगे ॥१८॥

उस समय दुन्दुभि बाजों के गम्भीर शब्दों से तथा देवों के जय-जय शब्द के उच्चारण से उस देवसेना में बड़ा भारी कोलाहल हो रहा था ॥ १९॥

उस सेना में आनन्दित हुए ही देव हँस रहे थे, कितने ही नृत्य कर रहे थे, कितने ही उछल रहे थे, कितने ही विशाल शब्द कर रहे थे, कितने ही आगे दौड़ते थे, और कितने ही गाते थे ॥२०॥ वे सब देव-देवेन्द्र अपने-अपने विमानों और पृथक्-पृथक् वाहनों पर चढ़कर समस्त आकाशरूपी आँगन को व्याप्त कर आ रहे थे ॥२१॥

उन आते हुए देवों के विमान और वाहनों से व्याप्त हुआ आकाश ऐसा मालूम होता था मानो तिरसठ पटल वाले स्वर्ग से भिन्न किसी दूसरे स्वर्ग की ही सृष्टि कर रहा हो ॥२२॥

उस समय इन्द्र के शरीर की कान्तिरूपी स्वच्छ जल से भरे हुए आकाशरूपी सरोवर में अप्सरा के मन्द-मन्द हँसते हुए मुख, कमलों की शोभा विस्तृत कर रहे थे ॥२३॥

अथवा इन्द्र की सेनारूपी चञ्चल लहरों से भरे हुए आकाशरूपी समुद्र में ऊपर को सूंड किये हुए देवों के हाथी मगरमच्छों के समान सुशोभित हो रहे थे ॥२४॥

अनन्तर वे देवों की सेनाएँ क्रम-क्रम से बहुत ही शीघ्र आकाश से जमीन पर उतरकर उत्कृष्ट विभूतियों से शोभायमान अयोध्यापुरी में जा पहुँची ॥२५॥

देवों के सैनिक चारों ओर से अयोध्यापुरी को घेरकर स्थित हो गये और बड़े उत्सव के साथ आये हुए इन्द्रों से राजा नाभिराज का आँगन भर गया ॥२६॥

तत्पश्चात् इन्द्राणी ने बड़े ही उत्सव से प्रसूतिगृह में प्रवेश किया और वहाँ कुमार के साथ-साथ जिनमाता मरुदेवी के दर्शन किये ॥२७॥ जिस प्रकार अनुराग (लाली) सहित सच्चा बालसूर्य से युक्त पूर्व दिशा को बड़े ही हर्ष से देखती है उसी प्रकार अनुराग (प्रेम) सहित इन्द्राणी ने जिनबालक से युक्त जिनमाता को बड़े ही प्रेम से देखा ॥२८॥

इन्द्राणी ने वहाँ जाकर पहले कई बार प्रदक्षिणा दी फिर जगत् के गुरु जिनेन्द्रदेव को नमस्कार किया और फिर जिनमाता के सामने खड़े होकर इस प्रकार स्तुति की ॥२९॥

कि हे माता, तू तीनों लोक की कल्याणकारिणी माता है, तू ही मंगल करने वाली है, तू ही महादेवी है, तू ही पुण्यवती है और तू ही यशस्विनी है ॥३०॥

जिसने अपने शरीर को गुप्त कर रखा है ऐसी इन्द्राणी ने ऊपर लिखे अनुसार जिनमाता की स्तुति कर उसे मायामयी नींद से युक्त कर दिया । तदनन्तर उसके आगे मायामयी दूसरा बालक रखकर शरीर से निकलते हुए तेज के द्वारा लोक को व्याप्त करने वाले चूड़ामणि रत्न के समान जगद्गुरु जिनबालक को दोनों हाथों से उठाकर वह परम आनन्द को प्राप्त हुई ॥३१-३२॥

उस समय अत्यन्त दुर्लभ भगवान् के शरीर का स्पर्श पाकर इन्द्राणी ने ऐसा माना था मानो मैंने तीनों लोकों का समस्त ऐश्वर्य ही अपने अधीन कर लिया हो ॥३३॥

वह इन्द्राणी बार-बार उनका मुख देखती थी, बार-बार उनके शरीर का स्पर्श करती थी और बार-बार उनके शरीर को सूँघती थी जिससे उसके नेत्र हर्ष से प्रफुल्लित हो गये थे और वह उत्कृष्ट प्रीति को प्राप्त हुई थी ॥३४॥

तदनन्तर जिनबालक को लेकर जाती हुई वह इन्द्राणी ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो अपनी देदीप्यमान किरणों से आकाश को व्याप्त करनेवाले सूर्य को लेकर जाता हुआ आकाश ही सुशोभित हो रहा है ॥३५॥

उस समय तीनों लोकों में मंगल करने वाले भगवान् के आगे-आगे अष्ट मंगलद्रव्य धारण करने वाली दिक्कुमारी देवियाँ चल रही थीं और ऐसी जान पड़ती थीं मानो इकट्ठी हुई भगवान् की उत्तम ऋद्धियाँ ही हों ॥३६॥

छत्र, ध्वजा, कलश, चमर, सुप्रतिष्ठक (मोंदरा-ठोना), झारी, दर्पण और ताड़का पंखा ये आठ मंगलद्रव्य कहलाते हैं ॥३७॥

उस समय मंगलों में भी मंगलपने को प्राप्त कराने वाले और तरुण सूर्य के समान शोभायमान भगवान् अपनी दीप्ति से दीपकों के प्रकाश को रोक रहे थे । भावार्थ--भगवान् के शरीर की दीप्ति के सामने दीपकों का प्रकाश नहीं फैल रहा था ॥३८॥

तत्पश्चात् जिस प्रकार पूर्व दिशा प्रकाशमान मणियों से सुशोभित उदयाचल के शिखर पर बाल सूर्य को विराजमान कर देती हैं उसी प्रकार इन्द्राणी ने जिनबालक को इन्द्र की हथेली पर विराजमान कर दिया ॥३९॥

इन्द्र आदरसहित इन्द्राणी के हाथ से भगवान् को लेकर हर्ष से नेत्रों को प्रफुल्लित करता हुआ उनका सुन्दर रूप देखने लगा ॥४०॥

तथा नीचे लिखे अनुसार उनकी स्तुति करने लगा--हे देव, आप तीनों जगत् की ज्योति हैं; हे देव, आप तीनों जगत् के गुरु हैं; हे देव, आप तीनों जगत् के विधाता हैं और हे देव, आप तीनों जगत् के स्वामी हैं ॥४१॥

हे नाथ, विद्वान् लोग, केवलज्ञानरूपी सूर्य का उदय होने के लिए आपको ही बड़े-बड़े मुनियों के द्वारा वन्दनीय और अतिशय उन्नत उदयाचल पर्वत मानते हैं ॥४२॥

हे नाथ, आप भव्य जीवरूपी कमलों के समूह को विकसित करने के लिए सूर्य के समान हैं । मिथ्याज्ञानरूपी गाढ़ अन्धकार से ढका-हुआ यह संसार अब आपके द्वारा ही प्रबोध को प्राप्त होगा ॥४३॥

हे नाथ, आप गुरुओं के भी गुरु हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप महाबुद्धिमान् हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप भव्य जीवरूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य के समान हैं और गुणों के समुद्र हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥४४॥

हे भगवन् आपने तीनों लोकों को जान लिया है इसलिए आप से ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा करते हुए हम लोग आपके चरणकमलों को बड़े आदर से अपने मस्तक पर धारण करते हैं ॥४५॥

हे नाथ, मुक्तिरूपी लक्ष्मी उत्कण्ठित होकर आपमें स्नेह रखती है और जिस प्रकार समुद्र में मणि बढ़ते रहते हैं उसी प्रकार आप में अनेक

गुण बढ़ते रहते हैं ॥४६॥

इस प्रकार देवों के अधिपति इन्द्र ने स्तुति कर भगवान् को अपनी गोद में धारण किया और मेरु पर्वत पर चलने की शीघ्रता से इशारा करने के लिए अपना हाथ ऊँचा उठाया ॥४७॥

हे ईश ! आपकी जय हो, आप समृद्धिमान् हो और आप सदा बढ़ते रहें इस प्रकार जोर-जोर से कहते हुए देवों ने उस समय इतना अधिक कोलाहल किया था कि उससे समस्त दिशा बहरी हो गयी थीं ॥४८॥

तदनन्तर जय-जय शब्द का उच्चारण करते हुए और अपने आभूषणों की फैलती हुई किरणों से इन्द्रधनुष को विस्तृत करते हुए देव लोग आकाशरूपी आँगन में ऊपर की ओर चलने लगे ॥४९॥

उस समय जिनके स्तन कुछ-कुछ हिल रहे हैं ऐसी अप्सराएँ अपनी भौंहरूपी पताकाएँ ऊपर उठाकर आकाशरूपी रंगभूमि में सबके आगे नृत्य कर रही थीं और गन्धर्व देव उनके साथ अपना संगीत प्रारम्भ कर रहे थे ॥५०॥

रत्न-खचित देवों ने विमानों से जहाँ-तहाँ सभी ओर व्याप्त हुआ निर्मल आकाश ऐसा शोभायमान होता था मानो भगवान् के दर्शन करने के लिए उसने अपने नेत्र ही खोल रखे हो ॥५१॥

उस समय सफेद बादल सफेद पताकाओंसहित काले हाथियों से मिलकर ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो बगुला पक्षियों सहित काले-काले बादलों से मिल रहे हों ॥५२॥

कहीं-कहीं पर अनेक मेघ देवों के बड़े-बड़े विमानों की टक्कर से चूर-चूर होकर नष्ट हो गये थे सो ठीक ही है; क्योंकि जो जड़ (जल और मूर्ख) रूप होकर भी बड़ों से बैर रखते हैं वे नष्ट होते ही हैं ॥५३॥

देवों के हाथियों के गण्डस्थल से झरने वाले मद की सुगन्ध से आकृष्ट हुए भौरों ने वन के प्रदेशों को छोड़ दिया था सो ठीक है क्योंकि यह कहावत सत्य है कि लोग नवप्रिय होते हैं-उन्हें नयी-नयी वस्तु अच्छी लगती है ॥५४॥

उस समय इन्द्रों के शरीर की प्रभा से सूर्य का तेज पराहत हो गया था-फीका पड़ गया था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो लज्जा को प्राप्त होकर चुपचाप कहीं पर जा छिपा हो ॥५५॥

पहले सूर्य अपने किरणरूपी हाथों के द्वारा दिशारूपी अंगनाओं का आलिंगन किया करता था, किन्तु उस समय इन्द्रों के शरीरों का उद्योग सूर्य के उस आलिंगन को छुड़ाकर स्वयं दिशारूपी अंगनाओं के समीप जा पहुँचा था, सो ठीक ही है स्त्रियाँ बलवान् पुरुषों के ही भोग्य होती हैं । भावार्थ-इन्द्रों के शरीर की कान्ति सूर्य की कान्ति को फीका कर समस्त दिशाओं में फैल गयी थीं ॥५६॥

ऐरावत हाथी के दाँतों पर बने हुए सरोवरों में कमलदल पर जो अप्सराओं का नृत्य हो रहा था वह देवों को भी अतिशय रसिक बना रहा था ॥५७॥

उस समय जिनेन्द्रदेव के गुणों से रचे हुए किन्नर देवों के मधुर संगीत सुनकर देव लोग अपने कानों का फल प्राप्त कर रहे थे-उन्हें सफल बना रहे थे ॥५८॥

उस समय टिमकाररहित नेत्रों से भगवान् का दिव्य शरीर देखने वाले देवों ने अपने नेत्रों के टिमकाररहित होने का फल प्राप्त किया था । भावार्थ-देवों की आँखों के कभी पलक नहीं झपते । इसलिए देवों ने बिना पलक झपाये ही भगवान् के सुन्दर शरीर के दर्शन किये थे । देव भगवान् के सुन्दर शरीर को पलक झपाये बिना ही देख सके थे यही मानो उनके वैसे नेत्रों का फल था-भगवान् का सुन्दर शरीर देखने के लिए ही मानो विधाता ने उनके नेत्रों की पलक स्पन्द-टिमकाररहित बनाया था ॥५९॥

जिन बालक को गोद में लेना, उन पर सफेद छत्र धारण करना और चमर ढोलना आदि सभी कार्य स्वयं अपने हाथ से करते हुए इन्द्र लोग भगवान् के अलौकिक ऐश्वर्य को प्रकट कर रहे थे ॥६०॥

उस समय भगवान्, सौधर्म इन्द्र की गोद में बैठे हुए थे, ऐशान इन्द्र सफेद छत्र लगाकर उनकी सेवा कर रहा था और सनत्कुमार तथा माहेन्द्र स्वर्ग के इन्द्र उनकी दोनों ओर क्षीरसागर की लहरों के समान सफेद चमर ढोर रहे थे ॥६१-६२॥

उस समय की विभूति देखकर कितने ही अन्य मिथ्यादृष्टि देव इन्द्र को प्रमाण मानकर समीचीन जैनमार्ग में श्रद्धा करने लगे थे ॥६३॥
मेरु पर्वत पर्यन्त नील मणियों से बनायी हुई सीढ़ियाँ ऐसी शोभायमान हो रही थीं मानो आकाश ही भक्ति से सीढ़ीरूप पर्याय को प्राप्त हुआ हो ॥६४॥

क्रम-क्रम से वे इन्द्र ज्योतिष-पटल को उल्लंघन कर ऊपर की ओर जाने लगे । उस समय वे नीचे ताराओंसहित आकाश को ऐसा मानते थे मानो कुमुदिनियोंसहित सरोवर ही हो ॥६५॥

तत्पश्चात् वे इन्द्र निन्यानवे हजार योजन ऊँचे उस सुमेरु पर्वत पर जा पहुंचे ॥६६॥

जिसके मस्तक पर स्थित चूलिका मुकुट के समान सुशोभित होती है और जिसके ऊपर सौधर्म स्वर्ग का ऋतुविमान चूड़ामणि की शोभा धारण करता है ॥६७॥

जो अपने नितम्ब भाग पर (मध्यभाग पर) घनी छाया वाले बड़े-बड़े वृक्षों से व्याप्त भद्रशाल नामक महावन को ऐसा धारण करता है मानो हरे रंग की धोती ही धारण किये हो ॥६८॥

उससे आगे चलकर अपनी पहली मेखला पर तो अनेक रत्नमयी वृक्षों से सुशोभित नन्दन वन को ऐसा धारण कर रहा है मानो उसकी करधनी ही हो ॥६९॥

जो पुष्प और पल्लवों से शोभायमान हरे रंग के सौमनस वन को ऐसा धारण करता है मानो उसका ओढ़ने का दुपट्टा ही हो ॥७०॥

अपनी सुगन्धि से भौरों को बुलाने वाले फूलों के द्वारा मुकुट की शोभा धारण करता हुआ पाण्डुक वन जिसके शिखर पर्यन्त के भाग को सदा अलंकृत करता रहता है ॥७१॥

इस प्रकार जिसके चारों वनों की प्रत्येक दिशा में एक-एक जिनमन्दिर चमकते हुए मणियों की कान्ति से ऐसे सुशोभित हो रहे हैं मानो स्वर्ग के विमानों की हँसी ही कर रहे हों ॥७२॥

जो पर्वत सुवर्णमय है और बहुत ही ऊँचा है इसलिए जो लवणसमुद्ररूपी वस्त्र पहने हुए जम्बूद्वीपरूपी महाराज के सुवर्णमय मुकुट का सन्देह पैदा करता रहता है ॥७३॥ जो तीर्थंकर भगवान के पवित्र अभिषेक की सामग्री धारण करने से सदा पवित्र रहता है और अतिशय ऊँचा अथवा समृद्धिशाली है इसीलिए मानो ज्योतिषी देवों का समूह सदा जिसकी प्रदक्षिणा दिया करता है ॥७४॥

जो पर्वत जिनेन्द्रदेव के समान अत्यन्त उन्नत (श्रेष्ठ और ऊँचा) है इसीलिए अनेक चारण मुनि हर्षित होकर पुण्य प्राप्त करने की इच्छा से सदा जिसकी सेवा किया करते हैं ॥७५॥

जो देवकुरु उत्तरकुरु भोगभूमियों को अपने समीपवर्ती पर्वतों से घेरकर सदा निर्बाधरूप से उनकी रक्षा किया करता है सो ठीक ही है क्योंकि उत्कृष्टता का यही माहात्म्य है ॥७६॥

स्वर्गलोक की शोभा की हंसी करने वाली जिस पर्वत की गुफाओं में देव और धरणेन्द्र स्वर्ग छोड़कर अपनी स्त्रियों के साथ निवास किया करते हैं ॥७७॥

जो पाण्डुकवन के स्थानों में स्फटिक मणि की बनी हुई और तीर्थंकरों के अभिषेक क्रिया के योग्य निर्मल (पाण्डुकादि) शिलाओं को धारण कर रहा है ॥७८॥

और जो मेरु पर्वत सौधर्मेन्द्र के समान शोभायमान होता है क्योंकि जिस प्रकार सौधर्मेन्द्र तुंग अर्थात् श्रेष्ठ अथवा उदार है उसी प्रकार वह सुमेरु पर्वत भी तुंग अर्थात् ऊँचा है, सौधर्मेन्द्र की जिस प्रकार अनेक विबुध (देव) सेवा किया करते हैं उसी प्रकार मेरु पर्वत की भी अनेक देव अथवा विद्वान् सेवा किया करते हैं, सौधर्मेन्द्र जिस प्रकार सततर्तुसमाश्रय अर्थात् ऋतुविमान का आधार अथवा छहों ऋतुओं का आश्रय है और सौधर्मेन्द्र जिस प्रकार अनेक अप्सराओं के समूह से सेवनीय है उसी प्रकार सुमेरु पर्वत भी अप्सराओं अथवा जल से भरे हुए सरोवरों से शोभायमान हुए ॥७९॥

इस प्रकार जो ऊँचाई से शोभायमान है, सुन्दरता की खानि है और स्वर्ग का मानो अधिष्ठाता देव ही है ऐसे उस सुमेरु पर्वत को पाकर देव लोग बहुत ही प्रसन्न हुए ॥८०॥

तदनन्तर इन्द्र ने बड़े प्रेम से देवों के साथ-साथ उस गिरिराज सुमेरु पर्वत की प्रदक्षिणा देकर उसके मस्तक पर हर्षपूर्वक श्रीजिनेन्द्ररूपी सूर्य को विराजमान किया ॥८१॥

उस मेरु पर्वत के पाण्डुक वन में पूर्व और उत्तर दिशा के बीच अर्थात् ऐशान दिशा में एक बड़ी भारी पाण्डुक नाम की शिला है जो तीर्थंकर भगवान के जन्माभिषेक को धारण करती है अर्थात् जिस पर तीर्थंकरों का अभिषेक हुआ करता है ॥८२॥

वह शिला अत्यन्त पवित्र है, मनोज्ञ है, रमणीय है, मनोहर है, गोल है और अष्टमी पृथ्वी सिद्धिशिला के समान शोभायमान है ॥८३॥

वह शिला सौ योजन लम्बी है, पचास योजन चौड़ी है, आठ योजन ऊँची हैं और अर्ध चन्द्रमा के समान आकार वाली है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने माना है-कहा है ॥८४॥

वह पाण्डुकशिला सदा निर्मल रहती है । उस पर इन्होंने क्षीरसमुद्र के जल से उसका कई बार प्रक्षालन किया है इसलिए वह पवित्रता की चरम सीमा को धारण कर रही है ॥८५॥

निर्मलता पूज्यता पवित्रता और जिनेन्द्रदेव को धारण करने की अपेक्षा वह पाण्डुकशिला जिनेन्द्रदेव की माता के समान शोभायमान होती है ॥८६॥

वह शिला देवों के द्वारा ऊपर से छोड़े हुए मुक्ताफलों के समान उज्ज्वल कान्ति वाली है और देव लोग जो उस पर पुष्प चढ़ाते हैं वे सदृशता के कारण उसी में छिप जाते हैं-पृथक् रूप से कभी भी प्रकट नहीं दिखते ॥८७॥

वह पाण्डुकशिला जिनेन्द्रदेव के अभिषेक के लिए सदा बहुमूल्य और श्रेष्ठ सिंहासन धारण किये रहती है जिससे ऐसा जान पड़ता है मानो मेरु पर्वत के ऊपर दूसरा मेरु पर्वत ही रखा हो ॥८८॥

वह शिला उस मुख्य सिंहासन के दोनों ओर रखे हुए दो सुन्दर आसनों को और भी धारण किये हुए है । वे दोनों आसन जिनेन्द्रदेव का अभिषेक करने के लिए सौधर्म और ऐशान इन्द्र के लिए निश्चित रहते हैं ॥८९॥

देव लोग सदा उस पाण्डुकशिला की पूजा करते हैं, वह देवों द्वारा चढ़ाई हुई सामग्री से निरन्तर मनोहर रहती है और नित्य ही मंगलमय संगीत, नृत्य, वादित्त आदि से शोभायमान रहती है ॥९०॥

वह शिला छत्र, चमर, झारी, ठोना (मोंदरा), दर्पण, कलश, ध्वजा और ताड़का (पंखा) इन आठ मंगल द्रव्यों को धारण किये हुई है ॥९१॥

वह निर्मल पाण्डुकशिला शीलव्रत की परम्परा के समान मुनियों को बहुत ही इष्ट है और जिनेन्द्रदेव के शरीर के समान अत्यन्त देदीप्यमान, मनोज्ञ अथवा सुगन्धित और पवित्र है ॥९२॥

यद्यपि वह पाण्डुकशिला स्वयं धौत है अर्थात् श्वेतवर्ण अथवा उज्ज्वल है तथापि इन्द्रों ने क्षीरसागर के पवित्र जल से उसका सैकड़ों बार प्रक्षालन किया है । वास्तव में वह शिला पुण्य उत्पन्न करने के लिए खान की भूमि के समान है ॥९३॥

उस शिला के समीपवर्ती प्रदेशों में चारों ओर परस्पर में मिले हुए रत्नों के प्रकाश से इन्द्रधनुष की शोभा का विस्तार किया जाता है ॥९४॥ जिनेन्द्रदेव के जन्मकल्याणक की विभूति को देखने के अभिलाषी देव लोग उस पाण्डुकशिला को घेरकर सभी दिशाओं में क्रम-क्रम से यथायोग्य रूप में बैठ गये ॥९५॥

दिक्पाल जाति के देव भी अपने-अपने समूह (परिवार) के साथ जिनेन्द्र भगवान् का उत्सव देखने की इच्छा से दिशा-विदिशा में जाकर यथायोग्य रूप से बैठ गये ॥९६॥

देवों की सेना भी उस पाण्डुक वन में आकाशरूपी आँगन को रोककर मेरु पर्वत के ऊपरी भाग में व्याप्त होकर जा ठहरी ॥९७॥

इस प्रकार चारों ओर से देव और इन्द्रों से व्याप्त हुआ वह पाण्डुक वन ऐसा मालूम होता था मानो वृक्षों के फूलों के समूह से स्वर्ग की शोभा की हँसी ही बढ़ा रहा हो ॥९८॥

उस समय ऐसा जान पड़ता था कि स्वर्ग अवश्य ही अपने स्थान से विचलित होकर खाली हो गया है और इन्द्र का समस्त वैभव धारण करने से सुमेरु पर्वत ही स्वर्गपने को प्राप्त हो गया है ॥९९॥

तदनन्तर सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र भगवान् को पूर्व दिशा की ओर मुँह कर के पाण्डुक शिला पर रखे हुए सिंहासन पर विराजमान कर उनका अभिषेक करने के लिए तत्पर हुआ ॥१००॥

उस समय समस्त आकाश को व्याप्त कर देवों के दुन्दुभि बज रहे थे और अप्सराओं ने चारों ओर उत्कृष्ट नृत्य करना प्रारम्भ कर दिया था ॥१०१॥

उसी समय कालागुरु नामक उत्कृष्ट धूप का धुआँ बड़े परिमाण में निकलने लगा था और ऐसा मालूम होता था मानो भगवान् के जन्माभिषेक के उत्सव में शामिल होने से उत्पन्न हुए पुण्य के द्वारा पुण्यात्मा जनों के अन्तःकरण से हटाया गया कलंक ही हो ॥१०२॥

उसी समय शान्ति, पुष्टि और शरीर की कान्ति की इच्छा करने वाले देव चारों ओर से अश्रुत, जल और पुष्पसहित पवित्र अर्घ्य चढ़ा रहे थे जो कि ऐसे मालूम होते थे मानो पुण्य के अंश ही हों ॥१०३॥

उस समय वहीं पर इन्द्रों ने एक ऐसे बड़े भारी मण्डप की रचना की थी कि जिसमें तीनों लोक के समस्त प्राणी परस्पर बाधा न देते हुए बैठ सकते थे ॥१०४॥

उस मण्डप में कल्पवृक्ष के फूलों से बनी हुई अनेक मालाएँ लटक रही थीं, और उन पर बैठे हुए भ्रमर गा रहे थे । उन भ्रमरों के संगीत से वे मालाएँ ऐसी जान पड़ती थी मानो भगवान् का यश ही गाना चाहती हों ॥१०५॥

तदनन्तर प्रथम स्वर्ग के इन्द्र ने उस अवसर की समस्त विधि कर के भगवान् का प्रथम अभिषेक करने के लिए प्रथम कलश उठाया ॥ १०६॥

और अतिशय शोभायुक्त तथा कलश उठाने के मन्त्र को जानने वाले दूसरे ऐशानेन्द्र ने भी सघन चन्दन से चर्चित, भरा हुआ दूसरा कलश उठाया ॥१०७॥

आनन्दसहित जय-जय शब्द का उच्चारण करते हुए शेष इन्द्र उन दोनों इन्द्रों के कहे अनुसार परिचर्या करते हुए परिचारक (सेवक) वृत्ति को प्राप्त हुए ॥१०८॥

अपनी-अपनी अप्सराओं तथा परिवार से सहित इन्द्राणी आदि मुख्य-मुख्य देवियाँ भी मंगलद्रव्य धारण कर परिचर्या करने वाली हुई थीं ॥ १०९॥

तत्पश्चात् बहुत से देव सुवर्णमय कलशों से क्षीरसागर का पवित्र जल लाने के लिए श्रेणीबद्ध होकर बड़े सन्तोष से निकले ॥११०॥

'जो स्वयं पवित्र है और जिसमें रुधिर भी क्षीर के समान अत्यन्त स्वच्छ है ऐसे भगवान् के शरीर का स्पर्श करने के लिए क्षीरसागर के जल के सिवाय अन्य कोई जल योग्य नहीं हैं ऐसा मानकर ही मानो देवों ने बड़े हर्ष के साथ पाँचवें क्षीरसागर के जल से ही भगवान् का अभिषेक करने का निश्चय किया था ॥१११-११२॥

आठ योजन गहरे, मुख पर एक योजन चौड़े (और उदर में चार योजन चौड़े) सुवर्णमय कलशों से भगवान् के जन्माभिषेक का उत्सव प्रारम्भ किया गया था ॥११३॥

कालिमा अथवा पाप के विकास को चुराने वाले, विघ्नों को दूर करने वाले और देवों के द्वारा हाथों-हाथ उठाये हुए वे बड़े भारी कलश बहुत ही सुशोभित हो रहे थे ॥११४॥

जिनके कण्ठ भाग अनेक प्रकार के मोतियों से शोभायमान है, जो घिसे हुए चन्दन से चर्चित हो रहे हैं और जो जल से लबालब भरे हुए हैं ऐसे वे सुवर्ण-कलश अनुक्रम से आकाश में प्रकट होने लगे ॥११५॥

देवों के परस्पर एक के हाथ से दूसरे के हाथ में जाने वाले और जल से भरे हुए उन सुवर्णमय कलशों से आकाश ऐसा व्याप्त हो गया था मानो वह कुछ-कुछ लालिमायुक्त सन्ध्याकालीन बादलों से ही व्याप्त हो गया हो ॥११६॥

उन सब कलशों को हाथ में लेने की इच्छा से इन्द्र ने अपने विक्रिया-बल से अनेक भुजाएँ बना लीं । उस समय आभूषणसहित उन अनेक भुजाओं से वह इन्द्र ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो भूषणांग जाति का कल्पवृक्ष ही हो ॥११७॥

अथवा वह इन्द्र एक साथ हजार भुजाओं द्वारा उठाये हुए और मोतियों से सुशोभित उन सुवर्णमय कलशों से ऐसा शोभायमान होता था मानो भाजनांग जाति का कल्पवृक्ष ही हो ॥११८॥

सौधर्मेन्द्र ने जय-जय शब्द का उच्चारण कर भगवान् के मस्तक पर पहली जलधारा छोड़ी उसी समय जय जय जय बोलते हुए अन्य करोड़ों देवों ने भी बड़ा भारी कोलाहल किया था ॥११९॥

जिनेन्द्रदेव के मस्तक पर पड़ती हुई वह जल की धारा ऐसी शोभायमान होती थी मानो हिमवान् पर्वत के शिखर पर ऊँचे से पड़ती हुई अखण्ड जल वाली आकाशगंगा ही हो ॥१२०॥

तदनन्तर अन्य सभी स्वर्गों के इन्द्रों ने सन्ध्या समय के बादलों के समान शोभायमान, जल से भरे हुए सुवर्णमय कलशों से भगवान् के मस्तक पर एक साथ जलधारा छोड़ी । यद्यपि वह जलधारा भगवान् के मस्तक पर ऐसी पड़ रही थी मानो गंगा सिन्धु आदि महानदियाँ ही मिलकर एक साथ पड़ रही हों तथापि मेरु पर्वत के समान स्थिर रहने वाले जिनेन्द्रदेव उसे अपने माहात्म्य से लीलामात्र में ही सहन कर रहे थे ॥१२१-१२२॥

उस समय कितनी ही जल की बूँदें भगवान् के शरीर का स्पर्श कर आकाशरूपी आँगन में दूर तक उछल रही थीं और ऐसी मालूम होती थीं

मानो उनके शरीर के स्पर्श से पापरहित होकर ऊपर को ही जा रही हों ॥१२३॥

आकाश में उछलती हुई कितनी ही पानी की बूंदें ऐसी शोभायमान हो रही थीं मानो देवों के निवासगृह में छींटे ही देना चाहती हों ॥१२४॥
भगवान् के अभिषेक जल के कितने ही छींटे दिशा-विदिशाओं में तिरछे फैल रहे थे और वे ऐसे मालूम होते थे मानो दिशारूपी स्त्रियों के मुखों पर कर्णफूलों की शोभा ही बढ़ा रहे हों ॥१२५॥

भगवान् के निर्मल शरीर पर पड़कर उसी में प्रतिबिम्बित हुई जल की धाराएँ ऐसी शोभायमान हो रही थीं मानो अपने को बड़ा भाग्यशाली मानकर उन्हीं के शरीर के साथ मिल गयी हो ॥१२६॥

भगवान् के मस्तक पर इन्द्रों द्वारा छोड़ी हुई क्षीरसमुद्र के जल की धारा ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो किसी पर्वत के शिखर पर मेघों द्वारा छोड़े हुए सफेद झरने ही पड़ रहे हों ॥१२७॥

भगवान् के अभिषेक का जल सन्तुष्ट होकर पहले तो आकाश में उछलता था और फिर नीचे गिर पड़ता था । उस समय जो उसमें जल के बारीक छींटे रहते थे उनसे वह ऐसा मालूम होता था मानो अपनी मूर्खता पर हँस ही रहा हो ॥१२८॥

वह क्षीरसागर के जल का प्रवाह आकाशगंगा के जलबिन्दुओं के साथ स्पर्धा करने के लिए ही मानो ऊपर जाते हुए अपने जलकणों से स्वर्ग के विमानों को शीघ्र ही पवित्र कर रहा था ॥१२९॥

भगवान् स्वयं पवित्र थे, उन्होंने अपने पवित्र अंगों से उस जल को पवित्र कर दिया था और उस जल ने समस्त दिशा में फैलकर इस सारे संसार को पवित्र कर दिया था ॥१३०॥

उस अभिषेक के जल में डूबी हुई देवों की सेना क्षण-भर के लिए ऐसी दिखाई देती थी मानो क्षीरसमुद्र में डूबकर व्याकुल ही हो रही हो ॥१३१॥

वह जल कलशों के मुख पर रखे हुए कमलों के साथ सुमेरु पर्वत के मस्तक पर पड़ रहा था इसलिए ऐसी शोभा को प्राप्त हो रहा था मानो बहसों के साथ ही पड़ रहा हो ॥१३२॥

कलशों के मुख से गिरे हुए अशोकवृक्ष के लाल-लाल पल्लवों से व्याप्त हुआ वह स्वच्छ जल ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो मूँगा के अंकुरों से ही व्याप्त हो रहा हो ॥१३३॥

स्फटिक मणि के बने हुए निर्मल सिंहासन पर जो स्वच्छ जल पड़ रहा था वह ऐसा मालूम होता था मानो भगवान् के चरणों के प्रसाद से और भी अधिक स्वच्छ हो गया हो ॥१३४॥

कहीं पर चित्र-विचित्र रत्नों की किरणों से व्याप्त हुआ वह जल ऐसा शोभायमान होता था, मानो इन्द्रधनुष ही गलकर जलरूप हो गया हो ॥१३५॥

कहीं पर पद्मरागमणियों की फैलती हुई कान्ति से लाल-लाल हुआ वह पवित्र जल सन्ध्याकाल के पिघले हुए बादलों की शोभा धारण कर रहा था ॥१३६॥

कहीं पर इन्द्रनील मणियों की कान्ति से व्याप्त हुआ वह जल ऐसा दिखाई दे रहा था मानो किसी एक जगह छिपा हुआ गाढ़ अन्धकार ही हो ॥१३७॥

कहीं पर मरकतमणियों (हरे रंग के मणियों) की किरणों के समूह से मिला हुआ वह अभिषेक का जल ठीक हरे वस्त्र के समान हो रहा था ॥१३८॥

भगवान् के अभिषेक जल के उड़ते हुए छींटों से आकाश ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो भगवान् के शरीर के स्पर्श से सन्तुष्ट होकर हँस ही रहा हो ॥१३९॥

भगवान् के स्नान-जल की कितनी ही बूंदें आकाश की सीमा का उल्लंघन करती हुई ऐसी शोभायमान हो रही थीं मानो स्वर्ग की लक्ष्मी के साथ जलक्रीड़ा (फाग) ही करना चाहती हों ॥१४०॥

सब दिशाओं को रोककर सब ओर उछलती हुई कितनी ही जल की बूंदें ऐसी मालूम होती थी मानो आनन्द से दिशारूपी स्त्रियों के साथ हँसी ही कर रही हों ॥१४१॥

वह अभिषेकजल का प्रवाह अपनी इच्छानुसार बैठे हुए सुरदम्पतियों को दूर हटाता हुआ शीघ्र ही मेरुपर्वत के निकट जा पहुँचा ॥१४२॥

और मेरु पर्वत से नीचे भूमि तक पड़ता हुआ वह क्षीरसागर के जल का प्रवाह ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो मेरु पर्वत को खड़े नाप से नाप ही रहा हो ॥१४३॥

उस जल का प्रवाह मेरु पर्वत पर ऐसा बढ़ रहा था मानो शिखरों के द्वारा खकारकर दूर किया जा रहा हो, गुहारूप मुखों के द्वारा पिया जा रहा हो और कन्दराओं के द्वारा बाहर उगला जा रहा हो ॥१४४॥

उस समय मेरु पर्वत पर अभिषेक जल के जो झरने पड़ रहे थे उनसे ऐसा मालूम होता था मानो वह यह कहता हुआ स्वर्ग को धिक्कार ही दे रहा हो कि अब स्वर्ग क्या वस्तु है ? उसे तो देवों ने भी छोड़ दिया है । इस समय समस्त देव हमारे यहाँ आ गये हैं इसलिए हमें ही साक्षात् स्वर्ग मानना योग्य है ॥१४५॥

उस जल के प्रवाह ने समस्त आकाश को ढक लिया था, ज्योतिष्पटल को घेर लिया था, मेरु पर्वत को आच्छादित कर लिया था और पृथिवी तथा आकाश के अन्तराल को रोक लिया था ॥१४६॥

उस जल के प्रवाह ने मेरुपर्वत के अच्छे वनों में क्षण-भर विश्राम किया और फिर सन्तुष्ट हुए के समान वह दूसरे ही क्षण में वहाँ से दूसरी जगह व्याप्त हो गया ॥१४७॥

वह जल का बड़ा भारी प्रवाह वन के भीतर वृक्षों के समूह से रुक जाने के कारण धीरे-धीरे चलता था परन्तु ज्यों ही उसने वन के मार्ग को पार किया त्यों ही वह शीघ्र ही दूर तक फैल गया ॥१४८॥

मेरु पर्वत पर फैलता और आकाश को आच्छादित करता हुआ वह जल का प्रवाह ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो मेरु पर्वत को सफेद वस्त्रों से ढक ही रहा हो ॥१४९॥

सब ओर से मेरुपर्वत को आच्छादित कर बहता हुआ वह क्षीरसागर के जल का प्रवाह आकाशगंगा के जलप्रवाह की शोभा धारण कर रहा था ॥१५०॥

मेरु पर्वत की गुफाओं में शब्द करता हुआ वह जल का प्रवाह ऐसा मालूम होता था मानो शब्दाद्वैत का ही विस्तार कर रहा हो अथवा सारी सृष्टि को जलरूप ही सिद्ध कर रहा हो ॥ भावार्थ-शब्दाद्वैतवादियों का कहना है कि संसार में शब्द ही शब्द है शब्द के सिवाय और कुछ भी नहीं है । उस समय सुमेरु की गुफाओं में पड़ता हुआ जलप्रवाह भी भारी शब्द कर रहा था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो शब्दाद्वैतवाद का समर्थन ही कर रहा हो । ईश्वर सृष्टिवादियों का कहना है कि यह समस्त सृष्टि पहले जलमयी थी, उसके बाद ही स्थल आदि की रचना हुई है उस समय सब ओर जल-ही-जल दिखलाई पड़ रहा था इसलिए ऐसा मालूम होगा था मानो वह सारी सृष्टि को जलमय ही सिद्ध करना चाहता हो ॥१५१॥

वह मेरुपर्वत ऊपर से लेकर नीचे पृथिवीतल तक सभी ओर जलप्रवाह से तर हो रहा था इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञानी देवों को भी अज्ञातपूर्व मालूम होता था अर्थात् ऐसा जान पड़ता था जैसे उसे पहले कभी देखा ही न हो ॥१५२॥

उस समय वह पर्वत शोभायमान मृणाल के समान सफेद हो रहा था और फूले हुए नमेरु वृक्षों से सुशोभित था इसलिए यही मालूम होता था कि वह मेरु नहीं है किन्तु कोई दूसरा चाँदी का पर्वत है ॥१५३॥

क्या यह अमृत की राशि है ? अथवा स्फटिकमणि का पर्वत है ? अथवा चूने से सफेद किया गया तीनों जगत् की लक्ष्मी का महल है-इस प्रकार मेरु पर्वत के विषय में वितर्क पैदा करता हुआ बहु जल का प्रवाह सभी दिशा के अन्त तक इस प्रकार फैल गया मानो दिशारूपी स्त्रियों का अभिषेक ही कर रहा हो ॥१५४-१५५॥

चन्द्रमा के समान निर्मल उस अभिषेकजल की कितनी ही बूँदें ऊपर को उछलकर सब दिशाओं में फैल गयी थी जिससे ऐसी जान पड़ती थी मानो मेरु पर्वत पर सफेद छत्र की शोभा ही बढ़ा रही हों ॥१५६॥

हार, बर्फ, सफेद कमल और कुमुदों के समान सफेद जल के प्रवाह सब ओर प्रवृत्त हो रहे थे और वे ऐसे जान पड़ते थे मानो जिनेन्द्र भगवान् के यश के प्रवाह ही हों ॥१५७॥

हार के समान निर्मल कान्ति वाले वे अभिषेकजल के छींटे ऐसे मालूम होते थे मानो आकाशरूपी आँगन में फूलों के उपहार ही चढ़ाये गये हों अथवा दिशारूपी स्त्रियों के कानों के कर्णफूल ही हों ॥१५८॥

वह जल का प्रवाह लोक के अन्त तक फैलने वाली अपनी बूँदों से ऊपर स्वर्ग तक व्याप्त होकर नीचे की ओर ज्योतिष्पटल तक पहुंचकर

सब ओर वृद्धि को प्राप्त हो गया था ॥१५९॥

उस समय आकाश में चारों ओर फैले हुए तारागण अभिषेक के जल में डूबकर कुछ चंचल प्रभा के धारक हो गये थे इसलिए बिखरे हुए मोतियों के समान सुशोभित हो रहे थे ॥१६०॥

वे तारागण अभिषेकजल के प्रवाह में क्षण-भर रहकर उससे बाहर निकल आये थे परन्तु उस समय भी उनसे कुछ-कुछ पानी चू रहा था इसलिए ओलों की पङ्क्ति के समान शोभायमान हो रहे थे ॥१६१॥

सूर्य भी उस जलप्रवाह में क्षण-भर रहकर उससे अलग हो गया था, उस समय वह ठण्डा भी हो गया था जिससे ऐसा मालूम होता था मानो कोई तपा हुआ लोहे का बड़ा भारी गोला पानी में डालकर निकाला गया हो ॥१६२॥

उस बहते हुए जलप्रवाह में चन्द्रमा ऐसा मालूम होता था मानो ठण्ड से जड़ होकर (ठिठुरकर) धीरे-धीरे तैरता हुआ एक बूढ़ा हंस ही हो ॥१६३॥

उस समय ग्रहमण्डल भी चारों ओर फैले हुए जल के प्रवाह से आकृष्ट होकर (खिंचकर) विपरीत गति को प्राप्त हो गया था । मालूम होता है कि उसी कारण से वह अब भी वक्रगति का आश्रय लिये हुए हैं ॥१६४॥

उस समय जल में डूबे हुए तथा सीधी और शान्त किरणों से युक्त सूर्य को भ्रान्ति से चन्द्रमा समझकर तारागण भी उसकी सेवा करने लगे थे ॥१६५॥

सम्पूर्ण ज्योतिश्चक्र जलप्रवाह में डूबकर कान्तिरहित हो गया था और उस जलप्रवाह के पीछे-पीछे चलने लगा था मानो अवसर चूक जाने के भय से एक क्षण भी नहीं ठहर सका हो ॥१६६॥

इस प्रकार स्नानजल के प्रवाह से व्याकुल हुआ ज्योतिष्पटल क्षण-भर के लिए, घुमाये हुए कुम्हार के चक्र के समान तिरछा चलने लगा था ॥१६७॥

स्वर्गलोक को धारण करने वाले मेरु पर्वत के मध्य भाग से सब ओर पड़ते हुए भगवान् के स्नानजल ने जहाँ-तहाँ फैलकर समस्त मनुष्यलोक को पवित्र कर दिया था ॥१६८॥

उस जलप्रवाह ने समस्त पृथ्वी सन्तुष्ट सुखरूप कर दी थी, सब कुलाचल पवित्र कर दिये थे, सब देश अतिवृष्टि आदि ईतियों से रहित कर दिये थे, और समस्त प्रजा कल्याण से युक्त कर दी थी । इस प्रकार समस्त लोकनाड़ी को पवित्र करते हुए उस अभिषेकजल के प्रवाह ने प्राणियों का ऐसा कौन-सा कल्याण बाकी रख छोड़ा था जिसे उसने न किया हो? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥१६९-१७०॥

अथानन्तर अपने 'छलछल' शब्दों से समस्त दिशाओं को भरने वाला, तथा समस्त लोक की उष्णता शान्त करनेवाला वह जल का बड़ा भारी प्रवाह जब बिलकुल ही शान्त हो गया ॥१७१॥

जब मेरु पर्वत की गुफाएँ जल से रिक्त (खाली) हों गयीं, जल और वनसहित मेरु पर्वत ने कुछ विश्राम लिया ॥१७२॥

जब सुगन्धित लकड़ियों की अग्नि में अनेक प्रकार के धूप जलाये जाने लगे और मात्र भक्ति प्रकट करने के लिए मणिमय दीपक प्रज्वलित किये गये ॥१७३॥

जब देवों के बन्दीजन अच्छी तरह उच्च स्वर से पुण्य बढ़ाने वाले अनेक स्तोत्र पढ़ रहे थे, मनोहर आवाज वाली किन्नरी देवियाँ मधुर शब्द करती हुई गीत गा रही थीं ॥१७४॥

जब जिनेन्द्र भगवान् के कल्याणक सम्बन्धी मंगल गाने के शब्द समस्त देव लोगों के कानों का उत्सव कर रहे थे ॥१७५॥

जब नृत्य करने वाले देवों का समूह जिनेन्द्रदेव के जन्मकल्याणक सम्बन्धी अर्थों से सम्बन्ध रखने वाले अनेक उदाहरणों के द्वारा नाट्यवेद का प्रयोग कर रहा था-नृत्य कर रहा था ॥१७६॥

जब गन्धर्व देवों के द्वारा प्रारम्भ हुए संगीत और मृदंग की ध्वनि से मिला हुआ दुन्दुभि बाजों का गम्भीर शब्द कानों का आनन्द बढ़ा रहा था ॥१७७॥

जब केसर लगे हुए देवांगनाओं के स्तनरूपी कलशों से शोभायमान तथा हारों की किरणरूपी पुष्पों के उपहार से युक्त सुमेरु पर्वतरूपी रंग-भूमि में अप्सराओं का समूह हाथ उठाकर, शरीर हिलाकर और ताल के साथ-साथ फिरकी लगाकर लीलासहित नृत्य कर रहा था ॥१७८-१७९॥

जब देव लोग सावधान होकर मंगलगान सुन रहे थे और अनेक जनों के बीच भगवान् के प्रभाव की प्रशंसा करने वाली बातचीत हो रही थी ॥१८०॥

जब नान्दी, तुरही आदि बाजों के शब्द सब ओर आकाश और पृथ्वी के बीच के अन्तराल को भर रहे थे, जब जय-घोषणा की प्रतिध्वनियों से मानो मेरु पर्वत ही भगवान की स्तुति कर रहा था ॥१८१॥

जब सब ओर घूमती हुई विद्याधरियों के मुख के स्वेदजल के कणों का चुम्बन करने वाला वायु समीपवर्ती वनों को हिलाता हुआ धीरे-धीरे बह रहा था ॥१८२॥

जब विचित्र वेत्र के दण्ड हाथ में लिये हुए देवों के द्वारपाल सभा के लोगों को इंकार शब्द करते हुए चारों ओर पीछे हटा रहे थे ॥१८३॥

'हमें द्वारपाल पीछे न हटा दें' इस डर से कितने ही लोग चित्रलिखित के समान जब चुपचाप बैठे हुए थे ॥१८४॥

और जब शुद्ध जल का अभिषेक समाप्त हो गया था तब इन्द्र ने शुभ सुगन्धित जल से भगवान् का अभिषेक करना प्रारम्भ किया ॥१८५॥

विधिविधान को जानने वाले इन्द्र ने अपनी सुगन्धि से भ्रमरों का आह्वान करने वाले सुगन्धित जलरूपी द्रव्य से भगवान का अभिषेक किया ॥१८६॥

भगवान् के शरीर पर पड़ती हुई वह सुगन्धित जल की पवित्र धारा ऐसी मालूम होती थी मानो भगवान् के शरीर की उत्कृष्ट सुगन्धि से लज्जित होकर ही अधोमुखी (नीचे को मुख किये हुई) हो गई हो ॥१८७॥

देदीप्यमान सुवर्ण की झारी के नाल से पड़ती हुई वह सुगन्धित जल की धारा ऐसी शोभायमान होती थी मानो भक्ति के भार से भगवान को नमस्कार करने के लिए ही उद्यत हुई हो ॥१८८॥

बिजली के समान कुछ-कुछ पीले भगवान् के शरीर की प्रभा के समूह से व्याप्त हुई वह धारा ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो जलती हुई अग्नि में घी की आहुति ही डाली जा रही हो ॥१८९॥

स्वभाव से सुगन्धित और अत्यन्त पवित्र भगवान् के शरीर पर पड़कर वह धारा चरितार्थ हो गयी थी और उसने भगवान् के उक्त दोनों ही गुण अपने अधीन कर लिये थे-ग्रहण कर लिये थे ॥१९०॥

यद्यपि वह जल का समूह सुगन्धित फूलों और सुगन्धित द्रव्यों से सुवासित किया गया था तथापि वह भगवान् के शरीर पर कुछ भी विशेषता धारण नहीं कर सका था-उनके शरीर की सुगन्धि के सामने उस जल की सुगन्धि तुच्छ जान पड़ती थी ॥१९१॥

वह दूध के समान श्वेत जल की धारा हम सबके आनन्द के लिए हो जो कि रत्नों की धारा के समान समस्त आशाओं (इच्छाओं) और दिशाओं को पूर्ण करने वाली तथा समस्त जगत् को आनन्द देने वाली थी ॥१९२॥

जो पुण्यास्रव की धारा के समान अनेक सम्पदाओं को उत्पन्न करने वाली है ऐसी वह सुगन्धित जल की धारा हम लोगों को कभी नष्ट नहीं होने वाले रत्नत्रयरूपी धन से सन्तुष्ट करे ॥१९३॥

जो पैनी तलवार की धार के समान विघ्नों का समूह नष्ट कर देती है ऐसी वह पवित्र सुगन्धित जल की धारा सदा हम लोगों के मोक्ष के लिए हो ॥१९४॥

जो बड़े-बड़े मुनियों को मान्य है, जो जगत् को एकमात्र पवित्र करने वाली है और जो आकाशगंगा के समान शोभायमान है ऐसी वह सुगन्धित जल की धारा हम सबकी रक्षा करे ॥१९५॥

और जो भगवान् के शरीर को पाकर अत्यन्त पवित्रता को प्राप्त हुई है ऐसी वह सुगन्धित जल की धारा हम सब के मन को पवित्र करे ॥१९६॥

इस प्रकार इन्द्र सुगन्धित जल से भगवान् का अभिषेक कर जगत् की शान्ति के लिए उच्च स्वर से शान्ति-मन्त्र पढ़ने लगे ॥१९७॥

तदनन्तर देवों ने उस गन्धोदक को पहले अपने मस्तकों पर लगाया, फिर सारे शरीर में लगाया और फिर बाकी बचे हुए को स्वर्ग ले जाने के लिए रख लिया ॥१९८॥

सुगन्धित जल का अभिषेक समाप्त होने पर देवों ने जय-जय शब्द के कोलाहल के साथ-साथ चूर्ण मिले हुए सुगन्धित जल से परस्पर में फाग की अर्थात् वह सुगन्धित जल एक-दूसरे पर डाला ॥१९९॥

इस प्रकार अभिषेक की समाप्ति होनेपर सब देवों ने स्नान किया और फिर त्रिलोकपूज्य उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप भगवान् की प्रदक्षिणा देकर

पूजा की ॥२००॥

सब इन्द्रों ने मन्त्रों से पवित्र हुए जल, गन्ध, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल और अर्घ के द्वारा भगवान् की पूजा की ॥२०१॥

इस तरह इन्होंने भगवान् की पूजा की, उसके प्रभाव से अपने अनिष्ट-अमंगलों का नाश किया और फिर पौष्टिक कर्म कर बड़े समारोह के साथ जन्माभिषेक की विधि समाप्त की ॥२०२॥

तत्पश्चात् इन्द्र इन्द्राणी ने समस्त देवों के साथ परम आनन्द देने वाले और क्षण-भर के लिए मेरु पर्वत पर चूड़ामणि के समान शोभायमान होने वाले भगवान् की प्रदक्षिणा देकर उन्हें नमस्कार किया ॥२०३॥

उस समय स्वर्ग से पानी की छोटी-छोटी बूँदों के साथ फूलों की वर्षा हो रही थी और वह ऐसी मालूम होती थी मानो स्वर्ग की लक्ष्मी के हर्ष से पड़ते हुए अश्रुओं की बूँदें ही हों ॥२०४॥

उस समय कल्पवृक्षों के पुष्पों से उत्पन्न हुए पराग-समूह को कैपाता हुआ और भगवान् के अभिषेक-जल की बूँदों को बरसाता हुआ वायु मन्द-मन्द बह रहा था ॥२०५॥

उस समय भगवान् वृषभदेव मेरु के समान जान पड़ते थे, देव कुलाचलों के समान मालूम होते थे, कलश दूध के मेघों के समान प्रतिभासित होते थे और देवियाँ जल से भरे हुए सरोवरों के समान आचरण करती थीं ॥२०६॥

जिनका अभिषेक कराने वाला स्वयं इन्द्र था, मेरु पर्वत स्नान करने का सिंहासन था, देवियाँ नृत्य करने वाली थीं, देव किंकर थे और क्षीरसमुद्र स्नान करने का कटाह (टब) था। इस प्रकार अतिशय प्रशंसनीय मेरु पर्वत पर जिनका स्नपन महोत्सव समाप्त हुआ था वे पवित्र आत्मा वाले भगवान् समस्त जगत् को पवित्र करें ॥२०७-२०८॥

अथानन्तर पवनकुमार जाति के देव अपनी उत्कृष्ट भक्ति को प्रत्येक दिशाओं में वितरण करते हुए के समान धीरे-धीरे चलने लगे और मेघकुमार जाति के देव उस मेरु पर्वत सम्बन्धी भूमि पर अमृत से मिले हुए जल के छींटों की अखण्ड धारा छोड़ने लगे-मन्द-मन्द जलवृष्टि करने लगे ॥२०९॥

जो वायु शीघ्र ही कल्पवृक्षों को हिला रहा था, जो आकाशगंगा की अत्यन्त शीतल तरङ्गों के उड़ाने में समर्थ था और जो किनारे के वनों से पुष्पों का अपहरण कर रहा था ऐसा वायु मेरु पर्वत के चारों ओर घूम रहा था और ऐसा मालूम होता था मानो उसकी प्रदक्षिणा ही कर रहा हो ॥२१०॥

देवों के हाथों से ताड़ित हुए दुन्दुभि बाजों का गम्भीर शब्द सुनाई दे रहा था और वह मानो जोर-जोर से यह कहता हुआ कल्याण की घोषणा ही कर रहा था कि जब त्रिलोकीनाथ भगवान् वृषभदेव का जन्ममहोत्सव तीनों लोकों में अनेक कल्याण उत्पन्न कर रहा है तब यहाँ अकल्याणों का रहना अनुचित है ॥२११॥

उस समय देवों के हाथ से बिखरे हुए कल्पवृक्षों के फूलों की वर्षा बहुत ही ऊँचे से पड़ रही थी, सुगन्धि के कारण वह चारों ओर से भ्रमरों को खींच रही थी और ऐसी मालूम होती थी मानो भगवान् के जन्मकल्याणक की पूजा देखने के लिए स्वर्ग की लक्ष्मी ने चारों ओर अपने नेत्रों की पङ्क्ति ही प्रकट की हो ॥२१२॥

इस प्रकार जिस समय अनेक देवांगनाएँ तालसहित नाना प्रकार की नृत्यकला के साथ नृत्य कर रही थीं उस समय इन्द्रादि देव और धरणेन्द्रों ने हर्षित होकर मेरु पर्वतपर क्षीरसागर के जल से जिनके जन्माभिषेक का उत्सव किया था वे परम पवित्र तथा तीनों लोकों के गुरु श्रीवृषभनाथ जिनेन्द्र सदा जयवन्त हों ॥२१३॥

जन्म होने के अनन्तर ही नाना प्रकार के वाहन, विमान और पयादे आदि के द्वारा आकाश को रोककर इकट्ठे हुए देव और असुरों के समूह ने मेरु पर्वत के मस्तक पर लाये हुए क्षीरसागर के पवित्र जल से जिनका अभिषेक कर जन्मोत्सव किया था वे प्रथम जिनेन्द्र तुम सबकी रक्षा करें ॥२१४॥

जिनके जन्माभिषेक के समय सूर्य ने शीघ्र ही अपनी उष्णता छोड़ दी थी, जल के छींटे बार-बार उछल रहे थे, चन्द्रमा ने शीतलता को धारण किया था, नक्षत्रों ने बंधी हुई छोटी-छोटी नौकाओं के समान जहाँ-तहाँ क्रीड़ा की थी, और तैरते हुए चंचल ताराओं के समुद्र ने फेन के पिण्ड के समान शोभा धारण की थी वे जगत् को पवित्र करने वाले जिनेन्द्र भगवान् सदा जयशील हों ॥२१५॥

मेरु पर्वत के मस्तक पर स्फुरायमान होता हुआ, जिनेन्द्र भगवान् के जन्माभिषेक का वह जल-प्रवाह हम सबकी रक्षा करे जिसे कि इन्द्रों

ने बड़े आनन्द से, देवियों ने आश्चर्य से, देवों के हाथियों ने सूंड ऊँची उठाकर बड़े भय से, चारण ऋद्धिधारी मुनियों ने एकाग्रचित्त होकर बड़े आदर से और विद्याधरों ने यह क्या है ऐसी शंका करते हुए देखा था ॥२१६॥
इस प्रकार आर्ष नाम से प्रसिद्ध श्री भगवज्जिनसेनाचार्यविरचित त्रिषष्टि-लक्षणमहापुराणसंग्रह में भगवान के जन्माभिषेक का वर्णन करने वाला तेरहवां पर्व समाप्त हुआ ॥१३॥

पर्व-14 -- भगवज्जातकर्मोत्सव

पर्व-14 -- भगवज्जातकर्मोत्सव

कथा :

अथानन्तर, जब अभिषेक की विधि समाप्त हो चुकी तब इन्द्राणी देवी ने हर्ष के साथ जगद्गुरु भगवान् वृषभदेव को अलंकार पहनाने का प्रयत्न किया ॥१॥

जिनका अभिषेक किया जा चुका है ऐसे पवित्र शरीर धारण करने वाले भगवान् वृषभदेव के शरीर में लगे हुए जलकणों को इन्द्राणी ने स्वच्छ एवं निर्मल वस्त्र से पोछा ॥२॥

भगवान् के मुख पर, अपने निकटवर्ती कटाक्षों की जो सफेद छाया पड़ रही थी उसे इन्द्राणी जलकण समझती थी । अतः पोछे हुए मुख को भी वह बार-बार पोछ रही थी ॥३॥

अपनी सुगन्धि से स्वर्ग अथवा तीनों लोकों को लिप्त करने वाले अतिशय सुगन्धित गाढ़े सुगन्ध द्रव्यों से उसने भगवान् के शरीर पर विलेपन किया था ॥४॥

यद्यपि वे सुगन्ध द्रव्य उत्कृष्ट सुगन्धि से सहित थे तथापि भगवान् के शरीर की स्वाभाविक तथा दूर-दूर तक फैलने वाली सुगन्ध ने उन्हें तिरस्कृत कर दिया था ॥५॥

इन्द्राणी ने बड़े आदर से भगवान् के ललाट पर तिलक लगाया परन्तु जगत् के तिलक-स्वरूप भगवान् क्या उस तिलक से शोभायमान हुए थे ? ॥६॥

इन्द्राणी ने भगवान् के मस्तक पर कल्पवृक्ष के पुष्पों की माला से बना हुआ मुकुट धारण किया था । उन मालाओं से अलंकृत मस्तक होकर भगवान् ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो कीर्ति से ही अलंकृत किये गये हों ॥७॥

यद्यपि भगवान् स्वयं जगत् के चूड़ामणि थे और सज्जनों में सबसे मुख्य थे तथापि इन्द्राणी ने भक्ति से निर्भर होकर उनके मस्तक पर चूड़ामणि रत्न रखा था ॥८॥

यद्यपि भगवान् के सघन बरौनी वाले दोनों नेत्र अंजन लगाये बिना ही श्यामवर्ण थे तथापि इन्द्राणी ने नियोग मात्र समझकर उनके नेत्रों में अंजन का संस्कार किया था ॥९॥

भगवान् के दोनों कान बिना वेधन किये ही छिद्रसहित थे, इन्द्राणी ने उनमें मणिमय कुण्डल पहनाये थे जिससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो भगवान् के मुख की कान्ति और दीप्ति को देखने के लिए सूर्य और चन्द्रमा ही उनके पास पहुँचे हों ॥१०॥

मोक्ष-लक्ष्मी के गले के हार के समान अतिशय सुन्दर और मनोहर मणियों के हार से त्रिलोकीनाथ भगवान् वृषभदेव के कण्ठ की शोभा बहुत भारी हो गयी थी ॥११॥

बाजूबन्द, कड़ा, अनन्त (अणत) आदि से शोभायमान उनकी दोनों भुजाएँ ऐसी मालूम होती थीं मानो कल्पवृक्ष की दो शाखाएँ ही हों ॥१२॥

भगवान् के कटिप्रदेश में छोटी-छोटी घण्टियों (बोरों) से सुशोभित मणिमयी करधनी ऐसी शोभायमान हो रही थी मानो कल्पवृक्ष के अंकुर ही हों ॥१३॥

गोमुख के आकार के चमकीले मणियों से शब्दायमान उनके दोनों चरण ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो सरस्वती देवी ही आदरसहित उनकी सेवा कर रही हो ॥१४॥

उस समय अनेक आभूषणों से शोभायमान भगवान् ऐसे जान पड़ते थे मानो लक्ष्मी का पुंज ही प्रकट हुआ हो, ऊँची शिखा वाली रत्नों की राशि ही हो अथवा भोग्य वस्तुओं का समूह ही हो ॥१५॥

अथवा अलंकारसहित भगवान् ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो सौन्दर्य का समूह ही हो, सौभाग्य का खजाना ही हो अथवा गुणों का निवासस्थान ही हो ॥१६॥

स्वभाव से सुन्दर तथा संगठित भगवान् का शरीर अलंकारों से युक्त होने पर ऐसा शोभायमान होने लगा था मानो उपमा, रूपक आदि अलंकारों से युक्त तथा सुन्दर रचना से सहित किसी कवि का काव्य ही हो ॥१७॥

इस प्रकार इन्द्राणी के द्वारा प्रत्येक अंग में धारण किये हुए मणिमय आभूषणों से वे भगवान् उस कल्पवृक्ष के समान शोभायमान हो रहे थे जिसकी प्रत्येक शाखा पर आभूषण सुशोभित हो रहे हैं ॥१८॥

इस तरह इन्द्राणी ने इन्द्र की गोदी में बैठे हुए भगवान् को अनेक वस्त्राभूषणों से अलंकृत कर जब उनकी रूप-सम्पदा देखी तब वह स्वयं भारी आश्चर्य को प्राप्त हुई ॥१९॥

इन्द्र ने भी भगवान् के उस समय की रूपसम्बन्धी शोभा देखनी चाही, परन्तु दो नेत्रों से देखकर सन्तुष्ट नहीं हुआ इसीलिए मालूम होता है कि वह द्व्यक्ष से सहस्राक्ष (हजारों नेत्रों वाला) हो गया था-उसने विक्रिया शक्ति से हजार नेत्र बनाकर भगवान् का रूप देखा था ॥२०॥ उस समय देव और असुरों ने अपने टिमकाररहित नेत्रों से क्षण-भर के लिए मेरु पर्वत के शिखामणि के समान सुशोभित होने वाले भगवान् को देखा ॥२१॥

तदनन्तर इन्द्र आदि श्रेष्ठ देव उनकी स्तुति करने के लिए तत्पर हुए सो ठीक ही है तीर्थकर होने वाले पुरुष का ऐसा ही, अधिक प्रभाव होता है ॥२२॥

हे देव, हम लोगों को परम आनन्द देने के लिए ही आप उदित हुए हैं । क्या सूर्य के उदित हुए बिना कभी कमलों का समूह प्रबोध को प्राप्त होता है ? ॥२३॥

हे देव, मिथ्याज्ञानरूपी अन्धकूप में पड़े हुए इन संसारी जीवों के उद्धार करने की इच्छा से आप धर्मरूपी हाथ का सहारा देनेवाले हैं ॥२४॥ हे देव, जिस प्रकार सूर्य की किरणों के द्वारा उदय होने से पहले ही अन्धकार नष्टप्राय कर दिया जाता है उसी प्रकार आपके वचनरूपी किरणों के द्वारा भी हम लोगों के हृदय का अन्धकार नष्ट कर दिया गया है ॥२५॥

हे देव, आप देवों के आदि देव हैं, तीनों जगत् के आदि गुरु हैं, जगत् के आदि विधाता है और धर्म के आदि नायक हैं ॥२६॥

हे देव, आप ही जगत् के स्वामी हैं, आप ही जगत् के पिता हैं, आप ही जगत् के रक्षक हैं, और आप ही जगत् के नायक हैं ॥२७॥

हे देव, जिस प्रकार स्वयं धवल रहनेवाला चन्द्रमा अपनी चाँदनी से समस्त लोक को धवल कर देता है उसी प्रकार स्वयं पवित्र रहने वाले आप अपने उत्कृष्ट गुणों से सारे संसार को पवित्र कर देते हैं ॥२८॥

हे नाथ, संसाररूपी रोग से दुःखी हुए ये प्राणी अमृत के समान आपके वचनरूपी औषधि के द्वारा नीरोग होकर आप से परम कल्याण को प्राप्त होंगे ॥२९॥

हे भगवन आप सम्पूर्ण दोषों को नष्ट कर इस तीर्थकररूप परम पद को प्राप्त हुए हैं अतएव आप ही पवित्र हैं, आप ही दूसरों को पवित्र करने वाले हैं और आप ही अविनाशी उत्कृष्ट ज्योतिःस्वरूप हैं ॥३०॥

हे नाथ, यद्यपि आप कूटस्थ हैं-नित्य हैं तथापि आज हम लोगों को कूटस्थ नहीं मालूम होते क्योंकि ध्यान से होने वाले समस्त गुण आप में ही वृद्धि को प्राप्त होते रहते हैं । भावार्थ-जो कूटस्थ (नित्य) होता है उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता अर्थात् न उनमें कोई गुण घटता है और न बढ़ता है, परन्तु हम देखते हैं कि आप में ध्यान आदि योगाभ्यास से होने वाले अनेक गुण प्रति समय बढ़ते रहते हैं, इस अपेक्षा से आप हमें कूटस्थ नहीं मालूम होते ॥३१॥

हे देव, यद्यपि आप बिना स्नान किये ही पवित्र हैं तथापि मेरु पर्वत पर जो आपका अभिषेक किया गया है वह पापों से मलिन हुए इस जगत् को पवित्र करने के लिए ही किया गया है ॥३२॥

हे देव, आपके जन्माभिषेक से केवल हम लोग ही पवित्र नहीं हुए हैं किन्तु यह मेरु पर्वत, क्षीरसमुद्र तथा उन दोनों के वन (उपवन और जल) भी पवित्रता को प्राप्ति हो गये हैं ॥३३॥

हे देव, आपके अभिषेक के जलकण सब दिशाओं में ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो संसार को आनन्द देने वाला और घनीभूत आपके यश का समूह ही हो ॥३४॥

हे देव, यद्यपि आप बिना लेप लगाये ही सुगन्धित हैं और बिना आभूषण पहने ही कदर हैं तथापि हम भक्तों ने भक्तिवश ही सुगन्धित द्रव्यों के लेप और आभूषणों से आपकी पूजा की है ॥३५॥

हे भगवन् आप तेजस्वी हैं और संसार में सबसे अधिक तेज धारण करते हुए प्रकट हुए हैं इसलिए ऐसे मालूम होते हैं मानो मेरु पर्वत के गर्भ से संसार का एक शिखामणि-सूर्य ही उदय हुआ हो ॥३६॥

हे देव, स्वर्गावतरण के समय आप 'सद्योजात' नाम को धारण कर रहे थे, 'अच्युत' (अविनाशी) आप हैं ही और आज सुन्दरता को धारण करते हुए 'वामदेव' इस नाम को भी धारण कर रहे हैं अर्थात् आप ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश हैं ॥३७॥

जिस प्रकार शुद्ध खानि से निकला हुआ मणि संस्कार के योग से अतिशय देदीप्यमान हो जाता है उसी प्रकार आप भी जन्माभिषेकरूपी जातकर्मसंस्कार के योग से अतिशय देदीप्यमान हो रहे हैं ॥३८॥

हे नाथ, यह जो ब्रह्माद्वैतवादियों का कहना है कि सब लोग परं ब्रह्म की शरीर आदि पर्यायें ही देख सकते हैं उसे साक्षात् कोई नहीं देख सकते वह सब झूठ है क्योंकि परं ज्योतिःस्वरूप आप आज हमारे प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहे हैं ॥३९॥

हे देव, विस्तार से आपकी स्तुति करने वाले योगिराज आपको पुराणपुरुष, पुरु, कवि और पुराण आदि मानते हैं ॥४०॥

हे भगवन् आपकी आत्मा अत्यन्त पवित्र है इसलिए आपको नमस्कार हो, आपके गुण सर्वत्र प्रसिद्ध हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप जन्म-मरण का भय नष्ट करने वाले हैं और गुणों के एकमात्र उत्पन्न करने वाले हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥४१॥

हे नाथ, आप क्षमा (पृथ्वी) के समान क्षमा (शान्ति) गुण को ही प्रधान रूप से धारण करते हैं इसलिए क्षमा अर्थात् पृथ्वीरूप को धारण करने वाले आपके लिए नमस्कार हो, आप जल के समान जगत् को आनन्दित करने वाले हैं इसलिए जलरूप को धारण करने वाले आपको नमस्कार हो ॥४२॥

आप वायु के समान परिग्रहरहित हैं, वेगशाली हैं और मोहरूपी महावृक्ष को उखाड़ने वाले हैं इसलिए वायुरूप को धारण करने वाले आपके लिए नमस्कार हो ॥४३॥

आप कर्मरूपी ईधन को जलाने वाले हैं, आपका शरीर कुछ लालिमा लिये हुए पीतवर्ण तथा पुष्ट है, और आपका ध्यानरूपी तेज सदा प्रदीप्त रहता है इसलिए अग्निरूप को धारण करने वाले आपके लिए नमस्कार हो ॥४४॥

आप आकाश की तरह पापरूपी धूलि की संगति से रहित हैं, विश्व हैं, व्यापक हैं, अनादि अनन्त हैं, निर्विकार हैं, सबके रक्षक हैं इसलिए आकाशरूप को धारण करने वाले आपके लिए नमस्कार हो ॥४५॥

आप याजक के समान ध्यानरूपी अग्नि में कर्मरूपी साकल्य का होम करने वाले हैं इसलिए याजकरूप को धारण करने वाले आपके लिए नमस्कार हो, आप चन्द्रमा के समान निर्वाण (मोक्ष अथवा आनन्द) देने वाले हैं इसलिए चन्द्ररूप को धारण करने वाले आपको नमस्कार हो ॥४६॥

और आप अनन्त पदार्थों को प्रकाशित करने वाले केवलज्ञानरूपी सूर्य से सर्वथा अभिन्न रहते हैं इसलिए सूर्यरूप को धारण करने वाले आपके लिए नमस्कार हो । हे नाथ, इस प्रकार आप पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, याजक, चन्द्र और सूर्य इन आठ मूर्तियों को धारण करने वाले हैं तथा तीर्थंकर होने वाले हैं इसलिए आपको नमस्कार हो । भावार्थ-अन्यमतावलम्बियों ने महादेव की पृथ्वी, जल आदि आठ मूर्तियाँ मानी हैं, यहाँ आचार्य ने ऊपर लिखे वर्णन से भगवान् वृषभदेव को ही उन आठ मूर्तियों को धारण करने वाला महादेव मानकर उनकी स्तुति की है ॥४७॥

हे नाथ, आप महाबल अर्थात् अतुल्य बल के धारक हैं अथवा इस भव से पूर्व दसवें भव में महाबल विद्याधर थे इसलिए आपको नमस्कार हो, आप ललितांग हैं अर्थात् सुन्दर शरीर को धारण करने वाले अथवा नौवें भव में ऐशान स्वर्ग के ललितांग देव थे, इसलिए आपको नमस्कार हो, आप धर्मरूपी, तीर्थ को प्रवर्ताने वाले ऐश्वर्यशाली और वज्रजंघ हैं अर्थात् वज्र के समान मजबूत जंघाओं को धारण करने वाले हैं अथवा आठवें भव में वज्रजंघ नाम के राजा थे ऐसे आपको नमस्कार हो ॥४८॥

आप आर्य अर्थात् पूज्य हैं अथवा सातवें भव में भोगभूमिज आर्य थे इसलिए आपको नमस्कार हो, आप दिव्य श्रीधर अर्थात् उत्तम शोभा को धारण करने वाले हैं अथवा छठे भव में श्रीधर नाम के देव थे ऐसे आपके लिए नमस्कार हो, आप सुविधि अर्थात् उत्तम भाग्यशाली हैं अथवा पाँचवें भव में श्रीधर नाम के राजा थे इसलिए आपको नमस्कार हो, आप अच्युतेन्द्र अर्थात् अविनाशी स्वामी हैं

अथवा चौथे भव में अच्युत स्वर्ग के इन्द्र थे इसलिए आपको नमस्कार हो ॥४९॥

आपका शरीर वज्र के खम्भे के समान स्थिर है और आप वज्रनाभि अर्थात् वज्र के समान मजबूत नाभि को धारण करने वाले हैं अथवा तीसरे भव में वज्रनाभि नाम के चक्रवर्ती थे ऐसे आपको नमस्कार हो । आप सर्वार्थसिद्धि के नाथ अर्थात् सब पदार्थों की सिद्धि के स्वामी तथा सर्वार्थसिद्धि अर्थात् सब प्रयोजनों की सिद्धि को प्राप्त हैं अथवा दूसरे भव में सर्वार्थसिद्धि विमान को प्राप्त कर उसके स्वामी थे इसलिए आपको नमस्कार हो ॥५०॥

हे नाथ ! आप दशावतारचरम अर्थात् सांसारिक पर्यायों में अन्तिम अथवा ऊपर कहे हुए महाबल आदि दश अवतारों में अन्तिम परमौदारिक शरीर को धारण करने वाले नाभिराज के पुत्र वृषभदेव परमेष्ठी हुए हैं इसलिए आपको नमस्कार हो । भावार्थ-इस प्रकार श्लेषालंकार का आश्रय लेकर आचार्य ने भगवान् वृषभदेव के दस अवतारों का वर्णन किया है, उसका अभिप्राय यह है कि अन्य मतावलम्बी श्रीकृष्ण विष्णु के दस अवतार मानते हैं । यहाँ आचार्य ने दस अवतार बतलाकर भगवान् वृषभदेव को ही श्रीकृष्ण-विष्णु सिद्ध किया है ॥५१॥

हे देव, इस प्रकार आपकी स्तुति कर हम लोग इसी फल की आशा करते हैं कि हम लोगों की भक्ति आप में ही रहे । हमें अन्य परिमित फलों से कुछ भी प्रयोजन नहीं है ॥५२॥

इस प्रकार परम आनन्द से भरे हुए इन्द्रों ने भगवान् ऋषभदेव की स्तुति कर उत्सव के साथ अयोध्या चलने का फिर विचार किया ॥५३॥ अयोध्या से मेरु पर्वत तक जाते समय मार्ग में जैसा उत्सव हुआ था उसी प्रकार फिर होने लगा । उसी प्रकार दुन्दुभि बजने लगे, उसी प्रकार जय-जय शब्द का उच्चारण होने लगा और उसी प्रकार इन्द्र ने जिनेन्द्र भगवान् को ऐरावत हाथी के कन्धे पर विराजमान किया ॥ ५४॥

वे देव बड़ा भारी कोलाहल, गीत, नृत्य और जय-जय शब्द की घोषणा करते हुए आकाशरूपी आँगन को उलंघ कर शीघ्र ही अयोध्यापुरी आ पहुँचे ॥५५॥

जिनके शिखर आकाश को उल्लंघन करने वाले हैं और जिन पर लगी हुई पताकाएँ वायु के वेग से फहरा रही हैं ऐसे गोपुर-दरवाजों से वह अयोध्या नगरी ऐसी शोभायमान होती थी मानो स्वर्गपुरी को ही बुला रही हो ॥५६॥

उस अयोध्यापुरी की मणिमयी भूमि रात्रि के प्रारम्भ समय में ताराओं का प्रतिबिम्ब पड़ने से ऐसी जान पड़ती थी मानो कुमुदों से सहित सरसी की अखण्ड शोभा ही धारण कर रही हो ॥५७॥

दूर तक आकाश में वायु के द्वारा हिलती हुई पताकाओं से वह अयोध्या ऐसी मालूम होती थी मानो कौतूहलवश ऊँचे उठाये हुए हाथों से स्वर्गवासी देवों को बुलाना चाहती हो ॥५८॥

जिनमें अनेक सुन्दर स्त्री-पुरुष निवास करते थे ऐसे वहाँ के मणिमय महलों को देखकर निःसन्देह कहना पड़ता था कि मानो उन महलों ने इन्द्र के विमानों की शोभा छीन ली थी अथवा तिरस्कृत कर दी थी ॥५९॥

वहाँ पर चूना गची के बने हुए बड़े-बड़े महलों के अग्रभाग पर सैकड़ों चन्द्रकान्तमणि लगे हुए थे, रात में चन्द्रमा की किरणों का स्पर्श पाकर उनसे पानी झर रहा था जिससे वे मणि मेघ के समान मालूम होते थे ॥६०॥

उस नगरी के बड़े-बड़े राजमहलों के शिखर अनेक मणियों से देदीप्यमान रहते थे, उनसे सब दिशाओं में रत्नों का प्रकाश फैलता रहता था जिससे ऐसा मालूम होता था मानो वह नगरी इन्द्रधनुष ही धारण कर रही हो ॥६१॥

उस नगरी का आकाश कहीं-कहीं पर पद्मरागमणियों की किरणों से कुछ-कुछ लाल हो रहा था जिससे ऐसा मालूम होता था मानो संध्याकाल के बादलों से आच्छादित ही हो रहा हो ॥६२॥

वहाँ के राजमहलों के शिखरों में लगे हुए देदीप्यमान इन्द्रनील मणियों से छिपा हुआ ज्योतिश्चक्र आकाश में दिखाई ही नहीं पड़ता था ॥ ६३॥

उस नगरी के राजमहलों के शिखर पर्वतों के शिखरों के समान बहुत ही ऊँचे थे और उन पर शरद् ऋतु के मेघ आश्रय लेते थे सो ठीक ही है क्योंकि जो अतिशय उन्नत (ऊँचा या उदार) होता है वह किसका आश्रय नहीं होता ? ॥६४॥

उस नगरी का सुवर्ण का बना हुआ परकोटा ऐसा अच्छा शोभायमान हो रहा था मानो अपने में लगे हुए रत्नों की किरणों से सुमेरु पर्वत

की शोभा की हँसी ही कर रहा हो ॥६५॥

अयोध्यापुरी की परिखा उद्धत हुए जलचर जीवों से सदा क्षोभ को प्राप्त होती रहती थी और चञ्चल लहरों तथा आवर्तों से भयंकर रहती थी इसलिए किसी बड़े भारी समुद्र की लीला धारण करती थी ॥६६॥

भगवान् वृषभदेव की जन्मभूमि होने से वह नगरी शुद्ध खानि की भूमि के समान थी और उसने करोड़ों पुरुषरूपी अमूल्य महारत्न उत्पन्न भी किये थे ॥६७॥

अनेक प्रकार के फल तथा छाया देने वाले और अनेक प्रकार के वृक्षों से भरे हुए वहाँ के बाहरी उपवनों ने कल्पवृक्षों की शोभा तिरस्कृत कर दी थी ॥६८॥

उसके समीपवर्ती प्रदेश को घेरकर सरयू नदी स्थित थी जिसके सुन्दर किनारों पर सारस पक्षी सो रहे थे और हंस मनोहर शब्द कर रहे थे ॥६९॥

वह नगरी अन्य शत्रुओं के द्वारा दुर्लभ थी और स्वयं अनेक योद्धाओं से भरी हुई थी इसीलिए लोग उसे 'अयोध्या' (जिससे कोई युद्ध नहीं कर सके) कहते थे । उसका दूसरा नाम विनीता भी था और वह आर्यखण्ड के मध्य में स्थित थी इसलिए उसकी नाभि के समान शोभायमान हो रही थी ॥७०॥

देवों की सेनाएँ उस अयोध्यापुरी को चारों ओर से घेरकर ठहर गयी थी जिससे ऐसी मालूम होती थी मानो उसकी शोभा देखने के लिए तीनों लोक ही आ गये हों ॥७१॥

तत्पश्चात् इन्द्र ने भगवान् वृषभदेव को लेकर कुछ देवों के साथ उत्कृष्ट लक्ष्मी से सुशोभित महाराज नाभिराज के घर में प्रवेश किया ॥७२॥ और वहाँ जहाँ पर देवों ने अनेक प्रकार की सुन्दर रचना की है ऐसे श्रीगृह के आँगन में बालक रूपधारी भगवान् को सिंहासन पर विराजमान किया ॥७३॥

महाराज नाभिराज उन प्रियदर्शन भगवान् को देखने लगे, उस समय उनका सारा शरीर रोमांचित हो रहा था, नेत्र प्रीति से प्रफुल्लित तथा विस्तृत हो रहे थे ॥७४॥

मायामयी निद्रा दूर कर इन्द्राणी के द्वारा प्रबोध को प्राप्त हुई माता मरुदेवी भी हर्षित चित्त होकर देवियों के साथ-साथ तीनों जगत् के स्वामी भगवान् वृषभदेव को देखने लगी ॥७५॥

वह सती मरुदेवी अपने पुत्र को उदय हुए तेज के पुंज के समान देख रही थी और वह उससे ऐसी सुशोभित हो रही थी जैसी कि बालसूर्य से पूर्व दिशा सुशोभित होती है ॥७६॥

जिनके मनोरथ पूर्ण हो चुके हैं ऐसे जगद्गुरु भगवान् वृषभदेव के माता-पिता अतिशय प्रसन्न होते हुए इन्द्राणी के साथ-साथ इन्द्र को देखने लगे ॥७७॥

तत्पश्चात् इन्द्र ने नाना प्रकार के आभूषणों, मालाओं और बहुमूल्य वस्त्रों से उन जगत्पूज्य माता-पिता की पूजा की ॥७८॥

फिर वह सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र अत्यन्त सन्तुष्ट होकर उन दोनों की इस प्रकार स्तुति करने लगा कि आप दोनों पुण्यरूपी धन से सहित हैं तथा बड़े ही धन्य हैं क्योंकि समस्त लोक में श्रेष्ठ पुत्र आपके ही हुआ है ॥७९॥

इस संसार में आप दोनों ही महाभाग्यशाली हैं, आप दोनों ही अनेक कल्याणों को प्राप्त होने वाले हैं और लोक में आप दोनों की बराबरी करने वाला कोई नहीं है, क्योंकि आप जगत् के गुरु के भी गुरु अर्थात् माता-पिता हैं ॥८०॥

हे नाभिराज, सच है कि आप ऐश्वर्यशाली उदयाचल हैं और रानी मरुदेवी पूर्व दिशा है क्योंकि यह पुत्ररूपी परम ज्योति आप से ही उत्पन्न हुई है ॥८१॥

आज आपका यह घर हम लोगों के लिए जिनालय के समान पूज्य है और आप जगत् पिता के भी माता-पिता हैं इसलिए हम लोगों के सदा पूज्य हैं ॥८२॥

इस प्रकार इन्द्र ने माता-पिता की स्तुति कर उनके हाथों में भगवान् को सौंप दिया और फिर उन्हीं के जन्माभिषेक की उत्तम कथा कहता हुआ वह क्षण-भर वहीं पर खड़ा रहा ॥८३॥

इन्द्र के द्वारा जन्माभिषेक की सब कथा मालूम कर माता-पिता दोनों ही हर्ष और आश्चर्य की अन्तिम सीमा पर आरूढ़ हुए ॥८४॥

माता-पिता ने इन्द्र की अनुमति प्राप्त कर अनेक उत्सव करने वाले पुरवासी लोगों के साथ-साथ बड़ी विभूति से भगवान का फिर भी जन्मोत्सव किया ॥८५॥

उस समय पताकाओं की पड़क्ती से भरी हुई वह अयोध्या नगरी ऐसी मालूम होती थी मानो कौतुकवश स्वर्ग को बुलाने के लिए इशारा ही कर रही हो ॥८६॥

उस समय वह अयोध्या नगरी स्वर्गपुरी के समान मालूम होती थी, नगरवासी लोग देवों के तुल्य जान पड़ते थे और अनेक वस्त्राभूषण धारण किये हुई नगरनिवासिनी स्त्रियाँ अप्सराओं के समान जान पड़ती थीं ॥८७॥

धूप की सुगन्धि से सब दिशाएँ भर गयी थीं, सुगन्धित चूर्ण से आकाश व्याप्त हो गया था और संगीत तथा मृदंगों के शब्द से समस्त दिशाएँ बहरी हो गयी थीं ॥८८॥

उस समय नगर की सब गलियाँ रत्नों के चूर्ण से अलंकृत हो रही थीं और हिलती हुई पताकाओं के वस्त्रों से उनमें धूप का आना रुक गया था ॥८९॥

उस समय उस नगर में सब स्थानों पर पताकाएँ हिल रही थीं (फहरा रही थीं) जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो वह नगर नृत्य ही कर रहा हो । उसके गोपुर-दरवाजे बँधे हुए तोरणों से शोभायमान हो रहे थे जिससे ऐसा मालूम होता था मानो वह अपने मुख की सुन्दरता ही दिखा रहा हो, जगह-जगह वह नगर सजाया गया था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो वस्त्राभूषण ही धारण किये हो और प्रारम्भ किये हुए संगीत के शब्द से उस नगर की समस्त दिशाएँ भर रही थीं जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो वह आनन्द से बातचीत ही कर रहा हो अथवा गा रहा हो ॥९०-९१॥

इस प्रकार आनन्द से भरे हुए समस्त पुरवासी जन गीत, नृत्य, वादित्त तथा अन्य अनेक मङ्गल-कार्यों में व्यग्र हो रहे थे ॥९२॥

उस समय उस नगर में न तो कोई दीन रहा था, न निर्धन रहा था, न कोई ऐसा ही रहा था जिसकी इच्छाएँ पूर्ण नहीं हुई हों और न कोई ऐसा ही था जिसे आनन्द उत्पन्न नहीं हुआ हो ॥९३॥

इस तरह सारे संसार को आनन्दित करने वाला वह महोत्सव जैसा मेरु पर्वत पर हुआ था वैसा ही अन्तःपुरसहित इस अयोध्यानगर में हुआ ॥९४॥

उन नगरवासियों का आनन्द देखकर अपने आनन्द को प्रकाशित करते हुए इन्द्र ने आनन्द नामक नाटक करने में अपना मन लगाया ॥ ९५॥

ज्यों ही इन्द्र ने नृत्य करना प्रारम्भ किया त्यों ही संगीतविद्या के जानने वाले गन्धर्वों ने अपने बाजे वगैरह ठीक कर विस्तार के साथ संगीत करना प्रारम्भ कर दिया ॥९६॥

पहले किसी के द्वारा किये हुए कार्य का अनुकरण करना नाट्य कहलाता है, वह नाट्य, नाट्यशास्त्र के अनुसार ही करने के योग्य है और उस नाट्यशास्त्र को इन्द्रादि देव ही अच्छी तरह जानते हैं ॥९७॥

जो नाट्य या नृत्य शिष्य-प्रतिशिष्यरूप अन्य पात्रों में संक्रान्त होकर भी सज्जनों का मनोरंजन करता रहता है यदि उसे स्वयं उसका निरूपण करने वाला ही करे तो फिर उसकी मनोहरता का क्या वर्णन करना है ॥९८॥

तत्पश्चात् अनेक प्रकार के पाठ और चित्र-विचित्र शरीर की चेष्टाओं से इन्द्र के द्वारा किया हुआ वह नृत्य महात्मा पुरुषों के देखने और सुनने योग्य था ॥९९॥

उस समय अनेक प्रकार के बाजे बज रहे थे, तीनों लोकों में फैली हुई कुलाचलोंसहित पृथ्वी ही उसकी रंगभूमि थी, स्वयं इन्द्र प्रधान नृत्य करने वाला था, नाभिराज आदि उत्तम-उत्तम पुरुष उस नृत्य के दर्शक थे, जगद्गुरु भगवान् वृषभदेव उसके आराध्य (प्रसन्न करने योग्य) देव थे, और धर्म, अर्थ, काम इन तीन पुरुषार्थों की सिद्धि तथा परमानन्दरूप मोक्ष की प्राप्ति होना ही उसका फल था । इन ऊपर कही हुई वस्तुओं में से एक-एक वस्तु भी सज्जन पुरुषों को प्रीति उत्पन्न करने वाली है फिर पुण्योदय से पूर्वोक्त सभी वस्तुओं का समुदाय किसी एक जगह आ मिले तो कहना ही क्या है ? ॥१००-१०२॥

उस समय इन्द्र ने पहले त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) रूप फल को सिद्ध करने वाला गर्भावतार सम्बन्धी नाटक किया और फिर जन्माभिषेक सम्बन्धी नाटक करना प्रारम्भ किया ॥१०३॥

तदनन्तर इन्द्र ने भगवान् के महाबल आदि दशावतार सम्बन्धी वृत्तान्त को लेकर अनेक रूप दिखलाने वाले अन्य अनेक नाटक करना प्रारम्भ किये ॥१०४॥

उन नाटकों का प्रयोग करते समय इन्द्र ने सबसे पहले, पापों का नाश करने के लिए मंगलाचरण किया और फिर सावधान होकर पूर्वरंग का प्रारम्भ किया ॥१०५॥

पूर्वरंग प्रारम्भ करते समय इन्द्र ने पुष्पाञ्जलि क्षेपण करते हुए सबसे पहले ताण्डव नृत्य प्रारम्भ किया ॥१०६॥

ताण्डव नृत्य के प्रारम्भ में उसने नान्दी मङ्गल किया और फिर नान्दी मंगल कर चुकने के बाद रंग-भूमि में प्रवेश किया । उस समय नाट्यशास्त्र के अवतार को जानने वाला और मंगलमय वस्त्राभूषण धारण करने वाला वह इन्द्र बहुत ही शोभायमान हो रहा था ॥१०७॥

जिस समय वह रंग-भूमि में अवतीर्ण हुआ था उस समय वह वैशाख-आसन से खड़ा हुआ था अर्थात् पैर फैलाकर अपने दोनों हाथ कमर पर रखे हुए था और चारों ओर से मरुत् अर्थात् देवों से घिरा हुआ था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो मरुत् अर्थात् वातवलियों से घिरा हुआ लोकस्कन्ध ही हो ॥१०८॥

रंग-भूमि के मध्य में पुष्पाञ्जलि बिखेरता हुआ वह इन्द्र ऐसा भला मालूम होता था मानो अपने पान करने से बचे हुए नाट्यरस को दूसरों के लिए बाँट ही रहा हो ॥१०९॥

वह इन्द्र अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषणों से शोभायमान था और उत्तम नेत्रों का समूह धारण कर रहा था इसलिए पुष्पों और आभूषणों से सहित किसी कल्पवृक्ष के समान सुशोभित हो रहा था ॥११०॥

जिसके पीछे अनेक मदोन्मत्त भौरे दौड़ रहे हैं ऐसी वह पड़ती हुई पुष्पाञ्जलि ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो आकाश को चित्र-विचित्र करने वाला इन्द्र के नेत्रों का समूह ही हो ॥१११॥

इन्द्र के बड़े-बड़े नेत्रों की पङ्क्ति जवनि का (परदा) की शोभा धारण करने वाली अपनी फैलती हुई प्रभा से रंगभूमि को चारों ओर से आच्छादित कर रही थी ॥११२॥

वह इन्द्र ताल के साथ-साथ पैर रखकर रंगभूमि के चारों ओर घूमता हुआ ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो पृथ्वी को नाप ही रहा हो ॥११३॥

जब इन्द्र ने पुष्पाञ्जलि क्षेपण कर ताण्डव नृत्य करना प्रारम्भ किया तब उसकी भक्ति से प्रसन्न हुए देवों ने स्वर्ग अथवा आकाश से पुष्पवर्षा की थी ॥११४॥

उस समय दिशाओं के अन्तर्भाग तक प्रतिध्वनि को विस्तृत करते हुए पुष्कर आदि करोड़ों बाजे एक साथ गम्भीर शब्दों से बज रहे थे ॥११५॥

वीणा भी मनोहर शब्द कर रही थी, मनोहर मुरली भी मधुर शब्दों से बज रही थी और उन बाजों के साथ-ही-साथ ताल से सहित संगीत के शब्द हो रहे थे ॥११६॥

वीणा बजाने वाले मनुष्य जिस स्वर वा शैली से वीणा बजा रहे थे, साथ के अन्य बाजों के बजाने वाले मनुष्य भी अपने-अपने बाजों को उसी स्वर व शैली से मिलाकर बजा रहे थे सो ठीक ही है एक-सी वस्तुओं में मिलाप होना ही चाहिए ॥११७॥

उस समय वीणा बजाती हुई किन्नर देवियाँ कोमल, मनोहर, कुछ-कुछ गम्भीर, उच्च और सूक्ष्मरूप से गा रही थीं ॥११८॥

जिस प्रकार उत्तम शिष्य गुरु का उपदेश पाकर मधुर शब्द करता है और अनुमानादि के प्रयोग में किसी प्रकार का वाद-विवाद नहीं करता हुआ अपने उत्तम वंश (कुल) के योग्य कार्य करता है उसी प्रकार वंशी आदि बांसों के बाजे भी मुख का सम्बन्ध पाकर मनोहर शब्द कर रहे थे और नृत्य-संगीत आदि के प्रयोग में किसी प्रकार का विवाद (विरोध) नहीं करते हुए अपने वंश (बाँस) के योग्य कार्य कर रहे थे ॥११९॥

इस प्रकार इन्द्र ने पहले तो शुद्ध (कार्यान्तर से रहित) पूर्वरंग का प्रयोग किया और फिर करण (हाथों का हिलाना) तथा अङ्गहार (शरीर का मटकाना) के द्वारा विविधरूप में उसका प्रयोग किया ॥१२०॥

वह इन्द्र पाँव, कमर, काठ और हाथों को अनेक प्रकार से घुमाकर उत्तम रस दिखलाता हुआ ताण्डव नृत्य कर रहा था ॥१२१॥

जिस समय वह इन्द्र विक्रिया से हजार भुजाएँ बनाकर नृत्य कर रहा था, उस समय पृथ्वी उसके पैरों के रखने से हिलने लगी थी मानो फट

रही हो, कुलपर्वत तृणों की राशि के समान चञ्चल हो उठे थे और समुद्र भी मानो आनन्द से शब्द करता हुआ लहराने लगा था ॥

१२२-१२३ ॥

उस समय इन्द्र की चञ्चल भुजाएं बड़ी ही मनोहर थीं, वह शरीर से स्वयं ऊँचा था और चञ्चल वस्त्र तथा आभूषणों से सहित था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो जिसकी शाखाएँ हिल रही हैं, जो बहुत ऊँचा है और जो हिलते हुए वस्त्र तथा आभूषणों से सुशोभित है ऐसा कल्पवृक्ष ही नृत्य कर रहा हो ॥१२४॥

उस समय इन्द्र के हिलते हुए मुकुट में लगे हुए रत्नों की किरणों के मण्डल से व्याप्त हुआ आकाश ऐसा जान पड़ता था मानो हजारों बिजलियों से ही व्याप्त हो रहा हो ॥१२५॥

नृत्य करते समय इन्द्र की भुजाओं के विक्षेप से बिखरे हुए तारे चारों ओर फिर रहे थे और ऐसे मालूम होते थे मानो फिरकी लगाने से टूटे हुए हार के मोती ही हो ॥१२६॥

नृत्य करते समय इन्द्र की भुजाओं के उल्लास से टकराये हुए तथा पानी की छोटी-छोटी बूंदों को छोड़ते हुए मेघ ऐसे मालूम होते थे मानो शोक से आँसू ही छोड़ रहे हो ॥१२७॥

नृत्य करते-करते जब कभी इन्द्र फिरकी लेता था तब उसके वेग के आवेश से फिरती हुई उसके मुकुट के मणियों की पङ्क्तियाँ अलातचक्र की नाई भ्रमण करने लगती थी ॥१२८॥

इन्द्र के उस नृत्य के होम से पृथ्वी क्षुभित हो उठी थी, पृथ्वी के क्षुभित होने से समुद्र भी क्षुभित हो उठे थे और उछलते हुए जल के कणों से दिशा की भित्तियों का प्रक्षालन करने लगे थे ॥१२९॥

नृत्य करते समय वह इन्द्र क्षण-भर में एक रह जाता था, क्षण-भर में अनेक हो जाता था, क्षण-भर में सब जगह व्याप्त हो जाता था, क्षण-भर में छोटा-सा रह जाता था, क्षण-भर में पास ही दिखाई देता था, क्षण-भर में दूर पहुंच जाता था, क्षण-भर में आकाश में दिखाई देता था, और क्षण-भर में फिर जमीन पर जाता था, इस प्रकार विक्रिया से उत्पन्न हुई अपनी सामर्थ्य को प्रकट करते हुए उस इन्द्र ने उस समय ऐसा नृत्य किया था मानो इन्द्रजाल का खेल ही किया हो ॥१३०-१३१॥

इन्द्र की भुजारूपी शाखाओं पर मन्द-मन्द हंसती हुई अप्सराएँ लीलापूर्वक भौंहरूपी लताओं को चलाती हुई, शरीर हिलाती हुई और सुन्दरता पूर्वक पैर उठाती रखती हुई (थिरक-थिरककर) नृत्य कर रही थीं ॥१३२॥

उस समय कितनी ही देवर्तकियाँ वर्द्धमान लय के साथ, कितनी ही ताण्डव नृत्य के साथ और कितनी ही अनेक प्रकार के अभिनय दिखलाती हुई नृत्य कर रही थीं ॥१३३॥

कितनी देवियाँ बिजली का और कितनी ही इन्द्र का शरीर धारण कर नाट्यशास्त्र के अनुसार प्रवेश तथा निष्क्रमण दिखलाती हुई नृत्य कर रही थीं ॥१३४॥

उस समय इन्द्र की भुजारूपी शाखाओं पर नृत्य करती हुई वे देवियाँ ऐसी शोभायमान हो रही थी मानो कल्पवृक्ष की शाखाओं पर फैली हुई कल्पलताएँ ही हों ॥१३५॥

वह श्रीमान् इन्द्र नृत्य करते समय उन देवियों के साथ जब फिरकी लगाता था तब उसके मुकुट का सेहरा भी हिल जाता था और वह ऐसा शोभायमान होता था मानो कोई चक्र ही घूम रहा हो ॥१३६॥

हजार आँखों को धारण करने वाला वह इन्द्र फूले हुए विकसित कमलों से सुशोभित तालाब के समान जान पड़ता था और मन्द-मन्द हँसते हुए मुखरूपी कमलों से शोभायमान, भुजाओं पर नृत्य करने वाली वे देवियाँ कमलिनियों के समान जान पड़ती थीं ॥१३७॥

मन्द हास्य की किरणों से मिले हुए उन देवियों के मुख ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो अमृत के प्रवाह में डूबे हुए विकसित कमल ही हों ॥ १३८ ॥

कितनी ही देवियाँ कुलाचलों के समान शोभायमान उस इन्द्र की भुजाओं पर आरूढ़ होकर नृत्य कर रही थीं और ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो शरीरधारिणी लक्ष्मी ही हों ॥१३९॥

ऐरावत हाथी के बाँधने के खम्भे के समान लम्बी इन्द्र की भुजाओं पर आरूढ़ होकर कितनी ही देवियाँ नृत्य कर रही थीं और ऐसी मालूम होती थीं मानो कोई अन्य वीर-लक्ष्मी ही हों ॥१४०॥

नृत्य करते समय कितनी ही देवियों का प्रतिबिम्ब उन्हीं के हार के मोतियों पर पड़ता था जिससे वे ऐसी मालूम होती थीं मानो इन्द्र की बहुरूपिणी विद्या ही नृत्य कर रही हो ॥१४१॥

कितनी ही देवियाँ इन्द्र के हाथों की अँगुलियों पर अपने चरण-पल्लव रखती हुई लीलापूर्वक नृत्य कर रही थी और ऐसी मालूम होती थीं मानो सूचीनाट्य (सूई की नोक पर किया जाने वाला नृत्य) ही कर रही हों ॥१४२॥

कितनी ही देवियाँ सुन्दर पर्वोसहित इन्द्र की अँगुलियों के अग्रभाग पर अपनी नाभि रखकर इस प्रकार फिरकी लगा रही थीं मानो किसी बाँस की लकड़ी पर चढ़कर उसके अग्रभाग पर नाभि रखकर मनोहर फिरकी लगा रही हों ॥१४३॥

देवियाँ इन्द्र की प्रत्येक भुजा पर नृत्य करती हुई और अपने नेत्रों के कटाक्षों को फैलाती हुई बड़े यत्न से संचार कर रही थीं ॥१४४॥

उस समय उत्सव को बढ़ाता हुआ वह नाट्यरस उन देवियों के शरीर में खूब ही बढ़ रहा था और ऐसा मालूम होता था मानो उनके कटाक्षों में प्रकट हो रहा हो, कपोलों में स्फुरायमान हो रहा हो, पाँवों में फैल रहा हो, हाथों में विलसित हो रहा हो, मुखों पर हँस रहा हो, नेत्रों में विकसित हो रहा हों, अंगराग में लाल वर्ण हो रहा हो, नाभि में निमग्न हो रहा हो, कटिप्रदेशों पर चल रहा हो और मेखलाओं पर स्खलित हो रहा हो ॥१४५-१४७॥

नृत्य करते हुए इन्द्र के प्रत्येक अंग में जो चेष्टाएँ होती थीं वही चेष्टाएँ अन्य सभी पात्रों में हो रही थीं जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो इन्द्र ने अपनी चेष्टाएँ उन सब के लिए बाँट ही दी हों ॥१४८॥

उस समय इन्द्र के नृत्य में जो रस, भाव, अनुभाव और चेष्टाएँ थीं वे ही रस, भाव, अनुभाव और चेष्टाएँ अन्य सभी पात्रों में थीं जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो इन्द्र ने अपनी आत्मा को ही उनमें प्रविष्ट करा दिया हो ॥१४९॥

अपने भुजदण्डों पर देववर्तकियों को नृत्य कराता हुआ वह इन्द्र ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो किसी यन्त्र की पटियों पर लकड़ी की पुतलियों को नचाता हुआ कोई यान्त्रिक अर्थात् यन्त्र चलाने वाला ही हो ॥१५०॥

वह इन्द्र नृत्य करती हुई उन देवियों को कभी ऊपर आकाश में चलाता था, कभी सामने नृत्य करती हुई दिखला देता था और कभी क्षण-भर में उन्हें अदृश्य कर देता था, इन सब बातों से वह किसी इन्द्रजाल का खेल करने वाले के समान जान पड़ता था ॥१५१॥

नृत्य करने वाली देवियों को अपनी भुजाओं के समूह पर गुप्तरूप से जहाँ-तहाँ घुमाता हुआ वह इन्द्र हाथ की सफाई दिखलाने वाले किसी बाजीगर के समान जान पड़ता था ॥१५२॥

वह इन्द्र अपनी एक ओर की भुजाओं पर तरुण देवों को नृत्य करा रहा था और दूसरी ओर की भुजाओं पर तरुण देवियों को नृत्य करा रहा था तथा अद्भुत विक्रिया शक्ति दिखलाता हुआ अपनी भुजारूपी शाखाओं पर स्वयं भी नृत्य कर रहा था ॥१५३॥

इन्द्र की भुजारूपी रंगभूमि में वे देव और देवांगनाएँ प्रदक्षिणा देती हुई नृत्य कर रही थीं इसलिए वह इन्द्र नाट्यशास्त्र के जानने वाले सूत्रधार के समान मालूम होता था ॥१५४॥

उस समय एक ओर तो दीप्त और उद्भूत रस से भरा हुआ ताण्डव नृत्य हो रहा था और दूसरी ओर सुकुमार प्रयोगों से भरा हुआ लास्य नृत्य हो रहा था ॥१५५॥

इस प्रकार भिन्न-भिन्न रस वाले, उत्कृष्ट और आश्चर्यकारक नृत्य दिखलाते हुए इन्द्र ने सभा के लोगों में अतिशय प्रेम उत्पन्न किया था ॥ १५६॥

इस प्रकार जिसमें श्रेष्ठ गन्धर्वों के द्वारा अनेक प्रकार के बाजों का बजाना प्रारम्भ किया गया था ऐसे आनन्द नामक नृत्य को इन्द्र ने बड़ी सजधज के साथ समाप्त किया ॥१५७॥

उस समय वह नृत्य किसी उद्यान के समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार उद्यान का स और ताल (ताड़) वृक्षों से सहित होता है उसी प्रकार वह नृत्य भी काँसे की बनी हुई झाँझों के ताल से सहित था, उद्यान जिस-प्रकार ऊँचे-ऊँचे बाँसों के फैलते हुए शब्दों से व्याप्त रहता है उसी प्रकार वह नृत्य भी उत्कृष्ट बाँसुरियों के दूर तक फैलने वाले शब्दों से व्याप्त था, उद्यान जिस प्रकार अप्सर अर्थात् जल के सरोवरों से सहित होता है उसी प्रकार वह नृत्य भी अप्सर अर्थात् देववर्तकियों से सहित था और उद्यान जिस प्रकार सरस अर्थात् जल से सहित होता है उसी प्रकार वह नृत्य भी सरस अर्थात् शृङ्गार आदि रसों से सहित था ॥१५८॥

महाराज नाभिराज मरुदेवी के साथ-साथ वह आश्चर्यकारी नृत्य देखकर बहुत ही चकित हुए और इन्द्र के द्वारा की हुई प्रशंसा को प्राप्त

हुए ॥१५९॥

ये भगवान् वृषभदेव जगत्-भर में श्रेष्ठ हैं और जगत् का हित करने वाले धर्मरूपी अमृत की वर्षा करेंगे इसलिए ही इन्द्रों ने उनका वृषभदेव नाम रखा था ॥१६०॥

अथवा वृष श्रेष्ठ धर्म को कहते हैं और तीर्थकर भगवान् उस वृष अर्थात् श्रेष्ठ धर्म से शोभायमान हो रहे हैं इसलिए ही इन्द्र ने उन्हें 'वृषभ-स्वामी' इस नाम से पुकारा था ॥१६१॥

अथवा उनके गर्भावतरण के समय माता मरुदेवी ने एक वृषभ देखा था इसलिए ही देवों ने उनका 'वृषभ' नाम से आह्वान किया था ॥ १६२॥

इन्द्र ने सबसे पहिले भगवान् वृषभनाथ को 'पुरुदेव' इस नाम से पुकारा था इसलिए इन्द्र अपने पुरुहूत (पुरु अर्थात् भगवान् वृषभदेव को आह्वान करने वाला) नाम को सार्थक ही धारण करता था ॥१६३॥

तदनन्तर वे इन्द्र भगवान् की सेवा के लिए समान अवस्था, समान रूप और समान वेष वाले देवकुमारों को निश्चित कर अपने-अपने स्वर्ग को चले गये ॥१६४॥

इन्द्र ने आदरसहित भगवान् को स्नान कराने, वस्त्राभूषण पहनाने, दूध पिलाने, शरीर के संस्कार (तेल, कज्जल आदि लगाना) करने और क्रीड़ा कराने के कार्य में अनेक देवियों को धाय बनाकर नियुक्त किया था ॥१६५॥

तदनन्तर आश्चर्यकारक चेष्टाओं को धारण करने वाले भगवान् वृषभदेव अपनी पहली अवस्था (शैशव अवस्था) में कभी मन्द-मन्द हंसते थे और कभी मणिमयी भूमि पर अच्छी तरह चलते थे, इस प्रकार वे माता-पिता का हर्ष बढ़ा रहे थे ॥१६६॥

भगवान् की वह बाल्य अवस्था ठीक चन्द्रमा की बाल्य अवस्था के समान थी, क्योंकि जिस प्रकार चन्द्रमा की बाल्य अवस्था जगत् को आनन्द देने वाली होती है उसी प्रकार भगवान् की बाल्य अवस्था भी जगत् को आनन्द देने वाली थी, चन्द्रमा की बाल्य अवस्था जिस प्रकार नेत्रों को उत्कृष्ट आनन्द देने वाली होती है उसी प्रकार उनकी बाल्यावस्था नेत्रों को उत्कृष्ट आनन्द देने वाली थी और चन्द्रमा की बाल्यावस्था जिस प्रकार कला मात्र से उज्ज्वल होती है उसी प्रकार उनकी बाल्यावस्था भी अनेक कलाओं-विद्याओं से उज्ज्वल थी ॥ १६७॥

भगवान् के मुखरूपी चन्द्रमा पर मन्द हास्यरूपी निर्मल चाँदनी प्रकट रहती थी और उससे माता-पिता का सन्तोषरूपी समुद्र अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त होता रहता था ॥१६८॥

उस समय भगवान् के मुख पर जो मनोहर मन्द हास्य प्रकट हुआ था वह ऐसा जान पड़ता था मानो सरस्वती का गीतबन्ध अर्थात् संगीत का प्रथम राग ही हो, अथवा लक्ष्मी के हास्य की शोभा ही हो अथवा कीर्तिरूपी लता का विकास ही हो ॥१६९॥

भगवान् के शोभायमान मुखकमल में क्रम-क्रम से अस्पष्ट वाणी प्रकट हुई जो कि ऐसी मालूम होती थी मानो भगवान् की बाल्य अवस्था का अनुकरण करने के लिए सरस्वती देवी ही स्वयं आयी हों ॥१७०॥

इन्द्रनील मणियों की भूमि पर धीरे-धीरे गिरते-पड़ते पैरों से चलते हुए बालक भगवान् ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो पृथ्वी को लाल कमलों का उपहार ही दे रहे हों ॥१७१॥

सुन्दर आकार को धारण करने वाले वे भगवान् माता-पिता के मन में सन्तोष को बढ़ाते हुए देवबालकों के साथ-साथ रत्नों की धूलि में क्रीड़ा करते थे ॥१७२॥

वे बाल भगवान् चन्द्रमा के समान शोभायमान होते थे, क्योंकि जिस प्रकार चन्द्रमा अपने आह्लादकारी गुणों से प्रजा को आनन्द पहुंचाता है उसी प्रकार वे भी अपने आह्लादकारी गुणों से प्रजा को आनन्द पहुँचा रहे थे और चन्द्रमा का शरीर जिस प्रकार चाँदनी से व्याप्त रहता है उसी प्रकार उनका शरीर भी कीर्तिरूपी चाँदनी से व्याप्त था ॥१७३॥

जब भगवान् की बाल्यावस्था व्यतीत हुई तब इन्द्रों के द्वारा पूज्य और महाप्रतापी भगवान् का कौमार अवस्था का शरीर बहुत ही सुन्दर हो गया ॥१७४॥

जिस प्रकार चन्द्रमण्डल की वृद्धि के साथ-साथ ही उसके कान्ति, दीप्ति आदि अनेक गुण प्रतिदिन बढ़ते जाते हैं उसी प्रकार भगवान् के शरीर की वृद्धि के साथ-साथ ही अनेक गुण प्रतिदिन बढ़ते जाते थे ॥१७५॥

उस समय उनका मनोहर शरीर, प्यारी बोली, मनोहर अवलोकन और मुसकाते हुए बातचीत करना यह सब संसार की प्रीति को विस्तृत कर रहे थे ॥१७६॥

जिस प्रकार जगत् के मन को हर्षित करने वाले चन्द्रमा की वृद्धि होने पर उसकी समस्त कलाएँ बढ़ने लगती हैं उसी प्रकार समस्त जीवों के हृदय को आनन्द देने वाले जगत् पति भगवान् के शरीर की वृद्धि होने पर उनकी समस्त कलाएँ बढ़ने लगी थी ॥१७७॥

मति, श्रुत और अवधि ये तीनों ही ज्ञान भगवान के साथ-साथ ही उत्पन्न हुए थे इसलिए उन्होंने समस्त विद्याओं और लोक की स्थिति को अच्छी तरह जान लिया था ॥१७८॥

वे भगवान् समस्त विद्याओं के ईश्वर थे इसलिए उन्हें समस्त विद्याएं अपने-आप ही प्राप्त हो गयी थीं सो ठीक ही है क्योंकि जन्मान्तर का अभ्यास स्मरण-शक्ति को अत्यन्त पुष्ट रखता है ॥१७९॥

वे भगवान् शिक्षा के बिना ही समस्त कलाओं में प्रशंसनीय कुशलता को, समस्त विद्याओं में प्रशंसनीय चतुराई को और समस्त क्रियाओं में प्रशंसनीय कर्मठता (कार्य करने की सामर्थ्य) को प्राप्त हो गये थे ॥१८०॥

वे भगवान् सरस्वती के एकमात्र स्वामी थे इसलिए उन्हें समस्त वाङ्मय (शास्त्र) प्रत्यक्ष हो गये थे और इसलिए वे समस्त लोक के गुरु हो गये थे ॥१८१॥

वे भगवान् पुराण थे अर्थात् प्राचीन इतिहास के जानकार थे, कवि थे, उत्तम वक्ता थे, गमक (टीका आदि के द्वारा पदार्थ को स्पष्ट करने वाले) थे और सबको प्रिय थे क्योंकि कोष्ठबुद्धि आदि अनेक विद्या उन्हें स्वभाव से ही प्राप्त हो गयी थीं ॥१८२॥

उनके क्षायिक सम्यग्दर्शन ने उनके चित्त के समस्त मल को दूर कर दिया था और स्वभाव से ही विस्तार को प्राप्त हुई सरस्वती ने उनके वचन सम्बन्धी समस्त दोषों का अपहरण कर लिया था ॥१८३॥

उन भगवान् के स्वभाव से ही शास्त्रज्ञान था, उस शास्त्रज्ञान से उनके परिणाम बहुत ही शान्त रहते थे । परिणामों के शान्त रहने से उनकी चेष्टाएँ जगत् का हित करने वाली होती थीं और जगत्-हितकारी चेष्टाओं से वे प्रजा का पालन करते थे ॥१८४॥

ज्यों-ज्यों शरीर के साथ-साथ उनके गुण बढ़ते जाते थे त्यों-त्यों समस्त जनसमूह और उनके परिवार के लोग हर्ष को प्राप्त होते जाते थे ॥१८५॥

इस प्रकार वे भगवान् माता-पिता के परम आनन्द को, बन्धुओं के सुख को और जगत् के समस्त जीवों की परम प्रीति को बढ़ाते हुए वृद्धि को प्राप्त हो रहे थे ॥१८६॥

चरम शरीर को धारण करने वाले भगवान की सम्पूर्ण आयु चौरासी लाख पूर्व की थी ॥१८७॥

वे भगवान् दीर्घदर्शी थे, दीर्घ आयु के धारक थे, दीर्घ भुजाओं से युक्त थे, दीर्घ नेत्र धारण करने वाले थे और दीर्घ सूत्र अर्थात् दृढ़ विचार के साथ कार्य करने वाले थे इसलिए तीनों ही लोको की सूत्रधारता-गुरुत्व को प्राप्त हुए थे ॥१८८॥

भगवान् वृषभदेव कभी तो, जिनका पूर्वभव में अच्छी तरह अभ्यास किया है ऐसे लिपि विद्या, गणित विद्या तथा संगीत आदि कलाशास्त्रों का स्वयं अभ्यास करते थे और कभी दूसरों को कराते थे ॥१८९॥

कभी छन्दशास्त्र, कभी अलंकार शास्त्र, कभी प्रस्तार नष्ट उद्दिष्ट संख्या आदि का विवेचन और कभी चित्र खींचना आदि कला शास्त्रों का मनन करते थे ॥१९०॥

कभी वैयाकरणों के साथ व्याकरण सम्बन्धी चर्चा करते थे, कभी कवियों के साथ काव्य विषय की चर्चा करते थे और कभी अधिक बोलने वाले वादियों के साथ वाद करते थे ॥१९१॥

कभी गीतगोष्ठी, कभी नृत्यगोष्ठी, कभी वादित्रगोष्ठी और कभी वीणागोष्ठी के द्वारा समय व्यतीत करते थे ॥१९२॥

कभी मयूरों का रूप धरकर नृत्य करते हुए देवकिंकरों को लय के अनुसार हाथ की ताल देकर नृत्य कराते थे ॥१९३॥

कभी विक्रिया शक्ति से तोते का रूप धारण करने वाले देवकुमारों को स्पष्ट और मधुर अक्षरों से श्लोक पढ़ाते थे ॥१९४॥

कभी हंस की विक्रिया कर धीरे-धीरे गद्गद बोली से शब्द करते हुए हंसरूपधारी देवों को अपने हाथ से मृणाल के टुकड़े देकर सम्मानित करते थे ॥१९५॥

कभी विक्रिया से हाथियों के बच्चों का रूप धारण करने वाले देवों को सान्त्वना देकर या कुंद में प्रहार कर उनके साथ आनन्द से क्रीड़ा

करते थे ॥१९६॥

कभी मुर्गों का रूप धारणकर रत्नमयी जमीन में पड़ते हुए अपने प्रतिबिम्बों के साथ ही युद्ध करने की इच्छा करने वाले देवों को देखते थे या उन पर हाथ फेरते थे ॥१९७॥

कभी विक्रिया शक्ति से मल्ल का रूप धारण कर बैर के बिना ही मात्र क्रीड़ा करने के लिए युद्ध करने की इच्छा करने वाले गम्भीर गर्जना करते हुए और इधर-उधर नृत्य-सा करते हुए देवों को प्रोत्साहित करते थे ॥१९८॥

कभी क्रौञ्च और सारस पक्षियों का रूप धारण कर उच्च स्वर से क्रेँकार शब्द करते हुए देवों के निरन्तर होने वाले कर्णप्रिय शब्द सुनते थे ॥१९९॥

कभी माला पहने हुए, शरीर में चन्दन लगाये हुए और इकट्ठे होकर आये हुए देव बालकों को दण्ड क्रीड़ा (पड़गर का खेल) में लगाकर नचाते थे ॥२००॥

कभी स्तुति पढ़ने वाले देवों के द्वारा निरन्तर गाये गये और कुन्द, चन्द्रमा तथा गङ्गा नदी के जल के छींटों के समान निर्मल अपने यश को सुनते थे ॥२०१॥

कभी घर के आंगन में आलस्यरहित देवियों के द्वारा बनायी हुई रत्नचूर्ण की चित्रावलि को आनन्द के साथ देखते थे ॥२०२॥

कभी अपने दर्शन करने के लिए आयी हुई प्रजा का, मधुर और स्नेहयुक्त अवलोकन के द्वारा तथा मन्द हास्य और आदरसहित संभाषण के द्वारा सत्कार करते थे ॥२०३॥

कभी बावड़ियों के जल में देवकुमारों के साथ-साथ आनन्दसहित जलक्रीड़ा का विनोद करते हुए क्रीड़ा करते थे ॥२०४॥

कभी हंसों के शब्दों से शब्दायमान सरयू नदी का जल प्राप्त कर उसमें पानी के आस्फालन से शब्द करने वाले लकड़ी के बने हुए यन्त्रों से जलक्रीड़ा करते थे ॥२०५॥

जलक्रीड़ा के समय मेघकुमार जाति के देव भक्ति से धारागृह (फव्वारा) का रूप धारण कर चारों ओर से जल की धारा छोड़ते हुए भगवान की सेवा करते थे ॥२०६॥

कभी नन्दनवन के साथ स्पर्धा करने वाले वृक्षों की शोभा से सुशोभित नन्दन वन में मित्ररूप हुए देवों के साथ-साथ वनक्रीड़ा करते थे ॥२०७॥

वनक्रीड़ा के विनोद के समय पवनकुमार जाति के देव पृथ्वी को धूलिरहित करते थे और उद्यान के वृक्षों को धीरे-धीरे हिलाते थे ॥२०८॥

इस प्रकार देवकुमारों के साथ अपने-अपने समय के योग्य क्रीड़ा और विनोद करते हुए भगवान वृषभदेव सुखपूर्वक रहते थे ॥२०९॥

इस प्रकार जो तीन लोक के अधिपति-इन्द्रादि देवों के द्वारा पूज्य हैं, आश्रय लेने योग्य हैं, सम्पूर्ण गुणरूपी मणियों की खान हैं और पवित्र शरीर के धारक हैं ऐसे भगवान् वृषभदेव महाराज नाभिराज के पवित्र घर में दिव्य भोगते हुए देवकुमारों के साथ-साथ चिरकाल तक क्रीड़ा करते रहे ॥२१०॥

वे भगवान् पुण्यकर्म के उदय से प्रतिदिन इन्द्र के द्वारा भेजे हुए सुगन्धित पुष्पों की माला, अनेक प्रकार के वस्त्र तथा आभूषण आदि श्रेष्ठ भोगों का अपना अभिप्राय जानने वाले सुन्दर देवकुमारों के साथ प्रसन्न होकर अनुभव करते थे ॥२११॥

जिनके चरण-कमल मनुष्य, सुर और असुरों के द्वारा पूजित हैं, जो बाल्य अवस्था में भी वृद्ध के समान कार्य करने वाले हैं, जो लीला, आहार, विलास और वेष से चतुर, उत्कृष्ट तथा ऊँचा शरीर धारण करते हैं; जो जगत् के जीवों के मन को प्रसन्न करने वाले अपने वचनरूपी किरणों के द्वारा उत्तम आनन्द को विस्तृत करते हैं, निर्मल हैं, और कीर्तिरूपी फैलती हुई चाँदनी से शोभायमान हैं ऐसे भगवान् वृषभदेव बालचन्द्रमा के समान धीरे-धीरे वृद्धि को प्राप्त हो रहे थे ॥२१२॥

ताराओं की पंक्ति के समान चंचल लक्ष्मी के झूले की लता के समान, समुचित, विस्तृत और वक्षःस्थल पर पड़े हुए बड़े भारी हार को धारण किये हुए तथा करधनी से सुशोभित चाँदनी तुल्य वस्त्रों को पहने हुए वे जिनेन्द्ररूपी चन्द्रमा नक्षत्रों के समान देवकुमारों के साथ क्रीड़ा करते हुए अतिशय सुशोभित होते थे ॥२१३॥

इस प्रकार आर्ष नाम से प्रसिद्ध, भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रह में भगवज्जातकर्मोत्सव वर्णन नाम का चौदहवां पर्व समाप्त हुआ ॥१४॥

पर्व-15 -- भगवान का कुमारकाल, यशस्वती-सुनन्दा का विवाह, भरत की उत्पत्ति

पर्व-15 -- भगवान का कुमारकाल, यशस्वती-सुनन्दा का विवाह, भरत की उत्पत्ति

कथा :

अनन्तर पूर्ण यौवन अवस्था होने पर भगवान् का शरीर बहुत ही मनोहर हो गया था सो ठीक है क्योंकि चन्द्रमा स्वभाव से ही सुन्दर होता है यदि शरद्ऋतु का आगमन हो जाये तो फिर कहना ही क्या है ॥१॥

उनका रूप बहुत ही सुन्दर और असाधारण हो गया था, वह तपाये हुए सुवर्ण के समान कान्ति वाला था, पसीना से रहित था, धूलि और मल से रहित था, दूध के समान सफेद रुधिर, समचतुरस्र नामक सुन्दर संस्थान और वज्रवृषभनाराचसंहनन से सहित था, सुन्दरता और सुगन्धि की परम सीमा धारण कर रहा था, एक हजार आठ लक्षणों से अलंकृत था, अप्रमेय था, महाशक्तिशाली था, और प्रिय तथा हितकारी वचन धारण करता था ॥२-४॥

काले-काले केशों से युक्त तथा मुकुट से अलंकृत उनका शिर ऐसा सुशोभित होता था मानों नीलमणियों से मनोहर मेरु पर्वत का शिखर ही हो ॥५॥

उनके मस्तक पर पड़ी हुई कल्पवृक्ष के पुष्पों की माला ऐसी अच्छी मालूम होती थी मानो हिमगिरि के शिखर को घेरकर ऊपर से पड़ी हुई आकाशगंगा ही हो ॥६॥

उनके चौड़े ललालपट्ट पर की भारी शोभा ऐसी मालूम होती थी मानो सरस्वती देवी के सुन्दर उपवन अथवा क्रीड़ा करने के स्थल की शोभा ही बढ़ा रही हो ॥७॥

ललाटरूपी पर्वत के तट पर आश्रय लेने वाली भगवान् की दोनों भौंहरूपी लताएँ ऐसी शोभायमान हो रही थीं मानो कामदेवरूपी मृग को रोकने के लिए दो पाश ही बनाये हों ॥८॥

काली पुतलियों से सुशोभित भगवान् के नेत्ररूपी कमलों की कान्ति, जिन पर भ्रमर बैठे हुए हैं ऐसे कमलों की पाँखुरी के समान थी ॥९॥ मणियों के बने हुए कुण्डलरूपी आभूषणों से उनके दोनों कान ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो चन्द्रमा और सूर्य से अलंकृत आकाश के दो किनारे ही हों ॥१०॥

भगवान् के मुखरूपी चन्द्रमा में जो कान्ति थी वह तीन लोक में किसी भी दूसरी जगह नहीं थी सो ठीक ही है अमृत में जो सन्तोष होता है वह क्या किसी दूसरी जगह दिखाई देता है ? ॥११॥

उनका मुख मन्दहास से मनोहर था, और लाल-लाल अधर से सहित था इसलिए फेनसहित पाँखुरी से युक्त कमल की शोभा धारण कर रहा था ॥१२॥

भगवान् की लम्बी और ऊँची नाक सरस्वती देवी के अवतरण के लिए बनायी गयी प्रणाली के समान शोभायमान हो रही थी ॥१३॥

उनका कंठ मनोहर रेखाएँ धारण कर रहा था । वह उनसे ऐसा मालूम होता था मानो विधाता ने मुखरूपी घर के लिए उकेर कर एक सुवर्ण का स्तम्भ ही बनाया हो ॥१४॥

वे भगवान् अपने वक्षःस्थल पर महानायक अर्थात् बीच में लगे हुए श्रेष्ठ मणि से युक्त जिस हारयष्टि को धारण कर रहे थे वह महानायक अर्थात् श्रेष्ठ सेनापति से युक्त, गुणरूपी क्षत्रियों की सुसंगठित सेना के समान शोभायमान हो रही थी ॥१५॥

जिस प्रकार सुमेरु पर्वत अपने शिखर पर पड़ते हुए झरने धारण करता है उसी प्रकार भगवान् वृषभदेव अपने वक्षःस्थल पर अतिशय देदीप्यमान इन्द्रच्छद नामक हार को धारण कर रहे थे ॥१६॥

उस मनोहर हार से भगवान् का वक्षःस्थल गंगा नदी के प्रवाह से युक्त हिमालय पर्वत के तट के समान शोभा को प्राप्त हो रहा था ॥१७॥

भगवान् का वक्षःस्थल सरोवर के समान सुन्दर था । वह हार की किरणरूपी जल से भरा हुआ था और उस पर दिव्य लक्ष्मीरूपी कलहंसी चिरकाल तक क्रीड़ा करती थी ॥१८॥

भगवान् का वक्षःस्थल लक्ष्मी के रहने का घर था, उसके दोनों ओर ऊँचे उठे हुए उनके दोनों कन्धे ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो जयलक्ष्मी के रहने की दो ऊँची अटारी ही हों ॥१९॥

बाजूबन्द के संघट्टन से जिनके कन्धे स्निग्ध हो रहे हैं और जो शोभारूपी लता से सहित हैं ऐसी जिन भुजाओं को भगवान् धारण कर रहे

थे वे अभीष्टफल देने वाले कल्पवृक्षों के समान सुशोभित हो रही थीं । ॥२०॥

सुख देने वाले प्रकाश से युक्त तथा सीधी अँगुलियों के आश्रित भगवान् के हाथों के नखों को मैं समझता हूँ कि वे उनके महाबल आदि दस अवतारों में भोगी हुई लक्ष्मी के विलास-दर्पण ही थे ॥२१॥

महाराज नाभिराज के पुत्र भगवान् वृषभदेव अपने शरीर के मध्यभाग में जिस नाभि को धारण किये हुए थे वह लक्ष्मीरूपी हंसी से सेवित तथा आवर्त से सहित सरस के समान सुशोभित हो रही थी ॥२२॥

करधनी और वस्त्र से सहित भगवान् का जघनभाग ऐसी शोभा धारण कर रहा था मानो बिजली और शरद्भटु के बादलों से सहित किसी पर्वत का नितम्ब मध्यभाग ही हो ॥२३॥

धीर-वीर भगवान् सुवर्ण के समान देदीप्यमान जिन दो ऊरुओं (घुटनों से ऊपर का भाग) को धारण कर रहे थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो लक्ष्मी देवी के झूला के दो ऊँचे स्तम्भ ही हों ॥२४॥

कामदेवरूपी हाथी के उल्लंघन न करने योग्य अर्गलों के समान शोभायमान भगवान् की दोनों जंघाएँ इस प्रकार उत्कृष्ट कान्ति को प्राप्त हो रही थीं मानो लक्ष्मीदेवी ने स्वयं उबटन कर उन्हें उज्ज्वल किया हो ॥२५॥

भगवान् के दोनों ही चरणकमल तीनों लोकों की लक्ष्मी के आलिंगन से उत्पन्न हुए सौभाग्य के गर्व से बहुत ही शोभायमान हो रहे थे, संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं जिसके कि साथ उनकी उपमा दी जा सके ॥२६॥

इस प्रकार पैरों के नख के अग्रभाग से लेकर शिर के बालों के अग्रभाग तक भगवान् के शरीर की कान्ति प्रकट हो रही थी और ऐसी मालूम होती थी मानो उसे किसी दूसरी जगह अपनी इच्छानुसार स्थान प्राप्त नहीं हुआ था इसलिए वह अनन्य गति होकर भगवान् के शरीर में आ प्रकट हुई हो ॥२७॥

भगवान् का शरीर स्वभाव से ही सुन्दर था, वज्रमय हड्डियों के बन्धन से सहित था, विष शस्त्र आदि से अभेद्य था और इसीलिए वह मेरु पर्वत की कान्ति को प्राप्त हो रहा था ॥२८॥

जिस संहनन में वज्रमयी हड्डियाँ वज्रों से वेष्टित होती हैं और वज्रमयी कीलों से कीलित होती हैं, भगवान् वृषभदेव का वही वज्रवृषभनाराचसंहनन था ॥२९॥

वात, पित्त और कफ इन तीन दोषों से उत्पन्न हुई व्याधियाँ भगवान् के शरीर में स्थान नहीं कर सकी थीं सो ठीक ही है वृक्ष अथवा अन्य पर्वतों को हिलाने वाली वायु मेरु पर्वत पर अपना असर नहीं दिखा सकती ॥३०॥

उनके शरीर में न कभी बुढ़ापा आता था, न कभी उन्हें खेद होता था और न कभी उनका उपघात (असमय में मृत्यु) ही हो सकता था । वे केवल सुख के अधीन होकर पृथ्वीरूपी शय्या पर पूजित होते थे ॥३१॥

जो महाभ्युदयरूप मोक्ष का मूल कारण था ऐसा भगवान् का परमौदारिक शरीर अत्यन्त शोभायमान हो रहा था ॥३२॥

भगवान् के शरीर का आकार, लम्बाई-चौड़ाई और ऊँचाई आदि सब ओर हीनाधिकता से रहित था, उनका समचतुरस्रसंस्थान था ॥३३॥

भगवान् वृषभदेव की जैसी रूप-सम्पत्ति प्रसिद्ध थी वैसी ही उनकी भोगोपभोग की सामग्री भी प्रसिद्ध थी, सो ठीक ही है क्योंकि कल्पवृक्षों की उत्पत्ति आभरणों से देदीप्यमान हुए बिना नहीं रहती ॥३४॥

जिस प्रकार सुमेरु पर्वत के मणिमय तट को पाकर ज्योतिषी देवों के मण्डल अतिशय शोभायमान होने लगते हैं उसी प्रकार भगवान् के निर्मल शरीर को पाकर सामुद्रिक शास्त्र में कहे हुए लक्षण अतिशय शोभायमान होने लगे थे ॥३५॥

अथवा अनेक आभूषणों से उज्ज्वल भगवान् कल्पवृक्ष की शोभा धारण कर रहे थे और अनेक शुभ लक्षण उस पर लगे हुए फूलों के समान सुशोभित हो रहे थे ॥३६॥

श्रीवृक्ष, शङ्ख, कमल, स्वस्तिक, अंकुश, तोरण, चमर, सफेद छत्र, सिंहासन, पताका, दो मीन, दो कुम्भ, कच्छप, चक्र, समुद्र, सरोवर, विमान, भवन, हाथी, मनुष्य, स्त्रियाँ, सिंह, बाण, धनुष, मेरु, इन्द्र, देवगंगा, पुर, गोपुर, चन्द्रमा, सूर्य, उत्तम घोड़ा, तालवृन्त-पंखा, बाँसुरी, वीणा, मृदंग, मालाएँ, रेशमी वस्तु, दूकान, कुण्डल को आदि लेकर चमकते हुए चित्र-विचित्र आभूषण, फलसहित उपवन, पके हुए वृक्षों से सुशोभित खेत, रत्नद्वीप, वज्र, पृथ्वी, लक्ष्मी, सरस्वती, कामधेनु, वृषभ, चूड़ामणि, महानिधियाँ, कल्पलता, सुवर्ण, जम्बूद्वीप, गरुड़, नक्षत्र, तारे, राजमहल, सूर्यादिक ग्रह, सिद्धार्थ वृक्ष, आठ प्रातिहार्य, और आठ मंगलद्रव्य, इन्हें आदि लेकर एक सौ आठ लक्षण और

मसूरिका आदि नौ सौ व्यञ्जन भगवान् के शरीर में विद्यमान थे ॥३७-४४॥

इन मनोहर और श्रेष्ठ लक्षणों से व्याप्त हुआ भगवान का शरीर ज्योतिषी देवों से भरे हुए आकाशरूपी आँगन की तरह शोभायमान हो रहा था ॥४५॥

चूँकि उन लक्षणों को भगवान् का निर्मल शरीर स्पर्श करने के लिए प्राप्त हुआ था इसलिए जान पड़ता है कि उन लक्षणों के अन्तर्लक्षण कुछ शुभ अवश्य थे ॥४६॥

रागद्वेषरहित जगद्गुरु भगवान् वृषभदेव के अतिशय कठिन मनरूपी घर में लक्ष्मी जिस प्रकार-बड़ी कठिनाई से अवकाश पा सकी थी । भावार्थ-भगवान् स्वभाव से ही वीतराग थे, राज्यलक्ष्मी को प्राप्त करना अच्छा नहीं समझते थे ॥४७॥

भगवान् को दो स्त्रियाँ ही अत्यन्त प्रिय थीं-एक तो सरस्वती और दूसरी कल्पान्तकाल तक स्थिर रहने वाली कीर्ति । लक्ष्मी विद्युत्लता के समान चंचल होती है इसलिए भगवान् उस पर बहुत थोड़ा प्रेम रखते थे ॥४८॥

भगवान के रूप-लावण्य, यौवन आदि गुणरूपी पुष्पों से आकृष्ट हुए मनुष्यों के नेत्ररूपी भौरे दूसरी जगह कहीं भी रमण नहीं करते थे-आनन्द नहीं पाते थे ॥४९॥

किसी एक दिन महाराज नाभिराज भगवान् की यौवन अवस्था का प्रारम्भ देखकर अपने मन में उनके विवाह करने की चिन्ता इस प्रकार करने लगे ॥५०॥

कि यह देव अतिशय सुन्दर शरीर के धारक हैं, इनके चित्त को हरण करने वाली कौन-सी सुन्दर स्त्री हो सकती है ? कदाचित् इनका चित्त हरण करने वाली सुन्दर स्त्री मिल भी सकती है, परन्तु इनका विषयराग अत्यन्त मन्द है इसलिए इनके विवाह का प्रारम्भ करना ही कठिन कार्य है ॥५१॥

और दूसरी बात यह है कि इनका धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करने में भारी उद्योग है इसलिए ये नियम से सब परिग्रह छोड़कर मत्त हस्ती की नाई वन में प्रवेश करेंगे अर्थात् वन में जाकर दीक्षा धारण करेंगे ॥५२॥

तथापि तपस्या करने के लिए जब तक इनकी काललब्धि आती है तब तक इनके लिए लोकव्यवहार के अनुरोध से योग्य स्त्री का विचार करना चाहिए ॥५३॥

इसलिए जिस प्रकार हंसी निष्पंक अर्थात् कीचड़रहित मानस (मानसरोवर) में निवास करती है उसी प्रकार कोई योग्य और कुलीन स्त्री इनके निष्पंक अर्थात् निर्मल मानस मन में निवास करे ॥५४॥

यह निश्चय कर लक्ष्मीमान् महाराज नाभिराज बड़े ही आदर और हर्ष के साथ भगवान् के पास जाकर वक्ताओं में श्रेष्ठ भगवान् से शान्तिपूर्वक इस प्रकार कहने लगे कि ॥५५॥

हे देव, मैं आप से कुछ कहना चाहता हूँ इसलिए आप सावधान होकर सुनिए । आप जगत् के अधिपति हैं इसलिए आपको जगत् का उपकार करना चाहिए ॥५६॥

हे देव, आप जगत् की सृष्टि करने वाले ब्रह्मा हैं तथा स्वयंभू हैं अर्थात् अपने आप ही उत्पन्न हुए हैं । क्योंकि आपकी उत्पत्ति में अपने-आपको पिता मानने वाले हम लोग छल मात्र हैं ॥५७॥

जिस प्रकार सूर्य के उदय होने में उदयाचल निमित्त मात्र है क्योंकि सूर्य स्वयं ही उदित होता है उसी प्रकार आपकी उत्पत्ति होने में हम निमित्त मात्र हैं क्योंकि आप स्वयं ही उत्पन्न हुए हैं ॥५८॥

आप माता के पवित्र गर्भगृह में कमलरूपी दिव्य आसन पर अपनी उत्कृष्ट शक्ति स्थापन कर उत्पन्न हुए हैं इसलिए आप वास्तव में शरीररहित हैं ॥५९॥

हे देव, यद्यपि मैं आपका यथार्थ में पिता नहीं हूँ, निमित्त मात्र से ही पिता कहलाता हूँ तथापि मैं आप से एक अभ्यर्थना करता हूँ आप इस समय संसार की सृष्टि की ओर भी अपनी बुद्धि लगाइए ॥६०॥

आप आदिपुरुष हैं इसलिए आपको देखकर अन्य लोग भी ऐसी ही प्रवृत्ति करेंगे क्योंकि जिनके उत्तम सन्तान होने वाली है ऐसी यह प्रजा महापुरुषों के ही मार्ग का अनुगमन करती है ॥६१॥

इसलिए है ज्ञानियों में श्रेष्ठ, आप इस संसार में किसी इष्ट कन्या के साथ विवाह करने के लिए मन कीजिए क्योंकि ऐसा करने से प्रजा की

सन्तति का उच्छेद नहीं होगा ॥६२॥

प्रजा की सन्तति का उच्छेद नहीं होने पर धर्म की सन्तति बढ़ती रहेगी इसलिए हे देव, मनुष्यों के इस अविनाशीक विवाहरूपी धर्म को अवश्य ही स्वीकार कीजिए ॥६३॥

दे देव, आप इस विवाह कार्य को गृहस्थों का एक धर्म समझिए क्योंकि गृहस्थों को सन्तान की रक्षा में प्रयत्न अवश्य ही करना चाहिए ॥ ६४॥

यदि आप मुझे किसी भी तरह गुरु मानते हैं तो आपको मेरे वचनों का किसी भी कारण से उल्लंघन नहीं करना चाहिए क्योंकि गुरुओं के वचनों का उल्लंघन करना इष्ट नहीं है ॥६५॥

इस प्रकार वचन कहकर धीर-वीर महाराज नाभिराज चुप हो रहे और भगवान् ने हँसते हुए ओम कहकर उनके वचन स्वीकार कर लिये **अर्थात्** विवाह कराना स्वीकृत कर लिया ॥६६॥

इन्द्रियों को वश में करने वाले भगवान् ने जो विवाह कराने की स्वीकृति दी थी वह क्या उनके पिता की चतुराई थी, अथवा प्रजा का उपकार करने की इच्छा थी अथवा वैसा कोई कर्मों का नियोग ही था ॥६७॥

तदनन्तर भगवान् की अनुमति जानकर नाभिराज ने निःशंक होकर बड़े हर्ष के साथ विवाह का बड़ा भारी उत्सव किया ॥६८॥

महाराज नाभिराज ने इन्द्र की अनुमति से सुशील, सुन्दर लक्षणों वाली, सती और मनोहर आकार वाली ही कन्या की याचना की ॥६९॥

वे दोनों कन्याएँ कच्छ महाकच्छ की बहनें थीं, बड़ी ही शान्त और यौवनवती थीं; यशस्वी और सुनन्दा उनका नाम था । उन्हीं दोनों कन्याओं के साथ नाभिराज ने भगवान् का विवाह कर दिया ॥७०॥

श्रेष्ठ गुणों को धारण करने वाले भगवान् वृषभदेव विवाह कर रहे हैं इस हर्ष से देवों ने प्रसन्न होकर अनेक उत्तम-उत्तम उत्सव किये थे ॥ ७१॥

महाराज नाभिराज अपने परिवार के लोगों के साथ, दोनों पुत्रवधुओं को देखकर भारी सन्तुष्ट हुए सो ठीक ही है क्योंकि संसारी जनों को विवाह आदि लौकिक धर्म ही प्रिय होता है ॥७२॥

भगवान् वृषभदेव के विवाहोत्सव में मरुदेवी बहुत ही सन्तुष्ट हुई थी सो ठीक ही है, पुत्र के विवाहोत्सव में स्त्रियों को अधिक प्रेम होता ही है ॥७३॥

जिस प्रकार चन्द्रमा की कला से लहरों की माला से भरी हुई समुद्र की बेला बढ़ने लगती है उसी प्रकार भाग्योदय से प्राप्त होने वाली पुत्र की विवाहोत्सवरूप सम्पदा से मरुदेवी बढ़ने लगी थीं ॥७४॥

भगवान् के विवाहोत्सव में सभी लोग आनन्द को प्राप्त हुए थे सो ठीक ही है । मनुष्य स्वयं ही भोगों की तृष्णा रखते हैं इसलिए वे स्वामी को भोग स्वीकार करते देखकर उन्हीं का अनुसरण करने लगते हैं ॥७५॥

भगवान् का वह विवाहोत्सव केवल मनुष्यलोक की प्रीति के लिए ही नहीं हुआ था, किन्तु उसने स्वर्गलोक में भी भारी प्रीति को विस्तृत किया था ॥७६॥

भगवान् वृषभदेव की दोनों महादेवियाँ उत्कृष्ट ऊरुओं, सुन्दर जंघाओं और कोमल चरण-कमलों से सहित थीं । यद्यपि उनका सुन्दर कटिभाग अधर **अर्थात्** नीचा था (पक्ष में नाभि से नीचे रहने वाला था) तथापि उससे संयुक्त शरीर के द्वारा उन्होंने समस्त संसार को जीत लिया था ॥७७॥

वे दोनों ही देवियाँ अत्यन्त सुन्दर थीं, उनका उदर कृश था और उस कृश उदर पर वे जिस पतली रोम-राजि को धारण कर रही थी वह ऐसी जान पड़ती थी मानो कामदेवरूपी मदोन्मत्त हाथी के मद की अग्रधारा ही हो ॥७८॥

वे देवियाँ जिस नाभि को धारण कर रही थी वह ऐसी जान पड़ती थी मानो कामरूपी रस की कूपिका ही हो अथवा रोमराजिरूपी लता के मूल में चारों ओर से बँधी हुई पाल ही हो ॥७९॥

जिस प्रकार कमलिनी कमलपुष्प की बोड़ियों को धारण करती है उसी प्रकार वे देवियाँ स्तनरूपी कमल की बोड़ियों को धारण कर रही थीं, कमलिनियों के कमल जिस प्रकार एक नाल से सहित होते हैं उसी प्रकार उनके स्तनरूपी कमल भी रोमराजिरूपी एक नाल से सहित थे और कमलों पर जिस प्रकार भौरे बैठते हैं उसी प्रकार उनके स्तनरूपी कमलों पर भी चूचुरूपी भौरे बैठे हुए थे । इस प्रकार वे

दोनों ही देवियाँ ठीक कमलिनियों के समान सुशोभित हो रही थीं ॥८०॥

उनके गले में जो मुक्ताहार अर्थात् मोतियों के हार पड़े हुए थे, मालूम होता है कि उन्होंने अवश्य ही अपने नाम के अनुसार (मुक्त+आहार) आहार-त्याग अर्थात् उपवासरूप तप तपा था और इसीलिए उन मुक्ताहारों ने अपने उक्त तप के फलस्वरूप उन देवियों के कण्ठ और कुच के स्पर्श से उत्पन्न हुए सुखरूपी अमृत को प्राप्त किया था ॥८१॥

गले में पड़े हुए एकावली अर्थात् एकल के हार से वे दोनों ऐसी शोभायमान हो रही थीं मानो किसी सखी के सम्बन्ध से ही शोभायमान हो रही हों; क्योंकि जिस प्रकार सखी स्तनों के समीपवर्ती भाग का स्पर्श करती है उसी प्रकार वह एकावली भी उनके स्तनों के समीपवर्ती भाग का स्पर्श कर रही थी, सखी जिस प्रकार कण्ठ से संसर्ग रखती है अर्थात् कण्ठालिंगन करती है उसी प्रकार वह एकावली भी उनके कण्ठ से संसर्ग रखती थी अर्थात् कण्ठ में पड़ी हुई थी, सखी जिस प्रकार स्वच्छ अर्थात् कपटरहित-निर्मल हृदय होती है उसी प्रकार वह एकावली भी स्वच्छ-निर्मल थी और सखी जिस प्रकार स्निग्धमुक्ता होती है अर्थात् स्नेही पति के द्वारा छोड़ी-भेजी जाती हैं, उसी प्रकार वह एकावली भी स्निग्धमुक्ता थी अर्थात् चिकने मोतियों से सहित थी ॥८२॥

वे देवियाँ अपने स्तनों के बीच में लटकते हुए जिस नक्षत्रमाला अर्थात् सत्ताईस मोतियों के हार को धारण किये हुई थीं वह अपनी किरणों से ऐसा मालूम होता था मानो स्तनों का स्पर्श कर आनन्द से हँस ही रहा हो ॥८३॥

वे देवियाँ नखों की किरणोरूपी पुष्पों के विकास से हास्य की शोभा को धारण करने वाली कोमल, सुन्दर और सुसंगठित भुजलताओं को धारण कर रही थीं ॥८४॥

उन दोनों के मुखरूपी चन्द्रमा भारी कान्ति को धारण कर रहे थे, वे अपने सुन्दर मन्द हास्य की किरणों के द्वारा चाँदनी की शोभा बढ़ा रहे थे, और देखने में संसार को बहुत ही सुन्दर जान पड़ते थे ॥८५॥

उत्तम बरौनी और चिकनी अथवा स्नेहयुक्त तारों से सहित उनके नेत्र ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो जिनके केश पर भ्रमर आ लगे हैं ऐसे फूले हुए कमल ही हों ॥८६॥

सुन्दर भौहों वाली उन देवियों की दोनों भौहें नामकर्म के द्वारा इतनी सुन्दर बनी थीं कि कामदेव की धनुषलता भी उनकी बराबरी नहीं कर सकती थीं ॥८७॥

उन महादेवियों के कान नीलकमलरूपी कर्ण-भूषणों से ऐसी शोभा धारण कर रहें थे मानो नेत्ररूपी कमलों की अतिशय लम्बाई को परस्पर में नापना ही चाहते थे ॥८८॥

वे देवियाँ अपने ललाट-तट पर लटकते हुए जिन अलकों को धारण कर रही थीं वे सुवर्णपट्टक के किनारे पर जड़े हुए इन्द्रनील मणियों के समान अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे ॥८९॥

जिन पर की पुष्प मालाएँ ढीली होकर नीचे की ओर लटक रही थीं ऐसे उन देवियों के केशपाशों के विषय में लोग ऐसी उत्प्रेक्षा करते थे कि मानो कोई काले साँप सफेद साँप को निगलकर फिर से उगल रहे हों ॥९०॥

इस प्रकार स्वभाव से मधुर और आभूषणों से उज्ज्वल आकृति को धारण करने वाली वे देवियाँ कान्तिमती कल्पलताओं की शोभा धारण कर रही थीं ॥९१॥

इन दोनों के उस सुन्दर रूप को देखकर लोगों की यही बुद्धि होती थी कि वास्तव में इन्होंने अपने आपको स्त्री मानने वाली देवाङ्गनाओं को जीत लिया है ॥९२॥

वरों में उत्तम भगवान् वृषभदेव उन देवियों से ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो कीर्ति और लक्ष्मी से ही शोभायमान हो रहे हों और वे दोनों भगवान् से इस प्रकार मिली थीं जिस प्रकार की महा-नदियाँ समुद्र से मिलती हैं ॥९३॥

वे देवियाँ बड़ी ही रूपवती थीं, कान्तिमती थी, सुन्दर थीं और समस्त जगत् को जीतने की इच्छा करने वाले कामदेव की पताका के समान थीं और इसीलिए ही उन्होंने भगवान् वृषभदेव का मन हरण कर लिया था ॥९४॥

जिस प्रकार बीच में लगा हुआ कान्तिमान् पद्मरागमणि हारयष्टियों के मध्यभाग को अनुरंजित अर्थात् लाल वर्ण कर देता है उसी प्रकार उत्कृष्ट कान्ति या इच्छा से युक्त भगवान् वृषभदेव ने भी उन देवियों के मन को अनुरंजित-प्रसन्न कर दिया था ॥९५॥

यद्यपि कामदेव भगवान् वृषभदेव के सामने अनेक बार अपमानित हो चुका था तथापि वह गुप्त रूप से अपना संचार करता ही रहता था ।

विद्वानों को इसका कारण स्वयं विचार लेना चाहिए ॥१६॥

मालूम होता है कि कामदेव स्पष्टरूप से भगवान् को बाधा देने के लिए समर्थ नहीं था इसलिए वह उस समय शरीररहित अवस्था को प्राप्त हो गया था सो ठीक ही है क्योंकि विजय की इच्छा करने वाले पुरुष अनेक उपायों से सहित होते हैं-कोई-न-कोई उपाय अवश्य करते हैं ॥ १७॥

अथवा कामदेव शरीररहित होने के कारण इन देवियों के शरीर में प्रविष्ट हो गया था और वहाँ किले के समान स्थित होकर अपने बाणों के द्वारा भगवान् को घायल करता था ॥१८॥

इस प्रकार उन देवियों के साथ भोगों को भोगते हुए जगद्गुरु भगवान् वृषभदेव का बड़ा भारी समय निरन्तर होने वाले उत्सवों से क्षण-भर के समान बीत गया था ॥१९॥

अथानन्तर किसी समय यशस्वती महादेवी राजमहल में सो रही थी । सोते समय उसने स्वप्न में ग्रसी हुई पृथ्वी, सुमेरु पर्वत, चन्द्रमासहित सूर्य, हंससहित सरोवर तथा चञ्चल लहरों वाला समुद्र देखा, स्वप्न देखने के बाद मंगल-पाठ पढ़ते हुए बन्दीजनों के शब्द सुनकर वह जाग पड़ी ॥१००-१०१॥

उस समय बन्दीजन इस प्रकार मंगल-पाठ पढ़ रहे थे कि हे दूसरों का कल्याण करने वाली और स्वयं सैकड़ों कल्याणों को प्राप्त होने वाली देवि, अब तू जाग; क्योंकि तू कमलिनी के समान शोभा धारण करने वाली है-इसलिए यह तेरा जागने का समय है । भावार्थ-जिस प्रकार यह समय कमलिनी के जागृत-विकसित होने का है उसी प्रकार तुम्हारे जागृत होने का भी है ॥१०२॥

हे मात, पृथ्वी, मेरु, समुद्र, सूर्य, चन्द्रमा और सरोवर आदि जो अनेक मंगल करने वाले शुभ स्वप्न देखे हैं वे तुम्हारे उरानन्द के लिए हों ॥ १०३॥

हे देवि, यह चन्द्रमारूपी हंस चिरकाल तक आकाशरूपी सरोवर में अन्धकाररूपी शैवाल को खोजकर अब खेदखिन्न होने से ही मानो अस्ताचलरूपी वृक्ष का आश्रय ले रहा है अर्थात् अस्त हो रहा है ॥१०४॥

ये तारारूपी हंसियां आकाशरूपी सरोवर में चिरकाल तक तैरकर अब मानो निवास करने के लिए ही अस्ताचल के शिखरों का आश्रय ले रही हैं-अस्त हो रही हैं ॥१०५॥

हे देवि, यह चन्द्रमा कान्तिरहित हो गया है, ऐसा मालूम होता है कि रात्रि के समय चकवियों ने निद्रा के कारण लाल वर्ण हुए नेत्रों से इसे ईर्ष्या के साथ देखा है इसलिए मानो उनकी दृष्टि के दोष से ही दूषित होकर यह कान्तिरहित हो गया है ॥१०६॥

हे देवि, अब यह रात्रि भी अपने नक्षत्ररूपी वन को चाँदनीरूपी वस्त्र में लपेटकर भागी जा रही है, ऐसा मालूम होता है मानो वह आगे गये हुए (बीते हुए) प्रहरों के पीछे ही जाना चाहती हो ॥१०७॥

इस ओर यह चन्द्रमा अस्त हो रहा है और इस ओर सूर्य का उदय हो रहा है, ऐसा जान पड़ता है मानो ये संसार की विचित्रता का उपदेश देने के लिए ही उद्यत हुए हों ॥१०८॥

हे देवि, आकाशरूपी समुद्र में मोतियों के समान शोभायमान रहनेवाले ये तारे सूर्यरूपी बड़वानल के द्वारा कान्तिरहित होकर विलीन होते जा रहे हैं ॥१०९॥

रात-भर विरह से व्याकुल हुआ यह चकवा नदी के बालू के टीले पर स्थित होकर रोता-रोता ही अपनी प्यारी सी चकवी को ढूँढ रहा है ॥ ११०॥

हे सति, इधर यह जवान हंस चोंच में दबाये हुए मृणाल-खण्ड से शरीर को खुजलाता हुआ हंसी के साथ शयन करना चाहता है ॥१११॥

हे देवि, इधर यह कमलिनी अपने विकसित कमलरूपी मुख को धारण कर रही है और इधर यह कुमुदिनी मुरझाकर नम्रमुख हो रही है अर्थात् मुरझाये हुए कुमुद को नीचा कर रही हैं ॥११२॥

इधर तालाब के किनारों पर ये कुरुर पक्षियों की स्त्रियाँ तुम्हारे नूपुर के समान उच्च और मधुर शब्द कर रही हैं ॥११३॥

इस समय ये पक्षी कोलाहल करते हुए अपने-अपने घोंसलों से उड़ रहे हैं और ऐसे जान पड़ते हैं मानो प्रातःकाल का मंगल-पाठ ही पढ़ रहे हों ॥११४॥

इधर प्रातःकाल का समय पाकर ये दीपक कंचुकियों (राजाओं के अन्तःपुर में रहने वाले वृद्ध या नपुंसक पहरेदारों) के साथ-साथ ही

मन्दता को प्राप्त हो रहे हैं क्योंकि जिस प्रकार कंचुकी स्त्रियों के संस्कार से रहित होते हैं उसी प्रकार दीपक भी प्रातःकाल होने पर स्त्रियों के द्वारा की हुई सजावट से रहित हो रहे हैं और कंचुकी जिस प्रकार परिक्षीण दशा अर्थात् वृद्ध अवस्था को प्राप्त होते हैं उसी प्रकार दीपक भी परिक्षीण दशा अर्थात् क्षीण बत्ती वाले हो रहे हैं ॥११५॥

हे देवि, इधर तुम्हारे घर में तुम्हारा मंगल करने की इच्छा से यह कुब्जक तथा वामन आदि का परिवार तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है ॥११६॥ इसलिए जिस प्रकार मानसरोवर पर रहने वाली, राजहंस पक्षी की प्रिय वल्लभा-हंसी नदी का किनारा छोड़ देती है उसी प्रकार भगवान् वृषभदेव के मन में रहने वाली और उनकी प्रिय वल्लभा तू भी शय्या छोड़ ॥११७॥

इस प्रकार जब बन्दीजनों के समूह जोर-जोर मंगल-पाठ पढ़ रहे थे तब वह यशस्वती महादेवी जगाने वाले दुन्दुभियों के शब्दों से धीरे-धीरे निद्रारहित हुई-जाग उठी ॥११८॥

और शय्या छोड़कर प्रातःकाल का मंगलस्नान कर प्रीति से रोमांचित शरीर हो अपने देखे हुए स्वप्नों का यथार्थ फल पूछने के लिए संसार के प्राणियों के हृदयवर्ती अन्धकार को दूर करने वाले अतिशय प्रकाशमान और सबके स्वामी भगवान् वृषभदेव के समीप उस प्रकार पहुंची जिस प्रकार कमलिनी संसार के मध्यवर्ती अन्धकार को नष्ट करने वाले और अतिशय प्रकाशमान सूर्य के सम्मुख पहुंचती है ॥ ११९-१२०॥

भगवान् के समीप जाकर वह महादेवी अपने योग्य सिंहासन पर सुखपूर्वक बैठ गयी । उस समय महादेवी साक्षात् लक्ष्मी के समान सुशोभित हो रही थी ॥१२१॥

तदनन्तर उसने रात्रि के समय देखे हुए समस्त स्वप्न भगवान् से निवेदन किये और अवधि-ज्ञानरूपी दिव्य नेत्र धारण करने वाले भगवान् ने भी नीचे लिखे अनुसार उन स्वप्नों का फल कहा कि ॥१२२॥

हे देवि, स्वप्नों में जो तूने सुमेरु पर्वत देखा है उससे मालूम होता है कि तेरे चक्रवर्ती पुत्र होगा । सूर्य उसके प्रताप को और चन्द्रमा उसकी कान्तिरूपी सम्पदा को सूचित कर रहा है ॥१२३॥

हे कमलनयने, सरोवर के देखने से तेरा पुत्र अनेक पवित्र लक्षणों से चिह्नित शरीर होकर अपने विस्तृत वक्षःस्थल पर कमलवासिनी-लक्ष्मी को धारण करने वाला होगा ॥१२४॥

हे देवि, पृथ्वी का ग्रसा जाना देखने से मालूम होता है कि तुम्हारा वह पुत्र चक्रवर्ती होकर समुद्ररूपी वस्त्र को धारण करने वाली समस्त पृथ्वी का पालन करेगा ॥१२५॥

और समुद्र देखने से प्रकट होता है कि वह चरमशरीरी होकर संसाररूपी समुद्र को पार करने वाला होगा । इसके सिवाय इक्ष्वाकु-वंश को आनन्द देने वाला वह पुत्र तेरे सौ पुत्रों में सबसे ज्येष्ठ पुत्र होगा ॥१२६॥

इस प्रकार पति के वचन सुनकर उस समय वह देवी हर्ष के उदय से ऐसी वृद्धि को प्राप्त हुई थी जैसी कि चन्द्रमा का उदय होनेपर समुद्र की बेला वृद्धि को प्राप्त होती है ॥१२७॥

तदनन्तर राजा अतिगृद्ध का जीव जो पहले व्याघ्र था, फिर देव हुआ, फिर सुबाहु हुआ और फिर सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुआ था, वहाँ से च्युत होकर यशस्वती महादेवी के गर्भ में आकर निवास करने लगा ॥१२८॥

वह देवी भगवान् वृषभदेव के दिव्य प्रभाव से उत्पन्न हुए गर्भ को धारण कर रही थी । यही कारण था कि वह अपने ऊपर आकाश में चलते हुए सूर्य को भी सहन नहीं करती थी ॥१२९॥

वीर पुत्र को पैदा करने वाली वह देवी अपने मुख की कान्ति तलवाररूपी दर्पण में देखती थी और अतिशय मान करने वाली वह उस तलवार में पड़ती हुई अपनी प्रतिकूल छाया को भी नहीं सहन कर सकती थी ॥१३०॥

जिस प्रकार वर्षा का समय आने पर मयूर जल से भरी हुई मेघमाला को बड़ी ही उत्सुक दृष्टि से देखते हैं उसी प्रकार भगवान् वृषभदेव भी उस गर्भिणी यशस्वती देवी को बड़ी ही उत्सुक दृष्टि से देखते थे ॥१३१॥

वह यशस्वती देवी, जिसके गर्भ में रत्न भरे हुए हैं ऐसी भूमि के समान, जिसके मध्य में फल लगे हुए हैं ऐसी बेल के समान, अथवा जिसके मध्य में सूर्यरूपी तेज छिपा हुआ है ऐसी पूर्व दिशा के समान अत्यन्त शोभा को प्राप्त हो रही थी ॥१३२॥

वह रत्नखचित पृथ्वी पर हंसी की तरह नुपूरों के उदार शब्दों से मनोहर शब्द करती हुई मन्द-मन्द गमन करती थी ॥१३३॥

मणियों से जड़ी हुई जमीन पर स्थिरतापूर्वक पैर रखकर मन्दगति से चलती हुई वह यशस्वती ऐसी जान पड़ती थी मानो पृथ्वी हमारे ही भोग के लिए है ऐसा मानकर उस पर मुहर ही लगाती जाती थी ॥१३४॥

उसके उदर पर गर्भावस्था से पहले की तरह ही गर्भावस्था में भी वलीभंग अर्थात् नाभि से नीचे पड़ने वाली रेखाओं का भंग नहीं दिखाई देता था और उससे मानो यही सूचित होता था कि उसका पुत्र अभंग नाशरहित दिग्विजय प्राप्त करेगा (यद्यपि स्त्रियों के गर्भावस्था में उदर की वृद्धि होने से वलीभंग हो जाता है परन्तु विशिष्ट स्त्री होने के कारण यशस्वती के वह चिह्न प्रकट नहीं हुआ था) ॥१३५॥

गर्भधारण करने पर उसके स्तनों का अग्रभाग काला हो गया था और उससे यही सूचित होता था कि उसके गर्भ में स्थित रहने वाला बालक अन्य-शत्रुओं की उन्नति को अवश्य ही जला देगा-नष्ट कर देगा ॥१३६॥

परम उत्कृष्ट दोहला उत्पन्न होना, आहार में रुचि का मन्द पड़ जाना, आलस्यसहित गमन करना, शरीर को शिथिल कर जमीन पर सोना, मुख का गालों तक कुछ-कुछ सफेद हो जाना, आलस-भरे नेत्रों से देखना, अधरों का कुछ सफेद और लाल होना और मुख से मिट्टी-जैसी सुगन्ध आना । इस प्रकार यशस्वती के गर्भ के सब चिह्न भगवान् वृषभदेव के मन को अत्यन्त प्रसन्न करते थे और शत्रुओं की शक्तियों को शीघ्र ही विजय करता हुआ वह गर्भ धीरे-धीरे बढ़ता जाता था ॥१३७-१३९॥

जिसका मण्डल देदीप्यमान तेज से परिपूर्ण है और जिसका उदय बहुत ही बड़ा है ऐसे सूर्य को जिस प्रकार पूर्व दिशा उत्पन्न करती है उसी प्रकार नौ महीने व्यतीत होने पर उस यशस्वती महादेवी ने देदीप्यमान तेज से परिपूर्ण और महापुण्यशाली पुत्र को उत्पन्न किया ॥१४०॥

भगवान् वृषभदेव के जन्म समय में जो शुभ दिन, शुभ लग्न, शुभ योग, शुभ चन्द्रमा और शुभ नक्षत्र आदि पड़े थे वे ही शुभ दिन आदि उस समय भी पड़े थे, अर्थात् उस समय, चैत्र कृष्ण नवमी का दिन, मीन लग्न, ब्रह्मयोग, धन राशि का चन्द्रमा और उत्तराषाढा नक्षत्र था । उसी दिन यशस्वती महादेवी ने सम्राट के शुभ लक्षणों से शोभायमान ज्येष्ठ पुत्र उत्पन्न किया था ॥१४१॥

वह पुत्र अपनी दोनों भुजाओं से पृथ्वी का आलिङ्गन कर उत्पन्न हुआ था इसलिए निमित्त ज्ञानियों ने कहा था कि वह समस्त पृथ्वी का अधिपति-अर्थात् चक्रवर्ती होगा ॥१४२॥

वह पुत्र चन्द्रमा के समान सौम्य था इसलिए माता-यशस्वती उस पुत्ररूपी चन्द्रमा से रात्रि के समान सुशोभित हुई थी, इसके सिवाय वह पुत्र प्रातःकाल के सूर्य के समान तेजस्वी था इसलिए पिता-भगवान् वृषभ उस बालकरूपी सूर्य से दिन के समान देदीप्यमान हुए थे ॥१४३॥

जिस प्रकार चन्द्रमा का उदय होने पर अपनी वेलासहित समुद्र हर्ष को प्राप्त होता है उसी प्रकार पुत्र का जन्म होने पर उसके दादा और दादी अर्थात् महारानी मरुदेवी और महाराज नाभिराज दोनों ही परम हर्ष को प्राप्त हुए थे ॥१४४॥

उस समय अधिक हर्षित हुई पतिपुत्रवती स्त्रियाँ 'तू इसी प्रकार सैकड़ों पुत्र उत्पन्न कर' इस प्रकार के पवित्र आशीर्वादों से उस यशस्वती देवी को बढ़ा रही थीं ॥१४५॥

उस समय राजमन्दिर में करोड़ों दण्डों से ताड़ित हुए आनन्द के बड़े-बड़े नगाड़े गरजते हुए मेघों के समान गम्भीर शब्द कर रहे थे ॥१४६॥ तुरही, दुन्दुभि, झल्लरी, शहनाई, सितार, शंख, काहल और ताल आदि अनेक बाजे उस समय मानो हर्ष से ही शब्द कर रहे थे-बज रहे थे ॥१४७॥

उस समय सुगन्धित, विकसित, भ्रमण करते हुए भौरों से सेवित और देवों के हाथ से छोड़ा हुआ फूलों का समूह आकाश से पड़ रहा था-बरस रहा था ॥१४८॥

कल्पवृक्ष के पुष्पों के भारी पराग से भरा हुआ, धूलि को दूर करने वाला और जल के छींटों से शीतल हुआ सुकोमल वायु मन्द-मन्द बह रहा था ॥१४९॥

उस समय आकाश में जय-जय इस प्रकार की देवों की वाणी बढ़ रही थी और देवियों के 'चिरंजीव रहो' इस प्रकार के शब्द समस्त दिशाओं में अतिशय रूप से विस्तार को प्राप्त हो रहे थे ॥१५०॥

जिन्होंने अपने सौन्दर्य से अप्सराओं को जीत लिया है और जिन्होंने अपनी नृत्यकला से देवों की नर्तकियों को अनायास ही पराजित कर दिया है ऐसी नृत्य करने वाली स्त्रियाँ बढ़ते हुए ताल के साथ नृत्य तथा संगीत प्रारम्भ कर रही थी ॥१५१॥

उस समय चन्दन के जल से सींची गयी नगर की गलियाँ ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो अपनी सजावट के द्वारा स्वर्ग की शोभा की हंसी

ही कर रही हो ॥१५२॥

उस समय आकाश में इन्द्रधनुष और बिजलीरूपी लता की सुन्दरता को धारण करते हुए रत्ननिर्मित तोरणों की सुन्दर रचनाएँ घर-घर शोभायमान हो रही थीं ॥१५३॥

जहाँ रत्नों के चूर्ण से अनेक प्रकार के वेलबूटों की रचना की गयी है ऐसी भूमि पर बड़े-बड़े उदर वाले अनेक सुवर्णकलश रखे हुए थे । उन कलशों के मुख सुवर्ण कमलों से ढके हुए थे इसलिए वे बहुत ही शोभायमान हो रहे थे ॥१५४॥

जिस प्रकार समुद्र की वृद्धि होने से उसके किनारे की नदी भी वृद्धि को प्राप्त हो जाती है उसी प्रकार राजा के घर उत्सव होने से वह समस्त अयोध्यानगरी उत्सव से सहित हो रही थी ॥१५५॥

उस समय भगवान् वृषभदेवरूपी हाथी समुद्र के जल के समान भारी दान की धारा (सुवर्ण आदि वस्तुओं के दान की परम्परा, पक्ष में- मदजल की धारा) बरसा रहे थे इसलिए वहाँ कोई भी दरिद्र नहीं रहा था ॥१५६॥

इस प्रकार अन्तःपुरसहित समस्त नगर में परम आनन्द को उत्पन्न करता हुआ वह बालकरूपी चन्द्रमा भगवान् वृषभदेवरूपी उदयाचल से उदय हुआ था ॥१५७॥

उस समय प्रेम से भरे हुए बन्धुओं के समूह ने बड़े भारी हर्ष से, समस्त भरतक्षेत्र के अधिपति होने वाले उस पुत्र को भरत इस नाम से पुकारा था ॥१५८॥

इतिहास के जानने वालों का कहना है कि जहाँ अनेक आर्य पुरुष रहते हैं ऐसा यह हिमवत् पर्वत से लेकर समुद्र पर्यन्त का चक्रवर्तियों का क्षेत्र उसी 'भरत' पुत्र के नाम के कारण भारतवर्ष रूप से प्रसिद्ध हुआ है ॥१५९॥

वह बालकरूपी चन्द्रमा भाई-बन्धुरूपी कुमुदों के समूह में आनन्द को बढ़ाता हुआ और शत्रुओं के कुलरूपी अन्धकार को नष्ट करता हुआ बढ़ रहा था ॥१६०॥

माता यशस्वती के स्तन का पान करता हुआ वह भरत जब कभी दूध के कुरले को बार-बार उगलता था तब वह ऐसा देदीप्यमान होता था मानो अपना यश ही दिशाओं में बाँट रहा हो ॥१६१॥

वह बालक मन्द मुसकान, मनोहर हास, मणिमयी भूमि पर चलना और अव्यक्त मधुर भाषण आदि लीलाओं से माता-पिता के परम हर्ष को उत्पन्न करता था ॥१६२॥

जैसे-जैसे वह बालक बढ़ता जाता था वैसे-वैसे ही उसके साथ-साथ उत्पन्न हुए-स्वाभाविक गुण भी बढ़ते जाते थे, ऐसा मालूम होता था मानो वे गुण उसकी सुन्दरता पर मोहित होने के कारण ही उसके साथ-साथ बढ़ रहे थे ॥१६३॥

विधि को जानने वाले भगवान् वृषभदेव ने अनुक्रम से, अपने उस पुत्र के अन्नप्राशन (पहली वार अन्न खिलाना), चौल (मुण्डन) और उपनयन (यज्ञोपवीत) आदि संस्कार स्वयं किये थे ॥१६४॥

तदनन्तर उस भरत ने क्रम-क्रम से होने वाली बालक और कुमार अवस्था के बीच के अनेक भेद व्यतीत कर नेत्रों को आनन्द देने वाली युवावस्था प्राप्त की ॥१६५॥

इस भरत का अपने पिता भगवान् वृषभदेव के समान ही गमन था, उन्हीं के समान तीनों लोको का उल्लंघन करने वाला देदीप्यमान शरीर था और उन्हीं के समान मन्द हास्य था ॥१६६॥

इस भरत की वाणी, कला, विद्या, द्युति, शील और विज्ञान आदि सब कुछ वही थे जो कि उसके पिता भगवान् वृषभदेव के थे ॥१६७॥

इस प्रकार पिता के साथ तन्मयता को प्राप्त हुए भरत-पुत्र को देखकर उस समय प्रजा कहा करती थी कि पिता का आत्मा ही पुत्र नाम से कहा जाता है (आत्मा वै पुत्रनामासीद्) यह बात बिल्कुल सच है ॥१६८॥

स्वयं पिता के द्वारा जिसके रूपादि गुणों की प्रशंसा की गयी है, जो साक्षात् कामदेव के समान है ऐसा वह भरत अपने मनोहर गुणों के द्वारा सज्जन पुरुषों को बहुत ही मान्य हुआ था ॥१६९॥

वह भरत पन्द्रहवें मनु भगवान् वृषभनाथ के मन को भी अपने प्रेम के अधीन कर लेता था इसलिए लोग कहा करते थे कि यह सोलहवाँ मनु ही उत्पन्न हुआ है और वह कामदेव के समान सुन्दर आकार वाला था इसलिए समस्त प्रजा के मन में निवास किया करता था ॥१७०॥ उसका शरीर कभी नष्ट नहीं होने वाली विजयलक्ष्मी से सदा देदीप्यमान रहता था इसलिए ऐसा सुशोभित होता था मानो किसी एक जगह

इकट्ठा किया हुआ क्षत्रियों का तेज ही हो ॥१७१॥

'यह कोई अलौकिक पुरुष है' ('मनुष्य रूपधारी देव है') इस बात को प्रकट करता हुआ भरत का बलिष्ठ शरीर ऐसा शोभायमान होता था मानो वह तेजरूप परमाणुओं से ही बना हुआ हो ॥१७२॥

अत्यन्त ऊँचे मुकुट में लगे हुए रत्नों की किरणों से शोभायमान उसका मस्तक चूलिका सहित मेरुपर्वत के शिखर के समान अतिशय शोभायमान होता था ॥१७३॥

क्रम-क्रम से ऊँचा होता हुआ उसका गोल शिर ऐसा अच्छा शोभायमान होता था मानो विधाता ने (वक्षःस्थल पर रहने वाली) लक्ष्मी के लिए छत्र ही बनाया हो ॥१७४॥

कुछ-कुछ टेढ़े, स्निग्ध, काले और एक साथ उत्पन्न हुए केशों से शोभायमान उसका मस्तक ऐसा जान पड़ता था मानो उस पर इन्द्रनीलमणि की बनी हुई टोपी ही रखी हो ॥१७५॥

भरत अपने मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को बहुत ही सरल रखता था इसलिए जान पड़ता था कि उनकी कुटिलता उसके भ्रमर के समान काले केशों के अन्त भाग में ही जाकर रहने लगी ॥१७६॥

दांतों की किरणोंरूपी केशर से सहित और सुगन्धित श्वासोच्छ्वास के पवन-द्वारा भ्रमरों का आह्वान करने वाला उसका प्रफुलित मुखकमल बहुत ही शोभायमान होता था ॥१७७॥

अथवा उसका मुख पूर्ण चन्द्रमण्डल की शोभा धारण कर रहा था क्योंकि जिस प्रकार पूर्ण चन्द्रमण्डल के देखने से सुख होता है उसी प्रकार उसका मुख देखने से भी सबको सुख होता था जिस प्रकार पूर्ण चन्द्रमण्डल अखण्ड गोलाई से सहित होता है उसी प्रकार उसका मुख भी अखण्ड गोलाई से सहित था और जिस प्रकार पूर्ण चन्द्रमण्डल अखण्ड कान्ति से युक्त होता है उसी प्रकार उसका मुख भी अखण्ड कान्ति से युक्त था ॥१७८॥

चारों ओर दाँतों की किरणोंरूपी चाँदनी को फैलाता हुआ उसका मुखरूपी चन्द्रमा कर्णभूषण की देदीप्यमान किरणों के गोल परिमण्डल से बहुत ही शोभायमान होता था ॥१७९॥

सूर्य में दीप्ति, चन्द्रमा में कान्ति और कमल में विकास इस प्रकार ये सब गुण अलग-अलग रहते हैं परन्तु भरत के मुख पर वे सब गुण सहयोगिता को प्राप्त हुए थे अर्थात् साथ-साथ विद्यमान रहते थे ॥१८०॥

चन्द्रमा क्षय से सहित है और कमल प्रत्येक रात्रि में संकोच को प्राप्त होता रहता है परन्तु उसका मुख सदा विकसित रहता था और कभी संकोच को प्राप्त नहीं होता था-पूर्ण रहता था इसलिए उसकी उपमा किसके साथ दी जाये उसका मुख सर्वथा अनुपम था ॥१८१॥ ऐसा मालूम होता है कि उसका मुखकमल सदा विकसित रहने वाली लक्ष्मी से मानो हार ही गया था अतएव वह वन अथवा जल में निवास करने के लिए प्रस्थान कर रहा था ॥१८२॥

पट्टबन्ध के उचित और अतिशय कान्तियुक्त उसके ललाट के बनने में अवश्य ही सूरज की किरणें सहायक सिद्ध हुई थीं ॥१८३॥

शोभायमान कान्ति से युक्त उसके दोनों कपोल देखकर चन्द्रमा अवश्य ही पराजित हो गया था और इसलिए ही मानो विरक्त होकर वह सकलंक अवस्था को प्राप्त हुआ था ॥१८४॥

उसकी दोनों भौहरूपी सुन्दर लताएं ऐसी अच्छी शोभा धारण कर रही थीं मानो जगत् को जीतने के समय कामदेव के द्वारा फहरायी हुई पताकाएं ही हो ॥१८५॥

उसके नेत्ररूपी नीलकमलों का विकास मुखरूपी आंगन में पड़े हुए फूलों के उपहार के समान शोभायमान हो रहा था तथा समस्त दिशाओं को चित्र-विचित्र कर रहा था और इसीलिए वह आनन्द को विस्तृत कर अतिशय प्रसिद्ध हो रहा था ॥१८६॥

उसके चञ्चल कटाक्षों की आभा ने श्रवणक्रिया से युक्त (पक्ष में उत्तम-उत्तम शास्त्रों के ज्ञान से युक्त) उसके दोनों कानों का उल्लंघन कर दिया था सो ठीक ही है चञ्चल अथवा सत्पुष्प हृदय वाले प्रायः किसका उल्लंघन नहीं करते? अर्थात् सभी का उल्लंघन करते हैं ॥१८७॥

कामदेव के बाणों के समान उसके अर्धनेत्रों (कटाक्षों) के अवलोकन से हृदय में घायल हुई स्त्रियाँ शीघ्र ही अतिशय रक्त हो जाती थीं ।

भावार्थ-जिस प्रकार बाण से घायल हुई स्त्रियाँ अतिशय रक्त अर्थात् अत्यन्त खून से लाल-लाल हो जाती हैं उसी प्रकार उसके आधे खुले हुए नेत्रों के अवलोकन से घायल हुई स्त्रियाँ अतिशय रक्त अर्थात् अत्यन्त आसक्त हो जाती थीं ॥१८८॥

वह गालों के समीप भाग तक लटकने वाले रत्नमयी कुण्डलों के जोड़े से ऐसा शोभायमान होता था मानो शास्त्र और अर्थ की तुलना का प्रमाण ही करना चाहता हो ॥१८९॥

कुछ नीचे की ओर झुकी हुई और तोते की चोंच के समान लालवर्ण उसकी सुन्दर नाक ऐसी शोभायमान हो रही थी मानो कामदेवरूपी अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए फूंकने की नाली ही हो ॥१९०॥

जिस प्रकार जल के कणों से व्याप्त हुआ मूंगा का अंकुर शोभायमान होता है उसी प्रकार मन्द हास्य की किरणों से व्याप्त हुआ उसका अधरोष्ठ ऐसा शोभायमान होता था मानो अमृत से ही सींचा गया हो ॥१९१॥

राजकुमार भरत के हाररूपी लता से सुन्दर कण्ठ में कोई अनोखी ही शोभा थी । वह नवीन फूले हुए पुष्पों के समूह से सुशोभित शंख के कण्ठ को उपमा देने योग्य हो रही थी ॥१९२॥

कण्ठाभरण में लगे हुए रत्नों की किरणों से भरा हुआ उसका वक्षस्थल हाररूपी वेल से घिरे हुए रत्नद्वीप की शोभा धारण कर रहा था ॥ १९३॥

वह अपनी भुजारूप खंभों के पर्यन्त भाग में लटकती हुई जिस हाररूपी लता को धारण कर रहा था वह ऐसी मालूम होती थी मानो लक्ष्मीदेवी के झूला की लता (रस्सी) ही हो ॥१९४॥

उसकी दोनों भुजाओं के कन्धों पर बाजूबन्द के संघट्टन से भट्टे पड़ी हुई थीं और इसलिए ही विजयलक्ष्मी ने प्रेमपूर्वक उसकी भुजाओं की अधीनता स्वीकृत की थी ॥१९५॥

उसके बाहुदण्ड पृथिवी को नापने के दण्ड के समान बहुत ही लम्बे थे और उन्हें कुलाचल समझकर उन पर रहने वाली लक्ष्मी परम धैर्य को विस्तृत करती थी ॥१९६॥

जिस प्रकार अनेक नक्षत्रों से आकाश शोभायमान होता है उसी प्रकार शंख, चक्र, गदा, कूर्म और मीन आदि शुभ लक्षणों से उसका हस्त-तल शोभायमान था ॥१९७॥

कन्धे पर लटकते हुए यज्ञोपवीत से वह भरत ऐसा सुशोभित हो रहा था जैसा कि ऊपर बहती हुई गंगा नदी के प्रवाह से हिमालय सुशोभित रहता है ॥१९८॥

उसके शरीर का ऊपरी भाग कड़े, अनन्त, बाजूबन्द और हार आदि अपने-अपने आभूषणों से ऐसा देदीप्यमान हो रहा था मानो अपने अधोभाग की ओर हँस ही रहा हो ॥१९९॥

राजकुमार भरत के शरीर के ऊपरी भाग का जैसा कुछ वर्णन किया गया है वैसा ही उसके नीचे के भाग का वर्णन समझ लेना चाहिए क्योंकि कल्पवृक्ष की शोभा जैसी ऊपर होती है वैसी ही उसके नीचे भी होती है ॥२००॥

यद्यपि ऊपर लिखे अनुसार उसके अधोभाग का वर्णन हो चुका है तथापि उद्देश के अनुसार पुनरुक्त रूप से उसका वर्णन फिर भी किया जाता है क्योंकि वर्णन करते-करते समूह में से किसी एक भाग का छोड़ देना भी बड़ा भारी दोष है ॥२०१॥

लावण्यरूपी रस के प्रवाह को धारण करने वाली उसकी नाभिरूपी कूपिका ऐसी सुशोभित होती थी मानो आने वाले कामदेवरूपी मदोन्मत्त हाथी का मार्ग ही हो ॥२०२॥

वह भरत श्रेष्ठ करधनी से सुशोभित सफेद धोती से युक्त जघन भाग को धारण कर रहा था जिससे ऐसा मालूम होता था मानो इन्द्रधनुष से सहित शरद्वृक्ष के बादलों से युक्त नितम्बभाग (मध्यभाग) को धारण करने वाला मेरु पर्वत ही हो ॥२०३॥

उसके दोनों ऊरू अत्यन्त स्थूल और सुदृढ़ थे, उनकी लम्बाई भी यथायोग्य थी, और उनका वर्ण भी सुवर्ण के समान पीला था इसलिए वे ऐसे मालूम होते थे मानो कामदेव ने अपने मन्दिर में दो खम्भे ही लगाये हो ॥२०४॥

उस भरत की दोनों जंघाएँ भी अतिशय मनोहर आकार वाली और सुन्दर कान्ति की धारक थीं तथा ऐसी मालूम होती थीं मानो कामदेव ने उन्हें हथियार से छीलकर गोल ही कर ली हो ॥२०५॥

उसके दोनों चरण प्रकट होते हुए अंगुलिरूपी पत्तों से सहित कमल के समान सुशोभित होते थे और उनमें कभी नष्ट नहीं होने वाली लक्ष्मी भ्रमरी के समान सदा निवास करती थी ॥२०६॥

उसके दोनों ही पैर ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो अपनी कान्ति से कमल की शोभा जीतकर अपने फैलते हुए नखों के प्रकाश से उसकी

हँसी ही कर रहे हों ॥२०७॥

उसके चरण-कमलों में चक्र, छत्र, तलवार, दण्ड आदि चौदह रत्नों के चिह्न बने हुए थे और वे ऐसे जान पड़ते थे मानो ये चौदह रत्न, लक्षणों के छल से भावी चक्रवर्ती की पहले से ही सेवा कर रहे हों ॥२०८॥

केवल उसके चरणों का पराक्रम समस्त पृथ्वीमण्डल पर आक्रमण करने वाला था, फिर भला उस अभिमानी भरत के सम्पूर्ण शरीर का पराक्रम कौन सहन कर सकता था ॥२०९॥

उसके शरीरसम्बन्धी बल का वर्णन केवल इतने ही से हो जाता है कि वह चरम शरीरी था अर्थात् उसी शरीर से मोक्ष जाने वाला था और उसके आत्मा सम्बन्धी बल का वर्णन दिग्विजय आदि बाह्य चिह्नों से हो जाता है ॥२१०॥

चक्रवर्ती के क्षेत्र में रहने वाले समस्त मनुष्य और देवों में जितना बल होता है उससे कई गुना अधिक बल चक्रवर्ती की भुजाओं में था ॥ २११॥

उस भरत के रूप के अनुरूप ही उसमें गुणरूपी सम्पदा विद्यमान थी सो ठीक ही है क्योंकि गुणों से वैसा सुन्दर शरीर कभी नहीं छोड़ा जा सकता ॥२१२॥

'जहाँ सुन्दर आकार है वहीं गुण निवास करते हैं' इस लोकोक्ति में कुछ भी संशय नहीं है क्योंकि गुणों ने भरत के उपमारहित-सुन्दर शरीर को स्वयं आकर स्वीकृत किया था ॥२१३॥

सत्य, शौच, क्षमा, त्याग, प्रज्ञा, उत्साह, दया, दम, प्रशम और विनय-ये गुण सदा उसकी आत्मा के साथ-साथ रहते थे ॥२१४॥

शरीर की कान्ति, दीप्ति, लावण्य, प्रिय वचन बोलना और कलाओं में कुशलता ये उसके शरीर से सम्बन्ध रखने वाले गुण थे ॥२१५॥

जिस प्रकार स्वभाव से ही सुन्दर मणि संस्कार के योग से अत्यन्त सुशोभित हो जाता है उसी प्रकार स्वभाव से ही सुन्दर आकार वाला भरत ऊपर लिखे हुए गुणों से और भी अधिक सुशोभित हो गया था ॥२१६॥

वह भरत एक दिव्य मनुष्य था, उसकी आकृति भी असाधारण थी, वह तेज का खजाना था और उसकी सब चेष्टाएँ आश्चर्य करने वाली थीं इसलिए वह लक्ष्मी के अतिशय ऊँचे पुंज के समान शोभायमान होता था ॥२१७॥

दूसरी जगह नहीं पायी जाने वाली उसकी उत्कृष्ट रूपसम्पदा देखकर लोग उसके पूर्वभव-सम्बन्धी पुण्य संपदा की प्रशंसा करते थे ॥ २१८॥

सुन्दर शरीर, नीरोगता, ऐश्वर्य, धन-सम्पत्ति, सुन्दरता, बल, आयु, यश, बुद्धि, सर्वप्रिय वचन और चतुरता आदि इस संसार में जितना कुछ सुख का कारण पुरुषार्थ है वह सब अभ्युदय कहलाता है और वह सब संसारी जीवों को पुण्य के उदय से प्राप्त होता है ॥२१९-२२०॥

पुण्य के बिना किसी भी बड़े अभ्युदय की प्राप्ति नहीं होती, इसलिए जो विद्वान् पुरुष अभ्युदय प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें पहले पुण्य का संचय करना चाहिए ॥२२१॥

इस प्रकार वह भरत चन्द्रमा के समान शोभायमान हो रहा था क्योंकि जिस प्रकार चन्द्रमा अपने शीतलता, सुभगता आदि गुणों से सबके आनन्द की परम्परा को बढ़ाता है उसी प्रकार वह भरत भी अपने दया, उदारता, नम्रता आदि गुणों से माता-पिता तथा भाईजनों के आनन्द की परम्परा को प्रतिदिन बढ़ाता रहता था, चन्द्रमा जिस प्रकार लोगों की दुःखमय परिस्थिति को शान्त करता है उसी प्रकार वह भरत भी लोगों की दुःखमय परिस्थिति को शान्त करता था, चन्द्रमा जिस प्रकार समस्त पर्वतों को नीचा करने वाले पूर्वाचल से उदित होता है उसी प्रकार वह भरत भी समस्त राजाओं को नीचा दिखाने वाले भगवान् ऋषभदेवरूपी पूर्वाचल से उदित हुआ था और चन्द्रमा जिस प्रकार समस्त भूलोक को प्रकाशित करता है उसी प्रकार भरत भी समस्त लोक को प्रकाशित करता था ॥२२२॥

अथवा वह भरत, चक्ररूपी सूर्य को उदय करने वाले उदयाचल के समान सुशोभित होता था क्योंकि जिस प्रकार उदयाचल पर्वत सुवर्णमय शिलाओं से सान्द्र अवयवों से शोभायमान होता है उसी प्रकार वह भरत भी सुवर्ण के समान सुन्दर मजबूत शरीर से शोभायमान था, जिस प्रकार उदयाचल ऊँचा होता है उसी प्रकार वह भरत भी ऊँचा (उदार) था, उदयाचल जिस प्रकार स्वभाव से ही गुरु-भारी होता है उसी प्रकार वह भरत भी स्वभाव से ही गुरु (श्रेष्ठ) था, उदयाचल पर्वत ने जिस प्रकार अपने समीपवर्ती छोटे-छोटे पर्वतों से पृथ्वीतल पर आक्रमण कर लिया है उसी प्रकार भरत ने भी अपने पाद अर्थात् चरणों से दिग्विजय के समय समस्त पृथिवीतल पर आक्रमण किया था, उदयाचल जिस प्रकार पृथिवी के विशाल भार को धारण करने के लिए समर्थ है उसी प्रकार भरत भी पृथ्वी का विशाल भार

धारण करने के लिए (व्यवस्था करने के लिए) समर्थ था, उदयाचल जिस प्रकार अपने तटभाग पर निर्झरनों की सुन्दर कान्ति धारण करता है उसी प्रकार भरत भी तट के साथ स्पर्धा करने वाले अपने वक्षःस्थल पर हारों की सुन्दर कान्ति धारण करता था, और उदयाचल पर्वत जिस प्रकार देदीप्यमान शिखरों से सुशोभित रहता है उसी प्रकार वह भरत भी अपने प्रकाशमान मुकुट से सुशोभित रहता था ॥२२३॥ जिन्हें अरहन्त पद की लक्ष्मी प्राप्त होने वाली है ऐसे भगवान् वृषभदेव, नेत्रों को आनन्द देने वाले, अत्यन्त सुन्दर और असाधारण भरत के मुख को देखते हुए, कानों को सुख देने वाले तथा विनयसहित कहे हुए उसके मधुर वचनों को सुनते हुए, प्रणाम करने के बाद उठे हुए भरत का बार-बार आलिंगन कर उसे अपनी गोद में बैठाते हुए परम सन्तोष को प्राप्त होते थे ॥२२४॥ इस प्रकार आर्ष नाम से प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रह में भगवान का कुमारकाल, यशस्वती और सुनन्दा का विवाह तथा भरत की उत्पत्ति का वर्णन करने वाला पन्द्रहवां पर्व समाप्त हुआ ॥१५॥

पर्व-16 -- भगवान् के साम्राज्य का वर्णन

पर्व-16 -- भगवान् के साम्राज्य का वर्णन

कथा :

अथानन्तर पहले जिनका वर्णन किया जा चुका है ऐसे वे सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्र स्वर्ग से अवतीर्ण होकर क्रम से भगवान् वृषभदेव की यशस्वती देवी में नीचे लिखे हुए पुत्र उत्पन्न हुए ॥१॥

भगवान् वृषभदेव की वज्रनाभि पर्याय में जो पीठ नाम का भाई था वह अब वृषभसेन नाम का भरत का छोटा भाई हुआ । जो राजश्रेष्ठी का जीव महापीठ था वह अनन्तविजय नाम का वृषभसेन का छोटा भाई हुआ ॥२॥

जो विजय नाम का व्याघ्र का जीव था वह अनन्त-विजय से छोटा अनन्तवीर्य नाम का पुत्र हुआ, जो वैजयन्त नाम का शूकर का जीव था वह अनन्तवीर्य का छोटा भाई अच्युत हुआ, जो वानर का जीव जयन्त था वह अच्युत से छोटा वीर नाम का भाई हुआ और जो नेवला का जीव अपराजित था, वह वीर से छोटा वरवीर हुआ ॥३॥

इस प्रकार भगवान् वृषभदेव के यशस्वती महादेवी से भरत के पीछे जन्म लेने वाले निन्यानवे पुत्र हुए, वे सभी पुत्र चरमशरीरी तथा बड़े प्रतापी थे ॥४॥

तदनन्तर जिस प्रकार शुक्लपक्ष पश्चिम दिशा में चन्द्रमा की निर्मल कला को उत्पन्न (प्रकट) करता है उसी प्रकार ब्रह्मा-भगवान् आदिनाथ ने यशस्वती नामक महादेवी में ब्राह्मी नाम की पुत्री उत्पन्न की ॥५॥

आनन्द पुरोहित का जीव जो पहले महाबाहु था और फिर सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुआ था, वह वहाँ से च्युत होकर भगवान् वृषभदेव की द्वितीय पत्नी सुनन्दा के देव के समान बाहुबली नाम का पुत्र हुआ ॥६॥

वज्रजंघ पर्याय में भगवान् वृषभदेव की जो अनुन्धरी नाम की बहन थी वह अब इन्हीं वृषभदेव की सुनन्दा नामक देवी से अत्यन्त सुन्दरी सुन्दरी नाम की पुत्री हुई ॥७॥

सुन्दरी पुत्री और बाहुबली पुत्र को पाकर सुनन्दा महारानी ऐसी सुशोभित हुई थी जिस प्रकार कि पूर्वदिशा प्रभा के साथ-साथ सूर्य को पाकर सुशोभित होती है ॥८॥

समस्त जीवों को मान्य तथा सर्वश्रेष्ठ रूपसम्पदा को धारण करने वाला बलवान् युवा बाहुबली उस काल के चौबीस कामदेवों में से पहला कामदेव हुआ था ॥९॥

उस बाहुबली का जैसा रूप था वैसा अन्य कहीं नहीं दिखाई देता था, सो ठीक ही है उत्तम आभूषण कल्पवृक्ष को छोड़कर क्या कहीं अन्यत्र भी पाये जाते हैं ॥१०॥

उसके भ्रमर के समान काले तथा कुटिल केशों के अग्रभाग कामदेव के शिर के कवच के सूक्ष्म लोहे के गोल तारों के समान शोभायमान होते थे ॥११॥

अष्टमी के चन्द्रमा के समान सुन्दर उसका विस्तृत ललाट ऐसी शोभा धारण कर रहा था मानो ब्रह्मा ने राज्यपट्ट को बाँधने के लिए ही उसे विस्तृत बनाया हो ॥१२॥

दोनों कुण्डलों से शोभायमान उसका मुख ऐसा देदीप्यमान जान पड़ता था मानो जिसके दोनों ओर समीप ही चकवा-चकवी बैठे हों-ऐसा

कमल ही हो ॥१३॥

मन्द हास्य की किरणरूपी जल के पूर से भरा हुआ तथा लक्ष्मी के निवास करने से अत्यन्त पवित्र उसका मुखरूपी सरोवर नेत्ररूपी दोनों कमलों से भारी सुशोभित होता था ॥१४॥

वह बाहुबली अपने वक्षस्थल पर लटकते हुए विजयछन्द नाम के हार से निर्झरनों द्वारा शोभायमान मरकतमणिमय पर्वत की शोभा धारण करता था ॥१५॥

उसके वक्षस्थल के प्रान्तभाग में विद्यमान दोनों कन्धे ऐसी शोभा बढ़ा रहे थे मानो किसी द्वीप के पर्यन्त भाग में विद्यमान दो छोटे-छोटे पर्वत ही हों ॥१६॥

लम्बी भुजाओं को धारण करने वाले और तेज के भण्डारस्वरूप उस राजकुमार की दोनों ही भुजाएँ उत्कृष्ट बल को धारण करती थीं और इसीलिए उसका बाहुबली नाम सार्थक हुआ था ॥१७॥

जिस प्रकार कुलाचल पर्वत अपने मध्यभाग में लक्ष्मी के निवास करने योग्य बड़ा भारी सरोवर धारण करता है उसी प्रकार वह बाहुबली अपने शरीर के मध्यभाग में गम्भीर नाभिमण्डल धारण करता था ॥१८॥

करधनी से घिरा हुआ उसका कटिप्रदेश ऐसा सुशोभित होता था मानो किसी बड़े सर्प से घिरा हुआ अत्यन्त ऊँचे सुमेरु पर्वत का विस्तृत तट ही हो ॥१९॥

केले के खम्भे के समान शोभायमान उसके दोनों ऊरु ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो लक्ष्मी की हथेली के निरन्तर स्पर्श से ही अत्यन्त उज्ज्वल हो गये हों ॥२०॥

पराक्रम से सुशोभित रहने वाले उस बाहुबली की दोनों ही जंघाएँ शुभ थीं-शुभ लक्षणों से सहित थी और ऐसी जान पड़ती थीं मानो वह बाहुबली भविष्यत् काल में जो प्रतिमायोग तपश्चरण धारण करेगा उसके सिद्ध करने के लिए कारण ही हों ॥२१॥

उसके दोनों ही चरण लालकमल की शोभा धारण कर रहे थे क्योंकि जिस प्रकार कमल कोमल होता है उसी प्रकार उसके चरणों के तलवे भी कोमल थे, कमलों में जिस प्रकार दल (पंखुरियां) सुशोभित होते हैं उसी प्रकार उसके चरणों में अँगुलियांरूपी दल सुशोभित थे, कमल जिस प्रकार लाल होते हैं उसी प्रकार उसके चरण भी लाल थे और कमलों पर जिस प्रकार लक्ष्मी निवास करती है उसी प्रकार उसके चरणों में भी लक्ष्मी (शोभा) निवास करती थी ॥२२॥

इस प्रकार परम उदार और चरमशरीर को धारण करने वाला वह बाहुबली मानिनी स्त्रियों के हृदयरूपी छोटी-सी कुटी में कैसे प्रवेश कर गया था ? भावार्थ-स्त्रियों का हृदय बहुत ही छोटा होता है और बाहुबली का शरीर बहुत ही ऊँचा (सवा पाँच-सौ धनुष) था इसके सिवाय वह चरमशरीरी वृद्ध, (पक्ष में उसी भव से मोक्ष जाने वाला) था, मानिनी स्त्रियाँ चरमशरीरी अर्थात् वृद्ध पुरुष को पसन्द नहीं करती है, इन सब कारणों के रहते हुए भी उसका वह शरीर स्त्रियों का मान दूर कर उनके हृदय में प्रवेश कर गया यह भारी आश्चर्य की बात थी ॥ २३॥

जिनका मन दूसरी जगह नहीं जाकर केवल बाहुबली में ही लगा हुआ है ऐसी स्त्रियाँ स्वप्न में भी उस बाहुबली के मनोहर रूप को इस प्रकार देखती थीं मानो वह रूप उनके चित्त में उकेर ही दिया गया हो ॥२४॥

उस समय स्त्रियाँ उसे मनोभव, मनोज, मनोभू, मन्मथ, अंगज, मदन और अनन्यज आदि नामों से पुकारती थीं ॥२५॥

ईख ही जिसका धनुष है ऐसा कामदेव अपने पुष्पों की मंजरीरूपी बाणों से समस्त जगत् का संहार कर देता है, इस बुद्धिरहित बात पर भला कौन विश्वास करेगा ? भावार्थ-कामदेव के विषय में ऊपर लिखे अनुसार जो किंवदन्ती प्रसिद्ध है वह सर्वथा युक्तिरहित है, हाँ, बाहुबली-जैसे कामदेव ही अपने अलौकिक बल और पौरुष के द्वारा जगत् का संहार कर सकते थे ॥२६॥

इस प्रकार वे सभी राजकुमार विद्या, कला, दीप्ति, कान्ति और सुन्दरता की लीला से राजकुमार भरत के समान थे ॥२७॥

जिस प्रकार हाथी क्रम-क्रम से मदावस्था का प्राप्त होते हैं उसी प्रकार भगवान् वृषभदेव के वे भरत आदि एक सौ एक पुत्र क्रम-क्रम से युवावस्था को प्राप्त हुए ॥२८॥

जिस प्रकार बगीचे के वृक्ष समूहों पर वसन्तऋतु का विस्तार अतिशय मनोहर जान पड़ता है उस प्रकार उस समय उन राजकुमारों में वह यौवन अतिशय मनोहर जान पड़ता था ॥२९॥

युवावस्था को प्राप्त हुए वे सभी पार्थिव अर्थात् राजकुमार पार्थिव अर्थात् पृथ्वी से उत्पन्न होने वाले वृक्षों के समान थे क्योंकि वे सभी वृक्षों के समान ही मन्दहास्यरूपी सफेद मंजरी, लाल वर्ण के हाथरूपी पल्लव और फल देने वाली ऊँची-ऊँची भुजारूपी शाखाओं को धारण करते थे ॥३०॥

जिसकी सुगन्धि सब ओर फैल रही है ऐसी धूप से उन राजकुमारों के शिर के बाल सुगन्धित किये जाते थे, उस सुगन्धि से अन्ध होकर भ्रमर आकर उन बालों में विलीन होते थे जिससे वे बाल ऐसे मालूम होते थे जिससे मानो वृद्धि से सहित ही हो रहे हों ॥३१॥

उन राजकुमारों के मुख की सुगन्ध सूँघने के लिए जो भ्रमरों की पंक्ति आती थी वह क्षण-भर के लिए व्याकुल होकर उनके समस्त शरीर में व्याप्त हुई सुगन्धि का अनुभव करने लगती थी । भावार्थ-उनके समस्त शरीर से सुगन्धि आ रही थी इसलिए मैं पहले किस जगह की सुगन्धि ग्रहण करूँ इस विचार से भ्रमर क्षण भर के लिए व्याकुल हो जाते थे ॥३२॥

उन राजकुमारों के दोनों कान मकर के चिह्न से चिह्नित रत्नमयी कुण्डलों से अलंकृत थे इसलिए ऐसे जान पड़ते थे मानो कामदेव ने उन पर अपना चिह्न ही लगा दिया हो ॥३३॥

कामदेव ने उनके नेत्ररूपी कमलों को बाण बनाकर और उनकी भौंहरूपी लताओं को धनुष की लकड़ी बनाकर समस्त स्त्रियों को अपने वश में कर लिया था ॥३४॥

उनका शरीर देदीप्यमान था, मुख सुन्दर था, नेत्रों का विलास मधुर था और कान समीप में विश्राम करने वाले नेत्ररूपी कमलों से सुशोभित थे ॥३५॥

उनकी भौहें विलास से सहित थीं, ललाट प्रशंसनीय था, नासिका सुशोभित थी और उपमारहित कपोल चन्द्रमा की शोभा को भी तिरस्कृत करने वाले थे ॥३६॥

उनके ओठ कुछ-कुछ लाल वर्ण के थे मानो अनुराग के रस से ही लाल वर्ण के हो गये हो और स्वर मृदंग के शब्द के समान गम्भीर तथा कानों को प्रिय था ॥३७॥

उनके कण्ठ जिन मोतियों से घिरे हुए थे वे ठीक कण्ठ से उच्चारण होने योग्य अक्षरों के समान जान पड़ते थे क्योंकि जिस प्रकार अक्षर सूत्रमार्ग अर्थात्, मूल ग्रन्थ के अनुसार गुम्फित होते हैं उसी प्रकार वे मोती भी सूत्रमार्ग अर्थात् धागा में पिरोये हुए थे, अक्षर जिस प्रकार जगत् के जीवों के चित्त को आनन्द देने वाले होते हैं उसी प्रकार वे मोती भी उनके चित्त को आनन्द देने वाले थे, अक्षर जिस प्रकार कण्ठ स्थान से उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार मोती भी कण्ठ स्थान में पड़े हुए थे, और अक्षर जिस प्रकार शुद्ध अर्थात् निर्दोष होते हैं उसी प्रकार वे मोती भी शुद्ध अर्थात् निर्दोष थे ॥३८॥

उनका वक्षस्थल लक्ष्मी से आलिङ्गित था, कन्धे विजयलक्ष्मी से आलिङ्गित थे और घुटनों तक लम्बी भुजाएँ व्यायाम से कठोर थीं ॥३९॥
उनकी नाभि शोभा के खजाने की भूमि थी, सुन्दर थी और नेत्रों को सन्तोष देने वाली थी । इसी प्रकार उनका मध्यभाग अर्थात् कटिप्रदेश भी ठीक जगत् के मध्यभाग के समान था ॥४०॥

जिन पर वस्त्र शोभायमान हो रहा है और करधनी लटक रही है ऐसे उनके स्थूल नितम्ब ऐसे जान पड़ते थे मानो कामदेवरूपी राजा के सुख देने वाले कपड़े के बने हुए तम्बू ही हों ॥४१॥

उनके ऊरु स्थूल थे, सुन्दर कान्ति के धारक थे और स्त्रीजनों का मन हरण करने वाले थे । उनकी जंघाएँ कामदेव के तरकश की सुन्दर आकृति को भी जीतने वाली थीं ॥४२॥

अपनी शोभा से लाल कमलों का भी तिरस्कार करने वाले उनके दोनों पैर ऐसे जान पड़ते थे मानो समस्त शरीर में रहने वाली जो कान्ति नीचे की ओर बहकर गयी थी उसे इकट्ठा करके ही बनाये गये हों ॥४३॥

इस प्रकार उन राजकुमारों के प्रत्येक अंग में जो प्रशंसनीय शोभा थी वह उन्हीं के शरीर में थी-वैसी शोभा किसी दूसरी जगह नहीं थी इसलिए अन्य पदार्थों का वर्णन कर उनके शरीर की शोभा का वर्णन करना व्यर्थ है ॥४४॥

उन राजकुमारों के स्वभाव से ही सुन्दर शरीर मणिमयी आभूषणों से ऐसे सुशोभित हो रहे थे जैसे कि खिले हुए फूलों से वन सुशोभित रहते हैं ॥४५॥

उन राजकुमारों के यष्टि, हार और रत्नावली आदि, मोती तथा रत्नों के बने हुए अनेक प्रकार के आभूषण थे ॥४६॥

उनमें से यष्टि नामक आभूषण शीर्षक, उपशीर्षक, अवघाटक, प्रकाण्डक और तरलप्रबन्ध के भेद से पाँच प्रकार का होता है ॥४७॥

उन राजकुमारों में किन्हीं के शीर्षक, किन्हीं के उपशीर्षक, किन्हीं के अवघाटक, किन्हीं के प्रकाण्डक और किन्हीं के तरलप्रतिबन्ध नाम की यष्टि कण्ठ का आभूषण हुई थी । उनकी वे पाँचों प्रकार की यष्टियाँ मणिमध्या और शुद्धा के भेद से दो-दो प्रकार की थीं । (जिसके बीच में एक मणि लगा हो उसे मणिमध्या और जिसके बीच में मणि नहीं लगा हो उसे शुद्धा यष्टि कहते हैं ।) ॥४८-४९॥

मणिमध्यमा यष्टि को सूत्र तथा एकावली भी कहते हैं और यदि यही मणिमध्यमा यष्टि सुवर्ण तथा मणियों से चित्र-विचित्र हो तो उसे रत्नावली भी कहते हैं ॥५०॥

जो यष्टि किसी निश्चित प्रमाण वाले सुवर्णमणि, माणिक्य और मोतियों के द्वारा बीच में अन्तर दे-देकर गुँथी जाती है उसे अपवर्तिका कहते हैं ॥५१॥

जिसके बीच में एक बड़ा स्थूल मोती हो उसे शीर्षक यष्टि कहते हैं और जिसके बीच में क्रम-क्रम से बढ़ते हुए तीन मोती हों उसे उपशीर्षक कहते हैं ॥५२॥

जिसके बीच में क्रम-क्रम से बढ़ते हुए पाँच मोती लगे हों उसे प्रकाण्डक कहते हैं, जिसके बीच में एक बड़ा मणि हो और उसके दोनों ओर क्रम-क्रम से घटते हुए छोटे-छोटे मोती लगे हों उसे अवघाटक कहते हैं ॥५३॥

और जिसमें सब जगह एक समान मोती लगे हों उसे तरलप्रतिबन्ध कहते हैं । ऊपर जो एकावली, रत्नावली और अपवर्तिका ये मणियुक्त यष्टियों के तीन भेद कहे हैं उनके भी ऊपर लिखे अनुसार प्रत्येक के शीर्षक, उपशीर्षक आदि पाँच-पाँच भेद समझ लेना चाहिए ॥५४॥

यष्टि अर्थात् लड़ियों के समूह को हार कहते हैं वह हार लड़ियों की संख्या के न्यूनाधिक होने से इन्द्रच्छन्द आदि के भेद से ग्यारह प्रकार का होता है ॥५५॥

जिसमें एक हजार आठ लड़ियाँ हों उसे इन्द्रच्छन्द हार कहते हैं । वह हार सबसे उत्कृष्ट होता है और इन्द्र चक्रवर्ती तथा जिनेन्द्रदेव के पहनने के योग्य होता है ॥५६॥

जिसमें इन्द्रच्छन्द हार से आधी अर्थात् पाँच सौ चार लड़ियाँ हों उसे विजयच्छन्द हार कहते हैं । यह हार अर्धचक्रवर्ती तथा बलभद्र आदि अन्य पुरुषों के पहनने योग्य कहा गया है ॥५७॥

जिसमें एक सौ आठ लड़ियाँ हो उसे हार कहते हैं और जिसमें मोतियों की इक्यासी लड़ियाँ हो उसे देवच्छन्द कहते हैं ॥५८॥

जिसमें चौंसठ लड़ियाँ हों उसे अर्धहार, जिसमें चौवन लड़ियाँ हों उसे रश्मिकलाप और जिसमें बत्तीस लड़ियाँ हों उसे गुच्छ कहते हैं ॥५९॥

जिसमें सत्ताईस लड़ियाँ हों उसे नक्षत्रमाला कहते हैं । यह हार अपने मोतियों से अश्विनी भरणी आदि नक्षत्रों की माला की शोभा की हँसी करता हुआ-सा जान पड़ता है ॥६०॥

मोतियों की चौबीस लड़ियों के हार को अर्धगुच्छ, बीस लड़ियों के हार को माणव और दश लड़ियों के हार को अर्धमाणव कहते हैं ॥६१॥

ऊपर कहे हुए इन्द्रच्छन्द आदि हारों के मध्य में जब मणि लगा दिया जाता है तब उन नामों के साथ माणव शब्द और भी सुशोभित होने लगता है अर्थात् इन्द्रच्छन्दमाणव, विजयच्छन्दमाणव आदि कहलाने लगते हैं ॥६२॥

जो एक शीर्षक हार है वह शुद्ध हार कहलाता है । यदि शीर्षक के आगे इन्द्रच्छन्द आदि उपपद भी लगा दिये जायें तो वह भी ग्यारह भेदों से युक्त हो जाता है ॥६३॥

इसी प्रकार उपशीर्षक आदि शुद्ध हारों के भी ग्यारह-ग्यारह भेद होते हैं । इस प्रकार सब हार पचपन प्रकार के होते हैं ॥६४॥

अर्धमाणव हार के बीच में यदि मणि लगाया गया हो तो उसे फलकहार कहते हैं । उसी फलकहार में जब सोने के तीन अथवा पाँच फलक लगे हों तो उसके सोपान और मणिसोपान के भेद से दो भेद हो जाते हैं । अर्थात् जिसमें सोने के तीन फलक लगे हों उसे सोपान कहते हैं और जिसमें सोने के पाँच फलक लगे हों उसे मणिसोपान कहते हैं । इन दोनों हारों में इतनी विशेषता है कि सोपान नामक हार में सिर्फ सुवर्ण के ही फलक रहते हैं और मणिसोपान नाम के हार में रत्नों से जड़े हुए सुवर्ण के फलक रहते हैं । (सुवर्ण के गोल दाने-गुरिया-को फलक कहते हैं) ॥६५-६६॥

इस प्रकार कर्मयुग के प्रारम्भ में भगवान् वृषभदेव ने अपने पुत्रों के लिए कण्ठ और वक्षःस्थल के अनेक आभूषण बनाये, और उन पुत्रों ने भी यथायोग्य रूप से वे आभूषण धारण किये ॥६७॥

इस तरह काठ तथा शरीर के अन्य अवयवों में धारण किये हुए आभूषणों से वे राजकुमार ऐसे सुशोभित होते थे मानो ज्योतिषी देवों का समूह हो ॥६८॥

उन सब राजकुमारों में तेजस्वियों में भी तेजस्वी भरत सूर्य के समान सुशोभित होता था और समस्त संसार से अत्यन्त सुन्दर युवा बाहुबली चन्द्रमा के समान शोभायमान होता था ॥६९॥

शेष राजपुत्र ग्रह, नक्षत्र तथा तारागण के समान शोभायमान होते थे । उन सब राजपुत्रों में ब्राह्मी दीप्ति के समान और सुन्दरी चाँदनी के समान सुशोभित होती थी ॥७०॥

उन सब पुत्र-पुत्रीयों से घिरे हुए सौभाग्यशाली भगवान् वृषभदेव ज्योतिषी देवों के समूह से घिरे हुए ऊँचे मेरु पर्वत की तरह सुशोभित होते थे ॥७१॥

अथानन्तर किसी एक समय भगवान् वृषभदेव सिंहासन पर सुख से बैठे हुए थे, कि उन्होंने अपना चित्त कला और विद्याओं के उपदेश देने में व्याप्त किया ॥७२॥

उसी समय उनकी ब्राह्मी और सुन्दरी नाम की पुत्रीयाँ माङ्गलिक वेषभूषा धारण कर उनके निकट पहुंची ॥७३॥

वे दोनों ही पुत्रीयाँ कुछ-कुछ उठे हुए स्तनरूपी कुङ्मलों से शोभायमान और बाल्य अवस्था के अनन्तर प्राप्त होने वाली किशोर अवस्था में वर्तमान थी अतएव अतिशय सुन्दर जान पड़ती थीं ॥७४॥

वे दोनों ही कन्याएँ बुद्धिमती थीं, विनीत थीं, सुशील थीं, सुन्दर लक्षणों से सहित थीं, रूपवती थीं और मानिनी स्त्रियों के द्वारा भी प्रशंसनीय थीं ॥७५॥

हंसी की चाल को भी तिरस्कृत करने वाली अपनी सुन्दर चाल से जब वे पृथ्वी पर पैर रखती हुई चलती थीं, तब वे चारों ओर लाल कमलों के उपहार की शोभा को विस्तृत करती थीं ॥७६॥

उनके चरणों के नखरूपी दर्पणों में जो उन्हीं के शरीर का प्रतिबिम्ब पड़ता था उसके छल से वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो अपनी कान्ति से तिरस्कृत हुई दिक्कन्याओं को अपने चरणों से रौंदने के लिए ही तैयार हुई हों ॥७७॥

लीलासहित पैर रखकर चलते समय रुनझुन शब्द करते हुए उनके नुपूरों से जो सुन्दर शब्द होते थे उनसे वे ऐसी मालूम होती थीं मानो नुपूरों के शब्दों के बहाने हंसियों को बुलाकर उन्हें अपनी गति का सुन्दर विलास ही सिखला रही हो ॥७८॥

जिनके ऊरु अतिशय सुन्दर और जंघाएँ अतिशय कान्तियुक्त हैं ऐसी वे दोनों पुत्रीयाँ ऐसी जान पड़ती थीं मानो उनकी बढ़ती हुई कान्ति को वे लोगों के नेत्रों के मार्ग में चारों ओर स्वयं ही फेंक रही हों ॥७९॥

वे पुत्रीयाँ जिस स्थूल जघन भाग को धारण कर रही थीं वह करधनी तथा अधोवस्त्र से सुशोभित था और ऐसा मालूम होता था मानो करधनीरूपी तुरही बाजों से सुशोभित और कपड़े के चँदोवा से युक्त सौभाग्य देवता के रहने का घर ही हो ॥८०॥

वे कन्याएँ जिस गम्भीर नाभिमण्डल को धारण किए हुई थीं वह ऐसा जान पड़ता था मानो कामदेवरूपी यजमान ने लावण्यरूपी देवता की पूजा के लिए होमकुण्ड ही बनाया हो ॥८१॥

जिसमें कुछ-कुछ कालापन प्रकट हो चुका है ऐसी जिस रोमराजी को वे पुत्रीयाँ धारण कर रही थीं वह ऐसी मालूम होती थी मानो कामदेव के गृहप्रवेश के समय खेई हुई धूप के धूम की शिखा ही हो ॥८२॥

उन दोनों कन्याओं का मध्यभाग कृश था, उदर भी कृश था, हस्तरूपी पल्लव कुछ-कुछ लाल थे, भुजलताएँ कोमल थीं और स्तनरूपी कुङ्मल कुछ-कुछ ऊँचे उठे हुए थे ॥८३॥

वे पुत्रीयाँ स्तनमण्डल पर पड़े हुए जिस मनोहर हार को धारण किए हुई थी वह अपनी किरणों से ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो स्तनों के आलिंगन से उत्पन्न हुए सुख की आसक्ति से हँस ही रहा हो ॥८४॥

उनके कण्ठ बहुत ही सुन्दर थे, उनका स्वर कोयल की वाणी के समान मनोहर और मधुर था, ओठ ताम्रवर्ण अर्थात् कुछ-कुछ लाल थे, और मुख कुछ-कुछ प्रकट हुए मन्दहास्य की किरणों से मनोहर थे ॥८५॥

उनके दाँत सुन्दर थे, कटाक्षों-द्वारा देखना मनोहर था, नेत्रों की बिरौनी सघन थी और नेत्ररूपी कमल कामदेव के विजयी अस्त्र के समान थे ॥८६॥

शोभायमान कपोलों पर पड़े हुए केशों के प्रतिबिम्ब से वे कन्याएं, जिसमें कलंक प्रकट दिखायी दे रहा है ऐसे चन्द्रमा की शोभा को भी लज्जित कर रही थीं ॥८७॥

वे मालासहित जिस केशपाश को धारण कर रही थी वह ऐसा मालूम होता था मानो जिसके भीतर गंगा नदी का प्रवाह मिला हुआ है ऐसा यमुना नदी का लहराता हुआ प्रवाह ही हो ॥८८॥

इस प्रकार प्रत्येक अंग में रहने वाली कान्ति से उन दोनों की आकृति अत्यन्त सुन्दर थी और उससे वे ऐसी मालूम होती थीं मानो सौन्दर्य के समूह को एक जगह इकट्ठा करके ही बनायी गयी हों ॥८९॥

क्या ये दोनों दिव्य कन्याएँ हैं, अथवा नागकन्याएँ हैं ? अथवा दिक्कन्याएँ हैं अथवा सौभाग्य देवियाँ हैं, अथवा लक्ष्मी और सरस्वती देवी हैं अथवा उनकी अधिष्ठात्री देवी हैं अथवा उनका अवतार है अथवा क्या जगन्नाथ (वृषभदेव) रूपी महासमुद्र से उत्पन्न हुई लक्ष्मी हैं ? क्योंकि इनकी यह आकृति अनेक कल्याणों का अनुभव करने वाली है इस प्रकार लोग बड़े आश्चर्य के साथ जिनकी प्रशंसा करते हैं ऐसी उन दोनों कन्याओं ने विनय के साथ भगवान् के समीप जाकर उन्हें प्रणाम किया ॥९०-९३॥

दूर से ही जिनका मस्तक नम्र हो रहा है ऐसी नमस्कार करती हुई उन दोनों पुत्रीयों को उठाकर भगवान् ने प्रेम से अपनी गोद में बैठाया, उनपर हाथ फेरा, उनका मस्तक सूँघा और हँसते हुए उनसे बोले कि आओ, तुम समझती होगी कि हम आज देवों के साथ अमरवन को जायेंगी परन्तु अब ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि देव लोग पहले ही चले गए हैं ॥९४-९५॥

इस प्रकार भगवान् वृषभदेव क्षणभर उन दोनों पुत्रीयों के साथ क्रीड़ा कर फिर कहने लगे कि तुम अपने शील और विनयगुण के कारण युवावस्था में भी वृद्धा के समान हो ॥९६॥

तुम दोनों का यह शरीर, यह अवस्था और यह अनुपम शील यदि विद्या से विभूषित किया जाये तो तुम दोनों का यह जन्म सफल हो सकता है ॥९७॥

इस लोक में विद्यावान् पुरुष पण्डितों के द्वारा भी सम्मान को प्राप्त होता है और विद्यावती स्त्री भी सर्वश्रेष्ठ पद को प्राप्त होती है ॥९८॥

विद्या ही मनुष्यों का यश करने वाली है, विद्या ही पुरुषों का कल्याण करने वाली है अच्छी तरह से आराधना की गयी विद्या ही सब मनोरथों को पूर्ण करने वाली है ॥९९॥

विद्या मनुष्यों के मनोरथों को पूर्ण करने वाली कामधेनु है, विद्या ही चिन्तामणि है, विद्या ही धर्म, अर्थ तथा काम रूप फल से सहित सम्पदाओं की परम्परा उत्पन्न करती है ॥१००॥

विद्या ही मनुष्यों का बन्धु है, विद्या ही मित्र है, विद्या ही कल्याण करने वाली है, विद्या ही साथ-साथ जाने वाला धन है और विद्या ही सब प्रयोजनों को सिद्ध करने वाली है ॥१०१॥

इसलिए हे पुत्रीयों, तुम दोनों विद्या ग्रहण करने में प्रयत्न करो क्योंकि तुम दोनों का विद्या ग्रहण करने का यही काल है ॥१०२॥

भगवान् वृषभदेव ने ऐसा कहकर तथा बार-बार उन्हें आशीर्वाद देकर अपने चित्त में स्थित श्रुत देवता को आदरपूर्वक सुवर्ण के विस्तृत पट्टे पर स्थापित किया, फिर दोनों हाथों से अ आ आदि वर्णमाला लिखकर उन्हें लिपि (लिखने का) उपदेश दिया और अनुक्रम से इकाई दहाई आदि अंकों के द्वारा उन्हें संख्या के ज्ञान का भी उपदेश दिया । भावार्थ-ऐसी प्रसिद्धि है कि भगवान् ने दाहिने हाथ से वर्णमाला और बायें हाथ से संख्या लिखी थी ॥१०३-१०४॥

तदनन्तर जो भगवान् के मुख से निकली हुई है, जिसमें 'सिद्ध नमः' इस प्रकार का मंगलाचरण अत्यन्त स्पष्ट है, जिसका नाम सिद्धमातृ का है, जो स्वर और व्यंजन के भेद से दो भेदों को प्राप्त है, जो समस्त विद्याओं में पायी जाती है, जिसमें अनेक संयुक्त अक्षरों की उत्पत्ति है, जो अनेक बीजाक्षरों से व्याप्त है और जो शुद्ध मोतियों की माला के समान है ऐसी अकार को आदि लेकर हकार पर्यन्त तथा विसर्ग अनुस्वार जिह्वामूलीय और उपध्मानीय इन योगवाह पर्यन्त समस्त शुद्ध अक्षरावली को बुद्धिमती ब्राह्मी पुत्री ने धारण किया और अतिशय सुन्दरी सुन्दरीदेवी ने इकाई दहाई आदि स्थानों के क्रम से गणित शास्त्र को अच्छी तरह धारण किया ॥१०५-१०८॥

वाङ्मय के बिना न तो कोई शास्त्र है और न कोई कला है इसलिए भगवान् वृषभदेव ने सबसे पहले उन पुत्रीयों के लिए वाङ्मय का उपदेश दिया था ॥१०९॥

अत्यन्त बुद्धिमती उन कन्याओं ने सरस्वती देवी के समान अपने पिता के मुख से संशय विपर्यय आदि दोषों से रहित शब्द तथा अर्थ रूप

समस्त वाङ्मय का अध्ययन किया था ॥११०॥

वाङ्मय के जानने वाले गणधरादि देव व्याकरण शास्त्र, छन्दशास्त्र और अलंकार शास्त्र इन तीनों के समूह को वाङ्मय कहते हैं ॥१११॥

उस समय स्वयम्भू अर्थात् भगवान् वृषभदेव का बनाया हुआ एक बड़ा भारी व्याकरण शास्त्र प्रसिद्ध हुआ था उसमें सौ से भी अधिक अध्याय थे और वह समुद्र के समान अत्यन्त गम्भीर था ॥११२॥

इसी प्रकार उन्होंने अनेक अध्यायों में छन्दशास्त्र का भी उपदेश दिया था और उसके उक्ता अत्युक्ता आदि छब्बीस भेद भी दिखलाये थे ॥११३॥

अनेक विद्याओं के अधिपति भगवान् ने प्रस्तार, नष्ट, उदिष्ट, एकद्वित्रिलघुक्रिया, संख्या और अध्वयोग छन्दशास्त्र के इन छह प्रत्ययों का भी निरूपण किया था ॥११४॥

भगवान् ने अलंकारों का संग्रह करते समय अथवा अलंकार संग्रह ग्रन्थ में उपमा रूपक यमक आदि अलंकारों का कथन किया था, उनके शब्दालंकार और अर्थालंकार रूप दो मार्गों का विस्तार के साथ वर्णन किया था और माधुर्य ओज आदि दश प्राण अर्थात् गुणों का भी निरूपण किया था ॥११५॥

अथानन्तर ब्राह्मी और सुन्दरी दोनों पुत्रीयों की पदज्ञान (व्याकरण-ज्ञान) रूपी दीपिका से प्रकाशित हुई समस्त विद्याएं और कलाएं अपने आप ही परिपक्व अवस्था को प्राप्त हो गयी थीं ॥११६॥

इस प्रकार गुरु अथवा पिता के अनुग्रह से जिनने समस्त विद्याएँ पढ़ ली हैं ऐसी वे दोनों पुत्रीयाँ सरस्वती देवी के अवतार लेने के लिए पात्रता को प्राप्त हुई थीं । भावार्थ-वे इतनी अधिक ज्ञानवती हो गयी थीं कि साक्षात् सरस्वती भी उनमें अवतार ले सकती थी ॥११७॥ जगद्गुरु भगवान् वृषभदेव ने इसी प्रकार अपने भरत आदि पुत्रों को भी विनयी बनाकर क्रम से आम्नाय के अनुसार अनेक शास्त्र पढ़ाये ॥११८॥

भगवान् ने भरत पुत्र के लिए अत्यन्त विस्तृत-बड़े-बड़े अध्यायों से स्पष्ट कर अर्थशास्त्र और संग्रह (प्रकरण) सहित नृत्यशास्त्र पढ़ाया था ॥११९॥

स्वामी वृषभदेव ने अपने पुत्र वृषभसेन के लिए जिसमें गाना बजाना आदि अनेक पदार्थों का संग्रह है और जिसमें सौ से भी अधिक अध्याय हैं ऐसे गन्धर्व शास्त्र का व्याख्यान किया था ॥१२०॥

अनन्तविजय पुत्र के लिए नाना प्रकार के सैकड़ों अध्यायों से भरी हुई चित्रकला-सम्बन्धी विद्या का उपदेश दिया और लक्ष्मी या शोभासहित समस्त कलाओं का निरूपण किया ॥१२१॥

इसी अनन्तविजय पुत्र के लिए उन्होंने सूत्रधार की विद्या तथा मकान बनाने की विद्या का उपदेश दिया । उस विद्या के प्रतिपादक शास्त्रों में अनेक अध्यायों का विस्तार था तथा उसके अनेक भेद थे ॥१२२॥

बाहुबली पुत्र के लिए उन्होंने कामनीति, स्त्री-पुरुषों के लक्षण, आयुर्वेद, धनुर्वेद, घोड़ा-हाथी आदि के लक्षण जानने के तन्त्र और रत्नपरीक्षा आदि के शास्त्र अनेक प्रकार के बड़े-बड़े अध्यायों के द्वारा सिखलाये ॥१२३-१२४॥

इस विषय में अधिक कहने से क्या प्रयोजन है ? संक्षेप में इतना ही बस है कि लोक का उपकार करने वाले जो-जो शास्त्र थे भगवान् आदिनाथ ने वे सब अपने पुत्रों को सिखलाये थे ॥१२५॥

जिस प्रकार स्वभाव से देदीप्यमान रहने वाले सूर्य का तेज शरद्ऋतु के आने पर और भी अधिक हो जाता है उसी प्रकार जिन्होंने अपनी समस्त विद्याएं प्रकाशित कर दी हैं ऐसे भगवान् वृषभदेव का तेज उस समय भारी अद्भुत हो रहा था ॥१२६॥

जिन्होंने समस्त विद्याएँ पढ़ ली हैं ऐसे पुत्रों से भगवान् वृषभदेव उस समय उस प्रकार सुशोभित हो रहे थे जिस प्रकार कि शरद्ऋतु में अधिक कान्ति को प्राप्त होने वाला सूर्य अपनी किरणों से सुशोभित होता है ॥१२७॥

अपने इष्ट पुत्र और इष्ट स्त्रियों से घिरे हुए भगवान् वृषभदेव का बहुत भारी समय निरन्तर अनेक प्रकार के दिव्य भोग भोगते हुए व्यतीत हो गया ॥१२८॥

इस प्रकार अनेक प्रकार के भोगों का अनुभव करते हुए भगवान् का बीस लाख पूर्व वर्षों का कुमारकाल पूर्ण हुआ था ऐसी उत्तम मुनि गणधरदेव ने गणना की है ॥१२९॥

इसी बीच में काल के प्रभाव से महौषधि, दिव्यौषधि, कल्पवृक्ष तथा सब प्रकार की औषधियाँ शक्तिहीन हो गयी थी ॥१३०॥

मनुष्यों के निर्वाह के लिए जो बिना बोये हुए उत्पन्न होने वाले धान्य थे वे भी काल के प्रभाव से पृथ्वी में प्रायः करके विरलता को प्राप्त हो गये थे-जहाँ कहीं कुछ-कुछ मात्रा में ही रह गये थे ॥१३१॥

जब कल्पवृक्ष रस, वीर्य और विपाक आदि से रहित हो गये तब वहाँ की प्रजा रोग आदि अनेक बाधाओं से व्याकुलता को प्राप्त होने लगी ॥१३२॥

कल्पवृक्षों के रस, वीर्य आदि के नष्ट होने से व्याकुल मनोवृत्ति को धारण करती हुई प्रजा जीवित रहने की इच्छा से महाराज नाभिराज के समीप गयी ॥१३३॥

तदनन्तर नाभिराज की आज्ञा से प्रजा भगवान् वृषभनाथ के समीप गयी और अपने जीवित रहने के उपाय प्राप्त करने की इच्छा से उन्हें मस्तक झुकाकर नमस्कार करने लगी ॥१३४॥

अथानन्तर अन्नादि के नष्ट होने से जिसे अनेक प्रकार के भय उत्पन्न हो रहे हैं और जो सबको शरण देने वाले भगवान् की शरण को प्राप्त हुई है ऐसी प्रजा सनातन-भगवान के समीप जाकर इस प्रकार निवेदन करने लगी कि ॥१३५॥

हे देव, हम लोग जीविका प्राप्त करने की इच्छा से आपकी शरण में आये हुए हैं इसलिए हे तीन लोक के स्वामी, आप उसके उपाय दिखलाकर हम लोग की रक्षा कीजिए ॥१३६॥

हे विभो, जो कल्पवृक्ष हमारे पिता के समान थे-पिता के समान ही हम लोगों की रक्षा करते थे वे सब मूलसहित नष्ट हो गये हैं और जो धान्य बिना बोये ही उत्पन्न होते थे वे भी अब नहीं फलते हैं ॥१३७॥

हे देव, बढ़ती हुई भूख प्यास आदि की बाधाएं हम लोगों को दुःखी कर रही है । अन्न-पानी से रहित हुए हम लोग अब एक क्षण भी जीवित रहने के लिए समर्थ नहीं हैं ॥१३८॥

हे देव, शीत, आतप, महावायु और वर्षा आदि का उपद्रव आश्रयरहित हम लोगों को दुःखी कर रहा है इसलिए आज इन सबके दूर करने के उपाय कहिए ॥१३९॥

हे विभो, आप इस युग के आदि कर्ता हैं और कल्पवृक्ष के समान उन्नत हैं, आपके आश्रित हुए हम लोग भय के स्थान कैसे हो सकते हैं ? ॥१४०॥

इसलिए हे देव, जिस प्रकार हम लोगों की आजीविका निरुपद्रव हो जाये, आज उसी प्रकार उपदेश देने का प्रयत्न कीजिए और हम लोगों पर प्रसन्न हूँ ॥१४१॥

इस प्रकार प्रजाजनों के दीन वचन सुनकर जिनका हृदय दया से प्रेरित हो रहा है ऐसे भगवान आदिनाथ अपने मन में ऐसा विचार करने लगे ॥१४२॥

कि पूर्व और पश्चिम विदेह क्षेत्र में जो स्थिति वर्तमान है वही स्थिति आज यहाँ प्रवृत्त करने योग्य है उसी से यह प्रजा जीवित रह सकती है ॥१४३॥

वहाँ जिस प्रकार असी मषी आदि छह कर्म हैं, जैसी क्षत्रिय आदि वर्णों की स्थिति है और जैसी ग्राम-घर आदि की पृथक्-पृथक् रचना है उसी प्रकार यहाँ पर भी होनी चाहिए । इन्हीं उपायों से प्राणियों की आजीविका चल सकती है । इनकी आजीविका के लिए और कोई उपाय नहीं है ॥१४४-१४५॥

कल्पवृक्षों के नष्ट हो जाने पर अब यह कर्मभूमि प्रकट हुई है, इसलिए यहाँ प्रजा को असी, मषी आदि छह कर्मों के द्वारा ही आजीविका करना उचित है ॥१४६॥

इस प्रकार स्वामी वृषभदेव ने क्षणभर प्रजा के कल्याण करने वाली आजीविका का उपाय सोचकर उसे बार-बार आश्वासन दिया कि तुम भयभीत मत होओ ॥१४७॥

अथानन्तर भगवान् के स्मरण करने मात्र से देवों के साथ इन्द्र आया और उसने नीचे लिखे अनुसार विभाग कर प्रजा की जीविका के उपाय किये ॥१४८॥

शुभ दिन, शुभ नक्षत्र, शुभ मुहूर्त और शुभ लग्न के समय तथा सूर्य आदि ग्रहों के अपने-अपने उच्च स्थानों में स्थित रहने और जगद्गुरु

भगवान् के हर एक प्रकार की अनुकूलता होने पर इन्द्र ने प्रथम ही मांगलिक कार्य किया और फिर उसी अयोध्या पुरी के बीच में जिनमन्दिर की रचना की। इसके बाद पूर्व दक्षिण पश्चिम तथा उत्तर इस प्रकार चारों दिशाओं में भी यथाक्रम से जिनमन्दिरों की रचना की ॥१४९-१५०॥

तदनन्तर कौशल आदि महादेश, अयोध्या आदि नगर, वन और सीमासहित गाँव तथा खेड़ों आदि की रचना की थी ॥१५१॥

सुकोशल, अवन्ती, पुण्ड्र, उण्ड्र, अश्मक, रम्यक, कुरु, काशी, कलिंग, अंग, बंग, सुहा, समुद्रक, काश्मीर, उशीनर, आनर्त, वस्तु, पंचाल, मालव, दशार्ण, कच्छ, मगध, विदर्भ, कुरुजांगल, करहाट, महाराष्ट्र, सुराष्ट्र, आभीर, कोंकण, वनवास, आन्ध्र, कर्णाट, कोशल, चोल, केरल, दारु, अभिसार, सौवीर, शूरसेन, अपरान्तक, विदेह, सिन्धु, गान्धार, भवन, चेदि, पल्लव, काम्बोज, आरट्ट, वाह्लीक, तुरुष्क, शक और केकय इन देशों की रचना की तथा इनके सिवाय उस समय और भी अनेक देशों का विभाग किया ॥१५२-१५६॥

इन्द्र ने उन देशों में से कितने ही देश यथासम्भव रूप से अदेवमातृक अर्थात् नदी-नहरों आदि से सींचे जाने वाले, कितने ही देश देवमातृक अर्थात् वर्षा के जल से सींचे जानेवाले और कितने ही देश साधारण अर्थात् दोनों से सींचे जाने वाले निर्माण किये थे ॥१५७॥ जो पहले नहीं थे नवीन ही प्रकट हुए थे ऐसे देशों से वह पृथिवीतल ऐसा सुशोभित होता था मानो कौतुकवश स्वर्ग के टुकड़े ही आये हों ॥ १५८॥

विजयार्ध पर्वत के समीप से लेकर समुद्र पर्यन्त कितने ही देश साधारण थे, कितने ही बहुत जल वाले थे और कितने ही जल की दुर्लभता से सहित थे, उन देशों से व्याप्त हुई पृथिवी भारी सुशोभित होती थी ॥१५९॥

जिस प्रकार स्वर्ग के धामों-स्थानों की सीमाओं पर लोकपाल देवों के स्थान होते हैं उसी प्रकार उन देशों की अन्त सीमाओं पर भी सब ओर अन्तपाल अर्थात् सीमारक्षक पुरुषों के किले बने हुए थे ॥१६०॥

उन देशों के मध्य में और भी अनेक देश थे जो लुब्धक, आरण्य, चरट, पुलिन्द तथा शबर आदि म्लेच्छ जाति के लोगों के द्वारा रक्षित रहते थे ॥१६१॥

उन देशों के मध्यभाग में कोट, प्राकार, परिखा, गोपुर और अटारी आदि से शोभायमान राजधानी सुशोभित हो रही थीं ॥१६२॥

जिनका दूसरा नाम स्थानीय है ऐसे राजधानीरूपी किले को घेरकर सब ओर शास्त्रोक्त लक्षण वाले गाँवों आदि की रचना हुई थी ॥१६३॥ जिनमें बाड़ से घिरे हुए घर हों, जिनमें अधिकतर शूद्र और किसान लोग रहते हों तथा जो बगीचा और तालाबों से सहित हों, उन्हें ग्राम कहते हैं ॥१६४॥

जिसमें सौ घर हो उसे निकृष्ट अर्थात् छोटा गाँव कहते हैं तथा जिसमें पाँच सौ घर हों और जिसके किसान धनसम्पन्न हो उसे बड़ा गाँव कहते हैं ॥१६५॥

छोटे गाँवों की सीमा एक कोस की और बड़े गाँवों की सीमा दो कोस की होती है। इन गाँवों के धान के खेत सदा सम्पन्न रहते हैं और इनमें घास तथा जल भी अधिक रहता है ॥१६६॥

नदी, पहाड़, गुफा, श्मशान, क्षीरवृक्ष अर्थात् थूवर आदि के वृक्ष, बबूल आदि कँटीले वृक्ष, वन और पुल ये सब उन गाँवों की सीमा के चिह्न कहलाते हैं अर्थात् नदी आदि से गाँवों की सीमा का विभाग किया जाता है ॥१६७॥

गाँव के बसाने और उपभोग करने वालों के योग्य नियम बनाना, नवीन वस्तु के बनाने और पुरानी वस्तु की रक्षा करने के उपाय, वहाँ के लोगों से बेगार कराना, अपराधियों का दण्ड करना तथा जनता से कर वसूल करना आदि कार्य राजाओं के अधीन रहते थे ॥१६८॥

जो परिखा, गोपुर, अटारी, कोट और प्राकार से सुशोभित हों, जिसमें अनेक भवन बने हुए हों, जो बगीचे और तालाबों से सहित हो, जो उत्तम रीति से अच्छे स्थान पर बसा हुआ हो, जिसमें पानी का प्रवाह पूर्व और उत्तर के बीच वाली ईशान दिशा की ओर हो और जो प्रधान पुरुषों के रहने के योग्य हो वह प्रशंसनीय पुर अथवा नगर कहलाता है ॥१६९-१७०॥

जो नगर नदी और पर्वत से घिरा हुआ हो उसे बुद्धिमान् पुरुष खेट कहते हैं और जो केवल पर्वत से घिरा हुआ हो उसे खर्वट कहते हैं ॥ १७१॥

जो पाँच सौ गाँवों से घिरा हो उसे पण्डितजन मडम्ब मानते हैं और जो समुद्र के किनारे हो तथा जहाँ पर लोग नावों के द्वारा उतरते हैं- (आते-जाते हैं) उसे पत्तन कहते हैं ॥१७२॥

जो किसी नदी के किनारे पर हो उसे द्रोणमुख कहते हैं और जहाँ मस्तक पर्यन्त ऊँचे-ऊँचे धान्य के ढेर लगे हो वह संवाह कहलाता है ॥ १७३ ॥

इस प्रकार पृथिवी पर जहाँ-तहाँ अपने-अपने योग्य स्थानों के अनुसार कहीं-कहीं पर ऊपर कहे हुए गाँव नगर आदि की रचना हुई थी ॥ १७४ ॥

एक राजधानी में आठ सौ गाँव होते हैं, एक द्रोणमुख में चार सौ गाँव होते हैं और एक खर्वट में दो सौ गाँव होते हैं । दश गाँवों के बीच जो एक बड़ा भारी गाँव होता है उसे संग्रह (जहाँ पर हर एक वस्तुओं का संग्रह रखा जाता हो) कहते हैं । इसी प्रकार घोष तथा आकर आदि के लक्षणों की भी कल्पना कर लेनी चाहिए अर्थात् वहाँ पर बहुत घोष (अहीर) रहते हैं उसे घोष कहते हैं और जहाँ पर सोने चाँदी आदि की खान हुआ करती है उसे आकर कहते हैं ॥ १७५-१७६ ॥

इस प्रकार इन्द्र ने बड़े अच्छे ढंग से नगर, गाँवों आदि का विभाग किया था इसलिए वह उसी समय से पुरन्दर इस सार्थक नाम को प्राप्त हुआ था ॥ १७७ ॥

तदनन्तर इन्द्र भगवान की आज्ञा से इन नगर, गाँव आदि स्थानों में प्रजा को बसाकर कृतकृत्य होता हुआ प्रभु की आज्ञा लेकर स्वर्ग को चला गया ॥ १७८ ॥

अग्नि, मणि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प ये छह कार्य प्रजा की आजीविका के कारण हैं । भगवान् वृषभदेव ने अपनी बुद्धि की कुशलता से प्रजा के लिए इन्हीं छह कर्मों द्वारा वृत्ति (आजीविका) करने का उपदेश दिया था सो ठीक ही है क्योंकि उस समय जगद्गुरु भगवान् सरागी ही थे वीतराग नहीं थे । भावार्थ-सांसारिक कार्यों का उपदेश सराग अवस्था में दिया जा सकता है ॥ १७९-१८० ॥

उन छह कर्मों में से तलवार आदि शस्त्र धारणकर सेवा करना असिकर्म कहलाता है, लिखकर आजीविका करना मणिकर्म कहलाता है, जमीन को जोतना-बोना कृषिकर्म कहलाता है, शास्त्र अर्थात् पढ़ाकर या नृत्य-गायन आदि के द्वारा आजीविका करना विद्याकर्म है, व्यापार करना वाणिज्य है और हस्त की कुशलता से जीविका करना शिल्पकर्म है । वह शिल्पकर्म चित्र खींचना, फूल-पत्ते काटना आदि की अपेक्षा अनेक प्रकार का माना गया है ॥ १८१-१८२ ॥

उसी समय आदि ब्रह्मा भगवान् वृषभदेव ने तीन वर्णों की स्थापना की थी जो कि क्षत्रियाण अर्थात् विपत्ति से रक्षा करना आदि गुणों के द्वारा क्रम से क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र कहलाते थे ॥ १८३ ॥

उस समय जो शास्त्र धारणकर आजीविका करते थे वे क्षत्रिय हुए, जो खेती, व्यापार तथा पशुपालन आदि के द्वारा जीविका करते थे वे वैश्य कहलाते थे और जो उनकी सेवा-शुश्रूषा करते थे वे शूद्र कहलाते थे । वे शूद्र दो प्रकार के थे-एक कारु और दूसरा अकारु । धोबी आदि शूद्र कारु कहलाते थे और उनसे भिन्न अकारु कहलाते थे । कारु शूद्र भी स्पृश्य तथा अस्पृश्य के भेद से दो प्रकार के माने गये हैं उनमें जो प्रजा से बाहर रहते हैं उन्हें अस्पृश्य अर्थात् स्पर्श करने के अयोग्य कहते हैं और नाई वगैरह को स्पृश्य अर्थात् स्पर्श करने के योग्य कहते हैं ॥ १८४-१८६ ॥

उस समय प्रजा अपने-अपने योग्य कर्मों को यथायोग्य रूप से करती थी । अपने वर्ण की निश्चित आजीविका को छोड़कर कोई दूसरी आजीविका नहीं करता था इसलिए उनके कार्यों में कभी शंकर (मिलावट) नहीं होता था । उनके विवाह, जाति सम्बन्ध तथा व्यवहार आदि सभी कार्य भगवान आदिनाथ की आज्ञानुसार ही होते थे ॥ १८७ ॥

उस समय संसार में जितने पापरहित आजीविका के उपाय थे वे सब भगवान वृषभदेव की सम्मति में प्रवृत्त हुए थे सो ठीक है क्योंकि सनातन ब्रह्मा भगवान् वृषभदेव ही है ॥ १८८ ॥

चूँकि युग के आदि ब्रह्मा भगवान् वृषभदेव ने इस प्रकार कर्मयुग का प्रारम्भ किया था इसलिए पुराण के जाननेवाले उन्हें कृतयुग नाम से जानते हैं ॥ १८९ ॥

कृतकृत्य भगवान वृषभदेव आषाढमास के कृष्णपक्ष की प्रतिपदा के दिन कृतयुग का प्रारम्भ करके प्राजापत्य (प्रजापतिपते) को प्राप्त हुए थे अर्थात् प्रजापति कहलाने लगे थे ॥ १९० ॥

इस प्रकार जब कितना ही समय व्यतीत हो गया और छह कर्मों की व्यवस्था से जब प्रजा कुशलतापूर्वक सुख से रहने लगी तब देवों ने आकर शीघ्र ही उनका सम्राट् पद पर अभिषेक किया । उस समय उनका प्रभाव स्वर्गलोक और पृथ्वीलोक में खूब ही प्रकट हो रहा था ॥

१९१-१९२॥

यद्यपि भगवान् के राज्याभिषेक का अन्य विशेष वर्णन करने से कोई लाभ नहीं है इतना वर्णन कर देना ही बहुत है कि आदर से भरे हुए देवों ने दिव्य जल से उन आदि ब्रह्मा भगवान् वृषभदेव का अभिषेक किया था तथापि उसका कुछ अन्य वर्णन कर दिया जाता है क्योंकि प्रायः साधारण मनुष्य अत्यन्त प्रसिद्ध बात को भी नहीं जानते हैं ॥१९३-१९४॥

उस समय समस्त संसार आनन्द से भर गया था, देव लोग इन्द्र को आगे कर स्वर्ग से अवतीर्ण हुए थे-उतरकर अयोध्यापुरी आये थे ॥

१९५॥

उस समय अयोध्यापुरी खूब ही सजायी गयी थी । उसके मकानों के अग्रभाग पर बाँधी गयी पताकाओं से समस्त आकाश भर गया था ॥

१९६॥

उस समय राजमन्दिर में बड़ी आनन्द-भेरियाँ बज रही थी, वार स्त्रियाँ मंगलगान गा रही थीं और देवांगनाएँ नृत्य कर रही थीं ॥१९७॥

देवों के बन्दीजन मंगलों के साथ-साथ भगवान् के पराक्रम पढ़ रहे थे और देव लोग सन्तोष से 'जय जीव' इस प्रकार की घोषणा कर रहे थे ॥१९८॥

राज्याभिषेक के प्रथम ही पृथिवी के मध्यभाग में जहाँ मिट्टी की वेदी बनायी गयी थी और उस वेदी पर जहाँ देव-कारीगरों ने बहुमूल्य-श्रेष्ठ आनन्दमण्डप बनाया था, जो रत्नों के चूर्णसमूह से बनी हुई रंगावली से चित्रित हो रहा था, जो नवीन खिले हुए बिखरे गये पुष्पों के समूह से सुशोभित था, जहाँ मणियों से जड़ी हुई जमीन में ऊपर लटकते हुए मोतियों का प्रतिबिम्ब पड़ रहा था, जहाँ रेशमी वस्त्र के शोभायमान चंदोवा की छाया से रंगभूमि चित्रित हो रही थी, जहाँ मंगल द्रव्यों को धारण करने वाली देवांगनाओं से आने-जाने का मार्ग रुक गया था, जहाँ समीप में बड़े-बड़े मंगलद्रव्य रखे हुए थे, जहाँ देवों की अप्सराएँ अपने हाथों से चंचल चमर ढोल रही थीं, जहाँ स्नान की सामग्री को लोग परस्पर एक दूसरे के हाथ में दे रहे थे, जहाँ लीलापूर्वक पैर रखकर इधर-उधर चलती हुई देवांगनाओं के रुनझुन शब्द करते हुए नुपूरों की झनकार से दशों दिशाएँ शब्दायमान हो रही थीं, और जहाँ अनेक मंगलद्रव्यों का संग्रह हो रहा था ऐसे राजमहल के आँगनरूपी रंगभूमि में योग्य सिंहासन पर पूर्व दिशा की ओर मुख करके भगवान् वृषभदेव को बैठाया और जब गन्धर्व देवों के द्वारा प्रारम्भ किए हुए संगीत के समय होने वाला मृदंग का गम्भीर शब्द समस्त दिक्पटों के साथ-साथ तीन लोकरूपी कुटी के मध्य में व्याप्त हो रहा था तथा नृत्य करती हुई देवांगनाओं के पढ़ें जाने वाले संगीत के स्वर में स्वर मिलाकर किन्नर जाति की देवियाँ कानों को सुख देने वाला भगवान् का यश गा रही थीं उस समय देवों ने तीर्थोदक से भरे हुए सुवर्ण के कलशों से भगवान् वृषभदेव का अभिषेक करना प्रारम्भ किया ॥

१९५-२०८॥

भगवान् के राज्याभिषेक के लिए गंगा और सिन्धु इन दोनों महानदियों का वह जल लाया गया था जो हिमवतपर्वत की शिखर से धारा रूप में नीचे गिर रहा था तथा जिसने पृथ्वीतल को छुआ तक भी नहीं था । भावार्थ-नीचे गिरने से पहले ही जो बरतनों में भर लिया गया था ॥२०९॥ इसके सिवाय गंगाकुण्ड से गंगा नदी का स्वच्छ जल लाया गया था और सिन्धुकुण्ड से सिन्धु नदी का निर्मल जल लाया गया था ॥२१०॥

इसी प्रकार ऊपर से पड़ती हुई अन्य नदियों का स्वच्छ जल भी उनके गिरने के कुण्डों से लाया गया था ॥२११॥

श्री ह्री आदि देवियाँ भी पद्म आदि सरोवरों का जल लायी थीं जो कि सुवर्णमय कमलों की केसर के समूह से पीतवर्ण हो रहा था ॥२१२॥

सायंकाल के समय खिलने वाले सुगन्धित कमलों की सुगन्ध से मधुर, अतिशय मनोहर और नीलकमलों सहित तालाबों का जल लाया गया था । जो बाहर प्रकट हुए मोतियों के समूह से अत्यन्त श्रेष्ठ है ऐसा लवणसमुद्र का जल भी लाया गया था ॥२१३॥

नन्दीश्वर द्वीप में जो अत्यन्त स्वच्छ जल से भरी हुई नन्दोत्तरा आदि वापिकाएँ हैं उनका भी स्वच्छ जल लाया गया था ॥२१४॥

इसके सिवाय क्षीरसमुद्र, नन्दीश्वर समुद्र तथा स्वयम्भूरमण समुद्र का भी जल सुवर्ण के बने हुए दिव्य कलशों में भरकर लाया गया था ॥

२१५॥

इस प्रकार ऊपर कहे हुए प्रसिद्ध जल से जगद्गुरु भगवान् वृषभदेव का अभिषेक किया गया था । चूँकि भगवान् का शरीर स्वयं ही पवित्र था अतः अभिषेक से वह क्या पवित्र होता ? केवल भगवान् ने ही अपने स्वयं पवित्र अंगों से उस जल को पवित्र कर दिया था ॥२१६॥

उस समय भगवान् के मस्तक पर देवों के द्वारा छोड़ी हुई जल की धारा ऐसी शोभायमान हो रही थी मानो उस मस्तक को राज्यलक्ष्मी का

आश्रय समझ कर ही छोड़ी गयी हो ॥२१७॥

चर और अचर पदार्थों के गुरु भगवान् वृषभदेव के मस्तक पर पड़ती हुई जल की छटाएं ऐसी शोभायमान होती थीं मानो संसार का सन्ताप नष्ट करने वाली और निर्मल गुणों की सम्पदाएं ही हों ॥२१८॥

यद्यपि भगवान् का शरीर स्वभाव से ही पवित्र था तथापि इन्द्र ने गंगा नदी के जल से उसका अभिषेक किया था इसलिए उसकी पवित्रता और अधिक हो गयी थी ॥२१९॥

उस समय इन्द्रों ने केवल भगवान् के अंगों का ही प्रक्षालन नहीं किया था किन्तु देखने वाले पुरुषों की मनोवृत्ति, नेत्र और शरीर का भी प्रक्षालन किया था । भावार्थ-भगवान् का राज्याभिषेक देखने में मनुष्य के मन, नेत्र तथा समस्त शरीर पवित्र हो गये थे ॥२२०॥

उस समय नृत्य करती हुई देवांगनाओं के कटाक्षरूपी बाण उस जल के प्रवाह में प्रतिबिम्बित हो रहे थे इसलिए ऐसे मालूम होते थे मानो उन पर तेज पानी रखा गया हो और इसलिए वे मनुष्यों के चित्त को भेदन कर रहे थे । भावार्थ-देवांगनाओं के कटाक्षों से देखने वाले मनुष्य के चित्त भिद जाते थे ॥२२१॥

भगवान् के शरीर के संसर्ग से पवित्र हुई निर्मल जल से समस्त पृथिवी व्याप्त हो गयी थी इसलिए वह ऐसी जान पड़ती थी मानो स्वामी वृषभदेव की राज्य-सम्पदा से सन्तुष्ट होकर अपने शुभ भाग्य से बढ़ ही रही हो ॥२२२॥

इन्द्र जब सुवर्ण के बने हुए कलशों से भगवान् का अभिषेक करते थे तब भगवान् ऐसे सुशोभित होते थे जैसे कि सायंकाल में होने वाले बादलों से मेरु पर्वत सुशोभित होता है ॥२२३॥

नाभिराज को आदि लेकर जो बड़े-बड़े राजा थे उन सभी ने सब राजाओं में श्रेष्ठ यह वृषभदेव वास्तव में राजा के योग्य है ऐसा मानकर उनका एक साथ अभिषेक किया था ॥२२४॥

नगरनिवासी लोगों ने भी किसी ने कमलपत्र के बने हुए दोने से और किसी ने मिट्टी के घड़े से सरयू नदी का जल लेकर भगवान् के चरणों का अभिषेक किया था ॥२२५॥

मागध आदि व्यन्तर देवों के इन्द्रों ने तीन ज्ञान को धारण करने वाले भगवान् वृषभदेव की 'यह हमारे देश के स्वामी हैं' ऐसा मानकर प्रीतिपूर्वक पवित्र अभिषेक के द्वारा पूजा की थी ॥२२६॥

भगवान् वृषभदेव का सबसे पहले तीर्थजल से अभिषेक किया था फिर कषाय जल से अभिषेक किया गया और फिर सुगन्धित द्रव्यों से मिले हुए सुगन्धित जल से अन्तिम अभिषेक किया गया था ॥२२७॥

तदनन्तर जिनका अभिषेक किया जा चुका है ऐसे भगवान् ने कुछ-कुछ गरम जल से भरे हुए स्नान करने योग्य सुवर्ण के कुण्ड में प्रवेश कर सुखकारी स्नान का अनुभव किया था ॥२२८॥

भगवान् ने स्नान करने के अन्त में जो माला, वस्त्र और आभूषण उतारकर पृथिवी पर छोड़ दिये थे-डाल दिये थे उनसे वह पृथ्वीरूपी स्त्री ऐसी मालूम होती थी मानो उसे स्वामी के शरीर का स्पर्श करने वाली वस्तुएं ही प्रदान की गयी हो । भावार्थ-लोक में स्त्री पुरुष प्रेमवश एक दूसरे के शरीर से छुए गये वस्त्राभूषण धारण करते हैं यहाँ पर आचार्य ने भी उसी लोकप्रसिद्ध बात को उत्प्रेक्षालंकार में गुम्फित किया है ॥२२९॥

इस प्रकार जब देवों के बन्दीजन उच्च स्वर से शुभस्नानसूचक मंगल-पाठ पढ़ रहे थे तब भगवान् वृषभदेव ने राज्यलक्ष्मी को धारण करने अथवा उसके साथ विवाह करने योग्य स्नान को प्राप्त किया था ॥२३०॥

तदनन्तर जिनका अभिषेक पूर्ण हो चुका है और जिनकी आरती की जा चुकी है ऐसे भगवान् को देवों ने स्वर्ग से लाये हुए माला, आभूषण और वस्त्र आदि से अलंकृत किया ॥२३१॥

'महामुकुटबद्ध राजाओं के अधिपति भगवान् वृषभदेव ही हैं' यह कहते हुए महाराज नाभिराज ने अपने मस्तक का मुकुट अपने हाथ से उतारकर भगवान् के मस्तक पर धारण किया था ॥२३२॥

जगत् मात्र के बन्धु भगवान् वृषभदेव के ललाट पर पट्टबन्ध भी रखा जो कि ऐसा मालूम होता था मानो यहाँ-वहाँ भागने वाली चंचल राज्यलक्ष्मी को स्थिर करने वाला एक बन्धन ही हो ॥२३३॥

उस समय भगवान् मालाएँ पहने हुए थे, उत्तम बल धारण किये हुए थे, उनके दोनों कानों में कुण्डल सुशोभित हो रहे थे । वे मस्तक पर

लक्ष्मी के क्रीड़ाचल के समान मुकुट धारण किये हुए थे, कण्ठ में हारलता और कमर में करधनी पहने हुए थे । जिस प्रकार हिमवान् पर्वत गंगा का प्रवाह धारण करता है उसी प्रकार वे भी अपने कन्धे पर यज्ञोपवीत धारण किये थे । उनकी दोनों लम्बी भुजाएं कड़े, बाजूबन्द और अनन्त आदि आभूषणों से विभूषित थीं । उन भुजाओं से भगवान् ऐसे मालूम होते थे मानो शोभायमान बड़ी-बड़ी शाखाओं से सहित चलता-फिरता कल्पवृक्ष ही हो । उनके चरण नीलमणि के बने हुए नुपूरों से सहित थे इसलिए ऐसे जान पड़ते थे मानो जिन पर भ्रमर बैठे हुए हैं ऐसे खिले हुए दो लाल कमल ही हों । इस प्रकार प्रत्येक अंग में पहने हुए आभूषणरूपी सम्पदा से आदि ब्रह्मा भगवान् वृषभदेव ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो भूषणांग जाति के कल्पवृक्ष ही हो ॥२३४-२३८॥

तदनन्तर नाट्यशास्त्र को जानने वाला इन्द्र उस सभारूपी रंगभूमि में आनन्द के साथ आनन्द नाम का नाटक कर स्वर्ग को चला गया ॥ २३९॥

जो अपना कार्य समाप्त कर चुके हैं और जिनके चित्त की वृत्ति भगवान् के चरणों की सेवा में लगी हुई है ऐसे देव और असुर उस इन्द्र के साथ ही अपने-अपने स्थानों पर चले गये ॥२४०॥

अथानन्तर कर्मभूमि की रचना करने वाले भगवान् वृषभदेव ने राज्य पाकर महाराज नाभिराज के समीप ही प्रजा का पालन करने के लिए नीचे लिखे अनुसार प्रयत्न किया ॥२४१॥

भगवान् ने सबसे पहले प्रजा की सृष्टि (विभाग आदि) की, फिर उसकी आजीविका के नियम बनाये और फिर वह अपनी-अपनी मर्यादा का उल्लंघन न कर सकें इस प्रकार के नियम बनाये । इस तरह वे प्रजा का शासन करने लगे ॥२४२॥

उस समय भगवान् ने अपनी दोनों भुजाओं में शस्त्र धारण कर क्षत्रियों की सृष्टि की थी, अर्थात् उन्हें शस्त्रविद्या का उपदेश दिया था, सो ठीक ही है, क्योंकि जो हाथों में हथियार लेकर सबल शत्रुओं के प्रहार से निर्बलों की रक्षा करते हैं वे ही क्षत्रिय कहलाते हैं ॥२४३॥

तदनन्तर भगवान् ने अपने ऊरुओं से यात्रा दिखलाकर अर्थात् परदेश जाना सिखलाकर वैश्यों की रचना की सो ठीक ही है, क्योंकि जल स्थल आदि प्रदेशों में यात्रा कर व्यापार करना ही उनकी मुख्य आजीविका है ॥२४४॥

हमेशा नीच (दैन्य) वृत्ति में तत्पर रहने वाले शूद्रों की रचना बुद्धिमान् वृषभदेव ने पैरों से ही की थी क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन उत्तम वर्णों की सेवा-शुश्रूषा आदि करना ही उनकी अनेक प्रकार की आजीविका है ॥२४५॥

इस प्रकार तीन वर्णों की सृष्टि तो स्वयं भगवान् वृषभदेव ने की थी, उनके बाद भगवान् वृषभदेव के बड़े पुत्र महाराज भरत सुख से शास्त्रों का अध्ययन कराते हुए ब्राह्मणों की रचना करेंगे, स्वयं पढ़ना, दूसरों को पढ़ाना, दान लेना तथा पूजा यज्ञ आदि करना उनके कार्य होंगे ॥ २४६॥

(विशेष-वर्ण सृष्टि की ऊपर कही हुई सत्य व्यवस्था को न मानकर अन्य मतावलम्बियों ने जो यह मान रखा है कि ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, ऊरुओं से वैश्य और पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए थे सो वह मिथ्या कल्पना ही है ।) वर्णों की व्यवस्था तब तक सुरक्षित नहीं रह सकती जब तक कि विवाह सम्बन्धी व्यवस्था न की जाये, इसलिए भगवान् वृषभदेव ने विवाह व्यवस्था इस प्रकार बनायी थी कि शूद्र शूद्रकन्या के साथ ही विवाह करे, वह ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की कन्या के साथ विवाह नहीं कर सकता । वैश्य वैश्यकन्या तथा शूद्रकन्या के साथ विवाह करे, क्षत्रिय क्षत्रियकन्या, वैश्यकन्या और शूद्रकन्या के साथ विवाह करे, तथा ब्राह्मण ब्राह्मणकन्या के साथ ही विवाह करे, परन्तु कभी किसी देश में वह क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कन्याओं के साथ भी विवाह कर सकता है ॥२४७॥

उस समय भगवान् ने यह भी नियम प्रचलित किया था कि जो कोई अपने वर्ण की निश्चित आजीविका छोड़कर दूसरे वर्ण की आजीविका करेगा वह राजा के द्वारा दण्डित किया जायेगा क्योंकि ऐसा न करने से वर्णसंकीर्णता हो जायेगी अर्थात् सब वर्ण एक हो जायेंगे-उनका विभाग नहीं हो सकेगा ॥२४८॥

भगवान् आदिनाथ ने विवाह आदि की व्यवस्था करने के पहले ही असि, मषि, कृषि, सेवा, शिल्प और वाणिज्य इन छह कर्मों की व्यवस्था कर दी थी । इसलिए उक्त छह कर्मों की व्यवस्था होने से यह कर्मभूमि कहलाने लगी थी ॥२४९॥

इस प्रकार ब्रह्मा-आदिनाथ ने प्रजा का विभाग कर उनके योग (नवीन वस्तु की प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्त हुई वस्तु की रक्षा) की व्यवस्था के लिए युक्तिपूर्वक हा, मा और धिक्कार इन तीन दण्डों की व्यवस्था की थी ॥२५०॥

दुष्ट पुरुषों का निग्रह करना अर्थात् उन्हें दण्ड देना और सज्जन पुरुषों का पालन करना यह क्रम कर्मभूमि से पहले अर्थात् भोगभूमि में

नहीं था क्योंकि उस समय पुरुष निरपराध होते थे-किसी प्रकार का अपराध नहीं करते थे ॥२५१॥

कर्मभूमि में दण्ड देने वाले राजा का अभाव होने पर प्रजा मात्स्यन्याय का आश्रय करने लगेगी अर्थात् जिस प्रकार बलवान् मच्छ छोटे मच्छों को खा जाते हैं उसी प्रकार अन्तरंग का दुष्ट बलवान् पुरुष, निर्बल पुरुष को निगल जायेगा ॥२५२॥

यह लोग दण्ड के भय से कुमार्ग की ओर नहीं दौड़ेंगे इसलिए दण्ड देने वाले राजा का होना उचित ही है और ऐसा राजा ही पृथिवी को जीत सकता है ॥२५३॥

जिस प्रकार दूध देने वाली गाय से उसे बिना किसी प्रकार की पीड़ा पहुँचाये दूध दुहा जाता है और ऐसा करने से वह गाय भी सुखी रहती है तथा दूध दुहने वाले की आजीविका भी चलती रहती है उसी प्रकार राजा को भी प्रजा से धन वसूल करना चाहिए। वह धन अधिक पीड़ा न देने वाले करें (टैक्सों) से वसूल किया जा सकता है। ऐसा करने से प्रजा भी दुःखी नहीं होती और राज्य व्यवस्था के लिए योग्य धन भी सरलता से मिल जाता है ॥२५४॥

इसलिए भगवान् वृषभदेव ने नीचे लिखे हुए पुरुषों को दण्डधर (प्रजा को दण्ड देने वाला) राजा बनाया है सो ठीक ही है क्योंकि प्रजा के योग और क्षेम का विचार करना उन राजाओं के ही अधीन होता है ॥२५५॥

भगवान् ने हरि, अकम्पन, काश्यप और सोमप्रभ इन चार महा भाग्यशाली क्षत्रियों को बुलाकर उनका यथोचित सम्मान और सत्कार किया। तदनन्तर राज्याभिषेक कर उन्हें महामाण्डलिक राजा बनाया। ये राजा चार हजार अन्य छोटे-छोटे राजाओं के अधिपति थे ॥

२५६-२५७॥

सोमप्रभ, भगवान् से कुरुराज नाम पाकर कुरुदेश का राजा हुआ और कुरुवंश का शिखामणि कहलाया ॥२५८॥

हरि, भगवान् की आज्ञा से हरिकान्त नाम को धारण करता हुआ हरिवंश को अलंकृत करने लगा क्योंकि वह श्रीमान् हरिपराक्रम अर्थात् इन्द्र अथवा सिंह के समान पराक्रमी था ॥२५९॥

अकम्पन भी, भगवान् से श्रीधर नाम पाकर उनकी प्रसन्नता से नाथवंश का नायक हुआ ॥२६०॥

और काश्यप भी जगद्गुरु भगवान् से मधवा नाम प्राप्त कर उग्रवंश का मुख्य राजा हुआ सो ठीक ही है। स्वामी की सम्पदा से क्या नहीं मिलता है? अर्थात् सब कुछ मिलता है ॥२६१॥

तदनन्तर भगवान् आदिनाथ ने कच्छ महाकच्छ आदि प्रमुख-प्रमुख राजाओं का सत्कार कर उन्हें अधिराज के पद पर स्थापित किया ॥ २६२॥

इसी प्रकार भगवान् ने अपने पुत्रों के लिए भी यथायोग्य रूप से महल, सवारी तथा अन्य अनेक प्रकार की सम्पत्ति का विभाग कर दिया था सो ठीक ही है क्योंकि राज्य प्राप्ति का यही तो फल है ॥२६३॥

उस समय भगवान् ने मनुष्यों को इक्षु का रस संग्रह करने का उपदेश दिया था इसलिए जगत् के लोग उन्हें इक्ष्वाकु कहने लगे ॥२६४॥

'गो' शब्द का अर्थ स्वर्ग है जो उत्तम स्वर्ग हो उसे सज्जन पुरुष 'गौतम' कहते हैं। भगवान् वृषभदेव स्वर्गों में सबसे उत्तम सर्वार्थसिद्धि से आये थे इसलिए वे 'गौतम' इस नाम को भी प्राप्त हुए थे ॥२६५॥

'काश्य' तेज को कहते हैं भगवान् वृषभदेव उस तेज के रक्षक थे इसलिए 'काश्यप' कहलाते थे। उन्होंने प्रजा की आजीविका के उपायों का भी मनन किया था इसलिए वे मनु और कुलधर भी कहलाते थे ॥२६६॥

इनके सिवाय तीनों जगत् के स्वामी और विनाशरहित भगवान् को प्रजा 'विधाता' विश्वकर्मा और 'स्रष्टा' आदि अनेक नामों से पुकारती थी ॥२६७॥

भगवान् का राज्यकाल तिरसठ लाख पूर्व नियमित था सो उनका वह भारी काल, पुत्र-पौत्र आदि से घिरे रहने के कारण बिना जाने ही व्यतीत हो गया अर्थात् पुत्र-पौत्र आदि के सुख का अनुभव करते हुए उन्हें इस बात का पता भी नहीं चला कि मुझे राज्य करते समय कितना समय हो गया है ॥२६८॥

महा देदीप्यमान भगवान् वृषभदेव ने अयोध्या के राज्यसिंहासन पर आसीन होकर पुण्योदय से प्राप्त हुई साम्राज्यलक्ष्मी का सुख से अनुभव किया था ॥२६९॥

इस प्रकार सुर और असुरों के गुरु तथा अचिन्त्य धैर्य के धारण करने वाले भगवान् वृषभदेव को इन्द्र उनके विशाल पुण्य के संयोग से

भोगोपभोग की सामग्री भेजता रहता था जिससे वे सुखपूर्वक सन्तोष को प्राप्त होते रहते थे । इसलिए हे पण्डितजन, पुण्योपार्जन करने में प्रयत्न करो ॥२७०॥

इस संसार में पुण्य से ही सुख प्राप्त होता है । जिस प्रकार बीज के बिना अंकुर उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार पुण्य के बिना सुख नहीं होता । दान देना, इन्द्रियों को वश करना, संयम धारण करना, सत्यभाषण करना, लोभ का त्याग करना, और क्षमाभाव धारण करना आदि शुभ चेष्टाओं से अभिलषित पुण्य की प्राप्ति होती है ॥२७१॥

सुर, असुर, मनुष्य और नागेन्द्र आदि के उत्तम-उत्तम भोग, लक्ष्मी, दीर्घ आयु, अनुपम रूप, समृद्धि, उत्तम वाणी, चक्रवर्ती का साम्राज्य, इन्द्रपद, जिसे पाकर फिर संसार में जन्म नहीं लेना पड़ता ऐसा अरहन्त पद और अन्तरहित समस्त सुख देने वाला श्रेष्ठ निर्वाण पद इन सभी की प्राप्ति एक पुण्य से ही होती है इसलिए हे पण्डितजन, यदि स्वर्ग और मोक्ष के अचिंत्य महिमा वाले श्रेष्ठ सुख प्राप्त करना चाहते हो तो धर्म करो क्योंकि वह धर्म ही स्वर्गों के भोग और मोक्ष के अविनाशी अनन्त सुख की प्राप्ति कराता है । वास्तव में सुख प्राप्ति होना धर्म का ही फल है ॥२७२-२७३॥

हे सुधीजन, यदि तुम सुख प्राप्त करना चाहते हो तो हर्षित होकर श्रेष्ठ मुनियों के लिए दान दो, तीर्थंकरों को नमस्कार कर उनकी पूजा करो, शीलव्रतों का पालन करो और पर्व के दिन में उपवास करना नहीं भूलो ॥२७४॥

इस प्रकार जो प्रशस्त लक्ष्मी के स्वामी थे, स्थिर रहनेवाले भोगों का अनुभव करते थे, स्नेह रखने वाले अपने पुत्र पौत्रों के साथ सन्तोष धारण करते थे । इन्द्र सूर्य और चन्द्रमा आदि उत्तम-उत्तम देव जिनकी आज्ञा धारण करते थे, और जिन पर किसी की आज्ञा नहीं चलती थी ऐसे भगवान् वृषभदेव सिंहासन पर आरूढ़ होकर इस समुद्रान्त पृथ्वी का शासन करते थे ॥२७५॥

इस प्रकार आर्ष नाम से प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण आदिपुराणसंग्रह में भगवान् के साम्राज्य का वर्णन करने वाला सोलहवां पर्व समाप्त हुआ ॥१६॥

पर्व-17 -- भगवान् का तप-कल्याणक

पर्व-17 -- भगवान् का तप-कल्याणक

कथा :

अथानन्तर किसी एक दिन सैकड़ों राजाओं से घिरे, हुए भगवान् वृषभदेव विशाल सभामण्डप के मध्यभाग में सिंहासन पर ऐसे विराजमान थे, जैसे निषध पर्वत के तटभाग पर सूर्य विराजमान होता है ॥१॥

उस प्रकार सिंहासन पर विराजमान भगवान् की सेवा करने के लिए इन्द्र, अप्सराओं और देवों के साथ, पूजा की सामग्री लेकर वहाँ आया ॥२॥

और अपने तेज से उदयाचल के मस्तक पर स्थित सूर्य को जीतता हुआ अपने योग्य सिंहासन पर जा बैठा ॥३॥

भक्ति विभोर इन्द्र ने भगवान् की आराधना करने की इच्छा से उस समय अप्सराओं और गन्धर्वों का नृत्य कराना प्रारम्भ किया ॥४॥

उस नृत्य ने भगवान् वृषभदेव के मन को भी अनुरक्त बना दिया था सो ठीक ही है, अत्यन्त शुद्ध स्फटिकमणि भी अन्य पदार्थों के संसर्ग से राग अर्थात् लालिमा धारण करता है ॥५॥

भगवान् राज्य और भोगों से किस प्रकार विरक्त होंगे यह विचारकर इन्द्र ने उस समय नृत्य करने के लिए एक ऐसे पात्र को नियुक्त किया जिसकी आयु अत्यन्त क्षीण हो गयी थी ॥६॥

तदनन्तर वह अत्यन्त सुन्दरी नीलांजना नाम की देवर्तकी रस, भाव और लयसहित फिरकी लगाती हुई नृत्य कर रही थी कि इतने में ही आयुरूपी दीपक के क्षय होने से वह क्षण-भर में अदृश्य हो गयी । जिस प्रकार बिजलीरूपी लता देखते-देखते क्षण-भर में नष्ट हो जाती है उसी प्रकार प्रभा से चंचल और बिजली के समान उज्ज्वल मूर्ति को धारण करने वाली वह देवी देखते-देखते ही क्षण-भर में नष्ट हो गयी थी । उसके नष्ट होते ही इन्द्र ने रसभंग के भय से उस स्थान पर उसी के समान शरीर वाली दूसरी देवी खड़ी कर दी जिससे नृत्य ज्यों का त्यों चलता रहा । यद्यपि दूसरी देवी खड़ी कर देने के बाद भी वही मनोहर स्थान था, वही मनोहर भूमि थी और वही नृत्य का परिक्रम था तथापि भगवान् वृषभदेव ने उसी समय उसके स्वरूप का अन्तर जान लिया था ॥७-१०॥

तदनन्तर भोगों से विरक्त और अत्यन्त संवेग तथा वैराग्य भावना को प्राप्त हुए भगवान् के चित्त में इस प्रकार चिन्ता उत्पन्न हुई कि ॥११॥

बड़े आश्चर्य की बात है कि यह जगत् विनश्वर है, लक्ष्मी बिजलीरूपी लता के समान चंचल है, यौवन, शरीर, आरोग्य और ऐश्वर्य आदि सभी चलाचल हैं ॥१२॥

रूप, यौवन और सौभाग्य के मद से उन्मत्त हुआ अज्ञ पुरुष इन सबमें स्थिर बुद्धि करता है परन्तु उनमें कौन-सी वस्तु विनश्वर नहीं है ?

अर्थात् सभी वस्तुएँ विनश्वर हैं ॥१३॥

यह रूप की शोभा संध्या काल की लाली के समान क्षणभर में नष्ट हो जाती है और उज्ज्वल तारुण्य अवस्था पल्लव की कान्ति के समान शीघ्र ही म्लान हो जाती है ॥१४॥

वन में पैदा हुई लताओं के पुष्पों के समान यह यौवन शीघ्र ही नष्ट हो जाने वाला है, भोग सम्पदाएं विषवेल के समान हैं और जीवन विनश्वर है ॥१५॥

यह आयु की स्थिति घटीयन्त्र के जल की धारा के समान शीघ्रता के साथ गलती जा रही है-कम होती जा रही है और यह शरीर अत्यन्त दुर्गन्धित तथा घृणा उत्पन्न करने वाला है ॥१६॥

यह निश्चय है कि इस असार संसार में सुख का लेश मात्र भी दुर्लभ है और दुःख बड़ा भारी है फिर भी आश्चर्य है कि मन्दबुद्धि पुरुष उसमें सुख की इच्छा करते हैं ॥१७॥

इस जीव ने नरकों में जो महान् दुःख भोगे हैं यदि उनका स्मरण भी हो जाये तो फिर ऐसा कौन है, जो उन भोगों की इच्छा करे ॥१८॥

निरन्तर आर्तध्यान करने वाले जीव जितने कुछ भोगों का अनुभव करते हैं वे सब उन्हें अत्यन्त असाता के उदय से भरे हुए नरकों में दुःखरूप होकर उदय होते हैं ॥१९॥

दुःखों से भरे हुए नरकों में कभी स्वप्न में भी सुख प्राप्त नहीं होता क्योंकि वहाँ रात-दिन दुःख ही दुःख रहता है और ऐसा दुःख जो कि दुःख के कारणभूत असाता कर्म का बन्ध करने वाला होता है ॥२०॥

उन नरकों से किसी तरह निकलकर यह मूर्ख जीव अनेक योनियों में परिभ्रमण करता हुआ तिर्यच गति के बड़े भारी दुःख भोगता है ॥२१॥

बड़े दुःख की बात है कि यह अज्ञानी जीव पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवों में भारी दुःख भोगता हुआ निरन्तर भ्रमण करता रहता है ॥२२॥

यह जीव उन पृथ्वीकायिक आदि पर्यायों में खोदा जाना, जलती हुई अग्नि में तपाया जाना, बुझाया जाना, अनेक कठोर वस्तुओं से टकरा जाना, तथा छेदा-भेदा जाना आदि के कारण भारी दुःख पाता है ॥२३॥

यह जीव घटीयन्त्र की स्थिति को धारण करता हुआ सूक्ष्म बादर पर्याप्तक तथा अपर्याप्तक अवस्था में अनेक बार परिभ्रमण करता रहता है ॥२४॥

त्रस पर्याय में भी यह प्राणी मारा जाना, बाँधा जाना और रोका जाना आदि के द्वारा जीवनपर्यन्त अनेक दुःख प्राप्त करता रहता है ॥२५॥

सबसे प्रथम इसे जन्म **अर्थात्** पैदा होने का दुःख उठाना पड़ता है, उसके अनन्तर बुढ़ापा का दुःख और फिर उससे भी अधिक मृत्यु का दुःख भोगना पड़ता है, इस प्रकार सैकड़ों दुःखरूपी भँवर से भरे हुए संसाररूपी समुद्र में यह जीव सदा डूबा रहता है ॥२६॥

यह जीव क्षण-भर में नष्ट हो जाता है, क्षण-भर में जीर्ण (वृद्ध) हो जाता है और क्षण-भर में फिर जन्म धारण कर लेता है इस प्रकार जन्म-मरण, बुढ़ापा और रोगरूपी कीचड़ में गाय की तरह सदा फंसा रहता है ॥२७॥

इस प्रकार यह अज्ञानी जीव तिर्यच योनि में अनन्त काल तक दुःख भोगता रहता है सो ठीक ही है क्योंकि जिनेन्द्रदेव भी यही मानते हैं कि तिर्यच योनि दुःखों का सबसे बड़ा स्थान है ॥२८॥

तदनन्तर अशुभ कर्मों के कुछ-कुछ मन्द होने पर यह जीव उस तिर्यच योनि से बड़ी कठिनता से बाहर निकलता है और कर्मरूपी सारथी से प्रेरित होकर मनुष्य पर्याय को प्राप्त होता है ॥२९॥

वहाँ पर भी यह जीव यद्यपि दुःखों की इच्छा नहीं करता है तथापि इसे कर्मरूपी शत्रुओं से निरुद्ध होकर अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुःख भोगने पड़ते हैं ॥३०॥

दूसरों की सेवा करना, दरिद्रता, चिन्ता और शोक आदि से मनुष्यों को जो बड़े भारी दुःख प्राप्त होते हैं वे प्रत्यक्ष नरक के समान जान पड़ते हैं ॥३१॥

यथार्थ में मनुष्यों का यह शरीर एक गाड़ी के समान है जो कि दुःखरूपी खोटे बरतनों से भरी है इसमें कुछ भी संशय नहीं है कि यह शरीररूपी गाड़ी तीन चार दिन में ही उलट जायेगी-नष्ट हो जायेगी ॥३२॥

यद्यपि देवपर्याय में जीवों को कुछ सुख प्राप्त होता है तथापि जब स्वर्ग से इसका पतन होता है तब इसे सबसे अधिक दुःख होता है ॥३३॥ उस देवपर्याय में भी इष्ट का वियोग होता है और कितने ही देव अल्प विभूति के धारक होते हैं जो कि अपने से अधिक विभूति वाले को देखकर दुःखी होते रहते हैं इसलिए उनका मानसिक दुःख भी बड़े दुःख से व्यतीत होता है ॥३४॥

इस प्रकार यह बेचारा दीन प्राणी इस संसाररूपी चक्र में अपने खोटे कर्मों के उदय से अनेक परिवर्तन करता हुआ दुःख पाता रहता है ॥ ३५॥

देखो, यह अत्यन्त मनोहर स्त्रीरूपी यन्त्र (नृत्य करने वाली नीलांजना का शरीर) हमारे साक्षात् देखते ही देखते किस प्रकार नाश को प्राप्त हो गया ॥३६॥

बाहर से उज्ज्वल दिखने वाले स्त्री के रूप को अत्यन्त मनोहर मानकर कामीजन उस पर पड़ते हैं और पड़ते ही पतंगों के समान नष्ट हो जाते हैं-अशुभ कर्मों का बन्धकर हमेशा के लिए दुःखी हो जाते हैं ॥३७॥

इन्द्र ने जो यह कपट नाटक किया है अर्थात् नीलांजना का नृत्य कराया है सो अवश्य ही उस बुद्धिमान् ने सोच-विचारकर केवल हमारे बोध कराने के लिए ही ऐसा किया है ॥३८॥

जिस प्रकार यह नीलांजना का शरीर भंगुर था-विनाशशील था इसी प्रकार जीवों के अन्य भोगोपभोगों के पदार्थ भी भंगुर हैं, अवश्य नष्ट हो जाने वाले हैं और केवल धोखा देने वाले हैं ॥३९॥

इसलिए भाररूप आभरणों से क्या प्रयोजन है, मेल के समान सुगन्धित चन्दनादि के लेपन से क्या लाभ है, पागल पुरुष की चेष्टाओं के समान यह नृत्य भी व्यर्थ है और शोक के समान ये गीत भी प्रयोजनरहित हैं ॥४०॥

यदि शरीर की निज की शोभा अच्छी है तो फिर अलंकारों से क्या करना है और यदि शरीर में निज की शोभा नहीं है तो फिर भार स्वरूप इन अलंकारों से क्या हो सकता है ? ॥४१॥

इसलिए इस रूप को धिक्कार है, इस असार संसार को धिक्कार है, इस राज्य-भोग को धिक्कार है और बिजली के समान चंचल इस लक्ष्मी को धिक्कार है ॥४२॥

इस प्रकार जिनकी आत्मा विरक्त हो गयी है ऐसे भगवान् वृषभदेव भोगों से विरक्त हुए और काललब्धि को पाकर शीघ्र ही मुक्ति के लिए उद्योग करने लगे ॥४३॥

उस समय भगवान् के हृदय में विशुद्धियों ने अपना स्थान जमा लिया था और वे ऐसी मालूम होती थीं मानो मुक्तिरूपी लक्ष्मी के द्वारा प्रेरित हुई उसकी सखियाँ ही सामने आकर उपस्थित हुई हों ॥४४॥

उस समय भगवान् मुक्तिरूपी अंगना के समागम के लिए अत्यन्त चिन्ता को प्राप्त हो रहे थे इसलिए उन्हें यह सारा जगत् शून्य प्रतिभासित हो रहा था ॥४५॥

भगवान् वृषभदेव को बोध उत्पन्न हो गया है अर्थात् वे अब संसार से विरक्त हो गए हैं ये जगद्गुरु भगवान् के अन्तःकरण की समस्त चेष्टाएं इन्द्र ने अपने अवधिज्ञान से उसी समय जान ली थी ॥४६॥

उसी समय भगवान् को प्रबोध कराने के लिए और उनके तप कल्याणक की पूजा करने के लिए लौकान्तिक देव ब्रह्मलोक से उतरे ॥४७॥

वे लौकान्तिक देव सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, वृत्ति, अव्याबाध और अरिष्ट इस तरह आठ प्रकार के हैं । वे सभी देवों में उत्तम होते हैं । वे पूर्वभव में सम्पूर्ण श्रुतज्ञान का अध्यास करते हैं । उनकी भावनाएँ शुभ रहती हैं । वे ब्रह्मलोक अर्थात् पाँचवें स्वर्ग में रहते हैं, सदा शान्त रहते हैं उनकी लेश्याएँ शुभ होती हैं, वे बड़ी-बड़ी ऋद्धियों को धारण करने वाले होते हैं और ब्रह्मलोक के अन्त में निवास करने के कारण लौकान्तिक इस नाम को प्राप्त हुए हैं ॥४८-५०॥

वे लौकान्तिक स्वर्ग के हंसों के समान जान पड़ते थे, क्योंकि वे मुक्तिरूपी नदी के तट पर निवास करने के लिए उत्कण्ठित हो रहे थे और भगवान् के दीक्षाकल्याणकरूपी शरद् ऋतु के आगमन की सूचना कर रहे थे ॥५१॥

उन लौकान्तिक देवों ने आकर जो पुष्पांजलि छोड़ी थी वह ऐसी मालूम होती थी मानो उन्होंने भगवान् के चरणों की उपासना करने के

लिए अपने चित्त के अंश ही समर्पित किए हों ॥५२॥

उन देवों ने प्रथम ही कल्पवृक्ष के फूलों से भगवान् के चरणों की पूजा की और फिर **अर्थ** से भरे हुए स्तोत्रों से भगवान की स्तुति करना प्रारम्भ की ॥५३॥

हे भगवन्, इस समय जो आपने मोहरूपी शत्रु को जीतने के उद्योग की इच्छा की है उससे स्पष्ट सिद्ध है कि आपने भव्यजीवों के साथ भाईपने का कार्य करने का विचार किया है **अर्थ**ात् भाई की तरह भव्य जीवों की सहायता करने का विचार किया है ॥५४॥

हे देव, आप परम ज्योति स्वरूप हैं, सब लोग आपको समस्त कार्यों का उत्तम कारण कहते हैं और हे देव, आप ही अज्ञानरूपी प्रपात से संसार का उद्धार करेंगे ॥५५॥

हे देव, आज आपके द्वारा दिखलाये हुए धर्मरूपी तीर्थ को पाकर भव्यजीव इस दुस्तर और भयानक संसाररूपी समुद्र से लीला मात्र में पार हो जायेंगे ॥५६॥

हे देव, जिस प्रकार सूर्य की देदीप्यमान किरणें समस्त जगत् को प्रकाशित करती हुई कमलों को प्रफुलित करती हैं उसी प्रकार आपके वचनरूपी देदीप्यमान किरणें भी समस्त संसार को प्रकाशित करती हुई भव्यजीवरूपी कमलों को प्रफुल्लित करेंगी ॥५७॥

हे देव, लोग आपको जगत् का पालन करने वाले ब्रह्मा मानते हैं, कर्मरूपी शत्रुओं को जीतने वाले विजेता मानते हैं, धर्मरूपी तीर्थ के नेता मानते हैं और सबकी रक्षा करने वाले जगद्गुरु मानते हैं ॥५८॥

हे देव, यह समस्त जगत् मोहरूपी बड़ी भारी कीचड़ में फँसा हुआ है इसका आप धर्मरूपी हाथ का सहारा देकर शीघ्र ही उद्धार करेंगे ॥ ५९॥

हे देव, आप स्वयम्भू हैं, आपने मोक्षमार्ग को स्वयं जान लिया है और आप हम सबको मुक्ति के मार्ग का उपदेश देंगे इससे सिद्ध होता है कि आपका हृदय बिना कारण ही करुणा से आर्द्र है ॥६०॥

हे भगवन् आप स्वयंभू हैं, आप मति श्रुत और अवधिज्ञानरूपी तीन निर्मल नेत्रों को धारण करने वाले हैं तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता रूपी मोक्षमार्ग को आपने आप ही जान लिया है इसलिए आप बुद्ध हैं ॥६१॥

हे देव, आपने सन्मार्ग का स्वरूप स्वयं जान लिया है इसलिए हमारे-जैसे देवों के द्वारा आप प्रबोध कराने के योग्य नहीं हैं तथापि हम लोगों का यह नियोग ही आज हम लोगों को वाचालित कर रहा है ॥६२॥

हे नाथ, समस्त जगत् को प्रबोध कराने का उद्योग करने के लिए आपको कोई अन्य प्रेरणा नहीं कर सकता सों ठीक ही है क्योंकि समस्त जगत् को प्रकाशित करने के लिए क्या सूर्य को कोई अन्य उकसाता है? **अर्थ**ात् नहीं । भावार्थ-जिस प्रकार सूर्य समस्त जगत् को प्रकाशित करने के लिए स्वयं तत्पर रहता है उसी प्रकार समस्त जगत् को प्रबुद्ध करने के लिए आप स्वयं तत्पर रहते हैं ॥६३॥

अथवा हे जन्म-मरणरहित जिनेन्द्र, आप हमारे द्वारा प्रबोधित होकर भी हम लोगों को उसी प्रकार प्रबोधित करेंगे जिस प्रकार जलाया हुआ दीपक संसार का उपकारक होता है **अर्थ**ात् सबको प्रकाशित करता है ॥६४॥

हे भगवन्, आप प्रथम गर्भकल्याणक में सद्योजात **अर्थ**ात् शीघ्र ही अवतार लेने वाले कहलाये, द्वितीय-जन्मकल्याणक में वामता अर्थात् सुन्दरता को प्राप्त हुए और अब उसके अनन्तर तृतीय-तपकल्याणक में अघोरता अर्थात् सौम्यता को धारण कर रहे हैं ॥६५॥

हे स्वामिन्, आप संसार के उपकार के लिए उद्योग कीजिए, ये भव्यजीव रूपी चातक नवीन मेघ के समान आपकी सेवा कर सन्तुष्ट हों ॥ ६६॥

हे देव, अनादि प्रवाह से चला आया यह काल अब आपके धर्मरूपी अमृत उत्पन्न करने के योग्य हुआ है इसलिए हे विधाता, धर्म की सृष्टि कीजिए-अपने सदुपदेश से समीचीन धर्म का प्रचार कीजिए ॥६७॥

हे ईश, आप अपने तपोबल से कर्मरूपी शत्रुओं को जीतिए, मोहरूपी महाअसुर को जीतिए और परीषहरूपी अहंकारी योद्धाओं को भी जीतिए ॥६८॥

हे देव, अब आप मोक्ष के लिए उठिए-उद्योग कीजिए, अनेक बार भोगे हुए इन भोगों को रहने दीजिए-छोड़िए क्योंकि जीवों के बार-बार भोगने पर भी इन भोगों के स्वाद में कुछ भी अन्तर नहीं आता-नूतनता नहीं आती ॥६९॥

इस प्रकार स्तुति करते हुए लौकान्तिक देवों ने तपश्चरण करने के लिए जिनसे प्रार्थना की है ऐसे ब्रह्मा-भगवान् वृषभदेव ने तपश्चरण करने

में दीक्षा धारण करने में अपनी दृढ़ बुद्धि लगायी ॥७०॥

वे लौकान्तिक देव अपने इतने ही नियोग से कृतार्थ होकर हंस की तरह शरीर की कान्ति से आकाशमार्ग को प्रकाशित करते हुए स्वर्ग को चले गये ॥७१॥

इतने में ही आसनों के कम्पायमान होने से भगवान् के तप-कल्याणक का निश्चय कर देव लोग अपने-अपने इन्द्रों के साथ अनेक विक्रियाओं को धारण कर प्रकट होने लगे ॥७२॥

अथानन्तर समस्त इन्द्र अपने वाहनों और अपने-अपने निकाय देवों के साथ आकाशरूपी आंगन को व्याप्त करते हुए आये और अयोध्यापुरी के चारों ओर आकाश को घेरकर अपने-अपने निकाय के अनुसार ठहर गये ॥७३॥

तदनन्तर इन्द्रादिक देवों ने भगवान् के निष्क्रमण अर्थात् तपःकल्याणक करने के लिए उस क्षीरसागर के जल से महाभिषेक किया ॥७४॥

अभिषेक कर चुकने के बाद देवों ने बड़े आदर के साथ दिव्य आभूषण, वस्त्र, मालाएँ और मलयागिरि चन्दन से भगवान् का अलंकार किया ॥७५॥

तदनन्तर भगवान् वृषभदेव ने साम्राज्य पद पर अपने बड़े पुत्र भरत का अभिषेक कर इस भारतवर्ष को उनसे सनाथ किया ॥७६॥ और युवराज पद पर बाहुबली को स्थापित किया । इस प्रकार उस समय यह पृथिवी उक्त दोनों भाइयों से अधिष्ठित होने के कारण राजन्वती अर्थात् सुयोग्य राजा से सहित हुई थी ॥७७॥

उस समय भगवान् वृषभदेव का निष्क्रमणकल्याणक और भरत का राज्याभिषेक हो रहा था इन दोनों प्रकार के उत्सवों के समय स्वर्गलोक और पृथ्वीलोक दोनों ही हर्षविभोर हो रहे थे ॥७८॥

उस समय एक ओर तो बड़े वैभव के साथ भगवान् के निष्क्रमणकल्याणक का उत्सव हो रहा था और दूसरी ओर भरत तथा बाहुबली इन दोनों राजकुमारों के लिए पृथ्वी का राज्य समर्पण करने का उत्सव किया जा रहा था ॥७९॥

एक ओर तो राजर्षि-भगवान् वृषभदेव तपरूपी राज्य के लिए कमर बाँधकर तैयार हुए थे और दूसरी ओर दोनों तरुण कुमार राज्यलक्ष्मी के साथ विवाह करने के लिए उद्यम कर रहे थे ॥८०॥

एक ओर तो देवों के शिल्पी भगवान् को वन में ले जाने के लिए पालकी का निर्माण कर रहे थे और दूसरी ओर वास्तुविद्या अर्थात् महल मण्डप आदि बनाने की विधि जानने वाले शिल्पी राजकुमारों के अभिषेक के लिए बहुमूल्य मण्डप बना रहे थे ॥८१॥

एक ओर तो इन्द्राणी देवी ने रंगावली आदि की रचना की थी-रंगीन चौक पूरे थे और दूसरी ओर यशस्वती तथा सुनन्दा देवी ने बड़े हर्ष के साथ रंगावली आदि की रचना की थी-तरह-तरह के सुन्दर चौक पूरे थे ॥८२॥

एक ओर तो दिक्कुमारी देवियाँ मंगल द्रव्य धारण किए हुई थी और दूसरी ओर वस्त्राभूषण पहने हुई उत्तम वारांगनाएँ मंगल द्रव्य लेकर खड़ी हुई थीं ॥८३॥

एक ओर भगवान् वृषभदेव अत्यन्त सन्तुष्ट हुए श्रेष्ठ देवों से घिरे हुए थे और दूसरी ओर दोनों राजकुमार हजारों क्षत्रिय-राजाओं से घिरे हुए थे ॥८४॥

एक ओर स्वामी वृषभदेव के सामने स्तुति करते हुए देव लोग पुष्पांजलि छोड़ रहे थे और दूसरी ओर पुरवासीजन दोनों राजकुमारों के सामने आशीर्वाद के शेषाक्षत फेंक रहे थे ॥८५॥

एक ओर पृथ्वीतल को बिना छुए ही-अधर आकाश में अप्सराओं का नृत्य हो रहा था और दूसरी ओर वारांगनाएँ लीलापूर्वक पद-विन्यास करती हुई नृत्य कर रही थीं ॥८६॥

एक ओर समस्त दिशाओं को व्याप्त करने वाले देवों के बाजों के महान् शब्द हो रहे थे और दूसरी ओर नान्दी पटह आदि मांगलिक बाजों के घोर शब्द सब ओर फैल रहे थे ॥८७॥

एक ओर किन्नर जाति के देवों के द्वारा प्रारम्भ किये हुए मनोहर मंगल गीतों के शब्द हो रहे थे और दूसरी ओर अन्तःपुर की स्त्रियों के मंगल गानों की मधुर ध्वनि हो रही थी ॥८८॥

एक ओर करोड़ों देवों का जय-जय ध्वनि का कोलाहल हो रहा था और दूसरी ओर पुण्यपाठ करने वाले करोड़ों मनुष्यों के पुण्यपाठ का

शब्द हो रहा था ॥८९॥

इस प्रकार दोनों ही बड़े-बड़े उत्सवों में जहाँ देव और मनुष्य व्यग्र हो रहे हैं ऐसा वह राज-मन्दिर परम आनन्द से व्याप्त हो रहा था-उसमें सब ओर हर्ष ही हर्ष दिखाई देता था ॥९०॥

भगवान ने अपने राज्य का भार दोनों ही युवराजों को समर्पित कर दिया था इसलिए उस समय उनका दीक्षा लेने का उद्योग बिलकुल ही निराकुल हो गया था-उन्हें राज्य सम्बन्धी किसी प्रकार की चिन्ता नहीं रही थी ॥९१॥

मोक्ष की इच्छा करने वाले भगवान् ने सम्भ्रम-आकुलता से रहित होकर अपने शेष पुत्रों के लिए भी यह पृथिवी विभक्त कर बाँट दी थी ॥ ९२॥

तदनन्तर अक्षर-अविनाशी भगवान महाराज नाभिराज आदि परिवार के लोगों से पूछकर इन्द्र के द्वारा बनायी हुई सुन्दर सुदर्शन नाम की पालकी पर बैठे ॥९३॥

बड़े आदर के साथ इन्द्र ने जिन्हें अपने हाथ का सहारा दिया था ऐसे भगवान् वृषभदेव दीक्षा लेने की प्रतिज्ञा के समान पालकी पर आरूढ़ हुए थे ॥९४॥

दीक्षारूपी अंगना के आलिंगन करने का जिनका कौतुक बढ़ रहा है ऐसे भगवान् वृषभदेव उस पालकी पर आरूढ़ होते हुए ऐसे जान पड़ते थे मानो पालकी के छल से दीक्षारूपी अंगना की श्रेष्ठ शय्या पर ही आरूढ़ हो रहे हैं ॥९५॥

जो मालाएँ पहने हुए हैं, जिनका देदीप्यमान शरीर चन्दन के लेप से लिप्त हो रहा है और जो अनेक प्रकार के वस्त्राभूषणों से अलंकृत हो रहे हैं ऐसे भगवान् वृषभदेव पालकी पर आरूढ़ हुए सुशोभित हो रहे थे मानो तपरूपी लक्ष्मी के उत्तम वर ही हों ॥९६॥

भगवान् वृषभदेव पहले तो परम विशुद्धता पर आरूढ़ हुए थे अर्थात् परिणामों की विशुद्धता को प्राप्त हुए थे और बाद में पालकी पर आरूढ़ हुए थे इसलिए वे उस समय ऐसे जान पड़ते थे मानो गुणस्थानों की श्रेणी चढ़ने का अभ्यास ही कर रहे हों ॥९७॥

भगवान् की उस पालकी को प्रथम ही राजा लोग सात पैड तक ले चले और फिर विद्याधर लोग आकाश में सात पैड तक ले चले ॥९८॥

तदनन्तर वैमानिक और भवनत्रिक देवों ने अत्यन्त हर्षित होकर वह पालकी अपने कन्धों पर रखी और शीघ्र ही उसे आकाश में ले गये ॥ ९९॥

भगवान् वृषभदेव के माहात्म्य की प्रशंसा करना इतना ही पर्याप्त है कि उस समय देवों के अधिपति इन्द्र भी उनकी पालकी ले जाने वाले हुए थे अर्थात् इन्द्र स्वयं उनकी पालकी ढो रहे थे ॥१००॥

उस समय यक्ष जाति के देव सुगन्धित फूलों की वर्षा कर रहे थे और गंगानदी के जलकणों को धारण करने वाला शीतल वायु बह रहा था ॥१०१॥

उस समय देवों के बन्दीजन उच्च स्वर से प्रस्थान समय के मंगलपाठ पढ़ रहे थे और देव लोग चारों ओर प्रस्थान सूचक भेरियाँ बजा रहे थे ॥१०२॥

उस समय इन्द्र की आज्ञा पाकर समस्त देव जोर-जोर से यही घोषणा कर रहे थे कि जगद्गुरु भगवान् वृषभदेव का मोहरूपी शत्रु को जीतने के उद्योग करने का यही समय है ॥१०३॥

उस समय हर्षित हुए सुर असुर जाति के सभी देव आनन्द की प्राप्ति से समस्त आकाश को घेरकर भगवान् के आगे जय-जय ऐसा कोलाहल कर रहे थे ॥१०४॥

मंगलगीतों, बार-बार की गयी जय-घोषणाओं और बड़े-बड़े नगाड़ों के शब्दों से सब ओर व्याप्त हुआ आकाश उस समय शब्दों के अधीन हो रहा था अर्थात् चारों ओर शब्द ही शब्द सुनाई पड़ते थे ॥१०५॥

उस समय इन्द्रों के शरीर की प्रभा समस्त आकाश को प्रकाशित कर रही थी और दुन्दुभियों का विपुल तथा मनोहर शब्द समस्त संसार को शब्दायमान कर रहा था ॥१०६॥

उस समय इन्द्रों के हाथों से ढुलाये जाने के कारण इधर-उधर फिरते हुए चमरों के समूह आकाश में ठीक हंसों के समान जान पड़ते थे ॥ १०७॥

जिस समय भगवान् पालकी पर आरूढ़ हुए थे उस समय करोड़ों देवकिंकरों के हाथों में स्थित दण्डों की ताड़ना से इन्द्रों के करोड़ों दुन्दुभि

बाजे आकाश में व्याप्त होकर बज रहे थे ॥१०८॥

आकाशरूपी आँगन में अनेक देवांगनाएँ विलाससहित नृत्य कर रही थीं उनका नृत्य छत्रबन्ध आदि की चतुराई तथा आश्चर्यकारी अनेक करणों-नृत्यभेदों से सहित था ॥१०९॥

मनोहर कण्ठ वाली किन्नर जाति की देवियाँ अपने मधुर स्वर से कानों को सुख देने वाले मनोहर और मधुर तपःकल्याणोत्सव का गान कर रही थीं-उस समय के गीत गा रही थीं ॥११०॥

देवों के बन्दीजन उच्च स्वर से किन्तु उत्तम शब्दों से मंगल पाठ पढ़ रहे थे तथा उस समय के योग्य और सबके मन को अनुरक्त करने वाले अन्य पाठों को भी पढ़ रहे थे ॥१११॥

जिन्हें अत्यन्त हर्ष उत्पन्न हुआ है और जो चित्र-विचित्र-अनेक प्रकार की पताकाएँ लिये हुए हैं ऐसे भूत जाति के व्यन्तर देव भीड़ में धक्का देते तथा अनेक प्रकार के नृत्य करते हुए इधर-उधर दौड़ रहे थे ॥११२॥

देव लोग बड़े अनुराग से अपने गालों को फुलाकर और शरीर को पिण्ड के समान संकुचित कर तुरही तथा शंख बजा रहे थे ॥११३॥

हाथों में कमल धारण किये हुई लक्ष्मी आदि देवियाँ आगे-आगे जा रही थीं और बड़े आदर से मंगल द्रव्य तथा अर्घ लेकर दिक्कुमारी देवियाँ उनके साथ-साथ जा रही थीं ॥११४॥

इस प्रकार जिस समय यथायोग्य रूप से अनेक विशेषताएँ हो रही थीं उस समय अद्भुत वैभव से शोभायमान भगवान् वृषभदेव समस्त संसार को आनन्दित करते हुए अमूल्य रत्नों से बनी हुई दिव्य पालकी पर आरूढ़ होकर अयोध्यापुरी से बाहर निकले । उस समय वे रत्नमयी पृथ्वी पर स्थित मेरु पर्वत की शोभा को तिरस्कृत कर रहे थे । गले में पड़े हुए आभूषणों की कान्ति के समूह से उनके मुख पर जो परिधि के आकार का लाल-लाल प्रभामण्डल पड़ रहा था उससे उनका मुख सूर्य के समान मालूम होता था, उस मुखरूपी सूर्य की प्रभा से वे उस समय ज्योतिषी देवों के इन्द्र अर्थात् चन्द्रमा की ज्योति को भी तिरस्कृत कर रहे थे । जिससे मणियों की कान्ति निकल रही है ऐसे मस्तक पर धारण किये हुए ऊँचे मुकुट से वे, जिनसे ज्वाला प्रकट हो रही है ऐसे अग्निकुमार देवों के इन्द्रों के मुकुटों की कान्ति को भी तिरस्कृत कर रहे थे । उनके मुकुट के मध्य में जो फूलों का सेहरा पड़ा हुआ था उसकी मालाओं के द्वारा मानो वे भगवान् अपने मन की प्रसन्नता को ही मस्तक पर धारण कर लोगों को दिखला रहे थे । उनके नेत्रों की जो स्वच्छ कान्ति चारों ओर फैल रही थी उससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो इन्द्र के लिए संन्यास धारण करने के समय होने वाला नेत्रों का विलास ही अर्पित कर रहे हों अर्थात् इन्द्र को सिखला रहे हों कि संन्यास धारण करने के समय नेत्रों की चेष्टाएँ इतनी प्रशान्त हो जाती हैं । कुछ-कुछ प्रकट होती हुई मुसकान की किरणों से उनके ओठों की लाल-लाल कान्ति भी छिप जाती थी जिससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो अपनी विशुद्धि के द्वारा बाकी बचे हुए सम्पूर्ण राग को ही धो रहे हों । उनके सुन्दर वक्षःस्थल पर जो मनोहर हार पड़ा हुआ था उससे वे भगवान् जिसके किनारे पर निर्झरना पड़ रहा है ऐसे सुमेरु पर्वत की भी विडम्बना कर रहे थे । जिनमें कड़े बाजूबन्द आदि आभूषण चमक रहे हैं ऐसी अपनी भुजाओं की शोभा से वे नागेन्द्र के फण में लगे हुए रत्नों की कान्ति के समूह की भर्त्सना कर रहे थे । करधनी से घिरे हुए जघनस्थल की शोभा से भगवान् ऐसे मालूम होते थे मानो वेदिका से घिरे हुए जम्बूद्वीप की शोभा ही स्वीकृत कर रहे हों । ऊपर की दोनों गँठों तक देदीप्यमान होती हुई पैरों की किरणों से वे भगवान् ऐसे मालूम होते थे मानो नमस्कार करते हुए सम्पूर्ण लोगों को अपनी प्रसन्नता के अंशों से पवित्र ही कर रहे हों । उस समय सूर्य की कान्ति को भी तिरस्कृत करने वाली अपने शरीर की दीप्ति से जिन्होंने सब दिशाएँ व्याप्त कर ली हैं ऐसे भगवान् वृषभदेव अपने ओज से समस्त इन्द्रिय को नीचा दिखा रहे थे । इस प्रकार प्रत्येक अंग-उपांगों से सम्बन्ध रखने वाली वैराग्य के योग्य शोभा से वे ऐसे जान पड़ते मानो चिरकाल से पालन-पोषण की हुई परिग्रह की आसक्ति को ही बाहर निकाल रहे हों । ऊपर लगे हुए निर्मल कान्ति वाले सफेद छत्र के मण्डल से वे ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो क्लेशों को दूर करने वाला चन्द्रमा ही ऊपर आकर उनकी सेवा कर रहा हो । इन्द्रों के द्वारा ढुलाये हुए चमरों के समूह से भगवान् ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो जन्मकल्याणक के क्षण-भर के प्रेम से क्षीरसागर ही आकर उनकी सेवा कर रहा हो । इस प्रकार ऊपर लिखे अनुसार जिनका माहात्म्य प्रकट हो रहा है और अनेक इन्द्र जिन्हें चारों ओर से घेरे हुए हैं ऐसे वे भगवान् वृषभदेव अयोध्यापुरी से बाहर निकले । उस समय नगरनिवासी लोग उनकी इस प्रकार स्तुति कर रहे थे ॥

११५-१३०॥

हे जगन्नाथ, आप कार्य की सिद्धि के लिए जाइए, आपका मार्ग कल्याणमय हो और हे देव, आप अपना कार्य पूरा कर फिर भी शीघ्र ही

हम लोगों के दृष्टिगोचर होइए ॥१३१॥

हे नाथ, अनाथ पुरुषों की रक्षा करने लिए आपके समान और कोई भी समर्थ नहीं है इसलिए हम लोगों की रक्षा करने में आप अपना मन फिर भी लगाइए ॥१३२॥

हे प्रभो, आपकी समस्त चेष्टाएँ पुरुषों का उपकार करने वाली होती हैं, आप बिना कारण ही हम लोगों को छोड़कर अब और किसका उपकार करेंगे ॥१३३॥

इस प्रकार कितने ही नगर निवासियों ने दूर से ही मस्तक झुकाकर प्रशंसनीय, स्पष्ट अर्थ को कहने वाले और कामनासहित प्रार्थना के वचन कहे थे ॥१३४॥

उस समय कितने ही नगरवासी परस्पर में ऐसा कह रहे थे कि देव लोग भगवान् को पालकी पर सवार कर कहीं दूर ले जा रहे हैं परन्तु हम लोग इसका कारण नहीं जानते अथवा भगवान् की यह कोई ऐसी ही क्रीड़ा होगी अथवा यह भी हो सकता है कि पहले इन्द्र लोग जन्मोत्सव करने की इच्छा से भगवान् को सुमेरु पर्वत पर ले गये थे और फिर वापस ले आये थे । कदाचित् हम लोगों के भाग्य से आज फिर भी वही वृत्तान्त हो इसलिए हम लोगों को कोई दुःख की बात नहीं है ॥१३५-१३७॥

कितने ही लोग आश्चर्य के साथ कह रहे थे कि पालकी पर सवार हुए ये भगवान् क्या साक्षात् सूर्य है क्योंकि ये सूर्य की तरह ही अपनी प्रभा के द्वारा हमारे नेत्रों को चकाचौंध करते हुए आकाश में देदीप्यमान हो रहे हैं ॥१३८॥

जिस प्रकार कुलाचलों के बीच चूलिकासहित सुवर्णमय सुमेरु पर्वत शोभित होता है उसी प्रकार इन्द्रों के बीच मुकुट धारण किये और तपाये हुए सुवर्ण के समान कान्ति को धारण किये हुए भगवान् बहुत ही सुशोभित हो रहे हैं ॥१३९॥

जो भगवान् के मुख के सामने अपनी दृष्टि लगाये हुए है और जिसकी विक्रियाएँ अनेक आश्चर्य उत्पन्न करने वाली है ऐसा यह कौन है ? हाँ, मालूम हो गया कि यह भगवान् का आज्ञाकारी सेवक इन्द्र है ॥१४०॥

इधर देखो, यह पालकी ले जाने वाले महातेजस्वी देवों के शरीर की प्रभा चारों ओर फैल रही है और ऐसी मालूम होती है मानो बिजलियों का समूह ही हो ॥१४१॥

अहा, भगवान् का पुण्य बहुत ही बड़ा है वह न तो वचन से ही कहा जा सकता है और न मन से ही उसका विचार किया जा सकता है । इधर-उधर भक्ति के भार से झुके हुए-प्रणाम करते हुए इन देवों को देखो ॥१४२॥

इधर ये देवों के नगाड़े मधुर और गम्भीर शब्दों से बज रहे हैं और इधर यह मृदंगों का गम्भीर तथा जोर का शब्द हो रहा है ॥१४३॥

इधर नृत्य हो रहा है, इधर गीत गाये जा रहे हैं, इधर संगीत मंगल हो रहा है, इधर चमर ढुलाये जा रहे हैं और इधर देवों का आगर समूह विद्यमान है ॥१४४॥

क्या यह चलता हुआ स्वर्ग है जो अप्सराओं और विमानों से सहित है अथवा आकाश में यह किसी ने अपूर्व चित्र लिखा है ॥१४५॥

क्या यह इन्द्रजाल है-जादूगर का खेल है अथवा हमारी बुद्धि का भ्रम है । यह आश्चर्य बिलकुल ही अदृष्टपूर्व है-ऐसा आश्चर्य हम लोगों ने पहले कभी नहीं देखा था ॥१४६॥

इस प्रकार अनेक विकल्प करने वाले तथा बहुत बोलने वाले नगर-निवासी लोग भगवान् के उस आश्चर्य (अतिशय) को देखकर विस्मय के साथ यथेच्छ बातें कर रहे थे ॥१४७॥

अनेक पुरुष कह रहे थे कि जब से इन भगवान् ने पृथ्वी तल पर अवतार लिया है तब से यहाँ देवों के आने-जाने में अन्तर नहीं पड़ता-बराबर देवों का आना-जाना बना रहता है ॥१४८॥

नीलांजना नाम की देवांगना का नृत्य देखते-देखते ही भगवान् को बिना किसी अन्य कारण के भोगों से वैराग्य उत्पन्न हो गया है ॥१४९॥ उसी समय आये हुए माननीय लौकान्तिक देवों ने भगवान् को सम्बोधित किया जिससे उनका मन वैराग्य में और भी अधिक दृढ़ हो गया है ॥१५०॥

काम और भोगों से विरक्त हुए भगवान् अपने शरीर में भी निःस्पृह हो गये हैं अब वे महल सवारी तथा राज्य आदि को तृण के समान मान रहे हैं ॥१५१॥

जिस प्रकार अपनी इच्छानुसार विहार करने रूप सुख की इच्छा से मत्त हाथी वन में प्रवेश करता है उसी प्रकार भगवान् वृषभदेव भी

स्वातन्त्र्य सुख प्राप्त करने की इच्छा से वन में प्रवेश करना चाहते हैं और देव लोग प्रोत्साहित कर उन्हें ले जा रहे हैं ॥१५२॥

यदि भगवान् वन में भी रहेंगे तो भी सुख उनके अधीन ही है और प्रजा के सुख के लिए उन्होंने अपने पुत्रों को राज्य सिंहासन पर बैठा दिया है ॥१५३॥

इसलिए भगवान् की प्रारम्भ की हुई यह यात्रा उन्हें सुख देने वाली हो तथा ये लोग भी अपने भाग्य से वृद्धि को प्राप्त हो, कोई विषाद मत करो ॥१५४॥

अक्षतात्मा अर्थात् जिनका आत्मा कभी भी नष्ट होने वाला नहीं है ऐसे भगवान् वृषभदेव चिरकाल तक जीवित रहें, विजय को प्राप्त हों, समृद्धिमान् हों और फिर लौटकर हम लोगों की रक्षा करें ॥१५५॥

महात्मा भरत आज विभु की आज्ञा लेकर जगत् की आशाएँ पूर्ण करने वाला महादान दे रहे हैं ॥१५६॥

इधर भरत ने जो यह स्वर्ण का दान दिया है उससे तुम सबको सन्तोष हो, इधर पलानोंसहित घोड़े दिये जा रहे हैं और इधर ये हाथी वितरण किये जा रहे हैं ॥१५७॥

इस प्रकार अजान और ज्ञानवान् सब ही अलग-अलग प्रकार के वचनों द्वारा जिनकी स्तुति कर रहे हैं ऐसे भगवान् वृषभदेव ने धीरे-धीरे नगर के बाहर समीपवर्ती प्रदेश को पार किया ॥१५८॥

अथानन्तर भगवान् के प्रस्थान करने पर यशस्वती आदि रानियाँ मन्त्रियों सहित भगवान् के पीछे-पीछे चलने लगीं, उस समय शोक से उनके नेत्रों में आँसू भर रहे थे ॥१५९॥

लताओं के समान उनके शरीर की शोभा म्लान हो गयी थी, उन्होंने आभूषण भी उतारकर अलग कर दिये थे और कितनी ही डगमगाते पैर रखती हुई भगवान् के पीछे-पीछे जा रही थी ॥१६०॥

कितनी ही स्त्रियाँ शोकरूपी अग्नि से जर्जरित हो रही थीं, उनकी शरीरयष्टि कम्पित हो रही थी और नेत्र मूर्च्छा से निमीलित हो रहे थे इन सब कारणों से वे जमीन पर गिर पड़ी थीं ॥१६१॥

कितनी ही देवियाँ बार-बार यह कहती हुई मूर्च्छित हो रही थीं कि हा नाथ, आप कहाँ जा रहे हैं ? कहाँ जाकर हम लोगों की प्रतीक्षा करेंगे और अब आपको कितनी दूर जाना है ॥१६२॥

वे देवियाँ शोक से हृदय में धड़कन को, स्तनों में उत्कम्प को, शरीर में म्लानता को, वचनों में गद्गदता को और नेत्रों में आँसूओं को धारण कर रही थीं ॥१६३॥

हे बाले, रोककर अमंगल मत कर इस प्रकार निवारण किये जाने पर किसी स्त्री ने रोना तो बन्द कर दिया था परन्तु उसके आँसू नेत्रों के भीतर ही रुक गये थे इसलिए वह ऐसी जान पड़ती थी मानो शोक से फूट रही हो ॥१६४॥

कोई स्त्री प्रस्थानकाल के मंगल को भंग करने के लिए असमर्थ थी इसलिए उसने आँसूओं को नीचे गिरने से रोक लिया परन्तु ऐसा करने से उसके नेत्र आँसूओं से भर गए थे जिससे वह ऐसी जान पड़ती थी मानो नेत्रों की पुत्तलिका के छल से शोक के भीतर ही प्रविष्ट हो गयी हो ॥१६५॥

वेग से चलने के कारण कितनी ही स्त्रियों के हार टूट गये थे और उनके मोती बिखर गये थे, उन बिखरे हुए मोतियों से वे ऐसी मालूम होती थीं मानो मोतियों के छल से आँसूओं की बड़ी-बड़ी बूँदें ही छोड़ रही हो ॥१६६॥

कितनी ही स्त्रियों के केशपाश खुलकर नीचे की ओर लटकने लगे थे उनमें लगी हुई फूलों की मालाएँ नीचे गिरती जा रही थीं, उनके स्तनों पर के वस्त्र भी शिथिल हो गये थे और आँखों से आँसू बह रहे थे इस प्रकार वे शोचनीय अवस्था को धारण कर रही थी ॥१६७॥

कितनी ही स्त्रियाँ शोक से अत्यन्त विह्वल हो गयी थीं इसलिए लोगों ने उठाकर उन्हें पालकी में रखा था तथा अनेक प्रकार से सान्त्वना दी थी, समझाया था । इसीलिए वे जिस किसी तरह प्राणों से वियुक्त नहीं हुई थीं-जीवित बची थीं ॥१६८॥

धीर-वीर किन्तु चंचल नेत्रों वाली कितनी ही राजपत्नियाँ अपने स्वामी के विभव से ही (देवों द्वारा किये हुए सम्मान से ही) सन्तुष्ट हो गयी थी इसलिए वे पतिव्रताएं बिना किसी आकुलता के भगवान् के पीछे-पीछे जा रही थी ॥१६९॥

हे माता, यह भगवान् का प्रस्थान मंगल हो रहा है इसलिए अधिक रोना अच्छा नहीं धीरे-धीरे स्वामी के पीछे-पीछे चलना चाहिए । शोक मत करो ॥१७०॥

हे देवि, शीघ्रता करो, शीघ्रता करो, शोक के वेग को रोको, यह देखो देव लोग भगवान् को लिये जा रहे हैं अभी हमारे पुण्योदय से भगवान् हमारे दृष्टिगोचर हो रहे हैं-हम लोगों को दिखाई दे रहे हैं ॥१७१॥

इस प्रकार अन्तःपुर की वृद्ध स्त्रियों के द्वारा समझायी गयी यशस्वती और सुनन्दा देवी पैदल ही चल रही थी ॥१७२॥

इस विषय में बहुत कहने से क्या लाभ है उन देवियों ने ज्यों ही भगवान् के जाने के समाचार सुने त्यों ही उन्होंने अपने छत्र चमर आदि सब परिकर छोड़ दिये थे और भगवान् के पीछे-पीछे चलने लगी थीं ॥१७३॥

भगवान् को किसी प्रकार की व्याकुलता न हो यह विचारकर उनके साथ जाने वाले वृद्ध पुरुषों ने यह भगवान् की आज्ञा है, ऐसा कहकर किसी स्थान पर अन्तःपुर की समस्त स्त्रियों के समूह को रोक दिया और जिस प्रकार नदियों का बढ़ा हुआ प्रवाह समुद्र से रुक जाता है उसी प्रकार वह रानियों का समूह भी वृद्ध पुरुषों (प्रतीहारों) से रुक गया था ॥१७४-१७५॥

इस प्रकार रानियों का समूह लम्बी और गरम साँस लेकर आगे जाने से बिल्कुल निराश होकर अपने सौभाग्य की निन्दा करता हुआ घर को वापस लौट गया ॥१७६॥

किन्तु स्वामी की इच्छानुसार चलने वाली यशस्वती और सुनन्दा ये दोनों ही महादेवियां अन्तःपुर की मुख्य-मुख्य स्त्रियों से परिवृत होकर पूजा की सामग्री लेकर भगवान् के पीछे-पीछे जा रही थी ॥१७७॥

उस समय महाराज नाभिराज भी मरुदेवी तथा सैकड़ों राजाओं से परिवृत होकर भगवान् के तपकल्याण का उत्सव देखने के लिए उनके पीछे-पीछे जा रहे थे ॥१७८॥

सम्राट् भरत भी नगरनिवासी, मन्त्री, उच्च वंश में उत्पन्न हुए राजा और अपने छोटे भाइयों के साथ-साथ बड़ी भारी विभूति लेकर भगवान् के पीछे-पीछे चल रहे थे ॥१७९॥

भगवान् ने आकाश में इतनी थोड़ी दूर जाकर कि जहाँ से लोग उन्हें अच्छी तरह से देख सकते थे, ऊपर कहे हुए मंगलारम्भ के साथ प्रस्थान किया ॥१८०॥

इस प्रकार जगद्गुरु भगवान् वृषभदेव अत्यन्त विस्तृत सिद्धार्थक नाम के वन में जा पहुंचे । वह वन उस अयोध्यापुरी से न तो बहुत दूर था और न बहुत निकट ही था ॥१८१॥

तदनन्तर इन्द्रों की सेना भी आकाश और पृथिवी को व्याप्त करती हुई उस सिद्धार्थक वन में जा पहुंची । उस वन में अनेक पक्षी शब्द कर रहे थे इसलिए वह उनसे ऐसा मालूम होता था मानो इन्द्र की सेना को बुला ही रहा हो ॥१८२॥

उस वन में देवों ने एक शिला पहले से ही स्थापित कर रखी थी । वह शिला बहुत ही विस्तृत थी, पवित्र थी और भगवान् के परिणामों के समान उन्नत थी ॥१८३॥

वह चन्द्रकान्त मणियों की बनी हुई थी और चन्द्रमा की सुन्दर शोभा की हँसी कर रही थी इसलिए ऐसी मालूम होती थी मानो एक जगह इकट्ठा हुआ भगवान् का निर्मल यश ही हो ॥१८४॥

वह स्वभाव से ही देदीप्यमान थी, रमणीय थी और उसका घेरा अतिशय गोल था इसलिए वह ऐसी मालूम होती थी मानो भगवान् के तपकल्याणक की विभूति देखने के लिए सिद्धक्षेत्र ही पृथ्वी पर उतर आया हो ॥१८५॥

वृक्षों की शीतल छाया से उस पर सूर्य का आतप रुक गया था और चारों ओर लगे हुए वृक्षों की शाखाओं के अग्रभाग से उस पर फूलों के समूह गिर रहे थे ॥१८६॥

वह शिला घिसे हुए चन्दन-द्वारा दिये गए मांगलिक छींटों से युक्त थी तथा उस पर इन्द्राणी ने अपने हाथ से रत्नों के चूर्ण के उपहार खींचे थे-चौक वगैरह बनाये थे ॥१८७॥

उस शिला पर बड़े-बड़े वस्त्रों द्वारा आश्चर्यकारी मण्डप बनाया गया था तथा मन्द-मन्द वायु से हिलती हुई अनेक रंग की पताकाओं से उस पर का आकाश व्याप्त हो रहा था ॥१८८॥

उस शिला के चारों ओर उठते हुए धूप के धुओं से दिशाएँ सुगन्धित हो गयी थी तथा उस शिला के समीप ही अनेक मंगलद्रव्यरूपी सम्पदा रखी हुई थी ॥१८९॥

इस प्रकार जिसमें अनेक गुण विद्यमान है तथा जो उत्तम घर के लक्षणों से सहित है ऐसी उस शिला पर, देवों द्वारा पृथ्वी पर रखी गयी

पालकी से भगवान् वृषभदेव उतरे ॥१९०॥

उस शिलापट्ट को देखते ही भगवान् को जन्माभिषेक की विभूति धारण करने वाली पाण्डुकशिला का स्मरण हो आया ॥१९१॥

तदनन्तर भगवान् ने क्षण-भर उस शिला पर आसीन होकर मनुष्य, देव तथा धरणेन्द्रों से भरी हुई उस सभा को यथायोग्य उपदेशों के द्वारा सम्मानित किया ॥१९२॥

वे भगवान् जगत् के बन्धु थे और स्नेहरूपी बन्धन से रहित थे । यद्यपि वे दीक्षा धारण करने के लिए अपने बन्धुवर्गों से एक बार पूछ चुके थे तथापि उस समय उन्होंने फिर भी ऊँची और गम्भीर वाणी द्वारा उनसे पूछा-दीक्षा लेने की आज्ञा प्राप्त की ॥१९३॥

तदनन्तर जब लोगों का कोलाहल शान्त हो गया था, सब लोग दूर वापस चल गए थे, प्रातःकाल के गम्भीर मंगलों का प्रारम्भ हो रहा था और इन्द्र स्वयं भगवान् की परिचर्या कर रहा था तब जिन्होंने अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह छोड़ दिया है और परिग्रहरहित रहने की प्रतिज्ञा की है, जो संसार की सब वस्तुओं में समताभाव का विचार कर रहे हैं और जो शुभ भावनाओं से सहित हैं ऐसे उन भगवान् वृषभदेव यवनिका के भीतर मोह को नष्ट करने के लिए वस्त्र, आभूषण तथा माला वगैरह का त्याग किया ॥१९४-१९६॥

जो आभूषण पहले भगवान् के शरीर पर बहुत ही देदीप्यमान हो रहे थे वे ही आभूषण उस समय भगवान् के शरीर से पृथक् हो जाने के कारण कान्तिरहित अवस्था को प्राप्त हो गए थे सो ठीक ही है क्योंकि स्थानभ्रष्ट हो जाने पर कौन-सी कान्ति रह सकती है ? अर्थात् कोई भी नहीं ॥१९७॥

जिसमें निष्परिग्रहता की ही मुख्यता है ऐसी व्रतों की भावना धारण कर, भगवान् वृषभदेव ने दासी, दास, गौ, बैल आदि जितना कुछ चेतन परिग्रह था और मणि, मुक्ता, मूंगा आदि जो कुछ अचेतन द्रव्य था उस सबका अपेक्षारहित होकर अपनी, देवों की और सिद्धों की साक्षीपूर्वक परित्याग कर दिया था ॥१९८-१९९॥

तदनन्तर भगवान् पूर्व दिशा की ओर मुँह कर पद्मासन से विराजमान हुए और सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार कर उन्होंने पंचमुष्टियों में केशलोंच किया ॥२००॥

धीर वीर भगवान् वृषभदेव ने मोहनीय कर्म की मुख्यलताओं के समान बहुत-सी केशरूपी लताओं का लोंच कर दिगम्बर रूप के धारक होते हुए जिनदीक्षा धारण की ॥२०१॥

भगवान् ने समस्त पापारम्भ से विरक्त होकर सामायिक-चारित्र धारण किया तथा व्रत गुप्ति समिति आदि चारित्र के भेद ग्रहण किए ॥२०२॥

भगवान् वृषभदेव ने चैत्र मास के कृष्ण पक्ष को नवमी के दिन सायंकाल के समय दीक्षा धारण की थी । उस दिन शुभ मुहूर्त था, शुभ लग्न थी और उत्तराषाढ़ नक्षत्र था ॥२०३॥

भगवान् के मस्तक पर चिरकाल तक निवास करने से पवित्र हुए केशों को इन्द्र ने प्रसन्नचित्त होकर रत्नों के पिटारे में रख लिया था ॥२०४॥

सफेद वस्त्र से परिवृत उस बड़े भारी रत्नों के पिटारे में रखे हुए भगवान् के काले केश ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो चन्द्रमा के काले चिह्न के अंश ही हों ॥२०५॥

'ये केश भगवान् के मस्तक के स्पर्श से अत्यन्त श्रेष्ठ अवस्था को प्राप्त हुए हैं इसलिए इन्हें उपद्रवरहित किसी योग्य स्थान में स्थापित करना चाहिए । पांचवाँ क्षीरसमुद्र स्वभाव से ही पवित्र है इसलिए उसकी भेंट कर उसी के पवित्र जल में इन्हें स्थापित करना चाहिए । ये केश धन्य हैं जो कि जगत् के स्वामी भगवान् वृषभदेव के मस्तक पर अधिष्ठित हुए थे तथा यह क्षीरसमुद्र भी धन्य है जो इन केशों को भेंट स्वरूप प्राप्त करेगा ।' ऐसा विचारकर इन्द्रों ने उन केशों को आदरसहित उठाया और बड़ी विभूति के साथ ले जाकर उन्हें क्षीरसमुद्र में डाल दिया ॥२०६-२०९॥

महापुरुषों का आश्रय करने से मलिन (नीच) पुरुष भी पूज्यता को प्राप्त हो जाते हैं यह बात बिलकुल ठीक है क्योंकि भगवान् का आश्रय करने से मलिन (काले) केश भी पूजा को प्राप्त हुए थे ॥२१०॥

भगवान् ने जिन वस्त्र आभूषण तथा माला वगैरह का त्याग किया था देवों ने उन सबकी भी असाधारण पूजा की थी ॥२११॥

उसी समय चार हजार अन्य राजाओं ने भी दीक्षा धारण की थी । वे राजा भगवान् का मत (अभिप्राय) नहीं जानते थे, केवल स्वामिभक्ति

से प्रेरित होकर ही दीक्षित हुए थे ॥२१२॥

'जो हमारे स्वामी के लिए अच्छा लगता है वही हम लोगों को भी विशेष रूप से अच्छा लगना चाहिए' बस, यही सोचकर वे राजा दीक्षित होकर द्रव्यलिंगी साधु हो गये थे ॥२१३॥

स्वामी के अभिप्रायानुसार चलना ही सेवकों का काम है यह सोचकर ही वे मूढता के साथ मात्र द्रव्य की अपेक्षा निर्ग्रन्थ अवस्था को प्राप्त हुए थे-नग्न हुए थे, भावों की अपेक्षा नहीं ॥२१४॥

बड़े-बड़े वंशों में उत्पन्न हुए वे राजा, भगवान् में अपनी उत्कृष्ट भक्ति प्रकट करना चाहते थे इसलिए उन्होंने भगवान् जैसी निर्ग्रन्थ वृत्ति को धारण किया था ॥११५॥

इस लोक और परलोक सम्बन्धी सभी कार्यों में हमें हमारे गुरु-भगवान् वृषभदेव ही प्रमाणभूत हैं यही विचार कर कच्छ आदि उत्तम राजाओं ने दीक्षा धारण की थी ॥२१६॥

उन राजाओं में से कितने ही स्नेह से, कितने ही मोह से और कितने ही भय से भगवान् वृषभदेव को आगे कर अर्थात् उन्हें दीक्षित हुआ देखकर दीक्षित हुए थे ॥२१७॥

जिनका संयम प्रकट नहीं हुआ है ऐसे उन द्रव्यलिंगी मुनियों से घिरे हुए भगवान् वृषभदेव ऐसे सुशोभित होते थे मानो छोटे-छोटे कल्पवृक्षों से घिरा हुआ कोई उन्नत विशाल कल्पवृक्ष ही हो ॥२१८॥

यद्यपि भगवान् का तेज स्वभाव से ही देदीप्यमान था तथापि उस समय तप की दीप्ति से वह और भी अधिक देदीप्यमान हो गया था ऐसे तेज को धारण करने वाले भगवान् उस सूर्य के समान अतिशय देदीप्यमान होने लगे थे जिसका कि स्वभाव भास्वर तेज शरद् ऋतु के कारण अतिशय प्रदीप्त हो उठा है ॥२१९॥

जिस प्रकार अग्नि की ज्वाला से तपा हुआ सुवर्ण अतिशय शोभायमान होता है उसी प्रकार उत्कृष्ट कान्ति से अत्यन्त सुन्दर भगवान् का नग्न रूप अतिशय शोभायमान हो रहा था ॥२२०॥

तदनन्तर देवों ने जिनकी पूजा की है ऐसे भगवान् आदिनाथ दीक्षारूपी लता से आलिंगित होकर कल्पवृक्ष के समान सुशोभित हो रहे थे ॥२२१॥

उस समय भगवान् का अनुपम रूप अतिशय देदीप्यमान हो रहा था । उस रूप को इन्द्र हजार नेत्रों से देखता हुआ भी तृप्त नहीं होता था ॥२२२॥

तत्पश्चात् स्वर्ग के इन्द्रों ने अतिशय सन्तुष्ट होकर तीनों लोकों के स्वामी-उत्कृष्ट ज्योति स्वरूप और वाचस्पति अर्थात् समस्त विद्याओं के अधिपति भगवान् वृषभदेव की इस प्रकार जोर-जोर से स्तुति की ॥२२३॥

हे स्वामिन्, आप जगत् के स्रष्टा हैं (कर्मभूमिरूप जगत् की व्यवस्था करने वाले हैं) स्वामी हैं-और अभीष्ट फल के देने वाले हैं इसलिए हम लोग अपने अनिष्टों को नष्ट करने के लिए आपकी अच्छी तरह से स्तुति करते हैं ॥२२४॥

हे भगवन्, हम-जैसे जीव आपके असंख्यात गुणों की स्तुति किस प्रकार कर सकते हैं तथापि हम लोग भक्ति के वश स्तुति के छल से मात्र अपनी आत्मा की उन्नति को विस्तृत कर रहे हैं ॥२२५॥

हे ईश, जिस प्रकार मेघों का आवरण हट जाने से सूर्य की किरणें स्फुरित हो जाती हैं, उसी प्रकार द्रव्यकर्म और भावकर्मरूपी बहिरंग तथा अन्तरंग मल के हट जाने से आपके गुण स्फुरित हो रहे हैं ॥२२६॥

हे भगवन्, आप जिनवाणी के समान मनुष्यलोक को पवित्र करने वाली पुण्यरूप निर्मल जिनदीक्षा को धारण कर रहे हैं इसके सिवाय आप सबका हित करने वाले हैं और सुख देने वाले हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥२२७॥

हे भगवन् आपको यह पारमेश्वरी दीक्षा गंगा नदी के समान जगत्त्रय का सन्ताप दूर करने वाली है और तीनों जगत् को मुख्य रूप से पवित्र करने वाली है, ऐसी यह आपकी दीक्षा हम लोगों को सदा पवित्र करे ॥२२८॥

हे भगवन्, आपकी यह दीक्षा धन की धारा के समान हम लोगों को सन्तुष्ट कर रही है क्योंकि जिस प्रकार धन की धारा सुवर्ण अर्थात् सुवर्णमय होती है उसी प्रकार यह दीक्षा भी सुवर्णा अर्थात् उत्तम यश से सहित है । धन की धारा जिस प्रकार रुचिरा अर्थात् कान्तियुक्त-मनोहर होती है उसी प्रकार यह दीक्षा भी रुचिरा अर्थात् सम्यक्त्वभाव को देने वाली है (रुचिं श्रद्धां राति ददातीति रुचिरा) धन की धारा

जिस प्रकार हृद्या अर्थात् हृदय को प्रिय लगती है, उसी प्रकार यह दीक्षा भी हृद्या अर्थात् संयमीजनों के हृदय को प्रिय लगती है और धन की धारा जिस प्रकार देदीप्यमान रत्नों से अलंकृत होती है उसी प्रकार यह दीक्षा भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी देदीप्यमान रत्नों से अलंकृत है ॥२२९॥

हे भगवन् मुक्ति के लिए उद्योग करने वाले आप तत्कालीन अपने निर्मल परिणामों के द्वारा पहले ही प्रबुद्ध हो चुके थे, लौकान्तिक देवों ने तो नियोगवश पीछे आकर प्रतिबोधित किया था ॥२३०॥

हे मुनिनाथ, जगत् की सृष्टि करने वाले आपका, दीक्षा धारण करने के विषय में जो यह अभिप्राय हुआ है वह आपको स्वयं ही प्राप्त हुआ है इसलिए आप स्वयम्बुद्ध हैं ॥२३१॥

हे नाथ, आप इस राज्यलक्ष्मी को भोग के अयोग्य तथा चंचल समझकर ही क्लेश नष्ट करने के लिए निर्वाणदीक्षा को प्राप्त हुए हैं ॥२३२॥

हे भगवन्, मत्त हस्ती की तरह स्नेहरूपी खूँटा उखाड़कर वन में प्रवेश करते हुए आपको आज कोई भी नहीं रोक सकता है ॥२३३॥

हे देव, ये भोग स्वप्न में भोगे हुए भोगों के समान हैं, यह सम्पदा नष्ट हो जाने वाली है और यह जीवन भी चंचल है यही विचार कर आपने अविनाशी मोक्षमार्ग में अपना मन लगाया है ॥२३४॥

हे भगवन्, आप चंचल लक्ष्मी को दूर कर स्नेहरूपी बन्धन को तोड़कर और धन को धूलि की तरह उड़ाकर मुक्ति के साथ जा मिलेंगे ॥२३५॥

हे भगवन्, आप रति के बिना ही अर्थात् वीतराग होने पर भी राजलक्ष्मी में उदासीनता को और मुक्तिरूपी लक्ष्मी में परम हर्ष को प्रकट करते हुए तपरूपी लक्ष्मी में आसक्त हो गये हैं, यह एक आश्चर्य की बात है ॥२३६॥

हे स्वामिन्, आप राजलक्ष्मी में विरक्त हैं, तपरूपी लक्ष्मी में अनुरक्त हैं और मुक्तिरूपी लक्ष्मी में उत्कण्ठा से सहित हैं इससे मालूम होता है कि आपकी विरागता नष्ट हो गयी है । भावार्थ-यह व्याजोक्ति अलंकार है-इसमें ऊपर से निन्दा मालूम होती है परन्तु यथार्थ में भगवान की स्तुति प्रकट की गयी है ॥२३७॥

हे भगवन् आपने हेय और उपादेय वस्तुओं को जानकर छोड़ने योग्य समस्त वस्तुओं को छोड़ दिया है और उपादेय को आप ग्रहण करना चाहते हैं ऐसी दशा में आप समदर्शी कैसे हो सकते हैं (यह भी व्याजस्तुति अलंकार है) ॥२३८॥

आप पराधीन सुख को छोड़कर स्वाधीन सुख प्राप्त करना चाहते हैं तथा अल्प विभूति को छोड़कर बड़ी भारी विभूति को प्राप्त करना चाहते हैं ऐसी हालत में आपका विरति-पूर्ण त्याग कहाँ रहा ? (यह भी व्याजस्तुति है) ॥२३९॥

हे नाथ ! योगियों का आत्मज्ञान मात्र उनके हृदय को जानता है परन्तु आप अपने समान परपदार्थों को भी जानते हैं इसलिए आपका आत्मज्ञान कैसा है ? ॥२४०॥

हे नाथ, समस्त सुर और असुर पहले के समान अब भी आपकी परिचर्या कर रहे हैं और यह लक्ष्मी भी गुप्तरिति से आपकी सेवा कर रही है तब आपके तप का भाव कहाँ से आया अर्थात् आप तपस्वी कैसे कहलाये? ॥२४१॥

हे भगवन् यद्यपि आपने निर्ग्रन्थ वृत्ति धारण कर सुख प्राप्त करने का अभिप्राय भी नष्ट कर दिया है तथापि कुशल पुरुष आपको ही सुखी कहते हैं ॥२४२॥

हे प्रभो, आप मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञानरूपी तीनों शक्तियों को धारण कर कर्मरूपी शत्रुओं की सेना को खण्डित करना चाहते हैं इसलिए इस तपश्चरणरूपी राज्य में आज भी आपका विजिगीषुभाव अर्थात् शत्रुओं को जीतने की इच्छा विद्यमान है ॥२४३॥

हे ईश, आप मोहरूपी गाढ़ अन्धकार को नष्ट करने के लिए प्रकाशमान ज्ञानरूपी दीपक को लेकर चलते हैं इसलिए आप क्लेश-रूपी गड्ढे में पढ़कर कभी भी दुःखी नहीं होते ॥२४४॥

हे भट्टारक, ज्ञानावरणादि आठ कर्मों की जो यह बड़ी भारी भट्टी घनी हुई है उसमें यह आपकी ध्यानरूपी अग्नि की ऊँची शिखा खूब जल रही है ॥२४५॥

हे समस्त पदार्थ को जानने वाले सर्वज्ञ देव, जो यह हरा-भरा आठों कर्मों का वन है उसे नष्ट करने के लिए आपने यह रत्नत्रयरूपी कुल्हाड़ी उठायी है ॥२४६॥

हे भगवन्, किसी दूसरी जगह नहीं पायी जाने वाली आपकी यह ज्ञान और वैराग्यरूपी सम्पत्ति ही आपको मोक्ष प्राप्त कराने के लिए तथा

शरण में आयें हुए भक्त पुरुषों का संसार नष्ट करने के लिए समर्थ साधन है ॥२४७॥

हे प्रभो, इस प्रकार आप निज पर का हित करने वाली उत्कृष्ट ज्ञानरूपी सम्पत्ति को धारण करने वाले हैं, तो भी परमवीतराग हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥२४८॥

इस प्रकार स्तुति कर इन्द्र लोग भगवान के गुणों की पवित्र स्मृति अपने हृदय में धारण कर अपने-अपने स्थानों को चले गये ॥२४९॥

तदनन्तर लक्ष्मीवान महाराज भरत ने भी भक्ति के भार से अतिशय नम्र होकर अनेक प्रकार के वचनरूपी मालाओं के द्वारा अपने-पिता की पूजा की अर्थात् सुन्दर शब्दों द्वारा उनकी स्तुति की ॥२५०॥

तत्पश्चात् उन्हीं भरत महाराज ने बड़ी भारी भक्ति से सुगन्धित जल की धारा, गन्ध, पुष्प, अक्षत, दीप, धूप और अर्घ्य से समाधि को प्राप्त हुए (आत्मध्यान में लीन) और मोक्षप्राप्तिरूप अपने कार्य में सदा सावधान रहने वाले, मोहनीय कर्म के विजेता मुनिराज भगवान वृषभदेव की पूजा की ॥२५१॥

तथा जिनकी लक्ष्मी बहुत ही विस्तृत है ऐसे राजा भरत ने पके हुए मनोहर आम, जामुन, कैथा, कटहल, बड़हल, केला, अनार, बिजौरा, सुपारियों के सुन्दर गुच्छे और नारियलों से भगवान के चरणों की पूजा की थी ॥२५२॥ इस प्रकार जो भगवान के चरणों की पूजा कर चुके हैं, जिनके दोनों घुटने पृथिवी पर लगे हुए हैं और जिनके नेत्रों से हर्ष के आँसू निकल रहे हैं ऐसे राजा भरत ने अपने उत्कृष्ट मुकुट में लगे हुए मणियों की किरणरूप स्वच्छ जल के समूह से भगवान के चरणकमलों का प्रक्षालन करते हुए भक्ति से नम्र हुए अपने मस्तक से उन्हीं भगवान के चरणों को नमस्कार किया ॥२५३॥

जिन्होंने उत्तम-उत्तम अर्थ तथा अलंकारों से प्रशंसा करने योग्य और पापों को नष्ट करने वाली अनेक स्तुतियों से गुरुभक्ति प्रकट की है और जो बड़ी भारी विभूति से सहित हैं ऐसे राजा भरत अनेक राजपुत्रों और अपने छोटे भाइयों के साथ-साथ अयोध्या के सम्मुख हुए ॥ २५४॥

अथानन्तर जब सूर्य अपनी मन्द-मन्द किरणों के अग्रभाग से पश्चिम दिशारूपी स्त्री के मुख का स्पर्श कर रहा था और वायु शोभायमान पताकाओं के समूह को धीरे-धीरे हिला रहा था तब अपनी आज्ञा के समान उल्लंघन करने के अयोग्य अयोध्यापुरी में महाराज भरत ने प्रवेश किया ॥२५५॥

जो बड़े भारी अभ्युदय के धारक हैं और जो भावी चक्रवर्ती हैं ऐसे राजा भरत उसी अयोध्यापुरी में रहकर दूर से ही आदरपूर्वक भगवान् वृषभदेव की परिचर्या करते थे, उन्होंने अपने राज्य में सब मनुष्यों का उपकार करने वाली वृत्ति (आजीविका) का विस्तार किया था, वे अपने भाइयों को सदा हर्षित रखते थे और गुरुजनों का आदरसहित सम्मान करते थे। इस प्रकार वे केवल एक छत्र से चिह्नित पृथिवी का चिरकाल तक पालन करते रहे ॥२५६॥

इस प्रकार राजाधिराज भरत तपकल्याणक के समय भगवान वृषभदेव की यथोचित पूजा कर छोटे भाइयों के साथ-साथ अपनी अयोध्यापुरी में लौटे और वहाँ जिस प्रकार पहले जिनेन्द्रदेव भगवान् वृषभनाथ दिशा का पालन करते थे उसी प्रकार वे भी प्रतिदिन प्रातःकाल राजाओं के समूह के साथ उठकर भक्तिपूर्वक गुरुदेव का स्मरण करते हुए शत्रुमण्डल को नष्ट कर समस्त दिशाओं का पालन करने लगे ॥२५७॥

इस प्रकार आर्ष नाम से प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रह में भगवान् के तप-कल्याणक का वर्णन करने वाला सत्रहवां पर्व समाप्त हुआ ॥१७॥

पर्व-18 -- धरणेन्द्र का विजयार्थ पर्वत पर जाना

पर्व-18 -- धरणेन्द्र का विजयार्थ पर्वत पर जाना

कथा :

अथानन्तर समस्त लोक के अधिपति भगवान वृषभदेव शरीर से ममत्व छोड़कर तथा तपोयोग में सावधान हो मौन धारणकर मोक्षप्राप्ति के लिए स्थित हुए ॥१॥

योगों की एकाग्रता से जिन्होंने मन तथा बाह्य इन्द्रियों के समस्त विकार रोक दिये हैं और धीर-वीर महासन्तोषी भगवान छह महीने के उपवास की प्रतिज्ञा कर स्थित हुए थे ॥२॥

वे भगवान् सम, सीधी और लम्बी जगह में कायोत्सर्ग धारण कर खड़े हुए थे । उस समय उनके दोनों पैरों के अग्र भाग में एक वितस्ति अर्थ ात् बारह अंगुल का और एड़ियों में चार अंगुल का अन्तर था ॥३॥

वे भगवान् कठिन शिला पर भी अपने चरणकमल रखकर इस प्रकार खड़े हुए थे मानो लक्ष्मी के द्वारा लाकर रखे हुए गुप्त पद्मासन पर ही खड़े हों ॥४॥

वे अक्षर अर्थ ात् अविनाशी भगवान् भीतर-ही-भीतर अस्पष्ट अक्षरों से कुछ पाठ पढ़ रहे थे जिससे ऐसे मालूम होते थे मानो जिसकी गुफाएं भीतर छिपे हुए निर्झरनों के शब्द से गुंज रही हैं ऐसा कोई पर्वत ही हो ॥५॥

जिसमें दोनों भुजाएँ नीचे की ओर लटक रही हैं ऐसी अत्यन्त प्रसन्न और उज्ज्वल मूर्ति को धारण करते हुए वे भगवान् मालूम होते थे मानो ध्यान की सिद्धि के लिए प्रशमगुण की उत्कृष्ट मूर्ति ही धारण कर रहे हों ॥६॥

केशों का लोंच हो जाने से जिसका गोल परिमण्डल अत्यन्त स्पष्ट दिखाई पड़ रहा था, जिसका ब्रह्मद्वार अतिशय देदीप्यमान था और जो सूर्य के मण्डल के साथ स्पर्द्धा कर रहा था, ऐसे शिर को वे भगवान् धारण किये हुए थे ॥७॥

जो भौंहों के भंग और कटाक्ष अवलोकन से रहित था, जिसके नेत्र अत्यन्त निश्चल और ओठ खेदरहित तथा मिले हुए थे ऐसे सुन्दर मुख को भगवान् धारण किये हुए थे ॥८॥

उनके मुख पर सुगन्धित निःश्वास की सुगन्ध से जो भ्रमरों के समूह उड़ रहे थे वे ऐसे मालूम होते थे मानो अशुद्ध (कृष्ण नील आदि) लेश्याओं के अंश ही बाहर को निकल रहे हों ॥९॥

उनकी दोनों बड़ी-बड़ी भुजाएँ नीचे की ओर लटक रही थीं और उनका शरीर अत्यन्त देदीप्यमान तथा ऊँचा था इसलिए वे ऐसे जान पड़ते थे मानो अग्रभाग में स्थित दो ऊँची शाखाओं से सुशोभित एक कल्पवृक्ष ही हो ॥१०॥

तपश्चरण के माहात्म्य से उत्पन्न हुए अलक्षित (किसी को नहीं दिखने वाले) छत्र ने यद्यपि उन पर छाया कर रखी थी तो भी उसकी अभिलाषा न होने से वे उससे निष्ठित ही थे-अपरिग्रही ही थे ॥११॥

मन्द-मन्द वायु से जो समीपवर्ती वृक्षों की शाखाओं के अग्रभाग हिल रहे थे उनसे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो बिना यत्न के बुलाये हुए चमरों से उनका क्लेश ही दूर हो रहा हो ॥१२॥

दीक्षा के अनन्तर ही उन्हें मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त हो गया था इसलिए मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय इन चार ज्ञानों को धारण करने वाले श्रीमान् भगवान् ऐसे जान पड़ते थे मानो जिसके भीतर दीपक जल रहे हैं ऐसा कोई महल ही हो ॥१३॥

जिस प्रकार कोई राजा मन्त्रियों के द्वारा चर्चा किये जाने पर परलोक अर्थ ात् साधुओं के सब प्रकार के आना-जाना आदि को देख लेता हैं-जान लेता है उसी प्रकार भगवान् वृषभदेव भी अपने सुदृढ़ चार ज्ञानों के द्वारा सब जीवों के परलोक अर्थात् पूर्वपरपर्यायसम्बन्धी आना-जाना आदि को देख रहे थे-जान रहे थे ॥१४॥

इस प्रकार भगवान् वृषभदेव जब परम निःस्पृह होकर विराजमान थे तब कच्छ महाकच्छ आदि राजाओं के धैर्य में बड़ा भारी क्षोभ उत्पन्न होने लगा-उनका धैर्य छूटने लगा ॥१५॥

दीक्षा धारण किये हुए दो तीन माह भी नहीं हुए थे कि इतने में ही अपने को मुनि मानने वाले उन राजाओं ने परीषहरूपी वायु से भग्न होकर शीघ्र ही धैर्य छोड़ दिया था ॥१६॥

गुरुदेव-भगवान् वृषभदेव के अत्यन्त कठिन मार्ग पर चलने में असमर्थ हुए वे कल्पित मुनि अपना-अपना अभिमान छोड़कर परस्पर में जोर-जोर से इस प्रकार कहने लगे ॥१७॥

कि, अहा आश्चर्य है भगवान् का कितना धैर्य है, कितनी स्थिरता है और इनकी जंघाओं में कितना बल है इन्हें छोड़कर और दूसरा कौन है जो ऐसा साहस कर सके ॥१८॥

अब यह भगवान् इस तरह आलस्यरहित होकर क्षुधा आदि से उत्पन्न हुई बाधाओं को सहते हुए निश्चल पर्वत की तरह और कितने समय तक खड़े रहेंगे ॥१९॥

हम समझते थे कि भगवान् एक दिन, दो दिन अथवा ज्यादा-से-ज्यादा तीन चार दिन तक खड़े रहेंगे परन्तु यह भगवान् तो महीनों पर्यन्त खड़े रहकर हम लोगों को क्लेशित (दुःखी) कर रहे हैं ॥२०॥

अथवा यदि स्वयं भोजन पान कर और हम लोगों को भी भोजन पान आदि से सन्तुष्ट कर फिर खड़े रहते तो अच्छी तरह खड़े रहते, कोई हानि नहीं थी परन्तु यह तो बिल्कुल ही उपवास धारण कर भूख-प्यास आदि का कुछ भी प्रतीकार नहीं करते और इस प्रकार खड़े रहकर हम लोगों का नाश कर रहे हो ॥२१॥

अथवा न जाने किस कार्य के उद्देश्य से भगवान इस प्रकार खड़े हुए हैं । राजाओं के जो सन्धि, विग्रह आदि छह गुण होते हैं उनमें इस प्रकार खड़े रहना ऐसा कोई भी गुण नहीं पढ़ा है ॥२२॥

अनेक उपद्रवों से भरे हुए इस वन में अपनी रक्षा के बिना ही जो भगवान् खड़े हुए हैं उससे ऐसा मालूम होता है कि यह नीति के जानकार नहीं हैं क्योंकि अपनी रक्षा प्रयत्नपूर्वक करनी चाहिए ॥२३॥

भगवान् प्रायः प्राणों से विरक्त होकर शरीर छोड़ने की चेष्टा करते हैं परन्तु हम लोग प्राणहरण करने वाले इस तप से ही खिन्न हो गये हैं ॥ २४॥

इसलिए जब तक भगवान् के योग की अवधि है अर्थात् जब तक इनका ध्यान समाप्त नहीं होता तब तक हम लोग वन में उत्पन्न हुए कन्द, मूल, फल आदि के द्वारा ही अपनी प्राणयात्रा (जीवन निर्वाह) करेंगे ॥२५॥

इस प्रकार कितने ही कातर पुरुष तपस्या से उदासीन होकर अत्यन्त दीन वचन कहते हुए दीनवृत्ति धारण करने के लिए तैयार हो गये ॥ २६॥

हमें क्या करना चाहिए इस विषय में मूर्ख रहने वाले कितने ही मुनि पूर्वापर (आगा-पीछा) जानने वाले भगवान् के चारों ओर समीप ही खड़े हो गये और अपने अन्तःकरण को कभी निश्चल तथा कभी चंचल करने लगे । भावार्थ-कितने ही मुनि समझते थे कि भगवान् पूर्वापर के जानने वाले हैं इसलिए हम लोगों के पूर्वापर का भी विचार कर हम लोगों से कुछ-न-कुछ अवश्य कहेंगे ऐसा विचारकर उनके समीप ही उन्हें चारों ओर से घेरकर खड़े हो गये । उस समय जब वे भगवान् के गुणों की ओर दृष्टि डालते थे तब उन्हें कुछ धैर्य प्राप्त होता था और जब अपनी दीन अवस्था पर दृष्टि डालते थे तब उनकी बुद्धि चंचल हो जाती थी-उनका धैर्य छूट जाता था ॥२७॥

वे मुनि परस्पर में कह रहे थे कि जब भगवान् राज्य में स्थित थे अर्थात् राज्य करते थे तब हम उनके सो जाने पर सोते थे, भोजन कर चुकने पर भोजन करते थे, खड़े होने पर खड़े रहते थे और गमन करने पर गमन करते थे तथा अब जब भगवान् तप में स्थित हुए अर्थात् जब इन्होंने तपश्चरण करना प्रारम्भ किया तब हम लोगों ने तप भी धारण किया । इस प्रकार सेवक का जो कुछ कार्य है वह सब हम पहले कर चुके हैं परन्तु हमारे कुलाभिमान का वह समय आज हमारे प्राणों को संकट देने वाला बन गया है अथवा इस प्राण संकट के समय हमारे कुलाभिमान का वह काल नष्ट हो गया है ॥२८-२९॥

जब से भगवान ने वन में प्रवेश किया है तब से हमने जल भी ग्रहण नहीं किया है । भोजन पान के बिना ही जब तक हम लोग समर्थ रहे तब तक खड़े रहे परन्तु अब सामर्थ्यहीन हो गये हैं इसलिए क्या करें ॥३०॥

मालूम होता है कि भगवान् हम पर निर्दय हैं-कुछ भी दया नहीं करते, वे हम से झूठमूठ ही तपस्या कराते हैं, इनके साथ बराबरी की स्पर्धा कर क्या हम असमर्थ लोग को मर जाना चाहिए? ॥३१॥

ये भगवान् अब घर को नहीं लौटेंगे, इनके पक्ष का अनुसरण करने के लिए कौन समर्थ है ये स्वच्छन्दचारी है इसलिए इनका किया हुआ काम किसी को नहीं करना चाहिए ॥३२॥

क्या मेरी माता जीवित है, क्या मेरे पिता जीवित हैं, क्या मेरी स्त्री मेरा स्मरण करती है और क्या मेरी प्रजा अच्छी तरह स्थित है ? ॥३३॥ इस प्रकार वहाँ ठहरने के लिए असमर्थ हुए कितने ही लोग अपने मन की बात स्पष्ट रूप से कहकर घर जाने की इच्छा से बार-बार भगवान् के सम्मुख जाकर उनके चरणों को नमस्कार करते थे ॥३४॥

कोई कहते थे कि अहा, ये भगवान बड़े ही धीर-वीर हैं इन्होंने अपनी आत्मा को भी वश कर लिया है और इन्होंने किसी-न-किसी कारण को उद्देश्य कर राज्यलक्ष्मी का परित्याग किया है इसलिए फिर भी उससे युक्त होंगे अर्थात् राज्यलक्ष्मी स्वीकृत करेंगे ॥३५॥

स्थिर बुद्धि को धारण करने वाले और बोलने वालों में श्रेष्ठ भगवान् वृषभदेव जब आज या कल अपना योग समाप्त कर अपनी राज्यलक्ष्मी से पुनः युक्त होंगे तब भगवान् के इस कार्य में जिन्होंने अपना उत्साह भग्न कर दिया है अथवा छल किया है ऐसे हम लोगों को अपमानित कर अवश्य ही निकाल देंगे और सम्पत्तिरहित कर देंगे अर्थात् हम लोगों की सम्पत्तियाँ हरण कर लेंगे ॥३६-३७॥

अथवा यदि हम लोग भगवान् को छोड़कर जाते हैं तो भरत महाराज हम लोगों को कष्ट देंगे इसलिए जब तक भगवान् का योग समाप्त होता है तब तक हम लोग यहां सब कुछ सहन करें ॥३८॥

यह भगवान् अवश्य ही आज या कल में सिद्धयोग हो जायेंगे अर्थात् इनका योग सिद्ध हो जायेगा और योग के सिद्ध हो चुकने पर अनेक क्लेश सहन करने वाले हम लोगों को अवश्य ही अंगीकृत करेंगे-किसी न किसी तरह हमारी रक्षा करेंगे ॥३९॥

ऐसा करने से हम लोगों को न तो कभी भगवान् से कोई पीड़ा होगी और न उनके पुत्र भरत से ही । किन्तु प्रसन्न होकर वे दोनों ही पूजा-सत्कार और धनादि के लाभ से हम लोगों को सन्तुष्ट करेंगे ॥४०॥

इस प्रकार कितने ही मुनि अन्तरंग में क्षोभ रहते हुए भी धीरता के कारण दुःखी नहीं हुए थे और कितने ही पुरुष आत्मा को धैर्य देते हुए भी उसे उचित स्थिति में रखने के समर्थ नहीं हो सके थे ॥४१॥

अभिमान ही है धन जिनका ऐसे कितने ही पुरुष फिर भी वहाँ रहने के लिए तैयार हुए थे और निर्बल होने के कारण परवश जमीन पर पड़कर भी भगवान् के चरणों का स्मरण कर रहे थे ॥४२॥

इस प्रकार राजा अनेक प्रकार के ऊंचे-नीचे भाषण और संकल्प-विकल्प कर तपश्चरण सम्बन्धी क्लेश से विरक्त हो गये और जीविका में बुद्धि लगाने लगे अर्थात् उपाय सोचने लगे ॥४३॥

कितने ही लोग अशक्त होकर भगवान् के मुख के सम्मुख देखने लगे और कितने ही लोगों ने लज्जा के कारण अपना मुख पीछे की ओर फेर लिया । इस प्रकार धीरे-धीरे स्खलित गति को प्राप्त हुए अर्थात् क्रम-क्रम से जाने के लिए तत्पर हुए ॥४४॥

कितने ही लोग योगिराज भगवान् वृषभदेव से पूछकर और कितने ही बिना पूछे ही उनकी प्रदक्षिणा देकर और उन्हें नमस्कार कर प्राणयात्रा (आजीविका) के उपाय सोचने लगे ॥४५॥

हे देव, आप ही हमें शरणरूप हैं इस संसार में हम लोगों की और कोई गति नहीं है, ऐसा कहकर भागते हुए कितने ही पुरुष अपने प्राणों की रक्षा में बुद्धि लगा रहे थे-प्राणरक्षा के उपाय विचार रहे थे ॥४६॥

जिनके प्रत्येक अंग थरथर काँप रहे हैं ऐसे कितने ही लज्जावान पुरुष भगवान् से पराङ्मुख होकर व्रतों से पराङ्मुख हो गये थे अर्थात् लज्जा के कारण भगवान् के पास से दूसरी जगह जाकर उन्होंने व्रत छोड़ दिये थे ॥४७॥

कितने ही लोग भगवान् के चरणों पर पढ़कर कह रहे थे कि हे प्रभो हमारी रक्षा कीजिए, हम लोगों का शरीर भूख से बहुत ही कृश हो गया है अतः अब हमें क्षमा कीजिए इस प्रकार कहते हुए वहाँ से अन्तर्हित हो गये थे-अन्यत्र चले गये थे ॥४८॥

खेद है कि जिसे अन्य साधारण मनुष्य स्पर्श भी नहीं कर सकते ऐसे भगवान् के उस मार्ग पर चलने के लिए असमर्थ होकर वे सब खोटे ऋषि तपस्या से भ्रष्ट हो गये सो ठीक ही है क्योंकि बड़े हाथी के बोझ को क्या उसके बच्चे भी धारण कर सकते हैं अथवा बड़े बैलों द्वारा खींचे जाने योग्य बोझ को क्या छोटे बछड़े भी खींच सकते हैं ? ॥४९-५०॥

तदनन्तर परीषद्‌ओं से पीड़ित हुए वे लोग फल खाने की इच्छा से वनखण्डों में फैलने लगे और प्यास से पीड़ित होकर तालाबों पर जाने लगे ॥५१॥

उन लोगों को अपने ही हाथ से फल ग्रहण करते और पानी पीते हुए देखकर वन-देवताओं ने उन्हें मना किया और कहा कि ऐसा मत करो । हे मूर्खों, यह दिगम्बर रूप सर्वश्रेष्ठ अरहन्त तथा चक्रवर्ती आदि के द्वारा भी धारण करने योग्य है इसे तुम लोग कातरता का स्थान मत बनाओ । अर्थात् इस उत्कृष्ट वेष को धारण कर दीनों की तरह अपने हाथ से फल मत तोड़ो और न तालाब आदि का अप्रासुक पानी पीओ ॥५२-५३॥

वन देवताओं के ऐसे वचन सुनकर वे लोग दिगम्बर वेष में वैसा करने से डर गये इसलिए उन दीन चेष्टा वाले भ्रष्ट तपस्वियों ने नीचे लिखे हुए अनेक वेष धारण कर लिये ॥५४॥

उनमें से कितने ही लोग वृक्षों के वल्कल धारण कर फल खाने लगे और पानी पीने लगे और कितने ही लोग जीर्ण-शीर्ण लंगोटी पहनकर अपनी इच्छानुसार कार्य करने लगे ॥५५॥

कितने ही लोग शरीर को भस्म से लपेटकर जटाधारी हो गये, कितने ही एक दण्ड को धारण करने वाले और कितने ही तीन दण्ड को धारण करने वाले साधु बन गये थे ॥५६॥

इस प्रकार प्राणों से पीड़ित हुए वे लोग उस समय ऊपर लिखे अनुसार अनेक वेश धारणकर वन में होने वाले वृक्षों की छालरूप वृक्ष, स्वच्छ जल और कन्द मूल आदि के द्वारा बहुत समय तक अपनी वृत्ति (जीवन निर्वाह) करते रहे ॥५७॥

वे लोग भरत महाराज से डरते थे इसलिए उनका देशत्याग अपने आप ही हो गया था अर्थात् वे भरत के डर से अपने-अपने नगरों में नहीं गये थे किन्तु झोंपड़े बनाकर उसी वन में रहने लगे थे ॥५८॥

वे लोग पाखण्डी तपस्वी तो पहले से ही थे परन्तु उस समय कितने ही परिव्राजक हो गये थे और मोहोदय से दूषित होकर पाखण्डियों में मुख्य हो गये थे ॥५९॥

वे लोग जल और फूलों के उपहार से भगवान् के चरणों की पूजा करते थे । स्वयम्भू भगवान् वृषभदेव को छोड़कर उनके अन्य कोई देवता नहीं था ॥६०॥

भगवान् वृषभदेव का नाती मरीचिकुमार भी परिव्राजक हो गया था और उसने मिथ्या शास्त्रों के उपदेश से मिथ्यात्व की वृद्धि की थी ॥ ६१॥

योगशास्त्र और सांख्यशास्त्र प्रारम्भ में उसी के द्वारा कहे गये थे, जिनसे मोहित हुआ यह जीव सम्यग्ज्ञान से पराङ्मुख हो जाता है ॥६२॥ इस प्रकार जब कि वे द्रव्यलिङ्गी मुनि ऊपर कही हुई अनेक प्रकार की प्रवृत्ति को प्राप्त हो गये तब बुद्धि बल से सहित महामुनि भगवान् वृषभदेव उसी प्रकार तपस्या करते हुए विद्यमान रहे थे ॥६३॥

वे प्रभु मेरुपर्वत के समान निष्कम्प थे, समुद्र के समान क्षोभरहित थे, वायु के समान परिग्रहरहित थे और आकाश के समान निर्लेप थे ॥ ६४॥

तपश्चरण के तीन ताप से भगवान् का शरीर बहुत ही देदीप्यमान हो गया था सो ठीक ही है, तपाये हुए सुवर्ण की कान्ति निश्चय से अन्य हो ही जाती है ॥६५॥

कर्मरूपी शत्रु को जलाने की इच्छा करने वाले भगवान् की मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति ये तीन गुप्तियां ही किले आदि के समान रक्षा करने वाली थी, संयम ही शरीर की रक्षा करने वाला कवच था और सम्यग्दर्शन आदि गुण ही उनके सैनिक थे ॥६६॥

पहला उपवास, दूसरा अवमौदर्य, तीसरा वृत्तिपरिसंख्यान, चौथा रसपरित्याग, पांचवां कायक्लेश और छठवां विविक्तशय्यासन यह छह प्रकार के बाह्य तप महा धीर-वीर भगवान् वृषभदेव के थे ॥६७-६८॥

अन्तरङ्ग तप भी प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान के भेद से छह प्रकार का ही है । उनमें से भगवान् वृषभदेव के ध्यान में ही अधिक तत्परता रहती थी अर्थात् वे अधिकतर ध्यान ही करते रहते थे ॥६९॥

पाँच महाव्रत, समिति नामक पाँच सुप्रयत्न, पाँच इन्द्रियनिरोध, छह आवश्यक, केशलोच, पृथ्वी पर सोना, दातौन नहीं करना, नग्न रहना, स्नान नहीं करना, खड़े होकर भोजन करना और दिन में एक बार ही भोजन करना इस प्रकार अट्ठाईस मूलगुण भगवान् वृषभदेव के विद्यमान थे जो कि उनके पदातियों अर्थात् पैदल चलने वाले सैनिकों के समान थे । ध्यान की विशुद्धता के कारण भगवान् के इन गुणों में बहुत ही विशुद्धता रहती थी ॥७०-७२॥

यद्यपि भगवान् ने छह महीने का महोपवास तप किया था तथापि उनके शरीर का उपचय पहले की तरह ही देदीप्यमान बना रहा था । इससे कहना पड़ता है कि उनकी धीरता बड़ी ही आश्चर्यजनक थी ॥७३॥

यद्यपि भगवान् बिल्कुल ही आहार नहीं लेते थे तथापि उनके शरीर में रंचमात्र भी परिश्रम नहीं होता था । वास्तव में भगवान् वृषभदेव की शरीररचना अथवा उनके निर्माण नामकर्म का ही यह कोई दिव्य अतिशय था ॥७४॥

उस समय भगवान् के केश संस्काररहित होने के कारण जटाओं के समान हो गये थे और वे मालूम होते ने मानो तपस्या का क्लेश सहन करने के लिए ही वैसे कठोर हो गये हों ॥७५॥

वे जटाएं वायु से उड़कर महामुनि भगवान् वृषभदेव के मस्तक पर दूर तक फैल गयी थीं, सो ऐसी जान पड़ती थीं मानो ध्यानरूपी अग्नि से तपाये हुए जीवरूपी स्वर्ण से निकली हुई कालिमा ही हो ॥७६॥

भगवान् के तपश्चरण के अतिशय से उस विस्तृत वन में रात-दिन ऐसी उत्तम कान्ति रहती थी जैसी कि प्रातःकाल के सूर्य के तेज से होती है ॥७७॥

उस वन में पुष्प और फल के भार से नम्र हुई वृक्ष की शाखाएँ ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो भक्ति से भगवान् के चरणों को नमस्कार ही कर रही हों ॥७८॥

उस वन में लताओं पर बैठे हुए भ्रमर संगीत के समान मधुर शब्द कर रहे थे जिससे वे वनलताएं ऐसी मालूम होती थी मानो भक्तिपूर्वक वीणा बजाकर जगद्गुरु भगवान् वृषभदेव का यशोगान ही कर रही हों ॥७९॥

भगवान् के समीपवर्ती वृक्षों से जो अपने आप ही फूल गिर रहे थे उनसे वे वृक्ष ऐसे जान पड़ते थे मानो भक्तिपूर्वक भगवान् के चरणों में फूलों का उपहार ही विस्तृत कर रहे हों अर्थात् फूलों की भेंट ही चढ़ा रहे हों ॥८०॥

भगवान् के चरणों के समीप ही अपनी इच्छानुसार कुछ-कुछ निद्रा लेते हुए जो हरिणों के बच्चे बैठे हुए थे वे उनके आश्रम की शान्तता बतला रहे थे ॥८१॥

सिंह हरिण आदि जन्तुओं के साथ बैरभाव छोड़कर हाथियों के झुण्ड के साथ मिलकर रहने लगे थे सो यह सब भगवान् के ध्यान से उत्पन्न हुई महिमा ही थी ॥८२॥

अहा, कैसा आश्चर्य था कि जिनके बालों के अग्रभाग काँटों में उलझ गये थे और जो उन्हें बार-बार सुलझाने का प्रयत्न करती थीं ऐसी चमरी गायों को बाघ बड़ी दया के साथ अपने नखों से छुड़ा रहे थे अर्थात् उनके बाल सुलझा कर उन्हें जहाँ-तहाँ जाने के लिए स्वतन्त्र कर रहे थे ॥८३॥

हरिण के बच्चे दूध देती हुई बाघनियों के पास जाकर और उन्हें अपनी माता समझ इच्छानुसार दूध पीकर सुखी होते थे ॥८४॥

अहा, भगवान् के तपश्चरण की शक्ति बड़ी ही आश्चर्यकारक थी वन के हाथी भी फूले हुए कमल लाकर उनके चरणों में चढ़ाते थे ॥८५॥

जिस समय वे हाथी फूले हुए कमलों-द्वारा भगवान् की उपासना करते थे उस समय उनके सूंड के अग्रभाग में स्थित लाल कमल ऐसे सुशोभित होते थे मानो उनके पुष्कर अर्थात् सूंड के अग्रभाग की शोभा को दूनी कर रहे हों ॥८६॥

भगवान् के शरीर से फैलती हुई शान्ति की किरणों ने कभी किसी के वश न होने वाले सिंह आदि पशुओं को भी हठात् वश में कर लिया था ॥८७॥

यद्यपि त्रिलोकीनाथ भगवान् उपवास कर रहे थे-कुछ भी आहार नहीं लेते थे तथापि उन्हें भूख की बाधा नहीं होती थी, सो ठीक ही है, क्योंकि सन्तोषरूप भावना के उत्कर्ष से जो अनिच्छा उत्पन्न होती है वह हरएक प्रकार की इच्छाओं (लम्पटता) को जीत लेती है ॥८८॥

उस समय भगवान् के ध्यान के प्रताप से इन्द्रों के आसन भी कम्पायमान हो गये थे । वास्तव में यह भी एक बड़ा आश्चर्य है कि महापुरुषों का धैर्य भी जगत् के कम्पन का कारण हो जाता है ॥८९॥

इस तरह छह महीने में समाप्त होने वाले प्रतिमा योग को प्राप्त हुए और धैर्य से शोभायमान रहने वाले भगवान् का वह लम्बा समय भी क्षणभर के समान व्यतीत हो गया ॥९०॥

इसी के बीच में महाराज कच्छ, महाकच्छ के लड़के भगवान् के समीप आये थे । वे दोनों लड़के बहुत ही सुकुमार थे, दोनों ही तरुण थे, नमि तथा विनमि उनका नाम था और दोनों ही भक्ति से निर्भर होकर भगवान् के चरणों की सेवा करना चाहते थे ॥९१-९२॥

वे दोनों ही भोगोपभोग विषयक तृष्णा से सहित थे इसलिए हे भगवन, 'प्रसन्न होइए' इस प्रकार कहते हुए वे भगवान् को नमस्कार कर उनके चरणों में लिपट गये और उनके ध्यान में विघ्न करने लगे ॥९३॥

हे स्वामिन् आपने अपना यह साम्राज्य पुत्र तथा पौत्रों के लिए बाँट दिया है । बाँटते समय हम दोनों को भुला ही दिया-इसलिए अब हमें भी कुछ भोग सामग्री दीजिए ॥९४॥

इस प्रकार वे भगवान् से बार-बार आग्रह कर रहे थे उन्हें उचित-अनुचित का कुछ भी ज्ञान नहीं था और वे दोनों उस समय जल, पुष्प तथा अर्घ्य से भगवान् की उपासना कर रहे थे ॥९५॥

तदनन्तर धरणेन्द्र नाम को धारण करने वाले, भवनवासियों के अन्तर्गत नागकुमार देवों के इन्द्र ने अपना आसन कम्पायमान होने से नमि, विनमि के इस समस्त वृत्तान्त को जान लिया ॥९६॥

अवधिज्ञान के द्वारा इन समस्त समाचारों को जानकर यह धरणेन्द्र बड़े ही संभ्रम के साथ उठा और शीघ्र ही भगवान् के समीप आया ॥

वह उसी समय पूजा की सामग्री लिये हुए पृथ्वी को भेदन कर भगवान् के समीप पहुँचा। वहाँ उसने दूर से ही मेरु पर्वत के समान ऊँचे मुनिराज वृषभदेव को देखा ॥९८॥

उस समय भगवान् ध्यान में लवलीन थे और उनका देदीप्यमान शरीर अतिशय बड़ी हुई तप की दीप्ति से प्रकाशमान हो रहा था इसलिए वे ऐसे मालूम होते थे मानो वायु रहित प्रदेश में रखे हुए दीपक ही हों ॥९९॥

अथवा वे भगवान् किसी उत्तम यज्वा अर्थात् यज्ञ करने वाले के समान शोभायमान हो रहे थे क्योंकि जिस प्रकार यज्ञ करने वाला अग्नि में आहुतियाँ जलाने के लिए तत्पर रहता है उसी प्रकार भगवान् भी महाध्यानरूपी अग्नि में कर्मरूपी आहुतियाँ जलाने के लिए उद्यत थे। और जिस प्रकार यज्ञ करने वाला अपनी पत्नी से सहित होता है उसी प्रकार भगवान् भी कभी नहीं छोड़ने योग्य दयारूपी पत्नी से सहित थे ॥१००॥

अथवा वे मुनिराज एक कुञ्जर अर्थात् हाथी के समान मालूम होते थे क्योंकि जिस प्रकार हाथी महोदय अर्थात् भाग्यशाली होता है उसी प्रकार भगवान् भी महोदय अर्थात् बड़े भारी ऐश्वर्य से सहित थे। हाथी का शरीर जिस प्रकार ऊँचा होता है उसी प्रकार भगवान् का शरीर भी ऊँचा था, हाथी जिस प्रकार सुवंश अर्थात् पीठ की उत्तम रीढ़ से सहित होता है उसी प्रकार भगवान् भी सुवंश अर्थात् उत्तम कुल से सहित थे और हाथी जिस प्रकार रस्सियों-द्वारा खम्भे में बंधा रहता है उसी प्रकार भगवान् भी उत्तम व्रतरूपी रस्सियों-द्वारा तपरूपी बड़े भारी खम्भे में बँधे हुए थे ॥१०१॥

वे भगवान् सुमेरु पर्वत के समान उत्तम शरीर धारण कर रहे थे क्योंकि जिस प्रकार सुमेरु पर्वत अकम्पायमान रूप से खड़ा है उसी प्रकार उनका शरीर भी अकम्पायमान रूप से (निश्चल) खड़ा था, मेरु पर्वत जिस प्रकार ऊँचा होता है उसी प्रकार उनका शरीर भी ऊँचा था, सिंह, व्याघ्र आदि बड़े-बड़े क्रूर जीव जिस प्रकार सुमेरु पर्वत की उपासना करते हैं अर्थात् वहाँ रहते हैं उसी प्रकार बड़े-बड़े क्रूर जीव शान्त होकर भगवान् के शरीर की भी उपासना करते थे अर्थात् उनके समीप में रहते थे, अथवा सुमेरु पर्वत जिस प्रकार इन्द्र आदि महासत्त्व अर्थात् महाप्राणियों से उपासित होता है उसी प्रकार भगवान् का शरीर भी इन्द्र आदि महासत्त्वों से उपासित था अथवा सुमेरु पर्वत जिस प्रकार महासत्त्व अर्थात् बड़ी भारी दृढ़ता से उपासित होता है उसी प्रकार भगवान् का शरीर भी महासत्त्व अर्थात् बड़ी भारी दृढ़ता (धीर-वीरता) से उपासित था, और सुमेरु पर्वत जिस प्रकार क्षमा अर्थात् पृथ्वी के भार को धारण करने में समर्थ होता है उसी प्रकार भगवान् का शरीर भी क्षमा अर्थात् शान्ति के भार को धारण करने में समर्थ था ॥१०२॥

उस समय भगवान् ने अपने अन्तःकरण को ध्यान के भीतर निश्चल कर लिया था तथा उनकी चेष्टाएँ अत्यन्त गम्भीर थीं। इसलिए वे वायु के न चलने से निश्चल हुए समुद्र की गम्भीरता को भी तिरस्कृत कर रहे थे ॥१०३॥

अथवा भगवान् किसी अनोखे समुद्र के समान जान पड़ते थे क्योंकि उपलब्ध समुद्र तो वायु से क्षुभित हो जाता है परन्तु वे परीषहरूपी महावायु से कभी भी क्षुभित नहीं होते थे, उपलब्ध समुद्र तो जलाशय अर्थात् जल है आशय में (मध्य में) जिसके ऐसा होता है परन्तु भगवान् जडाशय अर्थात् जड़ (अविवेक युक्त) है आशय (अभिप्राय) जिनका ऐसे नहीं थे, उपलब्ध समुद्र तो अनेक मगर-मच्छ आदि जल-जन्तुओं से भरा रहता है परन्तु भगवान् दोषरूपी जल-जन्तुओं से छुए भी नहीं गये थे ॥१०४॥

इस प्रकार भगवान् वृषभदेव के समीप वह धरणेन्द्र बड़े ही आदर के साथ पहुँचा और अतिशय बड़ी हुई तपरूपी लक्ष्मी से आलिङ्गित हुए भगवान् के शरीर को देखता हुआ आश्चर्य करने लगा ॥१०५॥

प्रथम ही उस धरणेन्द्र ने जगद्गुरु भगवान् वृषभदेव की प्रदक्षिणा दी, उन्हें प्रणाम किया, उनकी स्तुति की और फिर अपना वेश छिपाकर वह उन दोनों कुमारों से इस प्रकार सयुक्तिक वचन कहने लगा ॥१०६॥

हे तरुण पुरुषों, ये हथियार धारण किये हुए तुम दोनों मुझे विकृत आकार वाले दिखलाई दे रहे हो और इस उत्कृष्ट तपोवन को अत्यन्त शान्त देख रहा हूँ ॥१०७॥

कहाँ तो यह शान्त तपोवन, और कहाँ भयंकर आकार वाले तुम दोनों? प्रकाश और अन्धकार के समान तुम्हारा समागम क्या अनुचित नहीं है? ॥१०८॥

अहो, यह भोग बड़े ही निन्दनीय हैं जो कि अयोग्य स्थान में भी प्रार्थना कराते हैं अर्थात् जहाँ याचना नहीं करनी चाहिए वहाँ भी याचना कराते हैं, सो ठीक ही है क्योंकि याचना करने वालों को योग्य अयोग्य का विचार ही कहाँ रहता है ॥१०९॥

यह भगवान् तो भोगों से निःस्पृह हैं और तुम दोनों उनसे भोगों की इच्छा कर रहे हो सो तुम्हारी यह शिलातल से कमल की इच्छा आज हम लोगों को आश्चर्ययुक्त कर रही है । भावार्थ-जिस प्रकार पत्थर की शिला से कमलों की इच्छा करना व्यर्थ है उसी प्रकार भोग की इच्छा से रहित भगवान् से भोगों की इच्छा करना व्यर्थ है ॥११०॥

जो मनुष्य स्वयं भोगों की इच्छा से युक्त होता है वह दूसरों को भी वैसा ही मानता है, अरे, ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा जो अन्त में सन्ताप देने वाले इन भोगों की इच्छा करता हो ॥१११॥

प्रारम्भ मात्र में ही मनोहर दिखाई देनेवाले भोगों के वश हुआ पुरुष चाहे जितना बड़ा होने पर भी याचनारूपी दोष से शीघ्र ही तृण के समान लघु हो जाता है ॥११२॥

यदि तुम दोनों भोगों को चाहते हो तो भरत के समीप जाओ क्योंकि इस समय वही साम्राज्य का भार धारण करने वाला है और वही श्रेष्ठ राजा है ॥११३॥

भगवान् तो राग, द्वेष आदि अन्तरङ्ग परिग्रह का त्याग कर चुके हैं और अपने शरीर से भी निःस्पृह हो रहे हैं, अब यह भोगों की इच्छा करने वाले तुम दोनों को भोग कैसे दे सकते हैं ? ॥११४॥

इसलिए, जो केवल मोक्ष जाने के लिए उद्योग कर रहे हैं ऐसे इन भगवान् के पास धरना देना व्यर्थ है । तुम दोनों भोगों के इच्छुक हो अतः भरत की उपासना करने के लिए उसके पास जाओ ॥११५॥

इस प्रकार जब वह धरणेन्द्र कह चुका तब वे दोनों नमि, विनमि कुमार उसे इस प्रकार उत्तर देने लगे कि दूसरे के कार्यों में आपकी यह क्या आस्था (आदर, बुद्धि) है ? आप महा बुद्धिमान् हैं, अतः यहाँ से चुपचाप चले जाइए ॥११६॥

क्योंकि इस विषय में जो योग्य अथवा अयोग्य है उन दोनों को हम लोग जानते हैं परन्तु आप इस विषय में अनभिज्ञ हैं इसलिए जहाँ आप को जाना है जाइए ॥११७॥

ये वृद्ध हैं और ये तरुण है यह भेद तो मात्र अवस्था का किया हुआ है । वृद्धावस्था में न तो कुछ ज्ञान की दृष्टि होती है और न तरुण अवस्था में बुद्धि का कुछ हास ही होता है, बल्कि देखा ऐसा जाता है कि अवस्था के पकने से वृद्धावस्था में प्रायः बुद्धि की मन्दता हो जाती है और प्रथम अवस्था प्रायः पुण्यवान् पुरुषों की बुद्धि बढ़ती रहती है ॥११८-११९॥

न तो नवीन-तरुण अवस्था दोष उत्पन्न करने वाली है और न वृद्ध अवस्था गुण उत्पन्न करने वाली है क्योंकि चन्द्रमा नवीन होने पर भी मनुष्यों को आह्लादित करता है और अग्नि जीर्ण (बुझने के सम्मुख) होने पर भी जलाती ही है ॥१२०॥

जो मनुष्य बिना पूछे ही किसी कार्य को करता है वह बहुत ढीठ समझा जाता है । हम दोनों ही इस प्रकार का कार्य आपसे पूछना नहीं चाहते फिर आप व्यर्थ ही बीच में क्यों बोलते हैं ॥१२१॥

आप-जैसे निन्द्य आचरण वाले दुष्ट पुरुष बिना पूछे कार्यों का निर्देश कर तथा अत्यन्त असत्य और अनिष्ट चापलूसी के वचन कहकर लोगों को ठगा करते हैं ॥१२२॥

बुद्धिमान् पुरुषों की जिह्वा कभी स्वप्न में भी अशुद्ध भाषण नहीं करती हैं, उनकी चेष्टा कभी दूसरों का अनिष्ट नहीं करती और न उनकी स्मृति ही दूसरों का विनाश करने के लिए कभी कठोर होती है ॥१२३॥

जिन्होंने जानने योग्य सम्पूर्ण तत्त्वों को जान लिया है ऐसे आप सरीखे बुद्धिमान् पुरुषों के लिए हम बालकों द्वारा न्यायमार्ग का उपदेश दिया जाना योग्य नहीं है क्योंकि जो सज्जन पुरुष होते हैं वे एक न्यायरूपी जीविका से ही युक्त होते हैं अर्थात् वे न्यायरूप प्रवृत्ति से ही जीवित रहते हैं ॥१२४॥

आयु के अनुकूल धारण किया हुआ आपका यह वेष बहुत ही शान्त है, आपकी यह आकृति भी सौम्य है और आपके वचन भी प्रसादगुण से सहित तथा तेजस्वी हैं और आपकी बुद्धिमत्ता को स्पष्ट कह रहे हैं ॥१२५॥

जो अन्य साधारण पुरुषों में नहीं पाया जाता और जो बाहर भी प्रकाशमान हो रहा है ऐसा आपका यह भीतर छिपा हुआ अनिर्वचनीय तेज तथा बहुत शरीर आपकी महानुभावता को कह रहा है । भावार्थ-आपके प्रकाशमान लोकोत्तर तेज तथा असाधारण दीप्तिमान शरीर के देखने से मालूम होता है कि आप कोई महापुरुष हैं ॥१२६॥

इस प्रकार जिनकी अनेक विशेषताएँ प्रकट हो रही है ऐसे आप कोई भद्रपरिणामी पुरुष हैं परन्तु फिर भी आप जो हमारे कार्य में मोह को

प्राप्त हो रहे हैं सो उसका क्या कारण है यह हम नहीं जानते ॥१२७॥

गुरु-भगवान् वृषभदेव को प्रसन्न करना सब जगह प्रशंसा करने योग्य है और यही हम दोनों का इच्छित फल है अर्थात् हम लोग भगवान् को ही प्रसन्न करना चाहते हैं परन्तु आप उसमें प्रतिबन्ध कर रहे हैं-विघ्न डाल रहे हैं इसलिए जान पड़ता है कि आप दूसरों का कार्य करने में शीतल अर्थात् उद्योगरहित हैं-आप दूसरों का भला नहीं होने देना चाहते ॥१२८॥

दूसरों की वृद्धि देखकर दुर्जन मनुष्य ही ईर्ष्या करते हैं । आप जैसे सज्जन और महापुरुषों को तो बल्कि दूसरों की वृद्धि से आनन्द होना चाहिए ॥१२९॥

भगवान् वन में निवास कर रहे हैं इससे क्या उनका प्रभुत्व नष्ट हो गया है देखो, भगवान् के चरणकमलों के मूल में आज भी यह चराचर विश्व विद्यमान है ॥१३०॥

आप जो हम लोगों को भरत के पास जाने की सलाह दे रहे हैं सो भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा कौन बुद्धिमान होगा जो बड़े-बड़े बहुत से फलों की इच्छा करता हुआ भी कल्पवृक्ष को छोड़कर अन्य सामान्य वृक्ष की सेवा करेगा ॥१३१॥

अथवा रत्नों की चाह करने वाला पुरुष महासमुद्र को छोड़कर, जिसमें शैवाल भी सूख गयी है ऐसे किसी अल्प सरोवर (तलैया) की सेवा करेगा अथवा धान की इच्छा करने वाला पियाल का आश्रय करेगा ? ॥१३२॥

भरत और भगवान् वृषभदेव में क्या बड़ा भारी अन्तर नहीं है ? क्या गोष्पद की समुद्र के साथ बराबरी हो सकती है ? ॥१३३॥

क्या लोक में स्वच्छ जल से भरे हुए अन्य जलाशय नहीं हैं जो चातक पक्षी हमेशा मेघ से ही जल की याचना करता है । यह क्या उसका कोई अनिर्वचनीय हठ नहीं है ॥१३४॥

इसलिए अभिमानी मनुष्य जो अत्यन्त उदार स्थान का आश्रय कर किसी बड़े भारी फल की वांछा करते हैं सो इसे आप उनकी उन्नति का ही आचरण समझें ॥१३५॥

इस प्रकार वह धरणेन्द्र नमि, विनमि दोनों कुमारों के अदीनन्तर अर्थात् अभिमान से भरे हुए वचन सुनकर मन में बहुत ही सन्तुष्ट हुआ सो ठीक ही है क्योंकि अभिमानी पुरुषों का धैर्य प्रशंसा करने योग्य होता है ॥१३६॥

वह धरणेन्द्र मन-ही-मन विचार करने लगा कि अहा, इन दोनों तरुण कुमारों की महेच्छता (महाशयता) कितनी बड़ी है, इनकी गम्भीरता भी आश्चर्य करने वाली है, भगवान् वृषभदेव में इनकी श्रेष्ठ भक्ति भी आश्चर्यजनक है और इनकी स्पृहा भी प्रशंसा करने योग्य है । इस प्रकार प्रसन्न हुआ धरणेन्द्र अपना दिव्य रूप प्रकट करता हुआ उनसे प्रीतिरूपी लता के फूलों के समान इस प्रकार वचन कहने लगा ॥

१३७-१३८॥

तुम दोनों तरुण होकर भी वृद्ध के समान हो, मैं तुम लोगों की धीर-वीर चेष्टाओं से बहुत ही सन्तुष्ट हुआ हूँ, मेरा नाम धरण है और मैं नागकुमार जाति के देवों का मुख्य इन्द्र हूँ ॥१३९॥

मुझे आप पाताल स्वर्ग में रहनेवाला भगवान् का किंकर समझें तथा मैं यहाँ आप दोनों को भोगोपभोग की सामग्री से युक्त करने के लिए ही आया हूँ ॥१४०॥

ये दोनों कुमार बड़े ही भक्त हैं इसलिए इन्हें इनकी इच्छानुसार भोगों से युक्त करो । इस प्रकार भगवान् ने मुझे आज्ञा दी है और इसलिए मैं यहाँ शीघ्र आया हूँ ॥१४१॥

इसलिए जगत् की व्यवस्था करने वाले भगवान् से पूछकर उठो । आज मैं तुम दोनों के लिए भगवान् के द्वारा बतलायी हुई भोगसामग्री दूँगा ॥१४२॥

इस प्रकार धरणेन्द्र के वचनों से वे कुमार बहुत ही प्रसन्न हुए और उससे कहने लगे कि सचमुच ही गुरुदेव हम पर प्रसन्न हुए हैं और हम लोगों को मनवांछित भोग देना चाहते हैं ॥१४३॥

हे धरणेन्द्र, इस विषय में भगवान् का जो सत्य मत हो वह हम लोगों से कहिए क्योंकि भगवान् के मत अर्थात् सम्मति के बिना हमें भोगोपभोग की सामग्री इष्ट नहीं है ॥१४४॥

इस प्रकार कहते हुए कुमारों को युक्तिपूर्वक विश्वास दिलाकर धरणेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर उन्हें ही अपने साथ ले गया ॥१४५॥

महान् ऐश्वर्य को धारण करने वाला वह धरणेन्द्र उन दोनों कुमारों के साथ आकाश में जाता हुआ ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो ताप

और प्रकाश के साथ उदित होता हुआ सूर्य ही हो ॥१४६॥

अथवा जिस प्रकार विनय और प्रशम गुण से युक्त हुआ कोई योगिराज सुशोभित होता है उसी प्रकार नागकुमारों के समान उन दोनों कुमारों से युक्त हुआ वह धरणेन्द्र भी अतिशय सुशोभित हो रहा था ॥१४७॥

वह दोनों राजकुमारों को विमान में बैठाकर तथा आकाशमार्ग का उल्लंघन कर शीघ्र ही विजयार्थ पर्वत पर जा पहुंचा, उस समय वह पर्वत पृथ्वीरूपी देवी के हास्य की उपमा धारण कर रहा था ॥१४८॥

वह विजयार्थ पर्वत अपने पूर्व और पश्चिम की कोटियों से लवण समुद्र में अवगाहन (प्रवेश) कर रहा था और भरतक्षेत्र के बीच में इस प्रकार स्थित था मानो उसके नापने का एक दण्ड ही हो ॥१४९॥

वह पर्वत ऊँचे, अनेक प्रकार के रत्नों की किरणों से चित्र-विचित्र और अपनी इच्छानुसार आकाशांगण को घेरने वाले अपने अनेक शिखरों से ऐसा जान पड़ता था मानो मुकुटों से ही सुशोभित हो रहा हो ॥१५०॥

पड़ते हुए निर्झरनों के शब्दों से उसकी गुफाओं के मुख आपुरित हो रहे थे और उनमें ऐसा मालूम होता था मानो अतिशय विश्राम करने के लिए देव-देवियों को बुला ही रहा हो ॥१५१॥

उसकी मेखला अर्थात् बीच का किनारा पर्वत के समान ऊँचे, यहाँ-वहाँ चलते हुए और गम्भीर गर्जना करते हुए बड़े-बड़े मेघों द्वारा चारों ओर से ढका हुआ था ॥१५२॥

देदीप्यमान सुवर्ण के बने हुए और पूर्व की किरणों से सुशोभित अपने किनारों के द्वारा वह पर्वत देव और विद्याधरों को जलते हुए दावानल की शंका कर रहा था ॥१५३॥

उस पर्वत के शिखरों के समीप भाग से जो लम्बी धार वाले बड़े-बड़े झरने पड़ते थे उनसे मेघ जर्जरित हो जाते थे और उनसे उस पर्वत के समीप ही बहुत से निर्झरने बनकर निकल रहे थे ॥१५४॥

उस पर्वत पर के वनों में अनेक लताएँ फूली हुई थी और उनपर भ्रमर बैठे हुए थे, उनसे वह पर्वत ऐसा मालूम होता था मानो सुगन्धि के लोभ से वह उन वनलताओं को चारों ओर से काले वस्त्रों के द्वारा ढक ही रहा हो ॥१५५॥

वह पर्वत अपनी मेखला पर ऐसे प्रदेशों को धारण कर रहा था जो कि लता भवनों में विश्राम करने वाले किन्नर देवों के मधुर गीतों के शब्दों से सदा सुन्दर रहते थे ॥१५६॥

उस पर्वत पर वन की गलियों में लतागृहों के भीतर पड़े हुए झूलों पर झूलती हुई विद्याधरियाँ वनदेवताओं के समान मालूम होती थीं ॥१५७॥

उस पर्वत पर जो इधर-उधर घूमती हुई विद्याधरियों के मुखरूपी कमलों के प्रतिबिम्ब पड़ रहे थे उनसे वह ऐसा मालूम होता था मानो नीलमणि की जमीन में जमी हुई कमलिनियों की शोभा ही धारण कर रहा हो ॥१५८॥

वह पर्वत स्फटिकमणि की बनी हुई उन प्राकृतिक भूमियों को धारण कर रहा था जो कि इधर-उधर टहलती हुई विद्याधरियों के सुन्दर चरणों में लगे हुए महावर से लाल वर्ण होने के कारण ऐसी जान पड़ती थीं मानो लाल कमल से उनकी पूजा ही की गयी हो ॥१५९॥

वह पर्वत अपनी गुफाओं में निर्झरनों के समान सिंहों को धारण कर रहा था क्योंकि वे सिंह निर्झरनों के समान ही विदूरलंघी अर्थात् दूर तक लाँघने वाले, गम्भीर शब्दों से युक्त और निर्मल कान्ति के धारक थे ॥१६०॥

वह पर्वत अपनी उपत्यका अर्थात् समीप की भूमि पर सदा ऐसे देव-देवियों को धारण करता था जो परस्पर प्रेम से युक्त थे और सम्भोग करने के अनन्तर वीणा आदि बाजे बजाकर विनोद किया करते थे ॥१६१॥

उस पर्वत की उत्तर और दक्षिण ऐसी दो श्रेणियाँ थीं जो कि दो पंखों के समान बहुत ही लम्बी थीं और उन श्रेणियों में विद्याधरों के निवास करने के योग्य अनेक उत्तम-उत्तम नगरियाँ थी ॥१६२॥

उस पर्वत के शिखरों पर जो अनेक निर्झरने बह रहे थे उनसे वे शिखर ऐसे जान पड़ते थे मानो उनके ऊपरी भाग पर पताकाएँ ही फहरा रही हों और ऐसे-ऐसे ऊँचे शिखरों से वह पर्वत ऐसा मालूम होता था मानो आकाश के अग्रभाग का उल्लंघन ही कर रहा हो ॥१६३॥

शिखर से लेकर जमीन तक जिनकी अखण्ड धारा पड़ रही है ऐसे निर्झरनों से वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो लोकनाड़ी को नापने के लिए उसने एक लम्बा दण्ड ही धारण किया हो ॥१६४॥

चन्द्रमा की किरणों के स्पर्श से जिनसे प्रत्येक रात्रि को पानी की धारा बहने लगती है ऐसे चन्द्रकान्तमणियों के द्वारा वह पर्वत ऐसा जान पड़ता है मानो दावानल के डर से अपने किनारे के वृक्षों को ही सींच रहा हो ॥१६५॥

वह पर्वत चन्द्रकान्तमणियों से चन्द्रमा को, कुमुदों के समूह से ताराओं को और निर्झरनों के छींटों से नक्षत्रों को नीचा दिखाकर ही मानो बहुत ऊँचा स्थित था ॥१६६॥

शरद् ऋतु में जब कभी वायु से टकराये हुए सफेद बादल वन-प्रदेशों को व्याप्त कर उसके सफेद किनारों पर आश्रय लेते थे तब उन बादलों से वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो कुछ बढ़ गया हो ॥१६७॥

उस पर्वत पर जो निर्झरनों के शब्द हो रहे थे उनसे वह ऐसा मालूम होता था मानो सुमेरु पर्वत केवल ऊँचा ही है हमारे समान लम्बा नहीं है इसी सन्तोष से मानो जोर का शब्द करता हुआ हँस रहा हो ॥१६८॥

मैं बहुत ही शुद्ध हूँ और जड़ से लेकर शिखर तक चाँदी-चाँदी का बना हुआ हूँ, अन्य कुलाचल मेरे समान शुद्ध नहीं हैं, यह समझकर ही मानो उसने अपनी ऊँचाई प्रकट की थी ॥१६९॥

उस पर्वत का विद्याधरों के साथ सदा संसर्ग रहता था और गंगा तथा सिन्धु नाम की दोनों नदियाँ उसके नीचे होकर बहती थीं। इन्हीं कारणों से उसने अन्य कुलाचलो को जीत लिया था तथा इसी कारण से वह विजयार्थ इस सार्थक नाम को धारण कर रहा था। भावार्थ- अन्य कुलाचलों पर विद्याधर नहीं रहते हैं और न उनके नीचे गंगा सिन्धु ही बहती हैं बल्कि हिमवत् नामक कुलाचल के ऊपर बहती हैं। इन्हीं विशेषताओं से मानो उसने अन्य कुलाचलों पर विजय प्राप्त कर ली थी और इस विजय के कारण ही उसका विजयार्थ (विजय+आ+ऋद्धः) ऐसा सार्थक नाम पड़ा था ॥१७०॥

इन्द्र लोग निरन्तर उस पर्वत की जिनेन्द्रदेव के समान आराधना करते थे क्योंकि जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव अचल स्थित हैं अर्थात् निश्चल मर्यादा को धारण करने वाले हैं उसी प्रकार वह पर्वत भी अचल स्थित था अर्थात् सदा निश्चल रहने वाला था, जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव उत्तङ्ग अर्थात् उत्तम हैं उसी प्रकार वह पर्वत भी उत्तुङ्ग अर्थात् ऊँचा था, जिनेन्द्रदेव जिस प्रकार शुद्धिभाक् हैं अर्थात् राग, द्वेष आदि कर्म विकार-रहित होने के कारण निर्मल हैं उसीप्रकार वह पर्वत भी शुद्धिभाक् था अर्थात् भूमि, कंटक आदि से रहित होने के कारण स्वच्छ था और जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव जगत् के गुरु हैं इसी प्रकार वह पर्वत भी जगत् में श्रेष्ठ अथवा उसका गौरव स्वरूप था ॥१७१॥

अथवा वह पर्वत जगत् के विधातात्मा जिनेन्द्रदेव का अनुकरण कर रहा था क्योंकि जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव अक्षर अर्थात् विनाशरहित हैं उसी प्रकार वह पर्वत भी प्रलय आदि के न पड़ने से विनाशरहित था, जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव अभेद्य हैं उसी प्रकार वह पर्वत भी अभेद्य था अर्थात् वज्र आदि से उसका भेदन नहीं हो सकता था, जिनेन्द्रदेव जिस प्रकार अलंघ्य हैं अर्थात् उनके सिद्धान्तों का कोई खण्डन नहीं कर सकता उसी प्रकार वह पर्वत भी अलंघ्य अर्थात् लाँघने के अयोग्य था, जिनेन्द्रदेव जिस प्रकार महोन्नत अर्थात् अत्यन्त श्रेष्ठ हैं उसी प्रकार वह पर्वत भी महोन्नत अर्थात् अत्यन्त ऊँचा था और जिनेन्द्रदेव जिस प्रकार जगत् के गुरु हैं उसी प्रकार वह पर्वत भी गुरु अर्थात् श्रेष्ठ अथवा भारी था ॥१७२॥

वह विजयार्थ, चक्रवर्ती के दिग्विजय करने के लिए प्रसूतिगृह के समान दो गुफाएँ धारण करता था क्योंकि जिस प्रकार प्रसूतिगृह ढका हुआ और सुरक्षित होता है उसी प्रकार वे गुफाएँ भी ढकी हुई और देवों द्वारा सुरक्षित थीं तथा जिस प्रकार प्रसूतिगृह के भीतर का मार्ग छिपा हुआ होता है उसी प्रकार उन गुफाओं के भीतर जाने का मार्ग भी छिपा हुआ था ॥१७३॥

वह पर्वत ऊँचे-ऊँचे नौ कूटों से शोभायमान था जो कि पृथिवी देवी के मुकुट के समान जान पड़ते थे और उसके चारों ओर जो हरे-हरे वनों की पंक्तियाँ शोभायमान थीं वे उस पर्वत के नील वस्त्रों के समान मालूम होती थीं ॥१७४॥

वह बड़े योजन के प्रमाण से मूल भाग में पचास योजन चौड़ा था, पचीस योजन ऊँचा था और उससे चौथाई अर्थात् छह सौ पचीस सही एक बटा चार योजन पृथ्वी के नीचे गड़ा हुआ था ॥१७५॥

पृथ्वीतल से दस योजन ऊपर जाकर वह तीस योजन चौड़ा था और उससे भी दस योजन ऊपर जाकर अग्रभाग में सिर्फ दस योजन चौड़ा रह गया था ॥१७६॥

इसका किनारा कहीं ऊँचा था, कहीं नीचा था, कहीं सम था और कहीं ऊँचे-नीचे पत्थरों से विषम था ॥१७७॥

कहीं-कहीं उस पर्वत पर लगे हुए रत्नमयी पाषाण सूर्य की किरणों से बहुत ही गरम हो गये थे इसलिए उसके आगे के प्रदेश से वानरों के

समूह हट रहे थे जिससे वह पर्वत उन वानरों द्वारा किये हुए कोलाहल से आकुल हो रहा था ॥१७८॥

उस पर्वत पर कहीं तो सिंहों के शब्दों से अनेक हाथियों के झुण्ड भयभीत हो रहे थे और कहीं कोयलों के मधुर शब्दों से वन वाचालित हो रहे थे ॥१७९॥

कहीं मयूरों के मुख से निकली हुई केका वाणी से भयभीत हुए सर्प बड़े दुःख के साथ वनों के भीतर अपने-अपने बिलों में घुस रहे थे ॥ १८०॥

कहीं उस पर्वत पर सुवर्णमय तटों की छाया में हरिणियाँ बैठी हुई थीं उन पर उन सुवर्णमय तटों की कान्ति पड़ती थी जिससे वे हरिणियाँ सुवर्ण की बनी हुई-सी जान पड़ती थीं ॥१८१॥

कहीं चित्र-विचित्र रत्नों की किरणों से इन्द्रधनुष की लता बन रही थी और वह ऐसी मालूम होती थी मानो वायु से उड़कर चारों ओर फैली हुई कल्पलता ही हो ॥१८२॥

कहीं देवांगनाएँ विहार कर रही थीं, उनके नूपुरों के शब्द हंसिनियों के शब्दों से मिलकर बुलन्द हो रहे थे और उनसे तालाबों के किनारे बड़े ही रमणीय जान पड़ते थे ॥१८३॥

कहीं लीला मात्र में अपने खूंटों को उखाड़ देने वाले बड़े-बड़े हाथी चतुराई के साथ एक विशेष प्रकार की क्रीड़ा कर रहे थे और उससे उस पर्वत पर के वनों के वृक्ष खूब ही हिल रहे थे ॥१८४॥

कहीं किनारे पर सोती हुई सारसियों के शब्दों में कलहंसिनियों (बतख) के मनोहर शब्द मिल रहे थे और उनसे तालाब का जल शब्दायमान हो रहा था ॥१८५॥

कहीं कुपित हुए सर्प श-श शब्द कर रहे थे जिनसे वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो क्रीड़ा करता हुआ श्वास ही ले रहा हो, और कहीं निर्मल सुरागायों के झुण्ड फिर रहे थे जिनसे वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो हँस ही रहा हो ॥१८६॥

कहीं गुफा से निकलती हुई वायु के द्वारा वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो प्रकट रूप से लम्बी साँस ही ले रहा हो और कहीं पवन से हिलते हुए वृक्षों से ऐसा मालूम होता था मानो वह झूम ही रहा हो ॥१८७॥

कहीं उस पर्वत पर एकान्त स्थान में बैठी हुई विद्याधरों की स्त्रियाँ अपने इष्टकामी लोगों के समागम का खूब विचार कर रही थीं जिससे वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो चुप ही हो रहा हो ॥१८८॥

और कहीं चंचलतापूर्वक उड़ते हुए भौरों के मनोहर शब्द हो रहे थे और उनसे वह पर्वत ऐसा मालूम होता था मानो उसने जिसकी आवाज बहुत दूर तक फैल गयी है ऐसे किसी अलौकिक संगीत का ही प्रारम्भ किया हो ॥१८९॥

उस पर्वत पर के वनों में अनेक तरुण विद्याधरियाँ अपने-अपने तरुण विद्याधरों के साथ विहार कर रही थीं । उन विद्याधरियों के मुख कदम्ब पुष्प की सुगन्धि के समान के सुगन्धित श्वास से सहित थे और जिस प्रकार तरुण अर्थः मध्याह्न के सूर्य की किरणों के स्पर्श से कमल खिल जाते हैं उसी प्रकार अपने तरुण पुरुषरूपी सूर्य के हाथों के स्पर्श से खिले हुए थे-प्रफुल्लित थे । उनके नेत्र मद्य के नशा से कुछ-कुछ लाल हो रहे थे, वे नील कमल के फूल के समान लम्बे थे, आलस्य के साथ कटाक्षावलोकन करते थे और ऐसे मालूम होते थे मानो कामदेव के विजयशील अस्त्र ही हों ॥१९०-१९१॥

उनके केश भी कुटिल थे, भ्रमरों के समान काले थे, चलने-फिरने के कारण अस्त-व्यस्त हो रहे थे और उनकी चोटी का बन्धन भी ढीला हो गया था जिससे उस पर लगी हुई फूलों की मालाएं गिरती चली जाती थीं । उनके कपोल भी बहुत सुन्दर थे, चन्द्रमा की कान्ति को जीतने वाले थे और अलक अर्थः आगे के सुन्दर काले केशों से चिह्नित थे इसलिए ऐसे जान पड़ते थे मानो अच्छी तरह साफ किये हुए कामदेव के लिखने के तख्ते ही हो । उनके अधरोष्ठ पके हुए बिम्बफल के समान थे और उन पर मन्द हास्य की किरणें पड़ रही थीं जिससे वे ऐसे सुशोभित होते थे मानो जल की दो-तीन बूंदों से सींचे गये मूँगा के टुकड़े ही हों । उनके स्तनमण्डल विशाल ऊँचे और बहुत ही गोल थे, उनका वस्त्र नीचे की ओर खिसक गया था इसलिए उन पर सुशोभित होने वाले नखों के चिह्न साफ-साफ दिखाई दे रहे थे । उनके वक्षःस्थलरूपी घर भी देखने योग्य-अतिशय सुन्दर थे क्योंकि वे सफेद चन्दन के लेप से साफ किये गये थे, हाररूपी चाँदनी के उपहार से सुशोभित हो रहे थे और स्तनों के नाचने की रंगभूमि के समान जान पड़ते थे । जिनके नख उज्ज्वल थे, हथेलियाँ लाल थीं, और जो लीलासहित इधर-उधर हिलाई जा रही थीं । उनकी भुजाएं ऐसी जान पड़ती थीं मानो फूल ओर नवीन कोपलों से शोभायमान किसी लता

की कोमल शाखाएँ ही हो। उनका उदर बहुत कृश था मध्य भाग पतला था और वह त्रिवलिरूपी तरंगों से सुशोभित हो रहा था। उनकी नाभि में से जो रोमावली निकल रही थी वह ऐसी जान पड़ती थी मानो नाभिरूपी बामी से रोमावलीरूपी काला सर्प ही निकल रहा हो। उनका जघन स्थल भी बहुत बड़ा था, वह रेशमी वस्त्र से सुशोभित था और करधनी से सहित था इसलिए ऐसा मालूम होता था मानो कामदेवरूपी राजा का कारागार ही हो। उन विद्याधरियों के चरण लाल कमल के समान थे, वे डगमगाती हुई चलती थीं इसलिए उनके मणिमय नूपुरों से रुनझुन शब्द हो रहा था और जिससे ऐसा मालूम होता था मानो उनके चरणरूपी लाल कमल भ्रमरों की झंकार से झड़कृत ही हो रहे हों। वे विद्याधरियाँ लीलासहित धीरे-धीरे जा रही थी, उनकी चाल ने हंसिनियों की चाल को भी जीत लिया था, चलते समय उनका श्वास भी चल रहा था जिससे उनके स्तन कम्पायमान हो रहे थे और उनके अन्तःकरण का खेद प्रकट हो रहा था। इस प्रकार प्राप्त हुए नव यौवन से सुदृढ़ विद्याधरियाँ अपने तरुण प्रेमियों के साथ उस पर्वत के वनों में कहीं-कहीं पर विहार कर रही थीं ॥१९२-२०२॥ वह पर्वत अपने प्रत्येक वन में कहीं-कहीं अकेली ही फिरती हुई विद्याधरियों को धारण कर रहा था, वे विद्याधरियाँ ठीक लता के समान जान पड़ती थी क्योंकि जिस प्रकार लता पर भ्रमर सुशोभित होते हैं उसी प्रकार उनके मस्तक पर भी केशरूपी भ्रमर शोभायमान थे, लताएं जिस प्रकार पतली होती है उसी प्रकार वे भी पतली थीं, लताएँ जिस प्रकार कोमल होती है उसी प्रकार उनका शरीर भी कोमल था और लताएं जिस प्रकार पुष्पों की उत्पत्ति से सुशोभित होती हैं उसी प्रकार वे भी मन्द हास्यरूपी पुष्पोत्पत्ति की शोभा से सुशोभित हो रही थीं। उन्होंने फूलों के आभूषण और पत्तों के कर्णफूल बनाये थे तथा वे इधर-उधर घूमती हुई फल तोड़ने में आसक्त हो रही थीं। उनके नेत्र कमलों के समान थे तथा और भी प्रकट हुए अनेक लक्षणों से वे वनलक्ष्मी के समान मालूम होती थी ॥२०३-२०५॥ इस प्रकार जिसका माहात्म्य प्रकट हो रहा है और जो तीनों लोको का अतिक्रमण करने वाला है जिनेन्द्रदेव के समान उस गिरिराज को पाकर वे नमि, विनमि राजकुमार अतिशय सन्तोष को प्राप्त हुए ॥२०६॥ जिसने तटवर्ती वनों के विस्तार को कम्पित किया है, जिसने गङ्गा नदी के तटसम्बन्धी वेदी के समीपवर्ती तालाब की लहरों को भेदन कर अनेक जल की बूंदें धारण कर ली हैं और जिसने अपनी सुगन्धि के कारण वन के हाथियों के गण्डस्थल से भ्रमरों के समूह अपनी ओर खींच लिये हैं ऐसे उस पर्वत के उपवनों में उत्पन्न हुए वायु ने उन दोनों तरुण कुमारों के मार्ग का सब परिश्रम दूर कर दिया था ॥२०७॥ उस पर्वत के वन प्रदेशों से प्रचलित हुआ पवन दूर-दूर से ही धरणेन्द्र के समीप आ रहा था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो उस पर्वत के वनप्रदेश ही धरणेन्द्र के सम्मुख आ रहे हों क्योंकि वे वनप्रदेश मदनोन्मत्त सुन्दर कोयलों के शब्दरूपी वादित्तों की ध्वनि से शब्दायमान हो रहे थे, भ्रमरियों के मधुर गुञ्जाररूपी मङ्गलगानों से मनोहर थे और पुष्परूपी अर्घ धारण कर रहे थे ॥२०८॥ इस प्रकार जो बहुत ही उदार अर्थात् ऊँचा है, जो समस्त विद्यारूपी खजानों की उत्पत्ति का मुख्य स्थान है और जिसकी कीर्ति समस्त लोक के भीतर व्याप्त हो रही है, ऐसे जिनेन्द्रदेव के समान सुशोभित उस विजयार्थ पर्वत को समीप से देखता हुआ वह धरणेन्द्र उन दोनों राजकुमारों के साथ-साथ अपने मन में बहुत ही प्रसन्न हुआ ॥२०९॥ इस प्रकार आर्ष नाम से प्रसिद्ध, भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रह में धरणेन्द्र का विजयार्थ पर्वत पर जाना आदि का वर्णन करने वाला अठारहवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥१८॥

पर्व-19 -- नमि-विनमि को राज्यप्राप्ति

पर्व-19 -- नमि-विनमि को राज्यप्राप्ति

कथा :

अथानन्तर वह धरणेन्द्र उस विजयार्थ पर्वत की पहली मेखला पर उतरा और वहाँ उसने दोनों राजकुमारों के लिए विद्याधरों का वह लोक इस प्रकार कहते हुए दिखलाया ॥१॥

कि ऐसा मालूम होता है मानो यह पर्वत बहुत भारी होने के कारण इससे अधिक ऊपर जाने के लिए समर्थ नहीं था इसीलिए इसने अपने आपको इधर-उधर दोनों ओर फैलाकर समुद्र में जाकर मिला दिया है ॥२॥

यह पर्वत एक राजा के समान सुशोभित है और कभी नष्ट न होने वाली इसकी ये दोनों श्रेणियाँ महादेवियों के समान सुशोभित हो रही हैं क्योंकि जिस प्रकार महादेवियाँ महाभोग अर्थात् भोगोपभोग की विपुल सामग्री से सहित होती हैं उसी प्रकार ये श्रेणियाँ भी महाभोग (महा आभोग) अर्थात् बड़े भारी विस्तार से सहित हैं और जिस प्रकार महादेवियाँ आयति अर्थात् सुन्दर भविष्य को धारण करने वाली

होती हैं उसी प्रकार ये श्रेणियाँ भी आयति अर्थात् लम्बाई को धारण करने वाली हैं ॥३॥

पृथ्वी से दस योजन ऊँचा चढ़कर इस पर्वत की प्रथम मेखला पर यह विद्याधरों का निवासस्थान है जो कि स्वर्ग के एक खण्ड के समान शोभायमान हो रहा है ॥४॥

इस पर्वत की दोनों श्रेणियों में रहने वाले विद्याधर ऐसे मालूम होते हैं मानो स्वर्ग से आकर देव लोग ही यहाँ निवास करने लगे हों ॥५॥

यह विद्याधरों का स्थान हम लोगों के निवासस्थान का सन्देह कर रहा है क्योंकि जिस प्रकार हम लोगों (धरणेन्द्रों) का स्थान महाभोग अर्थात् बड़े-बड़े फणों को धारण करने वाले नागेन्द्रों के द्वारा सेवित होता है उसी प्रकार यह विद्याधरों का स्थान भी महाभोग अर्थात् बड़े-बड़े भोगोपभोगों को धारण करने वाले विद्याधरों के द्वारा सेवित है ॥६॥

नागकन्याओं के समान सुन्दर इन विद्याधर कन्याओं को देखता हुआ सचमुच ही आज मैं पाताल के स्वर्गलोक का अर्थात् भवनवासियों के निवासस्थान का स्मरण कर रहा हूँ ॥७॥

यहाँ न तो अपने राजाओं से उत्पन्न हुआ तीव्र भय है और न शत्रु राजाओं से उत्पन्न होने वाला तीव्र भय है, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि ईतियाँ भी यहाँ नहीं होती हैं और न यहाँ रोग आदि से उत्पन्न होने वाली कभी कोई बाधा ही होती है ॥८॥

इस महाभरत क्षेत्र में अवसर्पिणी कालसम्बन्धी चतुर्थ काल के प्रारम्भ में मनुष्यों की जो स्थिति होती है यही यहाँ के मनुष्यों की उत्कृष्ट स्थिति होती है और उस चतुर्थ काल के अन्त में जो स्थिति होती है वही यहाँ की जघन्य स्थिति होती है। इसी प्रकार चतुर्थ काल के प्रारम्भ में जितनी शरीर की ऊँचाई होती है उतनी ही यहाँ की उत्कृष्ट ऊँचाई होती है और चतुर्थ काल के अन्त में जितनी ऊँचाई होती है उतनी ही यहाँ जघन्य ऊँचाई होती है। इसी नियम से यहाँ की उत्कृष्ट आयु एक करोड़ वर्ष पूर्व की और जघन्य सौ वर्ष की होती है तथा शरीर की उत्कृष्ट ऊँचाई पाँच सौ धनुष और जघन्य सात हाथ की होती है, भावार्थ-यहाँ पर आर्यखण्ड की तरह छह कालों का परिवर्तन नहीं होता किन्तु चतुर्थ काल के आदि अन्त के समान परिवर्तन होता है ॥९-१०॥

कर्मभूमि में वर्षा, सरदी, गरमी आदि ऋतुओं का परिवर्तन तथा असि, मषि आदि छह कर्म रूप जितने नियोग होते हैं वे सब यहाँ पूर्ण रूप से होते हैं किन्तु यहाँ विशेषता इतनी है कि महाविद्याएँ यहाँ के लोगों को इनकी इच्छानुसार फल दिया करती हैं ॥११॥

यहाँ विद्याधरों को जो महाप्रज्ञप्ति आदि विद्याएं सिद्ध होती हैं वे इन्हें कामधेनु के समान यथेष्ट फल देती रहती है ॥१२॥

वे विद्याएं दो प्रकार की हैं-एक तो ऐसी हैं जो कुछ पितृपक्ष अथवा जाति (मातृपक्ष) के आश्रित हैं और दूसरी ऐसी हैं जो तपस्या से सिद्ध की जाती हैं। इनमें से पहले प्रकार की विद्याएं कुल-परम्परा से ही प्राप्त हो जाती हैं और दूसरे प्रकार की विद्याएं यत्नपूर्वक आराधना करने से प्राप्त होती हैं ॥१३॥

जो विद्याएँ आराधना से प्राप्त होती हैं उनकी आराधना करने का उपाय यह है कि सिद्धायतन के समीपवर्ती अथवा द्वीप, पर्वत या नदी के किनारे आदि किसी अन्य पवित्र स्थान में पवित्र वेष धारण कर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए विद्या की अधिष्ठाता देवता की पूजा करे तथा नित्य पूजापूर्वक महोपवास धारण कर उन विद्याओं की आराधना करे। इस विधि से तथा तपश्चरण नित्यपूजा जप और होम आदि अनुक्रम के करने से विद्याधरों को वे महाविद्याएँ सिद्ध हो जाती हैं ॥१४-१६॥

तदनन्तर जिन्हें विद्याएँ सिद्ध हो गयी हैं ऐसे आकाशगामी विद्याधर लोग पहले सिद्ध भगवान् की प्रतिमा की पूजा करते हैं और फिर विद्याओं के फल का उपभोग करते हैं ॥१७॥

इस विजयार्थ गिरि पर ये विद्याधर लोग जिस प्रकार इन विद्याओं के फलों का उपभोग करते हैं उसी प्रकार वे धान्य आदि फल सम्पदाओं का भी अपनी इच्छानुसार उपभोग करते हैं ॥१८॥

यहाँ पर धान्य बिना बोये ही उत्पन्न होते हैं, यहाँ की बावड़ियाँ फूले हुए कमलों से सहित हैं, यहाँ के गाँवों का सीमाएँ एक दूसरे से मिली हुई रहती हैं, उनमें बगीचे रहते हैं और वे सब फले हुए वृक्षों से सहित होते हैं ॥१९॥

यहाँ की नदियाँ रत्नमयी बालू से सहित हैं, बावड़ियों तथा पोखरियों के किनारे सदा हंस बैठे रहते हैं, और जलाशय स्वच्छ जल से भरे रहते हैं ॥२०॥

यहाँ के वनप्रदेश कोकिलों की मधुर कूजन से मनोहर रहते हैं और फूली हुई लताएँ गुँजार करती हुई भ्रमरियों के संगीत से संगत होती हैं ॥ २१॥

यहाँ पर ऐसे अनेक कृत्रिम पर्वत बने हुए हैं जो चन्द्रकान्तमणि की बनी हुई सीढ़ियों से युक्त हैं, लतागृह से सहित हैं, विद्याधरियों के सम्भोग करने योग्य हैं और सबके सेवन करने योग्य हैं ॥२२॥

यहाँ के पुर, खानें और गाँवों की रचना बहुत ही सुन्दर है, वे बहुत ही बड़े हैं और नदी, तालाब, बगीचे, धान के खेत तथा ईखों के वनों से सुशोभित रहते हैं ॥२३॥

यहाँ के स्त्री और पुरुषों की सृष्टि रति और कामदेव का अनुकरण करने वाली है तथा वह हर एक प्रकार के भोगोपभोग की सम्पदा से भरपूर होने के कारण स्वर्ग के भोगों में भी अनुत्सुक रहती है ॥२४॥

इस प्रकार मनुष्यों की प्रसन्नता के कारणस्वरूप जो-जो विशेष पदार्थ हैं वे सब भले ही स्वर्ग में दुर्लभ हो परन्तु यहाँ पद-पद पर विद्यमान रहते हैं ॥२५॥

इस प्रकार यह पर्वत विद्याधरों के योग्य अतिशय मनोहर समस्त विशेष पदार्थों को मानो कौतूहल से ही अपनी गोद में लेकर धारण कर रहा है ॥२६॥

जो ऊपर कही हुई शोभा और सम्पत्ति के निधान (खजाना) स्वरूप हैं ऐसी इन दोनों श्रेणियों पर यह नगरों की बहुत ही सुन्दर रचना दिखाई देती है ॥२७॥

ये दोनों श्रेणियाँ पृथक्-पृथक् दस योजन चौड़ी हैं और पर्वत की लम्बाई के समान समुद्र पर्यन्त लम्बी हैं ॥२८॥

इन दोनों श्रेणियों में चौड़ाई आदि का किया हुआ तो कुछ भी अन्तर नहीं है परन्तु उत्तर श्रेणी की लम्बाई दक्षिण श्रेणी की लम्बाई से कुछ अधिकता रखती है ॥२९॥

इन्हीं दक्षिण और उत्तर श्रेणियों में क्रम से पचास और साठ नगर सुशोभित हैं । वे नगर अपनी शोभा से स्वर्ग के विमानों की भी हंसी उड़ाते हैं ॥३०॥

बड़ी विभूति को धारण करने वाले इन नगरों में विद्याधर लोग निवास करते हैं और देवों की तरह अपने पुण्योदय से प्राप्त हुए भोगों का उपभोग करते हैं ॥३१॥

इधर यह पूर्व दिशा में १ किन्नामित नाम का नगर है जो कि मानो स्वर्ग को छूने के लिए ही ऊँचे बड़े हुए गगनचुम्बी राजमहलों से सुशोभित हो रहा है ॥३२॥

वह बड़ी विभूति को धारण करने वाला २ किन्नरगीत नाम का नगर दिखाई दे रहा है जिसके कि उद्यान किन्नर जाति की देवियों के गीतों से सदा सेवन करने योग्य रहते हैं ॥३३॥

इधर यह बड़ी विभूति को धारण करने वाला ३ नरगीत नाम का नगर शोभायमान है, जहाँ के कि स्त्री-पुरुष सदा उत्सव करते हुए प्रसन्न रहते हैं ॥३४॥

इधर यह अनेक पताकाओं से सुशोभित ४ बहुकेतुक नाम का नगर है जो कि ऐसा मालूम होता है मानो पताकारूपी भुजाओं से हम लोगों को बुलाने के लिए ही तैयार हुआ हो ॥३५॥

जहाँ सफेद कमलों के वनों में ये हंस, कानों को अच्छे लगने वाले मनोहर शब्दों-द्वारा सदा गम्भीर रूप से गाते रहते हैं ऐसा यह ५ पुण्डरीक नाम का नगर है ॥३६॥

इधर यह ६ सिंह ध्वज नाम का नगर है जो कि महलों के अग्रभाग पर लगी हुई सिंह के चिह्न से चिह्नित ध्वजाओं के द्वारा सिंह की शंका करने वाले देवों का मार्ग रोक रहा है ॥३७॥

इधर यह ७ श्वेतकेतु नाम का नगर सुशोभित हो रहा है जो कि महलों के अग्रभाग पर फहराती हुई बड़ी-बड़ी सफेद ध्वजाओं से ऐसा मालूम होता है मानो दूर से कामदेव को ही बुला रहा हो ॥३८॥

इधर यह समीप में ही, गरुडमणि से बने हुए महलों के अग्रभाग से आकाशरूपी आँगन को व्याप्त करता हुआ ८ गरुडध्वज नाम का नगर शोभायमान हो रहा है ॥३९॥ इधर ये लक्ष्मी की शोभा से सुशोभित ९ श्रीप्रभ और १० श्रीधर नाम के उत्तम नगर हैं, ये दोनों नगर ऐसे सुशोभित हो रहे हैं मानो इन्होंने परस्पर की स्पर्धा से ही इतनी अधिक शोभा धारण की हो ॥४०॥

जो लोहे के अर्गलों से अत्यन्त दुर्गम है ऐसा यह ११ लोहार्गल नाम का नगर है और यह १२ अरिजय नगर है जो कि अपने गोपुरों के द्वारा

ऐसा मालूम होता है मानो शत्रुओं को जीतकर हँस ही रहा हो ॥४१॥

इस ओर ये १३ वज्रार्गल और १४ वज्राढा नाम के दो नगर सुशोभित हो रहे हैं जो कि अपने समीपवर्ती हीरे की खानों से ऐसे मालूम होते हैं मानो प्रतिदिन बढ़ ही रहे हों ॥४२॥

इधर यह १५ विमोच नाम का नगर है और इधर यह १६ पुरजय नाम का नगर है । ये दोनों ही नगर ऐसे सुशोभित हो रहे हैं मानो भवनवासी देवों का लोक इनसे पराजित होकर ही नीचे चला गया हो ॥४३॥

इधर यह १७ शकटमुखी नगरी है और इधर यह १८ चतुर्मुखी नगरी सुशोभित हो रही है । यह चतुर्मुखी नगरी अपने ऊँचे-ऊँचे चारों गोपुरों से ऐसी मालूम होती है मानो आकाशरूपी आंगन का उल्लंघन ही कर रही हो ॥४४॥ यह १९ बहुमुखी, यह २० अरजस्का और यह २१ विरजस्का नाम की नगरी है । ये तीनों ही नगरियाँ ऐसी मालूम होती है मानो तीनों लोकों की लक्ष्मी ही एक जगह आ मिली हों ॥४५॥ जो ऊपर कहे हुए और आगे कहे जाने वाले नगरों में तिलक के समान आचरण करता है ऐसा यह २२ रथनूपुरचक्रवाल नाम का नगर है ॥ ४६॥

यह नगर इस श्रेणी की राजधानी है, विद्याधरों के चक्रवर्ती (राजा) अपने पुण्योदय से प्राप्त हुई उत्कृष्ट लक्ष्मी का उपभोग करते हुए इसमें निवास करते हैं ॥४७॥

इधर यह मनोहर २३ मेखलाग्र नगर है, यह २४ क्षेमपुरी नगरी है, यह २५ अपराजित नगर है और इधर यह २६ कामपुष्प नाम का नगर है ॥ ४८॥

यह २७ गगनचरी नगरी है, यह २८ विनयचरी नगरी है और यह २९ चक्रपुर नाम का नगर है । यह ३० संख्या को पूर्ण करने वाली ३० संजयन्ती नगरी है, यह ३१ जयन्ती, यह ३२ विजया और यह ३३ वैजयन्तीपुरी है । यह ३४ क्षेमङ्कर, यह ३५ चन्द्राभ और यह अतिशय देदीप्यमान ३६ सूर्याभ नाम का नगर है ॥४९-५०॥

यह ३७ रतिकूट, यह ३८ चित्रकूट, यह ३९ महाकूट, यह ४० हेमकूट, यह ४१ मेघकूट, यह ४२ विचित्रकूट और यह ४३ वैश्रवणकूट नाम का नगर है ॥५१॥

ये अनुक्रम से ४४ सूर्यपुर, ४५ चन्द्रपुर और ४६ नित्योद्योतिनी नाम के नगर है । यह ४७ विमुखी, यह ४८ नित्यवाहिनी, यह ४९ सुमुखी और यह ५० पश्चिमा नाम की नगरी है ॥५२॥

इस प्रकार दक्षिण-श्रेणी में ५० नगरियाँ हैं, इन नगरियों के कोट और गोपुर (मुख्य दरवाजे) बहुत ऊँचे हैं तथा प्रत्येक नगरी तीन-तीन परिखाओं से घिरी हुई है ॥५३॥

इन तीनों परिखा का अन्तर एक-एक दण्ड अर्थात् धनुष प्रमाण हैं तथा पहली परिखा चौदह दण्ड चौड़ी है, दूसरी बारह और तीसरी दस दण्ड चौड़ी है ॥५४॥

ये परिखाएँ अपनी-अपनी चौड़ाई से क्रमपूर्वक पौनी, आधी और एकतिहाई गहरी है अर्थात् पहली परिखा साढ़े दस धनुष, दूसरी छह धनुष और तीसरी सवा तीन धनुष से कुछ अधिक गहरी है । ये सभी परिखाएँ नीचे से लेकर ऊपर तक एक-सी चौड़ी हैं ॥५५॥

वे परिखाएँ सुवर्णमयी ईंटों से बनी हुई हैं, रत्नमय पाषाणों से जड़ी हुई हैं, उनमें ऊपर तक पानी भरा रहता है और वह पानी भी बहुत स्वच्छ रहता है । वे परिखाएँ जल के आने-जाने के परीवाहों से भी युक्त हैं ॥५६॥

उन परिखाओं में जो लाल और नीले कमल हैं वे उनके कर्णाभरण से जान पड़ते हैं, वे जलचर जीवों की भुजाओं के आघात सहने में समर्थ हैं और अपनी ऊँची लहरों से ऐसी मालूम होती है मानो बड़े-बड़े समुद्रों के साथ स्पृष्टा ही कर रही हो ॥५७॥

इन परिखाओं से चार दण्ड के अन्तर फासला पर एक कोट है जो कि सुवर्ण की धूलि के बने हुए पत्थरों से व्याप्त है, छह धनुष ऊँचा है और बारह धनुष चौड़ा है ॥५८॥

इस कोट का ऊपरी भाग अनेक कंगूरों से युक्त है । चेहरे गाय के खुर के समान गोल है और घड़े के उदर के समान बाहर की ओर उठे हुए आकार वाले हैं ॥५९॥

इस धूलि कोटि के आगे एक परकोटा है जो कि चौड़ाई से दूना ऊँचा है । इसकी ऊँचाई मूल भाग से ऊपर तक चौबीस धनुष है अर्थात् यह बारह धनुष चौड़ा और चौबीस धनुष ऊँचा है ॥६०॥

इस परकोटे का अग्रभाग मृदंग तथा बन्दर के शिर के आकार के कंगूरों से बना हुआ है, यह परकोटा चारों ओर से अनेक प्रकार की सुवर्णमयी ईंटों से व्याप्त है और कहीं-कहीं पर रत्नमयी शिलाओं से भी युक्त है ॥६१॥

उस परकोटा पर अट्टालिकाओं की पंक्तियाँ बनी हुई हैं जो कि परकोटा की चौड़ाई के समान चौड़ी है, पन्द्रह धनुष लम्बी हैं और उससे दूनी अर्थात् तीस धनुष ऊँची है ॥६२॥

ये अट्टालिकाएं तीस-तीस धनुष के अन्तर से बनी हुई हैं, सुवर्ण और मणियों से चित्र-विचित्र हो रही हैं, इनकी ऊँचाई के अनुसार चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ बनी हुई हैं और ये सभी अपनी ऊँचाई से आकाश को छू रही हैं ॥६३॥

दो-दो अट्टालिकाओं के बीच में एक-एक गोपुर बना हुआ है उस पर रत्नों के तोरण लगे हुए हैं । ये गोपुर पचास धनुष ऊँचे और पच्चीस धनुष चौड़े हैं ॥६४॥

गोपुर और अट्टालिकाओं के बीच में तीन-तीन धनुष विस्तार वाले इन्द्र-कोश अर्थात् बुरज बने हुए हैं । बुरज किवाड़सहित झरोखों से युक्त हैं ॥६५॥

उन बुरजों के बीच में अतिशय स्वच्छ देवपथ बने हुए हैं जो कि तीन हाथ चौड़े और बारह हाथ लम्बे हैं ॥६६॥

इस प्रकार ऊपर कही हुई परिखा, कोट और परकोटा इनसे घिरी हुई वे नगरियाँ ऐसी सुशोभित होती हैं मानो वस्त्र पहने हुई स्त्रियाँ ही हों ॥६७॥

इन नगरियों में से प्रत्येक नगरी में एक हजार चौक हैं, बारह हजार गलियाँ हैं और छोटे-बड़े सब मिलाकर एक हजार दरवाजे हैं ॥६८॥

इनमें से आधे अर्थात् पाँच सौ दरवाजे किवाड़सहित हैं और वे नगरी की शोभा के नेत्रों के समान सुशोभित होते हैं । इन पाँच सौ दरवाजों में भी दो सौ दरवाजे अत्यन्त श्रेष्ठ हैं ॥६९॥

ये नगरियाँ पूर्व से पश्चिम तक नौ योजन चौड़ी हैं और दक्षिण से उत्तर तक बारह योजन लम्बी है । इन सभी नगरियों का मुख पूर्व दिशा की ओर है ॥७०॥

इन नगरियों के राजभवन आदि के विस्तार वगैरह का वर्णन कौन कर सकता है क्योंकि जिस विषय में मुझ धरणेन्द्र की बुद्धि भी अतिशय मोह को प्राप्त होती है तब और की बात ही क्या है ? ॥७१॥

इन नगरियों में से प्रत्येक नगरी के प्रति एक-एक करोड़ गाँवों का परिवार है तथा खेत मडम्ब आदि की रचना जुदी-जुदी है ॥७२॥

वे गाँव बिना बोये पैदा होने वाले शाली चावलों से तथा और भी, अनेक प्रकार के धानों से सदा हरे-भरे रहते हैं तथा उनकी सीमाएँ पौड़ा और ईखों के वनों से सदा ढकी रहती हैं ॥७३॥

इस विजयार्थ पर्वत पर बसे हुए नगरों का अन्तर भी सर्वज्ञ देव ने प्रमाण योजन के नाप से १९५ योजन बतलाया है ॥७४॥

जिस प्रकार दक्षिण श्रेणी पर इन नगरों की रचना बतलायी है ठीक उसी प्रकार उत्तर श्रेणी पर भी अनेक विभूतियों से युक्त नगरों की रचना है ॥७५॥

किन्तु वहाँ पर नगरों का अन्तर प्रमाण योजन से कुछ अधिक एक सौ अठहत्तर योजन है ॥७६॥

पश्चिम दिशा से लेकर साठवें नगर तक उन नगरों के नाम अनुक्रम से इस प्रकार हैं; ॥७७॥

१ अर्जुनी, २ वारुणी, ३ कैलासवारुणी, ४ विद्युत्प्रभ, ५ किलिकिल, ६ चूड़ामणि, ७ शशिप्रभा, ८ वंशाल, ९ पुष्पचूड़, १० हंसगर्भ, ११ बलाहक, १२ शिवंकर, १३ श्रीहर्म्य, १४ चमर, १५ शिवमन्दिर, १६ वसुमत्क, १७ वसुमती, १८ सिद्धार्थक, १९ शत्रुंजय, २० केतुमाला, २१ सुरेन्द्रकान्त, २२ गगननन्दन, २३ अशोका, २४ विशोका, २५ वीतशोका, २६ अलका, २७ तिलका, २८ अम्बरतिलक, २९ मन्दिर, ३० कुमुद, ३१ कुन्द, ३२ गगनवल्लभ, ३३ द्युतिलक, ३४ भूमितिलक, ३५ गन्धर्वपुर, ३६ मुक्ताहार, ३७ निमिष, ३८ अग्निज्वाल, ३९ महाज्वाल, ४० श्रीनिकेत, ४१ जय, ४२ श्रीनिवास, ४३ मणिवज्र, ४४ भद्राश्व, ४५ भवनंजय, ४६ गोक्षीर, ४७ फेन, ४८ अक्षोभ्य, ४९ गिरिशिखर, ५० धरणी, ५१ धारण, ५२ दुर्ग, ५३ दुर्धर, ५४ सुदर्शन, ५५ महेन्द्रपुर, ५६ विजयपुर, ५७ सुगन्धिनी, ५८ वज्रपुर, ५९ रत्नाकर और ६० चन्द्रपुर । इस प्रकार उत्तर श्रेणी में ये बड़े-बड़े साठ नगर सुशोभित हैं इनकी शोभा स्वर्ग के नगरों के समान है ॥७८-८७॥

ये नगर इन्द्रपुरी के समान हैं और बड़े-बड़े भवन स्वर्ग के विमानों के समान हैं । यहाँ का प्रत्येक नगर शोभा की अपेक्षा दूसरे नगर से पृथक् ही मालूम होता है तथा हर एक नगर का वैभव भी दूसरे नगर के वैभव की अपेक्षा पृथक् मालूम होता है अर्थात् यहाँ के नगर एक-

से-एक बढ़कर हैं ॥८८॥

यहाँ के मनुष्य देवकुमारों के समान हैं और स्त्रियाँ अप्सराओं के तुल्य हैं । ये सभी स्त्री-पुरुष अपने-अपने योग्य छहों ऋतुओं के भोग भोगते हैं ॥८९॥

इस प्रकार यह विजयार्थ पर्वत ऐसे-ऐसे श्रेष्ठ नगरों को धारण कर रहा है कि बड़े-बड़े प्राचीन कवि भी अपने वचनों-द्वारा जिनकी स्तुति नहीं कर सकते । इसके सिवाय यह पर्वत अपने ऊपर की उत्कृष्ट भूमि से ऐसा मालूम होता है मानो स्वर्ग की लक्ष्मी को ही बुला रहा हो ॥ ९०॥

यह पर्वत अपने बड़े-बड़े शिखरों से स्वर्ग को धारण कर रहा है, अपने विस्तृत तलभाग से अधोलोक को धारण कर रहा है और समीप में ही घूमने वाले विद्याधर तथा धरणेन्द्रों से मध्यलोक की शोभा धारण कर रहा है । इस प्रकार यह एक ही जगह तीनों लोकों की शोभा प्रकट कर रहा है ॥९१॥

जिन में कोमल पल्लवों के बिछौने बिछे हुए हैं और जो उपभोग के योग्य चन्दन, कपूर आदि से सुगन्धित हैं । वन के मध्य में बने हुए लता-गृहों से यह पर्वत विद्याधरियों की रतिक्रीड़ा को प्रकट कर रहा है ॥९२॥

इस पर्वत के किनारों पर देव, असुरकुमार, किन्नर और नागकुमार आदि देव अपनी-अपनी स्त्रियों के साथ अपने को अच्छे लगने वाले तथा अपने-अपने योग्य संभोग आदि का उत्सव करते हुए नियम से निवास करते रहते हैं ॥९३॥

इस पर्वत पर देवों के सेवन करने योग्य नदियों के किनारे बने हुए लतागृह में बैठी हुई तथा प्रणय कोप से जिनके मुख कुछ मलिन अथवा कुटिल हो रहे हैं ऐसी अपनी स्त्रियों को विद्याधर लोग सदा मनाते रहते हैं प्रसन्न करते रहते हैं ॥९४॥

इधर ये कुपित हुई स्त्रियाँ अपने पतियों को मृणाल के बन्धनों से बांधकर रति-क्रीड़ा से विमुख कर रही हैं, इधर कानों के आभूषण स्वरूप कमलों से ताड़ना करके ही विमुख कर रही हैं और इधर मुख की मदिरा ही थूककर उन्हें रति-क्रीड़ा से पराङ्मुख कर रही हैं ॥९५॥

यह पर्वत कहीं पर देवांगनाओं के सुन्दर नृत्य और गीतों से मनोहर हो रहा है जिससे ऐसा जान पड़ता है मानो कामदेव का निवासस्थान ही हो और कहीं पर मदोन्मत्त कोयलों के मधुर शब्दरूपी नगाड़ों से युक्त हो रहा है जिससे ऐसा मालूम होता है मानो कामदेव के विजयोत्सव का विलास ही हो ॥९६॥

कहीं तो यह पर्वत जल के कानों को धारण करने से शीतल और कमलवनों को कम्पित करने वाली वायु से अतिशय सुखदायी मालूम होता है और कहीं मनोहर शब्द करते हुए भ्रमरों से व्याप्त वृक्षों वाले बगीचों से अतिशय सुन्दर जान पड़ता है ॥९७॥

यह पर्वत कहीं तो हाथियों के झुण्ड से सेवित हो रहा है, कहीं उड़ते हुए अनेक पक्षियों से व्याप्त हो रहा है और कहीं अनेक प्रकार के श्रेष्ठ मणियों की कान्ति से व्याप्त चाँदी के शिखरों से सुशोभित हो रहा है ॥९८॥

यह पर्वत कहीं पर नीलमणियों के बने हुए किनारों से सहित है इसके वे किनारे मेघ के समान मालूम होते हैं जिससे उन्हें देखकर मयूर असमय में ही (वर्षा ऋतु के बिना ही) नृत्य करने लगते हैं । और कहीं लाल-लाल रत्नों की शिलाओं से युक्त हैं, इसकी वे रत्नशिलाएँ अकाल में ही प्रातःकाल की लालिमा फैला रही हैं ॥९९॥

कहीं पर सुवर्णमय दीवारों पर पड़कर लौटती हुई सूर्य की किरणों से इस पर्वत पर का वन अतिशय देदीप्यमान हो रहा है जिससे यह पर्वत आकाश में चलने वाले विद्याधरों को दावानल लगाने का सन्देह उत्पन्न कर रहा है ॥१००॥

इस प्रकार अनेक विशेषताओं से सहित यह पर्वत रात-दिन इन्द्रों के मन को भी बढ़ते हुए कौतुक से युक्त करता रहता है **अर्थात्** क्रीड़ा करने के लिए इन्द्रों का भी मन ललचाता रहता है तब विद्याधरों की तो बात ही क्या है ॥१०१॥

जिसके किनारे पर उगे हुए वृक्ष गङ्गा नदी के जल से सींचे जा रहे हैं और जिसके शिखरों पर के वन मेघों से चुम्बित हो रहे हैं ऐसा यह विजयार्थ पर्वत विद्याधरों से सेवित अपने मणिमय शिखरों-द्वारा मेरु पर्वतों को भी जीत रहा है ॥१०२॥

जिनके वृक्ष गंगा नदी के जल से सींचे हुए हैं, जिनके अग्रभाग फूलों से सुशोभित हो रहे हैं और जिन में अनेक भ्रमर शब्द कर रहे हैं ऐसे किनारे के उपवनों से यह पर्वत ऐसा मालूम होता है मानो देवों के उपवनों की शोभा की हँसी ही कर रहा हो ॥१०३॥

इधर यह पूर्व दिशा की ओर जल के छींटों की वर्षा करती हुई गंगा नदी सुशोभित हो रही है और इधर यह पश्चिम की ओर कलहंस पक्षियों के मधुर शब्दों से शब्दायमान सिन्धु नदी बह रही है ॥१०४॥

यद्यपि यह दोनों ही गंगा और सिन्धु नदियाँ हिमवत् पर्वत के मस्तक पर के पद्मनामक सरोवर से निकली हैं तथापि शुचिता अर्थात् पवित्रता के कारण (पक्ष में शुक्लता के कारण) इस विजयार्थ के पाद अर्थात् चरणों (पक्ष में प्रत्यन्तपर्वत) की सेवा करती हैं सो ठीक है क्योंकि जो पवित्र होता है उसका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। पवित्रता के सामने ऊँचाई व्यर्थ है। भावार्थ-गंगा और सिन्धु नदी हिमवत् पर्वत के पद्म नामक सरोवर से निकल कर गुहाद्वार से विजयार्थ पर्वत के नीचे होकर बहती हैं। इसी बात का कवि ने आलंकारिक ढंग से वर्णन किया है। यहाँ शुचि और शुक्ल शब्द श्लिष्ट हैं ॥१०५॥

जिस प्रकार नीतिमान् और नीति पुत्र श्रेष्ठ पिता से मनवाञ्छित फल प्राप्त करते हैं उसी प्रकार पुण्यात्मा, कार्यकुशल और नीतिमान् विद्याधर अपने भाग्य और पुरुषार्थ के द्वारा इस पर्वत से सदा मनोवाञ्छित फल प्राप्त किया करते हैं ॥१०६॥

यहाँ की पृथ्वी बिना बोये ही धान्य उत्पन्न करती रहती है, यहाँ की खानें बिना प्रयत्न किये ही उत्तम-उत्तम रत्न पैदा करती हैं और यहाँ के ऊँचे-ऊँचे वृक्ष भी असमय में उत्पन्न हुए पुष्प और फलरूप सम्पत्ति को सदा धारण करते रहते हैं ॥१०७॥

यहाँ के सरोवरों पर सारस और हंस पक्षी सदा शब्द करते रहते हैं, फूली हुई लताओं पर भ्रमर गुंजार करते रहते हैं और उपवनों में कोयलें शब्द करती रहती हैं जिससे ऐसा जान पड़ता है मानो यहाँ कामदेव सदा ही जागृत रहा करता हो ॥१०८॥

जो कमलवन के पराग को खींच रहा है, जो उपवनों के फूले हुए वृक्षों को हिला रहा है और जो संभोगजन्य परिश्रम को दूर कर देने वाला है ऐसे वायु से यहाँ की विद्याधरियाँ सदा सन्तोष को प्राप्त होती रहती हैं ॥१०९॥

इधर इस वन में यह सिंह गरज रहा है उसके भय से यह हाथियों का समूह वन को छोड़ रहा है और जिनके मुख से घास भी गिर रहा है ऐसा यह हरिणियों का समूह भी पर्वत के तलागृहों से निकलकर भागा जा रहा है ॥११०॥

इधर तालाब के किनारे यह उत्कण्ठित हुई हंसिनी, जो कमल के पराग से बहुत शीघ्र पीला पड़ गया है ऐसे अपने साथी-प्रिय हंस को चकवा समझकर उसके समीप नहीं जाती है और अश्रु डालती हुई रो रही है ॥१११॥

इधर यह चकवी कमलिनी के नवीन पत्रों से छिपे हुए अपने साथी-चकवा को न देखकर बार-बार दीन शब्द करती हुई तालाब के चारों ओर घूम रही है ॥११२॥

इधर इस पर्वत के मणिमय किनारे पर यह शरद्ऋतु का छोटा-सा बादल आ गया है, हलका होने के कारण इसे सब कोई सुखपूर्वक ले जा सकते हैं और इसीलिए ये देव तथा विद्याधरों की कन्याएँ इसे इधर-उधर चलाती हैं और खींचकर अपनी-अपनी ओर ले जाती हैं ॥११३॥

जो सब जीवों को अतिशय इष्ट है, जो बहुत बड़ी है, जो अपनी लहरों से ऐसी जान पड़ती है मानो उसने शरद्ऋतु के बादल ही धारण किये हों और जिसका जल वनों के अन्तभाग तक फैल गया है ऐसी गंगा नदी को भी यह महापर्वत अपने निचले शिखरों पर धारण कर रहा है ॥११४॥

और, जो अतिशय विस्तृत है जो कठिनता से पार होने योग्य है, जो लगातार समुद्र तक चली गयी है जिसने लताओं के वन को जल से आर्द्र कर दिया है तथा जो अपने किनारे की उपमा को प्राप्त है ऐसी सिन्धु नदी को भी यह पर्वत धारण कर रहा है ॥११५॥

इस प्रकार अनेक विशेष गुणों से सहित इस पर्वत पर जिसे देखो वही सुख देने वाला, हृदय को हरण करने वाला और आंखों को लुभाने वाला जान पड़ता है ॥११६॥

इस पर्वत के नीचले शिखरों पर जो फूलों से व्याप्त हरी-हरी वन की पंक्ति दिखाई दे रही है वह इस पर्वत की धोती की शोभा धारण कर रही है और शिखर के अग्रभाग पर जो सफेद-सफेद बादलों की पंक्ति लग रही है वह इसकी पगड़ी की शोभा बढ़ा रही है ॥११७॥

जिनका अन्तभाग परदा के समान सफेद बादलों की पंक्ति से ढका हुआ है और मणियों की प्रभा के प्रसार से जिनका सब अन्धकार नष्ट हो गया है ऐसे इस पर्वत के लतागृहों में विद्याधरियाँ विद्याधरों के साथ क्रीड़ा कर रही हैं ॥११८॥

इस पर्वत के ऊपर शरद्ऋतु का मोटा बादल चंदोवा की शोभा बढ़ाता हुआ हमेशा स्थिर रहता है इसलिए विद्याधरियाँ चिरकाल तक रमण करने की इच्छा से वहीं पर अपना घर-सा बना लेती हैं और गरमी के दिनों से भी गरमी का दुःख नहीं जानती ॥११९॥

ये शरद्ऋतु के बादल भी चमकते हुए इन्द्रनीलमणियों की प्रभा में डूबकर काले बादलों के समान हो रहे हैं, इन्हें देखकर ये मयूर हर्षित हो रहे हैं और उन्मत्त होकर शब्द करते हुए पूँछ फैलाकर सुन्दर नृत्य कर रहे हैं ॥१२०॥

इधर ये विद्याधरों की स्त्रियाँ पर्वत के किनारे में मिले हुए सफेद बादलों को स्थल समझकर उनके पास पहुंची हैं और उन पर इस प्रकार शय्या बना रही हैं मानो बिछे हुए किसी लम्बे-चौड़े रेशम की जाजम पर ही बना रही हो ॥१२१॥

इधर मनोहर शब्द करते हुए सारस पक्षियों से व्याप्त तालाबों के किनारों पर ये जंगली हाथी प्रवेश कर रहे हैं जिससे ये हंसों की पंक्तियाँ श्रावण मास के डर से आकाश में उड़ी जा रही है और ऐसी दिखाई देती हैं मानो आकाशरूपी लक्ष्मी के हार की लड़ियाँ ही हों ॥१२२॥

इधर यह सूर्य का बिम्ब हरे-हरे मणियों के बने हुए किनारों की कान्ति के समूह से आच्छादित हो गया है इसलिए ये विद्याधर इसे कमलिनी का हरा पत्ता समझकर पर्वत के इसी किनारे की ओर बार-बार देखते हैं ॥१२३॥

कहीं पर सरोवर के किनारे जंगली हाथियों के कपोलों की रगड़ से जिनकी छाल गिर गयी है ऐसे वन के वृक्ष ऐसे जान पड़ते हैं मानो फूलरूपी आँसुओं की बूंदें डालते हुए और उनके भीतर बैठे हुए भ्रमरों की गुंजार के बहाने करुणाजनक शब्द करते हुए रो ही रहे हों ॥१२४॥

इधर कमलवनों में मद के कारण जिनके शब्द उत्कट हो गये हैं ऐसे कलहंस और सारस पक्षी मधुर शब्द कर रहे हैं और इधर कोयलों के मनोहर शब्दों से बड़ा हुआ मयूरों का मनोहर शब्द विस्तृत हो रहा है ॥१२५॥

इधर इस वन में शरदऋतु के से सफेद बादल और वर्षाऋतु के से काले बादल स्वेच्छा से मिल रहे हैं और ऐसे जान पड़ते हैं मानो सफेद और काले दो हाथी एक-दूसरे के मुँह के सामने सूँड चलाते हुए युद्ध ही कर रहे हों ॥१२६॥

इधर वायु से जिसके वृक्ष हिल रहे हैं और जो फूलों की पराग से बिल्कुल ढकी हुई है ऐसी यह वन की भूमि यद्यपि दिखाई नहीं दे रही है तथापि सुगन्धि का लोलुपी और चारों ओर से आता हुआ यह भ्रमरों का समूह इसे दिखला रहा है ॥१२७॥

इधर, जो अनेक जंगली हाथियों के झुण्डों से सेवित है जिसके वृक्ष उन हाथियों के मदरूपी जल से सींचे गये हैं और जिसके वृक्ष तथा लताएँ बीच-बीच में पड़ते हुए और मद से मनोहर शब्द करते हुए भ्रमरों के समूह से व्याप्त हो रही हैं ऐसा यह वन कितना सुन्दर सुशोभित हो रहा है ॥१२८॥

इधर, जो सुगन्धित कमलों के वनों से सहित है और जो अतिशय मनोहर जान पड़ती है ऐसी इन वन की गलियों में ये सुन्दर दाँतों वाली विद्याधरों की स्त्रियाँ करधनी पहने हुए और नदियों के किनारों के बालू के टीलों को जीतने वाले अपने बड़े-बड़े जघनों (नितम्बों) से धीरे-धीरे जा रही हैं ॥१२९॥

इधर, इस पर्वत पर के वन सरस पल्लव और पुष्पों की रचना मानो बाँट देना चाहते हैं इसीलिए वे भ्रमरों के मनोहर शब्दों के बहाने 'इधर इस वृक्ष पर आओ, इधर इस वृक्ष पर आओ' इस प्रकार निरन्तर इन विद्याधरियों को बुलाते रहते हैं ॥१३०॥

इधर वृक्षों की सघनता से जिसमें खूब अन्धकार हो रहा है, ऐसे फूले हुए वन के मध्यभाग में अपने शरीर की कान्ति से दृष्टि को रोकने वाले अन्धकार को दूर करती हुई ये विद्याधरियाँ साथ में अनेक दीपक लेकर प्रवेश कर रही हैं ॥१३१॥

इधर, इन तरुण स्त्रियों ने अपने नाखूनों से इन लताओं के नवीन-कोमल पत्ते छेद दिये हैं इसलिए फूलों का रस पीने की इच्छा से इन लताओं पर बैठे और निरन्तर गुंजार करते हुए इन भ्रमरों के द्वारा ऐसा जान पड़ता है मानो इन लताओं के रोंके का शब्द ही फैल रहा हो ॥१३२॥

इधर, जिन्होंने फूलों के कर्णभूषण बनाकर पहिने हैं, फूलों की पराग से जिनके स्तनमण्डल पीले पड़ गये हैं और जिनकी बड़ी-बड़ी आँखें कामदेव के बाण के समान जान पड़ती हैं ऐसी ये विद्याधरियाँ फूल तोड़ने के लिए इस पर्वत पर इधर-उधर जा रही हैं ॥१३३॥

जिनकी भौंहें सुन्दर हैं, नेत्र अतिशय चंचल है, नखों की किरणें निकली हुई मंजरियों के समान है और जो फूल तोड़ने के लिए वनों में तल्लीन हो रही हैं ऐसी ये तरुण स्त्रियाँ जहाँ-तहाँ ऐसी घूम रही है मानो निकली हुई मंजरियों से सुशोभित और चंचल भ्रमरों के समूह से युक्त सोने की लताएँ ही हों ॥१३४॥

जिसमें मन्द-मन्द वायु चल रहा है, फूल खिले हुए हैं और फूली हुई मालती से जिसके किनारे अतिशय सुन्दर हो रहे हैं ऐसे इस वन में इस समय यह वायु काले-काले भ्रमरों से युक्त वृक्षों की पंक्ति को हिला रहा है ॥१३५॥

इधर, जिसने कल्पवृक्षों की पंक्तियाँ हिलायी हैं, जिसने मन्दार जाति के पुष्पों की सान्द्र पराग से दिशाएँ सुगन्धित कर दी है, जो मदोन्मत्त भ्रमरों और कोयलों के शब्द हरण कर रहा है और जो नवीन कोमल पत्तों को भेद रहा है ऐसा वायु धीरे-धीरे सब ओर बह रहा है ॥१३६॥

इधर, जो कमलवनों को धारण करने वाले जल में लहरें उत्पन्न कर रहा है, फूलों के रस की सुगन्धि से सहित है और अतिशय शीतल है ऐसा यह वायु फूले हुए वृक्षों के शिखर का सब ओर से स्पर्श कर रहा है ॥१३७॥

जिसने कोमल लताओं के ऊपर के नवीन पत्तों को मसल डाला है और जिसमें निर्झरनों के जल की बूँदों का समूह मण्डलाकार होकर मिल रहा है ऐसा यह वायु अपने द्वारा उड़ाये हुए फूलों के पराग को चँदोवा की शोभा प्राप्त करा रहा है । भावार्थ-इस वन में वायु के द्वारा उड़ाया हुआ फूलों का पराग चँदोवा के समान जान पड़ता है ॥१३८॥

इस वन में होने वाली विद्याधरियों की अतिशय रतिक्रीड़ा को किन्नर लोग चारों ओर फैले हुए चंचल कंकणों के शब्दों से और उनके साथ होने वाले नुपूरों की मनोहर झंकारों से सहज ही जान लेते हैं ॥१३९॥

इधर यह पक्षियों का समूह इस वन के मध्य में हम लोगों के कानों को आनन्द देने वाला तरह-तरह का शब्द कर रहा है और इधर यह उन्मत्त हुआ मयूर विस्तृत शब्द करता हुआ एक प्रकार का विशेष नृत्य कर रहा है ॥१४०॥

इस महापर्वत के किनारे-किनारे नाना प्रकार के वृक्षों से सुशोभित वन की पंक्ति सुशोभित हो रही है । देखो, वह वायु के द्वारा हिलते हुए अपने वृक्षों से ऐसी जान पड़ती है मानो नृत्य ही करना चाहती हो ॥१४१॥

जिसमें अनेक भ्रमर गुंजार कर रहे हैं ऐसी यह वनों की पंक्ति ऐसी मालूम होती है मानो इस पर्वत का यश ही गाना चाहती हो और जो इसके चारों ओर फूलों के समूह बिखरे हुए हैं उनसे यह ऐसी जान पड़ती है मानो इस पर्वत को पुष्पाञ्जलि ही दे रही हो ॥१४२॥

इस वन के वृक्षों पर बैठे हुए भ्रमर पुष्परस का पान कर रहे हैं और कोयलें मनोहर शब्द कर रही हैं जिससे ऐसा मालूम होता है मानो भ्रमररूपी चोरों के समूह ने इन वन-वृक्षों का सब पुष्प-रसरूपी धन लूट लिया है और इसीलिए वे बोलती हुई कोयलों के शब्दों के द्वारा मानो हल्ला ही मचा रहे हों ॥१४३॥

इस पर्वत के चाँदी के बने हुए प्रदेशों पर आकर जो मयूर खूब नृत्य कर रहे हैं उनके पड़ते हुए प्रतिबिम्ब इस पर्वत पर खिले हुए नीलकमलों के समूह की शोभा फैला रहे हैं । भावार्थ-चाँदी की सफेद जमीन पर पड़े हुए मयूरों के प्रतिबिम्ब ऐसे पड़ते हैं मानो पानी में नील कमलों का समूह ही फूल रहा हो ॥१४४॥

इसका माहात्म्य अनुपम है, इसकी कान्ति बर्फ के समान अतिशय स्वच्छ है, इसकी पवित्र मूर्ति का कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता अथवा यह किसी के भी द्वारा उल्लंघन न करने योग्य पुण्य की मूर्ति है और इसने स्वयं समुद्र तक पहुँचकर उसे तिरस्कृत कर दिया है इन सभी कारणों से यह चाँदी का विजयार्थ पर्वत पृथिवी पर गंगा नदी के प्रवाह के समान सुशोभित हो रहा है ॥१४५॥

इस महापर्वत के प्रत्येक ऊँचे तट पर लगी हुई हरी-हरी वनपंक्ति को देखकर इन मयूरों को मेघों की शंका हो रही है जिससे वे हर्षित हो पूँछ फैलाकर नृत्य कर रहे हैं ॥१४६॥

जिनमें देव, नागेन्द्र और धरणेन्द्र सदा क्रीड़ा किया करते हैं, जिनमें नाना प्रकार के लतागृह, तालाब और बालू के टीले (क्रीड़ाचल) बने हुए हैं और जिनके वृक्ष कोमल पत्ते तथा फूलों से निरन्तर उज्ज्वल रहते हैं ऐसे ये उपवन इस पर्वत के प्रत्येक शिखर पर सुशोभित हो रहे हैं ॥ १४७॥

इधर, यह सूर्य चलता-चलता इस महापर्वत के किनारे आ गया है और वहाँ अनेक प्रकार के मणियों के किरणसमूह से चित्र-विचित्र होने के कारण आकाश में किसी अनेक रङ्ग वाले पक्षी की शोभा धारण कर रहा है ॥१४८॥

जिनके मध्यभाग रत्नों की कान्ति से व्याप्त हो रहे हैं, जिनमें नागकुमार और व्यन्तर जाति के देव प्रसन्न होकर क्रीड़ा करते हैं, जिन्होंने सूर्यमण्डल को भी रोक लिया है, जिन्होंने सब दिशाएँ आच्छादित कर ली हैं, जो वायु की गति को भी रोकने वाले हैं, देवांगनाओं के मन का हरण करते हैं और आकाश को उल्लंघन करने वाले हैं ऐसे बड़े-बड़े सघन शिखरों से यह पर्वत कैसा सुशोभित हो रहा है ॥१४९॥

इधर देखो, जिस प्रकार कोई महामत्स्य समुद्र में से धीरे-धीरे निकलता है उसी प्रकार इस पर्वत की गुफा में से यह भयंकर अजगर धीरे-धीरे निकल रहा है । इसने अपने शरीर से समीपवर्ती लता, छोटे-छोटे पौधे और वृक्षों को पीस डाला है तथा यह क्रोधपूर्वक की गयी फूत्कार की गरमी से समीपवर्ती वन को जला रहा है ॥१५०॥

इधर इस पर्वत के किनारे पर अनेक प्रकार के रत्नों के प्रकाश से मिली हुई संध्याकाल की गहरी ललाई फैल रही है जिससे यह रूपमय होने पर भी अपनी प्रकृति से विरुद्ध सुवर्णमय मेरु पर्वत की दर्शनीय शोभा धारण कर रहा है ॥१५१॥

इधर देखो, इस पर्वत के किनारे के समीप लगे हुए असन जाति के वृक्षों का बहुत-सा पीले रंग का पराग तीव्र वेग वाले वायु के द्वारा ऊँचा उड़-उड़कर आकाश में छाया हुआ है और सुवर्ण के बने हुए छत्र की शोभा धारण कर रहा है ॥१५२॥

इधर, झरते हुए मदजल से भरे हुए हाथियों के गण्ड-स्थल खुजलाने से जिनकी छोटी-छोटी चट्टानें अस्त-व्यस्त हो गयी हैं और वृक्ष टूट गये हैं ऐसी इस पर्वत के किनारे की भूमियाँ मदोन्मत्त हाथियों का मार्ग सूचित कर रही हैं । भावार्थ-चट्टानों और वृक्षों को टूटा-फूटा हुआ देखने से मालूम होता है कि यहाँ से अच्छे-अच्छे मदोन्मत्त हाथी अवश्य ही आते-जाते होंगे ॥१५३॥

इधर देखो, इस पर्वत के लतागृहों में और वन के भीतरी प्रदेशों में ये हरिणों के समूह नाक फुला-फुलाकर बहुत से घास के समूह को सूँघते हैं और उसमें जो घास अच्छी जान पड़ती है उसे ही खाना चाहते हैं ॥१५४॥

इधर देखो, इस पर्वत का जो-जो किनारा जिस-जिस प्रकार के रत्नों का बना हुआ है ये हरिण आदि पशु उन-उन किनारे पर जाकर उसी-उसी प्रकार की कान्ति को प्राप्त हो जाते हैं और ऐसे मालूम होने लगते हैं मानो इन्होंने किसी दूसरी ही जाति का रूप धारण कर लिया हो ॥१५५॥

इधर, यह हरिणियों का समूह हरे रंग के मणियों की फैली हुई किरणों को घास समझकर खा रहा है परन्तु उससे उसका मनोरथ पूर्ण नहीं होता इसलिए थोखा खाकर पास ही में लगी हुई सचमुच की घास को भी नहीं खा रहा है ॥१५६॥

इधर वन के मध्य में गाती हुई किन्नर जाति की देवियों का सुन्दर संगीत सुनकर यह हरिणों का समूह आधा चबाये हुए तृणों का घास मुंह से बाहर निकालता हुआ और नेत्रों को कुछ-कुछ बन्द करता हुआ चुपचाप खड़ा है ॥१५७॥

इधर यह सूर्य का बिम्ब इस पर्वत के मध्य शिखर की ओट में छिप गया है इसलिए सूर्य क्या अस्त हो गया, ऐसी आशंका से व्याकुल हुई चकवी सायंकाल के पहले ही अपने पति के पास खड़ी-खड़ी भय को प्राप्त हो रही है ॥१५८॥

इस पर्वत पर कमलिनियाँ खूब विस्तृत हैं और वे सदा ही फूली रहती हैं, इस पर्वत पर भ्रमरियाँ भी सदा गुंजार करती रहती हैं, हाथी सदा मद झराते रहते हैं और यहां के वनों के वृक्ष भी सदा फूले-फले हुए मनोहर रहते हैं ॥१५९॥

यह पर्वत शरत् ऋतु के बादल के समान अतिशय स्वच्छ है । इसके शिखर पर लगी हुई यह हरी-भरी वन की पंक्ति ऐसी शोभा धारण कर रही है मानो बलभद्र के अतिशय सफेद कान्ति को धारण करने वाले नितम्ब भाग पर नीले रंग की धोती ही पहनायी हो ॥१६०॥

यह सुन्दर पर्वत चन्द्रमा के समान स्वच्छ है और दोनों ही श्रेणियों के बीच में हरे-हरे वनों के समूह धारण कर रहा है जिससे ऐसा जान पड़ता है मानो मनोहर और सफेद मेघ के समान उज्ज्वल मूर्ति से सहित तथा वायु के वेग से आकर दोनों ओर समीप में ठहरे हुए काले-काले मेघों को धारण करने वाला ऐरावत हाथी ही हो ॥१६१॥

जो सुगन्धित फूलों की पराग को सब दिशाओं में फैला रहा है, जो सुगन्धि के कारण इकट्ठे हुए भ्रमरों की स्पष्ट झंकार से मनोहर जान पड़ता है और जो विद्याधरियों के सम्भोगजनित खेद को दूर कर देता है ऐसा वायु इस पर्वत के प्रत्येक वन में धीरे-धीरे बहता रहता है ॥१६२॥

देवांगनाओं तथा इस पर्वत पर रहने वाली स्त्रियों के बीच प्रकृति के द्वारा किया हुआ स्पष्ट दिखने वाला केवल इतना ही अन्तर है कि देवांगनाओं के नेत्र टिमकार से रहित होते हैं और यहाँ की स्त्रियों के नेत्र लीला से कुछ-कुछ टेढ़े सुन्दर और चंचल कुटाक्षों के विलास से सहित होते हैं ॥१६३॥

इधर देखो, जिसके गण्डस्थल पर अनेक उन्मत्त भ्रमर मंडरा रहे हैं ऐसा यह वन में प्रवेश करता हुआ हाथी इस गिरिराज के सुवर्णमय तटों को देखकर दावानल के डर से वन को छोड़ रहा है ॥१६४॥

इधर, नीलमणि के बने हुए ऊँचे किनारे को देखता हुआ यह मयूर मेघ की आशंका से हर्षित हो मधुर शब्द करता हुआ पूँछ उठाकर नृत्य कर रहा है सो ठीक ही है क्योंकि मूर्ख स्वार्थी जन सिंचाई का विचार नहीं करते हैं ॥१६५॥

इधर तालाबों में ये हंस मधुर शब्द कर रहे हैं और वृक्षों पर कोयल तथा भ्रमर शब्द कर रहे हैं । इधर फलों के बोझ से जिनकी शाखाएँ नीचे की ओर झुक गयी हैं ऐसे ये वृक्ष अपनी हिलती हुई शाखाओं से ऐसे मालूम होते हैं मानो कामदेव को ही बुला रहे हों ॥१६६॥

इधर अपनी स्त्री के स्तन-तट का स्पर्श करता हुआ और उस सुख के अनुभव से कुछ-कुछ नेत्रों को बन्द करता हुआ यह किन्नर अपनी स्त्री के साथ-साथ वन के मध्यभाग से धीरे-धीरे जा रहा है ॥१६७॥

यह विजयार्थ पर्वत अपने शिखरों पर निर्मल शरीर वाले करोड़ों सिंह, करोड़ों चमरी गायें और करोड़ों रंगों को धारण कर रहा है और उन सबसे ऐसा मालूम होता है मानो लोध्रवृक्ष के समान सफेद अपने यशसमूह की सन्तति को ही धारण कर रहा हो ॥१६८॥

अपनी-अपनी देवांगना के साथ विहार करते हुए देवों को इस पर्वत के रजतमयी शिखरों पर जो सन्तोष होता है वह उन्हें न तो स्वर्ग में मिलता है, न हिमवान् पर्वत पर मिलता है और न सुमेरु पर्वत के किसी तट पर ही मिलता है ॥१६९॥

इधर देखो, जो जंगली हाथियों के गण्डस्थलों की रगड़ से लगे हुए मद-जल से तर-बतर हो रहा है, ऐसे इस पहाड़ पर की गोल चट्टान को यह सिंह हाथी समझ रहा है इसीलिए यह उसे देखकर बार-बार उस पर प्रहार करता है और नाखुनों से समीप की भूमि को खोदता है ॥ १७०॥

इधर इस वन में शरद्ऋतु के चन्द्रमा के समान निर्मल शरीर की कान्ति को धारण करता हुआ तथा इस पर्वत के गुफारूपी मुख पर अट्टहास की शोभा बढ़ाता हुआ यह सिंह धीरे-धीरे जागकर जमुहाई ले रहा है और पर्वत के शिखर पर छलांग मारने की इच्छा कर रहा है ॥१७१॥

इधर यह लतागृह में अजगर पड़ा हुआ है, यह पर्वत के बिल में से अपना आधा शरीर बाहर निकाल रहा है और ऐसा जान पड़ता है मानो एक जगह इकट्ठा हुआ पहाड़ की अंतड़ियों का बड़ा भारी समूह ही हो । इसने श्वास रोककर अपना मुँहरूपी बिल खोल रखा है और उसे बिल समझ कर उसमें पड़ते हुए जंगली जीवों के द्वारा यह अपनी क्षुधा का प्रतिकार करना चाहता है ॥१७२॥

यह पर्वत अपने लम्बे फैले हुए शिखरों से समुद्र के जल का स्पर्श करता है और यह समुद्र वायु से कम्पित होकर निरन्तर उठती हुई लहरों की अनेक छोटी-छोटी बूँदों से प्रतिदिन इस गिरिराज के तटों को शीतल करता रहता है सो ठीक ही है क्योंकि जिनका अन्तःकरण शीतल अर्थात् शान्त होता है ऐसे महापुरुष समीप में आये हुए पुरुष को शीतल अर्थात् शान्त करते ही हैं ॥१७३॥

ये गंगा और सिन्धु नदियाँ रसिक अर्थात् जलसहित और पक्ष में शृंगार रस से युक्त होने के कारण इस पर्वत के हृदय के समान तट को विदीर्ण कर तथा वायु के द्वारा हिलती हुई तरंगोंरूपी अपने हाथों से बार-बार स्पर्श कर चली जा रही हैं सो ठीक ही है क्योंकि बड़े पुरुषों का बड़ा भारी हृदय भी स्त्रियों के द्वारा भेदन किया जा सकता है ॥१७४॥

जिसकी जल-वर्षा बहुत ही उत्कृष्ट है, जो मुक्ताफल अथवा नक्षत्रों के समान अतिशय निर्मल है और जिसकी गर्जना भी उत्कृष्ट है ऐसी यह मेघों की घटा, अधिक मजबूत तथा जिसके सब स्थिर अंश समान हैं ऐसे इस विजयार्थ पर्वत के शिखरों के समीप यद्यपि बार-बार और शीघ्र-शीघ्र आती है तथापि गर्जना के द्वारा ही प्रकट होती है । भावार्थ-इस विजयार्थ पर्वत के सफेद शिखरों के समीप छाये हुए सफेद-सफेद बादल जब तक गरजते नहीं हैं तब तक दृष्टिगोचर नहीं होते ॥१७५॥

इधर देवों से मनोहर वन के मध्यभाग में तालाब के बीच इधर-उधर श्रेष्ठ गमन करने वाली यह सारस पक्षियों की पंक्ति उच्च स्वर से शब्द कर रही है और इधर आकाश में जोर से बरसती और शब्द करती हुई यह मेघों की माला उच्च और गम्भीर स्वर से गरज रही है ॥१७६॥

रमण करने के योग्य, श्रेष्ठ निर्मल और सुन्दर शरीर वाले अपने पति को प्रसन्न करने वाली कोई स्त्री संभोग के बाद इस पर्वत के श्रेष्ठमणियों से देदीप्यमान तटभाग पर बैठकर जिसके अवान्तर अंग अतिशय सुन्दर हैं, जो श्रेष्ठ है, ऊँचे स्वर से सहित है और बहुत मनोहर है ऐसा गाना गा रही है ॥१७७॥

इधर इस पर्वत के मध्यभाग पर सुन्दर लतागृह में बैठी हुई पतिसहित प्रेम के परवश और देदीप्यमान कान्ति की धारक विद्याधरियों को देखकर जाति के देवों की स्त्रियाँ लज्जित हो रही हैं ॥१७८॥

यह विजयार्थ पर्वत भी वृषभ जिनेन्द्र के समान है क्योंकि जिस प्रकार वृषभजिनेन्द्र श्रीमान् अर्थात् अन्तरंग और बहिरंग लक्ष्मी से सहित हैं उसी प्रकार यह पर्वत भी श्रीमान् अर्थात् शोभा से सहित है । जिस प्रकार वृषभजिनेन्द्र मनुष्य देव विद्याधर और चारण ऋद्धिधारी मुनियों के द्वारा सेवनीय हैं उसी प्रकार यह पर्वत भी उनके द्वारा सेवनीय है अर्थात् वे सभी इस पर्वत पर विहार करते हैं । वृषभजिनेन्द्र जिस प्रकार तीनों जगत् के गुरु हैं उसी प्रकार यह पर्वत भी तीनों जगत् में गुरु अर्थात् श्रेष्ठ है । जिस प्रकार वृषभजिनेन्द्र चन्द्रमा के समान उज्ज्वल कीर्ति के धारक हैं उसी प्रकार यह पर्वत भी चन्द्र-तुल्य उज्ज्वल कीर्ति का धारक है, वृषभजिनेन्द्र जिस प्रकार तुंग अर्थात् उदार हैं उसी प्रकार यह पर्वत भी तुंग अर्थात् ऊँचा है, वृषभजिनेन्द्र जिस प्रकार शुचि अर्थात् पवित्र हैं उसी प्रकार यह पर्वत भी शुचि अर्थात् शुक्ल है तथा जिस प्रकार वृषभजिनेन्द्र के पादमूल अर्थात् चरणकमल भरत चक्रवर्ती के द्वारा आश्रित हैं उसी प्रकार इस पर्वत के

पादमूल अर्थात् नीचे के भाग भी दिग्विजय के समय गुफा में प्रवेश करने के लिए भरत चक्रवर्ती के द्वारा आश्रित हैं अथवा इसके पादमूल भरत क्षेत्र में स्थित हैं । इस प्रकार भगवान् वृषभजिनेन्द्र के समान अतिशय, उत्कृष्ट यह विजयार्थ पर्वत तुम दोनों की रक्षा करे ॥१७९॥

इस प्रकार युक्तिसहित धरणेन्द्र के वचन कहने पर उन दोनों राजकुमारों ने भी उस गिरिराज की प्रशंसा की और फिर उस धरणेन्द्र के साथ-साथ नीचे उतरकर अतिशय-श्रेष्ठ और ऊंची-ऊंची ध्वजाओं से सुशोभित रथनूपुरचक्रवाल नाम के नगर में प्रवेश किया ॥१८०॥

धरणेन्द्र ने वहां दोनों को सिंहासन पर बैठाकर सब विद्याधरों से कहा कि ये तुम्हारे स्वामी हैं और फिर उस धीर-वीर धरणेन्द्र ने विद्याधरियों के हाथों से उठाये हुए सुवर्ण के बड़े-बड़े कलशों से इन दोनों का राज्याभिषेक किया ॥१८१॥

राज्याभिषेक के बाद धरणेन्द्र ने विद्याधरों से कहा कि जिस प्रकार इन्द्र स्वर्ग का अधिपति है उसी प्रकार यह नमि अब दक्षिण श्रेणी का अधिपति हो और अनेक सावधान विद्याधरों के द्वारा नमस्कार किया गया यह विनमि चिरकाल तक उत्तर-श्रेणी का अधिपति रहे ।

कर्मभूमिरूपी जगत् को उत्पन्न करने वाले जगद्गुरु श्रीमान् भगवान् वृषभदेव ने अपनी सम्मति से इन दोनों को यहाँ भेजा है इसलिए सब विद्याधर राजा प्रेम से मस्तक झुकाकर इनकी आज्ञा धारण करें ॥१८२-१८३॥

उन दोनों के पुण्य से तथा जगद्गुरु भगवान् वृषभदेव की आज्ञा के निरूपण से और धरणेन्द्र के योग्य उपदेश से उन विद्याधरों ने वह सब कार्य उसके कहे अनुसार ही स्वीकृत कर लिया था सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषों के द्वारा हाथ में लिया हुआ कार्य शीघ्र ही सिद्ध हो जाता ॥१८४॥

इस प्रकार नयों को जानने वाले धीर-वीर धरणेन्द्र ने उन दोनों को गान्धारपदा और पन्नगपदा नाम की दो विद्याएं दी और फिर अपना कार्य पूरा कर विनय से झुके हुए दोनों राजकुमारों को छोड़कर अपने निवासस्थान पर चला गया ॥१८५॥

तदनन्तर धरणेन्द्र के चले जाने पर नाना प्रकार के सम्पूर्ण भोगोपभोगों को बार-बार भेंट करते हुए विद्याधर लोग हाथ जोड़कर मस्तक नवाकर स्पष्ट रूप से जिनकी सेवा करते हैं ऐसे वे दोनों कुमार उस पर्वत पर बहुत ही सन्तुष्ट हुए थे ॥१८६॥

जो अपने-अपने भाग्य के समान अलंघनीय है, पुण्यात्मा जीवों का निवारण होने के कारण जो स्वर्ग का अनुकरण करती है तथा जो जिनेन्द्र भगवान् के समवसरण के समान सब लोगों के द्वारा वन्दनीय है ऐसी उस विजयार्थ पर्वत की मेखला पर वे दोनों राजकुमार सुख से रहने लगे थे ॥१८७॥

जिन्होंने स्वयं विधिपूर्वक अनेक विद्याएं सिद्ध की हैं और विद्या में बड़े-बड़े पुरुषों के साथ मिलकर अपने अभिलषित **अर्थ** को सिद्ध किया है ऐसे वे दोनों ही कुमार विद्याओं के अधीन प्राप्त होने वाले तथा छहों ऋतुओं के सुख देने वाले भोगों का उपभोग करते हुए उस पर्वत पर विद्याधरों के द्वारा विभक्त की हुई स्थिति को प्राप्त हुए थे । भावार्थ-यद्यपि वे जन्म से विद्याधर नहीं थे तथापि यहाँ जाकर उन्होंने स्वयं अनेक विद्याएं सिद्ध कर ली थीं और दूसरे विद्यावृद्ध मनुष्यों के साथ मिलकर वे अपना अभिलषित कार्य सिद्ध कर लेते थे इसलिए विद्याधरों के समान ही भोगोपभोग भोगते हुए रहते थे ॥१८८॥

इन दोनों कुमारों को प्रसन्न करने वाली सेवा करते हुए विद्याधर लोग अपना-अपना मस्तक झुकाकर उन दोनों की आज्ञा धारण करते थे । गौतम स्वामी राजा श्रेणिक से कहते हैं कि हे राजन् ये नमि और विनमि कहाँ तो उत्पन्न हुए और कहाँ उन्हें समस्त शत्रुओं को तिरस्कृत करने वाला यह विद्याधरों के इन्द्र का पद मिला । यथार्थ में मनुष्य का पुण्य ही सुखदायी सामग्री को मिलाता रहता है ॥१८९॥

नमि कुमार ने बड़ी-बड़ी भोगोपभोग की सम्पदाओं को प्राप्त हुए दक्षिण श्रेणी पर रहने वाले समस्त विद्याधर नगरियों के राजाओं को वश में किया था और विनमि ने उत्तरश्रेणी पर रहने वाले समस्त विद्याधर नगरियों के राजाओं को नम्रीभूत किया था ॥१९०॥

इस प्रकार वे दोनों ही राजकुमार विद्याधरों की उस लक्ष्मी को विभक्त कर विजयार्थ पर्वत के तट पर निष्कण्टक रूप से रहते थे । हे भव्य जीवो, देखो, भगवान् वृषभदेव के चरणों का आश्रय लेने वाले इन दोनों कुमारों को पुण्य से ही उस प्रकार की विभूति प्राप्त हुई थी इसलिए जो जीव स्वर्ग आदि लक्ष्मी प्राप्त करना चाहते हैं वे एक पुण्य का ही संचय करें ॥१९१॥

चर और अचर जगत् के गुरु तथा तीन लोक के अधिपतियों-द्वारा पूजित भगवान् वृषभदेव को नमस्कार कर ही दोनों भक्त विद्याधरों के अधीश्वर होकर उचित सुख को प्राप्त हुए थे इसलिए जो भव्य जीव मोक्षरूपी अविनाशी सुख और परम कल्याणरूप जिनेन्द्र भगवान् के गुण प्राप्त करना चाहते हैं वे आदिगुरु भगवान् वृषभदेव को मस्तक झुकाकर प्रणाम करें और उन्हीं की भक्तिपूर्वक पूजा करें ॥१९२॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण श्री महापुराणसंग्रह में नमि-विनमि की राज्यप्राप्ति का वर्णन करने वाला उन्नीसवां पर्व

समाप्त हुआ ॥१९॥

पर्व-20 -- भगवान को कैवल्योत्पत्ति

पर्व-20 -- भगवान को कैवल्योत्पत्ति

कथा :

अथानन्तर-जिनका माहात्म्य अचिन्त्य है और जो मेरु पर्वत के समान अचल स्थिति को धारण करने वाले हैं ऐसे जगद्गुरु भगवान् वृषभदेव को योग धारण किये हुए जब छह माह पूर्ण हो गये ॥१॥

तब यतियों की चर्या अर्थात् आहार लेने की विधि बतलाने के उद्देश्य से शरीर की स्थिति के अर्थ निर्दोष आहार ढूँढ़ने के लिए उनकी इस प्रकार बुद्धि उत्पन्न हुई-वे ऐसा विचार करने लगे ॥२॥

कि बड़े दुःख की बात है कि बड़े-बड़े वंशों में उत्पन्न हुए ये नवदीक्षित साधु समीचीन मार्ग का परिज्ञान न होने के कारण इन क्षुधा आदि परीषहों से शीघ्र ही भ्रष्ट हो गये ॥३॥

इसलिए अब मोक्ष का मार्ग बतलाने के लिए और सुखपूर्वक मोक्ष की सिद्धि के लिए शरीर की स्थिति अर्थ आहार लेने की विधि दिखलाता हूँ ॥४॥

मोक्षाभिलाषी मुनियों को यह शरीर न तो केवल कृश ही करना चाहिए और न रसीले तथा मधुर मनचाहे भोजनों से इसे पुष्ट ही करना चाहिए ॥५॥

किन्तु जिस प्रकार ये इन्द्रियाँ अपने वश में रहें और कुमार्ग की ओर न दौड़ें, उस प्रकार मध्यम वृत्ति का आश्रय लेकर प्रयत्न करना चाहिए ॥६॥

वात, पित्त और कफ आदि दोष दूर करने के लिए उपवास आदि करना चाहिए तथा प्राण धारण करने के लिए आहार ग्रहण करना भी जैन-शास्त्रों में दिखलाया गया है ॥७॥

कायक्लेश उतना ही करना चाहिए जितने से संक्लेश न हो । क्योंकि संक्लेश हो जाने पर चित्त चंचल हो जाता है और मार्ग से भी च्युत होना पड़ता है ॥८॥

इसलिए संयमरूपी यात्रा की सिद्धि के लिए शरीर की स्थिति चाहने वाले मुनियों को रसों में आसक्त न होकर निर्दोष आहार ग्रहण करना चाहिए ॥९॥

इस प्रकार निश्चय करने वाले धीर-वीर भगवान् वृषभदेव योग समाप्त कर अपने चरणनिक्षेपों (डगों) के द्वारा मानो समस्त पृथ्वी को कम्पायमान करते हुए विहार करने लगे ॥१०॥

जिस समय महामेरु के समान उन्नत भगवान् वृषभदेव विहार कर रहे थे उस समय कम्पायमान हुई यह पृथ्वी उनके चरणकमलों के निक्षेप को स्वीकृत कर रही थी ॥११॥

यदि उस समय भगवान् वृषभदेव ने ईर्यासमिति से युक्त तपश्चरण धारण करने में प्रयत्न न किया होता तो सचमुच ही यह पृथिवी उनके चरणों के भार से दबकर अधोलोक में डूब गयी होती । भावार्थ-भगवान् ईर्यासमिति से गमन करने के कारण पोले-पोले पैर रखते थे इसलिए पृथ्वी पर उनका अधिक भार नहीं पड़ता था ॥१२॥

तदनन्तर चलते हुए पर्वत के समान उन्नत और शोभायमान भगवान् वृषभदेव ने अनेक नगर, ग्राम, मडम्ब, खर्वट और खेटों में विहार किया था ॥१३॥

मुनियों की चर्या को धारण करने वाले भगवान् जिस-जिस ओर कदम रखते थे अर्थात् जहाँ-जहाँ जाते थे वहीं-वहीं के लोग प्रसन्न होकर और बड़े संभ्रम के साथ आकर उन्हें प्रणाम करते थे ॥१४॥

उनमें से कितने ही लोग कहने लगते थे कि हे देव, प्रसन्न होइए और कहिए कि क्या काम है तथा कितने ही लोग चुपचाप जाते हुए भगवान् के पीछे-पीछे जाने लगते थे ॥१५॥

अन्य कितने ही लोग बहुमूल्य रत्न लाकर भगवान् के सामने रखते थे और कहते थे कि देव, प्रसन्न होइए और हमारी इस पूजा को स्वीकृत कीजिए ॥१६॥

कितने ही लोग करोड़ों पदार्थ और करोड़ों प्रकार की सवारियां भगवान् के समीप लाते थे परन्तु भगवान् को उन सबसे कुछ भी प्रयोजन नहीं था इसलिए वे चुपचाप आगे विहार कर जाते थे ॥१७॥

कितने ही लोग माला, वस्त्र, गन्ध और आभूषणों के समूह आदरपूर्वक भगवान् के समीप लाते थे और कहते थे कि हे भगवन् इन्हें धारण कीजिए ॥१८॥

कितने ही लोग रूप और यौवन से शोभायमान कन्याओं को लाकर भगवान् के साथ विवाह कराने के लिए तैयार हुए थे सो ऐसी मूर्खता को धिक्कार हो ॥१९॥

कितने ही लोग स्नान करने की सामग्री लाकर भगवान् को घेर लेते थे और कितने ही लोग भोजन की सामग्री सामने रखकर प्रार्थना करते थे कि विभो, मैं स्नान की सामग्री के साथ-साथ भोजन लाया हूँ, प्रसन्न होइए, इस आसन पर बैठिए और स्नान तथा भोजन कीजिए ॥ २०-२१॥

चर्या की विधि को नहीं जानने वाले कितने ही मूर्ख लोग भगवान् से ऐसी प्रार्थना करते थे कि हे भगवन् हम लोग दोनों हाथ जोड़ते हैं, प्रसन्न होइए और हमें अनुगृहीत कीजिए ॥२२॥

कितने ही लोग भगवान् के चरण-कमलों को पाकर और उनकी धूलि के स्पर्श से पवित्र हुए अपने मस्तक झुकाकर भोजन करने के लिए उनसे बार-बार प्रार्थना करते थे ॥२३॥

और कहते थे कि हे भगवन् यह खाद्य पदार्थ है, यह स्वाद्य पदार्थ है, यह जुदा रखा हुआ भोज्य पदार्थ है, और यह शरीर को सन्तुष्ट करने वाला, अतिशय मनोहर बार-बार पीने योग्य पेय पदार्थ है इस प्रकार संभ्रान्त हुए कितने ही अज्ञानी लोग भगवान् से बार-बार प्रार्थना करते थे परन्तु 'ऐसा करना उचित नहीं है' यही मानते हुए भगवान् चुपचाप वहाँ से आगे चले जाते थे ॥२४-२५॥

जिनकी चर्या की विधि अतिशय गुप्त है ऐसे भगवान् के अभिप्राय को जानने के लिए असमर्थ हुए कितने ही लोग क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए इस विषय में मूढ़ होकर चित्रलिखित के समान निश्चल ही खड़े रह जाते थे ॥२६॥

अन्य कितने ही लोग आँखों से आँसू डालते हुए अपने पुत्र तथा स्त्रियोंसहित भगवान् के चरण में आ लगते थे जिससे क्षण-भर के लिए भगवान् की चर्या में विघ्न पड़ जाता था परन्तु विघ्न दूर होते ही वे फिर भी आगे के लिए विहार कर जाते थे ॥२७॥

इस प्रकार जगत् को आश्चर्य करने वाली गूढ़ चर्या से उत्कृष्ट चर्या धारण करने वाले भगवान् के छह महीने और भी व्यतीत हो गये ॥२८॥

इस तरह एक वर्ष पूर्ण होने पर भगवान् वृषभदेव कुरुजांगल देश के आभूषण के समान सुशोभित हस्तिनापुर नगर में पहुँचे ॥२९॥

उस समय उस नगर के रक्षक राजा सोमप्रभ थे । राजा सोमप्रभ कुरुवंश के शिखामणि के समान थे, उनका अन्तःकरण अतिशय प्रसन्न था और मुख चन्द्रमा के समान सौम्य था ॥३०॥

उनका एक छोटा भाई था जिसका नाम श्रेयान्सकुमार था । वह श्रेयान्सकुमार गुणों की वृद्धि से श्रेष्ठ था, रूप से कामदेव के समान था, कान्ति से चन्द्रमा के समान था और दीप्ति से सूर्य के समान था ॥३१॥

जो पहले धनदेव था और फिर अहमिन्द्र हुआ था वह स्वर्ग से चय कर प्रजा का कल्याण करने वाला और स्वयं कल्याणों का निधिस्वरूप श्रेयान्सकुमार हुआ था ॥३२॥

जब भगवान् इस हस्तिनापुर नगर के समीप आने को हुए तब श्रेयान्सकुमार ने रात्रि के पिछले प्रहर में नीचे लिखे स्वप्न देखे ॥३३॥

प्रथम ही सुवर्णमय महा शरीर को धारण करने वाला और अतिशय ऊँचा सुमेरु पर्वत देखा, दूसरे स्वप्न में शाखाओं के अग्रभाग पर लटकते हुए आभूषणों से सुशोभित कल्पवृक्ष देखा, तीसरे स्वप्न में प्रलयकाल सम्बन्धी सन्ध्याकाल के मेघों के समान पीली-पीली अयाल से जिसकी ग्रीवा ऊँची हो रही है ऐसा सिंह देखा, चौथे स्वप्न में जिसके सींग के अग्रभाग पर मिट्टी लगी हुई है ऐसा किनारा उखाड़ता हुआ बैल देखा, पाँचवें स्वप्न में जिनकी कान्ति अतिशय देदीप्यमान हो रही है, और जो जगत् के नेत्रों के समान हैं ऐसे सूर्य और चन्द्रमा देखे, छठे स्वप्न में जिसका जल बहुत ऊँची उठती हुई लहरों और रत्नों से सुशोभित हो रहा है ऐसा समुद्र देखा तथा सातवें स्वप्न में अष्टमंगल द्रव्य धारण कर सामने खड़ी हुई भूत जाति के व्यन्तर देवों की मूर्तियाँ देखी । इस प्रकार भगवान् के चरणकमलों का दर्शन ही जिनका मुख्य फल है ऐसे ये ऊपर लिखे हुए सात स्वप्न श्रेयान्सकुमार ने देखे ॥३४-३७॥

तदनन्तर जिसका चित्त अतिशय प्रसन्न हो रहा है ऐसे श्रेयान्सकुमार ने प्रातःकाल के समय विनयसहित राजा सोमप्रभ के पास जाकर

उनसे रात्रि के समय देखे हुए वे सब स्वप्न ज्यों-के-त्यों कहे ॥३८॥

तदनन्तर जिसकी फैलती हुई दाँतों की किरणों से सब दिशाएँ अतिशय स्वच्छ हो गयी हैं ऐसे पुरोहित ने उन स्वप्नों का कल्याण करने वाला फल कहा ॥३९॥

वह कहने लगा कि हे राजकुमार, स्वप्न में मेरुपर्वत के देखने से यह प्रकट होता है कि जो मेरुपर्वत के समान अतिशय उन्नत (ऊँचा अथवा उदार) है और मेरुपर्वत पर जिसका अभिषेक हुआ है ऐसा कोई देव आज अवश्य ही अपने घर आयेगा ॥४०॥

और ये अन्य स्वप्न भी उन्हीं के गुणों की उन्नति को सूचित करते हैं। आज उन भगवान् के योग्य की हुई विनय के द्वारा हम लोगों के बड़े भारी पुण्य का उदय होगा ॥४१॥

आज हम लोग जगत् में बड़ी भारी प्रशंसा प्रसिद्धि और लाभसम्पदा को प्राप्त होंगे-इस विषय में कुछ भी सन्देह नहीं है और कुमार श्रेयान्स भी स्वयं स्वप्नों के रहस्य को जानने वाले हैं ॥४२॥

इस प्रकार पुरोहित के वचनों से प्रसन्न हुए वे दोनों भाई स्वप्न अथवा भगवान् की कथा कहते हुए बैठे ही थे कि इतने में ही योगिराज भगवान् वृषभदेव ने हस्तिनापुर में प्रवेश किया ॥४३॥

उस समय भगवान् के दर्शनों की इच्छा से जहाँ-तहाँ से आकर इकट्ठे हुए नगरनिवासी लोगों के मुख से निकला हुआ बड़ा भारी कोलाहल हो रहा था ॥४४॥

कोई कह रहा था कि आदिकर्ता भगवान् वृषभदेव हम लोगों का पालन करने के लिए यहाँ आये हैं चलो जल्दी चलकर उनके दर्शन करें और भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करें ॥४५॥

कितने ही लोग ऐसे उचित वचन कह रहे थे कि सनातन-भगवान् केवल हम लोगों पर अनुग्रह करने के लिए ही वनप्रदेश से वापिस लौटे हैं ॥४६॥

इस लोक और परलोक को जानने वाले भगवान् के दर्शन करने के लिए उत्कण्ठित हुए कितने ही नगरनिवासी जन अन्य सब काम छोड़कर इधर से उधर दौड़ रहे थे ॥४७॥

कोई कह रहा था कि जिनका शरीर सुमेरु पर्वत के समान अतिशय ऊँचा है और जिनकी कान्ति तपाये हुए उत्तम सुवर्ण के समान अतिशय देदीप्यमान है ऐसे ये भगवान् दूर से ही दिखाई देते हैं ॥४८॥

संसार का कोई एक पितामह है ऐसा जो हम लोग केवल कानों से सुनते थे वे ही सनातन पितामह भाग्य से आज हम लोगों के प्रत्यक्ष हो रहे हैं-हम उन्हें अपनी आँखों से भी देख रहे हैं ॥४९॥

इन भगवान् के दर्शन करने से नेत्र सफल हो जाते हैं, इनका नाम सुनने से कान सफल हो जाते हैं और इनका स्मरण करने से अज्ञानी जीव भी अन्तःकरण की पवित्रता को प्राप्त हो जाते हैं ॥५०॥

जिन्होंने समस्त परिग्रह का त्याग कर दिया है और जिनका अतिशय ऊँचा शरीर बहुत ही देदीप्यमान हो रहा है ऐसे ये भगवान् मेघों के आवरण से छूटे हुए सूर्य के समान अत्यन्त सुशोभित हो रहे हैं ॥५१॥

यह बड़ा भारी आश्चर्य है कि ये भगवान् तीन लोक के स्वामी होकर भी सब परिग्रह छोड़कर इस तरह अकेले ही विहार करते हैं ॥५२॥

अथवा जो हम लोगों ने पहले सुना था कि भगवान् ने स्वाधीन सुख प्राप्त करने की इच्छा से झुण्ड की रक्षा करने वाले हाथी के समान वन के लिए प्रस्थान किया है सो वह इस समय सत्य मालूम होता है क्योंकि ये परमेश्वर भगवान् समस्त परिग्रह और वस्त्र छोड़कर बिना किसी कष्ट के इच्छानुसार अकेले ही विहार कर रहे हैं ॥५३-५४॥

ये भगवान् अपनी इच्छानुसार अनेक देशों में विहार करते हुए हम लोगों के भाग्य से ही यहाँ आये हैं इसलिए हमें इनकी वन्दना करनी चाहिए, पूजा करनी चाहिए और इनके सम्मुख जाना चाहिए, इस प्रकार कितने ही लोग प्रशंसनीय वचन कह रहे थे ॥५५॥

उस समय कोई स्त्री अपनी दासी से कह रही थी कि हे दासी, तू बालक को लेकर दूध पिला, मैं भगवान् के चरणों का दर्शन करने के लिए जाती हूँ ॥५६॥

अन्य कोई स्त्री कह रही थी कि यह स्नान की सामग्री और यह आभूषण पहनने की सामग्री दूर रहे, मैं तो भगवान् के दृष्टिरूपी पवित्र जल से स्नान करूंगी ॥५७॥

भगवान् के मुखरूपी बालसूर्य के दर्शन से हमारा यह मनरूपी कमल चिरकाल तक विकास को प्राप्त रहे, चलो, आज जगद्गुरु भगवान् वृषभदेव के दर्शन करें ॥५८॥

अन्य कोई स्त्री कह रही थी कि हे सखि, भोजन करना बन्द कर, जल्दी उठ और यह अर्घ हाथ में ले, चलकर जगत् पूज्य भगवान् की पूजा करें ॥५९॥

उस समय नगरनिवासी लोग सामने रखी हुई स्नान और भोजन की सामग्री को दूर कर आगे जाने वाले भगवान के दर्शन के लिए जा रहे थे ॥६०॥

कितने ही लोग अन्य लोगों को जाते हुए देखकर उनकी देखादेखी भगवान् के दर्शन करने के लिए उद्यत हुए थे । कितने ही भक्तिवश और कितने ही कौतुक के अधीन हो जिनेन्द्रदेव को देखने के लिए तत्पर हुए थे ॥६१॥

इस प्रकार नगरनिवासी लोग परस्पर में अनेक प्रकार की बातचीत और आदरसहित अनेक संकल्प-विकल्प करते हुए जगत् की रक्षा करने वाले भगवान को दूर से ही नमस्कार कर उनके दर्शन करने लगे ॥६२॥

मैं पहले पहुँचूँ मैं पहले पहुँचूँ इस प्रकार विचार कर चारों ओर से आये हुए नगरनिवासी लोगों के द्वारा वह नगर उस समय राजमहल तक खूब भर गया था ॥६३॥

उस समय नगर में यह सब हो रहा था परन्तु भगवान संवेग और वैराग्य की सिद्धि के लिए कमर बाँधकर संसार और शरीर के स्वभाव का चिन्तन करते हुए प्राणिमात्र, गुणाधिक, दुःखी और अविनयी जीवों पर क्रम से मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावना का विचार करते हुए चार हाथ प्रमाण मार्ग देखकर न बहुत धीरे और न बहुत शीघ्र मदोन्मत्त हाथी जैसी लीलापूर्वक पैर रखते हुए, और मनुष्यों से भरे हुए नगर को शून्य वन के समान जानते हुए निराकुल होकर चान्द्रीचर्या का आश्रय लेकर विहार कर रहे थे अर्थात् जिस प्रकार चन्द्रमा धनवान और निर्धन-सभी लोगों के घर पर अपनी चाँदनी फैलाता है उसी प्रकार भगवान् भी राग-द्वेष से रहित होकर निर्धन और धनवान् सभी लोगों के घर आहार लेने के लिए जाते थे । इस प्रकार प्रत्येक घर में यथायोग्य प्रवेश करते हुए भगवान् राजमन्दिर में प्रवेश करने के लिए उसके सम्मुख गये सो आचार्य कहते हैं कि रागद्वेषरहित हो समतावृत्ति धारण करना ही सनातन-सर्वश्रेष्ठ प्राचीन धर्म है ॥ ६४-६८॥

तदनन्तर सिद्धार्थ नाम के द्वारपाल ने शीघ्र ही जाकर अपने छोटे भाई श्रेयान्सकुमार के साथ बैठे हुए राजा सोमप्रभ के लिए भगवान के समीप आने के समाचार कहे ॥६९॥

सुनते ही राजा सोमप्रभ और तरुण राजकुमार श्रेयान्स, दोनों ही, अन्तःपुर, सेनापति और मन्त्रियों के साथ शीघ्र ही उठे ॥७०॥

उठकर वे दोनों भाई राजमहल के आंगन तक बाहर आये और दोनों ने ही दूर से नम्रीभूत होकर भक्तिपूर्वक भगवान् के चरणों को नमस्कार किया ॥७१॥

उन्होंने भगवान् के चरणकमलों में अर्घसहित जल समर्पित किया, अर्थात् जल से पैर धोकर अर्घ चढ़ाया, जगद्गुरु भगवान् वृषभदेव की प्रदक्षिणा दी और यह सब कर वे दोनों ही इतने सन्तुष्ट हुए मानो उनके घर निधि ही आयी हो ॥७२॥

जिस प्रकार मलयानिल के स्पर्श से वृक्ष अपने शरीर पर अंकुर धारण करने लगते हैं उसी प्रकार भगवान् के दर्शन से हर्षित हुए वे दोनों भाई अपने शरीर पर रोमांच धारण कर रहे थे ॥७३॥

भगवान का मुख देखकर जिनके मुखकमल विकसित हो उठे हैं ऐसे वे दोनों भाई ऐसे जान पड़ते थे मानो जिन में कमल फूल रहे हों ऐसे प्रातःकाल के दो सरोवर ही हों ॥७४॥

उस समय वे दोनों हर्ष से भरे हुए थे और भक्ति के भार से दोनों के मस्तक नीचे की ओर झुक रहे थे इसलिए ऐसे सुशोभित होते थे मानो मूर्तिधारी विनय और शान्ति ही हों ॥७५॥

भगवान् के चरणों के समीप वे दोनों ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो भगवान के दर्शन करने के लिए आये हुए सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के इन्द्र ही हों ॥७६॥

दोनों ओर खड़े हुए सोमप्रभ और श्रेयान्सकुमार के बीच में स्थित भगवान् वृषभदेव ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो निषध और नीलपर्वत के बीच में खड़ा हुआ सुमेरुपर्वत ही हो ॥७७॥

भगवान् का रूप देखकर श्रेयान्सकुमार को जातिस्मरण हो गया जिससे उसने अपने पूर्व पर्यायसम्बन्धी संस्कारों से भगवान् के लिए आहार देने की बुद्धि की ॥७८॥

उसे श्रीमती और वज्रजंघ आदि का वह समस्त वृत्तान्त याद हो गया तथा उसी भव में उन्होंने जो चारण ऋद्धिधारी दो मुनियों के लिए आहार दिया था उसका भी उसे स्मरण हो गया ॥७९॥

यह मुनियों के लिए दान देने योग्य प्रातःकाल का उत्तम समय है ऐसा निश्चय कर पवित्र बुद्धि वाले श्रेयान्सकुमार ने भगवान् के लिए आहार दान दिया ॥८०॥

दान के आदि तीर्थ की प्रवृत्ति करने वाले श्रेयान्सकुमार ने श्रद्धा आदि सातों गुणसहित और पुण्यवर्धक नवधा भक्तियों से सहित होकर भगवान् के लिए दान दिया था ॥८१॥

श्रद्धा, शक्ति, भक्ति, विज्ञान, अक्षुब्धता, क्षमा और त्याग ये दानपति अर्थात् दान देने वाले के सात गुण कहलाते हैं ॥८२॥

श्रद्धा आस्तिक्य बुद्धि को कहते हैं, आस्तिक्य बुद्धि अर्थात् श्रद्धा के न होने पर दान देने में अनादर हो सकता है। दान देने में आलस्य नहीं करना सो शक्ति नाम का गुण है, पात्र के गुणों में आदर करना सो भक्ति नाम का गुण है ॥८३॥

दान देने आदि के क्रम का ज्ञान होना सो विज्ञान नाम का गुण है, दान देने की शक्ति को अलुब्धता कहते हैं, सहनशीलता होना क्षमा गुण है और उत्तम द्रव्य दान में देना सो त्याग है ॥८४॥

इस प्रकार जो दाता ऊपर कहे हुए सात गुणों से सहित और निदान आदि दोषों से रहित होकर पात्ररूपी सम्पदा में दान देता है वह मोक्ष प्राप्त करने के लिए तत्पर होता है ॥८५॥

मुनिराज का पड़गाहन करना, उन्हें ऊँचे स्थान पर विराजमान करना, उनके चरण धोना, उनकी पूजा करना, उन्हें नमस्कार करना, अपने मन, वचन, काय की शुद्धि और आहार की विशुद्धि रखना, इस प्रकार दान देने वाले के यह नौ प्रकार का पुण्य अथवा नवधा भक्ति कहलाती है। अतिशय चतुर श्रेयान्सकुमार ने पूर्वपर्याय के संस्कारों से प्रेरित होकर वे सभी भक्तियाँ की थीं ॥८६-८७॥

ये भगवान् अतिशय इष्ट तथा विशिष्ट पात्र हैं ऐसा विचार कर परम सन्तोष को प्राप्त हुए श्रेयान्सकुमार ने भगवान् के लिए प्रासुक आहार का दान दिया था ॥८८॥

जो भगवान् सन्तोष रखना, याचना का अभाव होना, परिग्रह का त्याग करना, और अपने आपकी प्रधानता रहना आदि अनेक गुणों का विचार कर पाणिपात्र से ही अर्थात् अपने हाथों से ही आहार ग्रहण करते थे। उत्तम आसन मिलने से सन्तोष होगा, यदि उत्तम आसन नहीं मिला तो द्वेष होगा और ऐसी अवस्थाओं में असंयम होगा ऐसा विचार कर जो भगवान् खड़े होकर ही भोजन करते थे। शरीरसम्बन्धी दुःख सहन करने के लिए, सुख की आसक्ति दूर करने के लिए और धर्म की प्रभावना के लिए जो भगवान् कायक्लेश को प्राप्त होते थे। जिसमें अकिंचनता की ही प्रधानता है, जो मोक्ष का साक्षात् कारण है, हिंसा, रक्षा और याचना आदि दोष जिसे छू भी नहीं सकते हैं, जो अत्यन्त बलवान् हैं, साधारण मनुष्य जिसे धारण नहीं कर सकते, जिसे कोई प्राप्त नहीं करना चाहता, और जो तत्काल में उत्पन्न हुए बालक के समान निर्विकार तथा उपद्रवरहित है ऐसे नग्न-दिगम्बर रूप को जो भगवान् धारण करते थे। तैल आदि की याचना करना, उसके लाभ और अलाभ में राग-द्वेष का उत्पन्न होना, और केशों में उत्पन्न होने वाले जूँ आदि जीवों की हिंसा होना इत्यादि अनेक दोषों का विचार कर जो भगवान् अस्नान व्रत को धारण करते थे अर्थात् कभी स्नान नहीं करते थे। एक वर्ष तक भोजन न करने पर भी जो शरीर में पुष्टि और दीप्ति को धारण कर रहे थे। यदि क्षुरा आदि से बाल बनवाये जायेंगे तो उसके साधन क्षुरा आदि लेने पड़ेंगे, उनकी रक्षा करनी पड़ेगी और उनके खो जाने पर चिन्ता होगी ऐसा विचार कर जो भगवान् हाथ से ही केशलोच करते थे। जो भगवान् पाँचों इन्द्रियों को वश कर लेने से शान्त थे, तीनों गुप्तियों से सुरक्षित थे, सबकी रक्षा करने वाले थे, महाव्रती थे, महान थे, मोहरहित थे और इच्छारहित थे। जो संयम रूप क्रिया से सब प्राणियों के लिए अभय दान देने वाले थे, सबका हित करने वाले थे, सर्वहितकारी ज्ञान-दान देने में समर्थ थे। जो आहार-दान देने वाले को शीघ्र ही संसार-सागर से पार करने वाले थे, तीनों लोको के समस्त जीवों का हित करने के लिए मोक्षमार्ग का उपदेश देने वाले थे और जिन्होंने अपने दोनों हाथ उत्तान किये थे अर्थात् दोनों हाथों को सीधा मिलाकर अंजली (खोवा) बनायी थी ऐसे भगवान् वृषभदेव के लिए श्रेयान्सकुमार ने राजा सोमप्रभ और रानी लक्ष्मीमती के साथ-साथ आदरपूर्वक ईख के प्रासुक रस का आहार दिया था ॥८९-९००॥

वह राजकुमार श्रेयान्स भगवान के पाणिपात्र में पुण्यधारा के समान उज्ज्वल पौंडे और ईख के रस की धारा छोड़ता हुआ बहुत अच्छा सुशोभित हो रहा था ॥१०१॥

तदनन्तर आकाश से महादान के फल की परम्परा के समान देवों के हाथ से छोड़ी हुई रत्नों की वर्षा होने लगी ॥१०२॥

उसी समय देवों के हाथों से छोड़ी हुई और भ्रमरों के समूह से व्याप्त फूलों की वर्षा आकाश से होने लगी । वह फूलों की वर्षा ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो देवों के नेत्रों की माला ही हो ॥१०३॥

उसी समय समस्त लोक को बधिर करने वाले देवों के नगाड़े गम्भीर शब्द करने लगे और मन्द-मन्द गमन करने से सुन्दर शीतल तथा सुगन्धित वायु चलने लगा ॥१०४॥

उसी समय प्रीति को प्राप्त हुए देवों का 'धन्य यह दान, धन्य यह पात्र, और धन्य यह दाता' इस प्रकार बड़ा भारी शब्द आकाशरूपी आंगन में हो रहा था ॥१०५॥

उस समय उन दोनों भाइयों ने अपने-आपको बहुत ही कृतकृत्य माना था क्योंकि कृतकृत्य हुए भगवान् वृषभदेव ने स्वयं उनके घर के आंगन को पवित्र किया था ॥१०६॥

उस दान की अनुमोदना करने से और भी बहुत से लोग परम पुण्य को प्राप्त हुए थे सो ठीक ही है क्योंकि स्फटिक मणि किसी अन्य उत्कृष्ट रत्न को पाकर उसकी कान्ति को प्राप्त होता ही है ॥१०७॥

यदि यहाँ कोई आशंका करे कि अनुमोदना करने से पुण्य की प्राप्ति किस प्रकार होती है तो उसका समाधान यह है कि पुण्य और पाप के बन्ध होने में केवल जीव के परिणाम ही कारण हैं बाह्य कारणों को तो जिनेन्द्र देव ने केवल कारण का कारण अर्थात् शुभ अशुभ परिणामों का कारण कहा है । जब कि पुण्य के साधन करने में जीवों के शुभ परिणाम ही प्रधान कारण माने जाते हैं तब शुभ कार्य की अनुमोदना करने वाले जीवों को भी उस शुभ फल की प्राप्ति अवश्य होती है ॥१०८-१०९॥

इस प्रकार महाबुद्धिमान् योगिराज भगवान् वृषभदेव शरीर की स्थिति के अर्थ आहार-ग्रहण कर और जिन्हें एक प्रकार का कौतुक उत्पन्न हुआ है तथा जो अतिशय नम्रीभूत हैं ऐसे उन दोनों भाइयों को हर्षित कर पुनः वन की ओर प्रस्थान कर गये ॥११०॥

कुरुवंशियों में सिंह के समान पराक्रमी वह राजा सोमप्रभ और श्रेयान्स कुछ दूर तक वन को जाते हुए भगवान् के पीछे-पीछे गये और फिर रुक-रुककर वापिस लौट आये ॥१११॥

वे दोनों ही भाई अपना मुख फिराकर निरपेक्ष रूप से वन को जाते हुए भगवान् को क्षण-क्षण में देखते जाते थे ॥११२॥

जब तक वे भगवान् आँखों से दिखाई देते रहे तब तक वे दोनों भाई भगवान् की ओर लगी हुई अपनी दृष्टि को और उन्हीं के पीछे गयी हुई अपनी चित्तवृत्ति को लौटाने के लिए समर्थ नहीं हो सके थे ॥११३॥

जो बार-बार भगवान् की ही कथा कह रहे थे, बार-बार उन्हीं के गुणों की स्तुति कर रहे थे, अपने आपको कृतकृत्य मान रहे थे, जो भगवान् के चरणों के स्पर्श से पवित्र हुई तथा अनेक लक्षणों से सुशोभित और उन्हीं के चरणों से चिह्नित भूमि को नमस्कार करते हुए बड़े प्रेम से देख रहे थे । जिसके यह ऐसा महान् पुण्य उपार्जन करने वाला भाई हुआ है ऐसा यह कुरुवंशियों का स्वामी राजा सोमप्रभ ही उत्तम भाई से सहित है, कृतकृत्य है, पुण्यात्मा है और कुशल है तथा जिसकी ऐसी उत्तम बुद्धि है ऐसा यह श्रेयान्सकुमार अनेक कल्याणों से सहित है इस प्रकार सामने जाकर पुरवासीजन जिनके गुणों के समूह का वर्णन कर रहे थे । बड़ी-बड़ी गलियों में जहाँ-तहाँ बिखरे हुए सूर्य के समान तेजस्वी रत्नों को इकट्ठे करने वाले साधारण जनसमूह को जो आनन्दित कर रहे थे । देवों के द्वारा वर्षाये हुए रत्नरूपी पाषाणों से जिसका मध्यभाग ऊँचा-नीचा हो गया है ऐसे राजांगण को बड़ी कठिनाई से उल्लंघन कर भीतर पहुंचे हुए अनेक लोग बार-बार जिनकी प्रशंसा कर रहे हों और जिन्हें नगर-निवासी जन बड़े आनन्द से देख रहे थे ऐसे उन दोनों कुरुवंशी भाइयों ने उत्कृष्ट सजावट से अन्य आकृति को प्राप्त हुए के समान सुशोभित होने वाले नगर में प्रवेश किया ॥११४-१२०॥

अथानन्तर-संसार के सभी लोग उत्तम प्रकार से जिनके बड़े भारी अभ्युदय की प्रशंसा करते हैं ऐसे भगवान् वृषभदेव पारणा करके वन को चले गये ॥१२१॥

उस समय 'अहो कल्याण, ऐसा कल्याण, और उस प्रकार का कल्याण' इस तरह समस्त संसार राजकुमार श्रेयान्स के यश से भर गया था सो ठीक ही है क्योंकि उत्तम दान यश को देने वाला होता ही है ॥१२२॥

संसार में दान देने की प्रथा उसी समय से प्रचलित हुई और दान देने की विधि भी सबसे पहले राजकुमार श्रेयान्स ने ही जान पायी थी । दान की इस विधि से भरत आदि राजाओं को बड़ा आश्चर्य हुआ था ॥१२३॥

महाराज भरत अपने मन में यही सोचते हुए आश्चर्य कर रहे थे कि इसने मौन धारण करने वाले भगवान् का अभिप्राय कैसे जान लिया? ॥ १२४॥

देवों को भी उससे बड़ा आश्चर्य हुआ था, जिन्हें श्रेयान्स पर बड़ा भारी विश्वास उत्पन्न हुआ था ऐसे उन देवों ने एक साथ आकर बड़े आदर से उसकी पूजा की थी ॥१२५॥

तदनन्तर महाराज भरत ने आदरसहित राजकुमार श्रेयान्स से पूछा कि हे महादानपते, कहो तो सही तुमने भगवान् का यह अभिप्राय किस प्रकार जान लिया ॥१२६॥

इस संसार में पहले कभी नहीं देखी हुई इस दान की विधि को कौन जान सकता है । हे कुरुराज, आज तुम हमारे लिए भगवान् के समान ही पूज्य हुए हो ॥१२७॥

हे राजकुमार श्रेयान्स, तुम दानतीर्थ की प्रवृत्ति करने वाले हो, और महापुण्यवान् हो इसलिए तुम से यह सब पूछ रहा हूँ कि जो सत्य हो वह आज मुझसे कहो ॥१२८॥

इस प्रकार महाराज भरत द्वारा पूछे गये श्रेयान्सकुमार अपने दाँतों की किरणों के समूह से बीच में चाँदनी को फैलाते हुए के समान नीचे लिखे अनुसार उत्तर देने लगे ॥१२९॥

कि जिस प्रकार रोगी मनुष्य रोग को दूर करने वाली किसी उत्कृष्ट औषधि को पाकर प्रसन्न होता है अथवा प्यासा मनुष्य स्वच्छ जल से भरे हुए और कमलों से सुशोभित तालाब को देखकर प्रसन्न होता है उसी प्रकार भगवान् के उत्कृष्ट रूप को देखकर मैं अतिशय प्रसन्न हुआ था और इसी कारण मुझे जातिस्मरण हो गया था जिससे मैंने भगवान् का अभिप्राय जान लिया था ॥१३०-१३१॥

पूर्वभव में जब भगवान् वज्रजंघ की पर्याय में थे तब विदेह-क्षेत्र की पुण्डरीकिणी नगरी में मैं इनकी श्रीमती नाम की प्रिय स्त्री हुआ था ॥ १३२॥

उस समय वज्रजंघ की पर्याय को धारण करने वाले इन भगवान् के साथ-साथ मैंने दो चारणमुनियों के लिए दान दिया था ॥१३३॥

अतिशय विशुद्ध, दोषरहित और प्रसिद्धि का कारण ऐसा महादान देना और काव्य करना ये दोनों ही वस्तुएं बड़े पुण्य से प्राप्त होती हैं ॥ १३४॥

हे भरतक्षेत्र के स्वामी भरत महाराज, दान की विशुद्धि का कुछ थोड़ा-सा वर्णन आप भी सुनिए-स्व और पर के उपकार के लिए मन-वचन-काय की विशुद्धापूर्वक जो अपना धन दिया जाता है उसे दान कहते हैं ॥१३५॥

दान देने वाले (दाता) की विशुद्धता दान में दी जाने वाली वस्तु तथा दान लेने वाले पात्र को पवित्र करती है । दी जाने वाली वस्तु की पवित्रता देने वाले और लेने वाले को पवित्र करती है और इसी प्रकार लेने वाले की विशुद्धि देने वाले पुरुष को तथा दी जाने वाली वस्तु को पवित्र करती है इसलिए जो दान नौ प्रकार की विशुद्धतापूर्वक दिया जाता है वही अनेक फल देने वाला होता है । भावार्थ-दान देने में दाता, देय और पात्र की शुद्धि का होना आवश्यक है ॥१३६-१३७॥

पुण्य प्राप्ति के कारण स्वरूप, श्रद्धा आदि गुणों से सहित पुरुष दाता कहलाता है और आहार, औषधि, शास्त्र तथा अभय से चार प्रकार की वस्तुएँ देय कहलाती हैं ॥१३८॥

जो रागादि दोषों से छुआ भी नहीं गया हो और जो अनेक गुणों से सहित हो ऐसा पुरुष पात्र कहलाता है, वह पात्र जघन्य, मध्यम और उत्तम के भेद से तीन प्रकार का होता है । हे राजन्, यह सब मैंने पूर्वभव के स्मरण से जाना है ॥१३९॥

जो पुरुष मिथ्यादृष्टि है परन्तु मन्दकषाय होने से व्रत, शील आदि का पालन करता है वह जघन्य पात्र कहलाता है और जो व्रत शील आदि की भावना से रहित सम्यग्दृष्टि है वह मध्यम पात्र कहा जाता है ॥१४०॥

तो व्रत, शील आदि से सहित सम्यग्दृष्टि है वह उत्तम पात्र कहलाता है और जो व्रत, शील आदि से रहित मिथ्यादृष्टि है वह पात्र नहीं माना गया है अर्थात् अपात्र है ॥१४१॥

जो मनुष्य अपात्र के लिए दान देता है वह कुमनुष्य योनि (कुभोगभूमि) में उत्पन्न होता है क्योंकि जिस प्रकार बिना शुद्धि की हुई तूँबी

अपने में रखे हुए दूध आदि को दूषित कर देती है उसी प्रकार अपात्र अपने लिए दिये हुए दान को दूषित कर देता है ॥१४२॥

जिस प्रकार कच्चे बरतन में रखा हुआ ईख का रस अथवा दूध स्वयं नष्ट हो जाता है और उस बरतन को भी नष्ट कर देता है उसी प्रकार अपात्र के लिए दिया हुआ दान स्वयं नष्ट हो जाता है-व्यर्थ जाता है और लेने वाले पात्र को भी नष्ट कर देता है-अहंकारादि से युक्त बनाकर विषय-वासनाओं में फँसा देता है ॥१४३॥

जो अनेक विशुद्ध गुणों को धारण करने से पात्र के समान हो वही पात्र कहलाता है । इसी प्रकार जो जहाज के समान इष्ट स्थान में पहुंचाने वाला हो वही पात्र कहलाता है ॥१४४॥

जिस प्रकार लोहे की बनी हुई नाव समुद्र से दूसरे को पार नहीं कर सकती (और न स्वयं ही पार हो सकती है) इसी प्रकार कर्मों के भार से दबा हुआ दोषवान् पात्र किसी को संसार-समुद्र से पार नहीं कर सकता (और न स्वयं ही पार हो सकता है) ॥१४५॥

इसलिए, जो मोक्ष के साधनस्वरूप दिग्म्बर वेष को धारण करते हैं, जो शरीर की स्थिति और ज्ञानादि गुणों की सिद्धि के लिए आहार की इच्छा करते हैं, जो बल, आयु, स्वाद अथवा शरीर को पुष्ट करने की इच्छा नहीं करते, जो केवल प्राण धारण करने के लिए थोड़े से ग्रासों से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं, और जो निज तथा पर को तारने वाले हैं ऐसे ऊपर लिखे हुए गुणों से सहित मुनिराज ही पात्र हो सकते हैं उनके लिए दिया हुआ आहार अपुनर्भव अर्थात् मोक्ष का कारण है ॥१४६-१४८॥

दानरूपी पुण्य के माहात्म्य को प्रकट करने के लिए सबसे बड़ा और पुष्ट उदाहरण यही है कि मैंने दान के माहात्म्य से ही पञ्चाश्वर्य प्राप्त किये हैं ॥१४९॥

इसलिए हे राजर्षि भरत, हम सबको उत्तम दान देना चाहिए । अब भगवान् वृषभदेव के तीर्थ के समय सब जगह पात्र फैल जायेंगे ।

भावार्थ-भगवान् के सदुपदेश से अनेक मनुष्य मुनिव्रत धारण करेंगे, उन सभी के लिए हमें आहार आदि दान देना चाहिए ॥१५०॥

राजकुमार श्रेयान्स ने उन सब सदस्यों के लिए अपने स्वामी भगवान् वृषभदेव के पूर्वभव विस्तार के साथ कहे जिससे उन सबके उत्तम दान देने में रुचि उत्पन्न हुई थी ॥१५१॥

इस प्रकार आनन्द उत्पन्न करने वाले और पुण्य बढ़ाने वाले श्रेयान्स के वचन सुनकर भरत महाराज परमप्रीति को प्राप्त हुए ॥१५२॥

अतिशय प्रसन्न हुए महाराज भरत ने राजा सोमप्रभ और श्रेयान्सकुमार का खूब सम्मान किया, उन पर बड़ा स्नेह प्रकट किया और फिर गुरुदेव-वृषभनाथ के गुणों का चिन्तन करते हुए अपने घर के लिए वापिस गये ॥१५३॥

अथानन्तर आहार ग्रहण करने से जिनके बल और वीर्य की उत्पत्ति हुई है जो महा धीर-वीर और योगविद्या के जानने वाले हैं ऐसे भगवान् वृषभदेव जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहे हुए उत्कृष्ट तपोयोग को धारण करने लगे ॥१५४॥

इनके मनरूपी मन्दिर में मोहरूपी सघन अन्धकार को नष्ट करने वाला, समीचीन मार्ग दिखलाने वाला और अतिशय देदीप्यमान ज्ञानरूपी दीपक प्रकाशमान हो रहा था ॥१५५॥

जो पुरुष गुणों को गुण-बुद्धि से और दोषों को दोष-बुद्धि से देखता है अर्थात् गुणों को गुण और दोषों को दोष समझता है वही हेय (छोड़ने योग्य) और उपादेय (ग्रहण करने योग्य) वस्तुओं का जानकार हो सकता है । अज्ञानी पुरुष की ऐसी अवस्था कहाँ हो सकती है ॥ १५६॥

वे भगवान् तत्त्वों का ठीक-ठीक परिज्ञान होने से गुण और दोषों के विभाग को अच्छी तरह जानते थे इसलिए वे दोषों को पूर्ण रूप से छोड़कर केवल गुणों में ही आसक्त रहते थे ॥१५७॥

अतिशय बुद्धिमान् भगवान् वृषभदेव ने पापरूपी योगों से पूर्ण विरक्ति धारण की थी तथा उसके भेद जो कि व्रत कहलाते हैं उनका भी वे पालन करते थे ॥१५८॥

दयारूपी स्त्री का आलिंगन करना, सत्यव्रत में सदा अनुरक्त रहना, अचौर्यव्रत में तत्पर रहना, ब्रह्मचर्य को ही अपना सर्वस्व समझना, परिग्रह में आसक्त नहीं होना और असमय में भोजन का परित्याग करना; भगवान् इन व्रतों को धारण करते थे और उनकी सिद्धि के लिए निरन्तर नीचे लिखी हुई भावनाओं का चिन्तन करते थे ॥१५९-१६०॥

मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, ईर्यासमिति, कायनियन्त्रण अर्थात् देखभाल कर किसी वस्तु का रखना-उठाना और विष्वाणसमिति अर्थात् आलोकितपानभोजन ये पाँच प्रथम-अहिंसा व्रत की भावनाएँ हैं ॥१६१॥

क्रोध, लोभ, भय और हास्य का परित्याग करना तथा शास्त्र के अनुसार वचन कहना ये पाँच द्वितीय सत्यव्रत की भावनाएँ हैं ॥१६२॥
परिमित-थोड़ा आहार लेना, तपश्चरण के योग्य आहार लेना, श्रावक के प्रार्थना करने पर आहार लेना, योग्यविधि के विरुद्ध आहार नहीं लेना तथा प्राप्त हुए भोजन-पान में सन्तोष रखना ये पाँच तृतीय अचौर्यव्रत की भावनाएँ हैं ॥१६३॥

स्त्रियों की कथा का त्याग, उनके सुन्दर अंगोपांगों के देखने का त्याग, उनके साथ रहने का त्याग, पहले भोगे हुए भोगों के स्मरण का त्याग और गरिष्ठ रस का त्याग इस प्रकार ये पाँच चतुर्थ ब्रह्मचर्यव्रत की भावनाएँ हैं ॥१६४॥

जिनके बाह्य आभ्यन्तर इस प्रकार दो भेद हैं ऐसे पाँचों इन्द्रियों के विषयभूत सचित्त अचित्त पदार्थों में आसक्ति का त्याग करना सो पाँचवें परिग्रह त्याग व्रत की पाँच भावनाएँ हैं ॥१६५॥

धैर्य धारण करना, क्षमा रखना, ध्यान धारण करने में निरन्तर तत्पर रहना और परीषहों के आने पर मार्ग से च्युत नहीं होना ये चार उक्त व्रतों की उत्तर भावनाएँ हैं ॥१६६॥

समस्त जीवों की रक्षा करने वाले भगवान् वृषभदेव अपने पापों को नष्ट करने के लिए ऊपर लिखी हुई भावनाओं से सुसंस्कृत (शुद्ध) ऐसे व्रतों का पालन करते थे ॥१६७॥

इसी प्रकार अन्य बुद्धिमान् मनुष्यों को भी आलस्य छोड़कर मातृकापद अर्थात् पाँच समिति और तीन गुप्तियों से युक्त तथा चौरासी लाख उत्तरगुणों से सहित अहिंसा आदि पाँचों महाव्रतों का पालन करना चाहिए ॥१६८॥

इसी प्रकार जैन-शास्त्रों में जो निन्दनीय माया मिथ्यात्व और निदान ऐसी तीन शल्य कही है उन सबको छोड़कर और निःशल्य होकर ही मुनियों को विहार करना चाहिए ॥१६९॥

इस प्रकार ऊपर कहे हुए व्रतों का पालन करना स्थविर कल्प है, इसे जिनकल्प में भी लगा लेना चाहिए । आगमानुसार स्थविर कल्प धारण कर जिनकल्प धारण करना चाहिए । भावार्थ-ऊपर कहे हुए व्रतों का पालन करते हुए मुनियों के साथ रहना, उपदेश देना, नवीन शिष्यों को दीक्षा देना आदि स्थविरकल्प कहलाता है और व्रतों का पालन करते हुए अकेले रहना, हमेशा आत्मचिन्तन में ही लगे रहना जिनकल्प कहलाता है । तीर्थकर भगवान् जिनकल्पी होते हैं और यही वास्तव में उपादेय है । साधारण मुनियों को यद्यपि प्रारम्भ अवस्था में स्थविरकल्पी होना पड़ता है परन्तु उन्हें भी अन्त में जिनकल्पी होने के लिए उद्योग करते रहना चाहिए ॥१७०॥

मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय इस प्रकार चार ज्ञानरूपी नेत्रों को धारण करने वाले तीर्थकर परमदेव प्रायः प्रतिक्रमणरहित एक सामायिक नाम के चारित्र में ही रत रहते हैं । भावार्थ-तीर्थकर भगवान् के किसी प्रकार का दोष नहीं लगता इसलिए उन्हें प्रतिक्रमण-छेदोपस्थापना चारित्र धारण करने की आवश्यकता नहीं पड़ती, वे केवल सामायिक चारित्र ही धारण करते हैं ॥१७१॥

परन्तु उन्हीं तीर्थकर देव ने बल, आयु और ज्ञान की हीनाधिकता देखकर अन्य साधारण मुनियों के लिए यथाकाल छेदोपस्थापना चारित्र के अनेक भेद दिखलाये हैं-उनका निरूपण किया है ॥१७२॥

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य की विशेषता से संयम की रक्षा करने वाला चारित्र भी जिनेन्द्रदेव ने पाँच प्रकार का कहा है । भावार्थ-चारित्र के पाँच भेद हैं-१ ज्ञानाचार, २ दर्शनाचार, ३ चारित्राचार, ४ तपआचार और ५ वीर्याचार ॥१७३॥

तदनन्तर ज्ञान, धैर्य और बल से सहित परम पुरुष-भगवान् वृषभदेव ने संयम की सिद्धि के लिए बारह प्रकार का तपश्चरण किया था ॥१७४॥

अतिशय उग्र तपश्चरण को धारण करने वाले वे वृषभदेव मुनिराज अनशन नाम का अत्यन्त कठिन तप तपते थे और एक सीथ (कण) आदि का नियम लेकर अवमौदर्य (ऊनोदर) नामक तपश्चरण करते थे ॥१७५॥

वे भगवान् कभी अत्यन्त कठिन वृत्तिपरिसंख्यान नाम का तप तपते थे जिसके कि वीथी, चर्या आदि अनेक भेद हैं ॥१७६॥

इसके सिवाय वे आदिपुरुष आलस्यरहित हो दूध, घी, गुड़ आदि रसों का परित्याग कर नित्य ही रसपरित्याग नाम का घोर तपश्चरण करते थे ॥१७७॥

वे योगिराज वर्षा, शीत और ग्रीष्म इस प्रकार तीनों कालों में शरीर को क्लेश देते थे अर्थात् कायक्लेश नाम का तप तपते थे । वास्तव में गणधर देव ने शरीर के निग्रह करने अर्थात् कायक्लेश करने को ही उत्कृष्ट और कठिन तप कहा है ॥१७८॥

क्योंकि इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है कि शरीर का निग्रह होने से चक्षु आदि सभी इन्द्रियों का निग्रह हो जाता है और इन्द्रियों का निग्रह

होने से मन का निरोध हो जाता है अर्थात् संकल्प-विकल्प दूर होकर चित्त स्थित हो जाता है। मन का निरोध हो जाना ही उत्कृष्ट ध्यान कहलाता है तथा यह ध्यान ही समस्त कर्मों के क्षय हो जाने का साधन है और समस्त कर्मों का क्षय हो जाने से अनन्त सुख की प्राप्ति होती है इसलिए शरीर को कृश करना चाहिए ॥१७९-१८०॥

यद्यपि वे भगवान् वृषभदेव मति, श्रुत, अवधि इन तीन ज्ञानों को गर्भ से ही धारण करते थे और मनःपर्यय ज्ञान उन्हें दीक्षा के बाद ही प्राप्त हो गया था इसके सिवाय सिद्धत्व पर उन्हें केवलज्ञान अवश्य ही प्राप्त होने वाला था तथापि सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्रों को धारण करने वाले धीर-वीर भगवान् ने हजार वर्ष तक अतिशय उत्कृष्ट और उग्र तप तपा देदीप्यमान था इससे मालूम होता है कि महामुनियों को कायक्लेश नाम का तप अतिशय अभीष्ट है-उसे वे अवश्य करते हैं। जिस प्रकार प्राणियों के शरीर में मस्तक प्रधान होता है उसी प्रकार कायक्लेश नाम का तप समस्त बाह्य तपश्चरणों में प्रधान होता है ॥१८१-१८३॥

इसीलिए उस समय समस्त परीषद्‌ओं को सहन करने वाले योगिराज भगवान् वृषभदेव मोक्ष का उत्तम साधन और अतिशय कठिन कायक्लेश नाम का तप तपते थे ॥१८४॥

तपरूपी अग्नि से कर्मरूपी ईन्धन को जलाने के लिए तैयार हुए वे धीर-वीर भगवान् प्रज्वलित हुई अग्नि के समान अत्यन्त देदीप्यमान हो रहे थे ॥१८५॥

उस समय वे असंख्यात गुणश्रेणी निर्जरा के द्वारा कर्मरूपी गाढ़ अन्धकार को नष्ट कर रहे थे और उनका शरीर तपश्चरण की कान्ति से अतिशय हो रहा था इसलिए वे ठीक सूर्य के समान सुशोभित हो रहे थे ॥१८६॥

सदा जागृत रहने वाले इन योगिराज की शय्या निर्जन एकान्त स्थान में ही होती थी और जब कभी आसन भी पवित्र तथा निर्जीव स्थान में ही होता था। सदा जागृत रहने वाले और इन्द्रियों को जीतने वाले वे भगवान् न तो कभी सोते थे और न एक स्थान पर बहुत बैठते ही थे किन्तु भोगोपभोग का त्याग कर प्रयत्नपूर्वक अर्थात् ईर्यासमिति का पालन करते हुए समस्त पृथिवी में विहार करते रहते थे। भावार्थ-भगवान् सदा जागृत रहते थे इसलिए उन्हें शय्या की नित्य आवश्यकता नहीं पड़ती थी परन्तु जब कभी विश्राम के लिए लेटते भी थे तो किसी पवित्र और एकान्त स्थान में ही शय्या लगाते थे। इसी प्रकार विहार के अतिरिक्त ध्यान आदि के समय एकान्त और पवित्र स्थान में ही आसन लगाते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि भगवान् विविक्तशय्यासन नाम का तपश्चरण करते थे ॥१८७-१८८॥

इस प्रकार वे योगिराज अतिशय कठिन छह प्रकार के बाह्य तपश्चरण का पालन करते हुए आगे कहे जाने वाले छह प्रकार के अन्तरंग तप का भी पालन करते थे ॥१८९॥

निरतिचार प्रवृत्ति करने वाले मुनिराज वृषभदेव में प्रायश्चित्त नाम का तप चरितार्थ अर्थात् कृतकार्य हो चुका था सो ठीक ही है क्योंकि सूर्य के बीच में भी क्या कभी अन्धकार रहता है? अर्थात् कभी नहीं। भावार्थ-अतिचार लग जाने पर उसकी शुद्धता करना प्रायश्चित्त कहलाता है। भगवान् के कभी कोई अतिचार लगता ही नहीं था अर्थात् उनका चारित्र सदा निर्मल रहता था इसलिए यथार्थ में उनके निर्मल चारित्र में ही प्रायश्चित्त तप कृतकृत्य हो चुका था। जिस प्रकार कि सूर्य का काम अन्धकार को नष्ट करना है जहाँ अन्धकार होता है वहाँ सूर्य को अपना प्रकाश-पुञ्ज फैलाने की आवश्यकता होती है परन्तु सूर्य के बीच में अन्धकार नहीं होता इसलिए सूर्य अपने विषय में चरितार्थ अथवा कृतकृत्य होता है ॥१९०॥

इसी प्रकार इनका विनय नाम का तप भी अन्तर्निर्लीनता को प्राप्त हुआ था अर्थात् उन्हीं में अन्तर्भूत हो गया था क्योंकि वे प्रधान पुरुष सबको नम्र करने वाले थे फिर भला वे किसकी विनय करते अथवा उन्होंने सिद्ध होने की इच्छा से विनयी होकर सिद्ध भगवान् की आराधना की थी क्योंकि सिद्धों के लिए नमस्कार हो ऐसा कहकर ही उन्होंने दीक्षा धारण की थी। अथवा यथार्थ प्रवृत्ति करने वाले भगवान् की ज्ञान दर्शन चारित्र तप और वीर्य आदि गुणों में यथायोग्य विनय थी इसलिए उनके विनय नाम का तप सिद्ध हुआ था ॥ १९१-१९३॥

रत्नत्रय रूप मार्ग में व्यापार करना ही उनका वैयावृत्य तप कहलाता था क्योंकि वे परमेष्ठी भगवान् रत्नत्रय को छोड़कर और किसमें व्यावृत्ति (व्यापार) करते। भावार्थ-दीन-दुःखी जीवों की सेवा में व्यापृत रहने को वैयावृत्य कहते हैं परन्तु यह शुभ कषाय का तीव्र उदय होते ही हो सकता है। भगवान् की शुभकषाय भी अतिशय मन्द हो गयी थी इसलिए उनकी प्रवृत्ति बाह्य व्यापार से हटकर रत्नत्रय रूप मार्ग में ही रहती थी। अतः उसकी अपेक्षा उनके वैयावृत्य तप सिद्ध हुआ था ॥१९४॥

यहाँ तात्पर्य यह है कि स्वामी वृषभदेव के इन प्रायश्चित्त, विनय और वैयावृत्य नामक तीन तपों के विषय में केवल नियन्तापन ही था अर्थात् वे इनका दूसरों के लिए उपदेश देते थे, स्वयं किसी के नियम्य नहीं थे अर्थात् दूसरों से उपदेश ग्रहण कर इनका पालन नहीं करते थे । भावार्थ-भगवान् इन तीनों तपों के स्वामी थे न कि अन्य मुनियों के समान पालन करते हुए इनके अधीन रहते थे ॥१९५॥

इस संसार में जो कुछ धर्म-सृष्टि थी सनातन भगवान् वृषभदेव ने वह सब उदाहरण स्वरूप स्वयं धारण कर इस युग के आदि में प्रसिद्ध की थी । भावार्थ-भगवान् धार्मिक कार्यों का स्वयं पालन करके ही दूसरों के लिए उपदेश देते थे ॥१९६॥

यद्यपि भगवान् स्वयं अनेक शास्त्रों (द्वादशाङ्ग) के जानने वाले थे तथापि वे बुद्धि की शुद्धि के लिए निरन्तर स्वाध्याय करते थे क्योंकि इन्हीं का स्वाध्याय देखकर मुनि लोग आज भी स्वाध्याय करते हैं । भावार्थ-यद्यपि उनके लिए स्वाध्याय करना अत्यावश्यक नहीं था क्योंकि वे स्वाध्याय के बिना भी द्वादशाङ्ग के जानकार थे तथापि वे अन्य साधारण मुनियों के हित के लिए स्वाध्याय की प्रवृत्ति चलाना चाहते थे इसलिए स्वयं भी स्वाध्याय करते थे । उन्हें स्वाध्याय करते देखकर ही अन्य मुनियों में स्वाध्याय की परिपाटी चली थी जो कि आजकल भी प्रचलित है ॥१९७॥

बाह्य और आभ्यन्तर भेदसहित बारह प्रकार के तपश्चरण में स्वाध्याय के समान दूसरा तप न तो है और न आगे ही होगा ॥१९८॥

क्योंकि विनयसहित स्वाध्याय में तल्लीन हुआ बुद्धिमान् मुनि मन के संकल्प-विकल्प दूर हो जाने से निश्चल हो जाता है, उसकी सब इन्द्रियाँ वशीभूत हो जाती हैं और उसकी चित्त-वृत्ति किसी एक पदार्थ चिन्तन में ही स्थिर हो जाता है । भावार्थ-स्वाध्याय करने वाले मुनि को ध्यान की प्राप्ति अनायास ही हो जाती है ॥१९९॥

वन के प्रदेश, पर्वत, लतागृह और श्मशानभूमि आदि एकान्त प्रदेशों में शरीर से ममत्व छोड़कर कायोत्सर्ग करने वाले भगवान् के व्युत्सर्ग नाम का पाँचवाँ तपश्चरण भी हुआ था ॥२००॥

वे भगवान् आत्मा को शरीर से भिन्न देखते थे और मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति इन तीनों गुप्तियों का पालन करते थे । इस प्रकार अपने शरीर में भी निःस्पृह रहने वाले भगवान् व्युत्सर्ग नामक तप का अच्छी तरह पालन करते थे ॥२०१॥

तदनन्तर स्वामी वृषभदेव के व्युत्सर्गतपश्चरणपूर्वक ध्यान नाम का तप भी हुआ था, सो ठीक ही है शरीर से ममत्व छोड़ देने वाला मुनि ही उत्तम ध्यानरूपी सम्पदा का स्वामी होता है ॥२०२॥

योगिराज वृषभदेव ध्यानाभ्यासरूप तपश्चरण करते हुए ही कृतकृत्य हुए थे क्योंकि ध्यान ही उत्तम तप कहलाता है इसके सिवाय बाकी सब उसी के साधन मात्र कहलाते हैं । भावार्थ-सबसे उत्तम तप ध्यान ही है क्योंकि कर्मों की साक्षात् निर्जरा ध्यान से ही होती है । शेष ग्यारह प्रकार के तप ध्यान के सहायक कारण हैं ॥२०३॥

मन, इन्द्रियों का समूह और काय इनके तपन तथा निग्रह करने से ही तप होता है ऐसा तप के जाननेवाले गणधरादि देव कहते हैं और वह तप अनशन आदि के भेद से बारह प्रकार का होता है ॥२०४॥

विद्वानों में अतिशय श्रेष्ठ वे भगवान् कर्मों की बड़ी भारी निर्जरा, और उत्तम फल देने वाले संवर की इच्छा करते हुए इन बारह प्रकार के तपों में सदा प्रयत्नशील रहते थे ॥२०५॥

वे भगवान् परीषहों को जीतते हुए गुप्ति, समिति, अनुप्रेक्षा, क्षमा आदि धर्म और सम्यक् चारित्र का चिरकाल तक पालन करते रहे थे । भावार्थ-गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह जय और चारित्र इन छहों कारणों से नवीन आते हुए कर्मों का आस्रव रुककर संवर होता है । जिनेन्द्रदेव ने इन छहों ही कारणों को चिरकाल तक धारण किया था ॥२०६॥

तदनन्तर ध्यान धारण करने की इच्छा करने वाले भगवान् ध्यान के योग्य उन-उन प्रदेशों में निवास करते थे जो कि एकान्त थे, मनोहर थे और राग-द्वेष उत्पन्न करने वाली सामग्री से रहित थे ॥२०७॥

जहाँ न अधिक गरमी पड़ती हो और न अधिक शीत ही होता हो जहाँ साधारण गरमी-सर्दी रहती हो अथवा जहाँ समान रूप से सभी आ जा सकते हों ऐसे गुफा, नदियों के किनारे, पर्वत के शिखर, जीर्ण उद्यान और वन आदि प्रदेश ध्यान के योग्य क्षेत्र कहलाते हैं । इसी प्रकार जिसमें न बहुत गरमी और न बहुत सर्दी पड़ती हो तथा जो प्राणियों को दुःखदायी भी न हो ऐसा काल ध्यान के योग्य काल कहलाता है । ज्ञान, वैराग्य, धैर्य और क्षमा आदि भाव ध्यान के योग्य भाव कहलाते हैं और जो पदार्थ क्षुधा आदि से उत्पन्न हुए संक्लेश को दूर करने में समर्थ हैं ऐसे पदार्थ ध्यान के योग्य द्रव्य कहलाते हैं । स्वामी वृषभदेव ध्यान की सिद्धि के लिए अनुकूल द्रव्य क्षेत्र काल और भाव का ही

सेवन करते थे ॥२०८-२१०॥

अध्यात्म तत्त्व को जानने वाले वे भगवान् कभी तो पर्वत पर के लतागृहों में, कभी पर्वत की गुफाओं में और कभी पर्वत के शिखरों पर ध्यान लगाते थे ॥२११॥

वे भगवान् अध्यात्म की शुद्धि के लिए कभी तो ऐसे-ऐसे सुन्दर पहाड़ों के शिखरों पर पड़े हुए शिलातलों पर आरूढ़ होते थे कि जिनके समीप भाग मयूरों के शब्दों से बड़े ही मनोहर हो रहे थे ॥२१२॥

कभी-कभी समाधि (ध्यान) लगाने के लिए वे भगवान् जहाँ गायों के खुरों तक के चिह्न नहीं थे ऐसे अगम्य वनों में उपद्रव्यशून्य जीवरहित और एकान्त विषम भूमि पर विराजमान होते थे ॥२१३॥

कभी-कभी पानी के छींटे उड़ाते हुए समीप में बहने वाले निर्झरनों से जहाँ बहुत ठण्ड पड़ रही थी ऐसे पर्वत के ऊपरी भाग पर वे ध्यान में तल्लीनता को प्राप्त होते थे ॥२१४॥

कभी-कभी रात के समय जहाँ अनेक राक्षस अपनी इच्छानुसार नृत्य किया करते थे ऐसी शमशान भूमि में वे भगवान् ध्यान करते हुए विराजमान होते थे ॥२१५॥

कभी शुक्ल अथवा पवित्र बालू से सुन्दर नदी के किनारे पर, कभी सरोवर के किनारे, कभी मनोहर वन के प्रदेशों में और कभी मन की व्याकुलता न करने वाले अन्य कितने ही देशों में ध्यान का अभ्यास करते हुए उन क्षमाधारी भगवान् ने इस समस्त पृथिवी में विहार किया था ॥२१६-२१७॥

मौनी, ध्यानी और मान से रहित वे अतिशय बुद्धिमान् भगवान् धीरे-धीरे अनेक देशों में विहार करते हुए किसी दिन पुरिमताल नाम के नगर के समीप जा पहुँचे ॥२१८॥

उसी नगर के समीप एक शकट नाम का उद्यान था जो कि उस नगर से न तो अधिक समीप था और न अधिक दूर ही था । उसी पवित्र, आकुलतारहित, रमणीय, एकान्त और जीवरहित वन में भगवान् ठहर गये ॥२१९॥

शुद्ध बुद्धि वाले भगवान् ने वहाँ ध्यान की सिद्धि के लिए वटवृक्ष के नीचे एक पवित्र तथा लम्बी-चौड़ी शिला पर विराजमान होकर चित्त की एकाग्रता धारण की ॥२२०॥

वहाँ पूर्व दिशा की ओर मुख कर पद्मासन से बैठे हुए तथा लेश्याओं की उत्कृष्ट वृद्धि को धारण करते हुए भगवान् ने ध्यान में अपना चित्त लगाया ॥२२१॥

अतिशय विशुद्ध बुद्धि को धारण करने वाले भगवान् वृषभदेव ने सबसे पहले सर्वश्रेष्ठ मोक्ष-पद में अपना चित्त लगाया और सिद्ध परमेष्ठी के आठ गुणों का चिन्तन किया ॥२२२॥

अनन्त सम्यक्त्व, अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त और अद्भुत वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अव्याबाधत्व और अगुरुलघुत्व ये आठ सिद्धपरमेष्ठी के गुण कहे गये हैं, सिद्धि प्राप्त करने की इच्छा करने वालों को इन गुणों का अवश्य ध्यान करना चाहिए । इसी प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव की अपेक्षा उनके और भी चार साधारण गुणों का चिन्तन करना चाहिए । इस तरह जो ऊपर कहे हुए बारह गुणों से युक्त हैं, कर्मबन्धन से रहित हैं, सूक्ष्म हैं, निरञ्जन हैं-रागादि भाव कर्मों से रहित हैं, व्यक्त हैं, नित्य हैं और शुद्ध हैं ऐसे सिद्ध भगवान् का मोक्षाभिलाषी मुनियों को अवश्य ही ध्यान करना चाहिए ॥२२३-२२५॥

पश्चात् उत्तम धर्मध्यान की इच्छा करने वाले भगवान् ने अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन किया क्योंकि शुभ बारह अनुप्रेक्षाएँ ध्यान की परिवार अवस्था को ही प्राप्त हैं अर्थात् ध्यान का ही अंग कहलाती हैं ॥२२६॥

उन बारह अनुप्रेक्षाओं के नाम और स्वरूप का वर्णन पहले ही किया जा चुका है । तदनन्तर बुद्धि की अतिशय विशुद्धि को धारण करने वाले भगवान् धर्मध्यान को प्राप्त हुए ॥२२७॥

आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय इस प्रकार धर्मध्यान के चार भेद हैं । जिनका स्वरूप अपने नाम से प्रकट हो रहा है ऐसे ऊपर कहे हुए चारों धर्मध्यान जिनेन्द्रदेव ने धारण किये थे क्योंकि उनसे स्वर्ग लोक के श्रेष्ठ सुखों के कारणस्वरूप बड़े भारी पुण्य की प्राप्ति होती है ॥२२८-२२९॥

जिनका पापरूपी पराग (धूलि) धुल गया है और राग-द्वेष आदि विभाव नष्ट हो गये हैं ऐसे योगिराज वृषभदेव के अन्तःकरण में उस समय

ज्ञान, दर्शन आदि शक्तियों के कारण किसी भी जगह प्रमाद नहीं रह सका था । भावार्थ-धर्मध्यान के समय जिनेन्द्रदेव प्रमादरहित हो अप्रमत्त संयत नाम के सातवें गुणस्थान में विद्यमान थे ॥२३०॥

ज्ञान आदि परिणामों में परम विशुद्धता को प्राप्त हुए जिनेन्द्रदेव के क्लेश उत्पन्न करने वाली अशुभ लेश्याएँ अंशमात्र भी नहीं थी ।

भावार्थ-उस समय भगवान् के शुक्ल लेश्या ही थी ॥२३१॥

उस समय देदीप्यमान हुई भगवान की ध्यानरूपी शक्ति ऐसी दिखाई देती थी मानो मोहरूपी शत्रु के नाश को सूचित करने वाली बड़ी हुई बड़ी भारी उल्का ही हो ॥२३२॥

जिस प्रकार कोई राजा अपनी अन्तःप्रकृति अर्थात् मन्त्री आदि को शुद्ध कर-उनकी जाँच कर अपनी सेना के जघन्य, मध्यम और उत्तम ऐसे तीन भेद करता है और उनको आगे कर मरणभय से रहित हो सब सामग्री के साथ शत्रु की सेना को जीतने के लिए उठ खड़ा होता है उसी प्रकार भगवान् वृषभदेव ने भी अपनी अन्तःप्रकृति अर्थात् मन को शुद्ध कर-संकल्प-विकल्प दूर कर अपनी विशुद्धिरूपी सेना के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ऐसे तीन भेद किये और फिर उस तीनों प्रकार की विशुद्धिरूपी सेना को आगे कर यमराज-द्वारा की हुई विक्रिया (मृत्युभय) को दूर करते हुए सब सामग्री के साथ मोहरूपी शत्रु की सेना अर्थात् मोहनीय कर्म के २१ अवान्तर भेदों को जीतने के लिए तत्पर हो गये ॥२३३-२३४॥

मोहरूपी शत्रु को भेदन करने की इच्छा करने वाले भगवान् ने इन्द्रियसंयम और प्राणिसंयम रूप दो प्रकार के संयम को क्रम से शिर की रक्षा करने वाला टोप और शरीर की रक्षा करने वाला कवच बनाया था तथा उत्तम ध्यान को जयशील अस्त्र बनाया था ॥२३५॥

विशुद्धिरूपी सेना की आपत्ति से रक्षा करने के लिए उन्होंने ज्ञानरूपी मन्त्रियों को नियुक्त किया था और विशुद्ध परिणाम को सेनापति के पद पर नियुक्त किया था ॥२३६॥

जिनका कोई भेदन नहीं कर सकता और जो निरन्तर युद्ध करने वाले थे ऐसे गुणों को उन्होंने सैनिक बनाया तथा राग आदि शत्रुओं को उनके हन्तव्य पक्ष में रखा ॥२३७॥

इस प्रकार समस्त सेना की व्यवस्था कर जगद्गुरु भगवान ने ज्यों ही कर्मों के जीतने का उद्योग किया त्यों ही भगवान की गुण-श्रेणी निर्जरा के बल से कर्मरूपी सेना खण्ड-खण्ड होकर नष्ट होने लगी ॥२३८॥

ज्यों-ज्यों भगवान् की विशुद्धि आगे-आगे बढ़ती जाती थी त्यों-त्यों कर्मरूपी सेना का भंग और रस अर्थात् फल देने की शक्ति का विनाश होता जाता था ॥२३९॥

उस समय भगवान् के कर्मरूप शत्रुओं में परप्रकृतिरूप संक्रमण हो रहा था अर्थात् कर्मों की एक प्रकृति अन्य प्रकृति रूप बदल रही थी, उनकी स्थिति घट रही थी, रस अर्थात् फल देने की शक्ति क्षीण हो रही थी और गुण-श्रेणी निर्जरा हो रही थी ॥२४०॥

जिस प्रकार कोई विजयाभिलाषी राजा शत्रुओं की मन्त्री आदि अन्तरङ्ग प्रकृति में क्षोभ पैदा करता है और फिर शत्रुओं को जड़ से उखाड़ देता है उस प्रकार योगिराज भगवान् वृषभदेव ने भी अपने योगबल से पहले कर्मों की उत्तर प्रकृतियों में क्षोभ उत्पन्न किया था और फिर उन्हें जड़सहित उखाड़ फेंकने का उपक्रम किया था अथवा मूल प्रकृतियों में उद्वर्तन (उद्वेलन आदि संक्रमणविशेष) किया था ॥२४१॥

तदनन्तर उत्कृष्ट विशुद्धि की भावना करते हुए भगवान अप्रमत्त अवस्था को प्राप्त होकर मोक्षरूपी महल की सीढ़ी के समान क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हुए ॥२४२॥

प्रथम ही उन्होंने प्रमादरहित हो अप्रमत्तसंयत नाम के सातवें गुणस्थान में अधःकरण की भावना की और फिर अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान में प्राप्त होकर अनिवृत्तिकरण नामक नौवें गुणस्थान में प्राप्त हुए ॥२४३॥

वहाँ उन्होंने पृथक्त्ववितर्क नाम का पहला शुक्लध्यान धारण किया और इसके प्रवाह से विशुद्धि प्राप्त कर निर्भय हो मोहरूपी राजा की समस्त सेना को पछाड़ दिया ॥२४४॥

प्रथम ही उन्होंने मोहरूपी राजा के अंगरक्षक के समान अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण सम्बन्धी आठ कषायों को चूर्ण किया फिर नपुंसकवेद, स्त्रीवेद और पुरुषवेद ऐसे तीन प्रकार के वेदों को तथा नौकषाय नाम के हास्यादि छह योद्धाओं को नष्ट किया था ॥

२४५॥

तदनन्तर सबसे मुख्य और सबके आगे चलने वाले संज्वलन क्रोध को, उसके बाद मान को, माया को और बादर लोभ को भी नष्ट किया

था । इस प्रकार इन कर्मशत्रुओं को नष्ट कर महाध्यानरूपी रंगभूमि में चारित्ररूपी ध्वज फहराते हुए ज्ञानरूपी तीक्ष्ण हथियार बाँधे हुए और दयारूपी कवच को धारण किये हुए महायोद्धा भगवान् ने अनिवृत्ति अर्थात् जिससे पीछे नहीं हटना पड़े ऐसी नवम गुणस्थान रूप अनिवृत्ति नाम की जयभूमि प्राप्त की सो ठीक ही है क्योंकि पीछे नहीं हटने वाले शूर-वीर योद्धाओं के आगे शत्रु की सेना आदि नहीं ठहर सकती ॥२४६-२४८॥

अब अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीनों करणों का यथार्थ स्वरूप प्रकट करने के लिए आगम के यथार्थ भाव को जानने वाले गणधरादि देवों ने जो ये अर्थसहित पद कहे हैं वे अनुक्रम से जानने योग्य हैं अर्थात् उनका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए ॥२४९॥ नाना जीवों की अपेक्षा अधःप्रवृत्तिकरण के प्रथम क्षण में जो परिणाम होते हैं वे ही परिणाम दूसरे क्षण में होते हैं तथा इसी दूसरे क्षण में पूर्व परिणामों से भिन्न और भी परिणाम होते हैं । इसी प्रकार द्वितीय क्षणसम्बन्धी परिणामों का जो समूह है वही तृतीय क्षण में होता है तथा उससे भिन्न जाति के और भी परिणाम होते हैं, यही क्रम चतुर्थ आदि अन्तिम समय तक होता है इसीलिए इस करण का अधःप्रवृत्तिकरण ऐसा सार्थक नाम कहा जाता है । परन्तु अपूर्वकरण में यह बात नहीं है क्योंकि वहाँ प्रत्येक समय अपूर्व ही परिणाम होते रहते हैं इसलिए इस करण का भी अपूर्वकरण यह सार्थक नाम है । अनिवृत्तिकरण में जीवों की निवृत्ति अर्थात् विभिन्नता नहीं होती क्योंकि इसके प्रत्येक क्षण में रहने वाले सभी जीव परिणामों की अपेक्षा परस्पर में समान ही होते हैं इसलिए इस करण का भी अनिवृत्तिकरण यह सार्थक नाम है ॥२५०-२५३॥

इन तीनों करणों में से प्रथम करण में स्थिति घात आदि का उपक्रम नहीं होता, किन्तु इसमें रहने वाला जीव शुद्ध होता हुआ केवल स्थिति-बन्ध और अनुभाग-बन्ध को कम करता रहता है ॥२५४॥

दूसरे अपूर्वकरण में भी यही व्यवस्था है किन्तु विशेषता इतनी है कि इस करण में रहने वाला जीव गुण-श्रेणी के द्वारा स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध का संक्रमण तथा निर्जरा करता हुआ उन दोनों के अग्रभाग को नष्ट कर देता है ॥२५५॥

इसी प्रकार तीसरे अनिवृत्तिकरण में प्रवृत्ति करने वाला अतिशय बुद्धिमान् जीव भी परिणामों की विशुद्धि में अन्तर न डालकर कर्मरूपी सोलह और आठ शत्रुओं को उखाड़ फेंकता है ॥२५६॥

अथानन्तर योगिराज भगवान् वृषभदेव ने नरक और तिर्यञ्चगति में नियम से उदय आने वाली नामकर्म की तेरह (१ नरकगति, २ नरकगति प्रायोग्यानुपूर्वी, ३ तिर्यगति, ४ तिर्यगति प्रायोग्यानुपूर्वी, ५ एकेन्द्रिय जाति, ६ द्वीन्द्रियजाति, ७ त्रीन्द्रियजाति, ८ चतुरिन्द्रिय जाति, ९ आतप, १० उद्योत, ११ स्थावर, १२ सूक्ष्म और १३ साधारण) और स्त्यानगृद्धि आदि तीन (१ स्त्यानगृद्धि, २ निद्रानिद्रा और ३ प्रचलाप्रचला) इस प्रकार सोलह प्रकृतियों को एक ही प्रहार से नष्ट किया ॥२५७॥

तदनन्तर अध्यात्मतत्त्व के जानने वाले भगवान् ने आठ कषायों (अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरणसम्बन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ) को नष्ट किया और फिर कुछ अन्तर लेकर शेष बची हुई (नपुंसक वेद, स्त्री वेद, पुरुष वेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, संज्वलन क्रोध, मान और माया) प्रकृतियों को भी नष्ट किया ॥२५८॥

अश्वकर्ण क्रिया और कृष्टिकरण आदि जो कुछ विधि होती है वह सब भगवान् ने इसी अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में की और फिर वे सूक्ष्मसाम्पराय नाम के दसवें गुणस्थान में जा पहुँचे ॥२५९॥

वहीं उन्होंने अतिशय सूक्ष्म लोभ को भी जीत लिया और इस तरह समस्त मोहनीय कर्म पर विजय प्राप्त कर ली सो ठीक ही है क्योंकि बलवान् शत्रु भी दुर्बल हो जाने पर विजिगीषु पुरुष-द्वारा अनायास ही जीत लिया जाता है ॥२६०॥

उस समय क्षपकश्रेणीरूपी रंगभूमि में मोहरूपी शत्रु के नष्ट हो जाने से अतिशय देदीप्यमान होते हुए मुनिराज वृषभदेव ऐसे सुशोभित हो रहे थे जैसे किसी कुशती के मैदान से प्रतिमल्ल (विरोधी मल्ल) के भाग जाने पर विजयी मल्ल सुशोभित होता है ॥२६१॥

तदनन्तर अविनाशी गुणों का संग्रह करने वाले भगवान् क्षीणकषाय नाम के बारहवें गुणस्थान में प्राप्त हुए । वहाँ उन्होंने सम्पूर्ण मोहनीय कर्म की धूलि उड़ा दी अर्थात् उसे बिल्कुल ही नष्ट कर दिया और स्वयं स्नातक अवस्था को प्राप्त हो गये ॥२६२॥

तदनन्तर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म की जो कुछ उद्धत प्रकृतियाँ थीं उन सबको उन्होंने एकत्ववितर्क नाम के दूसरे शुक्लध्यान से नष्ट कर डाला और इस प्रकार वे मुनिराज ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा अतिशय दुःखदायी चारों घातिया कर्मों को जलाकर केवलज्ञानी हो लोकालोक के देखने वाले सर्वज्ञ हो गये ॥२६३-२६४॥

इस प्रकार समस्त जगत् को प्रकाशित करते हुए और भव्य जीवरूपी कमलों को प्रफुल्लित करते हुए वे वृषभजिनेन्द्ररूपी सूर्य किरणों के समान अनन्त ज्ञान, दर्शन, वीर्य, चारित्र, शुद्ध सम्यक्त्व, दान, लाभ, भोग और उपभोग इन अनन्त नौ लब्धियों को प्राप्त हुए ॥२६५-२६६॥ इस प्रकार जिन्होंने ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा कर्मरूपी ईंधन के समूह को जला दिया है, जिनके केवलज्ञानरूपी विभूति उत्पन्न हुई है और जिन्हें समवसरण का वैभव प्राप्त हुआ है ऐसे वे जिनेन्द्र भगवान् बहुत ही सुशोभित हो रहे थे ॥२६७॥

फाल्गुन मास के कृष्ण पक्ष की एकादशी के दिन उत्तराषाढ़ नक्षत्र में भगवान् को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था ॥२६८॥

मोहनीय कर्म को जीतने वाले भगवान् वृषभदेव ज्यों ही केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी से देदीप्यमान हुए त्यों ही समस्त देवों के इन्द्र भक्ति के भार से नम्रीभूत हो गये अर्थात् उन्होंने भगवान् को सिर झुकाकर नमस्कार किया, आकाश में सभी ओर जय-जय शब्द बढ़ने लगा और आकाश का विवर देवों के नगाड़ों के शब्दों से व्याप्त हो गया ॥२६९॥

उसी समय भ्रमरों के शब्दों से आकाश को शब्दायमान करती हुई तथा दिशाओं के अन्त को संकुचित करती हुई कल्पवृक्ष के पुष्पों की वर्षा बड़े ऊँचे से होने लगी और विरल-विरल रूप से उतरते हुए देवों के विमानों से आकाशरूपी समुद्र ऐसा हो गया मानो उसमें चारों ओर नौकाएँ ही तैर रही हों ॥२७०॥

उसी समय मद से मनोहर शब्द करने वाले भ्रमरों से सहित, गङ्गा नदी की अत्यन्त शीतल तरङ्गों का स्पर्श करता हुआ और हिलते हुए सुगन्धित वन के मध्य भाग में स्थित कमलों की पराग से भरा हुआ वायु चारों ओर धीरे-धीरे बहता हुआ दिशाओं में व्याप्त हो रहा था ॥ २७१ ॥

जिस समय यह सब हो रहा था उसी समय आकाश से बादलों के बिना ही होनेवाली मन्द-मन्द वृष्टि लोकनाड़ी के आंगन को धूलिरहित कर रही थी। उस वृष्टि की बूँदें चारों ओर फैल रही थीं जिससे ऐसी जान पड़ती थीं मानो जगत् के स्वामी वृषभ-जिनेन्द्र के समवसरण की भूमि को शुद्ध करने के लिए ही फैल रही हों ॥२७२॥

इस प्रकार उस समय भगवान् वृषभदेवरूपी उदयाचल से उत्पन्न हुआ केवलज्ञानरूपी सूर्य जगत् के जीवों के हित के लिए हुआ था। वह केवलज्ञानरूपी सूर्य तीनों लोकों में आनन्द को विस्तृत कर रहा था, जिनेन्द्र भगवान् के आधिपत्य को प्रसिद्ध कर रहा था और उनके तीर्थकरोचित प्रभाव को बतला रहा था ॥२७३॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रह में भगवान् के कैवल्योत्पत्ति का वर्णन करने वाला बीसवां पर्व समाप्त हुआ ॥२०॥

पर्व-21 -- ध्यानतत्त्व

पर्व-21 -- ध्यानतत्त्व

कथा :

अथानन्तर-श्रेणिक राजा ने नम्र होकर महामुनि गौतम गणधर से पूछा कि हे भगवन् मैं आपसे ध्यान का विस्तार जानना चाहता हूँ ॥१॥ हे योगिराज, इस ध्यान का लक्षण क्या है ? इसके कितने भेद हैं, इसकी निरुक्ति (शब्दार्थ) क्या है, इसके स्वामी कौन हैं, इसका समय कितना है, इसका हेतु क्या है और इसका फल क्या है ? ॥२॥

हे स्वामिन् इसका भाव क्या है ? इसका आधार क्या है ? इसके भेदों के क्या-क्या नाम हैं ? और उन सबका क्या-क्या अभिप्राय है ? ॥३॥

इसका आलम्बन क्या है और इसमें बल पहुँचाने वाला क्या है ? हे वक्ताओं में श्रेष्ठ, यह सब मैं जानना चाहता हूँ ॥४॥

मोक्ष के साधनों में ध्यान ही सबसे उत्तम साधन माना गया है इसलिए हे भगवन्, इसका यथार्थ स्वरूप कहिए जो कि बड़े-बड़े मुनियों के लिए भी गोप्य है ॥५॥

इस प्रकार पूछने वाले राजा श्रेणिक से भगवान् गौतमगणधर अपने दाँतों की फैलती हुई किरणोंरूपी जल से उसके शरीर का अभिषेक करते हुए कहने लगे ॥६॥

कि हे राजन् जो कर्मों के क्षय करनेरूप कार्य का मुख्य साधन है ऐसे ध्यान नाम के उत्कृष्ट तप का मैं तुम्हारे लिए आगम के अनुसार अच्छी तरह उपदेश देता हूँ ॥७॥

तन्मय होकर किसी एक ही वस्तु में जो चित्त का निरोध कर लिया जाता है उसे ध्यान कहते हैं। वह ध्यान वज्रवृषभनाराचसंहनन वालों के

अधिक-से-अधिक अन्तर्मुहूर्त तक ही रहता है ॥८॥

जो चित्त का परिणाम स्थिर होता है उसे ध्यान कहते हैं और जो चंचल रहता है उसे अनुप्रेक्षा, चिन्ता, भावना अथवा चित्त कहते हैं ॥९॥ यह ध्यान छद्मस्थ अर्थात् बारहवें गुणस्थानवर्ती जीवों तक के होता है और तेरहवें गुणस्थानवर्ती सर्वज्ञ देव के भी योग के बल से होने वाले आस्रव का निरोध करने के लिए उपचार से माना जाता है ॥१०॥

ध्यान के स्वरूप को जाननेवाले बुद्धिमान् पुरुष ध्यान उसी को कहते हैं जिसकी वृत्ति अपने बुद्धि-बल के अधीन होती है क्योंकि ऐसा ध्यान ही यथार्थ में ध्यान कहा जा सकता है इससे विपरीत ध्यान अपध्यान कहलाता है ॥११॥

योग, ध्यान, समाधि, धीरोध अर्थात् बुद्धि की चञ्चलता रोकना, स्वान्त निग्रह अर्थात् मन को वश में करना, और अन्तःसंलीनता अर्थात् आत्मा के स्वरूप में लीन होना आदि सब ध्यान के ही पर्यायवाचक शब्द हैं-ऐसा विद्वान् लोग मानते हैं ॥१२॥

आत्मा जिस परिणाम से पदार्थ का चिन्तन करता है उस परिणाम को ध्यान कहते हैं यह करणसाधन की अपेक्षा ध्यान शब्द की निरुक्ति है। आत्मा का जो परिणाम पदार्थों का चिन्तन करता है उस परिणाम को ध्यान कहते हैं यह कर्तृवाच्य की अपेक्षा ध्यान शब्द की निरुक्ति है क्योंकि जो परिणाम पहले आत्मा रूप कर्ता के परतन्त्र होने से करण कहलाता था वही अब स्वतन्त्र होने से कर्ता कहा जा सकता है। और भाववाच्य की अपेक्षा करने पर चिन्तन करना ही ध्यान की निरुक्ति है। इस प्रकार शक्ति के भेद से ज्ञान-स्वरूप आत्मा के एक ही विषय में तीन भेद होना उचित ही है। भावार्थ-व्याकरण में कितने ही शब्दों की निरुक्ति करण-साधन, कर्तृसाधन और भावसाधन की अपेक्षा तीन-तीन प्रकार से की जाती है। जहाँ करण की मुख्यता होती है उसे करण-साधन कहते हैं, जहाँ कर्ता की मुख्यता है उसे कर्तृ-साधन कहते हैं और जहाँ क्रिया की मुख्यता होती है उसे भाव-साधन कहते हैं। यहाँ आचार्य ने आत्मा, आत्मा के परिणाम और चिन्तन रूप क्रिया में नय विवक्षा से भेदाभेद रूप की विवक्षा कर एक ही ध्यान शब्द की तीनों साधनों-द्वारा निरुक्ति की है, जिस समय आत्मा और परिणाम में भेदविवक्षा की जाती है उस समय आत्मा जिस परिणाम से ध्यान करे वह परिणाम ध्यान कहलाता है ऐसी करणसाधन से निरुक्ति होती है। जिस समय आत्मा और परिणाम में अभेद विवक्षा की जाती है उस समय जो परिणाम ध्यान करे यही ध्यान कहलाता है, ऐसी कर्तृसाधन से निरुक्ति होती है और जहाँ आत्मा तथा उसके प्रदेशों में होने वाली ध्यान रूप क्रिया में अभेद माना जाता है उस समय ध्यान करना ही ध्यान कहलाता है ऐसी भावसाधन से निरुक्ति सिद्ध होती है ॥१३-१४॥

यद्यपि ध्यान ज्ञान की ही पर्याय है और ध्येय अर्थात् ध्यान करने योग्य पदार्थों को ही विषय करने वाला है तथापि एक जगह एकत्रित रूप से देखा जाने के कारण ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य रूप-व्यवहार को भी धारण कर लेता है। भावार्थ-स्थिर रूप से पदार्थ को जानना ध्यान कहलाता है इसलिए ध्यान ज्ञान की एक पर्याय विशेष है। आत्मा के जो प्रदेश ज्ञान रूप हैं वे ही प्रदेश दर्शन, सुख और वीर्य रूप भी हैं इसलिए एक ही जगह रहने के कारण ध्यान में दर्शन सुख आदि का भी व्यवहार किया जाता है ॥१५॥

जिस प्रकार सुख तथा कोष आदि भावतन्त्र के ही परिणाम कहे जाते हैं परन्तु वे उससे भिन्न रूप होकर प्रकाशमान होते हैं-अनुभव में आते हैं इसी प्रकार अन्तःकरण का संकोच करने रूप ध्यान भी यद्यपि चैतन्य (ज्ञान) का परिणाम बतलाया गया है तथापि वह उससे भिन्न रूप होकर प्रकाशमान होता है। भावार्थ-पर्याय और पर्यायी में कथंचिद् भेद की विवक्षा कर यह कथन किया गया है ॥१६॥

जगत् के समस्त तत्त्व जो जिस रूप से अवस्थित हैं और जिनमें यह मेरे हैं और मैं इनका स्वामी हूँ ऐसा संकल्प न होने से जो उदासीन रूप से विद्यमान हैं वे सब ध्यान के आलम्बन (विषय) हैं। भावार्थ-ध्यान में उदासीन रूप से समस्त पदार्थों का चिन्तन किया जा सकता है ॥१७॥

अथवा संसारी और मुक्त इस प्रकार दो भेद वाले आत्म तत्त्व का चिन्तन करना चाहिए क्योंकि आत्मतत्त्व का चिन्तन ध्यान करने वाले जीव के उपयोग की विशुद्धि के लिए होता है ॥१८॥

उपयोग की विशुद्धि होने से यह जीव बन्ध के कारणों को नष्ट कर देता है, बन्ध के कारण नष्ट होने से उसके संवर और निर्जरा होने लगती है तथा संवर और निर्जरा के होने से इस जीव को निःसन्देह मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है ॥१९॥

जो-जो पदार्थ जिस-जिस प्रकार से अवस्थित है उसको उसी-उसी प्रकार से निश्चय करने वाले तथा ध्यान की इच्छा रखने वाले मोक्षाभिलाषी पुरुष के यह समस्त संसार आलम्बन है। भावार्थ-रागद्वेष से रहित होकर किसी भी वस्तु का ध्यान कर मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है ॥२०॥

अथवा इस विषय में बहुत कहने से क्या लाभ है संक्षेप में इतना ही समझ लेना चाहिए कि इस संसार में अपनी-अपनी पर्यायों सहित जो-जो पदार्थ हैं वे सब आम्नाय के अनुसार ध्येय कोटि में प्रवेश करते हैं अर्थात् उन सभी का ध्यान किया जा सकता है ॥२१॥

इस प्रकार जो ऊपर ध्यान करने योग्य पदार्थों का वर्णन किया गया है वह सब शुभ पदार्थ का चिंतन करने वाले ध्यान में ही समझना चाहिए । यदि इष्ट अनिष्ट वस्तुओं का चिन्तन किया जायेगा तो वह असद्भ्यान कहलायेगा और उसमें ध्येय की कोई कल्पना नहीं की जाती अर्थात् असद्भ्यान का कुछ भी विषय नहीं है-कभी असद्भ्यान नहीं करना चाहिए ॥२२॥

जो मनुष्य तत्त्वों का यथार्थस्वरूप नहीं समझता वह विपरीत भाव से अतद्रूप वस्तु को भी तद्रूप चिन्तन करने लगता है और पदार्थों में इष्ट अनिष्ट बुद्धि कर केवल संक्लेश सहित ध्यान धारण करता है ॥२३॥

संकल्प-विकल्प के वशीभूत हुआ मूर्ख प्राणी पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट समझने लगता है उससे उसके राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं और रागद्वेष से जो कठिनता से छूट सके ऐसे कर्मबन्ध को प्राप्त होता है ॥२४॥

विषयों में तृष्णा बढ़ाने वाली जो मन की प्रवृत्ति है वह संकल्प कहलाती है उसी संकल्प को दुष्प्रणिधान कहते हैं और दुष्प्रणिधान से अपध्यान होता है ॥२५॥

इसलिए चित्त की शुद्धि के लिए तत्त्वार्थ की भावना करनी चाहिए क्योंकि तत्त्वार्थ की भावना करने से ज्ञान की शुद्धि होती है और ज्ञान की शुद्धि होने से ध्यान की शुद्धि होती है ॥२६॥

शुभ और अशुभ चिन्तन करने से वह ध्यान प्रशस्त तथा अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार का स्मरण किया जाता है । उस प्रशस्त तथा अप्रशस्त ध्यान में से भी प्रत्येक के दो-दो भेद हैं । भावार्थ-जो ध्यान शुभ परिणामों से किया जाता है उसे प्रशस्त ध्यान कहते हैं और जो अशुभ परिणामों से किया जाता है उसे अप्रशस्त ध्यान कहते हैं । प्रशस्त ध्यान के धर्म्य और शुक्ल ऐसे दो भेद हैं तथा अप्रशस्त ध्यान के आर्त और रौद्र ऐसे दो भेद हैं ॥२७॥

इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् ने वह ध्यान आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल के भेद से चार प्रकार का वर्णन किया है ॥२८॥

इन चारों ध्यानों में से पहले के दो अर्थात् आर्त और रौद्र ध्यान छोड़ने के योग्य हैं क्योंकि वे खोटे ध्यान हैं और संसार को बढ़ाने वाले हैं तथा आगे के दो अर्थात् धर्म्य और शुक्ल ध्यान मुनियों को भी ग्रहण करने योग्य हैं ॥२९॥

अब इन ध्यानों के अन्तर्भेद, उनके लक्षण, उनकी निरुक्ति, उनके बलाधान, आधार, काल, भाव और फल का निरूपण करेंगे ॥३०॥

जो ऋत अर्थात् दुःख में हो वह पहला आर्तध्यान है । वह चार प्रकार का होता है-पहला इष्ट वस्तु के न मिलने से, दूसरा अनिष्ट वस्तु के मिलने से, तीसरा निदान से और चौथा रोग आदि के निमित्त से उत्पन्न हुआ ॥३१॥

किसी इष्ट वस्तु के वियोग होने पर उनके संयोग के लिए बार-बार चिन्तन करना सो पहला आर्तध्यान है । इसी प्रकार किसी अनिष्ट वस्तु के संयोग होने पर उसके वियोग के लिए निरन्तर चिन्तन करना सो दूसरा आर्तध्यान है ॥३२॥

भोगों की आकांक्षा से जो ध्यान होता है वह तीसरा निदान नाम का आर्तध्यान कहलाता है । यह ध्यान दूसरे पुरुषों की भोगोपभोग की सामग्री देखने से संक्लेश चित्त वाले जीव के होता है और किसी वेदना से पीड़ित मनुष्य का उस वेदना को नष्ट करने के लिए जो बार-बार चिन्तन होता है वह चौथा आर्तध्यान कहलाता है ॥३३॥

इष्ट वस्तुओं के बिना होनेवाले दुःख के समय जो ध्यान होता है वह इष्टवियोगज नाम का पहला आर्तध्यान कहलाता है, इसी प्रकार प्राप्त नहीं हुए इष्ट पदार्थ के चिन्तन से जो आर्तध्यान होता है वह निदानप्रत्यय नाम का दूसरा आर्तध्यान कहलाता है ॥३४॥

अनिष्ट वस्तु के संयोग के होने पर जो ध्यान होता है वह अनिष्टसंयोगज नाम का तीसरा आर्तध्यान कहलाता है और वेदना उत्पन्न होने पर जो ध्यान होता है वह वेदनोपगमोद्भव नाम का चौथा आर्तध्यान कहलाता है ॥३५॥

इष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए, अनिष्ट वस्तु का अप्राप्ति के लिए, भोगोपभोग की इच्छा के लिए और वेदना दूर करने के लिए जो बार-बार चिन्तन किया जाता है उसी समय ऊपर कहा हुआ चार प्रकार का आर्तध्यान होता है ॥३६॥

इस प्रकार आर्त अर्थात् पीड़ित आत्मा वाले जीवों के द्वारा चिन्तन करने योग्य चार प्रकार के आर्तध्यान का निरूपण किया । यह कषाय आदि प्रमाद से अधिष्ठित होता है और प्रमत्तसंयत नामक छठवें गुणस्थान तक होता है ॥३७॥

यह चारों प्रकार का आर्तध्यान अत्यन्त अशुभ कृष्ण, नील और कापोत लेश्या का आश्रय कर उत्पन्न होता है, इसका काल अन्तर्मुहूर्त है

और आलम्बन अशुभ है ॥३८॥

इस आर्तध्यान में क्षायोपशमिक भाव होता है और तिर्यञ्च गति इसका फल है इसलिए यह आर्त नाम का खोटा ध्यान कल्याण चाहने वाले पुरुषों द्वारा छोड़ने योग्य है ॥३९॥

परिग्रह में अत्यन्त आसक्त होना, कुशील रूप प्रवृत्ति करना, कृपणता करना, ब्याज लेकर आजीविका करना, अत्यन्त लोभ करना, भय करना, उद्वेग करना और अतिशय शोक करना ये आर्तध्यान के चिह्न हैं ॥४०॥

इसी प्रकार शरीर का क्षीण हो जाना, शरीर की कान्ति नष्ट हो जाना, हाथों पर कपोल रखकर पश्चात्ताप करना, आंसू डालना तथा इसी प्रकार और भी अनेक कार्य आर्तध्यान के बाह्य चिह्न कहलाते हैं ॥४१॥

इस प्रकार आर्तध्यान का वर्णन पूर्ण हुआ, अब रौद्र ध्यान का निरूपण करते हैं-जो पुरुष प्राणियों को रुलाता है वह रुद्र क्रूर अथवा सर्व जीवों में निर्दय कहलाता है ऐसे पुरुष में जो ध्यान होता है उसे रौद्रध्यान कहते हैं । यह रौद्रध्यान भी चार प्रकार का होता है ॥४२॥

हिंसानन्द अर्थात् हिंसा में आनन्द मानना, मृषानन्द अर्थात् झूठ बोलने में आनन्द मानना, स्तेयानन्द अर्थात् चोरी करने में आनन्द मानना और संरक्षणानन्द अर्थात् परिग्रह की रक्षा में ही रात-दिन लगा रहकर आनन्द मानना ये रौद्रध्यान के चार भेद हैं । यह ध्यान छोटे गुणस्थान के पहले-पहले पाँच गुणस्थानों में होता है ॥४३॥

यह रौद्रध्यान अत्यन्त अशुभ कृष्ण आदि तीन खोटी लेश्याओं के बल से उत्पन्न होता है, अन्तर्मुहूर्त काल तक रहता है और पहले आर्तध्यान के समान इसका क्षायोपशमिक भाव होता है ॥४४॥

मारने और बाँधने आदि की इच्छा रखना, अंग-उपांगों को छेदना, सन्ताप देना तथा कठोर दण्ड देना आदि को विद्वान् लोग हिंसानन्द नाम का रौद्रध्यान कहते हैं ॥४५॥

जीवों पर दया न करने वाला हिंसक पुरुष हिंसानन्द नाम के रौद्रध्यान को धारण कर पहले अपने-आपका घात करता है पीछे अन्य जीवों का घात करे अथवा न करे । भावार्थ-अन्य जीवों का मारा जाना उनके आयु कर्म के अधीन है परन्तु मारने का संकल्प करने वाला हिंसक पुरुष तीव्र कषाय उत्पन्न होने से अपने आत्मा की हिंसा अवश्य कर लेता है अर्थात् अपने क्षमा आदि गुणों को नष्ट कर भाव हिंसा का अपराधी अवश्य हो जाता है ॥४६॥

स्वयंभूरमण समुद्र में जो तन्दुल नाम का छोटा मत्स्य रहता है वह केवल स्मृतिदोष से ही महामत्स्य के समान दोषों को प्राप्त होता है । भावार्थ-राघव मत्स्य के कान में जो तन्दुल मत्स्य रहता है वह यद्यपि जीवों की हिंसा नहीं कर पाता है केवल बड़े मत्स्य के मुखविवर में आये हुए जीवों को देखकर उसके मन में उन्हें मारने का भाव उत्पन्न होता है तथापि वह उस भाव-हिंसा के कारण मरकर राघव मत्स्य के समान ही सातवें नरक में जाता है ॥४७॥

इसी प्रकार पूर्वकाल में अरविन्द नाम का प्रसिद्ध विद्याधर केवल रुधिर में स्नान करने रूप रौद्र ध्यान से ही नरक गया था ॥४८॥

क्रूर होना, हिंसा के उपकरण तलवार आदि को धारण करना, हिंसा की ही कथा करना और स्वभाव से ही हिंसक होना ये रौद्रध्यान के चिह्न माने गये हैं ॥४९॥

झूठ बोलकर लोगों को धोखा देने का चिन्तन करना सो मृषानन्द नाम का दूसरा रौद्रध्यान है तथा कठोर वचन बोलना आदि इसके बाह्य चिह्न हैं ॥५०॥

दूसरे के द्रव्य के हरण करने अर्थात् चोरी करने में अपना चित्त लगाना-उसी का चिन्तन करना सो स्तेयानन्द नाम का तीसरा रौद्रध्यान है और धन के उपार्जन करने आदि का चिन्तन करना सो संरक्षणानन्द नाम का चौथा रौद्रध्यान है । (संरक्षणानन्द का दूसरा नाम परिग्रहानन्द भी है) ॥५१॥

स्तेयानन्द और संरक्षणानन्द इन दोनों रौद्रध्यानों के बाह्य चिह्न संसार में प्रसिद्ध हैं । गणधरदेव ने इस रौद्रध्यान का फल अतिशय कठिन नरकगति के दुःख प्राप्त होना बतलाया है ॥५२॥

भौंह टेढ़ी हो जाना, मुख का विकृत हो जाना, पसीना आने लगना, शरीर कंपने लगना और नेत्रों का अतिशय लाल हो जाना आदि रौद्रध्यान के बाह्य चिह्न कहलाते हैं ॥५३॥

अनादिकाल की वासना से उत्पन्न होने वाले ये दोनों (आर्त और रौद्र) ध्यान बिना प्रयत्न के ही हो जाते हैं इसलिए मुनियों को इन दोनों का

ही त्याग करना चाहिए ॥५४॥

संसार के कारणस्वरूप पहले कहे हुए दोनों खोटे ध्यानों का परित्याग कर मुनि लोग अन्त के जिन दो ध्यानों का अभ्यास करते हैं वे उत्तम है, देश तथा अवस्था आदि की अपेक्षा रखते हैं, बाह्य सामग्री के अधीन हैं और इन दोनों का फल भी गौण तथा मुख्य की अपेक्षा दो प्रकार का है ॥५५-५६॥

अध्यात्म के स्वरूप को जानने वाला मुनि, सूने घर में, श्मशान में, जीर्ण वन में, नदी के किनारे, पर्वत के शिखर पर, गुफा में, वृक्ष की कोटर में अथवा और भी किसी ऐसे पवित्र तथा मनोहर प्रदेश में, जहाँ आतप न हो, अतिशय गर्मी और सर्दी न हो, तेज वायु न चलता हो, वर्षा न हो रही हो, सूक्ष्म जीवों का उपद्रव न हो, जल का प्रपात न हो और मन्द-मन्द वायु बह रही हो, पर्यंक आसन बाँधकर पृथ्वीतल पर विराजमान हो, उस समय अपने शरीर को सम, सरल और निश्चल रखे, अपने पर्यंक में बाँया हाथ इस प्रकार रखे कि जिससे उसकी हथेली ऊपर की ओर हो, इसी प्रकार दाहिने हाथ को भी बाँया हाथ पर रखे, आंखों को न तो अधिक खोले ही और न अधिक बन्द ही रखे, धीरे-धीरे उच्छ्वास ले, ऊपर और नीचे की दोनों दाँतों की पंक्तियों को मिलाकर रखे और धीर-वीर हो मन की स्वच्छन्द गति को रोके । फिर अपने अभ्यास के अनुसार मन को हृदय में, मस्तक पर, ललाट में, नाभि के ऊपर अथवा और भी किसी जगह रखकर परीषहों से उत्पन्न हुई बाधाओं को सहता हुआ निराकुल हो आगम के अनुसार जीव-अजीव आदि द्रव्यों के यथार्थस्वरूप का चिन्तन करे ॥५७-६४॥ अतिशय तीव्र प्राणायाम होने से अर्थात् बहुत देर तक श्वासोच्छ्वास के रोक रखने से इन्द्रियों को पूर्ण रूप से वश में न करने वाले पुरुष का मन व्याकुल हो जाता है । जिसका मन व्याकुल हो गया है उसके चित्त की एकाग्रता नष्ट हो जाती है और ऐसा होने से उसका ध्यान भी टूट जाता है । इसलिए शरीर से ममत्व छोड़ने वाले मुनि के ध्यान की सिद्धि के लिए मन्द-मन्द उच्छ्वास लेना और पलकों के लगने, उघड़ने आदि का निषेध नहीं है ॥६५-६६॥

ध्यान के समय जिसका शरीर समरूप से स्थित होता है अर्थात् ऊँचा-नीचा नहीं होता है उसके समाधान अर्थात् चित्त की स्थिरता रहती है और जिसका शरीर विषम रूप से स्थित है उसके समाधान का भंग हो जाता है और समाधान के भंग हो जाने से बुद्धि में आकुलता उत्पन्न हो जाती है इसलिए मुनियों को ऊपर कहे हुए पर्यंक आसन से बैठकर और चित्त की चंचलता छोड़कर ध्यान का अभ्यास करना चाहिए ॥६७-६८॥

ध्यान करने की इच्छा करने वाले मुनि को पर्यंक आसन के समान कायोत्सर्ग आसन करने की भी आज्ञा है । कायोत्सर्ग के समय शरीर के समस्त अंगों को सम रखना चाहिए और आचार शास्त्र में कहे हुए बत्तीस दोषों का बचाव करना चाहिए ॥६९॥

जो मनुष्य ध्यान के समय विषम (ऊँचे-नीचे) आसन से बैठता है उसके शरीर में अवश्य ही पीड़ा होने लगती है, शरीर में पीड़ा होने से मन में पीड़ा होती है और मन में पीड़ा होने से आकुलता उत्पन्न हो जाती है । आकुलता उत्पन्न होने पर कुछ भी ध्यान नहीं किया जा सकता इसलिए ध्यान के समय सुखासन लगाना ही अच्छा है । कायोत्सर्ग और पर्यंक ये दो सुखासन हैं इनके सिवाय बाकी सब विषम अर्थात् दुःख करने वाले आसन हैं ॥७०-७१॥

ध्यान करने वाले मुनि के प्रायः इन्हीं दो आसनों की प्रधानता रहती है और उन दोनों में भी पर्यंक आसन अधिक सुखकर माना जाता है ॥ ७२ ॥

आगम में ऐसा भी सुना जाता है कि जिनका शरीर वज्रमयी है और जो महाशक्तिशाली हैं ऐसे पुरुष सभी आसनों से विराजमान होकर ध्यान के बल से अविनाशी पद (मोक्ष) को प्राप्त हुए हैं ॥७३॥

इसलिए कायोत्सर्ग और पर्यंक ऐसे दो आसनों का निरूपण असमर्थ जीवों की अधिकता से किया गया है । जो उपसर्ग आदि के सहन करने में अतिशय समर्थ हैं ऐसे मुनियों के लिए अनेक प्रकार के आसनों के लगाने में दोष नहीं है । भावार्थ-वीरासन, वज्रासन, गोदोहासन, धनुरासन आदि अनेक आसन लगाने से कायक्लेश नामक तप की सिद्धि होती अवश्य है पर हमेशा तप शक्ति के अनुसार ही किया जाता है, । यदि शक्ति न रहते हुए भी ध्यान के समय दुःखकर आसन लगाया जाये तो उससे चित्त चंचल हो जाने से मूल तत्त्व-ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकेगी इसलिए आचार्य ने यहाँ पर अशक्त पुरुषों की बहुलता देख कायोत्सर्ग और पर्यंक इन्हीं दो सुखासनों का वर्णन किया है परन्तु जिनके शरीर में शक्ति है, जो निषद्या आदि परीषहों के सहन करने में समर्थ हैं उन्हें विचित्र-विचित्र प्रकार के आसनों के लगाने का निषेध भी नहीं किया है । आसन लगाते समय इस बात का स्मरण रखना आवश्यक है कि वह केवल बाह्य प्रदर्शन के लिए न हो किन्तु

कायक्लेश तपश्चरण के साथ-साथ ध्यान की सिद्धि का प्रयोजन होना चाहिए । क्योंकि जैन शास्त्रों में मात्र बाह्य प्रदर्शन के लिए कुछ भी स्थान नहीं है और न उस आसन लगाने वाले के लिए कुछ आत्मलाभ ही होता है ॥७४॥

अथवा शरीर की जो-जो अवस्था (आसन) ध्यान का विरोध करने वाली न हो उसी-उसी अवस्था में स्थित होकर मुनियों को ध्यान करना चाहिए । चाहें तो वे बैठकर ध्यान कर सकते हैं, खड़े होकर ध्यान कर सकते हैं और लेटकर भी ध्यान कर सकते हैं ॥७५॥

इसी प्रकार देश आदि का जो नियम कहा गया है वह भी प्रायोवृत्ति को लिये हुए है अर्थात् हीन शक्ति के धारक ध्यान करने वालों के लिए ही देश आदि का नियम है, पूर्ण शक्ति के धारण करने वालों के लिए तो सभी देश और सभी काल आदि ध्यान के साधन हैं ॥७६॥ जो स्थान स्त्री, पशु और नपुंसक जीवों के संसर्ग से रहित हो या एकान्त हो वही स्थान मुनियों के सदा निवास करने के योग्य होता है और ध्यान के समय तो विशेष कर ऐसा ही स्थान योग्य समझा जाता है ॥७७॥

जो मुनि मनुष्यों से भरे हुए शहर आदि में निवास करते हैं और निरन्तर विषयों को देखा करते हैं ऐसे मुनियों का चित्त इन्द्रियों के विषयों की अधिकता होने से कदाचित् व्याकुल हो सकता है ॥७८॥ इसलिए मुनियों को एकान्त स्थान में ही शयन करना चाहिए और वन में ही रहना चाहिए । यह जिनकल्पी और स्थविरकल्पी दोनों प्रकार के मुनियों का साधारण मार्ग है ॥७९॥

यद्यपि मुनियों के निवास करने के लिए यह साधारण व्यवस्था कही गयी है तथापि कितने ही समदर्शी धीर-वीर मुनिराज मनुष्यों से भरे हुए शहर आदि तथा वन आदि शून्य (निर्जन) स्थानों में विहार करते हैं ॥८०॥

इसी प्रकार ध्यान करने के इच्छुक धीर-वीर मुनियों के लिए दिन-रात और सन्ध्याकाल आदि काल भी निश्चित नहीं है अर्थात् उनके लिए समय का कुछ भी नियम नहीं है क्योंकि वह ध्यानरूपी धन सभी समय में उपयोग करने योग्य है अर्थात् ध्यान इच्छानुसार सभी समयों में किया जा सकता है ॥८१॥

क्योंकि सभी देश, सभी काल और सभी चेष्टाओं (आसनों) में ध्यान धारण करने वाले अनेक मुनिराज आज तक सिद्ध हो चुके हैं, अब हो रहे हैं और आगे भी होते रहेंगे इसलिए ध्यान के लिए देश, काल और आसन वगैरह का कोई खास नियम नहीं है ॥८२॥

जो मुनि जिस समय, जिस देश में और जिस आसन से ध्यान को प्राप्त हो सकता है उस मुनि के ध्यान के लिए वही समय, वही देश और वही आसन उपयुक्त माना गया है ॥८३॥

इस प्रकार यह ध्यान करने वाले की अवस्था का निरूपण किया । अब ध्यान करने वाले का लक्षण, ध्येय अर्थात् ध्यान करने योग्य पदार्थ, ध्यान और ध्यान का फल ये चारों ही पदार्थ निरूपण करने योग्य हैं ॥८४॥

जो वज्रवृषभनाराचसंहनन नामक अतिशय बलवान् शरीर का धारक है, जो तपश्चरण करते में अत्यन्त शूर-वीर है, जिसने अनेक शास्त्रों का अच्छी तरह से अभ्यास किया है, जिसने आर्त और रौद्र नाम के खोटे ध्यानो को दूर हटा दिया है, जो अशुभ लेश्याओं से बचता रहता है, जो लेश्याओं की विशुद्धता का अवलम्बन कर प्रमादरहित अवस्था का चिन्तन करता है, जो बुद्धि के पार को प्राप्त हुआ है अर्थात् जो अतिशय बुद्धिमान् है, योगी है, जो बुद्धिबल से सहित है, शास्त्रों के अर्थ का आलम्बन करने वाला है, जो धीर-वीर है और जिसने समस्त परीषहों को सह लिया है ऐसे उत्तम मुनि को ध्याता कहते हैं ॥८५-८७॥

इसके सिवाय जिसके संसार से भय उत्पन्न हुआ है, जिसे वैराग्य की भावनाएँ प्राप्त हुई हैं, जो वैराग्य-भावनाओं के उल्का से भोगोपभोग की सामग्री को अतृप्ति करने वाली देखता है, जिसने सम्यग्ज्ञान की भावना से मिथ्याज्ञानरूपी गाढ़ अन्धकार को नष्ट कर दिया है, जिसने विशुद्ध सम्यग्दर्शन के द्वारा गढ़ मिथ्यात्वरूपी शल्य को निकाल दिया है, जिसने मोक्षरूपी फल देने वाली उत्तम क्रियाओं को प्राप्त कर समस्त अशुभ क्रियाएँ छोड़ दी हैं, जो करने योग्य उत्तम कार्यों में सदा तत्पर रहता है, जिसने नहीं करने योग्य कार्यों का परित्याग कर दिया है, हिंसा, झूठ आदि जो व्रतों के विरोधी दोष है उन सबको दूर कर जिसने व्रतों की परम शुद्धि को प्राप्त किया है, जो अत्यन्त उत्कृष्ट अपने क्षमा, मार्दव, आर्जव और लाघव रूप धर्मों के द्वारा अतिशय प्रबल क्रोध, मान, माया और लोभ इन कषायरूपी शत्रुओं का परिहार करता रहता है । जो शरीर, आयु, बल, आरोग्य और यौवन आदि अनेक पदार्थों को अनित्य, अपवित्र, दुःखदायी तथा आत्मस्वभाव से अत्यन्त भिन्न देखा करता है, जिनका चिरकाल से अभ्यास हो रहा है ऐसे राग, द्वेष आदि भावों को छोड़कर जो पहले कभी चिन्तन में न आयी हुई ज्ञान तथा वैराग्य रूप भावनाओं का चिन्तन करता रहता है और जो आगे कही जाने वाली भावनाओं के द्वारा कभी मोह को प्राप्त नहीं होता ऐसा मुनि ही ध्यान में स्थिर हो सकता है । जिन भावनाओं के द्वारा वह मुनि मोह को प्राप्त नहीं होता वे भावनाएँ ज्ञान,

दर्शन, चारित्र और वैराग्य की भावनाएँ कहलाती हैं ॥८८-९५॥

जैन शास्त्रों का स्वयं पढ़ना, दूसरों से पूछना, पदार्थ के स्वरूप का चिन्तन करना, श्लोक आदि कण्ठस्थ करना तथा समीचीन धर्म का उपदेश देना ये पाँच ज्ञान की भावनाएं जाननी चाहिए ॥९६॥

संसार से भय होना, शान्त परिणाम होना, धीरता रखना, मूढ़ताओं का त्याग करना, गर्व नहीं करना, श्रद्धा रखना और दया करना ये सात सम्यग्दर्शन की भावनाएं जानने के योग्य हैं ॥९७॥

चलने आदि के विषय में यत्न रखना अर्थात् ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और प्रतिष्ठापन इन पाँच समितियों का पालन, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति का पालन करना तथा परीषहों को सहन करना ये चारित्र की भावनाएं जानना चाहिए ॥९८॥
विषयों में आसक्त न होना, शरीर के स्वरूप का बार-बार चिन्तन करना, और जगत् के स्वभाव का विचार करना ये वैराग्य को स्थिर रखने वाली भावनाएँ हैं ॥९९॥

इस प्रकार ऊपर कही हुई भावनाओं का चिन्तन करने वाले, तत्त्वों को जानने वाले और राग-द्वेष से रहित मुनि की बुद्धि ज्ञान और चारित्र आदि सम्पदा में स्थिर हो जाती है ॥१००॥

यदि ध्यान करने वाला मुनि चौदह पूर्व का जानने वाला हो, दस पूर्व का जानने वाला हो अथवा नौ पूर्व का जानने वाला हो तो वह ध्याता सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त कहलाता है ॥१०१॥

इसके सिवाय अल्पश्रुत ज्ञानी अतिशय बुद्धिमान् और श्रेणी के पहले-पहले धर्मध्यान धारण करने वाला उत्कृष्ट मुनि भी उत्तम ध्याता कहलाता है ॥१०२॥

इस प्रकार ऊपर कहे हुए लक्षणों से सहित ध्यान करने वाला मुनि ध्यान की बहुत-सी सामग्री प्राप्त कर उपशम अथवा क्षेपक श्रेणी में उत्कृष्ट ध्यान को प्राप्त होता है । भावार्थ-उत्कृष्ट ध्यान शुक्लध्यान कहलाता है और वह उपशम अथवा क्षेपकश्रेणी में ही होता है ॥१०३॥
श्रुतज्ञान के द्वारा तत्त्वों को जानने वाला मुनि पहले वज्रवृषभनाराचसंहनन से सहित होने पर ही क्षेपकश्रेणी पर चढ़ सकता है तथा दूसरी उपशम श्रेणी को पहले के तीन संहननों (वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच और नाराच) वाला मुनि भी प्राप्त कर सकता है ॥१०४॥
अध्यात्म को जानने वाला मुनि बाह्य पदार्थों के समूह से अपनी दृष्टि को कुछ हटाकर और अपनी स्मृति को अपने-आपमें ही लगाकर ध्यान करे ॥१०५॥

प्रथम तो स्पर्शन आदि इन्द्रियों को उनके स्पर्श आदि विषयों से हटावे और फिर मन को मन के विषय से हटाकर स्थिर बुद्धि को ध्यान करने योग्य पदार्थ में धारण करे-लगावे ॥१०६॥

जो पुरुषार्थ का उपयोगी है ऐसा अध्यात्मतत्त्व ध्यान करने योग्य है । मोक्ष प्राप्त होना ही पुरुषार्थ कहलाता है और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र उसके साधन कहलाते हैं । ये सब भी ध्यान करने योग्य हैं ॥१०७॥

मैं अर्थात् जीव और मेरे अजीव आस्रव बन्ध संवर निर्जरा तथा कर्मों का क्षय होने रूप मोक्ष इस प्रकार ये सात तत्त्व ध्यान करने योग्य है अथवा इन्हीं सात तत्त्वों में पुण्य और पाप मिला देने पर नौ पदार्थ ध्यान करने योग्य हैं ॥१०८॥

क्योंकि छह नयों के द्वारा ग्रहण किये हुए जीव आदि छह द्रव्यों और उनकी पर्यायों के यथार्थ स्वरूप का बार-बार चिन्तन करना ही ध्यान कहलाता है, इसलिए छह द्रव्यों का समस्त विस्तार भी ध्यान करने योग्य है ॥१०९॥

नय, प्रमाण, जीव, अजीव आदि पदार्थ और सप्तभंगी रूप न्याय से देदीप्यमान होने वाली तथा जिनेन्द्रदेव के मुख से प्रकट हुई सिद्धान्त शास्त्रों की परिपाटी भी ध्यान करने योग्य है अर्थात् जैन शास्त्रों में कहे गये समस्त पदार्थ ध्यान करने के योग्य हैं ॥११०॥

शब्द, अर्थ और ज्ञान इस प्रकार तीन प्रकार का ध्येय कहलाता है । इस तीन प्रकार के ध्येय में ही जगत् के समस्त पदार्थ ध्येयकोटि को प्राप्त हो जाते हैं । भावार्थ-जगत् के समस्त पदार्थ शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों भेदों में विभक्त हैं इसलिए शब्द, अर्थ और ज्ञान के ध्येय (ध्यान करने योग्य) होने पर जगत् के समस्त पदार्थ ध्येय हो जाते हैं ॥१११॥

अथवा पुरुषार्थ की परम काष्ठा को प्राप्त हुए, कर्मरूपी शत्रुओं को जीतने वाले, कृतकृत्य और रागादि कर्ममल से रहित सिद्ध परमेष्ठी ध्यान करने योग्य हैं ॥११२॥

क्योंकि वे सिद्ध परमेष्ठी कर्मरूपी मल के दूर हो जाने से अविनाशी विशुद्धि को प्राप्त हुए हैं और रोगादि क्लेशों से रहित हैं इसलिए ध्यान

करने वाले पुरुषों को अपने भावों की शुद्धि के लिए उनका अवश्य ही ध्यान करना चाहिए ॥११३॥

वे सिद्ध भगवान् कर्मों के क्षय से होने वाले अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य आदि गुणों से सहित हैं और उनके यथार्थस्वरूप को केवल योगी लोग ही जान सकते हैं । यद्यपि वे सूक्ष्म हैं तथापि उनके लक्षण प्रकट हैं ॥११४॥

यद्यपि वे भगवान् अमूर्त और अशरीर हैं तथापि योगी लोगों के ध्यान के विषय हैं अर्थात् योगी लोग उनका ध्यान करते हैं । उनका आकार अन्तिम शरीर से कुछ कम केवल जीव प्रदेशरूप है ॥११५॥

मोक्ष की इच्छा करने वाले भव्य जीवों को उन्हीं से मोक्ष की प्राप्ति होती है । वे स्वयं कल्याण रूप हैं, कल्याण करने वाले हैं सबका हित करने वाले हैं, सर्वदर्शी हैं और सब पदार्थों को जानने वाले अर्थात् सर्वज्ञ हैं ॥११६॥

वे भगवान् साकार होकर भी निराकार हैं और निराकार होकर भी साकार हैं । यद्यपि उन्होंने जगत् के समस्त पदार्थों को अपने अधीन कर लिया है अर्थात् वे जगत् के समस्त पदार्थों को जानते हैं परन्तु उन्हें ज्ञानरूप नेत्रों के धारण करने वाले ही जान सकते हैं । भावार्थ-वे सिद्ध भगवान् कुछ कम अन्तिम शरीर के आकार होते हैं इसलिए साकार कहलाते हैं परन्तु उनका वह आकार इन्द्रियज्ञानगम्य नहीं है इसलिए निराकार भी कहलाते हैं । शरीररहित होने के कारण स्थूलदृष्टि पुरुष उन्हें यद्यपि देख नहीं पाते हैं इसलिए वे निराकार हैं, परन्तु प्रत्यक्ष ज्ञानी जीव कुछ कम अन्तिम शरीर के आकार परिणत हुए उनके असंख्य जीव प्रदेशों को स्पष्ट जानते हैं इसलिए साकार भी कहलाते हैं । यद्यपि वे संसार के सब पदार्थों को जानते हैं परन्तु उन्हें संसार के सभी लोग नहीं जान सकते, वे मात्र ज्ञानरूप नेत्र के द्वारा ही जाने जा सकते हैं ॥११७॥

रत्नमय दर्पण में पड़े हुए प्रतिबिम्ब के समान उनका आकार अतिशय स्पष्ट है । यद्यपि वे अमूर्तिक हैं तथापि चैतन्यरूप घनाकार को धारण करने वाले हैं और सदा स्थिर हैं ॥११८॥

यद्यपि वे भगवान् स्वयं वीतराग हैं तथापि ध्यान किये जाने पर भव्य जीवों के संसार को अवश्य नष्ट कर देते हैं । कर्मों के बन्धन को छिन्न-भिन्न करने वाले उन सिद्ध भगवान् का वह उस प्रकार का एक स्वाभाविक गुण ही समझना चाहिए ॥११९॥

अथवा घातिया कर्मों के नष्ट हो जाने से जो स्नातक अवस्था को प्राप्त हुए हैं और जो तेजोमय परमौदारिक शरीर को धारण किये हुए हैं ऐसे केवलज्ञानी अर्हन्त जिनेन्द्र भी ध्यान करने योग्य हैं ॥१२०॥

राग आदि अविद्याओं को जीत लेने से जो जिन कहलाते हैं, घातिया कर्मों के नष्ट होने से जो अर्हन्त (अरिहन्त) कहलाते हैं, शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति होने से जो सिद्ध कहलाते हैं और त्रैलोक्य के समस्त पदार्थों को जानने से जो बुद्ध कहलाते हैं, जो तीनों कालों में होने वाली अनन्त पर्यायों से सहित समस्त पदार्थों को देखते हैं इसलिए विश्वदर्शी (सबको देखने वाले) कहलाते हैं और जो अपने ज्ञानरूप चैतन्य गुण से संसार के सब पदार्थों को जानते हैं इसलिए विश्वज्ञ (सर्वज्ञ) कहलाते हैं । जो केवलज्ञानी हैं, केवलज्ञान ही जिनका विशाल और निर्मल नेत्र है, तथा घातिया कर्मों के क्षय होने से जिनके अनन्तचतुष्टय प्रकट हुआ है, जो बारह प्रकार के जीवों के समूह से भरी हुई सभाभूमि (समवसरण) में विराजमान हैं, अष्ट प्रातिहार्यों के द्वारा जिनकी तीनों जगत् की प्रभुता प्रकट हो रही है, जो सर्वसामर्थ्यवान् हैं, जो यद्यपि निश्चित आकार वाले हैं तथापि अपने चैतन्यरूप गुणों के द्वारा प्रतिबिम्बित हुए समस्त पदार्थों के प्रतिबिम्ब रूप होने से विश्वरूप हैं अर्थात् संसार के सभी पदार्थों के आकार धारण करने वाले हैं, जो समस्त पदार्थों में व्याप्त होने वाले केवलज्ञान के सम्बन्ध से विश्वव्यापी कहलाते हैं, समवसरण भूमि में चारों ओर मुख दिखने के कारण जो विश्वास्य (विश्वतोमुख) कहलाते हैं, संसार के सब पदार्थों को देखने के कारण जो विश्वतश्चक्षु (सब ओर हैं नेत्र जिनके ऐसे) कहलाते हैं, तथा सर्वश्रेष्ठ होने के कारण जो समस्त लोक के शिखामणि कहलाते हैं, जो संसाररूपी समुद्र से शीघ्र ही पार होने वाले हैं, जो सुखमय हैं, जिनके समस्त क्लेश नष्ट हो गये हैं और जिनके संसाररूपी बन्धन कट चुके हैं, जो निर्भय हैं, निःस्पृह हैं, बाधारहित हैं, आकुलतारहित हैं, अपेक्षारहित हैं, नीरोग हैं, नित्य हैं, और कर्मरूपी कालिमा से रहित हैं; क्षायिक, ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, सम्यक्त्व और चारित्र इन नौ केवललब्धि आदि अनेक गुणों से जिनका शरीर अतिशय उत्कृष्ट है, जिनका कोई भेदन नहीं कर सकता और जो वज्र की शिला में उकेरे हुए अथवा वज्र की शिलाओं से व्याप्त हुए पर्वत के समान निश्चल हैं-स्थिर हैं इस प्रकार जो ऊपर कहे हुए लक्षणों से सहित हैं, परमात्मा हैं, परम पुरुषरूप हैं, परमेष्ठी हैं, परम तत्त्वस्वरूप हैं, परमज्योति (केवलज्ञान) रूप हैं और अविनाशी हैं ऐसे अर्हन्तदेव ध्यान करने योग्य हैं ॥१२१-१३०॥

अभी तक जिन ध्यान करने योग्य पदार्थों का वर्णन किया गया है वे सब धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान इन दोनों ही ध्यानों के साधारण ध्येय

हैं अर्थात् ऊपर कहे हुए पदार्थों का दोनों ही ध्यान में चिन्तन किया जा सकता है। इन दोनों ध्यान में विशुद्धि और स्वामी के भेद से ही परस्पर में विशेषता समझनी चाहिए। भावार्थ-धर्मध्यान की अपेक्षा शुक्लध्यान में विशुद्धि के अंश बहुत अधिक होते हैं, धर्म ध्यान चौथे गुणस्थान से लेकर श्रेणी चढ़ने के पहले-पहले तक ही रहता है और शुक्लध्यान श्रेणियों में ही होता है। इन्हीं सब बातों से उक्त दोनों ध्यान में विशेषता रहती है ॥१३१॥

जो किसी एक ही वस्तु में परिणामों की स्थिर और प्रशंसनीय एकाग्रता होती है उसे ही ध्यान कहते हैं, ऐसा ध्यान ही मुक्ति का कारण होता है। वह ध्यान धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान के भेद से दो प्रकार का होता है ॥१३२॥

उन दोनों में से जो ध्यान धर्म से सहित होता है वह धर्मध्यान कहलाता है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों सहित जो वस्तु का यथार्थ स्वरूप है वही धर्म कहलाता है। भावार्थ-वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं और जिस ध्यान में वस्तु के स्वभाव का चिन्तन किया जाता है उसे धर्मध्यान कहते हैं ॥१३३॥

आगम की परम्परा को जानने वाले ऋषियों ने उस धर्मध्यान के आज्ञाविचय, अपायविचय, संस्थानविचय और विपाकविचय इस प्रकार चार भेद माने हैं ॥१३४॥

उनमें से अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ को विषय करने वाला जो आगम है उसे आज्ञा कहते हैं क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान के विषय से रहित केवल श्रद्धान करने योग्य पदार्थ में एक आगम की ही गति होती है। भावार्थ-संसार में कितने ही पदार्थ ऐसे हैं जो न तो प्रत्यक्ष से जाने जा सकते हैं और न अनुमान से ही। ऐसे सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थों का ज्ञान सिर्फ आगम के द्वारा ही होता है अर्थात् आप्त प्रणीत आगम में ऐसा लिखा है इसलिए ही वे माने जाते हैं ॥१३५॥

श्रुति, सूनुत, आज्ञा, आप्त वचन, वेदांग, आगम और आमनाय इन पर्यायवाचक शब्दों से बुद्धिमान् पुरुष उस आगम को जानते हैं ॥१३६॥ जो आदि और अन्त से रहित है, सूक्ष्म है, यथार्थ अर्थ को प्रकाशित करने वाला है, जो मोक्षरूप पुरुषार्थ का उपदेशक होने के कारण संसार के समस्त जीवों का हित करने वाली युक्तियों से प्रबल है, जो किसी के द्वारा जीता नहीं जा सकता, जो अपरिमित है, परवादी लोग जिसके माहात्म्य को छू भी नहीं सकते हैं, जो अत्यन्त प्रभावशाली है, जीव अजीव आदि पदार्थों से भरा हुआ है, जिसका शासन अतिशय गंभीर है, जो परम उत्कृष्ट है, सूक्ष्म है और आप्त के द्वारा कहा हुआ है ऐसे प्रवचन अर्थात् आगम को सत्यार्थ रूप मानता हुआ मुनि आगम में कहे हुए पदार्थों का ध्यान करे ॥१३७-१३९॥

योग के जानने वालों में श्रेष्ठ योगी जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा को प्रमाण मानता हुआ धर्मास्तिकाय आदि सूक्ष्म पदार्थों का आगम में कहे अनुसार ध्यान करे ॥१४०॥

इस प्रकार के ध्यान करने को आज्ञाविचय नाम का धर्मध्यान कहते हैं। अब आगे अपायविचय नाम के धर्मध्यान का वर्णन किया जाता है। तीन प्रकार के संताप आदि से भरे हुए संसाररूपी समुद्र में जो प्राणी पड़े हुए हैं उनके अपाय का चिन्तन करना सो अपायविचय नाम का धर्मध्यान है। भावार्थ-यह संसाररूपी समुद्र मानसिक, वाचनिक, कायिक अथवा जन्म जरा मरण से होने वाले, तीन प्रकार के सन्तापों से भरा हुआ है। इसमें पड़े हुए जीव निरन्तर दुःख भोगते रहते हैं। उनके दुःख का बार-बार चिन्तन करना सो अपायविचय नाम का धर्मध्यान है ॥१४१॥

अथवा उन अपायों (दुःखों) के दूर करने की चिन्ता से उन्हें दूर करने वाले अनेक उपायों का चिन्तन करना भी अपायविचय कहलाता है। बारह अनुप्रेक्षा तथा दश धर्म आदि का चिन्तन करना इसी अपायविचय नाम के धर्मध्यान में शामिल समझना चाहिए ॥१४२॥

शुभ और अशुभ भेदों में विभक्त हुए कर्मों के उदय से संसाररूपी आवर्त की विचित्रता का चिन्तन करने वाले मुनि के जो ध्यान होता है उसे आगम के जानने वाले गणधरादि देव विपाकविचय नाम का धर्मध्यान मानते हैं। जैन शास्त्रों में कर्मों का उदय दो प्रकार का माना गया है। जिस प्रकार किसी वृक्ष के फल एक तो समय पाकर अपने आप पक जाते हैं और दूसरे किन्हीं कृत्रिम उपायों से पकाये जाते हैं उसी प्रकार कर्म भी अपने शुभ अथवा अशुभ फल देते हैं अर्थात् एक तो स्थिति पूर्ण होने पर स्वयं फल देते हैं और दूसरे तपश्चरण आदि के द्वारा स्थिति पूर्ण होने से पहले ही अपना फल देने लगते हैं ॥१४३-१४५॥ मूल और उत्तर प्रकृतियों के बन्ध तथा सत्ता आदि का आश्रय लेकर द्रव्य क्षेत्र काल भाव के निमित्त से कर्मों का उदय अनेक प्रकार का होता है ॥१४६॥

क्योंकि कर्मों के विपाक (उदय) को जानने वाला मुनि उन्हें नष्ट करने के लिए प्रयत्न करता है इसलिए मोक्षाभिलाषी मुनियों को मोक्ष के

उपायभूत इस विपाकविचय नाम के धर्म्यध्यान का अवश्य ही चिन्तन करना चाहिए ॥१४७॥

लोक के आकार का बार-बार चिन्तन करना तथा लोक के अन्तर्गत रहने वाले जीव अजीव आदि तत्त्वों का विचार करना सो संस्थानविचय नाम का धर्म्यध्यान है ॥१४८॥

संस्थानविचय धर्म्यध्यान को प्राप्त हुआ मुनि तीनों लोकों की रचना के साथ-साथ द्वीप, समुद्र, पर्वत, नदी, सरोवर, विमानवासी, भवनवासी तथा व्यन्तरो के रहने के स्थान और नरकों की भूमियाँ आदि पदार्थों का भी शास्त्रानुसार चिन्तन करे ॥१४९-१५०॥

इसके सिवाय उस लोक में रहने वाले संसारी और मुक्त ऐसे दो प्रकार वाले जीवों के भेदों का जानना, कर्तापना, भोक्तापना और दर्शन आदि जीवों के गुणों का भी ध्यान करे ॥१५१॥

अध्यात्म को जानने वाला मुनि इस संसाररूपी समुद्र का भी ध्यान करे जो कि जीवों के स्वयं किये हुए कर्मों के माहात्म्य से उत्पन्न हुआ है, अत्यन्त दुस्तर है, व्यसनरूपी भँवरों से भरा हुआ है, दोषरूपी जल-जन्तुओं से व्याप्त है, सम्यग्ज्ञानरूपी नाव से तैरने के योग्य है, परिग्रही साधु जिसे कभी नहीं तैर सकते, जिसका पार नहीं है और जो अतिशय गम्भीर है ॥१५२-१५३॥

अथवा इस विषय में अधिक कहने से क्या लाभ है नयों के सैकड़ों भंगों से भरा हुआ जो कुछ आगम का विस्तार है वह सब अन्तरात्मा की शुद्धि के लिए ध्यान करने योग्य है ॥१५४॥

यह धर्मध्यान अप्रमत्त अवस्था का आलम्बन कर अन्तर्मुहूर्त तक स्थित रहता है और प्रमादरहित (सप्तमगुणस्थानवर्ती) जीवों में ही अतिशय उत्कृष्टता को प्राप्त होता है ॥१५५॥

इसके सिवाय अतिशय शुद्धि को धारण करने वाला और पीत, पद्म तथा शुक्ल ऐसी तीन शुभ लेश्याओं के बल से वृद्धि को प्राप्त हुआ यह धर्म्यध्यान शास्त्रानुसार सम्यग्दर्शन से सहित चौथे गुणस्थान में तथा शेष के पाँचवें और छठे गुणस्थान में भी होता है। भावार्थ-इन गुणस्थानों में धर्म्यध्यान हीनाधिक भाव से रहता है। धर्म्यध्यान धारण करने के लिए कम-से-कम सम्यग्दृष्टि अवश्य होना चाहिए क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना पदार्थों के यथार्थस्वरूप का श्रद्धान और निर्णय नहीं होता। मन्दकषायी मिथ्यादृष्टि जीवों के जो ध्यान होता है उसे शुभ भावना कहते हैं ॥१५६॥

यह धर्म्यध्यान क्षायोपशमिक भावों को स्वाधीन कर बढ़ता है। इसका फल भी बहुत उत्तम होता है और अतिशय बुद्धिमान् महर्षि लोग भी इसे धारण करते हैं ॥१५७॥

वस्तुओं के धर्म का अनुयायी होने के कारण जिसे धर्म्यध्यान ऐसा सार्थक नाम प्राप्त हुआ है और जिसमें ध्यान करने योग्य पदार्थों का ऊपर विस्तार से वर्णन किया जा चुका है ऐसे इस धर्म्यध्यान का बार-बार चिन्तन करना चाहिए ॥१५८॥

प्रसन्नचित्त रहना, धर्म से प्रेम करना, शुभ योग रखना, उत्तम शास्त्रों का अभ्यास करना, चित्त स्थिर रखना और आज्ञा (शास्त्र का कथन) तथा स्वकीय ज्ञान से एक प्रकार की विशेष रुचि (प्रीति अथवा श्रद्धा) उत्पन्न होना ये धर्म्यध्यान के बाह्य चिह्न हैं और अनुप्रेक्षाएँ तथा पहले कही हुई अनेक प्रकार की शुभ भावनाएँ उसके अन्तरङ्ग चिह्न हैं ॥१५९-१६०॥

पहले कहा हुआ अङ्गों का सन्निवेश होना अर्थात् पहले जिन पर्यङ्क आदि आसनों का वर्णन कर चुके हैं उन आसनों को धारण करना, मुख की प्रसन्नता होना और दृष्टि का सौम्य होना आदि सब भी धर्म्यध्यान के बाह्यचिह्न समझना चाहिए ॥१६१॥

अशुभ कर्मों की अधिक निर्जरा होना और शुभ कर्मों के उदय से उत्पन्न हुआ इन्द्र आदि का सुख प्राप्त होना यह सब इस उत्तम धर्म्यध्यान का फल है ॥१६२॥

अथवा स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होना इस धर्म्यध्यान का फल कहा जाता है। इस धर्म्यध्यान से स्वर्ग की प्राप्ति तो साक्षात् होती है परन्तु परम पद अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति परम्परा से होती है ॥१६३॥

ध्यान छूट जाने पर भी बुद्धिमान् मुनि को चाहिए कि वह संसार का अभाव करने के लिए अनुप्रेक्षाओं सहित शुभ फल देने वाली उत्तम-उत्तम भावनाओं का चिन्तन करे ॥१६४॥

गौतम स्वामी राजा श्रेणिक से कहते हैं कि हे मगधाधीश, इस प्रकार जिसका लक्षण कहा जा चुका है ऐसे इस धर्म्यध्यान का तू निश्चय कर-उस पर विश्वास ला। अब आगे शुक्लध्यान का निरूपण करूंगा जो कि जीवों के मोक्ष प्राप्त होने का साक्षात् कारण है ॥१६५॥

कषायरूपी मल के नष्ट होने से जो शुक्ल ऐसे नाम को प्राप्त हुआ है ऐसे इस शुक्लध्यान का अवान्तर भेदों से सहित वर्णन करता हूँ सो तू

उसे मुझसे अच्छी तरह समझ ले ॥१६६॥

वह शुक्ल ध्यान शुक्ल और परम शुक्ल के भेद से आगम में दो प्रकार का कहा गया है, उनमें से पहला शुक्लध्यान तो छद्मस्थ मुनियों के होता है और दूसरा परम शुक्लध्यान केवली भगवान् (अरहन्तदेव) के होता है ॥१६७॥

पहले शुक्लध्यान के दो भेद हैं, एक पृथक्त्ववितर्कवीचार और दूसरा एकत्ववितर्कवीचार ॥१६८॥

इस प्रकार पहले शुक्लध्यान के जो ये दो भेद हैं, वे सार्थक नाम वाले हैं। इनका **अर्थ** स्पष्ट करने के लिए दोनों नामों की निरुक्ति (व्युत्पत्ति-शब्दार्थ) इस प्रकार समझना चाहिए ॥१६९॥

जिस ध्यान में वितर्क **अर्थ**ात् शास्त्र के पदों का पृथक्-पृथक् रूप से वीचार अर्थात् संक्रमण होता रहे उसे पृथक्त्ववितर्कवीचार नाम का शुक्लध्यान कहते हैं। भावार्थ-जिसमें अर्थ व्यंजन और योगों का पृथक्-पृथक्, संक्रमण होता रहे अर्थात् अर्थ को छोड़कर व्यंजन (शब्द) का और व्यंजन को छोड़कर अर्थ का चिन्तन होने लगे अथवा इसी प्रकार मन, वचन और काय इन तीनों योगों का परिवर्तन होता रहे उसे पृथक्त्ववितर्कवीचार कहते हैं ॥१७०॥

जिस ध्यान में वितर्क के एकरूप होने के कारण वीचार नहीं होता **अर्थ**ात् जिसमें अर्थ व्यंजन और योगों का संक्रमण नहीं होता उसे एकत्ववितर्कवीचार नाम का शुक्लध्यान कहते हैं ॥१७१॥

अनेक प्रकारता को पृथक्त्व समझो, श्रुत **अर्थ**ात् शास्त्र को वितर्क कहते हैं और अर्थ व्यंजन तथा योगों का संक्रमण (परिवर्तन) वीचार माना गया है ॥१७२॥

इन्द्रियों को वश करने वाला मुनि, एक **अर्थ** से दूसरे अर्थ को, एक शब्द से दूसरे शब्द को और एक योग से दूसरे योग को प्राप्त होता हुआ इस पहले पृथक्त्ववितर्कवीचार नाम के शुक्लध्यान का चिन्तन करता है ॥१७३॥

क्योंकि मन, वचन, काय इन तीनों योगों को धारण करने वाले और चौदह पूर्वों के जानने वाले मुनिराज ही इस पहले शुक्लध्यान का चिन्तन करते हैं इसलिए ही यह पहला शुक्लध्यान सवितर्क और सवीचार कहा जाता है ॥१७४॥

श्रुतस्कन्धरूपी समुद्र के शब्द और **अर्थों** का जितना विस्तार है वह सब इस प्रथम शुक्लध्यान का ध्येय अर्थात् ध्यान करने योग्य विषय है और मोहनीय कर्म का क्षय अथवा उपशम होना इसका फल है। भावार्थ-यह शुक्लध्यान उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी दोनों प्रकार की श्रेणियों से होता है। उपशमश्रेणी वाला मुनि इस ध्यान के प्रभाव से मोहनीय कर्म का उपशम करता है और क्षपक श्रेणी में आरूढ़ हुआ मुनि इस ध्यान के प्रताप से मोहनीय कर्म का क्षय करता है इसलिए सामान्य रूप से उपशम और क्षय दोनों ही इस ध्यान के फल कहे गये हैं ॥१७५॥

यहाँ ऐसा तात्पर्य समझना चाहिए कि ध्यान करने वाला मुनि श्रुतस्कन्धरूपी महासमुद्र से कोई एक पदार्थ लेकर उसका ध्यान करता हुआ किसी दूसरे पदार्थ को प्राप्त हो जाता है **अर्थ**ात् पहले ग्रहण किये हुए पदार्थ को छोड़कर दूसरे पदार्थ का ध्यान करने लगता है। एक शब्द से दूसरे शब्द को प्राप्त हो जाता है और इसी प्रकार एक योग से दूसरे योग को प्राप्त हो जाता है इसीलिए इस ध्यान को सवीचार और सवितर्क कहते हैं ॥१७६-१७७॥

जो शब्द और **अर्थ**रूपी रत्नों से भरा हुआ है, जिसमें अनेक नयभंगरूपी तरंगें उठ रही हैं, जो विस्तृत ध्यान से गम्भीर है, जो पद और वाक्यरूपी अगाध जल से सहित है, जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के द्वारा उद्वेल (ज्वार-भाटा से सहित) हो रहा है, स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति आदि सात भंग ही जिसके विशाल शब्द (गर्जना) हैं, जो पूर्वपक्ष करने के लिए आये हुए अनेक परमतरूपी जलजन्तुओं से भरा हुआ है, बड़ी-बड़ी सिद्धियों के धारण करने वाले गणधरदेवरूपी मुख्य व्यापारियों ने चारित्ररूपी पताकाओं से सुशोभित सम्यग्ज्ञानरूपी जहाजों के द्वारा जिसमें अवतरण किया है, जो नय और उपनयों के वर्णनरूप महावायु से क्षोभित हो रहा है और जो रत्नत्रयरूपी अनेक प्रकार के द्वीपों से भरा हुआ है, ऐसे श्रुतस्कन्धरूपी महासागर में अवगाहन कर महामुनि पृथक्त्ववितर्कवीचार नाम के पहले शुक्लध्यान का चिन्तन करें। भावार्थ-ग्यारह अंग और चौदह पूर्व के जानने वाले मुनिराज ही प्रथम शुक्लध्यान को धारण कर सकते हैं ॥१७८-१८२॥

यह ध्यान प्रशान्तमोह **अर्थ**ात् ग्यारहवें गुणस्थान, क्षीणमोह अर्थात् बारहवें गुणस्थान और उपशमक तथा क्षपक इन दोनों प्रकार की श्रेणियों के शेष आठवें, नौवें तथा दसवें गुणस्थान में भी हीनाधिक रूप से होता है ऐसा बुद्धिमान् महर्षि लोग मानते हैं ॥१८३॥

दूसरा एकत्ववितर्क नाम का शुक्लध्यान भी पहले शुक्लध्यान के समान ही जानना चाहिए किन्तु विशेषता इतनी है कि जिसका मोहनीय

कर्म नष्ट हो गया हो, जो पूर्वी का जानने वाला हो, जिसका आत्मतेज अपरिमित हो और जो तीन योगों में से किसी एक योग का धारण करने वाला हो ऐसे महामुनि को ही यह दूसरा शुक्लध्यान होता है ॥१८४॥

जिसकी कषाय नष्ट हो चुकी है और जो घातिया कर्मों को नष्ट कर रहा है ऐसा मुनि सवितर्क **अर्थात्** श्रुतज्ञानसहित और अवीचार अर्थात् अर्थ व्यंजन तथा योगों के संक्रमण से रहित दूसरे एकत्ववितर्क नाम के बलिष्ठ शुक्लध्यान का चिन्तन करता है ॥१८५॥

ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातिया कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने वाला तथा समस्त पदार्थों को जानने वाला अविनाशीक ज्योतिस्वरूप केवलज्ञान का उत्पन्न होना ही इस शुक्लध्यान का फल है ॥१८६॥

इस प्रकार ऊपर कहे अनुसार फल को देने वाले पहले के दोनों शुक्लध्यान ग्यारह अंग तथा चौदह पूर्व के जानने वाले और तीन तथा तीन में से किसी एक योग का अवलम्बन करने वाले मुनियों के दोनों प्रकार की श्रेणियों में यथायोग्य रूप से होते हैं । भावार्थ-पहला शुक्लध्यान उपशम अथवा क्षपक दोनों ही श्रेणियों में होता है परन्तु दूसरा शुक्लध्यान क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान में ही होता है । पहला शुक्लध्यान तीनों योगों को धारण करने वाले के होता है परन्तु दूसरा शुक्लध्यान एक योग को धारण करने वाले के ही होता है, भले ही वह एक योग तीन योगों में से कोई भी हो ॥१८७॥

घातिया कर्मों के नष्ट होने से जो उत्कृष्ट केवलज्ञान को प्राप्त हुआ है ऐसा स्नातक मुनि ही दोनों प्रकार के परम शुक्लध्यानों का स्वामी होता है । भावार्थ-परम शुक्लध्यान केवली भगवान् के ही होता है ॥१८८॥

वे केवलज्ञानी जिनेन्द्रदेव जब योगों का निरोध करने के लिए तत्पर होते हैं तब वे उसके पहले स्वभाव से ही समुद्घात की विधि प्रकट करते हैं ॥१८९॥

पहले समय में उनके आत्मा के प्रदेश चौदह राजू ऊँचे दण्ड के आकार होते हैं दूसरे समय में किवाड़ के आकार होते हैं, तीसरे समय में प्रतर रूप होते हैं और चौथे समय में समस्त लोक में भर जाते हैं । इस प्रकार वे चार समय में समस्त लोकाकाश को व्याप्त कर स्थित होते हैं ॥१९०॥

उस समय समस्त लोक में व्याप्त हुए, सबका हित करने वाले और सब पदार्थों को जानने वाले वे केवली जिनेन्द्र पूरक कहलाते हैं ।

उसके बाद वे रेचक अवस्था को प्राप्त होते हैं **अर्थात्** आत्मा के प्रदेशों का संकोच करते हैं और यह सब करते हुए वे अतिशय पूज्य गिने जाते हैं ॥१९१॥

वे सर्वज्ञ भगवान् समस्त लोक को पूर्ण कर उसके एक-एक समय बाद ही प्रतर अवस्था को और फिर क्रम से एक-एक समय बाद संकोच करते हुए कपाट तथा दण्ड अवस्था को प्राप्त होकर स्वशरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं ॥१९२॥

उस समय वे केवली भगवान् अघातिया कर्मों की स्थिति के असंख्यात भागों को नष्ट कर देते हैं और इसी प्रकार अशुभ कर्मों के अनुभाग **अर्थात्** फल देने की शक्ति के भी अनन्त भाग नष्ट कर देते हैं ॥१९३॥

तदनन्तर अन्तर्मुहूर्त में योगरूपी आस्रव का निरोध करते हुए काययोग के आश्रय से वचनयोग और मनोयोग को सूक्ष्म करते हैं और फिर काययोग को भी कम कर उसके आश्रय से होने वाले सूक्ष्म क्रियापाति नामक तीसरे शुक्लध्यान का चिन्तन करते हैं ॥१९४-१९५॥

तदनन्तर जिनके समस्त योगों का बिल्कुल ही निरोध हो गया है ऐसे वे योगिराज हर प्रकार के आस्रवों से रहित होकर समुच्छिन्नक्रियानिवर्ति नाम के चौथे शुक्लध्यान को प्राप्त होते हैं ॥१९६॥

जिनेन्द्र भगवान् उस अतिशय निर्मल चौथे शुक्लध्यान को अन्तर्मुहूर्त तक धारण करते हैं और फिर समस्त कर्मों के अंशों को नष्ट कर निर्वाण अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं ॥१९७॥

इन अयोगी परमेष्ठी के चौदहवें गुणस्थान के उपान्त्य समय में बहत्तर और अन्तिम समय में तेरह कर्मप्रकृतियों का नाश होता है ॥१९८॥

वे जिनेन्द्रदेव चौदहवें गुणस्थान के अनन्तर लेपरहित, शरीररहित, शुद्ध, अव्याबाध, रोगरहित, सूक्ष्म, अव्यक्त, व्यक्त और मुक्त होते हुए लोक के अन्तभाग में निवास करते हैं ॥१९९॥

कर्मरूपी रज से रहित होने के कारण जिनकी आत्मा अतिशय शुद्ध हो गयी है ऐसे वे सिद्ध भगवान् ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने के कारण एक समय में ही लोक के अन्तभाग को प्राप्त हो जाते हैं और वहाँ पर चूड़ामणि रत्न के समान सुशोभित होने लगते हैं ॥२००॥

जो हर प्रकार के कर्मों से रहित हैं, जिन्होंने संसार सम्बन्धी सुख और दुःख नष्ट कर दिये हैं, जिनके आत्मप्रदेशों का आकार अन्तिम शरीर

के तुल्य है और परिमाण अन्तिम शरीर से कुछ कम है, जो अमूर्तिक होने पर भी अन्तिम शरीर का आकार होने के कारण उपचार से साँचे के भीतर रुके हुए आकाश की उपमा को प्राप्त हो रहे हैं, जो शरीर और मनसम्बन्धी समस्त दुःखरूपी बन्धनों से रहित हैं, द्वन्द्वरहित हैं, क्रियारहित हैं, शुद्ध हैं, सम्यक्त्व आदि आठ गुणों से सहित हैं, जिनके आत्मप्रदेशों का समुदाय भेदन करने योग्य नहीं है, जो लोक के शिखर पर मुख्य शिरोमणि के समान सुशोभित हैं, जो ज्योतिस्वरूप हैं, और जिन्होंने अपने शुद्ध आत्मतत्त्व को प्राप्त कर लिया है ऐसे वे सिद्ध भगवान् अनन्त काल तक सुखी रहते हैं ॥२०१-२०५॥

कृतार्थ, निष्ठित, सिद्ध, कृतकृत्य, निरामय, सूक्ष्म और निरञ्जन ये सब मुक्ति को प्राप्त होने वाले जीवों के पर्यायवाचक शब्द हैं ॥२०६॥ उन सिद्धों के समस्त दुःखों के क्षय से होने वाला अतीन्द्रिय सुख होता है और यथार्थ में केवली भगवान् उस अतीन्द्रिय सुख को ही उत्कृष्ट सुख बतलाते हैं ॥२०७॥

क्षुधा आदि वेदनाओं का अभाव होने से उनके विषयों की इच्छा नहीं होती सो ठीक ही है क्योंकि ऐसा कौन बुद्धिमान पुरुष होगा जो स्वस्थ होने पर भी औषधियों का सेवन करता हो ॥२०८॥

जो सुख पर-पदार्थों के सम्बन्ध से होता है वह सुख नहीं है, किन्तु जो शुद्ध आत्मा से उत्पन्न होता है, नित्य है, अविनाशी है और क्षयरहित है वही वास्तव में उत्तम सुख है ॥२०९॥

यदि स्वास्थ्य (समस्त इच्छा का अपनी आत्मा में ही समावेश रहना-इच्छा जन्य आकुलता का अभाव होना) ही सुख कहलाता है तो वह अनन्त सुख सिद्ध भगवान् के रहता ही है और यदि स्वास्थ्य के सिवाय किसी अन्य वस्तु का नाम सुख है तो वह सुख लोक के भीतर कुछ भी नहीं है। भावार्थ-विषयों की इच्छा अर्थात् आकुलता का न होना ही सुख कहलाता है सो ऐसा सुख सिद्ध परमेश्वर के सदा विद्यमान रहता है। इसके सिवाय यदि किसी अन्य वस्तु का नाम सुख माना जाये तो वह सुख नाम का पदार्थ लोक में किसी जगह भी नहीं है ऐसा समझना चाहिए ॥२१०॥

वे सिद्ध भगवान् समस्त क्लेशों से रहित हैं, मोहरहित हैं, उपद्रवरहित हैं और सूक्ष्म हैं इसलिए वे किसके द्वारा बाधित हो सकते हैं-उन्हें कौन बाधा पहुंचा सकता है अर्थात् कोई नहीं। इसीलिए उनका सुख अन्तरहित कहा जाता है ॥२११॥

ऋषियों में श्रेष्ठ गणधरादि देव इस अनन्त सुख को ही ध्यान का फल कहते हैं और उसी सुख के लिए ही मुनि लोग दिगम्बर होकर तपश्चरण करते हैं ॥२१२॥

जिस प्रकार वायु से टकराये हुए मेघ शीघ्र ही विलीन हो जाते हैं उसी प्रकार ध्यानरूपी वायु से टकराये हुए कर्मरूपी मेघ शीघ्र ही विलीन हो जाते हैं-नष्ट हो जाते हैं। भावार्थ-उत्तम ध्यान से ही कर्मों का क्षय होता है ॥२१३॥

जिस प्रकार मन्त्र की शक्ति से समस्त शरीर में व्याप्त हुआ विष खींच लिया जाता है उसी प्रकार ध्यान की शक्ति से समस्त कर्मरूपी विष दूर हटा दिया जाता है ॥२१४॥

बाकी के ग्यारह तप एक ध्यान के ही परिकर-सहायक माने गये हैं इसलिए मोक्षाभिलाषी जीवों को निरन्तर ध्यान का अभ्यास करने में ही प्रयत्न करना चाहिए ॥२१५॥

इस प्रकार ध्यान की विधि सुनकर मगधेश्वर राजा श्रेणिक बहुत ही सन्तुष्ट हुए, और उस समय अज्ञानरूपी अन्धकार के नष्ट हो जाने से उनका मनरूपी कमल भी प्रफुल्लित हो उठा था ॥२१६॥

तदनन्तर भक्तिपूर्वक वन्दना करने वाले ऋषियों ने योगिराज गौतम गणधर से नीचे लिखे अनुसार और भी कुछ ध्यान के भेद पूछे ॥२१७॥ कि हे भगवन् हम लोगों ने आपसे योगशास्त्र का रहस्य अनेक बार सुना है, अब इस समय आप से अन्य प्रकार के ध्यानों का निराकरण जानना चाहते हैं ॥२१८॥

हे देव, जिस प्रकार सूर्य अन्धकार के समूह को नष्ट कर देता है उसी प्रकार आप भी इस ध्यानशास्त्र के विषय में जो कुछ भी विप्रतिपत्तियाँ (बाधाएँ) हैं उन सबको नष्ट कर दीजिए ॥२१९॥

हे स्वामिन् अनेक ऋद्धियों प्राप्त होने से आप ऋषि कहलाते हैं, आप अनेक पदार्थों को प्रत्यक्ष जाननेवाले मुनि हैं, परिग्रहरहित होने के कारण आप अनगार कहलाते हैं और दोनों श्रेणियों के सम्मुख हैं इसलिए यति कहलाते हैं ॥२२०॥

इसलिए भागवत आदि में कहे हुए योगों का पराभव (निराकरण) करने के लिए युक्ति और शास्त्र के अनुसार आपने जैसा सुना है वैसा ही

हम लोगों के लिए योग (ध्यान) के समस्त बीजों (कारणों अथवा बीजाक्षरों) का निरूपण कीजिए ॥२२१॥

इस प्रकार उन ऋषियों के ये वाक्य सुनकर भगवान् गौतम स्वामी कहने लगे कि आप लोगों ने जो योगशास्त्र का तत्त्व अथवा रहस्य पूछा है उसे मैं स्पष्ट रूप से कहूँगा ॥२२२॥

जो छह प्रकार से योगों का निरूपण करता है ऐसे योगवादी से विद्वान् पुरुषों को पूछना चाहिए कि योग क्या है समाधान क्या है ? प्राणायाम कैसा है ? धारणा क्या है ? आध्यान (चिन्तवन) क्या है ? ध्येय क्या है ? स्मृति कैसी है ? ध्यान का फल क्या है ? ध्यान के बीज क्या हैं ? और इसका प्रत्याहार कैसा है ? ॥२२३-२२४॥

योग के जानने वाले विद्वान् काय, वचन और मन की क्रिया को योग मानते हैं, वह योग शुभ और अशुभ के भेद से दो भेदों को प्राप्त होता है ॥२२५॥

उत्तम परिणामों में जो चित्त का स्थिर रखना है यही यथार्थ में समाधि या समाधान कहलाता है अथवा पंच परमेष्ठियों के स्मरण को भी समाधि कहते हैं ॥२२६॥

मन, वचन और काय इन तीनों योगों का निग्रह करना तथा शुभभावना रखना प्राणायाम कहलाता है और शास्त्रों में बतलाये हुए बीजाक्षरों का अवधारणा करना धारणा कहलाती है ॥२२७॥

अनित्यत्व आदि भावनाओं का बार-बार चिन्तवन करना आध्यान कहलाता है तथा मन और वचन के अगोचर जो अतिशय बलद शुद्ध आत्मतत्त्व है वह ध्येय कहलाता है ॥२२८॥

जीव आदि तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप का स्मरण करना स्मृति कहलाती है अथवा सिद्ध और अर्हन्त परमेष्ठी के गुणों का स्मरण करना भी स्मृति कहलाती है ॥२२९॥

ध्यान का फल ऊपर कहा जा चुका है, बीजाक्षर आगे कहे जायेंगे और मन की प्रवृत्ति का संकोच कर लेने पर जो मानसिक सन्तोष प्राप्त होता है उसे प्रत्याहार कहते हैं ॥२३०॥

जिसके आदि में अकार है अन्त में हकार है मध्य में रेफ है और अन्त में बिन्दु है ऐसे अर्ह इस उत्कृष्ट बीजाक्षर का ध्यान करता हुआ मुमुक्षु पुरुष कभी भी दुःखी नहीं होता ॥२३१॥

अथवा 'अर्हद्भ्यो नमः' अर्थात् 'अर्हन्तों के लिए नमस्कार हो' इस प्रकार छह अक्षर वाला जो बीजाक्षर है उसका ध्यान कर मोक्षाभिलाषी मुनि अनन्त गुणयुक्त अर्हन्त अवस्था को प्राप्त होता है ॥२३२॥

अथवा जप करने योग्य पदार्थों में से 'नमः सिद्धेभ्यः' अर्थात् 'सिद्धों के लिए नमस्कार हो' इस प्रकार सिद्धों के स्तवनस्वरूप पाँच अक्षरों का जो भव्य जीव जप करता है वह अपने इच्छित पदार्थों को प्राप्त होता है अर्थात् उसके सब मनोरथ पूर्ण होते हैं ॥२३३॥

अथवा 'नमोऽर्हत्परमेष्ठिने' अर्थात् 'अरहन्त परमेष्ठी के लिए नमस्कार हो' यह जो आठ अक्षर वाला परम बीजाक्षर है उसका चिन्तवन करके भी यह जीव फिर दुःखों को नहीं देखता है अर्थात् मुक्त हो जाता है ॥२३४॥

तथा 'अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः' अर्थात् 'अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु इन पाँचों परमेष्ठियों के लिए नमस्कार हो' इस प्रकार सब बीज पदों से सहित जो सोलह अक्षर वाला बीजाक्षर है उसका ध्यान करने वाला तत्त्वज्ञानी मुनि अवश्य ही मोक्ष को प्राप्त होता है ॥२३५॥

अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु इस प्रकार पंचब्रह्मस्वरूप मन्त्रों के द्वारा जो योगिराज शरीररहित परमतत्त्व परमात्मा को शरीरसहित कल्पना कर उसका बार-बार ध्यान करता है वही ब्रह्मतत्त्व को जानने वाला कहलाता है ॥२३६॥

ध्यान करने वाले योगी के चित्त के सन्तुष्ट होने से जो परम आनन्द होता है वही सबसे अधिक ऐश्वर्य है फिर योग से होने वाली अनेक ऋद्धियों का तो कहना ही क्या है । भावार्थ-ध्यान के प्रभाव से हृदय में जो अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है वही ध्यान का सबसे उत्कृष्ट फल है और अनेक ऋद्धियों की प्राप्ति होना गौण फल है ॥२३७॥

योग को जानने वाला मुनि अणिमा आदि गुणों से युक्त तथा उत्कृष्ट उदय से सुशोभित इन्द्र आदि के ऐश्वर्य का इसी संसार में उपभोग करता है और बाद में कर्मबन्धन से छूटकर निर्वाण स्थान को प्राप्त होता है ॥२३८॥

इन ऊपर कहे हुए बीजों को न जानकर जो नाम मात्र से ही मन्त्रवित् (मन्त्रों को जानने वाला) कहलाता है और झूठे अभिमान से दग्ध

होता है वह सदा कर्मरूपी बन्धनों से बँधता रहता है ॥२३९॥

अब यहाँ से अन्य मतावलम्बी लोगों के द्वारा माने गये योग का निराकरण करते हैं-योग का अभिमान करने वाले अर्थात् मिथ्या योग को भी यथार्थ योग मानने वालों के मत में जीव पदार्थ नित्य है ? अथवा अनित्य ? यदि नित्य है तो वह अविकार्य अर्थात् विकार (परिणमन) से रहित होगा और ऐसी अवस्था में उसके ध्येय के ध्यानरूप से परिणमन नहीं हो सकेगा । इसके सिवाय नित्य जीव के सुख-दुःख का अनुभव स्मरण और इच्छा आदि परिणमनों का होना भी असम्भव है इसलिए जब इस जीव के सर्वप्रथम ध्यान की इच्छा ही नहीं हो सकती तब तत्त्वों का चिन्तन तो दूर ही रहा । और तत्त्वचिन्तन के बिना ध्यान कैसे हो सकता है ? ध्यान के बिना फल की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? और उसके बिना बन्ध तथा मोक्ष के कारणभूत समस्त क्रियाकलाप भी निष्फल हो जाते हैं ॥२४०-२४२॥

यदि जीव को अनित्य माना जाये तो क्षण-क्षण में नवीन उत्पन्न होने वाली चित्तों की सन्तति में ध्यान की भावना ही नहीं हो सकेगी क्योंकि इस क्षणिक वृत्ति में अपने-द्वारा अनुभव किये हुए पदार्थों का स्मरण होना अशक्य है । भावार्थ-यदि जीव को सर्वथा अनित्य माना जाये तो ध्यान की भावना ही नहीं हो सकती क्योंकि ध्यान करने वाला जीव क्षण-क्षण में नष्ट होता रहता है । यदि यह कहो कि जीव अनित्य है किन्तु वह नष्ट होते समय अपनी सन्तान छोड़ जाता है इसलिए कोई बाधा नहीं आती परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जब जीव का निरन्वय नाश हो जाता है तब यह उसकी सन्तान है, ऐसा व्यवहार नहीं हो सकता और किसी तरह उसकी सन्तान है ऐसा व्यवहार मान भी लिया जाये तो 'सब क्षणिक है' इस नियम में जीव की सन्तानों का समुदाय भी क्षणिक ही होगा इसलिए उस दशा में भी ध्यान सिद्ध नहीं हो सकता । इसके सिवाय ध्यान उस पदार्थ का किया जाता है जिसका पहले कभी अनुभव प्राप्त किया हो, परन्तु क्षणिक पक्ष में अनुभव करने वाला जीव और अनुभूत पदार्थ दोनों ही नष्ट हो जाते हैं अतः पुनः स्मरण कौन करेगा और किसका करेगा इन सब आपत्तियों को लक्ष्य कर ही आचार्य महाराज ने कहा है कि क्षणिकैकान्त पक्ष में ध्यान की भावना ही नहीं हो सकती । जिस प्रकार एक पुरुष के द्वारा अनुभव किये हुए पदार्थ का स्मरण दूसरे पुरुष को नहीं हो सकता क्योंकि वह उससे सर्वथा भिन्न है इसी प्रकार अनुभव करने वाले मूलभूत जीव के नष्ट हो जाने पर उसके द्वारा अनुभव किये हुए पदार्थ का स्मरण उनकी सन्तान प्रतिसन्तान को नहीं हो सकता क्योंकि मूल पदार्थ का निरन्वय नाश मानने पर सन्तान प्रतिसन्तान के साथ उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं रह जाता । अनुभूत पदार्थ के स्मरण के बिना ध्यान करने की इच्छा का होना असम्भव है, ध्यान की इच्छा के बिना ध्यान नहीं हो सकता, और ध्यान के बिना उसके फलस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति भी नहीं हो सकती । तथा सम्यक्दृष्टि, सम्यक्संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक्कर्मान्त, सम्यक्आजीव, सम्यक्व्यायाम, सम्यक्स्मृति और सम्यक्समाधि इन आठ अंगों की भावना भी नहीं हो सकती । इसलिए जीव को अनित्य मानने से भी ध्यान (योग) की सिद्धि नहीं हो सकती ॥२४३-२४४॥

इसी प्रकार पुद्गलवाद आत्मा को पुद्गलरूप मानने वाले वात्सीपुत्रीयों के मत में देह और पुद्गलतत्त्व के भेद-अभेद और अवक्तव्य पक्षों में ध्याता की सिद्धि नहीं हो पाती । अतः ध्यान की इच्छापूर्वक ध्यानप्रवृत्ति नहीं बन सकती । सर्वथा असत् आकाशपुष्प में गन्ध आदि की कल्पना नहीं हो सकती । तात्पर्य यह कि पुद्गलरूप आत्मा यदि देह से भिन्न है तो पृथक् आत्मतत्त्व सिद्ध हो जाता है । यदि अभिन्न है तो देहात्मवाद के दूषण आते हैं । यदि अवक्तव्य है तो उसके किसी रूप का निर्णय नहीं हो सकता और उसे अवक्तव्य इस शब्द से भी नहीं कह सकेंगे । ऐसी दशा में ध्यान की इच्छा प्रवृत्ति आदि नहीं बन सकते । इसी प्रकार विज्ञानाद्वैतवादियों के मत में भी ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि उनका सिद्धान्त है कि संसार में विज्ञान को छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं है । परन्तु उनके इस सिद्धान्त में विज्ञान का कुछ भी विषय शेष नहीं रहता । इसलिए विषय के अभाव में विज्ञान स्व-स्वरूप को कहाँ धारण कर सकेगा । भावार्थ-विज्ञान उसी को कहते हैं जो किसी ज्ञेय (पदार्थ) को जाने परन्तु विज्ञानाद्वैतवादी विज्ञान को छोड़कर और किसी पदार्थ की सत्ता स्वीकृत नहीं करते इसलिए ज्ञेय (जानने योग्य) -पदार्थों के बिना निर्विषय विज्ञान स्वरूप लाभ नहीं कर सकता । अर्थात् विज्ञान का अभाव हो जाता है ॥ २४५-२४७॥

और विज्ञान का अभाव होने पर न ध्यान, न ध्येय, और न मोक्ष कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि दीपक, सूर्य, अग्नि आदि प्रकाशक और घट, पट आदि प्रकाश्य (प्रकाशित होने योग्य) पदार्थों के रहते हुए ही पदार्थों का प्रकाशन हो सकता है अन्य प्रकार से नहीं । भावार्थ-जिस प्रकार प्रकाशक और प्रकाश्य दोनों प्रकार के पदार्थों का सद्भाव होने पर ही वस्तुतत्त्व का प्रकाश हो पाता है उसी प्रकार विज्ञान और विज्ञेय दोनों प्रकार के पदार्थों का सद्भाव होने पर ही ध्यान, ध्येय और मोक्ष आदि वस्तुओं की सत्ता सिद्ध हो सकती है परन्तु

विज्ञानाद्वैतवादी केवल प्रकाशक अर्थात् विज्ञान को ही मानते हैं प्रकाश्य अर्थात् विज्ञेय पदार्थों को नहीं मानते और युक्तिपूर्वक विचार करने पर उनके उस विज्ञान की भी सिद्धि नहीं हो पाती ऐसी दशा में ध्यान की सिद्धि तो दूर ही रही ॥२४८॥

इसी प्रकार जो आत्मा को नहीं मानते ऐसे शून्यवादी बौद्धों के मत में भी ध्यान सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि जब सब कुछ शून्यरूप ही है तब कौन किसको जानेगा-कौन किसका ध्यान करेगा, उनके इस मत में ध्यान की कल्पना करना कछुए के बालों से आकाश के फूलों का सेहरा बाँधने के समान है । भावार्थ-शून्यवादी लोग न तो ध्यान करने वाले आत्मा को मानते हैं और न ध्यान करने योग्य पदार्थ को ही मानते हैं ऐसी दशा में उनके यहाँ ध्यान की कल्पना ठीक उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार कि कछुए के बालों के द्वारा आकाश के फूलों का सेहरा बाँधा जाना ॥२४९॥

इसके सिवाय शून्यवादियों के मत में ध्येयतत्त्व की भी सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि ध्येयतत्त्व में दो प्रकार के विकल्प होते हैं, एक ग्रहण करने योग्य और दूसरा त्याग करने योग्य । जब शून्यवादी मूलभूत किसी पदार्थ को ही नहीं मानते तब उसमें हेय और उपादेय का विकल्प किस प्रकार किया जा सकता है ? अर्थात् नहीं किया जा सकता ॥२५०॥

सांख्य मुक्तात्मा का स्वरूप चैतन्यरहित मानते हैं परन्तु उनकी इस मान्यता में चैतन्यरूप लक्षण का अभाव होने से आत्मरूप लक्ष्य की भी सिद्धि नहीं हो पाती । जिस प्रकार रूपत्व और सुगन्धि आदि गुणों का अभाव होने से आकाशकमल की सिद्धि नहीं हो सकती ठीक उसी प्रकार चैतन्यरूप विशेष गुणों का अभाव होने से मुक्तात्मा की भी सिद्धि नहीं हो सकती, और ऐसी दशा में वह मुक्तात्मा ध्येय भी नहीं कहला सकता तथा ध्येय के बिना ध्यान भी सिद्ध नहीं हो सकता ॥२५१॥

जो सांख्यमतावलम्बी ऐसा कहते हैं कि मुक्त जीव गाड़ निद्रा में सोये हुए पुरुष के समान अचेत रहता है, मालूम होता है कि वे ध्येयतत्त्व का विचार करते समय स्वयं सोना चाहते हैं अर्थात् अज्ञानी बने रहना चाहते हैं इस तरह सांख्यमत में ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती ॥ २५२॥

इसी प्रकार द्वैतवादी तथा अद्वैतवादी लोगों के जो मत शेष रह गये हैं वे सभी एकान्तरूपी दोष से दूषित हैं इसलिए उन सभी में ध्यान और ध्येय का कुछ भी निर्णय नहीं हो सकता है ॥२५३॥

इसलिए जीवतत्त्व को नित्य और अनित्य दोनों ही रूप से मानने वाले स्याद्वादी लोगों के मन में ही ध्यान की सिद्धि हो सकती है अन्य एकान्तवादी लोगों के मन में नहीं हो सकती ॥२५४॥

कदाचित् यहाँ कोई कहे कि एक ही वस्तु दो विरुद्ध धर्मों का आधार नहीं हो सकती अर्थात् एक ही जीव नित्य और अनित्य नहीं हो सकता तो उसका यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि विवक्षा के भेद से वैसा कहने में कोई विरोध नहीं आता । यदि एक ही विवक्षा से दोनों विरुद्ध धर्म कहे जाते तो अवश्य ही विरोध आता परन्तु यहाँ अनेक विवक्षाओं से अनेक धर्म कहे जाते हैं इसलिए कोई विरोध नहीं मालूम होता । जीवतत्त्व द्रव्य की विवक्षा से नित्य है न कि पर्याय के भेदों की विवक्षा से भी । इसी प्रकार वही जीवतत्त्व पर्यायों के उत्पाद और विनाश की अपेक्षा अनित्य है न कि द्रव्य की अपेक्षा से भी । जिस प्रकार एक ही देवदत्त विवक्षा के वश से पिता और पुत्र दोनों ही रूप होता है उसी प्रकार एक ही वस्तु विवक्षा के वश से नित्य तथा अनित्य दोनों रूप ही होती है । देवदत्त अपने पुत्र की अपेक्षा पिता है और अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है इसी प्रकार संसार की प्रत्येक वस्तु द्रव्य की अपेक्षा नित्य है और पर्याय की अपेक्षा अनित्य है । इससे सिद्ध होता है कि वस्तु में दोनों विरुद्ध धर्म पाये जाते हैं परन्तु उनका समावेश विवक्षा और अविवक्षा के वश से ही होता है ॥२५५-२५७॥

इसलिए जैन शास्त्रों के अभ्यास से जिनकी ज्ञानरूपी सम्पदा सभी ओर फैल रही है ऐसे स्याद्वादी लोगों के मत में ही ध्यान की सिद्धि हो सकती है अन्य मिथ्यादृष्टियों के मत में नहीं ॥२५८॥

भगवान् अरहन्त देव ने मोहरूपी शत्रु पर विजय प्राप्त कर ली है इसलिए वे जिन कहलाते हैं । उनकी दृष्टि का समस्त मल नष्ट हो गया है इसलिए वे आप्त कहलाते हैं और उन्होंने अपने वचनों-द्वारा सर्वश्रेष्ठ मोक्षमार्ग का उपदेश दिया है इसलिए वे वाचस्पति कहलाते हैं ॥

२५९॥

अन्य किसी में नहीं पाये जाने वाले, राग-द्वेष आदि कर्मशत्रुओं को घात करना आदि गुणों के कारण वे अर्हत् अथवा अरिहन्त कहलाते हैं । तीन लोक के समस्त पदार्थों को जानने के कारण वे बुद्ध कहलाते हैं और वे समस्त जीवों की रक्षा करने वाले हैं इसलिए विभु कहलाते हैं ॥२६०॥

इसी प्रकार वे समस्त संसार में व्याप्त होने से 'विष्णु', कर्मरूपी शत्रुओं को जीतने से 'विजिष्णु', शान्ति करने से 'शंकर', सब जीवों को अभय देने से 'अभयंकर', आनन्दरूप होने से 'शिव', आदिअन्तरहित होने के कारण 'सनातन' कृतकृत्य होने के कारण 'सिद्ध', केवलज्ञानरूप होने से 'ज्योति', अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मी से सहित होने के कारण 'परम' और अविनाशी होने से 'अक्षर' कहलाते हैं ॥ २६१ ॥

इस प्रकार जिस त्रैलोक्यनाथ प्रभु के अनेक सार्थक नाम हैं वही अरहन्तदेव विद्वानों के हृदय में आप्तबुद्धि करने के लिए समर्थ है अर्थ ात् विद्वान् पुरुष उन्हें ही आप्त मान सकते हैं ॥२६२॥

जिनका रूप वस्त्र और आभूषणों से रहित होने पर भी अतिशय प्रकाशमान है और जिनका कटाक्षरहित देखना कामरूपी ज्वर के अभाव को सूचित करता है ॥२६३॥

शस्त्ररहित होने के कारण जो भय और क्रोध से रहित हैं तथा क्रोध का अभाव होने से जिसके नेत्र लाल नहीं हैं, जो सदा सौम्य और मन्द मुसकान से पूर्ण रहता है, राग आदि समस्त दोषों के जीत लेने से जो समस्त अन्य पुरुषों के मुखों से बढ़कर है ऐसा जिनका मुखकमल ही विद्वानों के लिए उत्तम शासकपना का उपदेश देता है अर्थ ात् विद्वान् लोग जिनका मुख-कमल देखकर ही जिन्हें उत्तम शासक समझ लेते हैं ॥२६४-२६५॥

इसके सिवाय जिनके ज्ञान और वैराग्य का वैभव समस्त जगत् में फैला हुआ है ऐसे अरहन्तदेव ही आप्त हैं । यह ध्यान का स्वरूप उन्हीं के द्वारा कहा हुआ है इसलिए कल्याण चाहने वालों के लिए कल्याणस्वरूप है ॥२६६॥

इस प्रकार बड़ी-बड़ी ऋद्धियों को धारण करने वाले गौतम गणधर ने जब मुनियों की सभा में ध्यानतत्त्व का निरूपण किया तब भक्ति को धारण करने वाले वे मुनिराज बहुत ही सन्तुष्ट हुए । उनके शरीर हर्ष से रोमांचित हो उठे और जिस प्रकार सूर्य की किरणों के सम्पर्क से कमलों का समूह प्रफुल्लित हो जाता है उसी प्रकार हर्ष से उनके मुखकमल भी प्रफुल्लित हो गये थे ॥२६७॥

अथानन्तर स्तुति करने से जिनके मुख वाचालित हो रहे हैं ऐसे उन सभी योगियों ने योगियों में मुख्य और जिनसेनाधीश्वर अर्थ ात् जिनेन्द्र भगवान की चार संघरूपी सेना के अथवा आचार्य जिनसेन के स्वामी गौतमगणधर की थोड़ी देर तक स्तुति कर, जिन्हें समस्त ज्ञान का तेज प्राप्त हुआ है और जो अपने आत्मस्वरूप में ही स्थिर हैं ऐसे भगवान् वृषभदेव की आर्हन्त्य लक्ष्मी को सुनने के लिए चित्त स्थिर किया ॥२६८॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रह (के हिन्दी भाषानुवाद) में ध्यानतत्त्व का वर्णन करने वाला इक्कीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥२१॥

पर्व-22 -- समवसरण

पर्व-22 -- समवसरण

कथा :

अथानन्तर जब जिनेन्द्र भगवान् ने घातिया कर्मों पर विजय प्राप्त की तब समस्त संसार का सन्ताप नष्ट हो गया-सारे संसार में शान्ति छा गयी और केवलज्ञान की उत्पत्तिरूप वायु के समूह से तीनों लोकों में क्षोभ उत्पन्न हो गया ॥१॥

उस समय क्षोभ को प्राप्त हुए समुद्र की लहरों के शब्द का अनुकरण करता हुआ कल्पवासी देवों का घण्टा समस्त संसार को वाचालित कर रहा था ॥२॥

ज्योतिषी देवों के लोक में बड़ा भारी सिंहनाद हो रहा था जिससे देवताओं के हाथी भी मदरहित अवस्था को प्राप्त हो गये थे ॥३॥

व्यन्तर देवों के घरों में नगाड़ों के ऐसे जोरदार शब्द हो रहे थे जो कि गरजते हुए मेघों के शब्दों को भी तिरस्कृत कर रहे थे ॥४॥

'भो भवनवासी देवों, तुम भी आकाश में चलने वाले कल्पवासी देवों के साथ-साथ भगवान् के दर्शन से उत्पन्न हुए सुख अथवा शान्ति को ग्रहण करने के लिए आओ' इस प्रकार जोर-जोर से घोषणा करता हुआ शंख भवनवासी देवों के भवनों में अपने आप शब्द करने लगा था ॥५॥

उसी समय समस्त इन्द्रों के आसन भी शीघ्र ही कम्पायमान हो गये थे मानो जिनेन्द्रदेव को घातिया कर्मों के जीत लेने से जो गर्व हुआ था उसे वे सहन करने के लिए असमर्थ होकर ही कम्पायमान होने लगे थे ॥६॥

जिन्होंने अपनी-अपनी रहने अनुभाग से पकड़कर कमलरूपी अर्ध ऊपर को उठाये हैं और जो पर्वतों के समान ऊँचे हैं ऐसे देवों के हाथी नृत्य कर रहे थे तथा वे ऐसे मालूम होते थे मानो बड़े-बड़े सर्पोंसहित पर्वत ही नृत्य कर रहे हों ॥७॥

अपनी लम्बी-लम्बी शाखाओंरूपी हाथों से चारों ओर फूल बरसाते हुए कल्पवृक्ष ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो भगवान् के लिए पुष्पांजलि ही समर्पित कर रहे हों ॥८॥

समस्त दिशाएँ प्रसन्नता को प्राप्त हो रही थीं, आकाश मेघों से रहित होकर सुशोभित हो रहा था और जिसने पृथ्वीलोक को धूलिरहित कर दिया है ऐसी ठण्डी-ठण्डी हवा चल रही थी ॥९॥

इस प्रकार संसार के भीतर अकस्मात् आनन्द को विस्तृत करता हुआ केवलज्ञानरूपी पूर्ण चन्द्रमा संसाररूपी समुद्र को बढ़ा रहा था अर्थात् आनन्दित कर रहा था ॥१०॥

अवधिज्ञानी इन्द्र ने इन सब चिह्नों से संसार में प्राप्त हुए और संसार को नष्ट करने वाले, भगवान् वृषभदेव के केवलज्ञानरूपी वैभव को शीघ्र ही जान लिया था ॥११॥

तदनन्तर परम आनन्द को धारण करता हुआ इन्द्र शीघ्र ही आसन से उठा और उस आनन्द के भार से ही मानो नतमस्तक होकर उसने भगवान् के लिए नमस्कार किया था ॥१२॥

'यह क्या है' इस प्रकार बड़े आश्चर्य से पूछती हुई इन्द्राणी के लिए भी इन्द्र ने भगवान् के केवलज्ञान की उत्पत्ति का समाचार बतलाया था ॥१३॥

अथानन्तर जब प्रस्थानकाल की सूचना देने वाले नगाड़े जोर-जोर से शब्द कर रहे थे तब इन्द्र अनेक देवों से परिवृत होकर भगवान् के केवलज्ञान की पूजा करने के लिए निकला ॥१४॥

उसी समय बलाहकदेव ने एक कामग नाम का विमान बनाया जिसका आकार बलाहक अर्थात् मेघ के समान था और जो जम्बूद्वीप के प्रमाण था ॥१५॥

वह विमान रत्नों का बना हुआ था और मोतियों की लटकती हुई मालाओं से सुशोभित हो रहा था तथा उस पर जो किंकिणियों के शब्द हो रहे थे उनसे वह ऐसा जान पड़ता था मानो सन्तोष से हँस ही रहा हो ॥१६॥

जो आभियोग्य जाति के देवों में मुख्य था ऐसे नागदत्त नाम के देव ने विक्रिया ऋद्धि से एक ऐरावत हाथी बनाया । वह हाथी शरद्ऋतु के बादलों के समान सफेद था, बहुत बड़ा था और उसने अपनी सफेदी से समस्त दिशाओं को सफेद कर दिया था ॥१७॥

तदनन्तर सौधर्मेन्द्र ने अपनी इन्द्राणी और ऐशान इन्द्र के साथ-साथ विक्रिया ऋद्धि से बने हुए उस दिव्यवाहन पर आरूढ़ होकर प्रस्थान किया ॥१८॥

सबसे आगे किल्बिषिक जाति के देव जोर-जोर से सुन्दर नगाड़ों के शब्द करते जाते थे और उनके पीछे इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक और प्रकीर्णक जाति के देव अपनी-अपनी सवारियों पर आरूढ़ हो इच्छानुसार जाते हुए सौधर्मेन्द्र के पीछे-पीछे जा रहे थे ॥१९-२०॥

उस समय अप्सराएँ नृत्य कर रही थीं, गन्धर्व देव बाजे बजा रहे थे और किन्नरी जाति की देवियाँ गीत गा रही थी, इस प्रकार वह देवों की सेना बड़े वैभव के साथ जा रही थी ॥२१॥

अब यहाँ पर इन्द्र आदि देवों के कुछ लक्षण लिखे जाते हैं-अन्य देवों में न पाये जाने वाले अणिमा महिमा आदि गुणों से जो परम ऐश्वर्य को प्राप्त हों उन्हें इन्द्र कहते हैं ॥२२॥

जो आज्ञा और ऐश्वर्य के बिना अन्य सब गुणों से इन्द्र के समान हों और इन्द्र भी जिन्हें बड़ा मानता हो वे सामानिकदेव कहलाते हैं ॥२३॥ वे सामानिक जाति के देव इन्द्रों के पिता माता और गुरु के तुल्य होते हैं तथा ये अपनी मान्यता के अनुसार इन्द्रों के समान ही सत्कार प्राप्त करते हैं ॥२४॥

इन्द्रों के पुरोहित मन्त्री और अमात्यों (सदा साथ में रहने वाले मन्त्री) के समान जो देव होते हैं वे त्रायस्त्रिंश कहलाते हैं । ये देव एक-एक इन्द्र की सभा में गिनती के तैतीस-तैतीस ही होते हैं ॥२५॥

जो इन्द्र की सभा में उपस्थित रहते हैं उन्हें पारिषद कहते हैं । ये पारिषद् जाति के देव इन्द्रों के पीठमर्द अर्थात् मित्रों के तुल्य होते हैं

और इन्द्र उन पर अतिशय प्रेम रखता है ॥२६॥

जो देव अंगरक्षक के समान तलवार ऊँची उठाकर इन्द्र के चारों ओर घूमते रहते हैं उन्हें आत्मरक्ष कहते हैं । यद्यपि इन्द्र को कुछ भय नहीं रहता तथापि ये देव इन्द्र का वैभव दिखलाने के लिए ही उसके पास ही पास घूमा करते हैं ॥२७॥

जो दुरगरक्षक के समान स्वर्गलोक की रक्षा करते हैं उन्हें लोकपाल कहते हैं और सेना के समान पियादे आदि जो सात प्रकार के देव हैं उन्हें अनीक कहते हैं (हाथी, घोड़े, रथ, पियादे, बैल, गन्धर्व और नृत्य करने वाली देवियाँ यह सात प्रकार की देवों की सेना है) ॥२८॥

नगर तथा देशों में रहने वाले लोगों के समान जो देव हैं उन्हें प्रकीर्णक जानना चाहिए और जो नौकर-चाकरों के समान हैं वे आभियोग्य कहलाते हैं ॥२९॥

जिनके किल्बिष अर्थात् पापकर्म का उदय हो उन्हें किल्बिषिक देव कहते हैं । ये देव अन्त्यजों की तरह अन्य देवों से बाहर रहते हैं । उनके जो कुछ थोड़ा-सा पुण्य का उदय होता है उसी के अनुरूप उनके थोड़ी-सी ऋद्धियाँ होती हैं ॥३०॥

इस प्रकार प्रत्येक निकाय में ये ऊपर कहे हुए दश-दश प्रकार के देव होते हैं परन्तु व्यन्तर और ज्योतिषीदेव त्रायस्त्रिंश तथा लोकपाल भेद से रहित होते हैं ॥३१॥

अब इन्द्र के ऐरावत हाथी का भी वर्णन करते हैं-उसका वंश अर्थात् पीठ पर की हड्डी बहुत ऊँची थी, उसका शरीर बहुत बड़ा था, मस्तक अतिशय गोल और ऊँचा था । उसके अनेक मुख थे, अनेक दाँत थे, अनेक सूँड़े थीं, उसका आसन बहुत बड़ा था, वह अनेक लक्षण और व्यंजनों से सहित था, शक्तिशाली था, शीघ्र गमन करने वाला था, बलवान् था, वह इच्छानुसार चाहे जहाँ गमन कर सकता था, इच्छानुसार चाहे जैसा रूप बना सकता था, अतिशय शूरवीर था । उसके कन्धे अतिशय गोल थे, वह सम अर्थात् समचतुरस्र संस्थान का धारी था, उसके शरीर के बन्धन उत्तम थे, वह धुरन्धर था, उसके दाँत और नेत्र मनोहर तथा चिकने थे । उसकी उत्तम सूँड नीचे की ओर तिरछी लटकती हुई चञ्चल, लम्बी, मोटी तथा अनुक्रम से पतली होती हुई गोल और सीधी थी; पुष्कर अर्थात् सूँड का अग्रभाग चिकना और लाल था, उसमें बड़े-बड़े छेद थे और बड़ी-बड़ी अंगुलियों के समान चिह्न थे । उसके शरीर का पिछला हिस्सा गोल था, वह हाथी अतिशय गम्भीर और स्थिर था, उसकी पूँछ और लिंग दोनों ही बड़े थे, उसका वक्षःस्थल बहुत ही चौड़ा और मजबूत था, उसके कान बड़ा भारी शब्द कर रहे थे, उसके कानरूपी पल्लव बहुत ही मनोहर थे । उसके नखों का समूह अर्ध चन्द्रमा के आकार का था, अंगुलियों में खूब जड़ा हुआ था और मूंगा के समान कुछ-कुछ लाल वर्ण का था, उसकी कान्ति उत्तम थी । उसका मुख और तालु दोनों ही लाल थे, वह पर्वत के समान ऊँचा था, उसके गण्डस्थल भी बहुत बड़े थे । उसके जघन सुअर के समान थे, वह अतिशय लक्ष्मीमान् था, उसके ओठ बड़े-बड़े थे, उसका शब्द दुन्दुभी शब्द के समान था, उच्छवास सुगन्धित तथा दीर्घ था, उसकी आयु अपरिमित थी और उसका सभी कोई आदर करता था । वह सार्थक शब्दार्थ का जानने वाला था, स्वयं मङ्गलरूप था, उसका स्वभाव भी मङ्गलरूप था, वह शुभ था, बिना योनि के उत्पन्न हुआ था, उसकी जाति उत्तम थी अथवा उसका जन्म सबसे उत्तम था, वह पराक्रम, तेज, बल, शूरता, शक्ति, संहनन और वेग इन सात प्रकार की प्रतिष्ठाओं से सहित था । वह अपने कानों के समीप बैठी हुई उन भ्रमरों की पंक्तियों को धारण कर रहा था जो कि गण्डस्थलों से निकलते हुए मदरूपी जल के निर्झरनों से भीग गयी थीं और ऐसी जान पड़ती थीं मानो मद की दूसरी धाराएँ ही हों । इस प्रकार अनेक मुखों से व्याप्त हुआ वह गजराज ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो भक्तिपूर्वक आये हुए संसार के समस्त हाथी ही उसकी सेवा कर रहे हों ॥३२-४१॥

उस हाथी का तालू अशोकवृक्ष के पल्लव के समान अतिशय लाल था । इसलिए वह ऐसा जान पड़ता था मानो लाल-लाल तालु की छाया के बहाने से खाये हुए पल्लवों को अच्छे न लगने के कारण बार-बार उगल ही रहा हो ॥४२॥

उस हाथी के कर्णरूपी तालों की ताड़ना से मृदङ्ग के समान गम्भीर शब्द हो रहा था और वहीं पर जो भ्रमर बैठे हुए थे वे वीणा के समान शब्द कर रहे थे, उन दोनों से वह हाथी ऐसा जान पड़ता था मानो उसने बाजा बजाना ही प्रारम्भ किया हो ॥४३॥

वह हाथी, जिससे बड़ी लम्बी श्वास निकल रही है ऐसी शुण्ड तथा मदजल की धारा को धारण कर रहा था और उन दोनों से ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो निर्झरने और सर्प से सहित किसी पर्वत की ही शोभा धारण कर रहा हो ॥४४॥

इसके दाँतों में जो मृणाल लगे हुए थे उनसे वह ऐसा अच्छा जान पड़ता था मानो चन्द्रमा के टुकड़ों के समान उज्ज्वल दाँतों के अँकुरों से ही सुशोभित हो रहा हो ॥४५॥

वह शोभायमान हाथी एक सरोवर के समान मालूम होता था क्योंकि जिस प्रकार सरोवर पुष्कर अर्थात् कमलों की शोभा धारण करना है उसी प्रकार वह हाथी भी पुष्कर अर्थात् सूंड के अग्रभाग की शोभा धारण कर रहा था, अथवा वह हाथी एक ऊँचे कल्पवृक्ष के समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार कल्पवृक्ष दान अर्थात् अभिलषित वस्तुओं की इच्छा करने वाले मनुष्यों के द्वारा उपासित होता है उसी प्रकार वह हाथी भी दान अर्थात् मदजल के अभिलाषी भ्रमरों के द्वारा उपासित (सेवित) हो रहा था ॥४६॥

उसके वक्षस्थल पर सोने की साँकल पड़ी हुई थी जिससे वह ऐसा जान पड़ता था मानो सुवर्णमयी लताओं से ढका हुआ पर्वत ही हो और गले में नक्षत्रमाला नाम की माला पड़ी हुई थी जिससे वह अश्विनी आदि नक्षत्रों की माला से सुशोभित शरद्ऋतु के आकाश की शोभा को तिरस्कृत कर रहा था ॥४७॥

जो गले में पड़ी हुई माला से शब्दायमान हो रहा है ऐसे कण्ठ को धारण करता हुआ वह हाथी पक्षियों की पङ्क्ति से घिरे हुए किसी पर्वत के नितम्ब भाग (मध्य भाग) की शोभा धारण कर रहा था ॥४८॥

वह हाथी शब्द करते हुए सुवर्णमयी घण्टाओं से ऐसा जान पड़ता था मानो देवों को बतलाने के लिए जिनेन्द्रदेव की पूजा की घोषणा ही कर रहा हो ॥४९॥

उस हाथी का शरीर जम्बूद्वीप के समान विशाल और स्थूल था तथा वह कुलाचलों के समान लम्बे और सरोवरों से सुशोभित दाँतों को धारण कर रहा था इसलिए वह ठीक जम्बूद्वीप के समान जान पड़ता था ॥५०॥

वह हाथी अपने शरीर की सफेदी से श्वेत द्वीप की शोभा धारण कर रहा था और झरते हुए मदजल के निर्झरनों से चलते-फिरते कैलाश पर्वत के समान सुशोभित हो रहा था ॥५१॥

इस प्रकार हाथियों की सेना के अधिपति देव ने जिसके विस्तार आदि का वर्णन ऊपर किया जा चुका है ऐसा बड़ा भारी ऐरावत हाथी बनाया ॥५२॥

जिस प्रकार किसी पर्वत के शिखर पर फूले हुए कमलों से युक्त सरोवर सुशोभित होता है उसी प्रकार उस ऐरावत हाथी पर आरूढ़ हुआ इन्द्र भी अतिशय सुशोभित हो रहा था ॥५३॥

उस ऐरावत हाथी के बत्तीस मुख थे, प्रत्येक मुख में आठ-आठ दाँत थे, एक-एक दाँत पर एक-एक सरोवर था, एक-एक सरोवर में एक-एक कमलिनी थी, एक-एक कमलिनी में बत्तीस-बत्तीस कमल थे, एक-एक कमल में बत्तीस-बत्तीस दल थे और उन लम्बे-लम्बे प्रत्येक दलों पर, जिनके मुखरूपी कमल मन्द हास्य से सुशोभित हैं, जिनकी भौंहें अतिशय सुन्दर हैं और जो दर्शकों के चित्तरूपी वृक्षों में आनन्दरूपी अंकुर उत्पन्न करा रही हैं ऐसी बत्तीस-बत्तीस अप्सराएँ लयसहित नृत्य कर रही थीं ॥५४-५६॥

जो हास्य और शृंगाररस से भरा हुआ था, जो भाव और लय से सहित था तथा जिसमें कैशिकी नामक वृत्ति का ही अधिकतर प्रयोग हो रहा था ऐसे अप्सराओं के उस नृत्य को देखते हुए देव लोग बड़े ही प्रसन्न हो रहे थे ॥५७॥

उस प्रयाण के समय इन्द्र के आगे अनेक अप्सराएँ नृत्य कर रही थीं और जिनके कण्ठ अनेक राग रागिनियों से भरे हुए हैं ऐसी किन्नरी देवियाँ जिनेन्द्रदेव के विजयगीत गा रही थीं ॥५८॥

तदनन्तर जिनमें अनेक पताकाएँ फहरा रही थी, जिनमें छत्र और चमर सुशोभित हो रहे थे, और जिनमें चारों ओर देव ही देव फैले हुए थे ऐसी बत्तीस इन्द्रों की सेनाएं फैल गयी ॥५९॥

जिसमें अप्सराओं के केसर से रंगे हुए स्तनरूपी चक्रवाक पक्षियों के जोड़े निवास कर रहे हैं, जो अप्सराओं के मुखरूपी कमलों से ढका हुआ है, जिसमें अप्सराओं के नेत्ररूपी नीले कमल सुशोभित हो रहे हैं और जिसमें उन्हीं अप्सराओं के हारों की किरणरूप ही स्वच्छ जल भरा हुआ है ऐसे आकाशरूपी सुन्दर सरोवर में देवों के ऊपर जो चमरों के समूह ढोले जा रहे थे वे ठीक हंसों के समान जान पड़ते थे ॥ ६०-६१॥

स्वच्छ तलवार के समान सुशोभित आकाश कहीं-कहीं पर इन्द्रनीलमणि के बने हुए आभूषणों को कान्ति से व्याप्त होकर अपनी निराली ही कान्ति धारण कर रहा था ॥६२॥

वही आकाश कहं पर पद्मराग मणियों की कान्ति से व्याप्त हो रहा था जिससे ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो समस्त दिशाओं को अनुरंजित करने वाली सन्ध्याकाल की लालिमा ही धारण कर रहा हो ॥६३॥

कहीं पर मरकतमणि की छाया से व्याप्त हुआ आकाश ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो शैवाल से सहित और किनारे पर स्थित समुद्र का जल ही हो ॥६४॥

देवों के आभूषणों में लगे मोतियों के समूह से चित्र-विचित्र तथा मूंगाओं से व्याप्त हुआ वह नीला आकाश समुद्र की शोभा को धारण कर रहा था ॥६५॥

जो शरीर से पतली हैं, जिनका आकार सुन्दर हैं और जिनके वस्त्र तथा आभूषण अतिशय देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसी देवांगनाएं उस समय आकाश में ठीक कल्पलताओं के समान सुशोभित हो रही थीं ॥६६॥

उन देवाङ्गनाओं के कुछ-कुछ हँसते हुए मुख कमलों के समान थे, नेत्र नीलकमल के समान सुशोभित थे और स्वयं लावण्यरूपी जल से भरी हुई थीं इसलिए वे ठीक सरोवरों के समान शोभायमान हो रही थीं ॥६७॥

कमल समझकर उन देवांगनाओं के मुखों की ओर दौड़ती हुई भ्रमरों की माला कामदेव के धनुष की डोरी के समान सुशोभित हो रही थी ॥६८॥

जिनके स्तनों के समीप भाग में हार पड़े हुए हैं ऐसी वे देवांगनाएँ उस समय ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो साँप की काँचली के समान कान्ति वाली चोली ही धारण कर रही हों ॥६९॥

उस समय वह देवों का आगमन एक समुद्र के समान जान पड़ता था क्योंकि समुद्र जिस प्रकार अपनी गरजना से वेला अर्थात् ज्वार-भाटा को धारण करता है उसी प्रकार वह देवों का आगमन भी देवों के नगाड़ों के बड़े भारी शब्दों से पूजा-वेला अर्थात् भगवान् की पूजा के समय को धारण कर रहा था, और समुद्र में जिस प्रकार लहरें उठा करती हैं उसी प्रकार उस देवों के आगमन में इधर-उधर चलते हुए देवरूपी लहरें उठ रही थी ॥७०॥

जिस समय वह प्रकाशमान देवों की सेना नीचे की ओर आ रही था उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो ज्योतिषी देवों की एक दूसरी ही सृष्टि उत्पन्न हुई हो और इसलिए ही ज्योतिषी देवों के समूह लज्जा से कान्तिरहित होकर अदृश्य हो गये हों ॥७१॥

उस समय देवांगनाओं के रूपों और ऊँचे-नीचे हाथी, घोड़े आदि की सवारियों से वह आकाश एक चित्रपट की शोभा धारण कर रहा था ॥७२॥

अथवा उस समय यह आकाश देवों के शरीर की कान्तिरूपी बिजली, देवों के आभूषणरूपी इन्द्रधनुष और देवों के हाथीरूपी काले बादलों से वर्षाऋतु की शोभा धारण कर रहा था ॥७३॥

इस प्रकार जब सब देव अपनी-अपनी देवियों सहित सवारियों और विमानों के साथ-साथ आ रहे थे तब खेद की बात थी कि स्वर्गलोक बहुत देर तक शून्य हो गया था ॥७४॥

इस प्रकार उस समय समस्त आकाश को घेरकर आये हुए सुर और असुरों से यह जगत् ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो उत्पन्न होता हुआ कोई दूसरा दिव्य स्वर्ग ही हो ॥७५॥

अथानन्तर जिसमें देवरूपी कारीगरों ने सैकड़ों प्रकार की उत्तम-उत्तम रचनाएँ की हैं ऐसा भगवान् वृषभदेव का समवसरण देवों ने दूर से ही देखा ॥७६॥

जो बारह योजन विस्तार वाला है और जिसका तलभाग अतिशय देदीप्यमान हो रहा है ऐसा इन्द्रनील मणियों से बना हुआ वह भगवान् का समवसरण बहुत ही सुशोभित हो रहा था ॥७७॥

इन्द्रनील मणियों से बना और चारों ओर से गोलाकार वह समवसरण ऐसा जान पड़ता था मानो तीन जगत् की लक्ष्मी के मुख देखने के लिए मंगलरूप एक दर्पण ही हो ॥७८॥

जिस समवसरण के बनाने में सब कामों में समर्थ इन्द्र स्वयं सूत्रधार था ऐसे उस समवसरण की वास्तविक रचना का कौन वर्णन कर सकता है ? अर्थात् कोई नहीं, फिर भी उसकी शोभा के समूह का कुछ थोड़ा-सा वर्णन करता हूँ क्योंकि उसके सुनने से भव्य जीवों का मन प्रसन्नता को प्राप्त होता है ॥७९-८०॥

उस समवसरण के बाहरी भाग में रत्नों की धूलि से बना हुआ एक धूलीसाल नाम का घेरा था जिसकी कान्ति अतिशय देदीप्यमान थी और जो अपने समीप के भूभाग को अलंकृत कर रहा था ॥८१॥

वह धूलीसाल ऐसा अच्छा जान पड़ता था मानो अतिशय देदीप्यमान और वलय (चूड़ी) का आकार धारण करता हुआ इन्द्रधनुष ही धूलीसाल के बहाने से उस समवसरण भूमि की सेवा कर रहा हो ॥८२॥

कटिसूत्र की शोभा को धारण करता हुआ और वलय के आकार का वह धूलीसाल का घेरा जिनेन्द्रदेव के उस समवसरण को चारों ओर से घेरे हुए था ॥८३॥

अनेक प्रकार के रत्नों की धूलि से बना हुआ वह धूलीसाल कहीं तो अंजन के समूह के समान काला-काला सुशोभित हो रहा था, कहीं सुवर्ण के समान पीला-पीला लग रहा था और कहीं मूंगा की कान्ति के समान लाल-लाल भासमान हो रहा था ॥८४॥

जिसकी किरणें ऊपर की और उठ रही है ऐसे तोते के पंखों के समान हरित वर्ण की मणियों की धूलि से कहीं-कहीं व्याप्त हुआ वह धूलीसाल ऐसा अच्छा सुशोभित हो रहा था मानो कमलिनी के छोटे-छोटे नये पत्तों से ही व्याप्त हो रहा हो ॥८५॥

वह कहीं-कहीं पर चन्द्रकान्तमणि के चूर्ण से बना हुआ था और चांदनी की शोभा धारण कर रहा था फिर भी लोगों के चित्त को अनुरक्त अर्थात् लाल-लाल कर रहा था यह भारी आश्चर्य की बात थी (परिहार पक्ष में-अनुराग से युक्त कर रहा था) ॥८६॥

कहीं पर परस्पर में मिली हुई मरकतमणि और पद्मरागमणि की किरणों से वह ऐसा जान पड़ता था मानो आकाशरूपी आंगन में इन्द्रधनुष की शोभा ही बढ़ा रहा हो ॥८७॥

कहीं पर पद्मरागमणि और इन्द्रनीलमणि के प्रकाश से व्याप्त हुआ वह धूलीसाल ऐसा जान पड़ता था मानो भगवान् के द्वारा चूर्ण किये गये काम और क्रोध के अंशों से ही बना हो ॥८८॥

कहीं-कहीं पर सुवर्ण की धूलि के समूह से देदीप्यमान होता हुआ वह धूलीसाल ऐसा अच्छा जान पड़ता था मानो 'वह धूर्त कामदेव कहाँ छिपा है उसे देखो, वह हमारे द्वारा जलाये जाने के योग्य है' ऐसा विचारकर ऊँची उठी हुई अग्नि का समूह हो। इसके सिवाय वह छोटे-बड़े रत्नों की किरणावली से आकाश को भी व्याप्त कर रहा था ॥८९-९०॥

इस धूलीसाल के बाहर चारों दिशाओं में सुवर्णमय खम्भों के अग्रभाग पर अवलम्बित चार तोरणद्वार सुशोभित हो रहे थे, उन तोरणों में मत्स्य के आकार बनाये गये थे और उन पर रत्नों की मालाएँ लटक रही थीं ॥९१॥

उस धूलीसाल के भीतर कुछ जाकर गलियों के बीचो-बीच में सुवर्ण के बने हुए और अतिशय ऊँचे मानस्तम्भ सुशोभित हो रहे थे। भावार्थ-चारों दिशाओं में एक-एक मानस्तम्भ था ॥९२॥

जिस जगती पर मानस्तम्भ थे वह जगती चार-चार गोपुरद्वारों से युक्त तीन कोटों से घिरी हुई थी, उसके बीच में एक पीठिका थी। वह पीठिका तीनों लोकों के स्वामी जिनेन्द्रदेव के अभिषेक के जल से पवित्र थी, उस पर चढ़ने के लिए सुवर्ण की सोलह सीढ़ियाँ बनी हुई थीं, मनुष्य देव-दानव आदि सभी उसकी पूजा करते थे और उस पर सदा पूजा के अर्थ पुष्पों का उपहार रखा रहता था, ऐसी उस पीठिका पर आकाश को स्पर्श करते हुए वे मानस्तम्भ सुशोभित हो रहे थे जो दूर से दिखाई देते ही मिथ्यादृष्टि जीवों का अभिमान बहुत शीघ्र नष्ट कर देते थे ॥९३-९५॥

वे मानस्तम्भ आकाश का स्पर्श कर रहे थे, महाप्रमाण के धारक थे, घण्टाओं से घिरे हुए थे, और चमर तथा ध्वजाओं से सहित थे इसलिए ठीक दिग्गजों के समान सुशोभित हो रहे थे क्योंकि दिग्गज भी आकाश का स्पर्श करने वाले, महाप्रमाण के धारक, घण्टाओं से युक्त तथा चमर और ध्वजाओं से सहित होते हैं ॥९६॥

चार मानस्तम्भ चार दिशाओं में सुशोभित हो रहे थे और ऐसे जान पड़ते थे मानो उन मानस्तम्भों के छल से भगवान् के अनन्तचतुष्टय ही प्रकट हुए हो ॥९७॥

उन मानस्तम्भों के मूल भाग में जिनेन्द्र भगवान् की सुवर्णमय प्रतिमाएँ विराजमान थीं जिनकी इन्द्र लोग क्षीरसागर के जल से अभिषेक करते हुए पूजा करते थे ॥९८॥

वे मानस्तम्भ निरन्तर बजते हुए बड़े-बड़े बाजों से निरन्तर होने वाले मङ्गलमय गानों और निरन्तर प्रवृत्त होने वाले नृत्यों से सदा सुशोभित रहते थे ॥९९॥

ऊपर जगती के बीच में जिस पीठिका का वर्णन किया जा चुका है उसके मध्यभाग में तीन कटनीदार एक पीठ था। उस पीठ के अग्रभाग पर ही वे मानस्तम्भ प्रतिष्ठित थे, उनका मूल भाग बहुत ही सुन्दर था, वे सुवर्ण के बने हुए थे, बहुत ऊँचे थे, उनके मस्तक पर तीन छत्र

फिर रहे थे, इन्द्र के द्वारा बनाये जाने के कारण उनका दूसरा नाम इन्द्रध्वज भी रूढ़ हो गया था । उनके देखने से मिथ्यादृष्टि जीवों का सब मान नष्ट हो जाता था, उनका परिमाण बहुत ऊँचा था और तीन लोक के जीव उनका सम्मान करते थे इसलिए विद्वान् लोग उन्हें सार्थक नाम से मानस्तम्भ कहते थे ॥१००-१०२॥

जो अनेक प्रकार के कमलों से सहित थीं, जिनमें स्वच्छ जल भरा हुआ था और जो भव्य जीवों की विशुद्धता के समान जान पड़ती थीं ऐसी बावड़ियाँ उन मानस्तम्भों के समीपवर्ती भूभाग को अलंकृत कर रही थीं ॥१०३॥

जो फूले हुए सफेद और नीले कमलरूपी सम्पदा से सहित थीं ऐसी वे बावड़ियाँ इस प्रकार सुशोभित हो रही थीं मानो भक्तिपूर्वक जिनेन्द्रदेव की लक्ष्मी को देखने के लिए पृथ्वी ने अपने नेत्र ही उघाड़े हों ॥१०४॥

जिन पर भ्रमरों का समूह बैठा हुआ है ऐसे फूले हुए नीले और सफेद कमलों से ढँकी हुई वे बावड़ियाँ ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो अंजनसहित काले और सफेद नेत्रों से ही ढँक रही हों ॥१०५॥

वे बावड़ियाँ एक-एक दिशा में चार-चार थीं और उनके किनारे पर पक्षियों की शब्द करती हुई पंक्तियाँ बैठी हुई थीं जिनसे वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो उन्होंने शब्द करती हुई ढीली करधनी ही धारण की हो ॥१०६॥

उन बावड़ियों में मणियों की सीढ़ियाँ लगी हुई थीं, उनके किनारे की ऊँची उठी हुई जमीन स्फटिकमणि की बनी हुई थी और उनमें पृथिवी से निकलता हुआ लावण्यरूपी जल भरा हुआ था, इस प्रकार वे प्रसिद्ध बावड़ियाँ कृत्रिम नदी के समान सुशोभित हो रही थीं ॥१०७॥

वे बावड़ियाँ भ्रमरों की गुंजार से ऐसी जान पड़ती थीं मानो अच्छी तरह से अरहन्त भगवान् के गुण ही गा रही हो, उठती हुई बड़ी-बड़ी लहरों से ऐसी जान पड़ती थीं मानो जिनेन्द्र भगवान् की विजय से सन्तुष्ट होकर नृत्य ही कर रही हों, चकवा-चकवियों के शब्दों से ऐसी जान पड़ती थीं मानो जिनेन्द्रदेव का स्तवन ही कर रही हों, स्वच्छ जल धारण करने से ऐसी जान पड़ती थीं मानो सन्तोष ही प्रकट कर रही हों, और किनारे पर बने हुए पाँव धोने के कुण्डों से ऐसी जान पड़ती थीं मानो अपने-अपने पुत्रों से सहित ही हों, इस प्रकार नन्दोत्तरा आदि नामों को धारण करने वाली बावड़ियाँ बहुत ही अधिक सुशोभित हो रही थीं ॥१०८-११०॥

उन बावड़ियों से थोड़ी ही दूर आगे जाने पर प्रत्येक वीथी (गली) को छोड़कर जल से भरी हुई एक परिखा थी जो कि कमलों से व्याप्त थी और समवसरण की भूमि को चारों ओर से घेरे हुए थी ॥१११॥

स्वच्छ जल से भरी हुई और मनुष्यों को पवित्र करने वाली वह परिखा ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो परिखा का रूप धरकर आकाशगंगा ही भगवान् की सेवा करने के लिए आयी हो ॥११२॥

वह परिखा स्फटिकमणि के निष्पन्द के समान स्वच्छ जल से भरी हुई थी और उसमें समस्त तारा तथा नक्षत्रों का प्रतिबिम्ब पड़ रहा था, इसलिए वह आकाश की शोभा धारण कर रही थी ॥११३॥

वह परिखा अपने रत्नमयी किनारों पर मधुर शब्द करती हुई पक्षियों की माला धारण कर रही थी जिससे ऐसी जान पड़ती थी मानो लहरोंरूपी हाथों से पकड़ने योग्य, उत्तम कान्ति वाली करधनी ही धारण कर रही हो ॥११४॥

जलचर जीवों की भुजाओं के संघटन से उठी हुई और वायु-द्वारा ताड़ित हुई लहरों से वह परिखा ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो जिनेन्द्र भगवान् के विजयोत्सव में सन्तोष से नृत्य ही कर रही हो ॥११५॥

लहरों के भीतर घूमते-घूमते जब कभी ऊपर प्रकट होने वाली मछलियों के समूह से भरी हुई वह परिखा ऐसी जान पड़ती थी मानो देवांगनाओं के नेत्रों के विलासों (कटाक्षों) का अभ्यास ही कर रही हो ॥११६॥

जो मछलियाँ उस परिखा की लहरों के बीच में बार-बार डूब रही थीं वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो देवांगनाओं के नेत्रों के विलासों से पराजित होकर ही लज्जावश लहरों में छिप रही थीं ॥११७॥

उस परिखा के भीतरी भूभाग को एक लतावन घेरे हुए था, वह लतावन लताओं, छोटी-छोटी झाड़ियों और वृक्षों में उत्पन्न हुए सब ऋतुओं के फूलों से सुशोभित हो रहा था ॥११८॥

उस लतावन में पुष्परूपी हास्य से उज्ज्वल अनेक पुष्पलताएँ सुशोभित हो रही थीं जो कि स्पष्टरूप से ऐसी जान पड़ती थीं मानो देवांगनाओं के मन्द हास्य का अनुकरण ही कर रही हों ॥११९॥

मनोहर गुंजार करते हुए भ्रमरों से जिनका अन्त भाग ढका हुआ है ऐसी उस वन की लताएँ इस भाँति सुशोभित हो रही थीं मानो उन्होंने

अपना शरीर नील वस्त्र से ही ढक लिया हो ॥१२०॥

उस लतावन की अशोक लताएँ लाल-लाल नये पत्ते धारण कर रही थी । और उनसे वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो अप्सराओं के लाल-लाल हाथरूपी पल्लवों के साथ स्पर्द्धा ही कर रही हों ॥१२१॥

मन्द-मन्द वायु के द्वारा उड़ी हुई केशर से व्याप्त हुआ और जिसने समस्त दिशाएँ पीली-पीली कर दी है ऐसा वहाँ का आकाश सुगन्धित चूर्ण (अथवा चँदोवे) की शोभा धारण कर रहा था ॥१२२॥

उस लतावन में प्रत्येक फूल पर मधुर शब्द करते हुए भ्रमर बैठे हुए थे जिनसे वह ऐसा जान पड़ता था मानो हजार नेत्रों को धारण करने वाले इन्द्र के विलास की विडम्बना ही कर रहा हो ॥१२३॥

फूलों की मंजरियों के समूह से सघन पराग को ग्रहण करता हुआ और लताओं को हिलाता हुआ वायु उस लतावन में धीरे-धीरे बह रहा था ॥१२४॥

उस लतावन में बने हुए मनोहर क्रीड़ा पर्वत, शय्याओं से सुशोभित लतागृह और ठण्डी-ठण्डी हवा देवांगनाओं को बहुत ही सन्तोष पहुंचाती थी ॥१२५॥

उस वन में अनेक कुसुमित अर्थात् फूली हुई और रजस्वला अर्थात् पराग से भरी हुई लताओं का मधुव्रत अर्थात् भ्रमर स्पर्श कर रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि मधुपायी अर्थात् मद्य पीने वालों के पवित्रता कहाँ हो सकती है । भावार्थ-जिस प्रकार मधु (मदिरा) पान करने वाले पुरुषों के पवित्र और अपवित्र का कुछ भी विचार नहीं रहता, वे रजोधर्म से युक्त ऋतुमती स्त्री का भी स्पर्श करने लगते हैं, इसी प्रकार मधु (पुष्परस) का पान करने वाले उन भ्रमरों के भी पवित्र-अपवित्र का कुछ भी विचार नहीं था, क्योंकि वे ऊपर कही हुई कुसुमित और रजस्वला लतारूपी स्त्रियों का स्पर्श कर रहे थे । यथार्थ में कुसुमित और रजस्वला लताएँ अपवित्र नहीं होतीं । यहाँ कवि ने श्लेष और समासोक्ति अलंकार की प्रधानता से ही ऐसा वर्णन किया है ॥१२६॥

उस वन के लतागृहों के बीच में पड़ी हुई बर्फ के समान शीतल स्पर्श वाली चन्द्रकान्तमणि की शिलाएं इन्द्रों के विश्राम के लिए हुआ करती थीं ॥१२७॥

उस लतावन के भीतर की ओर कुछ मार्ग उल्लंघन कर निषध पर्वत के आकार का सुवर्णमय पहला कोट था जो कि उस समवसरण भूमि को चारों ओर से घेरे हुए था ॥१२८॥

उस समवसरण भूमि के चारों ओर स्थित रहने वाला वह कोट ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो मनुष्यलोक की भूमि के चारों ओर स्थित हुआ मानुषोत्तर पर्वत ही हो ॥१२९॥

उस कोट को देखकर ऐसा मालूम होता था मानो आकाशरूपी आँगन को चित्र-विचित्र करने वाला सैकड़ों इन्द्रधनुषों का समूह ही कोट के बहाने से आकर उस समवसरण भूमि को अलंकृत कर रहा हो ॥१३०॥

उस कोट के ऊपरी भाग पर स्पष्ट दिखाई देते हुए जो मोतियों के समूह जड़े हुए थे वे क्या यह ताराओं का समूह है, इस प्रकार लोगों की शंका के स्थान हो रहे थे ॥१३१॥

उस कोट में कहीं-कहीं जो मूँगाओं के समूह लगे हुए थे वे पद्मरागमणियों की किरणों से और भी अधिक लाल हो गये थे और सन्ध्याकाल के बादलों की शोभा प्रकट करने के लिए समर्थ हो रहे थे ॥१३२॥

वह कोट कहीं तो नवीन मेघ के समान काला था, कहीं घास के समान हरा था, कहीं इन्द्रगोप के समान लाल-लाल था, कहीं बिजली के समान पीला-पीला था और कहीं अनेक प्रकार के रत्नों की किरणों से इन्द्रधनुष की शोभा उत्पन्न कर रहा था । इस प्रकार वह वर्षाकाल की शोभा की विडम्बना कर रहा था ॥१३३-१३४॥

वह कोट कहीं तो युगल रूप से बने हुए हाथी-घोड़े और व्याघ्रों के आकार से व्याप्त हो रहा था, कहीं तोते, हंस और मयूरों के जोड़ों से उद्भासित हो रहा था, कहीं अनेक प्रकार के रत्नों से बने हुए मनुष्य और स्त्रियों के जोड़ों से सुशोभित हो रहा था, कहीं भीतर और बाहर की ओर बनी हुई कल्पलताओं से चित्रित हो रहा था, कहीं पर चमकते हुए रत्नों की किरणों से हँसता हुआ-सा जान पड़ता था और कहीं पर फैलती हुई प्रतिध्वनि से सिंहनाद करता हुआ-सा जान पड़ता था ॥१३५-१३७॥

जिसका आकार बहुत ही देदीप्यमान है, जिसने अपने चमकीले रत्नों की किरणों से आकाशरूपी आँगन को घेर लिया है और जो निषध

कुलाचल के साथ ईर्ष्या करने वाला है ऐसा वह कोट बहुत ही अधिक शोभायमान हो रहा था ॥१३८॥

उस कोट के चारों दिशाओं में चाँदी के बने हुए चार बड़े-बड़े गोपुरद्वार सुशोभित हो रहे थे जो कि विजयार्थ पर्वत के शिखरों के समान आकाश का स्पर्श कर रहे थे ॥१३९॥

चांदनी के समूह के समान निर्मल, ऊँचे और तीन-तीन खण्ड वाले वे गोपुरद्वार ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो तीनों लोकों की शोभा को जीतकर हँस ही रहे हों ॥१४०॥

वे गोपुरद्वार पद्मरागमणि के बने हुए और आकाश को उल्लंघन करने वाले शिखरों से सहित थे तथा अपनी फैलती हुई लाल-लाल किरणों के समूह से ऐसे जान पड़ते थे मानो दिशाओं को नये-नये कोमल पत्तों से युक्त ही कर रहे हों ॥१४१॥

इन गोपुर-दरवाजों पर कितने ही गाने वाले देव जगद्गुरु भगवान् वृषभदेव के गुण गा रहे थे, कितने ही उन्हें सुन रहे थे और कितने ही मन्द-मन्द मुसकाते हुए नृत्य कर रहे थे ॥१४२॥

उन गोपुर-दरवाजों में से प्रत्येक दरवाजे पर भृंगार कलश और दर्पण आदि एक सौ आठ मङ्गलद्रव्यरूपी सम्पदाएँ सुशोभित हो रही थी ॥१४३॥

तथा प्रत्येक दरवाजे पर रत्नमय आभूषणों की कान्ति के भार से आकाश को अनेक वर्ण का करने वाले सौ-सौ तोरण शोभायमान हो रहे थे ॥१४४॥

उन प्रत्येक तोरणों में जो आभूषण बाँधे हुए थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो स्वभाव से ही सुन्दर भगवान् के शरीर में अपने लिए अवकाश न देखकर उन तोरणों में ही आकर बाँध गये हों ॥१४५॥

उन गोपुरद्वारों के समीप प्रदेशों में जो शंख आदि नौ निधियाँ रखी हुई थीं वे जिनेन्द्र भगवान् के तीनों लोकों को उल्लंघन करने वाले भारी प्रभाव को सूचित कर रही थी ॥१४६॥

अथवा दरवाजे के बाहर रखी हुई वे निधियाँ ऐसी मालूम होती थीं मानो मोहरहित, तीनों लोकों के स्वामी भगवान् जिनेन्द्रदेव ने उनका तिरस्कार कर दिया था इसलिए दरवाजे के बाहर होकर दूर से ही उनकी सेवा कर रही हों ॥१४७॥

उन गोपुर-दरवाजों के भीतर जो बड़ा भारी रास्ता था उसके दोनों ओर दो नाट्यशालाएँ थीं, इस प्रकार चारों दिशाओं के प्रत्येक गोपुर-द्वार में दो-दो नाट्यशालाएँ थीं ॥१४८॥

वे दोनों ही नाट्यशालाएँ तीन-तीन खण्ड की थी और उनसे ऐसी जान पड़ती थीं मानो लोगों के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र के भेद से तीन भेद वाला मोक्ष का मार्ग ही बतलाने के लिए तैयार खड़ी हों ॥१४९॥

जिनके बड़े-बड़े खम्भे सुवर्ण के बने हुए हैं, जिनकी दीवालें देदीप्यमान स्फटिक मणि की बनी हुई हैं और जिन्होंने अपने रत्नों के बने हुए शिखरों से आकाश के प्रदेश को व्याप्त कर लिया है ऐसी वे दोनों नाट्यशालाएँ बहुत ही अधिक सुशोभित हो रही थीं ॥१५०॥

उन नाट्यशालाओं की रङ्गभूमि में ऐसी अनेक देवाङ्गनाएँ नृत्य कर रही थीं, जिनके शरीर अपनी कान्तिरूपी सरोवर में डूबे हुए थे और जिससे वे बिजली के समान सुशोभित हो रही थीं ॥१५१॥

उन नाट्यशालाओं में इकट्ठी हुई वे देवाङ्गनाएँ जिनेन्द्रदेव की विजय के गीत गा रही थीं और उसी विजय का अभिनय करती हुई पुष्पाञ्जलि छोड़ रही थीं ॥१५२॥

उन नाट्यशालाओं में वीणा की आवाज के साथ-साथ जो मृदंग की आवाज उठ रही थी वह मयूरों को वर्षाऋतु के प्रारम्भ होने की शंका उत्पन्न कर रही थीं ॥१५३॥

वे दोनों ही नाट्यशालाएँ शरदऋतु के बादलों के समान सफेद थीं इसलिए उनमें नृत्य करती हुई वे देवाङ्गनाएँ ठीक बिजली की शोभा फैला रही थीं ॥१५४॥

उन नाट्यशालाओं में किन्नर जाति के देव उत्तम संगीत के साथ-साथ मधुर शब्दों वाली वीणा बजा रहे थे जिससे देखने वालों की चित्तवृत्तियाँ उनमें अतिशय आसक्ति को प्राप्त हो रही थी ॥१५५॥

उन नाट्यशालाओं से कुछ आगे चलकर गलियों के दोनों ओर दो-दो धूपघट रखे हुए थे जो कि फैलते हुए धूप के धुएँ से आकाशरूप आँगन को व्याप्त कर रहे थे ॥१५६॥

उन धूपघटों के धुएँ से भरे हुए आकाश को देखकर आकाश में चलने वाले देव अथवा विद्याधर असमय में ही वर्षाऋतु के मेघों की आशंका करने लगे थे ॥१५७॥

मन्द-मन्द वायु के वश से उड़ा हुआ और दिशाओं को सुगन्धित करता हुआ वह धूप ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो उच्छ्वास लेने से प्रकट हुई पृथिवी देवी के मुख की सुगन्धि ही हो ॥१५८॥

उस धूप की सुगन्धि को सूँघकर सब ओर फैली हुई भ्रमरों की पङ्क्तियाँ दिशारूपी स्त्रियों के मुख पर फैले हुए केशों की शोभा बढ़ा रहे थे ॥१५९॥

एक ओर उन धूपघटों से सुगन्धि निकल रही थी और दूसरी ओर देवांगनाओं के मुख से सुगन्धित निश्वास निकल रहा था सो व्याकुल हुए भ्रमर दोनों को ही सूँघ रहे थे ॥१६०॥

वहाँ पर मेघों की गर्जना को जीतने वाले मृदंगों के शब्दों से तथा पड़ती हुई पुष्पवृष्टि से सदा वर्षाकाल विद्यमान रहता था ॥१६१॥

धूपघटों से कुछ आगे चलकर मुख्य गलियों के बगल में चार-चार वन की वीथियाँ थीं जो कि ऐसी जान पड़ती थीं मानो नन्दन आदि वनों की श्रेणियाँ ही भगवान् के दर्शन करने के लिए आयी हो ॥१६२॥

वे चारों वन, अशोक, सप्तपर्ण, चम्पक और आम के वृक्षों के थे, उन सब पर फूल खिले हुए थे जिससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो सन्तोष से हंस ही रहे हों ॥१६३॥

फल और फूलों से सुशोभित अनेक प्रकार के वृक्षों से वे वन ऐसे जान पड़ते थे मानो जगद्गुरु जिनेन्द्रदेव के लिए अर्घ्य लेकर ही खड़े हों ॥१६४॥

उन वनों में जो वृक्ष थे वे पवन से हिलती हुई शाखाओं से ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो हर्ष से हाथ हिला-हिलाकर बार-बार नृत्य ही कर रहे हों ॥१६५॥

अथवा वे वृक्ष, उत्तम छाया से सहित थे, अनेक फलों से युक्त थे, तुंग अर्थात् ऊँचे थे, मनुष्यों के सन्तोष के कारण थे, सुख देने वाले और शीतल थे इसलिए किन्हीं उत्तम राजाओं के समान जान पड़ते थे क्योंकि उत्तम राजा भी उत्तम छाया अर्थात् आश्रय से सहित होते हैं, अनेक फलों से युक्त होते हैं, तुंग अर्थात् उदारहृदय होते हैं, मनुष्यों के सुख के कारण होते हैं और सुख देने वाले तथा शान्त होते हैं ॥

१६६॥

फूलों की सुगन्धि से बुलाये हुए और इसीलिए आकर इकट्ठे हुए तथा मधुर गुंजार करते हुए भ्रमरों के समूह से वे वृक्ष ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो जिनेन्द्रदेव का गुणगान ही कर रहे हों ॥१६७॥

कहीं-कहीं विरलरूप से वे वृक्ष ऊपर से फूल छोड़ रहे थे जिनसे ऐसे मालूम होते थे मानो जगद्गुरु भगवान् के लिए भक्तिपूर्वक फूलों की भेंट ही कर रहे हों ॥१६८॥

कहीं-कहीं पर मधुर शब्द करते हुए भ्रमरों के मंद-मनोहर शब्दों से ये वन ऐसे जान पड़ते थे मानो चारों ओर से कामदेव की तर्जना ही कर रहे हों ॥१६९॥

उन वनों में कोयलों के जो मधुर शब्द हो रहे थे उनसे वे वन ऐसे अच्छे सुशोभित हो रहे थे मानो जिनेन्द्र भगवान की सेवा करने के लिए इन्द्रों को ही बुला रहे हों ॥१७०॥

उन वनों में वृक्षों के नीचे की पूरी फूलों के पराग से ढकी हुई थी जिससे वह ऐसी मनोहर जान पड़ती थी मानो उसका तलभाग सुवर्ण की धूलि से ही ढक रहा हो ॥१७१॥

इस प्रकार वे वन वृक्षों से बहुत ही रमणीय जान पड़ते थे, वहाँ पर होने वाली फूलों की वर्षा ऋतुओं के परिवर्तन को कभी नहीं देखती थी अर्थात् वहाँ सदा ही सब ऋतुओं के फूल फूले रहते थे ॥१७२॥

उन वनों के वृक्ष इतने अधिक प्रकाशमान थे कि उनसे वहाँ न तो रात का ही व्यवहार होता था और न दिन का ही । वहाँ सूर्य की किरणों का प्रवेश नहीं हो पाता था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो वहाँ के वृक्षों की शीतलता से डरकर ही सूर्य ने अपने कर अर्थात् किरणों (पक्ष में हाथों) का संकोच कर लिया हो ॥१७३॥

उन वनों के भीतर कहीं पर तिखूटी और कहीं पर चौखूटी बावड़ियाँ थीं तथा वे बावड़ियाँ स्नान कर बाहर निकली हुई देवांगनाओं के स्तनों

पर लगी हुई केसर के घुल जानें से पीली-पीली हो रही थीं ॥१७४॥

उन वनों में कहीं कमलों से युक्त छोटे-छोटे तालाब थे, कहीं कृत्रिम पर्वत बने हुए थे और कहीं मनोहर महल बने हुए थे और कहीं पर क्रीड़ा-मण्डप बने हुए थे ॥१७५॥

कहीं सुन्दर वस्तुओं के देखने के घर (अजायबघर) बने हुए थे, कहीं चित्रशालाएँ बनी हुई थी, और कहीं एक खण्ड की तथा कहीं दो तीन आदि खण्डों की बड़े-बड़े महलों की पंक्तियाँ बनी हुई थीं ॥१७६॥

कहीं हरी-हरी घास से युक्त भूमि थी कहीं इन्द्रगोप नाम के कीड़ों से व्याप्त पृथ्वी थी, कहीं अतिशय मनोज्ञ तालाब थे और कहीं उत्तम बालू के किनारों से सुशोभित नदियाँ बह रही थीं ॥१७७॥

वे चारों ही वन उत्तम स्त्रियों के समान सेवन करने योग्य थे क्योंकि वे वन भी उत्तम स्त्रियों के समान ही मनोहर थे, मेदुर अर्थात् अतिशय चिकने थे, उन्निद्रकुसुम अर्थात् फूले हुए फूलों से सहित (पक्ष में ऋतुधर्म से सहित) थे, सश्री अर्थात् शोभा से सहित थे, और कामद अर्थात् इच्छित पदार्थों के (पक्ष में काम के) देने वाले थे ॥१७८॥

अथवा वे वन स्त्रियों के उत्तरीय (ओढ़ने की चूनरी) वस्त्र के समान सुशोभित हो रहे थे क्योंकि जिस प्रकार स्त्रियों का उत्तरीय वस्त्र आतप की बाधा को नष्ट कर देता है उसी प्रकार उन वनों ने भी आतप की बाधा को नष्ट कर दिया था, स्त्रियों का उत्तरीय वस्त्र जिस प्रकार उत्तम पल्लव अर्थात् अंचल से सुशोभित होता है उसी प्रकार वे वन भी पल्लव अर्थात् नवीन कोमल पत्तों से सुशोभित हो रहे थे और स्त्रियों का उत्तरीय वस्त्र जिस प्रकार पयोधर अर्थात् स्तनों का स्पर्श करता है उसी प्रकार वे वन भी ऊँचे होने के कारण पयोधर अर्थात् मेघों का स्पर्श कर रहे थे ॥१७९॥

उन चारों वनों में से पहला अशोक वन जो कि प्राणियों के शोक को नष्ट करने वाला था, लाल रंग के फूल और नवीन पत्तों से ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो अपने अनुराग (प्रेम) का ही वमन कर रहा हो ॥१८०॥

प्रत्येक गाँठ पर सात-सात पत्तों को धारण करने वाले सप्तछन्द वृक्षों का दूसरा वन भी सुशोभित हो रहा था जो कि ऐसा जान पड़ता था मानो वृक्षों के प्रत्येक पर्व पर भगवान् के सज्जातित्व सद्गृहस्थत्व पारिव्राज्य आदि सात परम स्थानों को ही दिखा रहा हो ॥१८१॥

फूलों के भार से सुशोभित तीसरा चम्पक वृक्षों का वन भी सुशोभित हो रहा था और वह ऐसा जान पड़ता था मानो भगवान की सेवा करने के लिए दीपांग जाति के कल्पवृक्षों का वन ही आया हो ॥१८२॥

तथा कोयलों के मधुर शब्दों से मनोहर चौथा आम के वृक्षों का वन भी ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो पवित्र उपदेश देने वाले भगवान की भक्ति से स्तुति ही कर रहा हो ॥१८३॥

अशोक वन के मध्य भाग में एक बड़ा भारी अशोक का वृक्ष था जो कि सुवर्ण की बनी हुई तीन कटनीदार ऊँची पीठिका पर स्थित था ॥१८४॥

वह वृक्ष, जिनमें चार-चार गोपुरद्वार बने हुए हैं ऐसे तीन कोटों से घिरा हुआ था तथा उसके समीप में ही छत्र चमर, भृङ्गार और कलश आदि मंगलद्रव्य रखे हुए थे ॥१८५॥

जिस प्रकार जम्बूद्वीप की मध्यभूमि में जम्बूवृक्ष सुशोभित होता है उसी प्रकार उस अशोकवन की मध्यभूमि में वह अशोक नामक चैत्यवृक्ष सुशोभित हो रहा था ॥१८६॥

जिसने अपनी शाखाओं के अग्रभाग से समस्त दिशाओं को व्याप्त कर रखा है ऐसा वह अशोक वृक्ष ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो समस्त संसार को अशोकमय अर्थात् शोकरहित करने के लिए ही उद्यत हुआ हो ॥१८७॥

समस्त दिशाओं को सुगन्धित करने वाले फूलों से जिसने आकाश को व्याप्त कर लिया है ऐसा यह चैत्यवृक्ष ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो सिद्ध-विद्याधरों के मार्ग को ही रोक रहा हो ॥१८८॥

वह वृक्ष नीलमणियों के बने हुए अनेक प्रकार के पत्तों से व्याप्त हो रहा था और पद्मराग मणियों के बने हुए फूलों के गुच्छों से घिरा हुआ था ॥१८९॥

सुवर्ण की बनी हुई उसकी बहुत ऊँची-ऊँची शाखाएँ थीं, उसका देदीप्यमान भाग वज्र का बना हुआ था तथा उस पर बैठे हुए भ्रमरों के समूह जो मनोहर झंकार कर रहे थे उनसे वह ऐसा जान पड़ता था मानो कामदेव की तर्जना ही कर रहा हो ॥१९०॥

वह चैत्यवृक्ष सुर, असुर और नरेन्द्र आदि के मनरूपी हाथियों के बाँधने के लिए खंभे के समान था तथा उसने अपने प्रभामण्डल से समस्त दिशाओं को प्रकाशित कर रखा था ॥१९१॥

उस पर जो शब्द करते हुए घंटे लटक रहे थे उनसे उसने समस्त दिशा बहिरी कर दी थी और उनसे वह ऐसा जान-पड़ता था कि भगवान् ने अधोलोक, मध्यलोक और स्वर्गलोक में जो विजय प्राप्त की है सन्तोष से मानो वह उसकी घोषणा ही कर रहा हो ॥१९२॥

वह वृक्ष ऊपर लगी हुई ध्वजाओं के वस्त्रों से पोंछ-पोंछकर आकाश को मेघरहित कर रहा था और उनसे ऐसा जान पड़ता था मानो संसारी जीवों की देह में लगे हुए पापों को ही पोंछ रहा हो ॥१९३॥

वह वृक्ष मोतियों की झालर से सुशोभित तीन छत्रों को अपने सिर पर धारण कर रहा था और उनसे ऐसा जान पड़ता था मानो भगवान् के तीनों लोकों के ऐश्वर्य को बिना वचनों के ही दिखला रहा हो ॥१९४॥

उस चैत्यवृक्ष के मूलभाग में चारों दिशाओं में जिनेन्द्रदेव की चार प्रतिमाएँ थीं जिनका इन्द्र स्वयं अभिषेक करते थे ॥१९५॥

देव लोग वहाँ पर विराजमान उन जिनप्रतिमाओं की गन्ध, पुष्पों की माला, धूप, दीप, फल और अक्षत आदि से निरन्तर पूजा किया करते थे ॥१९६॥

क्षीरसागर के जल से जिनके अंगों का प्रक्षालन हुआ है और जो अतिशय निर्मल हैं ऐसी सुवर्णमयी अरहंत की उन प्रतिमाओं को नमस्कार कर मनुष्य, सुर और असुर सभी उनकी पूजा करते थे ॥१९७॥

कितने ही उत्तम देव अर्थ से भरी हुई स्तुतियों से उन प्रतिमा की स्तुति करते थे, कितने ही उन्हें नमस्कार करते थे और कितने ही उनके गुणों का स्मरण कर तथा चिन्तन कर गान करते थे ॥१९८॥

जिस प्रकार अशोकवन में अशोक नाम का चैत्यवृक्ष है उसी प्रकार अन्य तीन वनों में भी अपनी-अपनी जाति का एक-एक चैत्यवृक्ष था और उन सभी के मूलभाग जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमाओं से देदीप्यमान थे ॥१९९॥

इस प्रकार ऊपर कहे हुए चारों वनों में क्रम से अशोक, सप्तपर्ण, चम्पक और आम्र नाम के चार बहुत ही ऊँचे चैत्यवृक्ष थे ॥२००॥

मूलभाग में जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमा विराजमान होने से जो 'चैत्यवृक्ष' इस सार्थक नाम को धारण कर रहे हैं और इन्द्र जिनकी पूजा किया करते हैं ऐसे वे चैत्यवृक्ष बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहे थे ॥२०१॥

पार्थिव अर्थात् पृथिवी से उत्पन्न हुए वे वृक्ष सचमुच ही पार्थिव अर्थात् पृथिवी के स्वामी-राजा के समान जान पड़ते थे क्योंकि जिस प्रकार राजा अनेक फलों से अलंकृत होते हैं उसी प्रकार वे वृक्ष भी अनेक फलों से अलंकृत थे, राजा जिस प्रकार तेजस्वी होते हैं उसी प्रकार वे वृक्ष भी तेजस्वी (देदीप्यमान) थे, राजा जिस प्रकार अपने पाद अर्थात् पैरों से समस्त पृथिवी को आक्रान्त किया करते हैं (समस्त पृथिवी में अपना यातायात रखते हैं) उसी प्रकार वे वृक्ष भी अपने पाद अर्थात् जड़ भाग से समस्त पृथिवी को आक्रान्त कर रहे थे (समस्त पृथिवी में उनकी जड़ें फैली हुई थीं) और राजा जिस प्रकार पत्र अर्थात् सवारियों से भरपूर रहते हैं उसी प्रकार वे वृक्ष भी पत्र अर्थात् पत्तों से भरपूर थे ॥२०२॥

वे वृक्ष अपने पल्लव अर्थात् लाल-लाल नयी कोपलों से ऐसे जान पड़ते थे मानो अन्तरंग का अनुराग (प्रेम) ही प्रकट कर रहे हों और फूलों के समूह से ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो हृदय की प्रसन्नता ही दिखला रहे हों-इस प्रकार वे वृक्ष भगवान् की सेवा कर रहे थे ॥२०३॥ जब कि उन वृक्षों का ही ऐसा बड़ा भारी माहात्म्य था तब उपमारहित भगवान् वृषभदेव के केवलज्ञानरूपी विभव के विषय में कहना ही क्या है-वह तो सर्वथा अनुपम ही था ॥२०४॥

उन वनों के अन्त में चारों ओर एक-एक वनवेदी थी जो कि ऊँचे-ऊँचे चार गोपुर-द्वारों से आकाशरूपी आँगन को रोक रही थी ॥२०५॥

वह सुवर्णमयी वनवेदिका सब ओर से रत्नों से जड़ी हुई थी जिससे ऐसी जान पड़ती थी मानो उस वन की करधनी ही हो ॥२०६॥

अथवा वह वनवेदिका भव्य जीवों की बुद्धि के समान सुशोभित हो रही थी क्योंकि जिस प्रकार भव्य जीवों की बुद्धि उदग्र अर्थात् उत्कृष्ट होती है उसी प्रकार वह वनवेदिका भी उदग्र अर्थात् बहुत ऊँची थी, भव्य जीवों की बुद्धि जिस प्रकार सचर्या अर्थात् उत्तम चारित्र से सहित होती है उसी प्रकार वह वनवेदिका भी सचर्या अर्थात् रक्षा से सहित थी और भव्य जीवों की बुद्धि जिस प्रकार समयावनं (समय+अवनं संश्रित्य) अर्थात् आगमरक्षा का आश्रय कर प्रवृत्त रहती है उसी प्रकार वह वनवेदिका भी समया वनं (वनं समया संश्रित्य) अर्थात् वन के समीप भाग का आश्रय कर प्रवृत्त हो रही थी ॥२०७॥

अथवा वह वनवेदिका, सुगुप्तांगी अर्थात् सुरक्षित थी, सती अर्थात् समीचीन थी, रुचिरा अर्थात् देदीप्यमान थी, सूत्रपा अर्थात् सूत्र (डोरा) की रक्षा करने वाली थी-सूत के नाप में बनी हुई थी-कहीं ऊँची-नीची नहीं थी, और वन को चारों ओर से घेरे हुए थी इसलिए किसी सत्पुरुष की बुद्धि के समान जान पड़ती थी क्योंकि सत्पुरुष की बुद्धि भी सुगुप्तांगी अर्थात् सुरक्षित होती है-पापाचारों से अपने शरीर को सुरक्षित रखती है, सती अर्थात् शंका आदि दोषों से रहित होती है, रुचिरा अर्थात् श्रद्धागुण प्रदान करने वाली होती है, सूत्रपा अर्थात् आगम की रक्षा करने वाली होती है और सूत्रपावनं अर्थात् सूत्रों से पवित्र जैनशास्त्र को घेरे रहती है-उन्हीं के अनुकूल प्रवृत्ति करती है ॥

२०८॥

उस वेदिका के प्रत्येक गोपुर-द्वार में घण्टाओं के समूह लटक रहे थे, मोतियों की झालर तथा फूलों की मालाएँ सुशोभित हो रही थी ॥

२०९॥

उस वेदिका के चाँदी के बने हुए चारों गोपुर-द्वार अष्टमंगलद्रव्य, संगीत, बाजों का बजना, नृत्य तथा रत्नमय आभरणों से युक्त तोरणों से बहुत ही सुशोभित हो रहे थे ॥२१०॥

उन वेदिकाओं से आगे सुवर्णमय खम्भों के अग्रभाग पर लगी हुई अनेक प्रकार की ध्वजाओं की पंक्तियाँ महावीथी के मध्य की भूमि को अलंकृत कर रही थीं ॥२११॥

वे ध्वजाओं के खम्भे मणिमयी पीठिकाओं पर स्थिर थे, देदीप्यमान कान्ति से युक्त थे, जगत्मान्य थे और अतिशय ऊँचे थे इसलिए किन्हीं उत्तम राजाओं के समान सुशोभित हो रहे थे क्योंकि उत्तम राजा भी मणिमय आसनों पर स्थित होते हैं-बैठते हैं, देदीप्यमान कान्ति से युक्त होते हैं, जगत्मान्य होते हैं-संसार के लोग उनका सत्कार करते हैं और अतिशय उन्नत अर्थात् उदारहृदय होते हैं ॥२१२॥

उन खम्भों की चौड़ाई अट्ठासी अंगुल कही गयी है और उनका अन्तर पच्चीस-पच्चीस धनुष प्रमाण जानना चाहिए ॥२१३॥

सिद्धार्थवृक्ष, चैत्यवृक्ष, कोट, वनवेदिका, स्तूप, तोरणसहित मानस्तम्भ और ध्वजाओं के खम्भे ये सब तीर्थकरों के शरीर की ऊँचाई से बारह गुने ऊँचे होते हैं और विद्वानों ने इनकी चौड़ाई आदि इनकी लम्बाई के अनुरूप बतलायी है ॥२१४-२१५॥

इसी प्रकार आगम के जानने वाले विद्वानों ने वन, वन के मकान और पर्वतों की भी यही ऊँचाई बतलायी है अर्थात् ये सब भी तीर्थकर के शरीर से बारह गुने ऊँचे होते हैं ॥२१६॥

पर्वत अपनी ऊँचाई से आठ गुने चौड़े होते हैं और स्तूपों का व्यास विद्वानों ने अपनी ऊँचाई से कुछ अधिक बतलाया है ॥२१७॥

परमज्ञानरूपी समुद्र के पारगामी गणधर देवों ने वनवेदियों की चौड़ाई वन की ऊँचाई से चौथाई बतलायी है ॥२१८॥

ध्वजाओं में माला, वस्त्र, मयूर, कमल, हंस, गरुड़, सिंह, बैल, हाथी और चक्र के चिह्न थे इसलिए उनके दस भेद हो गये थे ॥२१९॥

एक-एक दिशा में एक-एक प्रकार की ध्वजाएँ एक सौ आठ-एक सौ आठ थीं, वे ध्वजाएँ बहुत ही ऊँची थीं और समुद्र की लहरों के समान जान पड़ती थी ॥२२०॥

वायु से हिलता हुआ उन ध्वजाओं के वस्त्रों का समुदाय ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करने के लिए मनुष्य और देवों को बुलाना ही चाहता हो ॥२२१॥

मालाओं के चिह्न वाली ध्वजाओं पर फूलों की बनी हुई दिव्यमालाएँ लटक रही थीं और वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो भव्य-जीवों का सौमनस्य अर्थात् सरल परिणाम दिखलाने के लिए ही इन्होंने उन्हें बनाया हो ॥२२२॥

वस्त्रों के चिह्न वाली ध्वजाएँ महीन और सफेद वस्त्रों की बनी हुई थी तथा वे वायु से हिल-हिलकर उड़ रही थीं जिससे ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो आकाशरूपी समुद्र की उठती हुई बड़ी ऊँची लहरें ही हो ॥२२३॥

मयूरों के चिह्न वाली ध्वजाओं में जो मयूर बने हुए थे वे लीलापूर्वक अपनी पूंछ फैलाये हुए थे और साँप की बुद्धि से वस्त्रों को निगल रहे थे जिससे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो साँप की काँचली ही निगल रहे हो ॥२२४॥

कमलों के चिह्न वाली ध्वजाओं में जो कमल बने हुए थे वे अपने एक हजार दलों के विस्तार से ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो

आकाशरूपी सरोवर में कमल ही फूल रहे हों ॥२२५॥

रत्नमयी पृथ्वी पर उन ध्वजाओं में बने हुए कमलों के जो प्रतिबिम्ब पड़ रहे थे वे कमल समझकर उन पर पड़ते हुए भ्रमरों को भ्रम उत्पन्न करते थे ॥२२६॥

उन कमलों की दूसरी जगह नहीं पायी जाने वाली उस समय की शोभा देखकर लक्ष्मी ने अन्य समस्त कमलों को छोड़ दिया था और उन्हीं में अपने रहने का स्थान बनाया था । भावार्थ-वे कमल बहुत ही सुन्दर थे इसलिए ऐसे जान पड़ते थे मानो लक्ष्मी अन्य सब कमलों को छोड़कर उन्हीं में रहने लगी हो ॥२२७॥

हंसों की चिह्न वाली ध्वजाओं में जो हंसों के चिह्न बने हुए थे वे अपने चोंच से वस्त्र को ग्रस रहे थे और ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो उसके बहाने अपनी द्रव्यलेश्या का ही प्रसार कर रहे हो ॥२२८॥

जिन ध्वजाओं में गरुड़ों के चिह्न बने हुए थे उनके दण्डों के अग्रभाग पर बैठे हुए गरुड़ अपने पंखों के विक्षेप से ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो आकाश को ही उल्लंघन करना चाहते हो ॥२२९॥

नीलमणिमयी पृथ्वी में उन गरुड़ के जो प्रतिबिम्ब पड़ रहे थे उनसे वे ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो नागेन्द्रों को खींचने के लिए पाताल लोक में ही प्रवेश कर रहे हों ॥२३०॥

सिंहों के चिह्न वाली ध्वजाओं के अग्रभाग पर जो सिंह बने हुए थे वे छलांग भरने की इच्छा से ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो देवों के हाथियों को जीतने के लिए ही प्रयत्न कर रहे हैं ॥२३१॥

उन सिंहों के मुखों पर जो बड़े-बड़े मोती लटक रहे थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो बड़े-बड़े हाथियों के मस्तक विदारण करने से इकट्ठे हुए यश ही लटक रहे हों ॥२३२॥

बैलों की चिह्न वाली ध्वजाओं में, जिनके सींगों के अग्रभाग में ध्वजाओं के वस्त्र लटक रहे हैं ऐसे बैल बने हुए थे और वे ऐसे शोभायमान हो रहे थे माना शत्रुओं को जीत लेने से उन्हें विजयपताका ही प्राप्त हुई हो ॥२३३॥

हाथी की चिह्न वाली ध्वजाओं पर जो हाथी बने हुए थे वे अपनी ऊँची उठी हुई सूंडों से पताकाएँ धारण कर रहे थे और उनसे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो जिनके शिखर के अग्रभाग से बड़े-बड़े निर्झरने पड़ रहे हैं ऐसे बड़े पर्वत ही हों ॥२३४॥

और चक्रों के चिह्न वाली ध्वजाओं में जो चक्र बने हुए थे उनमें हजार-हजार आरियाँ थीं तथा उनकी किरणें ऊपर की ओर उठ रही थीं, उन चक्रों से वे ध्वजाएँ ऐसी सुशोभित हो रही थीं, मानो सूर्य के साथ स्पर्द्धा करने के लिए ही तैयार हुई हों ॥२३५॥

इस प्रकार वे महाध्वजाएँ ऐसी फहरा रही थीं मानो आकाश को साफ ही कर रही हों, अथवा दिशारूपी स्त्रियों को आलिंगन ही कर रही हों अथवा पृथिवी का आस्फालन ही कर रही हों ॥२३६॥

इस प्रकार मोहनीय कर्म को जीत लेने से प्राप्त हुई वे ध्वजाएँ अन्य दूसरी जगह नहीं पाये जाने वाले भगवान् के तीनों लोकों के स्वामित्व को प्रकट करती हुई बहुत ही सुशोभित हो रही थीं ॥२३७॥ एक-एक दिशा में वे सब ध्वजाएँ एक हजार अस्सी थीं और चारों दिशाओं में चार हजार तीन सौ बीस थीं ॥२३८॥

उन ध्वजाओं के अनन्तर ही भीतर के भाग में चाँदी का बना हुआ एक बड़ा भारी कोट था, जो कि बहुत ही सुशोभित था और अद्वितीय अनुपम होने पर भी द्वितीय था अर्थात् दूसरा कोट था ॥२३९॥

पहले कोट के समान इसके भी चाँदी के बने हुए चार गोपुर-द्वार थे और वे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो वे गोपुर-द्वारों के बहाने से इकट्ठी हुई पृथिवीरूपी देवी के हास्य की शोभा ही हों ॥२४०॥

जिनमें अनेक आभरणसहित तोरण लगे हुए हैं ऐसे उन गोपुर-द्वारों में जो निधियाँ रखी हुई थीं वे कुबेर के ऐश्वर्य की भी हंसी उड़ाने वाली बड़ी भारी कान्ति को फैला रही थीं ॥२४१॥

उस कोट की ओर सब विधि पहले कोट के वर्णन के साथ ही कही जा चुकी है, पुनरुक्ति दोष के कारण यहाँ फिर से उसका विस्तार के साथ वर्णन नहीं किया जा रहा है ॥२४२॥

पहले के समान यहाँ भी प्रत्येक महावीथी के दोनों ओर दो नाट्यशालाएँ थीं और दो धूपघट रखे हुए थे ॥२४३॥

इस कक्षा में विशेषता इतनी है कि धूपघटों के बाद गलियों के बीच के अन्तराल में कल्पवृक्षों का वन था, जो कि अनेक प्रकार के रत्नों की कान्ति के फैलने से देदीप्यमान हो रहा था ॥२४४॥

उस वन के वे कल्पवृक्ष बहुत ही ऊँचे थे, उत्तम छाया वाले थे, फलों से सुशोभित थे और अनेक प्रकार की माला, वस्त्र तथा आभूषणों से सहित थे इसलिए अपनी शोभा से राजाओं के समान जान पड़ते थे क्योंकि राजा भी बहुत ऊँचे अर्थात् अतिशय श्रेष्ठ अथवा उदार होते

हैं, उत्तम छाया अर्थात् कान्ति से युक्त होते हैं, अनेक प्रकार की वस्तुओं की प्राप्तिरूपी फलों से सुशोभित होते हैं और तरह-तरह की माला, वस्त्र तथा आभूषणों से युक्त होते हैं ॥२४५॥

उन कल्पवृक्षों को देखकर ऐसा मालूम होता था मानो अपने दस प्रकार के कल्पवृक्षों की पंक्तियों से युक्त हुए देवकुरु और उत्तरकुरु ही भगवान् की सेवा करने के लिए आये हों ॥२४६॥

उन कल्पवृक्षों के फल आभूषणों के समान जान पड़ते थे, नवीन कोमल पत्ते वस्त्रों के समान मालूम होते थे और शाखाओं के अग्रभाग पर लटकती हुई मालाएँ बड़ी-बड़ी जटाओं के समान सुशोभित हो रही थीं ॥२४७॥

उन वृक्षों के नीचे छायातल में बैठे हुए देव और धरणेन्द्र अपने-अपने भवनों में प्रेम छोड़कर वहीं पर चिरकाल तक क्रीड़ा करते रहते थे ॥ २४८ ॥

ज्योतिष्कदेव ज्योतिरङ्ग जाति के कल्पवृक्षों में, कल्पवासी देव दीपांग जाति के कल्पवृक्षों में और भवनवासियों के इन्द्र मालांग जाति के कल्पवृक्षों में यथायोग्य प्रीति धारण करते थे । भावार्थ-जिस देव को जो वृक्ष अच्छा लगता था वे उसी के नीचे क्रीड़ा करते थे ॥२४९॥

वह कल्पवृक्षों का वन वधू-वर के समान सुशोभित हो रहा था क्योंकि जिस प्रकार वधू-वर मालाओं से सहित होते उसी प्रकार वह वन भी मालाओं से सहित था, वधू-वर जिस प्रकार आभूषणों से युक्त होते हैं उसी प्रकार वह वन भी आभूषणों से युक्त था, जिस प्रकार वधू-वर सुन्दर वस्त्र पहिने रहते हैं उसी प्रकार उस वन में सुन्दर वस्त्र टंगे हुए थे, जिस प्रकार वर-वधू के अधर (ओठ) पल्लव के समान लाल होते हैं उसी प्रकार उस वन के पल्लव (नये पत्ते) लाल थे । वर-वधू के आसपास जिस प्रकार दीपक जला करते हैं उसी प्रकार उस वन में भी दीपक जल रहे थे और वर-वधू जिस प्रकार अतिशय सुन्दर होते हैं उसी प्रकार वह वन भी अतिशय सुन्दर था । भावार्थ-उस वन में कहीं मालांग जाति के वृक्षों पर मालाएँ लटक रहीं थीं, कहीं भूषणांग जाति के वृक्षों पर भूषण लटक रहे थे, कहीं वस्त्रांग जाति के वृक्षों पर सुन्दर-सुन्दर वस्त्र टंगे हुए थे, कहीं उन वृक्षों में नये-नये, लाल-लाल पत्ते लग रहे थे, और कहीं दीपांग जाति के वृक्षों पर अनेक दीपक जल रहे थे ॥२५०॥

उन कल्पवृक्षों के मध्यभाग में सिद्धार्थ वृक्ष थे, सिद्ध भगवान् की प्रतिमाओं से अधिष्ठित होने के कारण उन वृक्षों के मूल भाग बहुत ही देदीप्यमान हो रहे थे और उन सबसे वे वृक्ष सूर्य के समान प्रकाशमान हो रहे थे ॥२५१॥

पहले चैत्यवृक्षों में जिस शोभा का वर्णन किया गया है वह सब इन सिद्धार्थवृक्षों में भी लगा लेना चाहिए किन्तु विशेषता इतनी ही है कि ये कल्पवृक्ष अभिलषित फल के देने वाले थे ॥२५२॥

उन कल्पवृक्षों के वनों में कहीं बावड़ियाँ, कहीं नदियाँ, कहीं बालू के ढेर और कहीं सभागृह आदि सुशोभित हो रहे थे ॥२५३॥

उन कल्पवृक्षों की वनवीथी को भीतर की ओर चारों तरफ से वनवेदिका घेरे हुए थी, वह वनवेदिका सुवर्ण की बनी हुई थी, और चार गोपुरद्वारों से सहित थी ॥२५४॥

उन गोपुर-द्वारों में तोरण और मंगलद्रव्यरूप सम्पदाओं का वर्णन पहले ही किया जा चुका है तथा उनकी लम्बाई चौड़ाई आदि भी पहले के समान ही जानना चाहिए ॥२५५॥

उन गोपुरद्वारों के आगे भीतर की ओर बड़ा लम्बा-चौड़ा रास्ता था और उसके दोनों ओर देवरूप कारीगरों के द्वारा बनायी हुई अनेक प्रकार के मकानों की पंक्तियाँ थीं ॥२५६॥

जिनके बड़े-बड़े खम्भे सुवर्ण के बने हुए हैं, जिनके अधिष्ठान-बन्धन अर्थात् नींव वज्रमयी हैं, जिनकी सुन्दर दीवालें चन्द्रकान्तमणियों की बनी हुई हैं और जो अनेक प्रकार के रत्नों से चित्र-विचित्र हो रहे हैं ऐसे वे सुन्दर मकान कितने ही दो खण्ड के थे, कितने ही तीन खण्ड के और कितने ही चार खण्ड के थे, कितने ही चन्द्रशालाओं (मकानों के ऊपरी भाग) से सहित थे तथा कितने ही अट्टालिका आदि से सुशोभित थे ॥२५७-२५८॥

जो अपनी ही प्रभा में डूबे हुए हैं ऐसे वे मकान अपने शिखरों के अग्रभाग से आकाश का स्पर्श करते हुए ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो चाँदनी से ही बने हों ॥२५९॥

कहीं पर कूटागार (अनेक शिखरों वाले अथवा झूला देने वाले मकान), कहीं पर सभागृह और कहीं पर प्रेक्षागृह (नाट्यशाला अथवा अजायबघर) सुशोभित हो रहे थे, उन कूटागार आदि में शय्याएँ बिछी हुई थीं, आसन रखे हुए थे, ऊँची-ऊँची सीढ़ियाँ लगी हुई थीं और

उन सबने अपनी कान्ति से आकाश को सफेद-सफेद कर दिया था ॥२६०॥

उन मकानों में देव, गन्धर्व, सिद्ध (एक प्रकार के देव), विद्याधर, नागकुमार और किन्नर जाति के देव बड़े आदर के साथ सदा क्रीड़ा किया करते थे ॥२६१॥

उन देवों में कितने ही देव तो गाने में उद्यत थे और कितने ही बाजा बजाने में तत्पर थे इस प्रकार वे देव संगीत और नृत्य आदि की गोष्ठियों-द्वारा भगवान की आराधना कर रहे थे ॥२६२॥

महावीथियों के मध्यभाग में नौ-नौ स्तूप खड़े हुए थे, जो कि पद्मरागमणियों के बने हुए बहुत ऊँचे थे और अपने अग्रभाग से आकाश का उल्लंघन कर रहे थे ॥२६३॥

सिद्ध और अर्हन्त भगवान् की प्रतिमाओं के समूह से वे स्तूप चारों ओर से चित्र-विचित्र हो रहे थे और ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो मनुष्यों का अनुराग ही स्तूपों के आकार को प्राप्त हो गया हो ॥२६४॥

वे स्तूप ठीक मेरु पर्वत के समान सुशोभित हो रहे थे क्योंकि जिस प्रकार मेरु पर्वत अपनी ऊँचाई से आकाश को घेरे हुए है उसी प्रकार वे स्तूप भी अपनी ऊँचाई से आकाश को घेरे हुए थे, जिस प्रकार मेरु पर्वत विद्याधरों के द्वारा आराधना करने योग्य है उसी प्रकार वे स्तूप भी विद्याधरों के द्वारा आराधना करने योग्य थे और जिस प्रकार सुमेरु पर्वत पूजा को प्राप्त है उसी प्रकार वे स्तूप भी पूजा को प्राप्त थे ॥

२६५॥

सिद्ध तथा चारण मुनियों के द्वारा आराधना करने योग्य वे अतिशय ऊँचे स्तूप ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो स्तूपों का आकार धारण करती हुई भगवान् की नौ केवललब्धियाँ ही हों ॥२६६॥

उन स्तूपों के बीच में आकाशरूपी आँगन को चित्र-विचित्र करने वाले रत्नों के अनेक बन्दनवार बँधे हुए थे जो कि ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो इन्द्रधनुष के ही बँधे हुए हों ॥२६७॥

उन स्तूपों पर छत्र लगे हुए थे, पताकाएँ फहरा रही थीं, मंगलद्रव्य रखे हुए थे और इन सब कारणों से वे लोगों को बहुत ही आनन्द उत्पन्न कर रहे थे इसलिए ठीक राजाओं के समान सुशोभित हो रहे थे क्योंकि राजा लोग भी छत्र, पताका और सब प्रकार के मंगलों से सहित होते हैं तथा लोगों को आनन्द उत्पन्न करते रहते हैं ॥२६८॥

उन स्तूपों पर जो जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमाएँ विराजमान थीं भव्य लोग उनका अभिषेक कर उनकी स्तुति और पूजा करते थे तथा प्रदक्षिणा देकर बहुत ही हर्ष को प्राप्त होते थे ॥२६९॥

उन स्तूपों में और मकानों की पंक्तियों से घिरी हुई पृथ्वी को उल्लंघन कर उसके कुछ आगे आकाश के समान स्वच्छ स्फटिकमणि का बना हुआ कोट था जो कि ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो आकाश ही उस कोटरूप हो गया हो ॥२७०॥

अथवा विशुद्ध परिणाम (परिणमन) होने से और जिनेन्द्र भगवान् के समीप ही सेवा करने से वह कोट भव्यजीव के समान सुशोभित हो रहा था क्योंकि भव्यजीव भी विशुद्ध परिणामों (भावों) का धारक होता है और जिनेन्द्र भगवान् के समीप रहकर ही उनकी सेवा करता है । इसके सिवाय वह कोट भव्य जीव के समान ही तुङ्ग अर्थात् ऊँचा (पक्ष में श्रेष्ठ) और सद्गुण अर्थात् सुगोल (पक्ष में सदाचारी) था ॥

२७१॥

अथवा वह कोट बड़े-बड़े विद्याधरों के द्वारा सेवनीय था, ऊँचा था, और अचल था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो विजयार्थ पर्वत ही कोट का रूप धारण कर भगवान की प्रदक्षिणा दे रहा हो ॥२७२॥

उस उत्तम कोट की चारों दिशाओं में चार ऊँचे गोपुर-द्वार थे जो पद्मरागमणि के बने हुए थे, और ऐसे मालूम पड़ते थे मानो भव्य जीवों के अनुराग से ही बने हों ॥२७३॥

जिस प्रकार पहले कोटों के गोपुर-द्वारों पर मंगलद्रव्यरूपी सम्पदाएँ रखी हुई थी उसी प्रकार इन गोपुर-द्वारों पर भी मंगलद्रव्यरूपी सम्पदाएं जानना चाहिए । और पहले की तरह ही इन गोपुर-द्वारों के समीप में भी देदीप्यमान तथा गम्भीर आकार वाली निधियां रखी हुई थीं ॥२७४॥

प्रत्येक गोपुर-द्वार पर पंखा, छत्र, चामर, ध्वजा, दर्पण, सुप्रतिष्ठक (ठौना) मुकर और कलश ये आठ-आठ मंगल द्रव्य रखे हुए थे ॥२७५॥ तीनों कोटों के गोपुर-द्वारों पर क्रम से गदा आदि हाथ में लिये हुए व्यन्तर भवनवासी और कल्पवासी देव द्वारपाल थे । भावार्थ-पहले कोट

के दरवाजों पर व्यन्तर देव पहरा देते थे, दूसरे कोट के दरवाजों पर भवनवासी पहरा देते थे और तीसरे कोट के दरवाजों पर कल्पवासी देव पहरा दे रहे थे । ये सभी देव अपने-अपने हाथों में गदा आदि हथियारों को लिये हुए थे ॥२७६॥

तदनन्तर उस आकाश के समान स्वच्छ स्फटिकमणि के कोट से लेकर पीठ पर्यन्त लम्बी और महवीथियों (बड़े-बड़े रास्तों) के अन्तराल में आश्रित सोलह दीवालें थीं । भावार्थ-चारों दिशाओं की चारों महावीथियों के अगल बगल दोनों ओर आठ दीवालें थीं और दो-दो के हिसाब से चारों विदिशाओं में भी आठ दीवालें थीं इस प्रकार सब मिलाकर सोलह दीवालें थी । ये दीवालें स्फटिक कोट से लेकर पीठ पर्यन्त लम्बी थीं और बारह सभाओं का विभाग कर रही थी ॥२७७॥

जो आकाशस्फटिक से बनी हुई है; जिनकी निर्मल कान्ति चारों ओर फैल रही है और जो प्रथम पीठ के किनारे तक लगी हुई हैं ऐसी वे दीवालें चाँदनी के समान आचरण कर रही थीं ॥२७८॥

वे दीवालें अतिशय पवित्र थीं, समस्त वस्तुओं के प्रतिबिम्ब दिखला रहीं थीं और बड़े भारी ऐश्वर्य से सहित थी इसलिए ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो जगत् के भर्ता भगवान् वृषभदेव की श्रेष्ठ विद्याएं हो ॥२७९॥

उन दीवालों के ऊपर रत्नमय खम्भों से खड़ा हुआ और आकाशस्फटिकमणि का बना हुआ बहुत बड़ा भारी शोभायुक्त श्रीमण्डप बना हुआ था ॥२८०॥

वह श्रीमण्डप वास्तव में श्रीमण्डप था क्योंकि वहाँ पर परमेश्वर भगवान् वृषभदेव ने मनुष्य, देव और धरणेन्द्रों के समीप तीनों लोकों की श्री (लक्ष्मी) स्वीकृत की थी ॥२८१॥

तीनों लोकों के समस्त जीवों को स्थान दे सकने के कारण जिसे बड़ा भारी वैभव प्राप्त हुआ है ऐसा वह श्रीमण्डप आकाश के अन्तर्भाग में ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो प्रतिबिम्बित हुआ दूसरा आकाश ही हो । भावार्थ-उस श्रीमण्डप का ऐसा अतिशय था कि उसमें एक साथ तीनों लोकों के समस्त जीवों को स्थान मिल सकता था, और वह अतिशय ऊँचा तथा स्वच्छ था ॥२८२॥

उस श्रीमण्डप के ऊपर यक्षदेवों के द्वारा छोड़े हुए फूलों के समूह नीचे बैठे हुए मनुष्य के हृदय में ताराओं की शंका कर रहे थे ॥२८३॥

उस श्रीमण्डप में मदोन्मत्त शब्द करते हुए भ्रमरों के द्वारा सूचित होने वाली फूलों की मालाएँ मानो जिनेन्द्रदेव के चरण-कमलों की छाया की शीतलता के आश्रय से ही कभी म्लानता को प्राप्त नहीं होती थीं-कभी नहीं मुरझाती थीं । भावार्थ-उस श्रीमण्डप में स्फटिकमणि की दीवालों पर जो सफेद फूलों की मालाएँ लटक रही थीं वे रंग की समानता के कारण अलग से पहचान में नहीं आती थीं परन्तु उन पर शब्द करते हुए जो काले-काले मदोन्मत्त भ्रमर बैठे हुए थे उनसे ही उनकी पहचान होती थी । वे मालाएँ सदा हरी-भरी रहती थीं कभी मुरझाती नहीं थीं जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो भगवान् के चरण-कमलों की शीतल छाया का आश्रय पाकर ही नहीं मुरझाती हों ॥२८४॥

उस श्रीमण्डप में नीलकमलों के उपहारों पर बैठी हुई भ्रमरों की पंक्ति रंग की सदृशता के कारण अलग से दिखाई नहीं देती थी केवल गुंजार शब्दों से प्रकट हो रही थी ॥२८५॥

अहा, जिनेन्द्र भगवान् का यह कैसा अद्भुत माहात्म्य था कि केवल एक योजन लम्बे-चौड़े उस श्रीमण्डप में समस्त मनुष्य, सुर और असुर एक-दूसरे को बाधा न देते हुए सुख से बैठ सकते थे ॥२८६॥

उस श्रीमण्डप में स्वच्छ मणियों के समीप आया हुआ हंसों का समूह यद्यपि उन मणियों के समान रंग वाला ही था-उन्हीं के प्रकाश में छिप गया था तथापि वह अपने मधुर शब्दों से प्रकट हो रहा था ॥२८७॥

जिनकी शोभा जगत् की लक्ष्मी के दर्पण के समान है ऐसी श्रीमण्डप की उन दीवालों में तीनों लोकों के समस्त पदार्थों के प्रतिबिम्ब पड़ रहे थे और उन प्रतिबिम्बों से वे दीवालें ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो उनमें अनेक प्रकार के चित्र ही खींचे गये हों ॥२८८॥

उस श्रीमण्डप की फैलती हुई कान्ति के समुदायरूपी जल से जिनके शरीर नहलाये जा रहे हैं ऐसे देव और दानव ऐसे जान पड़ते थे मानो किसी तीर्थ में स्नान ही कर रहे हों ॥२८९॥

उसी श्रीमण्डप से घिरे क्षेत्र के मध्यभाग में स्थित पहली पीठिका सुशोभित हो रही थी, वह पीठिका वैडूर्यमणि की बनी हुई थी और ऐसी जान पड़ती थी मानो कुलाचल का शिखर ही हो ॥२९०॥

उस पीठिका पर सोलह जगह अन्तर देकर सोलह जगह ही बड़ी-बड़ी सीढ़ियाँ बनी हुई थीं । चार जगह तो चार महादिशाओं अर्थात् पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण में चार महावीथियों के सामने थीं और बारह जगह सभा के कोठों के प्रत्येक प्रवेशद्वार पर थीं ॥२९१॥

उस पीठिका को अष्ट मंगलद्रव्यरूपी सम्पदाएं और यक्षों के ऊँचे-ऊँचे मस्तकों पर रखे हुए धर्मचक्र अलंकृत कर रहे थे ॥२९२॥

जिनमें लगे हुए रत्नों की किरणें ऊपर की ओर उठ रही हैं ऐसे हजार-हजार आराओं वाले वे धर्मचक्र ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो पीठिकारूपी उदयाचल से उदय-होते हुए सूर्य के बिम्ब ही हों ॥२९३॥

उस प्रथम पीठिका पर सुवर्ण का बना हुआ दूसरा पीठ था, जो सूर्य की किरणों के साथ स्पर्धा कर रहा था और आकाश को प्रकाशमान बना रहा था ॥२९४॥

उस दूसरे पीठ के ऊपर आठ दिशाओं में आठ बड़ी-बड़ी ध्वजाएँ सुशोभित हो रही थीं, जो बहुत ऊँची थीं और ऐसी जान पड़ती थीं मानो इन्द्रों को स्वीकृत आठ लोकपाल ही हों ॥२९५॥

चक्र, हाथी, बैल, कमल, वस्त्र, सिंह, गरुड़ और माला के चिह्न से सहित तथा सिद्ध भगवान् के आठ गुणों के समान निर्मल वे ध्वजाएँ बहुत अधिक सुशोभित हो रही थीं ॥२९६॥

वायु से हिलते हुए देदीप्यमान वस्त्रों की फटकार से वे ध्वजाएँ ऐसी जान पड़ती थीं मानो पापरूपी धूलि का सम्मार्जन ही कर रही हों अर्थात् पापरूपी धूलि को झाड़ ही रही हों ॥२९७॥

उस दूसरे पीठ पर तीसरा पीठ था जो कि सब प्रकार के रत्नों से बना हुआ था, बड़ा भारी था और चमकते हुए रत्नों की किरणों से अन्धकार के समूह को नष्ट कर रहा था ॥२९८॥

वह पीठ तीन कटनियों से युक्त था तथा श्रेष्ठ रत्नों से बना हुआ था इसलिए ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो उस पीठ का रूप धरकर सुमेरु पर्वत ही भगवान् की उपासना करने के लिए आया हो ॥२९९॥

वह पीठरूपी पर्वत चक्रसहित था इसलिए चक्रवर्ती के समान जान पड़ता था, ध्वजासहित था इसलिए ऐरावत हाथी के समान मालूम होता था और सुवर्ण का बना हुआ था इसलिए महामेरु के समान सुशोभित हो रहा था ॥३००॥

पुष्पों के समूह को छूने के लिए जो भ्रमर उस पीठ पर बैठे हुए थे उन पर सुवर्ण की छाया पड़ रही थी जिससे वे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो सुवर्ण के ही बने हों ॥३०१॥

जिसने समस्त लोक को नीचा कर दिया है, जिसकी कान्ति अतिशय देदीप्यमान है और जो देव तथा धरणेन्द्रों के द्वारा पूजित है ऐसा वह पीठ जिनेन्द्र भगवान् के शरीर के समान सुशोभित हो रहा था क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् के शरीर ने भी समस्त लोकों को नीचा कर दिया था, उसकी कान्ति भी अतिशय देदीप्यमान थी, और वह भी देव तथा धरणेन्द्रों के द्वारा पूजित था ॥३०२॥

अथवा वह पीठ सुमेरु पर्वत की शोभा धारण कर रहा था क्योंकि जिस प्रकार सुमेरु पर्वत ज्योतिर्गण अर्थात् ज्योतिषी देवों के समूह से घिरा हुआ है उसी प्रकार वह पीठ भी ज्योतिर्गण अर्थात् किरणों के समूह से घिरा हुआ था, जिस प्रकार सुमेरुपर्वत सर्वोत्तर अर्थात् सब क्षेत्रों से उत्तर दिशा में है उसी प्रकार वह पीठ भी सर्वोत्तर अर्थात् सबसे उत्कृष्ट था, और जिस प्रकार सुमेरु पर्वत (जन्माभिषेक के समय) जगद्गुरु जिनेन्द्र भगवान् को धारण करता है उसी प्रकार वह पीठ भी (समवसरण भूमि में) जिनेन्द्र भगवान् को धारण कर रहा था ॥३०३॥ इस प्रकार तीन कटनीदार वह पीठ था, उसके ऊपर विराजमान हुए जिनेन्द्र भगवान् ऐसे सुशोभित हो रहे थे जैसे कि तीन लोक के शिखर पर विराजमान हुए सिद्ध परमेश्वरी सुशोभित होते हैं ॥३०४॥

आकाश के समान स्वच्छ स्फटिकमणियों से बने हुए तीसरे कोट के भीतर का विस्तार एक योजन प्रमाण था, इसी प्रकार तीनों वन (लतावन, अशोक आदि के वन और कल्पवृक्ष वन) तथा ध्वजाओं से रुकी हुई भूमि का विस्तार भी एक-एक योजन प्रमाण था और परिखा भी धूलीसाल से एक योजन चल कर थी, यह सब विस्तार जिनेन्द्रदेव का कहा हुआ है ॥३०५-३०६॥

आकाशस्फटिकमणियों से बने हुए कोट से कल्पवृक्षों के वन की वेदिका आधा योजन दूर थी और उसी साल से प्रथमपीठ पाव योजन दूरी पर था ॥३०७॥

पहले पीठ के मस्तक का विस्तार आधे कोश का था, इसी प्रकार दूसरे और तीसरे पीठ की मेखलाएँ भी प्रत्येक साढ़े सात सौ धनुष चौड़ी थीं ॥३०८॥

महावीथियों अर्थात् गोपुर-द्वारों के सामने के बड़े-बड़े रास्ते एक-एक कोश चौड़े थे और सोलह दीवालें अपनी ऊँचाई से आठवें भाग चौड़ी थीं । उन दीवालों की ऊँचाई का वर्णन पहले कर चुके हैं-तीर्थकरों के शरीर की ऊँचाई से बारहगुनी ॥३०९॥

प्रथम पीठरूप जगती आठ धनुष ऊँची जाननी चाहिए और विद्वान् लोग द्वितीय पीठ को उससे आधा अर्थात् चार धनुष ऊँचा जानते हैं ॥३१०॥

इसी प्रकार तीसरा पीठ भी चार धनुष ऊँचा था, तथा सिंहासन और धर्मचक्र की ऊँचाई एक धनुष मानी गयी है ॥३११॥

इस प्रकार ऊपर कहे अनुसार जिनेन्द्र भगवान् की समवसरण सभा बनी हुई थी। अब उसके बीच में जो जिनेन्द्र भगवान् के विराजमान होने का स्थान अर्थात् गन्धकुटी बनी हुई थी उसका वर्णन भी मेरे मुख से सुनो ॥३१२॥

इस प्रकार जब गणनायक गौतम स्वामी ने अतिशय स्पष्ट, मधुर, योग्य और तत्त्वार्थ के स्वरूप का बोध कराने वाले वचनों से जिनेन्द्र भगवान् की समवसरण-सभा का वर्णन किया तब जिस प्रकार प्रातःकाल के समय कमलिनियों का समूह प्रफुल्लित कमलों को धारण करता है उसी प्रकार जिसका अन्तःकरण प्रबोध को प्राप्त हुआ है ऐसे श्रेणिक राजा ने अपने प्रफुल्लित मुख को धारण किया था अर्थात् गौतम स्वामी के वचन सुनकर राजा श्रेणिक का मुखरूपी कमल हर्ष से प्रफुल्लित हो गया था ॥३१३॥

मिथ्यादृष्टियों के मिथ्यामतरूपी अन्धकार को नष्ट करने वाली, अतिशय योग्य और वचन सम्बन्धी दोषों से रहित गणधर गौतम स्वामी की उस वाणी को सुनकर सभा में बैठे हुए सब लोग मुनियों के साथ-साथ जिनेन्द्र भगवान् में परम प्रीति को प्राप्त हुए थे, उस समय उन सभी सभासदों के नेत्र हर्ष से प्रफुल्लित हो रहे थे जिससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो सूर्य की किरणरूपी लक्ष्मी का आश्रय पाकर फूले हुए कमलों के समूह ही हों ॥३१४॥

जिनके केवलज्ञान की उत्तम पूजा करने का अभिलाषी तथा अद्भुत विभूति को धारण करने वाला इन्द्र चारों निकायों के देवों के साथ आकर दूर से ही एकीकृत हुआ था और समवसरण भूमि को देखता हुआ अतिशय प्रसन्न हुआ था ऐसे श्री जिनेन्द्रदेव सदा जयवन्त रहें ॥ ३१५॥

क्या यह देवलोक की नयी सृष्टि है ? अथवा यह जिनेन्द्र भगवान् का प्रभाव है, अथवा ऐसा नियोग ही है, अथवा यह इन्द्र का ही प्रभाव है। इस प्रकार अनेक तर्क-वितर्क करते हुए देवों के समूह जिसे बड़े कौतुक के साथ देखते थे ऐसी वह भगवान् की समवसरण भूमि सदा जयवन्त रहे ॥३१६॥

इस प्रकार आर्षनाम से प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण के संग्रह में समवसरण का वर्णन करने वाला बाईसवां पर्व समाप्त हुआ ॥२२॥

पर्व-23 -- समवसरणविभूति

पर्व-23 -- समवसरणविभूति

कथा :

अथानन्तर-जो देदीप्यमान मणियों की कान्ति के समूह से अनेक इन्द्रधनुषों की रचना कर रहा है, जो स्वयं इन्द्र के हाथों से फैलाये हुए पुष्पों के समूह से सुशोभित हो रहा था और उससे जो ऐसा जान पड़ता है मानो मेघों के नष्ट हो जाने से जिसमें तारागण चमक रहे हैं ऐसे शरद्ऋतु के आकाश की ओर हँस ही रहा हो; जिस पर दूरते हुए चमरों के समूह से प्रतिबिम्ब पड़ रहे थे और उनसे जो ऐसा जान पड़ता था मानो उसे सरोवर समझकर हंस ही उसके बड़े भारी तलभाग की सेवा कर रहे हों; जो अपनी कान्ति से सूर्यमण्डल के साथ स्पृद्धा कर रहा था; बड़ी-बड़ी ऋद्धियों से युक्त था, और कहीं-कहीं पर आकाश-गंगा के फेन के समान स्फटिकमणियों से जड़ा हुआ था; जो कहीं-कहीं पर पद्मराग की फैलती हुई किरणों से व्याप्त हो रहा था और उससे ऐसा जान पड़ता था मानो जिनेन्द्र भगवान् के चरणतल की लाल-लाल कान्ति से ही अनुरक्त हो रहा हो, जो अतिशय पवित्र था, चिकना था, कोमल स्पर्श से सहित था, जिनेन्द्र भगवान् के चरणों के स्पर्श से पवित्र था और जिसके समीप में अनेक मंगलद्रव्यरूपी सम्पदा रखी हुई थीं ऐसे उस तीन कटनीदार तीसरे पीठ के विस्तृत मस्तक अर्थात् अग्रभाग पर कुबेर ने गन्धकुटी बनायी। वह गन्धकुटी बहुत ही विस्तृत थी, ऊँचे कोट से शोभायमान थी और अपनी शोभा से स्वर्ग के विमानों का भी उल्लंघन कर रही थी ॥१-७॥

तीन कटनियों से चिह्नित पीठ पर वह गन्धकुटी ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो नन्दन वन, सौमनस वन और पाण्डुक वन इन तीन वनों के ऊपर सुमेरु पर्वत की चूलिका ही सुशोभित हो रही हो ॥८॥

अथवा जिस प्रकार स्वर्गलोक के ऊपर स्थित हुई सर्वार्थसिद्धि सुशोभित होती है उसी प्रकार उस पीठ के ऊपर स्थित हुई वह अतिशय

देदीप्यमान गन्धकुटी सुशोभित हो रही थी ॥९॥

अनेक प्रकार के रत्नों की कान्ति को फैलाने वाले उस गन्धकुटी के शिखरों से व्याप्त हुआ आकाश ऐसा जान पड़ता था मानो अनेक चित्रों से सहित ही हो रहा हो अथवा इन्द्रधनुषों से युक्त ही हो रहा हो ॥१०॥

जिन पर करोड़ों विजयपताकाएँ बँधी हुई हैं ऐसे ऊँचे शिखरों से वह गन्धकुटी ऐसी जान पड़ती थी मानो अपने हाथों को फैलाकर देव और विद्याधरों को ही बुला रही हो ॥११॥

तीनों पीठोंसहित वह गन्धकुटी ऐसी जान पड़ती थी मानो आकाशरूपी सरोवर के मध्यभाग में जल में प्रतिबिम्बित हुई तीनों लोकों की लक्ष्मी की प्रतिमा ही हो ॥१२॥

चारों ओर लटकते हुए बड़े-बड़े मोतियों की झालर से वह गन्धकुटी ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो बड़े-बड़े समुद्रों ने उसे मोतियों के सैकड़ों उपहार ही समर्पित किये हों ॥१३॥

कहीं-कहीं पर वह गन्धकुटी सुवर्ण की बनी हुई मोटी और लम्बी जाली से ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो कल्पवृक्षों से उत्पन्न होने वाले लटकते हुए देदीप्यमान अंकुरों से ही सुशोभित हो रही हो ॥१४॥

जो स्वर्ग की लक्ष्मी के द्वारा भेजे हुए उपहारों के समान जान पड़ती थी ऐसी चारों ओर लटकती हुई रत्नमय आभरणों की माला से वह गन्धकुटी बहुत ही अधिक शोभायमान हो रही थी ॥१५॥

वह गन्धकुटी पुष्पमालाओं से खिंचकर आये हुए गन्ध से अन्धे करोड़ों मदोन्मत्त भ्रमरों से शब्दायमान हो रही थी और ऐसी जान पड़ती थी मानो जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति ही करना चाहती हो ॥१६॥

स्तुति करते हुए इन्द्र के द्वारा रचे हुए गद्य-पद्यरूप स्तोत्रों के शब्दों से शब्दायमान हुई वह गन्धकुटी ऐसी जान पड़ती थी मानो भगवान् का स्तवन करने के लिए उद्यत हुई सरस्वती हो ॥१७॥

चारों ओर फैलते हुए रत्नों के प्रकाश से जिसके समस्त अंग ढके हुए हैं ऐसी वह देदीप्यमान गन्धकुटी ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो जिनेन्द्र भगवान् के शरीर की लक्ष्मी से ही बनी हो ॥१८॥

जो अपनी सुगन्धि से बुलाये हुए मदोन्मत्त भ्रमरों के समूह से व्याप्त हो रहा है और जिसका धुआँ चारों ओर फैल रहा ऐसी सुगन्धित धूप से वह गन्धकुटी ऐसी जान पड़ती थी मानो दिशाओं की लम्बाई ही नापना चाहती हो ॥१९॥

सब दिशाओं में फैलती हुई सुगन्धि से वह गन्धकुटी ऐसी जान पड़ती थी मानो सुगन्धि से ही बनी हो, सब दिशाओं में फैले हुए फूलों से ऐसी मालूम होती थी मानो फूलों से ही बनी हो और सब दिशाओं में फैलते हुए धूप से ऐसी प्रतिभासित हो रही थी मानो धूप से ही बनी हो ॥२०॥

अथवा वह गन्धकुटी स्त्री के समान सुशोभित हो रही थी क्योंकि जिस प्रकार स्त्री का निश्वास सुगन्धित होता है उसी प्रकार उस गन्धकुटी में जो धूप से सुगन्धित वायु बह रहा था वही उसके सुगन्धित निःश्वास के समान था । स्त्री जिस प्रकार फूलों की माला धारण करती है उसी प्रकार वह गन्धकुटी भी जगह-जगह मालाएँ धारण कर रही थी, और स्त्री के अंग जिस प्रकार नाना आभरणों से देदीप्यमान होते हैं उसी प्रकार उस गन्धकुटी के अंग (प्रदेश) भी नाना आभरणों से देदीप्यमान हो रहे थे ॥२१॥

भगवान् के शरीर की सुगन्धि से बड़ी हुई धूप की सुगन्धि से उसने समस्त दिशाएँ सुगन्धित कर दी थीं इसलिए ही वह गन्धकुटी इस सार्थक नाम को धारण कर रही थी ॥२२॥

अथवा वह गन्धकुटी ऐसी शोभा धारण कर रही थी मानो सुगन्धि को उत्पन्न करने वाली ही हो, कान्ति की अधिदेवता अर्थात् स्वामिनी ही हो और शोभाओं को उत्पन्न करने वाली भूमि ही हो ॥२३॥

वह गन्धकुटी छह सौ धनुष चौड़ी थी, उतनी ही लम्बी थी और चौड़ाई में कुछ अधिक ऊँची थी इस प्रकार वह मान और उन्मान के प्रमाण से सहित थी ॥२४॥

उस गन्धकुटी के मध्य में धनपति ने एक सिंहासन बनाया था जो कि अनेक प्रकार के रत्नों के समूह से जड़ा हुआ था और मेरु पर्वत के शिखर को तिरस्कृत कर रहा था ॥२५॥

वह सिंहासन सुवर्ण का बना हुआ था, ऊँचा था, अतिशय शोभायुक्त था और अपनी कान्ति से सूर्य को भी लज्जित कर रहा था तथा ऐसा

जान पड़ता था मानो जिनेन्द्र भगवान् की सेवा करने के लिए सिंहासन के बहाने से सुमेरु पर्वत ही अपने कान्ति से देदीप्यमान शिखर को ले आया हो ॥२६॥

जिससे निकलती हुई किरणों से समस्त दिशाएँ व्याप्त हो रही थीं, जो बड़े भारी ऐश्वर्य से प्रकाशमान हो रहा था, जिसका आकार लगे हुए सुन्दर रत्नों से अतिशय श्रेष्ठ था और जो नेत्रों को हरण करने वाला था ऐसा वह सिंहासन बहुत ही शोभायमान हो रहा था ॥२७॥

जिसका आकार बहुत बड़ा और देदीप्यमान था, जिससे कान्ति का समूह निकल रहा था, जो श्रेष्ठ रत्नों से प्रकाशमान था और जो अपनी शोभा से मेरु पर्वत की भी हंसी करता था ऐसा वह सिंहासन बहुत अधिक सुशोभित हो रहा था ॥२८॥

प्रथम तीर्थंकर भगवान् वृषभदेव उस सिंहासन को अलंकृत कर रहे थे । वे भगवान् अपने माहात्म्य से उस सिंहासन के तल से चार अंगुल ऊँचे अधर विराजमान थे उन्होंने उस सिंहासन के तलभाग को छुआ ही नहीं था ॥२९॥

उसी सिंहासन पर विराजमान हुए भगवान की इन्द्र आदि देव बड़ी-बड़ी पूजाओं द्वारा परिचर्या कर रहे थे और मेघों की तरह आकाश से पुष्पों की वर्षा कर रहे थे ॥३०॥

मदोन्मत्त भ्रमरों के समूह से शब्दायमान तथा आकाशरूपी आंगन को व्याप्त करती हुई पुष्पों की वर्षा ऐसी पड़ रही थी मानो मनुष्य के नेत्रों की माला ही हो ॥३१॥

देवरूपी बादलों-द्वारा छोड़ी जाकर पड़ती हुई पुष्पों की वर्षा ने बारह योजन तक के भूभाग को पराग (धूलि) से व्याप्त कर दिया था, यह एक भारी आश्चर्य की बात थी । भावार्थ-यहाँ पहले विरोध मालूम होता है क्योंकि वर्षा से तो धूलि शान्त होती है न कि बढ़ती है परन्तु जब इस बातपर ध्यान दिया जाता है कि वह पुष्पों की वर्षा थी और उसने भूभाग को पराग अर्थात् पुष्पों के भीतर रहने वाले केशर के छोटे-छोटे कणों से व्याप्त कर दिया था तब वह विरोध दूर हो जाता है यह विरोधाभास अलंकार कहलाता है ॥३२॥

स्त्रियों को सन्तुष्ट करने वाली वह फूलों की वर्षा भगवान् के समीप में पड़ रही थी और ऐसी जान पड़ती थी मानो स्त्रियों के नेत्रों की सन्तति ही भगवान् के समीप पड़ रही हो ॥३३॥

भ्रमरों के समूहों के द्वारा फैलाये हुए फूलों के पराग से सहित तथा देवों के द्वारा बरसायी वह पुष्पों की वर्षा बहुत ही अधिक शोभायमान हो रही थी ॥३४॥

जो गंगा नदी के शीतल जल से भीगी हुई है, जो अनेक भ्रमरों से व्याप्त है और जिसकी सुगन्धि चारों ओर फैली हुई है ऐसी वह पुष्पों की वर्षा भगवान् के आगे पड़ रही थी ॥३५॥

भगवान् के समीप ही एक अशोक वृक्ष था जो कि मरकतमणि के बने हुए हरे-हरे पत्ते और रत्नमय चित्र-विचित्र फूलों से सहित था तथा मन्द-मन्द वायु से हिलती हुई शाखाओं को धारण कर रहा था ॥३६॥

वह अशोकवृक्ष मद से मधुर शब्द करते हुए भ्रमरों और कोयलों से समस्त दिशा को शब्दायमान कर रहा था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो भगवान् की स्तुति ही कर रहा हो ॥३७॥

वह अशोकवृक्ष अपनी लम्बी-लम्बी शाखारूपी भुजाओं के चलाने से ऐसा जान पड़ता था मानो भगवान् के आगे नृत्य ही कर रहा हो और पुष्पों के समूहों से ऐसा जान पड़ता था मानो भगवान् के आगे देदीप्यमान पुष्पाञ्जलि ही प्रकट कर रहा हो ॥३८॥

आकाश में चलने वाले देव और विद्याधरों के स्वामियों का मार्ग रोकता हुआ अपनी एक योजन विस्तार वाली शाखाओं को फैलाता हुआ और शोकरूपी अन्धकार को नष्ट करता हुआ वह अशोकवृक्ष बहुत ही अधिक शोभायमान हो रहा था ॥३९॥

फूले हुए पुष्पों के समूह से भगवान के लिए पुष्पों का उपहार समर्पण करता हुआ वह वृक्ष अपनी फैली हुई शाखाओं से समस्त दिशा को व्याप्त कर रहा था और उससे ऐसा जान पड़ता था मानो उन फैली हुई शाखाओं से दिशा को साफ करने के लिए ही तैयार हुआ हो ॥४०॥

जिसकी जड़ वज्र की बनी हुई थी, जिसका मूल भाग रत्नों से देदीप्यमान था, जिसके अनेक प्रकार के पुष्प जपापुष्प की कान्ति के समान पद्मरागमणियों के बने हुए थे और जो मदोन्मत्त कोयल तथा भ्रमरों से सेवित था ऐसे उस वृक्ष को इन्द्र ने सब वृक्षों में मुख्य बनाया था ॥

४१॥

भगवान् के ऊपर जो देदीप्यमान सफेद छत्र लगा हुआ था उसने चन्द्रमा की लक्ष्मी को जीत लिया था और वह ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो तीनों लोकों के स्वामी भगवान् वृषभदेव की सेवा करने के लिए तीन रूप धारण कर चन्द्रमा ही आया हो ॥४२॥

वे तीनों सफेद छत्र ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो छत्र का आकार धारण करने वाले चन्द्रमा के बिम्ब ही हों, उनमें जो मोतियों के समूह लगे हुए थे वे किरणों के समान जान पड़ते थे इस प्रकार उस छत्र-त्रितय को कुबेर ने इन्द्र की आज्ञा से बनाया था ॥४३॥

वह छत्रत्रय उदय होते हुए सूर्य की शोभा की हँसी उड़ाने वाले अनेक उत्तम-उत्तम रत्नों से जड़ा हुआ था तथा अतिशय निर्मल था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो चन्द्रमा और सूर्य के सम्पर्क (मेल) से ही बना हो ॥४४॥

जिसमें अनेक उत्तम मोती लगे हुए थे, जो समुद्र के जल के समान जान पड़ता था, बहुत ही सुशोभित था, चन्द्रमा की कान्ति को हरण करने वाला था, मनोहर था और जिसमें इन्द्रनील मणि भी देदीप्यमान हो रहे थे ऐसा वह छत्रत्रय भगवान के समीप आकर उत्कृष्ट कान्ति को धारण कर रहा था ॥४५॥

क्या यह जगत्प्री लक्ष्मी का हास फैल रहा है ? अथवा भगवान् का शोभायमान यशरूपी गुण है अथवा धर्मरूपी राजा का मन्द हास्य है ? अथवा तीनों लोकों में आनन्द करने वाला कलंकरहित चन्द्रमा है, इस प्रकार लोगों के मन में तर्क-वितर्क उत्पन्न करता हुआ वह देदीप्यमान छत्रत्रय ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो मोहरूपी शत्रु को जीत लेने से इकट्ठा हुआ तथा तीन रूप धारण कर ठहरा हुआ भगवान् के यश का मण्डल ही हो ॥४६-४७॥

जिनेन्द्र भगवान् के समीप में सेवा करने वाले यक्षों के हाथों के समूहों से जो चारों ओर चमरों के समूह दुराये जा रहे थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो क्षीरसागर के जल के समूह ही हो ॥४८॥

अत्यन्त निर्मल लक्ष्मी को धारण करने वाला वह चमरों का समूह ऐसा जान पड़ता था मानो अमृत के टुकड़ों से ही बना हो अथवा चन्द्रमा के अंशों से ही रचा गया हो । वही चमरों के समूह भगवान् के चरणकमलों के समीप पहुँचकर ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो किसी पर्वत से झरते हुए निर्भर ही हों ॥४९॥

यक्षों के द्वारा लीलापूर्वक चारों ओर दुराये जाने वाले निर्मल चमरों की वह पङ्क्ति बड़ी ही सुशोभित हो रही थी और लोग उसे देखकर ऐसा तर्क किया करते थे मानो यह आकाशगङ्गा ही भगवान् की सेवा के लिए आयी हो ॥५०॥

शरद्ऋतु के चन्द्रमा के समान सफेद पड़ती हुई वह चमरों की पङ्क्ति ऐसी आशंका उत्पन्न कर रही थी कि क्या यह भगवान् के शरीर की कान्ति ही ऊपर को जा रही है अथवा चन्द्रमा की किरणों का समूह ही नीचे की ओर पड़ रहा है ॥५१॥

अमृत के समान निर्मल शरीर को धारण करने वाली और अतिशय देदीप्यमान वह दुरती हुई चमरों की पङ्क्ति ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो वायु से कम्पित तथा देदीप्यमान कान्ति को धारण करने वाली हिलती हुई समुद्र के फेन की पङ्क्ति ही हो ॥५२॥

चन्द्रमा और अमृत के समान कान्ति वाली ऊपर से पड़ती हुई वह उत्तम चमरों की पङ्क्ति बड़ी उत्कृष्ट शोभा को प्राप्त हो रही थी और ऐसी जान पड़ती थी मानो जिनेन्द्र भगवान् की सेवा करने की इच्छा से आती हुई क्षीरसमुद्र की बेला ही हो ॥५३॥

क्या ये आकाश से हंस उतर रहे हैं अथवा भगवान् का यश ही ऊपर को जा रहा है इस प्रकार देवों के द्वारा शंका किये जाने वाले वे सफेद चमर भगवान् के चारों ओर दुराये जा रहे थे ॥५४॥

जिस प्रकार वायु समुद्र के आगे अनेक लहरों के समूह उठाता रहता है उसी प्रकार कमल के समान दीर्घ नेत्रों को धारण करने वाले चतुर यक्ष भगवान् के आगे लीलापूर्वक विस्तृत और सफेद चमरों के समूह उठा रहे थे अर्थात् ऊपर की ओर ढोर रहे थे ॥५५॥

अथवा वह ऊँची चमरों की पङ्क्ति ऐसी अच्छी सुशोभित हो रही थी मानो उन चमरों का बहाना प्राप्त कर जिनेन्द्र भगवान् की भक्तिवश आकाशगंगा ही आकाश से उतर रही हो अथवा भव्य जीवरूपी कुमुदिनियों को विकसित करने के लिए चाँदनी ही नीचे की ओर आ रही हो ॥५६॥

इस प्रकार जिन्हें अतिशय संतोष प्राप्त हो रहा है और जिनके नेत्र प्रकाशमान हो रहे हैं ऐसे यक्षों के द्वारा दुराये जाने वाले वे चन्द्रमा के समान उज्ज्वल कान्ति के धारक चमर ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो भगवान् के गुणसमूहों के साथ स्पर्धा ही कर रहे हों ॥५७॥

शोभायमान अमृत की राशि के समान निर्मल और अपरिमित तेज तथा कान्ति को धारण करने वाले वे चमर भगवान् वृषभदेव के अद्वितीय जगत् के प्रभुत्व को सूचित कर रहे थे ॥५८॥

जिनका वक्षस्थल लक्ष्मी से आलिंगित है और जो श्रीवृक्ष का चिह्न धारण करते हैं ऐसे श्रीजिनेन्द्रदेव के अपरिमित तेज को धारण करने वाले उन चमरों की संख्या विद्वान् लोग चौंसठ बतलाते हैं ॥५९॥

इस प्रकार सनातन भगवान् जिनेन्द्रदेव के चौंसठ चमर कहे गये हैं और वे ही चमर चक्रवर्ती से लेकर राजा पर्यन्त आधे-आधे होते हैं **अर्थ** ात् चक्रवर्ती के बत्तीस, अर्धचक्री के सोलह, मण्डलेश्वर के आठ, अर्धमण्डलेश्वर के चार, महाराज के दो और राजा के एक चमर होता है ॥६०॥

इसी प्रकार उस समय वर्षाऋतु की शंका करते हुए मदोन्मत्त मयूर जिनका मार्ग बड़े प्रेम से देख रहे थे ऐसे देवों के दुन्दुभी मधुर शब्द करते हुए आकाश में बज रहे थे ॥६१॥

जिनका शब्द अत्यन्त मधुर और गम्भीर था ऐसे पणव, तुणव, काहल, शंख और नगाड़े आदि बाजे समस्त दिशाओं के मध्यभाग को शब्दायमान करते हुए तथा आकाश को आच्छादित करते हुए शब्द कर रहे थे ॥६२॥

देवरूप शिल्पियों के द्वारा मजबूत दण्डों से ताड़ित हुए वे देवों के नगाड़े जो शब्द कर रहे थे उनसे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो कुपित होकर स्पष्ट शब्दों में यही कह रहे हों कि अरे दुष्टों, तुम लोग जोर-जोर से क्यों मार रहे हो ॥६३॥

क्या यह मेघों की गर्जना है? अथवा जिसमें उठती हुई लहरें शब्द कर रही हैं ऐसा समुद्र ही क्षोभ को प्राप्त हुआ है? इस प्रकार तर्क-वितर्क कर चारों ओर फैलता हुआ भगवान् के देव दुन्दुभियों का शब्द सदा जयवन्त रहे ॥६४॥

सुर, असुर और मनुष्यों से भरी हुई वह समवसरण की समस्त भूमि जिनेन्द्रभगवान् के शरीर से उत्पन्न हुई तथा चारों ओर फैली हुई प्रभा **अर्थ**ात् भामण्डल से बहुत ही सुशोभित हो रही थी सो ठीक ही है क्योंकि भगवान् के ऐसे तेज में आश्चर्य ही क्या है ॥६५॥

उस समय वह जिनेन्द्रभगवान् के शरीर की प्रभा मध्याह्न के सूर्य की प्रभा को तिरोहित करती हुई-अपने प्रकाश में उसका प्रकाश छिपाती हुई, करोड़ों देवों के तेज को दूर हटाती हुई, और लोक में भगवान् का बड़ा भारी ऐश्वर्य प्रकट करती हुई चारों ओर फैल रही थी ॥६६॥

अमृत के समुद्र के समान निर्मल और जगत् को अनेक मंगल करने वाले दर्पण के समान, भगवान् के शरीर की उस प्रभा (प्रभामंडल) में सुर, असुर और मनुष्य लोग प्रसन्न होकर अपने सात-सात भव देखते थे ॥६७॥

चन्द्रमा शीघ्र ही भगवान् के छत्रत्रय की अवस्था को प्राप्त हो गया है यह देखकर ही मानो अतिशय देदीप्यमान सूर्य भगवान् के शरीर की प्रभा के छल से पुराण कवि भगवान् वृषभदेव की सेवा करने लगा था । भावार्थ-भगवान् का छत्रत्रय चन्द्रमा के समान था और प्रभामण्डल सूर्य के समान था ॥६८॥

भगवान् के मुखरूपी कमल से बादलों की गर्जना का अनुकरण करने वाली अतिशययुक्त महादिव्यध्वनि निकल रही थी और वह भव्य जीवों के मन में स्थित मोहरूपी अंधकार को नष्ट करती हुई सूर्य के समान सुशोभित हो रही थी ॥६९॥

यद्यपि वह दिव्यध्वनि एक प्रकार की थी तथापि भगवान् के माहात्म्य से समस्त मनुष्यों की भाषाओं और अनेक कुभाषाओं को अपने अन्तर्भूत कर रही थी **अर्थ**ात् सर्वभाषारूप परिणमन कर रही थी और लोगों का अज्ञान दूर कर उन्हें तत्त्वों का बोध करा रही थी ॥७०॥ जिस प्रकार एक ही प्रकार का जल का प्रवाह वृक्षों के भेद से अनेक रस वाला हो जाता है उसी प्रकार सर्वज्ञदेव की वह दिव्यध्वनि भी पात्रों के भेद से अनेक प्रकार की हो जाती थी ॥७१॥

अथवा जिस प्रकार स्फटिक मणि एक ही प्रकार का होता है तथापि उसके पास जो-जो रंगदार पदार्थ रख दिये जाते हैं वह अपनी स्वच्छता से अपने आप उन-उन पदार्थों के रंगों को धारण कर लेता है उसी प्रकार सर्वज्ञ भगवान् की उत्कृष्ट दिव्यध्वनि भी यद्यपि एक प्रकार की होती है तथापि श्रोताओं के भेद से वह अनेक रूप धारण कर लेती है ॥७२॥

कोई-कोई लोग ऐसा कहते हैं कि वह दिव्यध्वनि देवों के द्वारा की जाती है परन्तु उनका वह कहना मिथ्या है क्योंकि वैसा मानने पर भगवान् के गुण का घात हो जायेगा **अर्थ**ात् वह भगवान् का गुण नहीं कहलायेगा, देवकृत होने से देवों का कहलायेगा । इसके सिवाय वह दिव्यध्वनि अक्षर रूप ही है क्योंकि अक्षरों के समूह के बिना लोक में अर्थ का परिज्ञान नहीं होता ॥७३॥

इस प्रकार तीनों लोकों के स्वामी भगवान् वृषभदेव की ऐसी विभूति इन्द्र ने भक्तिपूर्वक देवों से करायी थी, और अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मी के अधिपति सर्वज्ञदेव इन्द्रों के द्वारा सेवनीय उस समवसरण भूमि में विराजमान हुए थे ॥७४॥

जो समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जानते हैं और अनेक विद्वान् लोग जिनके चरणों की वन्दना करते हैं ऐसे वे भगवान् वृषभदेव जगत् के जीवों को उपदेश देने के लिए मुँह फाड़े सिंहों के द्वारा धारण किये हुए सुवर्णमय सिंहासन पर अधिरूढ़ हुए थे ॥७५॥

इस प्रकार समवसरण भूमि को देखकर देव लोग बहुत ही प्रसन्नचित्त हुए, उन्होंने भक्तिपूर्वक तीन बार चारों ओर फिरकर उचित रीति से

प्रदक्षिणाएँ दीं और फिर भगवान् के दर्शन करने के लिए उस सभा के भीतर प्रवेश किया ॥७६॥

जो कि आकाशमार्ग को उल्लंघन करने वाली पताकाओं से ऐसी जान पड़ती थी मानो समस्त आकाश को झाड़कर साफ ही करना चाहती हो और धूलीसाल के घेरे से घिरी होने के कारण ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो निरन्तर इन्द्रधनुष से ही घिरी रहती हो ॥७७॥

वह सभा आकाश के अग्रभाग को भी उल्लंघन करने वाले चार मानस्तम्भों को धारण कर रही थी तथा उन मानस्तम्भों पर लगी हुई निर्मल पताकाओं से ऐसी जान पड़ती थी मानो भगवान् की सेवा करने के लिए स्वर्गलोक को ही बुलाना चाहती हो ॥७८॥

वह सभा स्वच्छ तथा शीतल जल से भरी हुई तथा नेत्रों के समान प्रफुल्लित कमलों से युक्त अनेक सरोवरियों को धारण किये हुए थी और उनसे वह ऐसी जान पड़ती थी मानो जन्म जरा मरणरूपी असुरों का अन्त करने वाले भगवान् वृषभदेव का दर्शन करने के लिए नेत्रों की पंक्तियाँ ही धारण कर रही हो ॥७९॥

वह समवसरण भूमि निर्मल जल से भरी हुई, जलपक्षियों के शब्दों के शब्दायमान तथा ऊंची उठती हुई बड़ी-बड़ी लहरों के समूह से युक्त परिखा को धारण कर रही थी और उससे ऐसी जान पड़ती थी मानो लहरों के समूहरूपी हाथ ऊँचे उठाकर जलपक्षियों के शब्दों के बहाने भगवान् की सेवा करने के लिए इन्द्रों को ही बुलाना चाहती हो ॥८०॥

वह भूमि अनेक प्रकार की नवीन लताओं से सुशोभित, मदोन्मत्त भ्रमरों के मधुर शब्दरूपी बाजा से सहित तथा फूलों से व्याप्त लताओं के वन धारण कर रही थी और उनसे ऐसी जान पड़ती थी मानो मन्द-मन्द हँस ही रही हो ॥८१॥

वह भूमि ऊँचे-ऊँचे गोपुरद्वारों से सहित देदीप्यमान सुवर्णमय पहले कोट को धारण कर रही थी और उससे ऐसी जान पड़ती थी मानो भगवान् वृषभदेव की हेमन्तऋतु के सूर्य के समान अतिशय सौम्य दीप्ति और उन्नति को अक्षरों के बिना ही दिखला रही हो ॥८२॥

वह समवसरणभूमि प्रत्येक महावीथी के दोनों ओर शरद्ऋतु के बादलों के समान स्वच्छ और नृत्य करने वाली देवांगनाओंरूपी बिजलियों से सुशोभित दो-दो मनोहर नृत्यशालाएँ धारण कर रही थी और उनसे ऐसी जान पड़ती थी मानो भक्तिपूर्वक जिनेन्द्र भगवान् की उपासना करने के लिए ही उन्हें धारण कर रही हो ॥८३॥

वह भूमि नाट्यशाला के आगे दो-दो धूपघट धारण कर रही थी और उनसे ऐसी जान पड़ती थी मानो जिनेन्द्र भगवान की सेवा के लिए तीनों लोकों की लक्ष्मी के साथ-साथ सरस्वती देवी ही वहाँ बैठी हों और वे घट उन्हीं के स्तनयुगल हो ॥८४॥

वह भूमि भ्रमरों के समूह से सेवित और उत्तम कान्ति को धारण करने वाले चार सुन्दर वन भी धारण कर रही थी और उनसे ऐसी जान पड़ती थी मानो उन वनों के बहाने से नील वस्त्र पहनकर भगवान् की आराधना करने के लिए ही खड़ी हो ॥८५॥

जिस प्रकार कोई तरुण स्त्री अपने कटि भाग पर करधनी धारण करती है उसी प्रकार उपवन की सरोवरियों में फूले हुए छोटे-छोटे कमलों से स्वरूपी स्त्री के मुख की शोभा की ओर हँसती हुई वह समवसरण भूमि रत्नों से देदीप्यमान वनवेदिका को धारण कर रही थी ॥८६॥ ध्वजाओं के वस्त्रों से आकाश को व्याप्त करने वाली दस प्रकार की ध्वजाओं से सहित वह भूमि ऐसी अच्छी सुशोभित हो रही थी मानो जिनेन्द्र भगवान् की महिमा रचने के लिए आकाशरूपी आंगन को साफ ही कर रही हो ॥८७॥

ध्वजाओं की भूमि के बाद द्वितीयकोट के चारों ओर वनवेदिका सहित कल्पवृक्ष का अत्यंत मनोहर वन था, वह फलों से सहित था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो ताराओं से सहित आकाश ही हो । इस प्रकार पुण्य के बगीचे के समान उस वन को धारण कर वह समवसरणभूमि बहुत ही सुशोभित हो रही थी ॥८८॥

उस वन के आगे वह भूमि, जिसमें अनेक प्रकार के चमकते हुए बड़े-बड़े रत्न लगे हुए हैं ऐसे देदीप्यमान मकानों को तथा मणियों से बने हुए नौ-नौ स्तूपों को धारण कर रही थी और उससे वह ऐसी जान पड़ती थी मानो जगत् को जीतने के लिए ही उसने इच्छा की हो ॥८९॥ उसके आगे वह भूमि स्फटिक मणि के बने हुए सुन्दर कोट को, अतिशय विस्तार वाली आकाश स्फटिकमणि की बनी हुई दीवारों को और उन दीवारों के ऊपर बने हुए, तथा तीनों लोकों के लिए अवकाश देने वाले अतिशय श्रेष्ठ श्रीमण्डप को धारण कर रही थी । ऐसी समवसरण सभा के भीतर इन्द्र ने प्रवेश किया था ॥९०॥

इस प्रकार अतिशय उत्कृष्ट शोभा को धारण करने वाली उस समवसरण भूमि को देखकर जिसके नेत्र विस्मय को प्राप्त हुए हैं ऐसा वह सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र मोहनीय कर्म को नष्ट करने वाले जिनेन्द्रभगवान् के दर्शनों की इच्छा से बड़ी भारी विभूतिपूर्वक उत्तम-उत्तम देवों के साथ-साथ भीतर प्रविष्ट हुआ ॥९१॥

अथानन्तर-जो ऊँची और देदीप्यमान पीठिका के ऊपर विराजमान थे, देवों के भी देव थे, चारों ओर दिखने वाले चार मुखों की शोभा से सहित थे, सुरेन्द्र नरेन्द्र और मुनीन्द्रों के द्वारा वन्दनीय थे, जगत् की सृष्टि और संहार के मुख्य कारण थे । जिनका मुख शरद्भक्तु के चन्द्रमा के साथ स्पर्धा कर रहा था, जो शरद्भक्तु की चाँदनी के समान अपनी कान्ति से अतिशय शोभायमान थे, जिनके नेत्र नवीन फूले हुए नीलकमलों के समान सुशोभित थे और उनके कारण जो सफेद तथा नीलकमलों से सहित सरोवर की हंसी करते हुए से जान पड़ते थे । जिनका शरीर अतिशय प्रकाशमान और देदीप्यमान था, जो चमकते हुए सूर्यमण्डल के साथ स्पर्धा करने वाली अपने शरीर की प्रभारूपी समुद्र में निमग्न हो रहे थे, जिनका शरीर अतिशय ऊँचा था, जो देवों के द्वारा आराधना करने योग्य थे, सुवर्ण-जैसी उज्ज्वल कान्ति के धारण करने वाले थे और इसीलिए जो महामेरु के समान जान पड़ते थे । जो अपने विशाल वक्षःस्थल पर स्थित रहने वाली अनन्तचतुष्टयरूपी आत्मलक्ष्मी से शब्दों के बिना ही तीनों लोकों के स्वामित्व को प्रकट कर रहे थे, जो कवलाहार से रहित थे, जिन्होंने सब आभूषण दूर कर दिये थे, जो इन्द्रिय ज्ञान से रहित थे, जिन्होंने ज्ञानावरण आदि कर्मों को नष्ट कर दिया था । जो सूर्य के समान देदीप्यमान रहने वाली प्रभा के मध्य में विराजमान थे, देव लोग जिन पर अनेक चमरों के समूह दुरा रहे थे, बजते हुए दुन्दुभिबाजों के शब्दों से जो अतिशय मनोहर थे और इसीलिए जो शब्द करती हुई अनेक लहरों से युक्त समुद्र की वेला (तट) के समान जान पड़ते थे । जिनके समीप का प्रदेश देवों के द्वारा वर्षाये हुए फूलों से व्याप्त हो रहा था, जिनका ऊँचा शरीर बड़े भारी अशोकवृक्ष के आश्रित था- उसके नीचे स्थित था और इसीलिए जिसका समीप प्रदेश अपने कल्पवृक्षों के उपवनों-द्वारा छोड़े हुए फूलों से व्याप्त हो रहा है ऐसे सुमेरु पर्वत को अपनी कान्ति के द्वारा लज्जित कर रहे थे । और जो चमकते हुए मोतियों से सुशोभित आकाश में स्थित अपने विस्तृत तथा धवल छत्रत्रय से ऐसे जान पड़ते थे मानो अपना महान ऐश्वर्य और फैलते हुए उत्कृष्ट यश को ही प्रकट कर रहे हों ऐसे प्रथम तीर्थंकर भगवान् वृषभदेव के उस सौधर्मेन्द्र ने दर्शन किये ॥९२-९८॥

दर्शन कर दूर से ही जिन्होंने अपने मस्तक नम्रीभूत कर लिये हैं ऐसे इन्द्रों ने जमीन पर घुटने टेककर उन्हें प्रणाम किया, प्रणाम करते समय वे इन्द्र ऐसे जान पड़ते थे मानो अपने मुकुटों के अग्रभाग में लगी हुई मालाओं के समूह से जिनेन्द्र भगवान् के दोनों चरणों की पूजा ही कर रहे हों ॥९९॥

उन अरहन्त भगवान् को प्रणाम करते समय जिनके नेत्र हर्ष से प्रफुल्लित हो गये और मुख सफेद मन्द हास्य से युक्त हो रहे थे इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो जिनमें सफेद और नीलकमल खिले हुए हैं ऐसे अपने सरोवरों के साथ-साथ कुलाचल पर्वत सुमेरु पर्वत की ही सेवा कर रहे हों ॥१००॥

उसी समय अप्सराओं तथा समस्त देवियों से सहित इन्द्राणी ने भी भगवान् के चरणों को प्रणाम किया था, प्रणाम करते समय वह इन्द्राणी ऐसी जान पड़ती थी मानो अपने प्रफुल्लित हुए मुखरूपी कमलों से, नेत्ररूपी नीलकमलों से और विशुद्ध भावरूपी बहुत भारी पुष्पों से भगवान् की पूजा ही कर रही हो ॥१०१॥

जिनेन्द्र भगवान् के दोनों ही चरणकमल अपने नखों की किरणों के समूह से देवों के मस्तक पर आकर उन्हें स्पर्श कर रहे थे और उससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो कभी म्लान न होने वाली माला के बहाने से अनुग्रह करने के लिए उन देवों के मस्तकों पर शेषाक्षत ही अर्पण कर रहे हों ॥१०२॥

वे इन्द्र लोग, अतिशय भक्तिपूर्वक प्रणाम करते समय जो जिनेन्द्रभगवान् के चरणों की प्रभा से पवित्र किये गये हैं तथा उन्हीं के नखों की किरणसमूहरूपी जल से जिन्हें अभिषेक प्राप्त हुआ है ऐसे अपने उन्नत और अत्यन्त उत्तम मस्तकों को धारण कर रहे थे । भावार्थ-प्रणाम करते समय इन्द्रों के मस्तक पर जो भगवान् के चरणों की प्रभा पड़ रही थी उससे वे उन्हें अतिशय पवित्र मानते थे, और जो नखों की कान्ति पड़ रही थी उससे उन्हें ऐसा समझते थे मानो उनका जल से अभिषेक ही किया गया हो इस प्रकार वे अपने उत्तमांग अर्थात् मस्तक को वास्तव में उत्तमांग अर्थात् उत्तम अंग मानकर ही धारण कर रहे थे ॥१०३॥

इन्द्राणी भी जिस समय अप्सराओं के साथ भक्तिपूर्वक नमस्कार कर रही थी उस समय देदीप्यमान मुक्तिरूपी लक्ष्मी के उत्तम हास्य के समान आचरण करने वाला और स्वभाव से ही सुन्दर भगवान् के नखों की किरणों का समूह उसके स्तनों के समीप भाग में पड़ रहा था और उससे वह ऐसी जान पड़ती थी मानो सुन्दर वस्त्र ही धारण कर रही हो ॥१०४॥

अपनी-अपनी देवियों से सहित तथा देदीप्यमान आभूषणों से सुशोभित थे वे इन्द्र प्रणाम करते ऐसे जान पड़ते थे मानो कल्पलताओं के

साथ बड़े-बड़े कल्पवृक्ष ही भगवान् की सेवा कर रहे हों ॥१०५॥

अथानन्तर इन्द्रों ने बड़े सन्तोष के साथ खड़े होकर श्रद्धायुक्त हो अपने ही हाथों से गन्ध, पुष्पमाला, धूप, दीप, सुन्दर अक्षत और उत्कृष्ट अमृत के पिण्डों-द्वारा भगवान् के चरणकमलों की पूजा की ॥१०६॥

रंगावली से व्याप्त हुई भगवान् के आगे की भूमि पर इन्द्रों के द्वारा लायी वह पूजा की सामग्री ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो उसके छल से संसार की समस्त द्रव्यरूपी सम्पदाएं भगवान् के चरणों की उपासना की इच्छा से ही वहाँ आयी हों ॥१०७॥

इन्द्राणी ने भगवान् के आगे कोमल चिकने और सूक्ष्म अनेक प्रकार के रत्नों के चूर्ण से मण्डल बनाया था, वह मण्डल ऊपर की ओर उठती हुई किरणों के अंकुरों से चित्र-विचित्र हो रहा था और ऐसा जान पड़ता था मानो इन्द्रधनुष के कोमल चूर्ण से ही बना हो ॥१०८॥ तदनन्तर इन्द्राणी ने भक्तिपूर्वक भगवान् के चरणों के समीप में देदीप्यमान रत्नों के भृंगार की नाल से निकलती हुई पवित्र जलधारा छोड़ी । वह जलधारा इन्द्राणी के समान ही पवित्र थी और उसी की मनोवृत्ति के समान प्रसन्न तथा स्वच्छ थी ॥१०९॥

उसी-समय इन्द्राणी ने जिनेन्द्रभगवान् के चरणों का स्मरण करते हुए भक्तिपूर्वक जिसने समस्त दिशाएँ सुगन्धित कर दी थीं, तथा जो फिरते हुए भ्रमरों की पंक्तियों-द्वारा किये हुए शब्दों से बहुत ही मनोहर जान पड़ती थी ऐसी स्वर्गलोक में उत्पन्न हुई सुगन्ध से भगवान् के पादपीठ (सिंहासन) की पूजा की थी ॥११०॥

इसी प्रकार अपने चित्त की प्रसन्नता के समान स्वच्छ कान्ति को धारण करने वाले मोतियों के समूहों से भगवान् की अक्षतों से होने वाली पूजा की तथा कभी नहीं मुरझाने वाली कल्पवृक्ष के फूलों की सैकड़ों मालाओं से बड़े हर्ष के साथ भगवान् के चरणों की पूजा की ॥१११॥ तदनन्तर भक्ति के वशीभूत हुई इन्द्राणी ने जिनेन्द्र भगवान् के शरीर की कान्ति के प्रसार से जिनका निजी प्रकाश मन्द पड़ गया है ऐसे रत्नमय दीपकों से जिनेन्द्ररूपी सूर्य की पूजा की थी सो ठीक ही है क्योंकि भक्त पुरुष योग्य अथवा अयोग्य कुछ भी नहीं समझते । भावार्थ-यह कार्य करना योग्य है अथवा अयोग्य, इस बात का विचार भक्ति के सामने नहीं रहता । यही कारण था कि इन्द्राणी ने जिनेन्द्ररूपी सूर्य की पूजा दीपकों-द्वारा की थी ॥११२॥

तदनन्तर इन्द्राणी ने धूप तथा जलते हुए दीपकों से देदीप्यमान और बड़े भारी थाल में रखा हुआ, सुशोभित अमृत का पिण्ड भगवान् के लिए समर्पित किया, वह थाल में रखा हुआ धूप तथा दीपकों से सुशोभित अमृत का पिण्ड ऐसा जान पड़ता था मानो ताराओं से सहित और राहु से आलिङ्गित चन्द्रमा ही जिनेन्द्रभगवान् के चरणकमलों के समीप आया हो ॥११३॥

तदनन्तर जो चारों ओर फैली हुई सुगन्धि से बहुत ही मनोहर थे और जो शब्द करते हुए भ्रमरों के समूहों से सेवनीय होने के कारण ऐसे जान पड़ते थे मानो भगवान् का यश ही गा रहे हों ऐसे अनेक फलों के द्वारा इन्द्राणी ने बड़े भारी हर्ष से भगवान् की पूजा की थी ॥११४॥ इसी प्रकार देवों ने भी भक्तिपूर्वक अर्हन्त भगवान् की पूजा की थी परन्तु कृतकृत्य भगवान् को इन सबसे क्या प्रयोजन था ? वे यद्यपि वीतराग थे न किसी से सन्तुष्ट होते थे और न किसी से द्वेष ही करते थे तथापि अपने भक्तों को इष्टफलों से युक्त कर ही देते थे यह एक आश्चर्य की बात थी ॥११५॥

अथानन्तर-जिन्हें समस्त विद्याओं के स्वामी जिनेन्द्रभगवान् की स्तुति करने को इच्छा हुई ऐसे वे बड़े-बड़े इन्द्र प्रसन्नचित्त होकर अपने भक्तिरूपी हाथों से चित्र-विचित्र वर्णोंवाली इस वचनरूपी पुष्पों की माला को अर्पित करने लगे-नीचे लिखे अनुसार भगवान् की स्तुति करने लगे ॥११६॥

कि हे जिननाथ, यह निश्चय है कि आपके विषय में की हुई भक्ति ही इष्ट फल देती है इसीलिए हम लोग बुद्धिहीन तथा मन्दवचन होकर भी गुणरूपी रत्नों के खजाने स्वरूप आपकी स्तुति करने के लिए उद्यत हो रहे हैं ॥११७॥

हे भगवन्, जिन्हें बुद्धि की सामर्थ्य से कुछ वचनों का वैभव प्राप्त हुआ है ऐसे हम लोग केवल आपकी भक्ति ही कर रहे हैं सो ठीक ही है क्योंकि जो पुरुष अमृत के समुद्र का सम्पूर्ण जल पीने के लिए समर्थ नहीं है वह क्या अपनी सामर्थ्य के अनुसार थोड़ा भी नहीं पीये ?

अर्थात् अवश्य पीये ॥११८॥

हे देव, कहाँ तो जड़ बुद्धि हम लोग, और कहाँ आपका पापरहित बड़ा भारी गुणरूपी समुद्र । हे जिनेन्द्र ! यद्यपि इस बात को हम लोग भी जानते हैं तथापि इस समय आपकी भक्ति ही हम लोगों को वाचालित कर रही है ॥११९॥

हे देव, यह आश्चर्य की बात है कि आपके जो बड़े-बड़े उत्तम गुण गणधरों के द्वारा भी नहीं गिने जा सके हैं उनकी हम स्तुति कर रहे हैं

अथवा इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है क्योंकि जो मनुष्य आपकी प्रभुता को प्राप्त हुआ है वह क्या करने के लिए समर्थ नहीं है ? अर्थात् सब कुछ करने में समर्थ है ॥१२०॥

इसलिए हे जिनेन्द्र, आपके विषय में उत्पन्न हुई अतिशय निगूढ़, निश्चल और अपरिमित गुणों का उदय करने वाली विशाल भक्ति ही हम लोगों को स्तुति करने के लिए इच्छुक कर रही है और इसीलिए हम लोग आज आपकी स्तुति करने के लिए उद्यत हुए हैं ॥१२१॥

हे ईश्वर, आप समस्त संसार के जानने वाले हैं, कर्मभूमिरूप संसार की रचना करने वाले हैं, समस्त गुणों के समुद्र हैं, अविनाशी हैं, और हे देव, आपका उपदेश जगत् के समस्त जीवों का हित करने वाला है, इसीलिए हे जिनेन्द्र, आप हम सबकी स्तुति को स्वीकृत कीजिए ॥

१२२॥

हे जिनेन्द्ररूपी सूर्य, जिस प्रकार बादलों के हट जाने से अतिशय निर्मल सूर्य की देदीप्यमान किरणें सुशोभित होती हैं उसी प्रकार समस्त कर्मरूपी कलंक के हट जाने से प्रकट हुई आपकी गुणरूपी किरणें अतिशय सुशोभित हो रही हैं ॥१२३॥

हे जिनेन्द्र, जिस प्रकार समुद्र अपने गहरे जल में रहने वाले निर्मल और विशाल कान्ति के धारक मणियों को धारण करता है उसी प्रकार आप अतिशय निर्मल अनन्तगुणरूपी मणियों को धारण कर रहे हैं ॥१२४॥

हे स्वामिन्, जो अत्यन्त विस्तृत है बड़े-बड़े दुःखरूपी फलों को देने वाली है, और जन्म-मृत्यु तथा बुढ़ापारूपी फूलों से व्याप्त है ऐसी इस संसाररूपी लता को हे भगवन्, आपने अपने शान्त परिणामरूपी हाथों से उखाड़कर फेंक दिया है ॥१२५॥

हे जिनवर, आपने मोह की बड़ी भारी सेना के सेनापति तथा अतिशय शूर-वीर चार कषायों को तीव्र तपश्चरणरूपी पैनी और बड़ी तलवार के प्रहारों से बहुत शीघ्र जीत लिया है ॥१२६॥

हे भगवन्, जो किसी के द्वारा जीता न जा सके और जो दिखाई भी न पड़े ऐसे कामदेवरूपी शत्रु को आपके चारित्ररूपी तीक्ष्ण हथियारों के समूह ने मार गिराया है इसलिए तीनों लोकों में आप ही सबसे श्रेष्ठ गुरु हैं ॥१२७॥

हे ईश्वर, जो न कभी विकारभाव को प्राप्त होता है, न किसी को कटाक्षों से देखता है, जो विकाररहित है और आभरणों के बिना ही सुशोभित रहता है ऐसा यह आपका सुन्दर शरीर ही कामदेव को जीतने वाले आपके माहात्म्य को प्रकट कर रहा है ॥१२८॥

हे संसाररहित जिनेन्द्र, कामदेव जिसके हृदय में प्रवेश करता है वह प्रकट हुए रागरूपी पराग से युक्त होकर अनेक प्रकार की विकारयुक्त चेष्टाएँ करने लगता है परन्तु कामदेव को जीतने वाले आपके कुछ भी विकार नहीं पाया जाता है इसलिए आप तीनों लोकों के मुख्य गुरु हैं ॥१२९॥

हे कामदेव को जीतने वाले जिनेन्द्र, जो मूर्ख पुरुष कामदेव के वश हुआ करता है वह नाचता है, गाता है, इधर-उधर घूमता है, सत्य बात को छिपाता है और जोर-जोर से हँसता है परन्तु आपका शरीर इन सब विकारों से रहित है इसलिए यह शरीर ही आपके शान्तिसुख को प्रकट कर रहा है ॥१३०॥

हे मान और मात्सर्यभाव से रहित भगवन् कर्मरूपी धूलि से रहित, कलहरूपी पंक को नष्ट करने वाला, रागरहित और छलरहित आपका वह शरीर आप तीनों लोकों के स्वामी हैं इस बात को स्पष्टरूप से प्रकट कर रहा है ॥१३१॥

हे नाथ, जिसमें समस्त शोभाओं का समुदाय मिल रहा है ऐसा यह आपका शरीर वस्त्ररहित होने पर भी अत्यन्त सुन्दर है सो ठीक ही है क्योंकि विशाल कान्ति को धारण करने वाले अतिशय देदीप्यमान रत्न मणियों की राशि को वस्त्र आदि से ढक देना क्या किसी को अच्छा लगता है ? अर्थात् नहीं लगता ॥१३२॥

हे भगवन् आपका यह शरीर पसीना से रहित है, मलरूपी दोषों से रहित है, अत्यन्त सुगन्धित है, उत्तम लक्षणों से सहित है, रक्तरहित है, अन्धकार के समूह को नष्ट करने वाला है, धातुरहित है, वज्रमयी मजबूत सन्धियों से युक्त है, समचतुरस्र संस्थान वाला है, अपरिमित शक्ति का धारक है, प्रिय और हितकारी वचनों से सहित है, निमेषरहित है, और स्वच्छ दिव्य मणियों के समान देदीप्यमान है इसलिए आप देवाधिदेव पद को प्राप्त हुए हैं ॥१३३-१३४॥

हे स्वामिन् समस्त विकार, मोह और मद से रहित तथा सुवर्ण के समान कान्तिवाला आपका यह लोकोत्तर शरीर संसार को उल्लंघन करने वाली आपकी अद्वितीय प्रभुता के वैभव को प्रकट कर रहा है ॥१३५॥

हे अन्धकार से रहित जिनेन्द्र, पापों का समूह कभी आपको छूता भी नहीं है सो ठीक ही है क्योंकि क्या अन्धकार का समूह भी कभी सूर्य

के सम्मुख जा सकता है ? अर्थात् नहीं जा सकता । हे नाथ आप इस जगत् रूपी घर में अपने देदीप्यमान विशाल तेज से प्रदीप के समान आचरण करते हैं ॥१३६॥

हे भगवन् आपके स्वर्ग से अवतार लेने के समय (गर्भकल्याणक के समय) रत्नों की धारा समस्त आकाश को रोकती हुई स्वर्गलोक से शीघ्र ही इस जगत् रूपी कुटी के भीतर पड़ रही थी और वह ऐसी जान पड़ती थी मानो समस्त सृष्टि को सुवर्णमय ही कर रही हो ॥१३७॥
हे जिनेन्द्र, ऐरावत हाथी की सूंड के समान लम्बायमान वह रत्नों की धारा ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो आपकी लक्ष्मी ही मूर्ति धारण कर लोक में शीघ्र ही ऐसा सम्बोध फैला रही हो कि अरे मनुष्यो, कर्मरूप शत्रुओं को जीतने वाले इन जिनेन्द्र भगवान् की सेवा करो ॥ १३८॥

हे भगवन् आपके जन्म के समय आकाश से देवों के हाथों से छोड़ी गयी अत्यन्त सुगन्धित और मदनोन्मत्त भ्रमरों की मधुर गुञ्जार को चारों ओर फैलाती हुई जो फूलों की वृष्टि हुई थी वह ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो देवांगनाओं के नेत्रों की पंक्ति ही आ रही हो ॥१३९॥
हे स्वामिन् इन्द्रों ने मेरुपर्वत के शिखर पर क्षीरसागर के स्वच्छ जल से भरे हुए सुवर्णमय गम्भीर (गहरे) घड़ों से जगत् में आपका माहात्म्य फैलाने वाला आपका बड़ा भारी पवित्र अभिषेक किया था ॥१४०॥

हे जिन तपकल्याणक के समय मणिमयी पालकी पर आरूढ़ हुए आपको ले जाने के लिए हम लोग तत्पर हुए थे इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है क्योंकि निर्वाण पर्यन्त आपके सभी कल्याणकों में ये देव लोग किंकरों के समान उपस्थित रहते हैं ॥१४१॥

हे भगवन् इस देदीप्यमान केवलज्ञानरूपी सूर्य का उदय होने पर यह स्पष्ट प्रकट हो गया है कि आप ही धाता अर्थात् मोक्षमार्ग की सृष्टि करने वाले हैं और आप ही तीनों लोक के स्वामी हैं । इसके सिवाय आप जन्मजरारूपी रोगों का अन्त करने वाले हैं, गुणों के खजाने हैं और लोक में सबसे श्रेष्ठ हैं इसलिए हे देव, आपको हम लोग बार-बार नमस्कार करते हैं ॥१४२॥

हे नाथ, इस संसार में आप ही मित्र हैं, आप ही गुरु हैं, आप ही स्वामी हैं, आप ही सृष्टा हैं और आप ही जगत् के पितामह हैं । आपका ध्यान करने वाला जीव अवश्य ही मृत्युरहित सुख अर्थात् मोक्षसुख को प्राप्त होता है इसलिए हे भगवन्, आज आप इन तीनों लोकों को नष्ट होने से बचाइए-इन्हें ऐसा मार्ग बतलाइए जिससे ये जन्म-मरण के दुःखों से बच कर मोक्ष का अनन्त सुख प्राप्त कर सकें ॥१४३॥

हे जिनेन्द्र, परम सुख की प्राप्ति के स्थान तथा अविनाशी उत्कृष्ट पद (मोक्ष) को जानने की इच्छा करने वाले उत्तम बुद्धिमान् योगी संसार का नाश करने के लिए आपके द्वारा कहे हुए परमागम के अक्षरों का चिन्तन करते हैं ॥१४४॥

हे जिनराज, जो मनुष्य आपके द्वारा बतलाये हुए मार्ग में परम सन्तोष धारण करते हैं अथवा आनन्द की परम्परा से युक्त होते हैं वे ही इस अतिशय विस्तृत संसाररूपी लता को आपके ध्यानरूपी अग्नि की ज्वाला से बिल्कुल जला पाते हैं ॥१४५॥

हे भगवन्, वायु से उठी हुई क्षीरसमुद्र की लहरों के समान अथवा चन्द्रमा की किरणों के समूह के समान सुशोभित होने वाली आपकी इन सफेद चमरों की पंक्तियों को देखकर संसारी जीव अवश्य ही संसाररूपी बन्धन से मुक्त हो जाते हैं ॥१४६॥

हे विभो सूर्य को भी तिरस्कृत करने वाली और अतिशय देदीप्यमान अपनी कान्ति को चारों ओर फैलाता हुआ, अत्यन्त ऊँचा, मणियों से जड़ा हुआ, देवों के द्वारा सेवनीय और अपनी महिमा से समस्त लोकों को नीचा करता हुआ यह आपका सिंहासन मेरु पर्वत के शिखर के समान शोभायमान हो रहा है ॥१४७॥

जिनका ऐश्वर्य अतिशय उत्कृष्ट है और जो मोक्षमार्ग का उपदेश देने वाले हैं ऐसे आप अरहन्त देव का यह देवरूप कारीगरों के द्वारा बनाया गया छत्रत्रय अपनी कान्ति से शरद्भूत के चन्द्रमण्डल के समान सुशोभित हो रहा है ॥१४८॥

हे भगवन्, जिसका स्कन्ध मरकतमणियों से अतिशय देदीप्यमान हो रहा है और जिस पर मधुर शब्द करते हुए भ्रमरों के समूह बैठे हैं ऐसा यह शोभायमान तथा वायु से हिलता हुआ आपका अशोकवृक्ष ऐसा सुशोभित हो रहा है मानो अपनी अत्यन्त देदीप्यमान शाखाओं को भुजा बनाकर उनके द्वारा स्पष्ट नृत्य ही कर रहा हो ॥१४९॥

अथवा अत्यन्त सुकोमल वायु से धीरे-धीरे हिलता हुआ यह अशोकवृक्ष आपके ही समान सुशोभित हो रहा है क्योंकि जिस प्रकार आप देवों के द्वारा बरसाये हुए पुष्पों से आकीर्ण अर्थात् व्याप्त हैं उसी प्रकार यह अशोकवृक्ष भी पुष्पों से आकीर्ण है, जिस प्रकार मनुष्य देव और बड़े-बड़े मुनिराज आपको चाहते हैं-आपकी प्रशंसा करते हैं उसी प्रकार मनुष्य देव और बड़े-बड़े मुनिराज इस अशोकवृक्ष को भी चाहते हैं, जिस प्रकार पवनकुमार देव मन्द-मन्द वायु चलाकर आपकी सेवा करते हैं उसी प्रकार इस वृक्ष की भी सेवा करते हैं-यह मन्द-

मन्द वायु से हिल रहा है, जिस प्रकार आप सच्छाय अर्थात् उत्तम कान्ति के धारक हैं उसी प्रकार यह वृक्ष भी सच्छाय अर्थात् छांहरी के धारक है-इसकी छाया बहुत ही उत्तम है, जिस प्रकार आप मनुष्य तथा देवों का शोक नष्ट करते हैं उसी प्रकार यह वृक्ष भी मनुष्य तथा देवों का शोक नष्ट करता है और जिस प्रकार आप तीनों लोकों के श्रेय अर्थात् कल्याणरूप हैं उसी प्रकार यह वृक्ष भी तीनों लोकों में श्रेय अर्थात् मंगल रूप है ॥१५०॥

हे भगवन्, ये देव लोग, वर्षाकाल के मेघों की गरजना के शब्दों को जीतने वाले दुन्दुभि बाजों के मधुर शब्दों के साथ-साथ जिसने समस्त आकाश को व्याप्त कर लिया है और जो भ्रमरों की मधुर गुंजार से गाती हुई-सी जान पड़ती है ऐसी फूलों की वर्षा आपके सामने लोकरूपी घर के अग्रभाग से छोड़ रहे हैं ॥१५१॥

हे भगवन्, आपके देव-दुन्दुभियों के कारण बड़े-बड़े मेघों की घटाओं से आकाशरूपी आगन को रोकने वाली वर्षाऋतु की शंका कर ये मयूर इस समय अपनी सुन्दर पूँछ फैलाकर मन्द-मन्द गमन करते हुए मद से मनोहर शब्द कर रहे हैं ॥१५२॥

हे जिनेन्द्र, मणिमय मुकुटों की देदीप्यमान कान्ति को धारण करने वाले देवों के द्वारा ढोरी हुई तथा अतिशय सुन्दर आकार वाली यह आपके चमरों की पंक्ति आपके शरीर की कान्तिरूपी सरोवर में सफेद पक्षियों (हंसों) की शोभा बढ़ा रही है ॥१५३॥

हे भगवन्, जिसमें संसार के समस्त पदार्थ भरे हुए हैं, जो समस्त भाषाओं का निदर्शन करती है अर्थात् जो अतिशय विशेष के कारण समस्त भाषाओंरूप परिणमन करती है और जिसने स्याद्वादरूपी नीति से अन्यमतरूपी अन्धकार को नष्ट कर दिया है ऐसी आपकी यह दिव्यध्वनि विद्वान् लोगों को शीघ्र ही तत्त्वों का ज्ञान करा देती है ॥१५४॥

हे भगवन् आपकी वाणीरूपी यह पवित्र पुण्य जल हम लोगों के मन के समस्त मल को धो रहा है, वास्तव में यही तीर्थ है और यही आपके द्वारा कहा हुआ धर्मरूपी तीर्थ भव्यजनों को संसाररूपी समुद्र से पार होने का मार्ग है ॥१५५॥

हे भगवन्, आपका ज्ञान संसार की समस्त वस्तुओं तक पहुँचा है-समस्त वस्तुओं को जानता है इसलिए आप सर्वग अर्थात् व्यापक है, आपने संसार के समस्त पदार्थों के समूह जान लिये हैं इसलिए आप सर्वज्ञ हैं, आपने काम और मोहरूपी शत्रु को जीत लिया है इसलिए आप सर्वजित् अर्थात् सबको जीतने वाले हैं और आप संसार के समस्त पदार्थों को विशेषरूप से देखते हैं इसलिए आप सर्वदृक् अर्थात् सबको देखने वाले हैं ॥१५६॥

हे भगवन् आप समस्त पापरूपी मल को नष्ट करने वाले समीचीन धर्मरूपी तीर्थ के द्वारा जीवों को निर्मल करने के लिए सदा तत्पर रहते हैं इसलिए आप तीर्थङ्कर हैं और आप समस्त पापरूपी विष को अपहरण करने वाले पवित्र शास्त्ररूपी उत्तम मन्त्र के बनाने में चतुर हैं इसलिए आप मन्त्रकृत् हैं ॥१५७॥

हे भगवन्, मुनि लोग आपको ही पुराणपुरुष अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष (पक्ष में ब्रह्मा) मानते हैं, आपको ही ऋषियों के ईश्वर और अक्षय ऋद्धि को धारण करने वाले अच्युत अर्थात् अविनाशी (पक्ष में विष्णु) कहते हैं तथा आपको ही अचिन्त्य योग को धारण करने वाले, और समस्त जगत् के उपासना करने योग्य योगीश्वर अर्थात् मुनियों के अधिपति (पक्ष में महेश) कहते हैं इसलिए हे संसार का अन्त करने वाले जिनेन्द्र ! ब्रह्मा, विष्णु और महेशरूप आपकी हम लोग भी उपासना करते हैं ॥१५८॥

हे नाथ, समस्त घातियाकर्मरूपी मल के नष्ट हो जाने से जिनके केवलज्ञानरूपी निर्मल नेत्र उत्पन्न हुआ है ऐसे आपके लिए नमस्कार हो । जो पापबन्धरूपी सांकल को छेदने वाले हैं, संसाररूपी अर्थ को भेदने वाले हैं और कर्मरूपी शत्रुओं को जीतने वाले जिनों में हाथी के समान श्रेष्ठ हैं ऐसे आपके लिए नमस्कार हो ॥१५९॥

हे भगवन्, आप तीनों लोकों के एक पितामह हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप परम निवृत्ति अर्थात् मोक्ष अथवा सुख के कारण हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप गुरुओं के भी गुरु हैं तथा गुणों के समूह से भी गुरु अर्थात् श्रेष्ठ हैं इसलिए भी आपको नमस्कार हो, इसके सिवाय आपने समस्त तीनों लोकों को जान लिया है इसलिए भी आपको नमस्कार हो ॥१६०॥

हे ईश, आपके उदार गुणों में अनुराग होने से हम लोगों ने आपकी यह अनेक वर्षा (अक्षरों अथवा रंगों) वाली उत्तम स्तुति की है इसलिए हे देव, हे परमेश्वर, हम सब पर प्रसन्न होइए और भक्ति से पवित्र तथा चरणों में अर्पित की हुई सुन्दर माला के समान इसे स्वीकार कीजिए ॥१६१॥

हे जिनेन्द्र, आपकी स्तुति कर हम लोग आपका बार-बार स्मरण करते हैं, और हाथ जोड़कर आपको नमस्कार करते हैं । हे भगवन्,

आपकी स्तुति करने से आज यहाँ हम लोगों को जो कुछ पुण्य का संचय हुआ है उससे हम लोगों की आपमें निर्मल और प्रसन्नरूप भक्ति हो ॥१६२॥

इस प्रकार जिनका ज्ञान अतिशय प्रकाशमान हो रहा है ऐसे मुख्य-मुख्य बत्तीस इन्द्रों ने, (भवनवासी १०, व्यन्तर ८, ज्योतिषी २ और कल्पवासी १२) सुर, असुर, मनुष्य, नागेन्द्र, यक्ष, सिद्ध, गन्धर्व और चारणों के समूह के साथ-साथ सैकड़ों स्तुतियों-द्वारा मस्तक झुकाते हुए उन भगवान् वृषभदेव के लिए नमस्कार किया ॥१६३॥

इस प्रकार धर्म से प्रेम रखने वाले इन्द्र लोग, अपने बड़े-बड़े मुकुटों को नम्रीभूत करने वाले देवों के साथ-साथ फिर कभी उत्पन्न नहीं होने वाले और जगत् के एकमात्र बन्धु जिनेन्द्रदेव की स्तुति कर समवसरण भूमि में जिनेन्द्र भगवान की ओर मुखकर उन्हीं के चारों ओर यथायोग्यरूप से बैठ गये ॥१६४॥

उस समय घातियाकर्मरूपी शत्रुओं को जीतने वाले जिनेन्द्रभगवान के सुवर्ण के समान उज्ज्वल शरीर पर जो देवों के नेत्रों के प्रतिबिम्ब पड़ रहे थे वे ऐसे अच्छे सुशोभित हो रहे थे मानो कल्पवृक्ष के अवयवों पर पुष्पों का रस पीने की इच्छा करने वाले मदोन्मत्त भ्रमरों के समूह ही हों ॥१६५॥

जिनकी भुजाएँ हाथी की सूँड़ के समान है, जिनका मुख चन्द्रमा के समान है, जिनके केशों का समूह टेढ़ा, परिमित (वृद्धि से रहित) और स्थित (नहीं फड़ने वाला) है और जिनका वक्षःस्थल मेरुपर्वत के तट के समान है ऐसे देवाधिदेव जिनेन्द्रभगवान् को देखकर वे देव बहुत ही हर्षित हुए थे ॥१६६॥

जिसके नेत्र फूले हुए कमल के दल के समान हैं, जिनकी दोनों भुजाएँ हाथी की सूँड़ के समान है, जो निर्मल है, और जो अत्यन्त कान्ति से युक्त है ऐसे जिनेन्द्रभगवान् के शरीर को वे देव लोग बड़े भारी सन्तोष से नेत्रों को उघाड़-उघाड़कर देख रहे थे ॥१६७॥

जो चन्द्रमा की कान्ति को हरण करने वाले चमरों से घिरा हुआ है, जो कामदेव के सैकड़ों बाणों के निपात को जीतने वाला है, जिसने समस्त मल नष्ट कर दिये हैं और जो अतिशय पवित्र हैं ऐसे जिनेन्द्रदेव के शरीर को देवरूपी भ्रमर अमृत के समान पान करते थे ॥१६८॥

जिसके टिमकाररहित नेत्र कमलदल के समान सुशोभित हो रहे थे जिसका मुख हँसते हुए के समान जान पड़ता था, जो अतिशय सुगन्धि से युक्त था, देव और मनुष्यों के स्वामियों के नेत्रों को सुख करने वाला था, और अधिक कान्ति से सहित था ऐसा भगवान् वृषभदेव का वह शरीर बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहा था ॥१६९॥

जिस पर टिमकाररहित नेत्र ही भ्रमर बैठे हुए हैं, जो अत्यन्त सुगन्धित है जिसने चन्द्रमा की कान्ति को तिरस्कृत कर दिया है, जो कामदेवरूपी हिम के आघात से रहित हैं और जो अतिशय कान्तिमान हैं ऐसे भगवान् के मुखरूपी कमल को देवांगनाओं के नेत्र असन्तुष्टरूप से पान कर रहे थे । भावार्थ-भगवान् का मुखकमल इतना अधिक सुन्दर था कि देवांगनाएँ उसे देखते हुए सन्तुष्ट ही न हो पाती थीं ॥१७०॥

जिनके अनुपम नेत्र कमलदल को जीतते हुए सुशोभित हो रहे हैं, जिनका शरीर देवांगनाओं के नेत्ररूपी भ्रमर से व्याप्त हो रहा है, जो जरारहित हैं, जन्मरहित हैं, इन्द्रों के द्वारा पूजित हैं, अतिशय इष्ट हैं अथवा जिनका मत अतिशय उत्कृष्ट है, जिनकी कान्ति अपार है और जो ऋषियों के स्वामी हैं ऐसे भगवान् वृषभदेव को हे भव्य जीवो, तुम सब नमस्कार करो ॥१७१॥

मैं श्रीजिनेन्द्रभगवान् के उस शरीर की स्तुति करता हूँ जिसका कि मुख कमल के समान है, जो कमल की केशर के समान पीतवर्ण हैं, जिसके टिमकाररहित नेत्र कमलदल के समान विशाल और लम्बे हैं, जिसकी सुगन्धि कमल के समान थी, जिसकी छाया नहीं पड़ती और जो स्वच्छ स्फटिकमणि के समान सुशोभित हो रहा था ॥१७२॥

जिनके ललाईरहित दोनों नेत्र जिनके क्रोध का अभाव बतला रहे हैं, भौंहों की टेढ़ाई से रहित जिनका मुख जिनकी शान्तता को सूचित कर रहा है और कटाक्षावलोकन का अभाव होने से सौम्य अवस्था को प्राप्त हुआ जिनका शरीर जिनके कामदेव की विजय को प्रकट कर रहा है ऐसे उन जिनेन्द्रभगवान् को मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ ॥१७३॥

हे बुद्धिमान् पुरुषों, जिनका शरीर कामदेव को नष्ट करने वाला अतिशय सुगन्धित और सुन्दर है, जिनके नेत्र ललाईरहित तथा अत्यन्त निर्मल कान्ति के समूह से सहित हैं, और जिनका मुख ओंठों को डसता हुआ नहीं है तथा हंसता हुआ-सा सुशोभित हो रहा है ऐसे उन वृषभजिनेन्द्र को नमस्कार करो ॥१७४॥

जिनका मुख सौम्य है, नेत्र निर्मल कमलदल के समान हैं, शरीर सुवर्ण के पुञ्ज के समान है, जो ऋषियों के स्वामी हैं, जिनके निर्मल और कोमल चरणों के युगल लाल कमल की कान्ति धारण करते हैं, जो परम पुरुष हैं और जिनकी वाणी अत्यन्त कोमल है ऐसे श्री वृषभ जिनेन्द्र को मैं अच्छी तरह नमस्कार करता हूँ ॥१७५॥

जिनके चरण-युगल कमलों को जीतने वाले हैं, उत्तम-उत्तम लक्षणों से सहित हैं, कामसम्बन्धी राग को काट करने में समर्थ हैं, जगत् को सन्तोष देनेवाले हैं, इन्द्र के मुकुट के अग्रभाग से गिरती हुई माला के पराग से पीले-पीले हो रहे हैं और कमल के मध्य में विराजमान कर सुशोभित हो रहे हैं ऐसे भगवान् वृषभदेव सदा जयवन्त हों ॥१७६॥

जो बहुत ऊँचा है, सिंहों के द्वारा धारण किया हुआ है, रत्नों से जड़ा हुआ है, चारों ओर चमकती हुई किरणों से सहित है, संसार को नीचा दिखला रहा है, मेरुपर्वत की शोभा की खूब विडम्बना कर रहा है और जो नमस्कार करते हुए देवों के मुकुट के अग्रभाग में लगे हुए रत्नों की कान्ति की तर्जना करता-सा जान पड़ता है ऐसा जिनका बड़ा भारी सिंहासन सुशोभित हो रहा है वे भगवान् वृषभदेव सदा जयवन्त रहे ॥१७७॥

तीनों लोकों के गुरु ऐसे जिन भगवान् का सफेद छत्र पूर्ण चन्द्रमण्डलसम्बन्धी समस्त शोभा को हँसता हुआ सुशोभित हो रहा है जिन्होंने घातियाकर्मरूपी शत्रुओं को जीत लिया है जिनके चरणकमल नमस्कार करते हुए इन्द्रों के देदीप्यमान मुकुटों में लगे हुए मणियों से घर्षित हो रहे हैं और जो अन्तरङ्ग तथा बहिरंग लक्ष्मी से सहित हैं ऐसे श्री ऋषभ जिनेन्द्र सदा जयवन्त रहें ॥१७८॥

इन्द्रों ने जिनके चरणयुगल की पूजा अनेक बार की थी, जिन पर देवों के समूह ने अपने हाथ से हिलाये हुए अनेक चमरों के समूह डुराये थे और देवों ने मेरु पर्वत पर दूसरे मेरु पर्वत के समान स्थित हुए जिनका, चन्द्रमा की किरणों के अंकुरों के साथ स्पर्धा करने वाले क्षीरसागर के पवित्र जल से अभिषेक किया था वे श्री ऋषभ जिनेन्द्र सदा जयवन्त रहें ॥१७९॥

गुणों के समुद्रस्वरूप जिन भगवान् के उज्ज्वल और अतिशय देदीप्यमान किरणों के समूह गुणों के समूह के समान चारों ओर सुशोभित हो रहे हैं, जिनका सुन्दर चरित्र समस्त जीवों का हित करने वाला है, जो सकल जगत् के स्वामी हैं और जो भव्य जीवरूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य के समान हैं ऐसे श्री वृषभ जिनेन्द्र देव हम सब की रक्षा करें ॥१८०॥

जिसके पल्लव हिल रहे हैं, जिसके पत्ते और फूल अनेक वर्ण के हैं, जो उत्तम शोभा से सहित है, जिसका स्कन्ध मरकतमणियों से बना हुआ है, जिसका शरीर अत्यन्त उज्ज्वल है, जिसकी छाया बहुत ही सघन है, और समस्त लोगों का शोक नष्ट करने की जिसकी इच्छा है ऐसा जिनका अशोकवृक्ष सुशोभित हो रहा है और जो भव्य जीवरूपी कमलों के समूह को विकसित करने के लिए सूर्य के समान हैं ऐसे वे बहिरंग और अन्तरंग लक्ष्मी के अधिपति श्री वृषभ जिनेन्द्र सदा जयवन्त रहें ॥१८१॥

जिसका शरीर अतिशय सुन्दर है, जो वायु से हिलती हुई अपनी चंचल शाखाओं से सदा फूलों के उपहार फैलाता रहता है, जिसने समस्त दिशाएँ व्याप्त कर ली हैं, जो कोयलों के मधुर शब्दरूपी गाने-बजाने से मनोहर है और जो नृत्य करती हुई शाखाओं के अग्रभाग से भक्तिपूर्वक जिनेन्द्र भगवान् की सेवा करते हुए भव्य के समान सुशोभित हो रहा है ऐसा वह श्री जिनेन्द्रदेव का शोभायुक्त अशोकवृक्ष सदा जयवन्त रहे ॥१८२॥

जिस समवसरण की भूमि में देव लोग प्रसन्न होकर अपने नेत्रों की पंक्ति के समान चंचल और उन्मत्त भ्रमरों से सेवित फूलों की पंक्ति आकाश के अग्रभाग से छोड़ते हैं अर्थात् पुष्पवर्षा करते हैं और जो वायु से हिलती हुई अपनी ध्वजाओं की पंक्ति से आकाश को साफ करती हुई सी सुशोभित होती है ऐसी वह समवसरण-भूमि चिरकाल तक हम सबके कल्याण को विस्तृत करे ॥१८३॥

रत्नों की प्रभा से देदीप्यमान रहने वाले जिस धूलीसाल में सूर्य निमग्नकिरण होकर अत्यन्त शोभायमान होता है ऐसा वह भगवान् का निर्मल धूलीसाल सदा जयवन्त रहे तथा जो कल्पवृक्ष से भी अधिक कान्ति वाले हैं जिन पर ऊँची ध्वजाएँ फहरा रही हैं, जो आकाश का उल्लंघन कर रही हैं, और जो अतिशय देदीप्यमान हैं ऐसे जिनेन्द्रदेव के ये मानस्तम्भ भी सदा जयवन्त रहे ॥१८४॥

जिनके किनारे रत्नों के बने हुए हैं जिनमें स्वच्छ जल भरा हुआ है, जो नीलकमलों से व्याप्त है और जो सुगन्धि से अन्धे भ्रमरों के शब्दों से शब्दायमान होती हुई सुशोभित हो रही है मैं उन बावड़ियों की स्तुति करता हूँ, तथा जो फूले हुए पुष्परूपी हास से सुन्दर है और जिसमें पल्लवों के अंकुर उठ रहे हैं ऐसे लतावन की भी स्तुति करता हूँ । और इसी प्रकार भगवान् के उस प्रसिद्ध प्रथम कोट की भी स्तुति करता हूँ ॥१८५॥

जो देदीप्यमान मूंगा के समान अपने पल्लवों से समस्त दिशाओं को लाल-लाल कर रहे हैं, जो वायु से हिलती हुई अपनी ऊँची शाखाओं से नृत्य करने के लिए तत्पर हुए के समान जान पड़ते हैं, जो चैत्यवृक्षों से सहित हैं, जो जिनेन्द्र भगवान् की समवसरण भूमि में प्राप्त हुए हैं और जिनकी संख्या चार है ऐसे उन रक्त अशोक आदि के वनों की भी मैं वन्दना करता हूँ ॥१८६॥

जो चैत्यवृक्षों से मण्डित है, जिनमें श्री जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमाएँ विराजमान हैं, और इन्द्र भी विनय के कारण झुके हुए अपने मस्तक से जिनकी वन्दना करते हैं ऐसे, भगवान के लाल अशोकवृक्षों का वन, वह देदीप्यमान सप्तपर्णवृक्षों का वन, वह आम्रवृक्षों का वन और वह अतिशय श्रेष्ठ चम्पकवृक्षों का वन, इन चारों वनों की हम वन्दना करते हैं ॥१८७॥

जो अतिशय सुन्दर है, जो सिंह, बैल गरुड़, शोभायमान माला, हाथी, वस्त्र, मयूर और हंसों के चिह्नों से सहित हैं जिनका माहात्म्य प्रकट हो रहा है, जो देवताओं के द्वारा भी पूजित हैं और जो वायु से हिल रही है ऐसी जो कोट के आगे देदीप्यमान ध्वजाओं के वस्त्रों की पंक्तियाँ सुशोभित होती हैं उन्हें भी मैं नमस्कार करता हूँ ॥१८८॥

जो फैलते हुए धूप के धुएँ से आकाशमार्ग को मलिन कर रहे हैं जो दिशाओं के समीप भाग को आच्छादित कर रहे हैं और जो समस्त जगत् को बहुत शीघ्र ही सुगन्धित कर रहे हैं ऐसे प्रत्येक दिशा के दो-दो विशाल तथा उत्तम धूप-घट हमारे मन में प्रीति उत्पन्न करें, इसी प्रकार तीनों कोटोंसम्बन्धी, शोभा-सम्पन्न दो-दो मनोहर नाट्यशालाएँ भी हमारे मन में प्रीति उत्पन्न करें ॥१८९॥

फूल और पल्लवों से देदीप्यमान और अतिशय मनोहर कल्पवृक्षों के बड़े-बड़े वनों में लक्ष्मीधारी इन्द्रों के द्वारा वन्दनीय तथा जिनके मूलभाग में सिद्ध भगवान् की देदीप्यमान प्रतिमाएँ विराजमान हैं ऐसे जो सिद्धार्थ वृक्ष हैं मैं प्रसन्नचित्त होकर उन सभी की स्तुति करता हूँ, उन सभी को नमस्कार करता हूँ और उन सभी का स्मरण करता हूँ, इसके सिवाय जिनका समस्त शरीर रत्नों का बना हुआ है और जो जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमाओं से सहित हैं ऐसे स्तूपों की पंक्ति का भी मैं प्रसन्नचित्त होकर स्तवन, नमन तथा स्मरण करता हूँ ॥१९०॥ वन की वेदी से घिरी हुई कल्पवृक्षों के वनों की पंक्ति के आगे जो सफेद मकानों की पंक्ति है उसके आगे स्फटिकमणि का बना हुआ जो तीसरा उत्तम कोट है, उसके आगे तीनों लोकों के समस्त जीवों को आश्रय देने का प्रभाव रखने वाला जो भगवान् का श्रीमण्डप है और उसके आगे जो गन्धकुटी से आश्रित तीन कटनीदार ऊँचा पीठ है वह सब हम लोगों की लक्ष्मी को विस्तृत करें ॥१९१॥

संक्षेप में समवसरण की रचना इस प्रकार है-सबसे पहले (धूलीसाल के बाद) चारों दिशाओं में चार मानस्तम्भ हैं, मानस्तम्भों के चारों ओर सरोवर है, फिर निर्मल जल से भरी हुई परिखा है, फिर पुष्पवाटिका (लतावन) हैं, उसके आगे पहला कोट है, उसके आगे दोनों ओर दो-दो नाट्यशालाएँ हैं, उसके आगे दूसरा अशोक आदि का वन है, उसके आगे वेदिका है, तदनन्तर ध्वजाओं की पंक्तियाँ हैं, फिर दूसरा कोट है, उसके आगे वेदिकासहित कल्पवृक्षों का वन है, उसके बाद स्तूप और स्तूपों के बाद मकानों की पंक्तियाँ हैं, फिर स्फटिकमणिमय तीसरा कोट है, उसके भीतर मनुष्य, देव और मुनियों की बारह सभाएँ हैं तदनन्तर पीठिका है और पीठिका के अग्रभाग पर स्वयम्भू भगवान् अरहन्तदेव विराजमान हैं ॥१९२॥

अरहन्तदेव स्वभाव से ही पूर्व अथवा उत्तर दिशा की ओर मुख कर जिस समवसरणभूमि में विराजमान होते हैं उसके चारों ओर प्रदक्षिणारूप से क्रमपूर्वक १ बुद्धि के ईश्वर गणधर आदि मुनिजन, २ कल्पवासिनी देवियाँ, ३ आर्यिकाएँ-मनुष्यों की स्त्रियाँ, ४ भवनवासिनी देवियाँ ५ व्यन्तरणी देवियाँ, ६ ज्योतिष्किणी देवियाँ ७ भवनवासी देव, ८ व्यन्तर देव, ९ ज्योतिष्क देव, १० कल्पवासी देव, ११ मनुष्य और १२ पशु इन बारह गणों के बैठने योग्य बारह सभाएँ होती हैं ॥१९३॥

उनमें से पहले कोठे में अतिशय ज्ञान के धारक गणधर आदि मुनिराज, दूसरे में कल्पवासी देवों की देवांगनाएँ, तीसरे में आर्यिकासहित राजाओं की स्त्रियाँ तथा साधारण मनुष्यों की स्त्रियाँ, चौथे में ज्योतिष देवों की देवांगनाएँ, पाँचवें में व्यन्तर देवों की देवांगनाएँ, छठे में भवनवासी देवों की देवांगनाएँ, सातवें में भवनवासी देव, आठवें में व्यन्तरदेव, नवें में ज्योतिषी देव, दसवें में कल्पवासी देव, ग्यारहवें में चक्रवर्ती आदि श्रेष्ठ मनुष्य और बारहवें में पशु बैठते हैं । ये सब ऊपर कहे हुए कोठों में भक्तिभार से नम्रीभूत होकर जिनेन्द्र भगवान् के चारों ओर बैठा करते हैं ॥१९४॥

तदनन्तर जिन्होंने प्रकट होते हुए वचनरूपी किरणों से अन्धकार को नष्ट कर दिया है, संसाररूपी रात्रि को दूर हटा दिया है और उस रात्रि की संध्या सन्धि के समान क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान की अवस्था को भी दूर कर दिया है जो सम्यग्ज्ञानरूपी उत्तम सारथि के द्वारा वश में किये हुए सात नयरूपी वेगशाली घोड़ों से जुते हुए स्याद्वादरूपी रथ पर सवार हैं और जो भव्य जीवों के बन्धु है ऐसे श्री

जिनेन्द्रदेवरूपी सूर्य अतिशय देदीप्यमान हो रहे थे ॥१९५॥

इस प्रकार ऊपर जिसका संग्रह किया गया है ऐसी, धर्मचक्र के अधिपति जिनेन्द्र भगवान् की इस समवसरण-भूमि का जो भव्य जीव भक्ति से मस्तक झुकाकर स्तुति से मुख को शब्दायमान करता हुआ स्मरण करता है वह अवश्य ही मणिमय मुकुटों से सहित देवों के माला को धारण करने वाले मस्तकों के द्वारा पूज्य, समस्त गुणों से भरपूर और बड़ी-बड़ी ऋद्धियों से युक्त जिनेन्द्र भगवान् की लक्ष्मी अर्थात् अर्हन्त अवस्था की विभूति को प्राप्त करता है ॥१९६॥

इस प्रकार आर्षनाम से प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण के संग्रह में समवसरणविभूति का वर्णन करने वाला तेईसवां पर्व समाप्त हुआ ॥२३॥

पर्व-24 -- भगवत्कृत धर्मोपदेश

पर्व-24 -- भगवत्कृत धर्मोपदेश

कथा :

जिनके ज्ञान ने पटविद्या अर्थात् विष दूर करने वाली विद्या के समान मोहरूपी विष से सोते हुए इस समस्त जगत् को शीघ्र ही उठा दिया था-जगा दिया था वे श्रीवृषभदेव भगवान् सदा जयवन्त रहें ॥१॥

अथानन्तर राज्यलक्ष्मी से युक्त राजर्षि भरत को एक ही साथ नीचे लिखे हुए तीन समाचार मालूम हुए कि पूज्य पिता को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है, अन्तःपुर में पुत्र का जन्म हुआ है और आयुधशाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ है ॥२॥

उस समय भरत महाराज ने धर्माधिकारी पुरुष से पिता के केवलज्ञान होने का समाचार, आयुधशाला की रक्षा करने वाले पुरुष से चक्ररत्न प्रकट होने का वृत्तान्त, और कंचुकी से पुत्र उत्पन्न होने का समाचार मालूम किया था ॥३॥

ये तीनों ही कार्य एक साथ हुए हैं । इनमें से पहले किसका उत्सव करना चाहिए यह सोचते हुए राजा भरत क्षण-भर के लिए व्याकुल से हो गये ॥४॥

पुण्यतीर्थ अर्थात् भगवान् को केवलज्ञान उत्पन्न होना, पुत्र की उत्पत्ति होना और चक्ररत्न का प्रकट होना ये तीनों ही धर्म, अर्थ, काम तीन वर्ग के फल मुझे एक साथ प्राप्त हुए हैं ॥५॥

इनमें से भगवान् के केवलज्ञान उत्पन्न होना धर्म का फल है, पुत्र का होना काम का फल है और देदीप्यमान चक्र का प्रकट होना अर्थ प्राप्त कराने वाले अर्थ पुरुषार्थ का फल है ॥६॥

अथवा यह सभी धर्मपुरुषार्थ का पूर्ण फल है क्योंकि अर्थ धर्मरूपी वृक्ष का फल है और काम उसका रस है ॥७॥

सब कार्यों में सबसे पहले धर्मकार्य ही करना चाहिए क्योंकि वह कल्याणों को प्राप्त कराने वाला है और बड़े-बड़े फल देने वाला है इसलिए सर्वप्रथम जिनेन्द्र भगवान् की पूजा ही करनी चाहिए ॥८॥

इस प्रकार राजाओं के इन्द्र भरत महाराज ने सबसे पहले भगवान् की पूजा करने का निश्चय किया सो ठीक ही है क्योंकि धर्मात्मा पुरुषों की चेष्टाएँ प्रायः पुण्य उत्पन्न करने वाली ही होती हैं ॥९॥

तदनन्तर महाराज भरत अपने छोटे भाई, अन्तःपुर की स्त्रियाँ और नगर के मुख्य-मुख्य लोगों के साथ पूजा की बड़ी भारी सामग्री लेकर जाने के लिए तैयार हुए ॥१०॥

गुरुदेव भगवान् वृषभदेव में उत्कृष्ट भक्ति को बढ़ाते हुए और धर्म की प्रभावना करते हुए महाराज भरत भगवान् की वन्दना के लिए उठे ॥११॥

तदनन्तर जिनका शब्द समुद्र की गर्जना के समान है ऐसे आनन्दकाल में बजने वाले नगाड़े सेनारूपी समुद्र में क्षोभ फैलाते हुए और दिशाओं को शब्दायमान करते हुए गम्भीर शब्द करने लगे ॥१२॥

अथानन्तर-जो महाभाग्यशाली है, जिनेन्द्र भगवान् की वन्दना करने का अभिलाषी है, भरतक्षेत्र का स्वामी है और चारों ओर से हाथी-घोड़े पदाति तथा रथों के समूह से घिरा हुआ है ऐसे महाराज भरत ने प्रस्थान किया ॥१३॥

उस समय वह चलती हुई सेना समुद्र की वेला के समान सुशोभित हो रही थी क्योंकि सेना में जो नगाड़ों का शब्द फैल रहा था वही उसकी गर्जना का शब्द था और फहराती हुई असंख्यात ध्वजाएँ ही लहरों के समान जान पड़ती थीं ॥१४॥

इस प्रकार सेना से घिरे हुए महाराज भरत, दिशाओं में फैलती हुई प्रभा से जिसने सूर्यमण्डल को जीत लिया है ऐसे भगवान् के समवसरण में जा पहुँचे ॥१५॥

वे सबसे पहले समवसरण भूमि की प्रदक्षिणा देकर मानस्तम्भों की पूजा करते हुए आगे बढ़े, वहाँ क्रम-क्रम से परिखा, लताओं के वन, कोट, चार वन और दूसरे कोट को उल्लंघन कर ध्वजाओं को, कल्पवृक्षों की पंक्तियों को, स्तूपों को और मकानों के समूह को देखते हुए आश्चर्य को प्राप्त हुए ॥१६-१७॥

तदनन्तर सम्भ्रम को प्राप्त हुए द्वारपाल देवों के द्वारा भीतर प्रवेश कराये हुए भरत महाराज ने स्वर्ग को जीतने वाली श्रीमण्डप की शोभा देखी ॥१८॥

तदनन्तर अतिशय शोभायुक्त भरत ने प्रथम पीठिका पर पहुँचकर प्रदक्षिणा देते हुए चारों ओर धर्मचक्रों की पूजा की ॥१९॥

तदनन्तर उन्होंने अत्यन्त प्रसन्न होकर दूसरे पीठ पर स्थित भगवान् की ध्वजाओं की पवित्र सुगन्ध आदि द्रव्यों से पूजा की ॥२०॥

तदनन्तर उदयाचल पर्वत के शिखर पर स्थित सूर्य के समान गन्धकुटी के बीच में महामूल्य-श्रेष्ठ सिंहासन पर स्थित और अनेक देदीप्यमान ऋद्धियों को धारण करने वाले जिनेन्द्र वृषभदेव को देखा ॥२१॥

दुर्लभ हुए चमरों के समूह से जिनका विशाल शरीर संवीज्यमान हो रहा है और जो सुवर्ण के समान कान्ति को धारण करने वाले हैं ऐसे वे भगवान् उस समय ऐसे जान पड़ते थे मानो जिसके चारों ओर निर्झरने पड़ रहे हैं ऐसा सुमेरु पर्वत ही हो ॥२२॥

वे भगवान् बड़े भारी अशोकवृक्ष के नीचे तीन छत्रों से सुशोभित थे और ऐसे जान पड़ते थे मानो जिस पर तीन रूप धारण किये हुए चन्द्रमा से सुशोभित मेघ छाया हुआ है ऐसा पर्वतों का राजा सुमेरु पर्वत ही हो ॥२३॥

वे भगवान् चारों ओर से पुष्पवृष्टि के समूह से सुशोभित थे जिससे ऐसे जान पड़ते थे मानो जिसके चारों ओर कल्पवृक्षों से फल गिरे हुए हैं ऐसा सुमेरु पर्वत ही हो ॥२४॥

आकाश में व्याप्त होने वाले देव दुन्दुभियों के शब्दों से भगवान् के समीप ही बड़ा भारी शब्द हो रहा था जिससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो वायु के द्वारा चलायमान हुआ और जिसकी लहरें किनारे तक फैल रही हैं ऐसा समुद्र ही हो ॥२५॥

जिसका शब्द अतिशय गम्भीर है और जो जगत् के समस्त प्राणियों को आनन्दित करने वाला है ऐसे सन्देहरहित धर्मरूपी अमृत की वर्षा करते हुए भगवान् वृषभदेव ऐसे जान पड़ते थे मानो गरजता हुआ और जलवर्षा करता हुआ वर्षाऋतु का बादल ही हो ॥२६॥

अपने शरीर की फैलती हुई प्रभारूपी जल से जिन्होंने समस्त प्रभा को प्रक्षालित कर दिया है, वे भगवान् ऐसे जान पड़ते थे मानो क्षीरसमुद्र के बीच में बढ़ा हुआ सुवर्णमय पर्वत ही हो ॥२७॥

इस प्रकार आठ प्रातिहार्यरूप ऐश्वर्य से युक्त और जगत् के गुरु स्वामी वृषभदेव को देखकर पूजा करने वालों में श्रेष्ठ भरत ने उनकी प्रदक्षिणा दी और फिर उत्कृष्ट सामग्री से उनकी पूजा की ॥२८॥

पूजा के बाद महाराज भरत ने अपने दोनों घुटने जमीन पर रखकर सब भाषाओं के स्वामी भगवान् वृषभदेव को नमस्कार किया और फिर वचनरूपी पुष्पों की मालाओं से उनकी इस प्रकार पूजा की अर्थात् नीचे लिखे अनुसार स्तुति की ॥२९॥

हे भगवान् आप ब्रह्मा हैं, परम ज्योतिस्वरूप हैं, समर्थ हैं, जन्मरहित हैं, पापरहित हैं, मुख्यदेव अथवा प्रथम तीर्थकर हैं, देवों के भी अधिदेव और महेश्वर हैं ॥३०॥

आप ही सृष्टा हैं, विधाता हैं, ईश्वर हैं, सबसे उत्कृष्ट हैं, पवित्र करने वाले हैं, आदि पुरुष हैं, जगत् के ईश हैं, जगत् में शोभायमान हैं और विश्वतोमुख अर्थात् सर्वदर्शी हैं ॥३१॥

आप समस्त संसार में व्याप्त हैं, जगत् के भर्ता हैं, समस्त पदार्थों को देखने वाले हैं, सबकी रक्षा करने वाले हैं, विभु हैं, सब ओर फैली हुई आत्मज्योति को धारण करने वाले हैं, सबकी योनिस्वरूप हैं-सबके ज्ञान आदि गुणों को उत्पन्न करने वाले हैं और स्वयं अयोनिरूप हैं-पुनर्जन्म से रहित हैं ॥३२॥

आप ही हिरण्यगर्भ अर्थात् ब्रह्मा हैं, भगवान् हैं, वृषभ हैं, वृषभ चिह्न से युक्त हैं, परमेष्ठी हैं, परमतत्त्व हैं, परमात्मा हैं, और आत्मभू-अपने आप उत्पन्न होने वाले हैं ॥३३॥

आप ही स्वामी हैं, उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप हैं, ईश्वर हैं, अयोनिज-योनि के बिना उत्पन्न होने वाले हैं, जरारहित हैं, आदिरहित हैं, अन्तरहित हैं

और अच्युत हैं ॥३४॥

आप ही अक्षर अर्थात् अविनाशी हैं, अक्षम्य अर्थात् क्षय होने के अयोग्य हैं, अनक्ष अर्थात् इन्द्रियों से रहित हैं, अनक्षर अर्थात् शब्दागोचर हैं, विष्णु अर्थात् व्यापक हैं, विष्णु अर्थात् कर्मरूप शत्रुओं को जीतने वाले हैं, विजिष्णु अर्थात् सर्वोत्कृष्ट स्वभाव वाले हैं, स्वयम्भू अर्थात् स्वयं बुद्ध हैं, और स्वयम्प्रभ अर्थात् अपने-आप ही प्रकाशमान हैं-असहाय, केवलज्ञान के धारक हैं ॥३५॥

आप ही शम्भु हैं, शम्भव हैं, शंयु-सुखी हैं, शंवद हैं-सुख या शान्ति का उपदेश देने वाले हैं, शंकर हैं-शान्ति के करने वाले हैं, हर हैं, मोहरूपी असुर के शत्रु हैं, अज्ञानरूप अन्धकार के अरि हैं और भव्य जीवों के लिए उत्तम सूर्य हैं ॥३६॥

आप पुराण हैं-सबसे पहले के हैं, आद्य कवि हैं, योगी हैं, योग के जानने वालों में श्रेष्ठ हैं, सबको शरण देने वाले हैं, श्रेष्ठ हैं, अग्रसर हैं, पवित्र हैं, और पुण्य के नायक हैं ॥३७॥

आप योगस्वरूप हैं-ध्यानमय हैं, योगसहित हैं-आत्मपरिस्पन्द से सहित हैं, सिद्ध हैं-कृतकृत्य हैं, बुद्ध हैं-केवलज्ञान से सहित हैं, सांसारिक उत्सवों से रहित हैं, सूक्ष्म हैं-छद्मस्थज्ञान के अगम्य हैं, निरंजन हैं-कर्मकलंक से रहित हैं, गर्भ में कमलकर्णिका पर उत्पन्न हुए हैं अतः ब्रह्मरूप हैं और जिनवरों में श्रेष्ठ हैं ॥३८॥

आप द्वादशांगरूप वेदों के जानने वाले हैं, द्वादशांगरूप वेदों के कर्ता हैं, आगम के जानने वाले हैं, वक्ताओं में सर्वश्रेष्ठ हैं, वचनों के स्वामी हैं, अधर्म के शत्रु हैं, धर्मों में प्रथम धर्म हैं और धर्म के नायक हैं ॥३९॥

आप जिन हैं, काम को जीतने वाले हैं, अर्हन्त हैं-पूज्य हैं, मोहरूपशत्रु को नष्ट करने वाले हैं, अन्तरायरहित हैं, धर्म की ध्वजा हैं, धर्म के अधिपति हैं, और कर्मरूपी शत्रुओं को नष्ट करने वाले हैं ॥४०॥

आप भव्यजीवरूपी कमलिनियों के लिए सूर्य के समान हैं, आप ही अग्नि हैं, यज्ञकुण्ड हैं, यज्ञ के अंग हैं, श्रेष्ठ यज्ञ हैं, होम करने वाले हैं और होम करने योग्य द्रव्य हैं ॥४१॥

आप ही यज्वा हैं-यज्ञ करने वाले हैं, आज्य हैं-घृतरूप हैं, पूजारूप हैं, अपरिमित पुण्यस्वरूप हैं, गुणों की खान हैं, शत्रुरहित हैं, पापरहित हैं, और मध्यरहित होकर भी मध्यम हैं । भावार्थ-भगवान् निश्चयनय की अपेक्षा अनादि और अनन्त हैं जिसका आदि और अन्त नहीं होता उसका मध्य भी नहीं होता । इसलिए भगवान् के लिए यहाँ कवि ने अमध्य अर्थात् मध्यरहित कहा है परन्तु साथ ही मध्यम भी कहा है । कवि की इस उक्ति में यहाँ विरोध आता है परन्तु अब मध्यम शब्द का 'मध्ये मा अनन्तचतुष्टयलक्ष्मीर्यस्य सः'-जिसके बीच में अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मी है ऐसा अर्थ किया जाता है तब वह विरोध दूर हो जाता है । यह विरोधाभास अलंकार है ॥४२॥

हे भगवन् आप उत्तम होकर भी अनुत्तम हैं (परिहार पक्ष में 'नास्ति उत्तमो यस्मात्सः'-जिससे बढ़कर और दूसरा नहीं है) ज्येष्ठ हैं, सबसे बड़े गुरु हैं, अत्यन्त स्थिर हैं, अत्यन्त सूक्ष्म हैं, अत्यन्त बड़े हैं, अत्यन्त स्थूल हैं और गौरव के स्थान हैं ॥४३॥

आप बड़े हैं, क्षमा गुण से पृथ्वी के समान आचरण करने वाले हैं, पूज्य हैं, भवनशील (समर्थ) हैं, स्थिर स्वभाव वाले हैं, अविनाशी हैं, विजयशील हैं, अचल हैं, नित्य हैं, शिव हैं, शान्त हैं, और संसार का अन्त करने वाले हैं ॥४४॥

हे देव, आप ब्रह्मविद् अर्थात् आत्मस्वरूप के जानने वालों के ध्येय हैं-ध्यान करने योग्य हैं और ब्रह्मपद-आत्मा की शुद्धि पर्याय के ईश्वर हैं । इस प्रकार हम लोग अनेक नामों से आपकी स्तुति करते हैं ॥४५॥

हे भगवन् इस प्रकार आपके एक सौ आठ नामों का हृदय से स्मरण कर मैं आठ प्रातिहार्यों के स्वामी तथा स्तुतियों के स्थानभूत आपकी स्तुति करता हूँ ॥४६॥

हे भगवन् जिसकी शाखाएँ अत्यन्त चलायमान हो रही है ऐसा यह ऊँचा अशोक महावृक्ष अपनी छाया में आये हुए जीवों की इस प्रकार रक्षा करता है मानो इसने आपसे ही शिक्षा पायी हो ॥४७॥

यक्षों के द्वारा ऊपर उठाकर ढोले गये ये आपके चमरों के समूह ऐसे जान पड़ते हैं मानो बिना किसी छल के मनुष्यों के पापरूपी मक्खियों को ही उड़ा रहे हों ॥४८॥

हे नाथ, आपके चारों ओर स्वर्ग से जो पुष्पाञ्जलियों की वर्षा हो रही है वह ऐसी जान पड़ती है मानो सन्तुष्ट हुई स्वर्गलक्ष्मी के द्वारा छोड़ी हुई हर्षजनित आँसुओं की बूँदें ही हों ॥४९॥

हे जिनेन्द्र, मोतियों के जाल से सुशोभित और अतिशय ऊँचा आपका यह छत्रत्रितय ऐसा जान पड़ता है मानो लक्ष्मी का क्रीड़ास्थल ही हो

॥५०॥

हे भगवन् सिंहों के द्वारा धारण किया हुआ यह आपका सिंहासन ऐसा सुशोभित हो रहा है मानों आप समस्त लोक का भार धारण करने वाले हैं-तीनों लोकों के स्वामी हैं इसलिए आपका बोझ उठाने के लिए सिंहों ने प्रयत्न किया हो, परन्तु भार की अधिकता से कुछ झुककर ही उसे धारण कर सके हों ॥५१॥

हे भगवन् आपके शरीर की प्रभा का विस्तार इस समस्त सभा को व्याप्त कर रहा है और उससे ऐसा जान पड़ता है मानो वह समस्त जीवों को चारों ओर से पुण्यरूप जल के अभिषेक को ही प्राप्त करा रहा हो ॥५२॥

हे प्रभो, आपके दिव्य वचनों का प्रसार (दिव्यध्वनि का विस्तार) मोहरूपी गाढ़ अन्धकार को नष्ट करता हुआ जगत् के जीवों का मन पवित्र कर रहा है इसलिए आप सम्यग्ज्ञानरूपी किरणों को फैलाने वाले सूर्य के समान हैं ॥५३॥

हे भगवन् इस प्रकार पवित्र और किसी के द्वारा हरण नहीं किये जा सकने योग्य आपके ये आठ प्रातिहार्य ऐसे देदीप्यमान हो रहे हैं मानो लक्ष्मीरूपी हंसी के क्रीड़ा करने योग्य पवित्र पुलिन (नदीतट) ही हो ॥५४॥

हे प्रभो, ज्ञान की अपेक्षा आप समस्त संसार में व्याप्त हैं अथवा आपकी आत्मा में संसार के समस्त पदार्थ प्रतिबिम्बित हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप जगत् की सृष्टि करने वाले हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, कर्मों के क्षय से प्रकट होने वाली नौ लब्धियों से आप स्वयंभू हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥५५॥

हे नाथ, क्षायिकज्ञान, क्षायिकदर्शन, क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिकचारित्र और क्षायिकदान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्य ये आपकी नौ क्षायिकशुद्धियाँ कही जाती हैं ॥५६॥

हे भगवन् आपका बाधारहित ज्ञान समस्त संसार को एक साथ जानता है सो ठीक ही है क्योंकि व्यवधान होना, इन्द्रियों की आवश्यकता होना और क्रम से जानना ये तीनों ही ज्ञानावरण कर्म से होते हैं परन्तु आपका ज्ञानावरण कर्म बिलकुल ही नष्ट हो गया है इसलिए निर्बाधरूप से समस्त संसार को एक साथ जानते हैं ॥५७॥

हे प्रभो, यह एक बड़े आश्चर्य की बात है कि आपने इस अनेक प्रकार के जगत् को एक साथ जान लिया अथवा कहीं-कहीं बड़े पुरुषों का आश्रय पाकर क्रम का छूट जाना भी प्रशंसनीय समझा जाता है ॥५८॥

हे विभो, समस्त इन्द्रियों के विद्यमान रहते हुए भी आपका ज्ञान अतीन्द्रिय ही होता है सो ठीक ही है क्योंकि आपकी शक्तियों का योगी लोग भी चिन्तन नहीं कर सकते हैं ॥५९॥

हे भगवन् जिस प्रकार आपका ज्ञान क्षायिक है उसी प्रकार आपका दर्शन भी क्षायिक है और उन दोनों से एक साथ ही आपके उपयोग रहता है यह एक आश्चर्य की बात है । भावार्थ-संसार के अन्य जीवों के पहले दर्शनोपयोग होता है बाद में ज्ञानोपयोग होता है परन्तु आपके दोनों उपयोग एक साथ ही होते हैं ॥६०॥

हे देव, आपका ज्ञानगुण संसार के समस्त पदार्थों में व्याप्त हो रहा है, आप आश्चर्य उत्पन्न करने वाले हैं और योगी लोग आपको सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी कहते हैं ॥६१॥

हे ईश, आप संसार के समस्त पदार्थों को जानते हैं फिर भी आपको कुछ भी परिश्रम और खेद नहीं होता है । यह आपके अनन्त बल की शक्ति का प्रकट दिखाई देने वाला माहात्म्य है ॥६२॥

हे विभो, चित्त को कलुषित करने वाले राग आदि विभाव भावों के नष्ट हो जाने से जो आपके सम्यक्चारित्र प्रकट हुआ है वह आपके विनाशरहित और केवल आत्मा से उत्पन्न होने वाले सुख को प्रकट करता है ॥६३॥

यदि विषय और कषाय से विरक्त होना ही सुख माना जाये तो वह सुख केवल आपमें ही माना जायेगा और यदि विषय कषाय से विरक्त न होने को सुख माना जाये तो फिर यही मानना पड़ेगा कि तीनों लोकों में दुःख है ही नहीं । भावार्थ-निवृत्ति अर्थात् आकुलता के अभाव को सुख कहते हैं, विषयकषायों में प्रवृत्ति करते हुए आकुलता का अभाव नहीं होता इसलिए उनमें वास्तविक सुख नहीं है परन्तु आप विषयकषायों से निवृत्त हो चुके हैं-आपकी तद्विषयक आकुलता दूर हो गयी है इसलिए वास्तविक सुख आप में ही है । यदि

विषयवासनाओं में प्रवृत्ति करते रहने को सुख कहा जाये तो फिर सारा संसार सुखी ही सुखी कहलाने लगे क्योंकि संसार के सभी जीव विषयवासनाओं में प्रवृत्त हो रहे हैं परन्तु उन्हें वास्तविक सुख प्राप्त हुआ नहीं मालूम होता इसलिए सुख का पहला लक्षण ही ठीक है और

वह सुख आपको ही प्राप्त है ॥६४॥

हे भगवन् जिस प्रकार कलुष-मल अर्थात् कीचड़ के शान्त हो जाने से जल स्वच्छता को प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार मिथ्यात्वरूपी कीचड़ के नष्ट हो जाने से आपका सम्यग्दर्शन भी स्वच्छता को प्राप्त हुआ है ॥६५॥

हे देव, यद्यपि दान, लाभ आदि शेष लब्धियाँ आप में विद्यमान हैं तथापि वे कुछ भी कार्यकारी नहीं हैं क्योंकि कृतकृत्य पुरुष के बाह्य पदार्थों का संसर्ग होना बिल्कुल व्यर्थ होता है ॥६६॥

हे नाथ, ऐसे-ऐसे आपके अनन्तगुण माने गये हैं, परन्तु हे ईश, अल्पबुद्धि को धारण करने वाला मैं उन सबकी लेशमात्र भी स्तुति करने के लिए समर्थ नहीं हूँ ॥६७॥

इसलिए हे देव, आपके गुणों का स्तोत्र करना तो दूर रहा, आपका लिया हुआ नाम ही हम लोगों को पवित्र कर देता है अतएव हम लोग केवल नाम लेकर ही आपके आश्रय में आये हैं ॥६८॥

हे नाथ, आपके गर्भावतरण के समय आश्चर्य करने वाली हिरण्यमयी अर्थात् सुवर्णमयी वृष्टि हुई थी इसलिए लोग आपको हिरण्यगर्भ कहते हैं ॥६९॥

आपके जन्म के समय देवों ने रत्नों की वर्षा की थी इसलिए आप वृषभ कहलाते हैं और जन्माभिषेक के लिये आप सुमेरुपर्वत को प्राप्त हुए थे इसलिये आप ऋषभ भी कहलाते हैं ॥७०॥

हे देव, आप संसार के समस्त जानने योग्य पदार्थों को ग्रहण करने वाले ज्ञान की मूर्तिरूप हैं इसलिए बड़े-बड़े ऋषि लोग आपको सर्वगत अर्थात् सर्वव्यापक कहते हैं ॥७१॥

हे भगवन् ऊपर कहे हुए नामों को आदि लेकर अनेक नाम आप में सार्थकता को धारण कर रहे हैं इसलिए आप जगज्येष्ठ (जगत में सबसे बड़े), परमेष्ठी और सनातन कहलाते हैं ॥७२॥

हे अविनाशी, आपकी भक्ति से प्रेरित हुई अपनी इस बुद्धि को मैं स्वयं धारण करने के लिए समर्थ नहीं हो सका इसलिए ही आज आपकी स्तुति करने में प्रवृत्त हुआ हूँ। भावार्थ-योग्यता न रहते हुए भी मात्र भक्ति से प्रेरित होकर आपकी स्तुति कर रहा हूँ ॥७३॥

हे प्रभो, आपके द्वारा दिखलाये हुए मार्ग की उपासना का मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा करने वाले और देव मानकर आपकी ही उपासना करने वाले हम लोगों पर प्रसन्न होइए और अनुग्रह कीजिए ॥७४॥

हे भगवन् इस प्रकार लोकोत्तर वैभव को धारण करने वाले आपकी स्तुति कर हम लोग यही चाहते हैं हम लोगो की बड़ी भारी भक्ति आप में ही रहे, इसके सिवाय हम और कुछ नहीं चाहते ॥७५॥

इस प्रकार स्तुति कर चुकने पर जिसे देवों के समूह आश्चर्यसहित नेत्रों से देख रहे थे ऐसे महाराज भरत श्रीमण्डप में प्रवेश कर वहाँ अपनी योग्य सभा में जा बैठे ॥७६॥

तदनन्तर भगवान् से प्रबोध प्राप्त करने की इच्छा करनेवाला वह सभारूपी सरोवर जब हाथरूपी कुड्मल जोड़कर शान्त हो गया-जब सब लोग तत्त्वों का स्वरूप जानने की इच्छा से हाथ जोड़कर चुपचाप बैठ गये तब भगवान् वृषभदेव से तत्त्वों का स्वरूप जानने की इच्छा करने वाले महाराज भरत ने विनय से मस्तक झुकाकर प्रीतिपूर्वक ऐसी प्रार्थना की ॥७७-७८॥

हे भगवन्, तत्त्वों का विस्तार कैसा है, मार्ग कैसा है ? और उसका फल भी कैसा है ? हे तत्त्वों के जानने वालों में श्रेष्ठ, मैं आपसे यह सब सुनना चाहता हूँ ॥७९॥

इस प्रकार भरत का प्रश्न समाप्त होने पर प्रथम तीर्थंकर भगवान् वृषभदेव ने अतिशय गम्भीर वाणी के द्वारा तत्त्वों का विस्तार के साथ विवेचन किया ॥८०॥

कहते समय भगवान् के मुखकमल पर कुछ भी विकार उत्पन्न नहीं हुआ था सो ठीक है, क्योंकि पदार्थों को प्रकाशित करते समय क्या दर्पण में कुछ विकार उत्पन्न होता है ? अर्थात् नहीं होता ॥८१॥

उस समय भगवान् के न तो तालू, ओठ आदि स्थान ही हिलते थे और न उनके मुख की कान्ति ही बदलती थी। तथा जो अक्षर उनके मुख से निकल रहे थे उन्होंने प्रयत्न को छुआ भी नहीं था-इन्द्रियों पर आघात किये बिना ही निकल रहे थे ॥८२॥

जिसमें सब अक्षर स्पष्ट है ऐसी वह दिव्यध्वनि भगवान् के मुख से इस प्रकार निकल रही थी जिस प्रकार कि किसी पर्वत की गुफा के

अग्रभाग से प्रतिध्वनि निकलती है ॥८३॥

भगवान की वह वाणी बोलने की इच्छा के बिना ही प्रकट हो रही थी सो ठीक ही है क्योंकि योगबल से उत्पन्न हुई महापुरुषों का शक्तिरूपी सम्पदाएं अचिन्तनीय होती हैं-उनके प्रभुत्व का कोई चिन्तन नहीं कर सकता ॥८४॥

भगवान् कहने लगे कि हे आयुष्मन्, जिनका स्वरूप आगे अनुक्रम से कहा जायेगा, ऐसे भेद-प्रभेदों तथा पर्यायों से सहित जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन द्रव्यों को तू सुन ॥८५॥

जीव आदि पदार्थों का यथा स्वरूप ही तत्त्व कहलाता है, यह तत्त्व ही सम्यग्ज्ञान का अंग अर्थात् कारण है और यही जीवों की मुक्ति का अंग है ॥८६॥

वह तत्त्व सामान्य रीति से एक प्रकार का है, जीव और अजीव के भेद से दो प्रकार का है तथा जीवों के संसारी और मुक्त इस प्रकार दो भेद करने से संसारी जीव, मुक्त जीव और अजीव इस प्रकार तीन भेद वाला भी कहा जाता है ॥८७॥

संसारी जीव दो प्रकार के माने गये हैं-एक भव्य और दूसरा अभव्य, इसलिए मुक्त जीव, भव्य जीव, अभव्यजीव और अजीव इस तरह वह तत्त्व चार प्रकार का भी माना गया है ॥८८॥

अथवा जीव के दो भेद हैं एक मुक्त और दूसरा संसारी, इसी प्रकार अजीव के भी दो भेद हैं एक मूर्तिक और दूसरा अमूर्तिक, दोनों को मिला देने से भी तत्त्व के चार भेद निश्चित किये गये हैं ॥८९॥

पाँच अस्तिकायों के भेद से वह तत्त्व पाँच प्रकार का भी स्मरण किया है। अपनी-अपनी पर्यायोंसहित जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय ये पाँच अस्तिकाय कहे जाते हैं ॥९०॥

उन्हीं पाँच अस्तिकायों में काल के मिला देने से तत्त्व के छह भेद भी हो जाते हैं, इस प्रकार विस्तारपूर्वक जानने की इच्छा करने वालों के लिए तत्त्वों का विस्तार अनन्त भेद वाला हो सकता है ॥९१॥

जिसमें चेतना अर्थात् जानने-देखने की शक्ति पायी जाये उसे जीव कहते हैं, वह अनादि निधन है अर्थात् द्रव्य-दृष्टि की अपेक्षा न तो वह कभी उत्पन्न हुआ है और न कभी नष्ट ही होगा। इसके सिवाय वह ज्ञाता है-ज्ञानोपयोग से सहित है, द्रष्टा है-दर्शनोपयोग से युक्त है, कर्ता है-द्रव्यकर्म और कर्मों को करने वाला है, भोक्ता है-ज्ञानादि गुण तथा शुभ-अशुभ कर्मों के फल को भोगने वाला है और शरीर के प्रमाण के बराबर है-सर्वव्यापक और अणुरूप नहीं है ॥९२॥

वह अनेक गुणों से युक्त है, कर्म का सर्वथा नाश हो जाने पर ऊर्ध्वगमन करना उसका स्वभाव है और वह दीपक के प्रकाश की तरह संकोच तथा विस्ताररूप परिणमन करने वाला है। भावार्थ-नामकर्म के उदय से उसे जितना छोटा बड़ा शरीर प्राप्त होता है वह उतना ही संकोच विस्ताररूप हो जाता है ॥९३॥

उस जीव का अन्वेषण करने के लिए गति आदि चौदह मार्गणाओं का निरूपण किया गया है। इसी प्रकार चौदह गुणस्थान और सत्संख्या आदि अनुयोगों के द्वारा भी वह जीवतत्त्व अन्वेषण करने के योग्य है। भावार्थ-मार्गणाओं, गुणस्थानों और सत्संख्या आदि अनुयोगों के द्वारा जीव का स्वरूप समझा जाता है ॥९४॥

गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व संज्ञित्व और आहारक ये चौदह मार्गणास्थान हैं। इन मार्गणास्थानों में सत्संख्या आदि अनुयोगों के द्वारा विशेषरूप से जीव का अन्वेषण करना चाहिए-उसका स्वरूप जानना चाहिए ॥

९५-९६॥

सिद्धान्तशास्त्ररूपी नेत्र को धारण करने वाले भव्य जीवों को सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, भाव, अन्तर, अल्पबहुत्व इन आठ अनुयोगों के द्वारा जीवतत्त्व का अन्वेषण करना चाहिए ॥९७॥

इस प्रकार ये जीवतत्त्व के जानने के उपाय हैं। इनके सिवाय विद्वानों को प्रमाण, नय और निक्षेपों के द्वारा भी जीवतत्त्व का निश्चय करना चाहिए-उसका स्वरूप जानकर दृढ़ प्रतीति करना चाहिए ॥९८॥

औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक ये पाँच भाव जीव के निजतत्त्व कहलाते हैं, इन गुणों से जिसका निश्चय किया जाये उसे जीव जानना चाहिए। उस जीव का उपयोग ज्ञान और दर्शन के भेद से दो प्रकार का होता है ॥९९-१००॥

इन दोनों प्रकार के उपयोगों में से ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का और दर्शनोपयोग चार प्रकार का जानना चाहिए। जो उपयोग साकार है अर्थ

ात् विकल्पसहित पदार्थ को जानता है उसे ज्ञानोपयोग कहते हैं और जो अनाकार है-विकल्परहित पदार्थ को जानता है उसे दर्शनोपयोग कहते हैं ॥१०१॥

घट-पट आदि की व्यवस्था लिये हुए किसी वस्तु के भेदग्रहण करने को आकार कहते हैं और सामान्यरूप ग्रहण करने को अनाकार कहते हैं । ज्ञानोपयोग वस्तु को भेदपूर्वक ग्रहण करता है इसलिए वह साकार-सविकल्पक उपयोग कहलाता है और दर्शनोपयोग वस्तु को सामान्यरूप से ग्रहण करता है इसलिए वह अनाकार-अविकल्पिक उपयोग कहलाता है ॥१०२॥

जीव, प्राणी, जन्तु, क्षेत्रज्ञ, पुरुष, पुमान्, आत्मा, अन्तरात्मा, और ज्ञानी ये सब जीव के पर्यायवाचक शब्द हैं ॥१०३॥

चूँकि यह जीव वर्तमान काल में जीवित है, भूतकाल में भी जीवित था और अनागत काल में भी अनेक जन्मों में जीवित रहेगा इसलिए इसे जीव कहते हैं । सिद्ध भगवान् अपनी पूर्वपर्यायों में जीवित थे इसलिए वे भी जीव कहलाते हैं ॥१०४॥

पाँच इन्द्रिय, तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये दस प्राण इस जीव के विद्यमान रहते हैं इसलिए यह प्राणी कहलाता है, यह बार-बार अनेक जन्म धारण करता है इसलिए जन्तु कहलाता है, इसके स्वरूप को क्षेत्र कहते हैं और यह उसे जानता है इसलिए क्षेत्रज्ञ भी कहलाता है ॥१०५॥

पुरु **अर्थ**ात् अच्छे-अच्छे भोगों में शयन अर्थात् प्रवृत्ति करने से यह पुरुष कहा जाता है और अपने आत्मा को पवित्र करता है । इसलिए पुमान् भी कहा जाता है ॥१०६॥

यह जीव नर-नारकादि पर्यायों में अतति **अर्थ**ात् निरन्तर गमन करता रहता है इसलिए आत्मा कहलाता है और ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के अन्तर्वर्ती होने से अन्तरात्मा भी कहा जाता है ॥१०७॥

यह जीव ज्ञानगुण से सहित है इसलिए ज्ञ कहलाता है और इसी कारण ज्ञानी भी कहा जाता है, इस प्रकार यह जीव ऊपर कहे हुए पर्याय शब्दों तथा उन्ही के समान अन्य अनेक शब्दों से जानने के योग्य है ॥१०८॥

यह जीव नित्य है परन्तु उसकी नर-नारकादि पर्याय जुदी-जुदी है । जिस प्रकार मिट्टी नित्य है परन्तु पर्यायों की अपेक्षा उसका उत्पाद और विनाश होता रहता है उसी प्रकार यह जीव नित्य है परन्तु पर्यायों की अपेक्षा उसमें भी उत्पाद और विनाश होता रहता है । भावार्थ-द्रव्यत्व सामान्य की अपेक्षा जीव द्रव्य नित्य है और पर्यायों की अपेक्षा अनित्य है । एक साथ दोनों अपेक्षाओं से यह जीव उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप है ॥१०९॥

जो पर्याय पहले नहीं थी उसका उत्पन्न होना उत्पाद कहलाता है, किसी पर्याय का उत्पाद होकर नष्ट हो जाना व्यय कहलाता है और दोनों पर्यायों में तदवस्थ होकर रहना ध्रौव्य कहलाता है, इस प्रकार यह आत्मा उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य इन तीनों लक्षणों से सहित है ॥११०॥
ऊपर कहे हुए स्वभाव से युक्त आत्मा को नहीं जानते हुए मिथ्यादृष्टि पुरुष उसका स्वरूप अनेक प्रकार से मानते हैं और परस्पर में विवाद करते हैं ॥१११॥

कितने ही मिथ्यादृष्टि कहते हैं कि आत्मा नाम का पदार्थ ही नहीं है, कोई कहते हैं कि वह अनित्य है, कोई कहते हैं कि वह कर्ता नहीं है, कोई कहते हैं कि वह भोक्ता नहीं है, कोई कहते हैं कि आत्मा नाम का पदार्थ है तो सही परन्तु उसका मोक्ष नहीं है, और कोई कहते हैं कि मोक्ष भी होता है परन्तु मोक्ष प्राप्ति का कुछ उपाय नहीं है, इसलिए हे आयुष्मन् भरत, ऊपर कहे हुए इन अनेक मिथ्या नयों को छोड़कर समीचीन नयों के अनुसार जिसका लक्षण कहा गया है ऐसे जीवतत्त्व का तू निश्चय कर ॥१२-११४॥

उस जीव की दो अवस्था मानी गयी है एक संसार और दूसरी मोक्ष । नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव इन चार भेदों से युक्त संसाररूपी भँवर में परिभ्रमण करना संसार कहलाता है ॥११५॥

और समस्त कर्मों का बिल्कुल ही क्षय हो जाना मोक्ष कहलाता है, वह मोक्ष अनन्तसुख स्वरूप है तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य साधन से प्राप्त होता है ॥११६॥

सच्चे देव, सच्चे शास्त्र और समीचीन पदार्थों का बड़ी प्रसन्नतापूर्वक श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन माना गया है, यह सम्यग्दर्शन मोक्षप्राप्ति का पहला साधन है ॥११७॥ जीव, अजीव आदि पदार्थों के यथार्थस्वरूप को प्रकाशित करने वाला तथा अज्ञानरूपी अन्धकार की परम्परा के नष्ट हो जाने के बाद उत्पन्न होने वाला जो ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है ॥११८॥

इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में समताभाव धारण करने को सम्यक्चारित्र्य कहते हैं, वह सम्यक्चारित्र्य यथार्थरूप से तृष्णारहित, मोक्ष की इच्छा करने

वाले, वस्त्ररहित और हिंसा का सर्वथा त्याग करने वाले मुनिराज के ही होता है ॥११९॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर ही मोक्ष के कारण कहे गये हैं यदि इनमें से एक भी अंग की कमी हुई तो वह अपना कार्य सिद्ध करने में समर्थ नहीं हो सकते ॥१२०॥

सम्यग्दर्शन के होते हुए ही ज्ञान और चारित्र फल के देने वाले होते हैं इसी प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र के रहते हुए ही सम्यग्ज्ञान मोक्ष का कारण होता है ॥१२१॥

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से रहित चारित्र कुछ भी कार्यकारी नहीं होता किन्तु जिस प्रकार अन्धे पुरुष का दौड़ना उसके पतन का कारण होता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से शून्य पुरुष का चारित्र भी उसके पतन अर्थात् नरकादि गतियों में परिभ्रमण का कारण होता है ॥१२२॥

इन तीनों में से कोई तो अलग-अलग एक-एक से मोक्ष मानते हैं और कोई दो-दो से मोक्ष मानते हैं इस प्रकार मूर्ख लोगों ने मोक्षमार्ग के विषय में छह प्रकार के मिथ्यानयों की कल्पना की है परन्तु इस उपर्युक्त कथन से उन सभी का खण्डन हो जाता है । भावार्थ-कोई केवल दर्शन से, कोई ज्ञानमात्र से, कोई मात्र चारित्र से, कोई दर्शन और ज्ञान दो से, कोई दर्शन और चारित्र इन दो से और कोई ज्ञान तथा चारित्र इन दो से मोक्ष मानते हैं । इस प्रकार मोक्षमार्ग के विषय में छह प्रकार के मिथ्यानय की कल्पना करते हैं परन्तु उनकी यह कल्पना ठीक नहीं है क्योंकि तीनों की एकता से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है ॥१२३॥

जैनधर्म में आप्त, आगम तथा पदार्थ का जो स्वरूप कहा गया है उससे अधिक वा कम न तो है न था और न आगे ही होगा । इस प्रकार आप्त आदि तीनों के विषय में श्रद्धान की दृढ़ता होने से सम्यग्दर्शन में विशुद्धता उत्पन्न होती है ॥१२४॥

जो अनन्तज्ञान आदि गुणों से सहित हो, घातिया कर्मरूपी कलंक से रहित हो, निर्मल आशय का धारक हो, कृतकृत्य हो और सबका भला करनेवाला हो वह आप्त कहलाता है । इसके सिवाय अन्य देव आप्ताभास कहलाते हैं ॥१२५॥

जो आप्त का कहा हुआ हो, समस्त पुरुषार्थों का वर्णन करने वाला हो और नय तथा प्रमाणों से गम्भीर हो उसे आगम कहते हैं, इसके अतिरिक्त असत्पुरुषों के वचन आगमाभास कहलाते हैं ॥१२६॥

जीव और अजीव के भेद से पदार्थ के दो भेद जानना चाहिए । उनमें से जिसका चेतनारूप लक्षण ऊपर कहा जा चुका है और जो उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्यरूप तीन प्रकार के परिणमन से युक्त है वह जीव कहलाता है ॥१२७॥

भव्य-अभव्य और मुक्त इस प्रकार जीव के तीन भेद कहे गये हैं, जिसे आगामी काल में सिद्धि प्राप्त हो सके उसे भव्य कहते हैं, भव्य जीव सुवर्ण-पाषाण के समान होता है अर्थात् जिस प्रकार निमित्त मिलने पर सुवर्ण-पाषाण आगे चलकर शुद्ध सुवर्णरूप हो जाता है उसी प्रकार भव्यजीव भी निमित्त मिलने पर शुद्ध सिद्धस्वरूप हो जाता है ॥१२८॥

जो भव्यजीव से विपरीत है अर्थात् जिसे कभी भी सिद्धि की प्राप्ति न हो सके उसे अभव्य कहते हैं, अभव्यजीव अन्धपाषाण के समान होता है अर्थात् जिस प्रकार अन्धपाषाण कभी भी सुवर्णरूप नहीं हो सकता उसी प्रकार अभव्य जीव भी कभी सिद्धस्वरूप नहीं हो सकता । अभव्य जीव को मोक्ष प्राप्त होने की सामग्री कभी भी प्राप्त नहीं होती है ॥१२९॥

और जो कर्मबन्धन से छूट चुके हैं, तीनों लोकों का शिखर ही जिनका स्थान है, जो कर्म कालिमा से रहित हैं और जिन्हें अनन्तसुख का अभ्युदय प्राप्त हुआ है ऐसे सिद्ध परमेष्ठी मुक्त जीव कहलाते हैं ॥१३०॥

इस प्रकार हे बुद्धिरूपी धन को धारण करने वाले भरत, मैंने तेरे लिए संक्षेप से जीवतत्त्व का निरूपण किया है अब इसी तरह अजीवतत्त्व का भी निश्चय कर ॥१३१॥

धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल इस प्रकार अजीवतत्त्व का पाँच भेदों-द्वारा विस्तार निरूपण किया जाता है ॥१३२॥

जो जीव और पुद्गल के गमन में सहायक कारण हो उसे धर्म कहते हैं और जो उन्हीं के स्थित होने में सहकारी कारण हो उसे अधर्म कहते हैं ॥१३३॥

धर्म और अधर्म ये दोनों ही पदार्थ अपनी इच्छा से गमन करते और ठहरते हुए जीव तथा पुद्गलों के गमन करने और ठहरने में सहायक होकर प्रवृत्त होते हैं स्वयं किसी को प्रेरित नहीं करते हैं ॥१३४॥

जिस प्रकार जल के बिना मछली का गमन नहीं हो सकता फिर भी जल मछली को प्रेरित नहीं करता उसी प्रकार जीव और पुद्गल धर्म के

बिना नहीं चल सकते फिर भी धर्म उन्हें चलने के लिए प्रेरित नहीं करता किन्तु जिस प्रकार जल चलते समय मछली को सहारा दिया करता है उसी प्रकार धर्मपदार्थ भी जीव और पुद्गलों को चलते समय सहारा दिया करता है ॥१३५॥

जिस प्रकार वृक्ष की छाया स्वयं ठहरने की इच्छा करने वाले पुरुष को ठहरा देती है-उसके ठहरने में सहायता करती है परन्तु वह स्वयं उस पुरुष को प्रेरित नहीं करती तथा इतना होने पर भी वह उस पुरुष के ठहरने की कारण कहलाती है उसी प्रकार अधर्मास्तिकाय भी उदासीन होकर जीव और पुद्गलों को स्थित करा देता है-उन्हें ठहरने में सहायता पहुँचाता है परन्तु स्वयं ठहरने की प्रेरणा नहीं करता ॥ १३६-१३७॥

जो जीव आदि पदार्थों को ठहरने के लिए स्थान दे उसे आकाश कहते हैं । वह आकाश स्पर्शरहित है, अमूर्तिक है, सब जगह व्याप्त है और क्रियारहित है ॥१३८॥

जिसका वर्तना लक्षण है उसे काल कहते हैं, वह वर्तना काल तथा काल से भिन्न जीव आदि पदार्थों के आश्रय रहती है और सब पदार्थों का जो अपने-अपने गुण तथा पर्यायरूप परिणमन होता है उसमें सहकारी कारण होती है ॥१३९॥

जिस प्रकार कुम्हार के चक्र के फिरने में उसके नीचे लगी हुई शिला कारण होती है उसी प्रकार कालद्रव्य भी सब पदार्थों के परिवर्तन में कारण होता है ऐसा विद्वान् लोगों ने निरूपण किया है । भावार्थ-कुम्हार का चक्र स्वयं घूमता है परन्तु नीचे रखी हुई शिला या कील के बिना वह घूम नहीं सकता इसी प्रकार समस्त पदार्थों में परिणमन स्वयमेव होता है परन्तु वह परिणमन कालद्रव्य की सहायता के बिना नहीं हो सकता इसलिए कालद्रव्य पदार्थों के परिणमन में सहकारी कारण है ॥१४०॥

(वह काल दो प्रकार का है-एक व्यवहार काल और दूसरा निश्चयकाल । घड़ी, घण्टा आदि को व्यवहारकाल कहते हैं और लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर रत्नों की राशि के समान एक दूसरे से असंपृक्त होकर रहने वाले जो असंख्यात कालाणु हैं उन्हें निश्चयकाल कहते हैं) व्यवहारकाल से ही निश्चयकाल का निर्णय होता है, क्योंकि मुख्य पदार्थ के रहते हुए ही वाल्मीक आदि गौण पदार्थों की प्रतीति होती है । भावार्थ-वाल्मीक एक देश का नाम है परन्तु उपचार से वहाँ के मनुष्यों को भी वाल्मीक कहते हैं । यहाँ वाल्मीक शब्द का मुख्य अर्थ देशविशेष है और गौण अर्थ है वहाँ पर रहने वाला सदाचार से पराङ्मुख मनुष्य । यदि देशविशेष अर्थ को बतलाने वाला वाल्मीक नाम का कोई मुख्य पदार्थ नहीं होता तो वहाँ रहने वाले मनुष्यों में भी वाल्मीक शब्द का व्यवहार नहीं होता इसी प्रकार यदि मुख्य काल द्रव्य नहीं होता तो व्यवहारकाल भी नहीं होता । हम लोग सूर्योदय और सूर्यास्त आदि द्वारा दिन-रात महीना आदि का ज्ञान प्राप्त कर व्यवहारकाल को समझ लेते हैं परन्तु अमूर्तिक निश्चयकाल के समझने में हमें कठिनाई होती है इसलिए आचार्यों ने व्यवहारकाल के द्वारा निश्चयकाल को समझने का आदेश दिया है क्योंकि पर्याय के द्वारा ही पर्यायी का बोध हुआ करता है ॥१४१॥

वह निश्चयकाल लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर स्थित लोकप्रमाण (असंख्यात) अपने अणुओं से जाना जाता है और काल के वे अणु रत्नों की राशि के समान परस्पर में एक दूसरे से नहीं मिलते, सब जुड़े-जुड़े ही रहते हैं ॥१४२॥

परस्पर में प्रदेशों के नहीं मिलने से यह कालद्रव्य अकाय अर्थात् प्रदेशी कहलाता है । काल को छोड़कर शेष पाँच द्रव्यों के प्रदेश एक दूसरे से मिले हुए रहते हैं इसलिए वे अस्तिकाय कहलाते हैं । भावार्थ-जिसमें बहुप्रदेश हो उसे अस्तिकाय कहते हैं, जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये द्रव्य बहुप्रदेशी होने के कारण अस्तिकाय कहलाते हैं और कालद्रव्य एकप्रदेशी होने से अनस्तिकाय कहलाता है ॥ १४३॥

धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार पदार्थ मूर्ति से रहित हैं, पुद्गलद्रव्य मूर्तिक है । अब आगे उसके भेदों का वर्णन सुन । भावार्थ-जीव द्रव्य भी अमूर्तिक है परन्तु यहाँ अजीव द्रव्यों का वर्णन चल रहा है इसलिए उसका निरूपण नहीं किया है । पाँच इन्द्रियों में से किसी भी इन्द्रिय के द्वारा जिसका स्पष्ट ज्ञान हो उसे मूर्तिक कहते हैं, पुद्गल को छोड़कर और किसी पदार्थ का इन्द्रियों के द्वारा स्पष्ट ज्ञान नहीं होता इसलिए पुद्गलद्रव्य मूर्तिक है और शेष द्रव्य अमूर्तिक हैं ॥१४४॥

जिसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श पाया जाये उसे पुद्गल कहते हैं । पूरण और गलन रूप स्वभाव होने से पुद्गल यह नाम सार्थक है ।

भावार्थ-अन्य परमाणुओं का आकर मिल जाना पूरण कहलाता है और पहले के परमाणुओं का बिछुड़ जाना गलन कहलाता है, पुद्गल स्कन्धों में क्षरण और गलन ये दोनों ही अवस्थाएं होती रहती हैं, इसलिए उनका पुद्गल यह नाम सार्थक है ॥१४५॥

स्कन्ध और परमाणु के भेद से पुद्गल की व्यवस्था दो प्रकार की होती है । स्निग्ध और रूक्ष अणुओं का जो समुदाय है उसे स्कन्ध कहते हैं

॥१४६॥

उस पुद्गल द्रव्य का विस्तार दो परमाणु वाले द्व्यणुक स्कन्ध से लेकर अनन्तानन्त परमाणु वाले महास्कन्ध तक होता है । छाया, आतप, अन्धकार, चाँदनी, मेघ आदि सब उसके भेद-प्रभेद हैं ॥१४७॥

परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं, वे इन्द्रियों से नहीं जाने जाते । घट-पट आदि परमाणुओं के कार्य हैं उन्हीं से उनका अनुमान किया जाता है । उनमें कोई भी दो अविरुद्ध स्पर्श रहते हैं, एक वर्ण, एक गन्ध और एक रस रहता है । वे परमाणु गोल और नित्य होते हैं तथा पर्यायों की अपेक्षा अनित्य भी होते हैं ॥१४८॥

ऊपर कहे हुए पुद्गल द्रव्य के छह भेद हैं-१ सूक्ष्मसूक्ष्म, २ सूक्ष्म ३ सूक्ष्मस्थूल, ४ स्थूलसूक्ष्म, ५ स्थूल और ६ स्थूलस्थूल ॥१४९॥

इनमें से एक अर्थात् स्कन्ध से पृथक् रहने वाला परमाणु सूक्ष्मसूक्ष्म है क्योंकि न तो वह देखा जा सकता है और न उसका स्पर्श ही किया जा सकता है । कर्मों के स्कन्ध सूक्ष्म कहलाते हैं क्योंकि वे अनन्त प्रदेशों के समुदायरूप होते हैं ॥१५०॥

शब्द, स्पर्श, रस और गन्ध सूक्ष्मस्थूल कहलाते हैं क्योंकि यद्यपि इनका चक्षु इन्द्रिय के द्वारा ज्ञान नहीं होता इसलिए ये सूक्ष्म है परन्तु अपनी-अपनी कर्ण आदि इन्द्रियों के द्वारा इनका ग्रहण हो जाता है इसलिए ये स्थूल भी कहलाते हैं ॥१५१॥

छाया, चाँदनी और आतप आदि स्थूलसूक्ष्म कहलाते हैं क्योंकि चक्षु इन्द्रिय के द्वारा दिखायी देने के कारण ये स्थूल हैं परन्तु इनके रूप का संहरण नहीं हो सकता इसलिए विघातरहित होने के कारण सूक्ष्म भी है ॥१५२॥

पानी आदि तरल पदार्थ जो कि पृथक् करने पर भी मिल जाते हैं स्थूल भेद के उदाहरण हैं, अर्थात् दूध, पानी आदि पतले पदार्थ स्थूल कहलाते हैं और पृथिवी आदि स्कन्ध जो कि भेद किये जाने पर फिर न मिल सकें स्थूलस्थूल कहलाते हैं ॥१५३॥

इस प्रकार ऊपर कहे हुए जीवादि पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का जो भव्य विपरीतता-रहित श्रद्धान करता है वह परब्रह्म अवस्था को प्राप्त होता है ॥१५४॥

इस प्रकार ज्ञानवानों में अतिशय श्रेष्ठ भगवान् वृषभदेव भरत के लिए समस्त पदार्थों के संग्रह का निरूपण कर फिर भी संक्षेप से कुछ तत्त्वों का स्वरूप कहने लगे ॥१५५॥

उन्होंने आत्मा, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ, मुनि तथा श्रावकों का मार्ग, स्वर्ग और मोक्षरूप मार्ग का फल, बन्ध और बन्ध के कारण, मोक्ष और मोक्ष के कारण, कर्मरूपी बन्धन से बंधे हुए संसारी जीव और कर्मबन्धन से रहित मुक्त जीव आदि विषयों का निरूपण किया ॥१५६॥

इसी प्रकार तीनों लोकों का आकार, नरकों के पटल, द्वीप, समुद्र, हृद और कुलाचल आदि का भी स्वरूप भरत के लिए कहा ॥१५७॥

अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मी के धारक भगवान् वृषभदेव ने तिरसठ पटलों से युक्त स्वर्ग, देवों के आयु और उनके भोगों का विस्तार, मोक्षस्थान तथा लोकनाड़ी का भी वर्णन किया ॥१५८॥

जगद्गुरु भगवान् वृषभदेव ने तीर्थकर चक्रवर्ती और अर्ध चक्रवर्तियों के पुराण, तीर्थकरों के कल्याणक और उनके हेतु स्वरूप सोलहकारण भावनाओं का भी निरूपण किया ॥१५९॥

भगवान् ने, अमुक जीव मरकर कहाँ-कहाँ पैदा होता है ? अमुक जीव कहाँ-कहाँ से आकर पैदा हो सकता है ? जीवों की उत्पत्ति, विनाश, भोगसामग्री, विभूतियाँ अथवा मुनियों की ऋद्धियाँ, तथा मनुष्यों के करने और न करने योग्य काम आदि सबका निरूपण किया था ॥

१६०॥

सबको जानने वाले और सबका कल्याण करने वाले भगवान् वृषभदेव ने भूत, भविष्यत् और वर्तमानकाल सम्बन्धी सब द्रव्यों का सब स्वरूप भरत के लिए बतलाया था ॥१६१॥ इस प्रकार जगद्गुरु-परमपुरुष भगवान् वृषभदेव से तत्त्वों का स्वरूप सुनकर भक्ति से भरे हुए महाराज भरत परम आनन्द को प्राप्त हुए ॥१६२॥

तदनन्तर परम आनन्द को धारण करते हुए भरत ने निष्फल अर्थात् शरीरानुराग से रहित भगवान् वृषभदेव से सम्यग्दर्शन की शुद्धि और अणुव्रत की परम विशुद्धि को प्राप्त किया ॥१६३॥

जिस प्रकार शरद्ऋतु में प्रबुद्ध अर्थात् खिला हुआ कमलों का समूह सुशोभित होता है उसी प्रकार महाराज भरत परम भगवान् वृषभदेव से प्रबुद्ध होकर- तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त कर मन की परम विशुद्धि को प्राप्त हो अतिशय सुशोभित हो रहे थे ॥१६४॥

भरत ने, गुरुदेव की आराधना कर, जिसमें सम्यग्दर्शनरूपी प्रधान मणि लगा हुआ है और जो मुक्तिरूपी लक्ष्मी के निर्मल कण्ठहार के समान जान पड़ती थी ऐसी व्रत और शीलों की निर्मल माला धारण की थी । भावार्थ-सम्यग्दर्शन के साथ पाँच अणुव्रत और सात शीलव्रत धारण किये थे तथा उनके अतिचारों का बचाव किया था ॥१६५॥

जिस प्रकार किसी बड़ी खान से निकला हुआ मणि संस्कार के योग से देदीप्यमान होने लगता है उसी प्रकार महाराज भरत भी गुरुदेव से ज्ञानमय संस्कार पाकर सुशोभित होने लगे थे ॥१६६॥

उस समय मुनियों से सहित वह देव-दानव और मनुष्यों की सभा उत्तम धर्मरूपी अमृत का पान कर परम सन्तोष को प्राप्त हुई थी ॥१६७॥ जिस प्रकार मेघों की गर्जना सुनकर चातक पक्षी परम आनन्द को प्राप्त होते हैं उसी प्रकार उस समय भगवान् की दिव्यध्वनि सुनकर भव्य जीवों के समूह परम आनन्द को प्राप्त हो रहे थे ॥१६८॥

मेघ की गर्जना के समान भगवान् की दिव्यध्वनि को सुनकर अशोकवृक्ष की शाखाओं पर बैठे हुए दिव्य मयूर भी आनन्द से शब्द करने लग गये थे ॥१६९॥

सबकी रक्षा करने वाले और अग्नि के समान देदीप्यमान भगवान् को प्राप्त कर भव्य जीवरूपी रत्न दिव्यकान्ति को धारण करने वाली परम विशुद्धि को प्राप्त हुए थे ॥१७०॥

उसी समय जो पुरिमताल नगर का स्वामी था, भरत का छोटा भाई था, पुण्यवान्, विद्वान्, शूर-वीर, पवित्र, धीर, स्वाभिमान करने वालों में श्रेष्ठ, श्रीमान्, बुद्धि के पार को प्राप्त-अतिशय बुद्धिमान् और जितेन्द्रिय था तथा जिसका नाम वृषभसेन था उसने भी भगवान् के समीप सम्बोध पाकर दीक्षा धारण कर ली और उनका पहला गणधर हो गया ॥१७१-१७२॥

सात ऋद्धियों से जिनकी विभूति अतिशय देदीप्यमान हो रही है, जो चारों ओर से तप की दीप्ति से घिरे हुए हैं और जिन्होंने अज्ञानरूपी गाड़ अन्धकार के उदय को नष्ट कर दिया है ऐसे वे वृषभसेन गणधर शरद् ऋतु के सूर्य के समान अत्यन्त देदीप्यमान हो रहे थे ॥१७३॥ उसी समय श्रीमान् और कुरुवंशियों में श्रेष्ठ महाराज सोमप्रभ, श्रेयान्स कुमार, तथा अन्य राजा लोग भी दीक्षा लेकर भगवान् के गणधर हुए थे ॥१७४॥

भरत की छोटी बहन ब्राह्मी भी गुरुदेव की कृपा से दीक्षित होकर आर्याओं के बीच में गणिनी (स्वामिनी) के पद को प्राप्त हुई थी । वह ब्राह्मी सब देवों के द्वारा पूजित हुई थी ॥१७५॥

उस समय वह राजकन्या ब्राह्मी दीक्षारूपी शरद् ऋतु की नदी के शीलरूपी किनारे पर बैठी हुई और मधुर शब्द करती हुई हंसी के समान सुशोभित हो रही थी ॥१७६॥

वृषभदेव की दूसरी पुत्री सुन्दरी को भी उस समय वैराग्य उत्पन्न हो गया था जिससे उसने भी ब्राह्मी के बाद दीक्षा धारण कर ली थी । इनके सिवाय उस समय और भी अनेक राजाओं तथा राजकन्याओं ने संसार से भयभीत होकर गुरुदेव के समीप दीक्षा धारण की थी ॥ १७७॥

श्रुतकीर्ति नाम के किसी अतिशय बुद्धिमान् पुरुष ने श्रावक के व्रत ग्रहण किये थे, और वह देशव्रत धारण करने वाले गृहस्थों में सबसे श्रेष्ठ हुआ था ॥१७८॥

इसी प्रकार अतिशय धीर-वीर और पवित्र अन्तःकरण को धारण करने वाली कोई प्रियव्रता नाम की सती स्त्री श्रावक के व्रत धारण कर, शुद्ध चारित्र को धारण करने वाली स्त्रियों में सबसे श्रेष्ठ हुई थी ॥१७९॥

जिस समय भगवान् को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था उस समय और भी बहुत से उत्तमोत्तम राजा लोग दीक्षित होकर बड़ी-बड़ी ऋद्धियों को धारण करने वाले मुनिराज हुए थे ॥१८०॥

भरत के भाई अनन्तवीर्य ने भी सम्बोध पाकर भगवान् से दीक्षा प्राप्त की थी, देवों ने भी उसकी पूजा की थी और वह इस अवसर्पिणी युग में मोक्ष प्राप्त करने के लिए सबमें अग्रगामी हुआ था । भावार्थ-इस युग में अनन्तवीर्य ने सबसे पहले मोक्ष प्राप्त किया था ॥१८१॥

जो तपस्वी पहले भ्रष्ट हो गये थे उनमें से मरीचि को छोड़कर बाकी सब तपस्वी लोग भगवान् के समीप सम्बोध पाकर तत्त्वों का यथार्थ स्वरूप समझकर फिर से दीक्षित हो तपस्या करने लगे थे ॥१८२॥

तदनन्तर जिन्हें चक्ररत्न की पूजा करने के लिए कुछ जल्दी हो रही है और जो पवित्र बुद्धि के धारक हैं ऐसे महाराज भरत जगद्गुरु की

पूजा कर अपने नगर के सम्मुख हुए ॥१८३॥

युवावस्था को धारण करने वाला बुद्धिमान् बाहुबली तथा और भी भरत के छोटे भाई आनन्द के साथ जगद्गुरु की वन्दना करके भरत के पीछे-पीछे वापस लौट रहे थे ॥१८४॥

अथानन्तर उस समय महाराज भरत ठीक सूर्य के समान जान पड़ते थे क्योंकि जिस प्रकार सूर्य के दिव्य प्रभाव का प्रसार (फैलाव) प्रकट होता है, उसी प्रकार भरत के भी दिव्य-अलौकिक प्रभाव का प्रसार प्रकट हो रहा था, सूर्य जिस प्रकार उदय होते समय राग अर्थात् लालिमा धारण करता है उसी प्रकार भरत भी अपने राज्य-शासन के उदयकाल में प्रजा से राग अर्थात् प्रेम धारण कर रहे थे, सूर्य जिस प्रकार अभिमुख्य अर्थात् प्रधानता को धारण करता है उसी प्रकार भरत भी प्रधानता को धारण कर रहे थे, सूर्य जिस प्रकार विजयी होता उसी प्रकार भरत भी विजयी थे, और सायंकाल के समय जिस प्रकार समस्त दिशाओं को प्रकाशित करने वाली किरणें सूर्य के पीछे-पीछे जाती हैं ठीक उसी प्रकार समस्त दिशा में आक्रमण करने वाले भरत के छोटे भाई उनके पीछे-पीछे जा रहे थे ॥१८५॥

इस प्रकार निधियों के अधिपति महाराज भरत ने बड़े भारी आनन्द के साथ अपनी अयोध्यापुरी में प्रवेश किया था। उस समय उसमें अनेक ध्वजाएँ फहरा रही थीं और वह ठीक जिनवाणी के समान सुशोभित हो रही थी क्योंकि जिस प्रकार जिनवाणी के भीतर समस्त पदार्थों का विस्तार भरा रहता है उसी प्रकार उस अयोध्या में अनेक पदार्थों का विस्तार भरा हुआ था। जिस प्रकार जिनवाणी फैले हुए वर्णों अर्थात् अक्षरों से उज्ज्वल रहती है उसी प्रकार वह अयोध्या भी फैले हुए-जगह-जगह बसे हुए क्षत्रिय आदि वर्णों से उज्ज्वल थी। जिस प्रकार जिनवाणी अत्यन्त शुचिरूप-पवित्र होती है उसी प्रकार वह अयोध्या भी शुचिरूप-कर्दम आदि से रहित पवित्र थी। जिस प्रकार जिनवाणी समूह के सन्निधान से श्रेष्ठ होती है उसी प्रकार वह अयोध्या भी नीतिसमूह के सन्निधान से श्रेष्ठ थी। जिस प्रकार जिनवाणी विस्तृत आनन्द को देने वाली होती है उसी प्रकार वह अयोध्या भी सबको विस्तृत आनन्द की देने वाली थी, जिस प्रकार जिनवाणी विश्वास्य अर्थात् विश्वास करने योग्य होती है अथवा सब ओर मुखवाली अर्थात् समस्त पदार्थों का निरूपण करने वाली होती है उसी प्रकार वह अयोध्या भी विश्वास करने के योग्य अथवा सब ओर हैं अत्यय अर्थात् मुख जिसके ऐसी थी-उसके चारों ओर गोपुर बने हुए थे, और जिस प्रकार जिनवाणी सभी अंग अर्थात् द्वादशांग को धारण करने वाले मुनियों के द्वारा परिचित-अभ्यस्त रहती है उसी प्रकार वह अयोध्या भी समस्त जीवों के द्वारा परिचित थी-उसमें प्रत्येक प्रकार के प्राणी रहते थे ॥१८६॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रह में भगवत्कृत धर्मोपदेश का वर्णन करने वाला चौबीसवां पर्व समाप्त हुआ ॥२४॥

पर्व-25 -- भगवान का विहार

पर्व-25 -- भगवान का विहार

कथा :

अथानन्तर-राजर्षि भरत के चले जाने और दिव्यध्वनि के बन्द हो जाने पर वायु बन्द होने से निश्चल हुए समुद्र के समान जिनका शब्द बिलकुल बन्द हो गया है, जिन्होंने धर्मरूपी जल की वर्षा के द्वारा जगत् के जीवरूपी वन के वृक्ष सींच दिये हैं अतएव जो वर्षा कर चुकने के बाद शब्दरहित हुए वर्षाऋतु के बादल के समान जान पड़ते हैं, जो कल्पवृक्ष के समान अभीष्ट फल देने में तत्पर रहते हैं, जिनके चरणों के समीप में तीनों लोकों के जीव विश्राम लेते हैं, जो अनन्त बल से सहित हैं, जिन्होंने सूर्य के समान मोहरूपी गाड़ अन्धकार के उदय को नष्ट कर दिया है, और जो नव केवललब्धिरूपी देदीप्यमान किरणों के समूह से सुशोभित हैं, जो किसी बड़ी भारी खान के समान उत्पन्न हुए गुणरूपी रत्नों के समूह से व्याप्त हैं, भगवान् हैं, जगत् के अधिपति हैं, और अचिन्त्य तथा अनन्त वैभव को धारण करने वाले हैं। जो चार प्रकार के श्रमण संघ से घिरे हुए हैं और उनसे ऐसे जान पड़ते हैं मानो भद्रशाल आदि चारों वनों के विस्तार से घिरा हुआ सुमेरु पर्वत ही हो। जो आठ प्रातिहार्यों से सहित हैं, जिनके पाँच कल्याणक सिद्ध हुए हैं, चौतीस अतिशयों के द्वारा जिनका ऐश्वर्य बढ़ रहा है और जो तीनों लोकों के स्वामी हैं, ऐसे भगवान् वृषभदेव को देखते ही जिसके हजार नेत्र विकसित हो रहे हैं और मन प्रसन्न हो रहा है ऐसे सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र ने स्थिर-चित्त होकर भगवान् की स्तुति करना प्रारम्भ की ॥१-८॥

हे प्रभो, यद्यपि मैं बुद्धि की प्रकर्षता से रहित हूँ तथापि केवल आपकी भक्ति से ही प्रेरित होकर परम ज्योतिस्वरूप तथा गुणरूपी रत्नों की खानस्वरूप आपकी स्तुति करता हूँ ॥९॥

हे जिनेन्द्र, भक्तिपूर्वक आपकी स्तुति करने वाले पुरुषों में उत्तम-उत्तम फलरूपी सम्पदाएं अपने आप ही प्राप्त होती हैं यही निश्चय कर आपकी स्तुति करता हूँ ॥१०॥

पवित्र गुणों का निरूपण करना स्तुति है, प्रसन्न बुद्धि वाला भव्य स्तोता अर्थात् स्तुति करनेवाला है, जिनके सब पुरुषार्थ सिद्ध हो चुके हैं ऐसे आप स्तुत्य अर्थात् स्तुति के विषय हैं, और मोक्ष का सुख प्राप्त होना उसका फल है। हे विभो, हे सनातन, इस प्रकार निश्चय कर हृदय से स्तुति करने वाले और फल की इच्छा करने वाले मुझको आप अपनी प्रसन्न दृष्टि से पवित्र कीजिए ॥११-१२॥

हे भगवन्, आपके गुणों के द्वारा प्रेरित हुई भक्ति ही मुझे आनन्दित कर रही है इसलिए मैं संसार से उदासीन होकर भी आपकी इस स्तुति के मार्ग में लग रहा हूँ-प्रवृत्त हो रहा हूँ ॥१३॥

हे विभो, आपके विषय में की गयी थोड़ी भी भक्ति कल्पवृक्ष की सेवा की तरह प्राणियों के लिए बड़ी-बड़ी सम्पदाएँरूपी फल फलती हैं-प्रदान करती हैं ॥१४॥

हे भगवन् आभूषण आदि उपाधियों से रहित आपका शरीर आपके राग-द्वेष आदि शत्रुओं की विजय को स्पष्ट रूप से कह रहा है क्योंकि आभूषण वगैरह रागी मनुष्यों के दोष प्रकट करने वाले विकार हैं। भावार्थ-रागी द्वेषी मनुष्य ही आभूषण पहनते हैं परन्तु आपने राग-द्वेष आदि अन्तरंग शत्रुओं पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली है इसलिए आपको आभूषण आदि के पहनने की आवश्यकता नहीं है ॥१५॥

हे प्रभो, जगत् को सुशोभित करने वाला आपका यह शरीर भूषणरहित होने पर भी अत्यन्त सुन्दर है सो ठीक ही है क्योंकि जो आभूषण स्वयं देदीप्यमान होता है वह दूसरे आभूषण की प्रतीक्षा नहीं करता ॥१६॥

हे भगवन् यद्यपि आपके मस्तक पर न तो सुन्दर केशपाश है, न शेखर का परिग्रह है और न मुकुट का भार ही है तथापि वह अत्यन्त सुन्दर है ॥१७॥

हे नाथ, आपके मुख पर न तो भौंह ही टेढ़ी हुई है, न आपने ओठ ही डसा है और न आपने अपना हाथ ही शस्त्रों पर व्यापृत किया है-हाथ से शस्त्र उठाया है फिर भी आपने घातियाकर्मरूपी शत्रुओं को नष्ट कर दिया है ॥१८॥

हे देव, आपने मोहरूपी शत्रु के जीतने में अपने नीलकमल के दल के समान बड़े-बड़े नेत्रों को कुछ भी लाल नहीं किया था, इससे मालूम होता है कि आपकी प्रभुत्वशक्ति बड़ा आश्चर्य करने वाली है ॥१९॥

हे जिनेन्द्र, आपके दोनों नेत्र कटाक्षावलोकन से रहित हैं और सौम्य दृष्टि से सहित हैं इसलिए वे हम लोगों को स्पष्ट रीति से बतला रहे हैं कि आपने कामदेवरूपी शत्रु को जीत लिया है ॥२०॥

हे नाथ, हम लोगों के मस्तक का स्पर्श करती हुई और जगत् को एकमात्र पवित्र करती हुई आपके नेत्रों की निर्मल दीप्ति पुण्यधारा के समान हम लोगों को पवित्र कर रही है ॥२१॥

हे भगवन्, शरद् ऋतु के चन्द्रमा के समान अपनी कान्तिरूपी चाँदनी से समस्त जगत् को व्याप्त करता हुआ आपका यह मुख फूले हुए कमल की शोभा धारण कर रहा है ॥२२॥

हे जिन, आपका मुख न तो अट्टहास से सहित है, न हुंकार से युक्त है और न ओठों को ही दबाये है इसलिए वह बुद्धिमान लोगों को आपकी वीतरागता प्रकट कर रहा है ॥२३॥

हे देव, जो अन्धकार को नष्ट कर रही है और जिसने प्रातःकाल के सूर्य की प्रभा को जीत लिया है ऐसी आपकी मुख से निकलती हुई पवित्र कान्ति सरस्वती के समान सुशोभित हो रही है ॥२४॥

हे भगवन्, आपके मुखरूपी कमल पर लगी हुई यह देवों के नेत्रों की पंक्ति ऐसी जान पड़ती है मानो उसकी सुगन्धि के कारण चारों ओर से झपटती हुई भ्रमरों की पंक्ति ही हो ॥२५॥

हे नाथ, जिनसे कभी तृप्ति न हो ऐसे आपके मुखरूपी कमल से निकले हुए आपके वचनरूपी मकरन्द का पान कर ये भव्य जीवरूपी भ्रमर आनन्द को प्राप्त हो रहे हैं ॥२६॥

हे भगवन्, यद्यपि आप एक ओर मुख किये हुए विराजमान हैं तथापि ऐसे दिखाई देते हैं जैसे आपके मुख चारों ओर हों। हे देव, निश्चय ही यह आपके तपश्चरणरूपी गुण का आश्चर्य करनेवाला माहात्म्य है ॥२७॥

हे जिनेन्द्ररूपी सूर्य, तिर्यचों के भी हृदयगत अन्धकार को नष्ट करने वाली आपकी वचनरूपी किरणें सब दिशाओं में फैल रही हैं ॥२८॥

हे देव, आपके वचनरूपी अमृत को पीकर आज हम लोग वास्तव में अमर हो गये हैं इसलिए सब रोगों को हरने वाला आपका यह वचनरूप अमृत हम लोगों को बहुत ही इष्ट है-प्रिय है ॥२९॥

हे जिनेन्द्रदेव, जिससे वचनहारी अमृत झर रहा है और जो भव्य जीवों का जीवन है ऐसा यह आपका मुखरूपी कमल धर्म के खजाने के समान सुशोभित हो रहा है ॥३०॥

हे देव, आपके मुखरूपी चन्द्रमण्डल से निकलती हुई ये वचनरूपी किरणें अन्धकार को नष्ट करती हुई सभा को अत्यन्त आनन्दित कर रही हैं ॥३१॥

हे देव, यह भी एक आश्चर्य की बात है कि आप से अनेक प्रकार की भाषाओं की एक साथ उत्पत्ति होती है अथवा आपके तीर्थकरपने का माहात्म्य ही ऐसा है ॥३२॥

हे भगवन्, जो पसीना और मलमूत्र से रहित है, सुगन्धित है, शुभ लक्षणों से सहित है, समचतुरस्र संस्थान है, जिसमें लाल रक्त नहीं हैं और जो वज्र के समान स्थिर है ऐसा यह आपका शरीर अतिशय सुशोभित हो रहा है ॥३३॥

हे देव, नेत्रों को आनन्दित करने वाली सुन्दरता, मन को प्रसन्न करने वाला सौभाग्य और जगत् को हर्षित करने वाली मीठी वाणी ये आपके असाधारण गुण हैं अर्थात् आपको छोड़कर संसार के अन्य किसी प्राणी में नहीं रहते ॥३४॥

हे भगवन् यद्यपि आपका वीर्य अपरिमित है तथापि वह आपके परिमित अल्प परिमाण वाले शरीर में समाया हुआ है सो ठीक ही है क्योंकि हाथी का प्रतिबिम्ब छोटे से दर्पण में भी समा जाता है ॥३५॥

हे नाथ, जहाँ आपका समवसरण होता है उसके चारों ओर सौ-सौ योजन तक आपके माहात्म्य से अन्न-पान आदि सब सुलभ हो जाते हैं ॥ ३६॥

हे देव, यह पृथिवी समस्त सुर और असुरों का भार धारण करने में असमर्थ है इसलिए ही क्या आपका समवसरणरूपी विमान पृथिवी का स्पर्श नहीं करता हुआ सदा आकाश में ही विद्यमान रहता है ॥३७॥

हे भगवन्, संजीवनी ओषधि के समान आपके समीचीन धर्म का उपदेश देने में तत्पर रहते हुए सिंह, व्याघ्र, आदि क्रूर हिंसक जीव भी दूसरे प्राणियों की कभी हिंसा नहीं करते हैं ॥३८॥

हे प्रभो, आपके मोहनीय कर्म का क्षय हो जाने से अत्यन्त सुख की उत्पत्ति हुई है इसलिए आपके कवलाहार नहीं है सो ठीक ही है, क्योंकि क्षुधा के क्लेश से दुःखी हुए जीव ही कवलाहार भोजन करते हैं ॥३९॥

हे जिनेन्द्र, जो मूर्ख असातावेदनीय कर्म का उदय होने से आपके भी कवलाहार की योजना करते हैं अर्थात् यह कहते हैं कि आप भी कवलाहार करते हैं क्योंकि आपके असातावेदनीय कर्म का उदय है उन्हें मोहरूपी वायुरोग को दूर करने के लिए पुराने घी की खोज करनी चाहिए । अर्थात् पुराने घी के लगाने से जैसे सन्निपात-वातज्वर शान्त हो जाता है उसी तरह अपने मोह को दूर करने के लिए किसी पुराने अनुभवी पुरुष का स्नेह प्राप्त करना होगा ॥४०॥

हे देव, मन्त्र की शक्ति से जिसका बल नष्ट हो गया है ऐसा विष जिस प्रकार कुछ भी नहीं कर सकता है उसी प्रकार घातियाकर्मों के नष्ट हो जाने से जिसकी शक्ति नष्ट हो गयी है ऐसा असातावेदनीयरूपी विष आपके विषय में कुछ भी नहीं कर सकता ॥४१॥

कर्मरूपी सहकारी कारणों का अभाव हो जाने से असातावेदनीय का उदय आपके विषय में अकिंचित्कर है अर्थात् आपका कुछ नहीं कर सकता, सो ठीक ही है क्योंकि फल का उदय सब सामग्री इकट्ठी होने पर ही होता है ॥४२॥

हे ईश, आप जगत् के पालक हैं और अपने लीलामात्र से ही पापरूपी कलंक धो डाले हैं, इसलिए आप पर न तो ईतियाँ अपना प्रभुत्व जमा सकती हैं और न उपसर्ग ही । भावार्थ-आप ईति, भीति तथा उपसर्ग से रहित हैं ॥४३॥

हे भगवन्, यद्यपि आपका केवलज्ञानरूपी निर्मल नेत्र अनन्तमुख हो अर्थात् अनन्तज्ञेयों को जानता हुआ फैल रहा है फिर भी चूँकि आपके चार घातियाकर्म नष्ट हो गये हैं इसलिए आपके यह चातुरास्य अर्थात् चार मुखों का होना उचित ही है ॥४४॥

हे अधीश्वर, आप सब विद्याओं के स्वामी हैं, योगी हैं, चतुर्मुख हैं, अविनाशी हैं और आपकी आत्ममय केवलज्ञानरूपी ज्योति चारों ओर फैल रही है इसलिए आप अत्यन्त सुशोभित हो रहे हैं ॥४५॥

हे भगवन् तेजोमय और दिव्यस्वरूप आपका यह परमौदारिक शरीर छाया का अभाव तथा नेत्रों की अनुन्मेष वृत्ति को धारण कर रहा है

अर्थात् आपके शरीर की न तो छाया ही पड़ती है और न नेत्रों के पलक ही झपते हैं ॥४६॥

हे नाथ, यद्यपि आप तीन छत्र धारण किये हुए हैं तथापि आप छाया रहित ही दिखायी देते हैं, सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषों की चेष्टाएँ आश्चर्य करने वाली होती हैं अथवा आपका प्रताप ही ऐसा है ॥४७॥

हे स्वामिन्, पलक न झपने से जिसके नेत्र अत्यन्त निश्चल हैं ऐसे आपके मुखरूपी कमल को देखने के लिए ही देवों ने अपने नेत्रों का संचलन आप में ही रोक रखा है । भावार्थ-देवों के नेत्रों में पलक नहीं झपते सो ऐसा जान पड़ता है मानो देवों ने आपके सुन्दर मुखकमल को देखने के लिए ही अपने पलकों का झपाना बन्द कर दिया हो ॥४८॥

हे भगवन् आपके नख और केशों की जो परिमित अवस्था है वह आपके विशुद्ध स्फटिक के समान निर्मल शरीर में रस आदि के अभाव को प्रकट करती है । भावार्थ-आपके नख और केश ज्यों-के-त्यों रहते हैं-उनमें वृद्धि नहीं होती है, इससे मालूम होता है कि आपके शरीर में रस, रक्त आदि का अभाव है ॥४९॥

इन प्रकार ऊपर कहे हुए तथा जो दूसरी जगह न पाये जाये ऐसे आपके इन उदार गुणों ने दूसरी जगह घर न देखकर स्वयं आपके पास आकर आपको स्वीकार किया है ॥५०॥

हे देव, यह भी एक आश्चर्य की बात है कि जिनकी प्राप्ति के लिए इन्द्र भी इच्छा किया करते हैं ऐसे ये रूप-सौन्दर्य, कान्ति और दीप्ति आदि गुण आपके लिए हेय हैं **अर्थ**ात् आप इन्हें छोड़ना चाहते हैं ॥५१॥

हे प्रभो, अन्य सब गुणरूपी बन्धनों को छोड़कर केवल आपकी उपासना करने वाले गुणी पुरुष आपकी ही सदृशता प्राप्त हो जाते हैं सो ठीक ही है क्योंकि स्वामी के अनुसार चलना ही शिष्यों का कर्त्तव्य है ॥५२॥

हे स्वामिन्, आपका यह शोभायमान अशोकवृक्ष ऐसा जान पड़ता है मानो मन्द-मन्द वायु से हिलती हुई शाखारूपी हाथों के समूहों से हर्षित होकर नृत्य ही कर रहा हो ॥५३॥

हे नाथ, देवों के द्वारा लीलापूर्वक धारण किये हुए चमरों के समूह आपके दोनों ओर इस प्रकार ढोरे जा रहे हैं मानो वे क्षीरसागर की चंचल लहरों के साथ स्पर्धा ही करना चाहते हों ॥५४॥

हे भगवन्, चन्द्रमा के समान निर्मल और मोतियों की जाली से सुशोभित आपके तीन छत्र आकाशरूपी आंगन में ऐसे अच्छे जान पड़ते हैं मानो उनमें अँकूरे ही उत्पन्न हुए हों ॥५५॥

हे देव, सिंहों के द्वारा धारण किया हुआ आपका यह ऊँचा सिंहासन रत्नों की किरणों से ऐसा सुशोभित हो रहा है मानो आपके स्पर्श से उसमें हर्ष के रोमांच ही उठ रहे हों ॥५६॥

हे स्वामिन्, मधुर शब्द करते हुए जो देवों के करोड़ों दुन्दुभि बाजे बज रहे हैं वे ऐसे जान पड़ते हैं मानो आकाश और पाताल को व्याप्त कर आपके जयोत्सव की घोषणा ही कर रहे हों ॥५७॥

हे प्रभो, जो देवों के साढ़े बारह करोड़ दुन्दुभि आदि बाजे बज रहे हैं वे आपकी गम्भीर दिव्यध्वनि का अनुकरण करने के लिए ही मानो तत्पर हुए हैं ॥५८॥

आकाशरूपी रंग-भूमि से जो देव लोग यह पुष्पों की वर्षा कर रहे हैं वह ऐसी जान पड़ती है मानो सन्तुष्ट हुई स्वर्गलक्ष्मी के द्वारा प्रेरित हुए कल्पवृक्ष ही वह पुष्पवर्षा कर रहे हों ॥५९॥

हे भगवन्, आकाश में चारों ओर फैलता हुआ यह आपके शरीर का प्रभामण्डल समवसरण में बैठे हुए मनुष्यों को सदा प्रभातकाल उत्पन्न करता रहता है **अर्थ**ात् प्रातःकाल की शोभा दिखलाता रहता है ॥६०॥

हे देव, आपके नखों की ये कुछ-कुछ लाल किरणें दिशाओं में इस प्रकार फैल रही है मानो आपके चरणरूपी कल्पवृक्षों के अग्रभाग से अँकूरे ही निकल रहे हों ॥६१॥

सब जीवों को आह्लादित करने वाली आपके चरणों के नखरूपी चन्द्रमा की ये किरणें हम लोगों के सिर का इस प्रकार स्पर्श कर रही है मानो आपके प्रसाद के अंश ही हो ॥६२॥

हे भगवन्, यह दिव्य लक्ष्मीरूपी मनोहर हंसी नखों की कान्तिरूपी मृणाल से सुशोभित आपके चरणकमलों की छायारूपी सरोवरी में अवगाहन करती है ॥६३॥

हे विभो, आपके ये दोनों चरणकमल जिस कान्ति को धारण कर रहे हैं वह ऐसी जान पड़ती है मानो मोहरूपी शत्रु को नष्ट करते समय लगी हुई उसके गीले रक्त की छटा ही हो ॥६४॥

हे देव, आपके चरणों के नख की कान्तिरूप जल के सरोवर में प्रतिबिम्बित हुई देवांगनाओं के मुख की छाया कमलों की शोभा बढ़ा रही है ॥६५॥

हे नाथ, आप अपने आत्मा में अपने ही आत्मा के द्वारा अपने आत्मा को उत्पन्न कर प्रकट हुए हैं, इसलिए आप स्वयंभू अर्थात् अपने-आप उत्पन्न हुए कहलाते हैं । इसके सिवाय आपका माहात्म्य भी अचिन्त्य है अतः आपके लिए नमस्कार हो ॥६६॥

आप तीनों लोकों के स्वामी है इसलिए आपको नमस्कार हो, आप लक्ष्मी के भर्ता हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप विद्वानों में श्रेष्ठ हैं इसलिए आपको नमस्कार हो और आप वक्ताओं में श्रेष्ठ हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥६७॥

हे देव, बुद्धिमान् लोग आपको कामरूपी शत्रु को नष्ट करने वाला मानते हैं, और आपके चरणकमल इन्द्रों के मुकुटों की कान्ति के समूह से पूजित हैं इसलिए हम लोग आपको नमस्कार करते हैं ॥६८॥

अपने ध्यानरूपी कुठार से अतिशय मजबूत घातियाकर्मरूपी बड़े भारी वृक्ष को काट डाला है तथा अनन्त संसार की सन्तति को भी आपने जीत लिया है इसलिए आप अनन्तजित् कहलाते हैं ॥६९॥

हे जिनेन्द्र, तीनों लोकों को जीत लेने से जिसे भारी अहंकार उत्पन्न हुआ है और जो अत्यन्त दुर्जय है ऐसे मृत्युराज को भी आपने जीत लिया है इसीलिए आप मृत्युंजय कहलाते हैं ॥७०॥

आपने संसाररूपी समस्त बन्धन नष्ट कर दिये हैं, आप भव्य जीवों के बन्धु हैं और आप जन्म, मरण तथा बुढ़ापा इन तीनों का नाश करने वाले हैं इसलिए आप ही 'त्रिपुरारि' कहलाते हैं ॥७१॥

हे ईश्वर, जो तीनों कालविषयक समस्त पदार्थों को जानने के कारण तीन प्रकार से उत्पन्न हुआ कहलाता है ऐसे केवलज्ञान नामक नेत्र को आप धारण करते हैं इसलिए आप ही 'त्रिनेत्र' कहे जाते हैं ॥७२॥

आपने मोहरूपी अन्धासुर को नष्ट कर दिया है इसलिए विद्वान् लोग आपको ही 'अन्धकान्तक' कहते हैं, आठ कर्मरूपी शत्रुओं में से आपके आधे अर्थात् चार घातियाकर्मरूपी शत्रुओं के ईश्वर नहीं है इसलिए आप 'अर्धनारीश्वर' कहलाते हैं ॥७३॥

आप शिवपद अर्थात् मोक्षस्थान में निवास करते हैं इसलिए 'शिव' कहलाते हैं, पापरूपी शत्रुओं का नाश करने वाले हैं इसलिए 'हर' कहलाते हैं, लोक में शान्ति करने वाले हैं इसलिए 'शङ्कर' कहलाते हैं और सुख से उत्पन्न हुए हैं इसलिए 'शम्भु' कहलाते हैं ॥७४॥

जगत् में श्रेष्ठ हैं इसलिए 'वृषभ' कहलाते हैं, अनेक उत्तम-उत्तम गुणों का उदय होने से 'पुरु' कहलाते हैं, नाभिराजा से उत्पन्न हुए हैं इसलिए 'नाभेय' कहलाते हैं और इक्ष्वाकु-कुल में उत्पन्न हुए हैं इसलिए 'इक्ष्वाकुकुलनन्दन' कहलाते हैं ॥७५॥

समस्त पुरुषों में श्रेष्ठ आप एक ही हैं, लोगों के नेत्र होने से आप दो रूप धारण करने वाले हैं तथा आप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के भेद से तीन प्रकार का मोक्षमार्ग जानते हैं अथवा भूत, भविष्यत् और वर्तमानकाल सम्बन्धी तीन प्रकार का ज्ञान धारण करते हैं इसलिए आप त्रिज्ञ भी कहलाते हैं ॥७६॥

अरहन्त, सिद्ध, साधु और केवली भगवान् के द्वारा कहा हुआ धर्म ये चार शरण तथा मंगल कहलाते हैं आप इन चारों की मूर्तिस्वरूप हैं, आप चतुरस्रधी हैं अर्थात् चारों ओर की समस्त वस्तुओं को जलाने वाले हैं, पंच परमेष्ठीरूप हैं और अत्यन्त पवित्र हैं । इसलिए हे देव, मुझे भी पवित्र कीजिए ॥७७॥

हे नाथ, आप स्वर्गावतरण के समय सद्योजात अर्थात् शीघ्र ही उत्पन्न होने वाले कहलाये थे इसलिए आपको नमस्कार हो, आप जन्माभिषेक के समय बहुत सुन्दर जान पड़ते थे इसलिए हे वामदेव, आपके लिए नमस्कार हो ॥७८॥

दीक्षा कल्याणक के समय आप परम शान्ति को प्राप्त हुए और केवलज्ञान के प्राप्त होने पर परम पद को प्राप्त हुए तथा ईश्वर कहलाये इसलिए आपको नमस्कार हो ॥७९॥

अब आगे शुद्ध आत्मस्वरूप के द्वारा मोक्षस्थान को प्राप्त होंगे, इसलिए आगामी काल में प्राप्त होने वाली सिद्ध अवस्था को धारण करने वाले आपके लिए मेरा आज ही नमस्कार हो ॥८०॥

ज्ञानावरण कर्म का नाश होने से जो अनन्तचक्षु अर्थात् अनन्तज्ञानी कहलाते हैं ऐसे आपके लिए नमस्कार हो और दर्शनावरण कर्म का

विनाश हो जाने से जो विश्वदृष्टा अर्थात् समस्त संसार को देखने वाले कहलाते हैं ऐसे आपके लिए नमस्कार हो ॥८१॥

हे भगवन् आप दर्शनमोहनीय कर्म को नष्ट करने वाले तथा निर्मल क्षायिकसम्यग्दर्शन को धारण करने वाले हैं इसलिए आपको नमस्कार हो इसी प्रकार आप चारित्रमोहनीय कर्म को नष्ट करने वाले वीतराग और अतिशय तेजस्वी हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥८२॥

आप अनन्तवीर्य को धारण करने वाले हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप अनन्तसुखरूप हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप अनन्तप्रकाश से सहित तथा लोक और अलोक को देखने वाले हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥८३॥

अनन्तदान को धारण करने वाले आपके लिए नमस्कार हो, अनन्तलाभ को धारण करने वाले आपके लिए नमस्कार हो, अनन्तभोग को धारण करने वाले आपके लिए नमस्कार हो, और अनन्त उपभोग को धारण करने वाले आपके लिए नमस्कार हो ॥८४॥

हे भगवन्, आप परम ध्यानी हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप अयोनि अर्थात् योनिभ्रमण से रहित हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप अत्यन्त पवित्र हैं इसलिए आपको नमस्कार हो और आप परमऋषि हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥८५॥

आप परमविद्या अर्थात् केवलज्ञान को धारण करने वाले हैं, अन्य सब मतों का खण्डन करने वाले हैं, परमतत्त्वस्वरूप है और परमात्मा हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥८६॥

आप उत्कृष्ट रूप को धारण करने वाले हैं, परम तेजस्वी हैं, उत्कृष्ट मार्गस्वरूप हैं और परमेष्ठी हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥८७॥

आप सर्वोत्कृष्ट मोक्षस्थान की सेवा करने वाले हैं, परम ज्योतिःस्वरूप हैं, आपका ज्ञानरूपी तेज अन्धकार से परे है और आप सर्वोत्कृष्ट हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥८८॥

आप कर्मरूपी कलंक से रहित हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आपका कर्मबन्धन क्षीण हो गया है इसलिए आपको नमस्कार हो, आपका मोहकर्म नष्ट हो गया है इसलिए आपको नमस्कार हो और आपके समस्त राग आदि दोष नष्ट हो गये हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥८९॥

आप मोक्षरूपी उत्तम गति को प्राप्त होनेवाले हैं इसलिए सुगति हैं अतः आपको नमस्कार हो, आप अतीन्द्रियज्ञान और सुख से सहित हैं तथा इन्द्रियों से रहित अथवा इन्द्रियों के अगोचर हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥९०॥

आप शरीररूपी बन्धन के नष्ट हो जाने से अकाय कहलाते हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप योगरहित हैं और योगियों अर्थात् मुनियों में सबसे उत्कृष्ट हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥९१॥

आप वेदरहित हैं, कषायरहित हैं, और बड़े-बड़े योगिराज भी आपके चरणयुगल की वन्दना करते हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥९२॥
हे परमविज्ञान, अर्थात् उत्कृष्ट-केवलज्ञान को धारण करने वाले आपको नमस्कार हो, हे परम संयम, अर्थात् उत्कृष्ट-यथाख्यात चारित्र को धारण करने वाले, आपको नमस्कार हो । हे भगवन् आपने उत्कृष्ट केवलदर्शन के द्वारा परमार्थ को देख लिया है तथा आप सबकी रक्षा करने वाले हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥९३॥

आप यद्यपि लेश्याओं से रहित हैं तथापि उपचार से शुद्ध-शुक्ललेश्या के अंशों का स्पर्श करने वाले हैं, भव्य तथा अभव्य दोनों ही अवस्थाओं से रहित हैं और मोक्षरूप हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥९४॥

आप संज्ञी और असंज्ञी दोनों अवस्थाओं से रहित निर्मल आत्मा को धारण करने वाले हैं, आपकी आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चारों संज्ञाएँ नष्ट हो गयी हैं तथा क्षायिकसम्यग्दर्शन को धारण कर रहे हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥९५॥

आप आहाररहित होकर भी सदा तृप्त रहते हैं, परम दीप्ति को प्राप्त हैं, आपके समस्त दोष नष्ट हो गये हैं और आप संसाररूपी समुद्र के पार को प्राप्त हुए हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥९६॥

आप बुढ़ापारहित हैं, जन्मरहित हैं, मृत्युरहित हैं, अचलरूप हैं और अविनाशी हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥९७॥

हे भगवन् आपके गुणों का स्तवन दूर रहे, क्योंकि आपके अनन्त गुण हैं उन सबका स्तवन होना कठिन है इसलिए केवल आपके नामों का स्मरण करके ही हम लोग आपकी उपासना करना चाहते हैं ॥९८॥

आपके देदीप्यमान एक हजार आठ लक्षण अतिशय प्रसिद्ध हैं और आप समस्त वाणियों के स्वामी हैं इसलिए हम लोग अपनी अभीष्टसिद्धि के लिए एक हजार आठ नामों से आपकी स्तुति करते हैं ॥९९॥

आप अनन्तचतुष्टयरूप अन्तरङ्गलक्ष्मी और अष्ट प्रातिहार्यरूप बहिरङ्ग लक्ष्मी से सहित हैं इसलिए श्रीमान् १ कहलाते हैं, आप अपने-आप

उत्पन्न हुए हैं-किसी गुरु के उपदेश की सहायता के बिना अपने-आप ही सम्बुद्ध हुए हैं इसलिए स्वयंभू २ कहलाते हैं, आप वृष अर्थात् धर्म से सुशोभित हैं इसलिए वृषभ ३ कहलाते हैं, आपके स्वयं अनन्त सुख की प्राप्ति हुई है तथा आपके द्वारा संसार के अन्य अनेक प्राणियों को सुख प्राप्त हुआ है इसलिए शंभव ४ कहलाते हैं, आप परमानन्दरूप सुख के देने वाले हैं इसलिए शंभु ५ कहलाते हैं, आपने यह उत्कृष्ट अवस्था अपने ही द्वारा प्राप्त की है अथवा योगीश्वर अपनी आत्मा में ही आपका साक्षात्कार कर सकते हैं इसलिए आप आत्मभू ६ कहलाते हैं, आप अपने-आप ही प्रकाशमान होते हैं इसलिए स्वयंप्रभ ७ हैं, आप समर्थ अथवा सबके स्वामी हैं इसलिए प्रभु ८ हैं, अनन्त-आत्मोत्थ सुख का अनुभव करने वाले हैं इसलिए भोक्ता हैं ९, केवलज्ञान की अपेक्षा सब जगह व्याप्त हैं अथवा ध्यानादि के द्वारा सब जगह प्रत्यक्षरूप से प्रकट होते हैं इसलिए विश्वभू १० हैं, अब आप पुनः संसार में आकर जन्म धारण नहीं करेंगे इसलिए अपुनर्भव ११ हैं ॥१००॥

संसार के समस्त पदार्थ आपकी आत्मा में प्रतिबिम्बित हो रहे हैं इसलिए आप विश्वात्मा १२ कहलाते हैं, आप समस्त लोक के स्वामी हैं इसलिए विश्वलोकेश १३ कहलाते हैं, आपके ज्ञानदर्शनरूपी नेत्र संसार में सभी ओर अप्रतिहत हैं इसलिए आप विश्वतश्चक्षु १४ कहलाते हैं, अविनाशी हैं इसलिए अक्षर १५ कहे जाते हैं, समस्त पदार्थों को जानते हैं, इसलिए विश्वविद् १६ कहलाते हैं, समस्त विद्याओं के स्वामी हैं इसलिए विध्व विद्येश १७ कहे जाते हैं, समस्त पदार्थों की उत्पत्ति के कारण हैं अर्थात् उपदेश देनेवाले हैं इसलिए विश्वयोनि १८ कहलाते हैं, आपके स्वरूप का कभी नाश नहीं होता इसलिए अनश्वर १९ कहे जाते हैं ॥१०१॥

समस्त पदार्थों को देखने वाले हैं इसलिए विश्वदृश्वा २० है, केवलज्ञान की अपेक्षा सब जगह व्याप्त हैं अथवा सब जीवों को संसार से पार करने में समर्थ हैं अथवा परमोत्कृष्ट विभूति से सहित हैं इसलिए विभु २१ हैं, संसारी जीवों का उद्धार कर उन्हें मोक्षस्थान में धारण करने वाले हैं-पहुँचाने वाले हैं अथवा सब जीवों का पोषण करने वाले हैं अथवा मोक्षमार्ग की सृष्टि करने वाले हैं इसलिए धाता २२ कहलाते हैं, समस्त जगत् के ईश्वर हैं इसलिए विश्वेश २३ कहलाते हैं, सब पदार्थों को देखने वाले हैं अथवा सबके हित सन्मार्ग का उपदेश देने के कारण सब जीवों के नेत्रों के समान हैं इसलिए विश्वविलोचन २४ कहे जाते हैं, संसार के समस्त पदार्थों को जानने के कारण आपका ज्ञान सब जगह व्याप्त है इसलिए आप विश्वव्यापी २५ कहलाते हैं । आप समीचीन मोक्षमार्ग का विधान करने से विधि २६ कहलाते हैं । धर्मरूप जगत् की सृष्टि करने वाले हैं इसलिए वेधा २७ कहलाते हैं, सदा विद्यमान रहते हैं इसलिए शाश्वत २८ कहे जाते हैं, समवसरण-सभा में आपके मुख चारों दिशाओं से दिखते हैं अथवा आप विश्वतोमुख अर्थात् जल की तरह पापरूपी पंक को दूर करने वाले, स्वच्छ तथा तृष्णा को नष्ट करने वाले हैं इसलिए विश्वतोमुख २९ कहे जाते हैं ॥१०२॥

आपने कर्मभूमि की व्यवस्था करते समय लोगों की आजीविका के लिए असि-मषि आदि सभी कर्मों-कार्यों का उपदेश दिया था इसलिए आप विश्वकर्मा ३० कहलाते हैं, आप जगत् में सबसे ज्येष्ठ अर्थात् श्रेष्ठ हैं इसलिए जगज्ज्येष्ठ ३१ कहे जाते हैं, आप अनन्त गुणमय हैं अथवा समस्त पदार्थों के आकार आपके ज्ञान में प्रतिफलित हो रहे हैं इसलिए आप विश्वमूर्ति ३२ हैं, कर्मरूप शत्रुओं को जीतने वाले सम्यग्दृष्टि आदि जीवों के आप ईश्वर हैं इसलिए जिनेश्वर ३३ कहलाते हैं, आप संसार के समस्त पदार्थों का सामान्यावलोकन करते हैं इसलिए विश्वदृक् ३४ कहलाते हैं, समस्त प्राणियों के ईश्वर हैं इसलिए विश्वभूतेश ३५ कहे जाते हैं, आपकी केवलज्ञानरूपी ज्योति अखिल संसार में व्याप्त है इसलिए आप विश्वज्योति ३६ कहलाते हैं, आप सबके स्वामी हैं किन्तु आपका कोई भी स्वामी नहीं है इसलिए आप अनीश्वर ३७ कहे जाते हैं ॥१०३॥

आपने घातियाकर्मरूपी शत्रुओं को जीत लिया है इससे आप जिन ३८ कहलाते हैं, कर्मरूपी शत्रुओं को जीतना ही आपका शील अर्थात् स्वभाव है इसलिए आप जिष्णु ३९ कहे जाते हैं, आपकी आत्मा को अर्थात् आपके अनन्त गुणों को कोई नहीं जान सका है इसलिए आप अमेयात्मा ४० हैं, पृथ्वी के ईश्वर हैं इसलिए विश्वरीश ४१ कहलाते हैं, तीनों लोकों के स्वामी हैं इसलिए जगपति ४२ कहे जाते हैं, अनन्त संसार अथवा मिथ्यादर्शन को जीत लेने के कारण आप अनन्तजित् ४३ कहलाते हैं, आपकी आत्मा का चिन्तवन मन से भी नहीं किया जा सकता इसलिए आप अचिन्त्यात्मा ४४ हैं, भव्य जीवों के हितैषी हैं इसलिए भव्यबन्धु ४५ कहलाते हैं, कर्मबन्धन से रहित होने के कारण अबन्धन ४६ कहलाते हैं ॥१०४॥

आप इस कर्मभूमिरूपी युग के प्रारम्भ में उत्पन्न हुए थे इसलिए युगादिपुरुष ४७ कहलाते हैं, केवलज्ञान आदि गुण आपमें वृंहण अर्थात् वृद्धि को प्राप्त हो रहे हैं इसलिए आप ब्रह्मा ४८ कहे जाते हैं, आप पंचपरमेष्ठीस्वरूप हैं, इसलिए पंच ब्रह्ममय ४९ कहलाते हैं, शिव अर्थात्

मोक्ष अथवा आनन्दरूप होने से शिव ५० कहे जाते हैं, आप सब जीवों का पालन अथवा समस्त ज्ञान आदि गुणों को पूर्ण करने वाले हैं इसलिए पर ५१ कहलाते हैं, संसार में सबसे श्रेष्ठ हैं इसलिए परतर ५२ कहलाते हैं, इन्द्रियों के द्वारा आपका आकार नहीं जाना जा सकता अथवा नामकर्म का क्षय हो जाने से आपमें बहुत शीघ्र सूक्ष्मत्व गुण प्रकट होने वाला है इसलिए आपको सूक्ष्म ५३ कहते हैं, परमपद में स्थित हैं इसलिए परमेष्ठी ५४ कहलाते हैं और सदा एक से ही विद्यमान रहते हैं इसलिए सनातन ५५ कहे जाते हैं ॥१०५॥

आप स्वयं प्रकाशमान हैं इसलिए स्वयंज्योति ५६ कहलाते हैं, संसार में उत्पन्न नहीं होते इसलिए अज ५७ कहे जाते हैं, जन्मरहित हैं इसलिए अजन्मा ५८ कहलाते हैं, आप ब्रह्म अर्थात् वेद (द्वादशांग शास्त्र) की उत्पत्ति के कारण हैं इसलिए ब्रह्मयोनि ५९ कहलाते हैं, चौरासी लाख योनियों में उत्पन्न नहीं होते इसलिए अयोनिज ६० कहे जाते हैं, मोहरूपी शत्रु को जीतने वाले हैं इससे मोहारिविजयी ६१ कहलाते हैं, सर्वदा सर्वोत्कृष्ट रूप से विद्यमान रहते हैं इसलिए जेता ६२ कहे जाते हैं, आप धर्मचक्र को प्रवर्तित करते हैं इसलिए धर्मचक्री ६३ कहलाते हैं, दया ही आपकी ध्वजा है इसलिए आप दयाध्वज ६४ कहे जाते हैं ॥१०६॥

आपके समस्त कर्मरूप शत्रु शान्त हो गये हैं इसलिए आप प्रशान्तारि ६५ कहलाते हैं, आपकी आत्मा का अन्त कोई नहीं पा सका है इसलिए आप अनन्तात्मा ६६ हैं, आप योग अर्थात् केवलज्ञान आदि अपूर्व अर्थों की प्राप्ति से सहित हैं अथवा ध्यान से युक्त हैं अथवा मोक्षप्राप्ति के उपायभूत सम्यग्दर्शनादि उपायों से सुशोभित हैं इसलिए योगी ६७ कहलाते हैं, योगियों अर्थात् मुनियों के अधिश्चर आपकी पूजा करते हैं इसलिए योगीश्वरार्चित ६८ हैं, ब्रह्म अर्थात् शुद्ध आत्मस्वरूप को जानते हैं इसलिए ब्रह्मविद् ६९ कहलाते हैं, ब्रह्मचर्य अथवा आत्मारूपी तत्त्व के रहस्य को जानने वाले हैं इसलिए ब्रह्मतत्त्वज्ञ ७० कहे जाते हैं, पूर्व ब्रह्मा के द्वारा कहे हुए समस्त तत्त्व अथवा केवलज्ञानरूपी आत्मविद्या को जानते हैं इसलिए ब्रह्मोद्यावित् ७१ कहे जाते हैं, मोक्ष प्राप्त करने के लिए यत्न करने वाले संयमी मुनियों के स्वामी हैं इसलिए यतीश्वर ७२ कहलाते हैं ॥१०७॥

आप राग-द्वेषादि भाव कर्ममल कलंक से रहित होने के कारण शुद्ध ७३ हैं, संसार के समस्त पदार्थों को जानने वाली केवलज्ञानरूपी बुद्धि से संयुक्त होने के कारण बुद्ध ७४ कहलाते हैं, आपकी आत्मा सदा शुद्ध ज्ञान से जगमगाती रहती है इसलिए आप प्रबुद्धात्मा ७५ हैं, आपके सब प्रयोजन सिद्ध हो चुके हैं इसलिए आप सिद्धार्थ ७६ कहलाते हैं, आपका शासन सिद्ध अर्थात् प्रसिद्ध हो चुका है इसलिए आप सिद्धशासन ७७ हैं, आप अपने अनन्तगुणों को प्राप्त कर चुके हैं अथवा बहुत शीघ्र मोक्ष अवस्था प्राप्त करने वाले हैं इसलिए सिद्ध ७८ कहलाते हैं, आप द्वादशाङ्गरूपसिद्धान्त को जानने वाले हैं इसलिए सिद्धान्तविद् ७९ कहे जाते हैं, सभी लोग आपका ध्यान करते हैं इसलिए आप ध्येय ८० कहलाते हैं, आपके समस्त साध्य अर्थात् करने योग्य कार्य सिद्ध हो चुके हैं इसलिए आप सिद्धसाध्य ८१ कहलाते हैं, आप जगत् के समस्त जीवों का हित करने वाले हैं इससे जगद्धित ८२ कहे जाते हैं ॥१०८॥

सहनशील हैं अर्थात् क्षमा गुण के भण्डार हैं इसलिए सहिष्णु ८३ कहलाते हैं, ज्ञानादि गुणों से कभी च्युत नहीं होते इसलिए अच्युत ८४ कहे जाते हैं, विनाशरहित हैं, इसलिए अनन्त ८५ कहलाते हैं, प्रभावशाली हैं इसलिए प्रभविष्णु ८६ कहे जाते हैं, संसार में आपका जन्म सबसे उत्कृष्ट माना गया है इसलिए आप भवोद्भव ८७ कहलाते हैं, आप शक्तिशाली हैं इसलिए प्रभूष्णु ८८ कहे जाते हैं, वृद्धावस्था से रहित होने के कारण अजर ८९ हैं, आप कभी जीर्ण नहीं होते इसलिए अजर्य ९० हैं, ज्ञानादि गुणों से अतिशय देदीप्यमान हो रहे हैं इसलिए भ्राजिष्णु ९१ है, केवलज्ञानरूपी बुद्धि के ईश्वर हैं इसलिए धीश्वर ९२ कहलाते हैं, कभी आपका व्यय अर्थात् नाश नहीं होता इसलिए आप अव्यय ९३ कहलाते हैं ॥१०९॥

आप कर्मरूपी ईधन को जलाने के लिए अग्नि के समान हैं अथवा मोहरूपी अन्धकार को नष्ट करने के लिए सूर्य के समान है, इसलिए विभावसु ९४ कहलाते हैं, आप संसार में पुनः उत्पन्न नहीं होंगे इसलिए असम्भूष्णु ९५ कहे जाते हैं, आप अपने-आप ही इस अवस्था को प्राप्त हुए हैं इसलिए स्वयम्भूष्णु ९६ हैं, प्राचीन हैं-द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा अनादिसिद्ध हैं इसलिए पुरातन ९७ कहलाते हैं, आपकी आत्मा अतिशय उत्कृष्ट हैं इसलिए आप परमात्मा ९८ कहे जाते हैं, उत्कृष्ट ज्योतिःस्वरूप हैं इसलिए परंज्योति ९९ कहलाते हैं, तीनों लोकों के ईश्वर हैं, इसलिए त्रिजगत्परमेश्वर १०० कहे जाते हैं ॥११०॥

आप दिव्यध्वनि के पति हैं इसलिए आपको दिव्यभाषापति १०१ कहते हैं, अत्यन्त सुन्दर हैं इसलिए आप दिव्य १०२ कहलाते हैं, आपके वचन अतिशय पवित्र हैं इसलिए आप पूतवाक् १०३ कहे जाते हैं, आपका शासन पवित्र होने से आप पूतशासन १०४ कहलाते हैं, आपकी आत्मा पवित्र है इसलिए आप पूतात्मा १०५ कहे जाते हैं, उत्कृष्ट ज्योतिःस्वरूप हैं इसलिए परमज्योति १०६ कहलाते हैं, धर्म के अध्यक्ष हैं

इसलिए धर्माध्यक्ष १०७ कहे जाते हैं, इन्द्रियों को जीतने वालों में श्रेष्ठ हैं इसलिए दमीश्वर १०८ कहलाते हैं ॥१११॥

मोक्षरूपी लक्ष्मी के अधिपति हैं इसलिए श्रीपति १०९ कहलाते हैं, अष्टप्रातिहार्यरूप उत्तम ऐश्वर्य से सहित हैं इसलिए भगवान् ११० कहे जाते हैं, सबके द्वारा पूज्य हैं इसलिए अर्हत् १११ कहलाते हैं, कर्मरूपी धूलि से रहित हैं इसलिए अरजा: ११२ कहे जाते हैं, आपके द्वारा भव्य जीवों के कर्ममल दूर होते हैं अथवा आप ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण कर्म से रहित हैं इसलिए विरजा: ११३ कहलाते हैं, अतिशय पवित्र हैं इसलिए शुचि ११४ कहे जाते हैं, धर्मरूप तीर्थ के करने वाले हैं इसलिए तीर्थकृत् ११५ कहलाते हैं, केवलज्ञान से सहित होने के कारण केवली ११६ कहे जाते हैं, अनन्त सामर्थ्य से युक्त होने के कारण ईशान ११७ कहलाते हैं, पूजा के योग्य होने से पूजार्ह ११८ हैं, घातियाकर्मों के नष्ट होने अथवा पूर्णज्ञान होने से आप स्नातक ११९ कहलाते हैं, आपका शरीर मलरहित है अथवा आत्मा राग-द्वेष आदि दोषों से वर्जित है इसलिए आप अमल १२० कहे जाते हैं ॥११२॥

आप केवलज्ञानरूपी अनन्त दीप्ति अथवा शरीर की अपरिमित प्रभा के धारक हैं इसलिए अनन्तदीप्ति १२१ कहलाते हैं, आपकी आत्मा ज्ञानस्वरूप है इसलिए आप ज्ञानात्मा १२२ हैं, आप स्वयं संसार से विरक्त होकर मोक्षमार्ग में प्रवृत्त हुए हैं अथवा आपने गुरुओं की सहायता के बिना ही समस्त पदार्थों का ज्ञान प्राप्त किया है इसलिए स्वयम्बुद्ध १२३ कहलाते हैं, समस्त जनसमूह के रक्षक होने से आप प्रजापति १२४ हैं, कर्मरूप बन्धन से रहित है इसलिए मुक्त १२५ कहलाते हैं, अनन्त बल से सम्पन्न होने के कारण शक्त १२६ कहे जाते हैं, बाधा-उपसर्ग आदि से रहित हैं इसलिए निराबाध १२७ कहलाते हैं, शरीर अथवा माया से रहित होने के कारण निष्कल १२८ कहे जाते हैं और तीनों लोकों के ईश्वर होने से भुवनेश्वर १२९ कहलाते हैं ॥११३॥

आप कर्मरूपी अंजन से रहित हैं इसलिए निरंजन १३० कहलाते हैं, जगत को प्रकाशित करने वाले हैं इसलिए जगज्ज्योति १३१ कहे जाते हैं, आपके वचन सार्थक हैं अथवा पूर्वापर विरोध से रहित हैं इसलिए आप निरुक्तोक्ति १३२ कहलाते हैं, रोगरहित होने से अनामय १३३ हैं, आपकी स्थिति अचल है इसलिए अचलस्थिति १३४ कहलाते हैं, आप कभी क्षोभ को प्राप्त नहीं होते इसलिए अक्षोभ्य १३५ हैं, नित्य होने से कूटस्थ १३६ हैं, गमनागमन से रहित होने के कारण स्थाणु १३७ हैं और क्षयरहित होने के कारण अक्षय १३८ हैं ॥११४॥

आप तीनों लोकों में सबसे श्रेष्ठ हैं इसलिए अग्रणी १३९ कहलाते हैं, भव्यजीवों के समूह को मोक्ष प्राप्त कराने वाले हैं इसलिए ग्रामणी १४० हैं, सब जीवों को हित के मार्ग में प्राप्त कराते हैं इसलिए नेता १४१ हैं, द्वादशांगरूप शास्त्र की रचना करने वाले हैं इसलिए प्रणेता १४२ हैं, न्यायशास्त्र का उपदेश देनेवाले हैं इसलिए न्यायशास्त्रकृत् १४३ कहे जाते हैं, हित का उपदेश देने के कारण शास्ता १४४ कहलाते हैं, उत्तम क्षमा आदि धर्मों के स्वामी हैं इसलिए धर्मपति १४५ कहे जाते हैं, धर्म से सहित हैं इसलिए धर्म्य १४६ कहलाते हैं, आपकी आत्मा धर्मरूप अथवा धर्म से उपलक्षित है इसलिए आप धर्मात्मा १४७ कहलाते हैं और आप धर्मरूपी तीर्थ के करने वाले हैं इसलिए धर्मतीर्थकृत् १४८ कहे जाते हैं ॥११५॥

आपकी ध्वजा में वृष अर्थात् बैल का चिह्न है अथवा धर्म ही आपकी ध्वजा है अथवा आप वृषभ चिह्न से अंकित हैं इसलिए वृषध्वज १४९ कहलाते हैं, आप वृष अर्थात् धर्म के पति हैं इसलिए वृषाधीश १५० कहे जाते हैं, आप धर्म की पताकास्वरूप हैं इसलिए लोग आपको वृषकेतु १५१ कहते हैं, आपने कर्मरूप शत्रुओं को नष्ट करने के लिए धर्मरूप शस्त्र धारण किये हैं इसलिए आप वृषायुध १५२ कहे जाते हैं, आप धर्मरूप हैं इसलिए वृष १५३ कहलाते हैं, धर्म के स्वामी हैं इसलिए वृषपति १५४ कहे जाते हैं, समस्त जीवों का भरण-पोषण करते हैं इसलिए भर्ता १५५ कहलाते हैं, वृषभ अर्थात् बैल के चिह्न से सहित हैं इसलिए वृषभांक १५६ कहे जाते हैं और पूर्व पर्यायों में उत्तम धर्म करने से ही आप तीर्थकर होकर उत्पन्न हुए हैं इसलिए आप वृषोद्भव १५७ कहलाते हैं ॥११६॥

सुन्दर नाभि होने से आप हिरण्यनाभि १५८ कहलाते हैं, आपकी आत्मा सत्यरूप है इसलिए आप भूतात्मा १५९ कहे जाते हैं, आप समस्त जीवों की रक्षा करते हैं इसलिए पण्डितजन आपको भूतभृत् १६० कहते हैं, आपकी भावनाएँ बहुत ही उत्तम हैं, इसलिए आप भूतभावन १६१ कहलाते हैं, आप मोक्षप्राप्ति के कारण हैं अथवा आपका जन्म प्रशंसनीय है इसलिए प्रभव १६२ कहे जाते हैं, संसार से रहित होने के कारण आप विभव १६३ कहलाते हैं, देदीप्यमान होने से भास्वान् १६४ हैं, उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्यरूप से सदा उत्पन्न होते रहते हैं इसलिए भव १६५ कहलाते हैं, अपने चैतन्यरूप भाव में लीन रहते हैं इसलिए भाव १६६ कहे जाते हैं और संसारभ्रमण का अन्त करने वाले हैं इसलिए भवान्तक १६७ कहलाते हैं ॥११७॥

जब आप गर्भ में थे तभी पृथिवी सुवर्णमय हो गयी थी और आकाश से देवों ने भी सुवर्ण की वृष्टि की थी इसलिए आप हिरण्यगर्भ १६८

कहे जाते हैं, आपके अन्तरंग में अनन्तचतुष्टयरूपी लक्ष्मी देदीप्यमान हो रही है इसलिए आप श्रीगर्भ १६९ कहलाते हैं, आपका विभव बड़ा भारी है इसलिए आप प्रभूतविभव १७० कहे जाते हैं, जन्मरहित होने के कारण अभव १७१ कहलाते हैं, स्वयं समर्थ होने से स्वयम्प्रभु १७२ कहे जाते हैं, केवलज्ञान की अपेक्षा आपकी आत्मा सर्वत्र व्याप्त है इसलिए आप प्रभूतात्मा १७३ हैं, समस्त जीवों के स्वामी होने से भूतनाथ १७४ हैं, और तीनों लोकों के स्वामी होने से जगत्प्रभु १७५ हैं ॥११८॥

सबसे मुख्य होने के कारण सर्वादि १७६ हैं, सब पदार्थों के देखने के कारण सर्वदृक् १७७ हैं, सबका हित करने वाले हैं, इसलिए सार्व १७८ कहलाते हैं, सब पदार्थों को जानते हैं इसलिए सर्वज्ञ १७९ कहे जाते हैं, आपका दर्शन अर्थात् सम्यक्त्व अथवा केवलदर्शन पूर्ण अवस्था को प्राप्त हुआ है इसलिए आप सर्वदर्शन १८० कहलाते हैं, आप सबका भला चाहते हैं-सबको अपने समान समझते हैं अथवा संसार के समस्त पदार्थ आपके आत्मा में प्रतिबिम्बित हो रहे हैं इसलिए आप सर्वात्मा १८१ कहे जाते हैं, सब लोगों के स्वामी हैं, इसलिए सर्वलोकेश १८२ कहलाते हैं, सब पदार्थों को जानते हैं, इसलिए सर्वविद् १८३ हैं, और समस्त लोकों को जीतने वाले हैं-सबसे बढ़कर हैं, इसलिए सर्वलोकजित् १८४ कहलाते हैं ॥११९॥

आपकी मोक्षरूपी गति अतिशय सुन्दर है अथवा आपका ज्ञान बहुत ही उत्तम है इसलिए आप सुगति १८५ कहलाते हैं, अतिशय प्रसिद्ध हैं अथवा उत्तम शास्त्रों को धारण करने वाले हैं इसलिए सुश्रुत १८६ कहे जाते हैं, सब जीवों की प्रार्थनाएं सुनते हैं इसलिए सुश्रुत् १८७ कहलाते हैं, आपके वचन बहुत ही उत्तम निकलते हैं, इसलिए आप सुवाक् १८८ कहलाते हैं, सबके गुरु हैं अथवा समस्त विद्याओं को प्राप्त हैं इसलिए सूरि १८९ कहे जाते हैं, बहुत शास्त्रों के पारगामी होने से बहुश्रुत १९० हैं, बहुत प्रसिद्ध हैं अथवा केवलज्ञान होने के कारण आपका क्षायोपशमिक श्रुतज्ञान नष्ट हो गया है इसलिए आप विश्रुत १९१ कहलाते हैं, आपका संचार प्रत्येक विषयों में होता है अथवा आपकी केवलज्ञानरूपी किरणें संसार में सभी ओर फैली हुई हैं इसलिए आप विश्वतःपाद १९२ कहलाते हैं, लोक के शिखर पर विराजमान हैं इसलिए विश्वशीर्ष १९३ कहे जाते हैं और आपकी श्रवण-शक्ति अत्यन्त पवित्र है इसलिए शुचिश्रवा १९४ कहलाते हैं ॥ १२०॥

अनन्त सुखी होने से सहस्रशीर्ष १९५ कहलाते हैं, क्षेत्र अर्थात् आत्मा को जानने से क्षेत्रज्ञ १९६ कहलाते हैं, अनन्त पदार्थों को जानते हैं इसलिए सहस्राक्ष १९७ कहे जाते हैं, अनन्त बल के धारक हैं इसलिए सहस्रपात् १९८ कहलाते हैं, भूत, भविष्यत, और वर्तमान काल के स्वामी हैं इसलिए भूतभव्यभवद्भर्ता १९९ कहे जाते हैं, समस्त विद्याओं के प्रधान स्वामी हैं इसलिए विश्वविद्यामहेश्वर २०० कहलाते हैं ॥ १२१॥

इति दिव्यादि शतम्। आप समीचीन गुणों की अपेक्षा अतिशय स्थूल हैं इसलिए स्थविष्ठ २०१ कहे जाते हैं, ज्ञानादि गुणों के द्वारा वृद्ध हैं इसलिए स्थविर २०२ कहलाते हैं, तीनों लोकों में अतिशय प्रशस्त होने के कारण ज्येष्ठ २०३ हैं, सबके अग्रगामी होने के कारण प्रष्ठ २०४ कहलाते हैं, सबको अतिशय प्रिय हैं इसलिए प्रेष्ठ २०५ कहे जाते हैं, आपकी बुद्धि अतिशय श्रेष्ठ हैं इसलिए वरिष्ठधी २०६ कहलाते हैं, अत्यन्त स्थिर अर्थात् नित्य हैं इसलिए स्थेष्ठ २०७ कहलाते हैं, अत्यन्त गुरु हैं इसलिए गरिष्ठ २०८ कहे जाते हैं, गुणों की अपेक्षा अनेक रूप धारण करने से बंहिष्ठ २०९ कहलाते हैं, अतिशय प्रशस्त हैं इसलिए श्रेष्ठ २१० हैं, अतिशय सूक्ष्म होने के कारण अणिष्ठ २११ कहे जाते हैं और आपकी वाणी अतिशय गौरव से पूर्ण है इसलिए आप गरिष्ठगीः २१२ कहलाते हैं ॥१२२॥

चतुर्गतिरूप संसार को नष्ट करने के कारण आप विश्वमुट् २१३ कहे जाते हैं, समस्त संसार की व्यवस्था करने वाले हैं इसलिए विश्वसूट् २१४ कहलाते हैं, सब लोक के ईश्वर हैं इसलिए विश्वेट् २१५ कहे जाते हैं, समस्त संसार की रक्षा करने वाले हैं इसलिए विश्वभुक् २१६ कहलाते हैं, अखिल लोक के स्वामी हैं इसलिए विश्वनायक २१७ कहे जाते हैं, समस्त संसार में व्याप्त होकर रहते हैं इसलिए विश्वासी २१८ कहलाते हैं, विश्वरूप अर्थात् केवलज्ञान ही आपका स्वरूप है अथवा आपका आत्मा अनेकरूप है इसलिए आप विश्वरूपात्मा २१९ कहे जाते हैं, सबको जीतने वाले हैं इसलिए विश्वजित् २२० कहे जाते हैं और अन्तक अर्थात् मृत्यु को जीतने वाले हैं इसलिए विजितान्तक २२१ कहलाते हैं ॥१२३॥

आपका संसार-भ्रमण नष्ट हो गया है इसलिए विभव २२२ कहलाते हैं, भय दूर हो गया है इसलिए विभय २२३ कहे जाते हैं, अनन्त बलशाली हैं इसलिए वीर २२४ कहलाते हैं, शोकरहित हैं इसलिए विशोक २२५ कहे जाते हैं, जरा अर्थात् बुढ़ापा से रहित हैं इसलिए विजर २२६ कहलाते हैं, जगत् के सब जीवों में प्राचीन हैं इसलिए जरन् २२७ कहे जाते हैं, रागरहित हैं इसलिए विराग २२८ कहलाते हैं,

समस्त पापों से विरत हो चुके हैं इसलिए विरत २२९ कहे जाते हैं, परिग्रहरहित हैं इसलिए असंग २३० कहलाते हैं, एकाकी अथवा पवित्र होने से विविक्त २३१ हैं और मात्सर्य से रहित होने के कारण वीतमत्सर २३२ हैं ॥१२४॥

आप अपने शिष्य जनों के हितैषी हैं इसलिए विनेयजनताबन्धु २३३ कहलाते हैं, आपके समस्त पापकर्म विलीन-नष्ट हो गये हैं इसलिए विलीनाशेषकल्मष २३४ कहे जाते हैं, आप योग अर्थात् मन, वचन, काय के निमित्त से होने वाले आत्मप्रदेशपरिस्पन्द से रहित हैं इसलिए वियोग २३५ कहलाते हैं, योग अर्थात् ध्यान के स्वरूप को जानने वाले हैं इसलिए योगविद् २३६ कहे जाते हैं, समस्त पदार्थों को जानते हैं इसलिए विद्वान् २३७ कहलाते हैं, धर्मरूप सृष्टि के कर्ता होने से विधाता २३८ कहे जाते हैं, आपका कार्य बहुत ही उत्तम है इसलिए सुविधि २३९ कहलाते हैं और आपकी बुद्धि उत्तम है इसलिए सुधी २४० कहे जाते हैं ॥१२५॥

उत्तम क्षमा को धारण करने वाले हैं इसलिए क्षान्तिभाक् २४१ कहलाते हैं, पृथ्वी के समान सहनशील हैं इसलिए पृथ्वीमूर्ति २४२ कहे जाते हैं, शान्ति के उपासक हैं इसलिए शान्तिभाक् २४३ कहलाते हैं, जल के समान शीतलता उत्पन्न करने वाले हैं इसलिए सलिलात्मक २४४ कहे जाते हैं, वायु के समान परपदार्थ के संसर्ग से रहित होने के कारण वायुमूर्ति २४५ कहलाते हैं, परिग्रहरहित होने के कारण असंगात्मा २४६ कहे जाते हैं, अग्नि के समान कर्मरूपी ईंधन को जलाने वाले हैं इसलिए वह्निमूर्ति २४७ हैं, और अधर्म को जलाने वाले हैं इसलिए अधर्मधक् २४८ कहलाते हैं ॥१२६॥

कर्मरूपी सामग्री का अच्छी तरह होम करने से सुयज्वा २४९ हैं, निज स्वभाव का आराधन करने से यजमानात्मा २५० हैं, आत्मसुखरूप सागर में अभिषेक करने से सुत्वा २५१ हैं, इन्द्र के द्वारा पूजित होने के कारण सुत्रामपूजित २५२ हैं, ज्ञानरूपी यज्ञ करने में आचार्य कहलाते हैं इसलिए ऋत्विक् २५३ हैं, यज्ञ के प्रधान अधिकारी होने से यज्ञपति २५४ कहलाते हैं । पूजा के योग्य हैं इसलिए याज्य २५५ कहलाते हैं, यज्ञ के अंग होने से यज्ञांग २५६ कहलाते हैं, विषयतृष्णा को नष्ट करने के कारण अमृत २५७ कहे जाते हैं, और आपने ज्ञानयज्ञ में अपनी ही अशुद्ध परिणति को होम दिया है इसलिए आप हवि २५८ कहलाते हैं ॥१२७॥

आप आकाश के समान निर्मल अथवा केवलज्ञान की अपेक्षा लोकालोक में व्याप्त हैं इसलिए व्योममूर्ति २५९ हैं, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से रहित होने के कारण अमूर्तात्मा २६० हैं, कर्मरूप लेप से रहित हैं इसलिए निर्लेप २६१ हैं, मलरहित हैं इसलिए निर्मल २६२ कहलाते हैं, सदा एक रूप से विद्यमान रहते हैं इसलिए अचल २६३ कहे जाते हैं, चन्द्रमा के समान शान्त, सुन्दर अथवा प्रकाशमान रहते हैं इसलिए सोममूर्ति २६४ कहलाते हैं, आपकी आत्मा अतिशय सौम्य है इसलिए सुसौम्यात्मा २६५ कहे जाते हैं, सूर्य के समान तेजस्वी हैं इसलिए सूर्यमूर्ति २६६ कहलाते हैं और अतिशय प्रभा के धारक हैं इसलिए महाप्रभ २६७ कहलाते हैं ॥१२८॥

मन्त्र के जानने वाले हैं इसलिए मन्त्रविद् २६८ कहे जाते हैं, अनेक मन्त्रों के करने वाले हैं इसलिए मन्त्रकृत् २६९ कहलाते हैं, मन्त्रों से युक्त हैं इसलिए मन्त्री २७० कहलाते हैं, मन्त्ररूप हैं इसलिए मन्त्रमूर्ति २७१ कहे जाते हैं, अनन्त पदार्थों को जानते हैं इसलिए अनन्तग २७२ कहलाते हैं, कर्मबन्धन से रहित होने के कारण स्वतन्त्र २७३ कहलाते हैं, शास्त्रों के करने वाले हैं इसलिए तन्त्रकृत् २७४ कहे जाते हैं, आपका अन्तःकरण उत्तम है इसलिए स्वन्तः २७५ कहलाते हैं, आपने कृतान्त अर्थात् यमराज मृत्यु का अन्त कर दिया है इसलिए लोग आपको कृतान्तान्त २७६ कहते हैं और आप कृतान्त अर्थात् आगम की रचना करने वाले हैं इसलिए कृतान्तकृत् २७७ कहे जाते हैं ॥१२९॥

आप अत्यन्त कुशल अथवा पुण्यवान् हैं इसलिए कृती २७८ कहलाते हैं, आप आत्मा के सब पुरुषार्थ सिद्ध कर चुके हैं इसलिए कृतार्थ २७९ हैं, संसार के समस्त जीवों के द्वारा सत्कार करने के योग्य हैं इसलिए सत्कृत्य २८० हैं, समस्त कार्य कर चुके हैं इसलिए कृतकृत्य २८१ हैं, आप ज्ञान अथवा तपश्चरणरूपी यज्ञ कर चुके हैं इसलिए कृतक्रतु २८२ कहलाते हैं, सदा विद्यमान रहने से नित्य २८३ हैं, मृत्यु को जीतने से मृत्युंजय २८४ हैं, मृत्यु से रहित होने के कारण अमृत्यु २८५ हैं, आपका आत्मा अमृत के समान सदा शान्तिदायक है इसलिए अमृतात्मा २८६ हैं, और अमृत अर्थात् मोक्ष में आपकी उत्कृष्ट उत्पत्ति होने वाली है इसलिए आप अमृतोद्भव २८७ कहलाते हैं ॥१३०॥ आप सदा शुद्ध आत्मस्वरूप में लीन रहते हैं इसलिए ब्रह्मनिष्ठ २८८ कहलाते हैं, उत्कृष्ट ब्रह्मरूप हैं इसलिए परब्रह्म २८९ कहे जाते हैं, ब्रह्म अर्थात् ज्ञान अथवा ब्रह्मचर्य ही आपका स्वरूप है इसलिए आप ब्रह्मात्मा २९० कहलाते हैं, आपको स्वयं शुद्धात्मस्वरूप की प्राप्ति हुई है तथा आप से दूसरों को होती है इसलिए आप ब्रह्मसम्भव २९१ कहलाते हैं, गणधर आदि महाब्रह्माओं के भी अधिपति हैं इसलिए आप महाब्रह्मपति २९२ कहे जाते हैं, आप केवलज्ञान के स्वामी हैं इसलिए ब्रह्मेष्ट २९३ कहलाते हैं, महाब्रह्मपद अर्थात् आर्हन्त्य और सिद्धत्व अवस्था के ईश्वर हैं इसलिए महाब्रह्मपदेश्वर २९४ कहे जाते हैं ॥१३१॥

आप सदा प्रसन्न रहते हैं इसलिए सुप्रसन्न २९५ कहे जाते हैं, आपकी आत्मा कषायों का अभाव हो जाने के कारण सदा प्रसन्न रहती है इसलिए लोग आपको प्रसन्नात्मा २९६ कहते हैं, आप केवलज्ञान, उत्तमक्षमा आदि धर्म और इन्द्रियनिग्रहरूप दम के स्वामी हैं इसलिए ज्ञानधर्मदमप्रभु २९७ कहे जाते हैं, आपकी आत्मा उत्कृष्ट शान्ति से सहित है इसलिए आप प्रशमात्मा २९८ कहलाते हैं, आपकी आत्मा कषायों का अभाव हो जाने से अतिशय शान्त हो चुकी है इसलिए आप प्रशान्तात्मा २९९ कहलाते हैं, और शलाका पुरुषों में सबसे उत्कृष्ट हैं इसलिए विद्वान लोग आपको पुराणपुरुषोत्तम ३०० कहते हैं ॥१३२॥

बड़ा भारी अशोकवृक्ष ही आपका चिह्न है इसलिए आप महाशोकध्वज ३०१ कहलाते हैं, शोक से रहित होने के कारण अशोक ३०२ कहलाते हैं, सबको सुख देने वाले हैं इसलिए 'क' ३०३ कहलाते हैं, स्वर्ग और मोक्ष के मार्ग की सृष्टि करते हैं इसलिए सृष्टा ३०४ कहलाते हैं, आप कमलरूप आसन पर विराजमान हैं इसलिए पद्मविष्टर ३०५ कहलाते हैं, पद्मा अर्थात् लक्ष्मी के स्वामी हैं इसलिए पद्मेश ३०६ कहलाते हैं, विहार के समय देव लोग आपके चरणों के नीचे कमलों की रचना कर देते हैं इसलिए आप पद्मसम्भूति ३०७ कहे जाते हैं, आपकी नाभि कमल के समान है इसलिए लोग आपको पद्मनाभि ३०८ कहते हैं तथा आपसे श्रेष्ठ अन्य कोई नहीं है इसलिए आप अनुत्तर ३०९ कहलाते हैं ॥१३३॥

हे भगवन् आपका यह शरीर माता के पद्माकार गर्भाशय में उत्पन्न हुआ था इसलिए आप पद्मयोनि ३१० कहलाते हैं, धर्मरूप जगत् की उत्पत्ति के कारण होने से जगयोनि ३११ हैं, भव्य जीव तपश्चरण आदि के द्वारा आपको ही प्राप्त करना चाहते हैं इसलिए आप इत्य ३१२ कहलाते हैं, इन्द्र आदि देवों के द्वारा स्तुति करने योग्य हैं इसलिए स्तुत्य ३१३ कहलाते हैं, स्तुतियों के स्वामी होने से स्तुतीश्वर ३१४ कहे जाते हैं, स्तवन करने के योग्य हैं, इसलिए स्तवनार्ह ३१५ कहलाते हैं, इन्द्रियों के ईश अर्थात् वश करने वाले स्वामी हैं, इसलिए हृषीकेश ३१६ कहे जाते हैं, आपने जीतने योग्य समस्त मोहादि शत्रुओं को जीत लिया है इसलिए आप जितजेय ३१७ कहलाते हैं, और आप करने योग्य समस्त क्रियाएँ कर चुके हैं इसलिए कृतक्रिय ३१८ कहे जाते हैं ॥१३४॥

आप बारह सभारूप गण के स्वामी होने से गणाधिप ३१९ कहलाते हैं, समस्त गणों में श्रेष्ठ होने के कारण गणज्येष्ठ ३२० कहे जाते हैं, तीनों लोकों में आप ही गणना करने के योग्य हैं इसलिए गण्य ३२१ कहलाते हैं, पवित्र हैं इसलिए पुण्य ३२२ हैं, समस्त सभा में स्थित जीवों को कल्याण के मार्ग में आगे ले जाने वाले हैं इसलिए गणाग्रणी ३२३ कहलाते हैं, गुणों की खान हैं इसलिए गुणाकर ३२४ कहे जाते हैं, आप गुणों के समूह हैं इसलिए गुणाम्बोधि ३२५ कहलाते हैं, आप गुणों को जानते हैं इसलिए गुणज्ञ ३२६ कहे जाते हैं और गुणों के स्वामी हैं इसलिए गणधर आपको गुणनायक ३२७ कहते हैं ॥१३५॥

गुणों का आदर करते हैं इसलिए गुणादरी ३२८ कहलाते हैं, सत्त्व, रज, तम अथवा काम, क्रोध आदि वैभाविक गुणों को नष्ट करने वाले हैं इसलिए आप गुणोच्छेदी ३२९ कहे जाते हैं, आप वैभाविक गुणों से रहित हैं इसलिए निर्गुण ३३० कहलाते हैं, पवित्र वाणी के धारक हैं इसलिए पुण्यगी ३३१ कहे जाते हैं, गुणों से युक्त हैं इसलिए गुण ३३२ कहलाते हैं, शरण में आये हुए जीवों की रक्षा करने वाले हैं इसलिए शरण्य ३३३ कहे जाते हैं, आपके वचन पवित्र हैं इसलिए पूतवाक् ३३४ कहलाते हैं, स्वयं पवित्र हैं इसलिए पूत ३३५ कहे जाते हैं, श्रेष्ठ हैं इसलिए वरेण्य ३३६ कहलाते हैं और पुण्य के अधिपति हैं इसलिए पुण्यनायक ३३७ कहे जाते हैं ॥१३६॥

आपकी गणना नहीं हो सकती अर्थात् आप अपरिमित गुणों के धारक हैं इसलिए अगण्य १३८ कहलाते हैं, पवित्र बुद्धि के धारक होने से पुण्यधी ३३९ कहे जाते हैं, गुणों से सहित हैं इसलिए गुण्य ३४० कहलाते हैं, पुण्य को करने वाले हैं इसलिए पुण्यकृत् ३४१ कहे जाते हैं, आपका शासन पुण्यरूप अर्थात् पवित्र है इसलिए आप पुण्यशासन ३४२ माने जाते हैं, धर्म के उपवनस्वरूप होने से धर्मराम ३४३ कहे जाते हैं, आपमें अनेक गुणों का ग्राम अर्थात् समूह पाया जाता है इसलिए आप गुणग्राम ३४४ कहलाते हैं, आपने शुद्धोपयोग में लीन होकर पुण्य और पाप दोनों का निरोध कर दिया है इसलिए आप पुण्यापुण्यनिरोधक ३४५ कहे जाते हैं ॥१३७॥

आप हिंसादि पापों से रहित हैं इसलिए पापापेत ३४६ माने गये हैं, आपकी आत्मा से समस्त पाप विगत हो गये हैं इसलिए आप विपापात्मा ३४७ कहे जाते हैं, आपने पापकर्म नष्ट कर दिये हैं इसलिए विपाप्मा ३४८ कहलाते हैं, आपके समस्त कल्मष अर्थात् राग-द्वेष आदि भाव कर्मरूपी मल नष्ट हो चुके हैं इसलिए वीतकल्मष ३४९ माने जाते हैं, परिग्रहरहित होने से निर्द्वन्द्व ३५० हैं, अहंकार से रहित होने के कारण निर्वेद ३५१ कहलाते हैं, आपका मोह निकल चुका है, इसलिए आप निर्मोह ३५२ हैं और उपद्रव उपसर्ग आदि से रहित हैं इसलिए निरुपद्रव ३५३ कहलाते हैं ॥१३८॥

आपके नेत्रों के पलक नहीं झपटे इसलिए आप निर्निमेष ३५४ कहलाते हैं, आप कवलाहार नहीं करते इसलिए निराहार ३५५ हैं, सांसारिक क्रियाओं से रहित हैं इसलिए निष्क्रिय ३५६ हैं, बाधारहित हैं इसलिए निरुपप्लव ३५८ हैं, कलंकरहित होने से निष्कलंक ३५९ हैं, आपने समस्त एनस् अर्थात् पापों को दूर हटा दिया है इसलिए निरस्तैना ३६० कहलाते हैं, समस्त अपराधों को आपने दूर कर दिया है इसलिए निद्रुतागस् ३६१ कहे जाते हैं, और कर्मों के आस्रव से रहित होने के कारण निरास्रव ३६२ कहलाते हैं ॥१३९॥

आप सबसे महान हैं इसलिए विशाल ३६३ कहे जाते हैं, केवलज्ञानरूपी विशाल ज्योति को धारण करने वाले हैं इसलिए विपुलज्योति ३६४ माने जाते हैं, उपमारहित होने से अतुल ३६५ हैं, आपका वैभव अचिन्त्य है इसलिए अचिन्त्यवैभव ३६६ कहलाते हैं, आप नवीन कर्मों का आस्रव रोककर पूर्ण संवर कर चुके हैं इसलिए सुसंवृत ३६७ कहलाते हैं, आपकी आत्मा अतिशय सुरक्षित है अथवा मनोगुप्ति आदि गुप्तियों से युक्त है इसलिए विद्वान लोग आपको सुगुप्तात्मा ३६८ कहते हैं, आप समस्त पदार्थों को अच्छी तरह जानते हैं इसलिए सुभुत् ३६९ कहलाते हैं और आप समीचीन नयों के यथार्थ रहस्य को जानते हैं इसलिए सुनयतत्त्वविद् ३७० कहलाते हैं ॥१४०॥

आप केवलज्ञानरूपी एक विद्या को धारण करने से एकविद्य ३७१ कहलाते हैं, अनेक बड़ी-बड़ी विद्याएं धारण करने से महाविद्य ३७२ कहे जाते हैं, प्रत्यक्षज्ञानी होने से मुनि ३७३ हैं, सबके स्वामी हैं इसलिए परिवृद्ध ३७४ कहलाते हैं, जगत् के जीवों की रक्षा करते हैं इसलिए पति ३७५ हैं, बुद्धि के स्वामी हैं इसलिए धीश ३७६ कहलाते हैं, विद्याओं के भण्डार हैं इसलिए विद्यानिधि ३७७ माने जाते हैं, समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जानते हैं इसलिए साक्षी ३७८ कहलाते हैं, मोक्षमार्ग को प्रकट करने वाले हैं इसलिए विनेता ३७९ कहे जाते हैं और यमराज अर्थात् मृत्यु को नष्ट करने वाले हैं इसलिए विहतान्तक ३८० कहलाते हैं ॥१४१॥

आप सब जीवों की नरकादि गतियों से रक्षा करते हैं इसलिए पिता ३८१ कहलाते हैं, सबके गुरु हैं इसलिए पितामह ३८२ कहे जाते हैं, सबका पालन करने से पाता ३८३ कहलाते हैं, अतिशय शुद्ध हैं इसलिए पवित्र ३८४ कहे जाते हैं, सबको शुद्ध या पवित्र करते हैं इसलिए पावन ३८५ माने जाते हैं, समस्त भव्य तपस्या करके आपके ही अनुरूप होना चाहते हैं इसलिए आप सबकी गति ३८६ अथवा खण्डाकार छेद निकालने पर गतिरहित होने से अगति कहलाते हैं, समस्त जीवों की रक्षा करने से त्राता ३८७ कहलाते हैं, जन्म-जरा-मरणरूपी रोग को नष्ट करने के लिए उत्तम वैद्य हैं इसलिए भिषग्वर ३८८ कहे जाते हैं, श्रेष्ठ होने से वर्च ३८९ हैं, इच्छानुकूल पदार्थों को प्रदान करते हैं इसलिए वरद ३९० कहलाते हैं, आपकी ज्ञानादि-लक्ष्मी अतिशय श्रेष्ठ है इसलिए परम ३९१ कहे जाते हैं, और आत्मा तथा पर पुरुषों को पवित्र करने के कारण पुमान् ३९२ कहलाते हैं ॥१४२॥

द्वादशांग का वर्णन करने वाले हैं इसलिए कवि ३९३ कहलाते हैं, अनादिकाल होने से पुराणपुरुष ३९४ कहे जाते हैं, ज्ञानादि गुणों की अपेक्षा अतिशय वृद्ध हैं इसलिए वर्षीयान् ३९५ कहलाते हैं, श्रेष्ठ होने से ऋषभ ३९६ कहलाते हैं, तीर्थंकरों में आदिपुरुष होने से पुर ३९७ कहे जाते हैं, आप प्रतिष्ठा अर्थात् सम्मान अथवा स्थिरता के कारण हैं इसलिए प्रतिष्ठाप्रसव ३९८ कहलाते हैं, समस्त उत्तम कार्यों के कारण हैं इसलिए हेतु ३९९ कहे जाते हैं, और संसार के एकमात्र गुरु हैं इसलिए भुवनैकपितामह ४०० कहलाते हैं ॥१४३॥

श्रीवृक्ष के चिह्न से चिह्नित हैं इसलिए श्रीवृक्षलक्षण ४०१ कहे जाते हैं, सूक्ष्मरूप होने से श्लक्ष्ण ४०२ कहलाते हैं, लक्षणों से अनपेत अर्थात् सहित हैं इसलिए लक्षण्य ४०३ कहे जाते हैं, आपके शरीर में अनेक शुभ लक्षण विद्यमान हैं इसलिए शुभलक्षण ४०४ कहलाते हैं, आप समस्त पदार्थों को निरीक्षण करने वाले हैं अथवा आप नेत्रेन्द्रिय के द्वारा दर्शन-क्रिया नहीं करते इसलिए निरीक्ष ४०५ कहलाते हैं, आपके नेत्र पुण्डरीककमल के समान सुन्दर हैं इसलिए आप पुण्डरीकाक्ष ४०६ कहलाते हैं, आत्म-गुणों से खूब ही परिपुष्ट हैं इसलिए पुष्कल ४०७ कहे जाते हैं और कमलदल के समान लम्बे नेत्रों को धारण करने वाले होने से पुष्करेक्षण ४०८ कहे जाते हैं ॥१४४॥

सिद्धि को देने वाले हैं इसलिए सिद्धिद ४०९ कहलाते हैं, आपके सब संकल्प सिद्ध हो चुके हैं इसलिए सिद्धसंकल्प ४१० कहे जाते हैं, आपकी आत्मा सिद्ध अवस्था को प्राप्त हो चुकी है इसलिए सिद्धात्मा ४११ कहलाते हैं, आपको सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी मोक्ष-साधन प्राप्त हो चुके हैं इसलिए आप सिद्धसाधन ४१२ कहलाते हैं, आपने जानने योग्य सब पदार्थों को जान लिया है इसलिये बुद्धबोध्य ४१३ कहे जाते हैं, आपकी रत्नत्रयरूपी विभूति बहुत ही प्रशंसनीय है इसलिए आप महाबोधि ४१४ कहलाते हैं, आपके गुण उत्तरोत्तर बढ़ते रहते हैं इसलिए आप वर्धमान ४१५ हैं, और बड़ी-बड़ी ऋद्धियों को धारण करने वाले हैं इसलिए महर्द्धिक ४१६ कहलाते हैं ॥१४५॥

आप अनुयोगरूपी वेदों के अंग अर्थात् कारण हैं इसलिए वेदांग ४१७ कहे जाते हैं, वेद को जानने वाले हैं इसलिए वेदवित् ४१८ कहलाते

हैं, ऋषियों के द्वारा जानने योग्य हैं इसलिए वेद्य ४१९ कहे जाते हैं, आप दिगम्बररूप हैं इसलिए जातरूप ४२० कहे जाते हैं, जानने वालों में श्रेष्ठ हैं इसलिए विदांवर ४२१ कहलाते हैं, आगम अथवा केवलज्ञान के द्वारा जानने योग्य हैं इसलिए वेद्वेद्य ४२२ कहे जाते हैं, अनुभवगम्य होने से स्वसंवेद्य ४२३ कहलाते हैं, आप तीन प्रकार के वेदों से रहित हैं इसलिए विवेद ४२४ कहे जाते हैं और वक्ताओं में श्रेष्ठ होने से वदतांवर ४२५ कहलाते हैं ॥१४६॥

आदि-अन्तरहित होने से अनादिनिधन ४२६ कहे जाते हैं, ज्ञान के द्वारा अत्यन्त स्पष्ट हैं इसलिए व्यक्त ४२७ कहलाते हैं, आपके वचन अतिशय स्पष्ट हैं इसलिए व्यक्तवाक् ४२८ कहे जाते हैं, आपका शासन अत्यन्त स्पष्ट या प्रकट है इसलिए आपको व्यक्तशासन ४२९ कहते हैं, कर्मभूमिरूपी युग के आदि व्यवस्थापक होने से आप युगादिकृत् ४३० कहलाते हैं, युग की समस्त व्यवस्था करने वाले हैं इसलिए युगाधार ४३१ कहे जाते हैं, इस कर्मभूमिरूप युग का प्रारम्भ आपसे ही हुआ था इसलिए आप युगादि ४३२ माने जाते हैं और आप जगत् के प्रारम्भ में उत्पन्न हुए थे इसलिए जगदादिज ४३३ कहलाते हैं ॥१४७॥

आपने अपने प्रभाव या ऐश्वर्य से इन्द्रों को भी अतिक्रान्त कर दिया है इसलिए अतीन्द्र ४३४ कहे जाते हैं, इन्द्रियगोचर न होने से अतीन्द्रिय ४३५ हैं, बुद्धि के स्वामी होने से धीन्द्र ४३६ हैं, परम ऐश्वर्य का अनुभव करते हैं इसलिए महेन्द्र ४३७ कहलाते हैं, अतीन्द्रिय (सूक्ष्म-अन्तरित-दूरार्थ) पदार्थों को देखने वाले होने से अतीन्द्रियार्थदृक् ४३८ कहे जाते हैं, इन्द्रियों से रहित हैं इसलिए अनिन्द्रिय ४३९ कहलाते हैं, अहमिन्द्रों के द्वारा पूजित होने से अहमिन्द्रार्च्य ४४० कहे जाते हैं, बड़े-बड़े इन्द्रों के द्वारा पूजित होने से महेन्द्रमहित ४४१ कहलाते हैं और स्वयं सबसे बड़े हैं इसलिए महान् ४४२ कहे जाते हैं ॥१४८॥

आप समस्त संसार से बहुत ऊँचे उठे हुए हैं अथवा आपका जन्म संसार में सबसे उत्कृष्ट है इसलिए उद्भव ४४३ कहलाते हैं, मोक्ष के कारण होने से कारण ४४४ कहे जाते हैं, शुद्ध भावों को करते हैं इसलिए कर्ता ४४५ कहलाते हैं, संसाररूपी समुद्र के पार को प्राप्त होने से पारग ४४६ माने जाते हैं, आप भव्यजीवों को संसाररूपी समुद्र से तारने वाले हैं इसलिए भवतारक ४४७ कहलाते हैं, आप किसी के भी द्वारा अवगाहन करने योग्य नहीं हैं अर्थात् आपके गुणों को कोई नहीं समझ सकता है इसलिए आप अगाह्य ४४८ कहे जाते हैं, आपका स्वरूप अतिशय गम्भीर या कठिन है इसलिए गहन ४४९ कहलाते हैं, गुप्तरूप होने से गुह्य ४५० हैं, सबसे उत्कृष्ट होने के कारण पदार्थ ४५१ हैं और सबसे अधिक समर्थ होने के कारण परमेश्वर ४५२ माने जाते हैं ॥१४९॥

आपकी ऋद्धियाँ अनन्त, अमेय और अचिन्त्य हैं इसलिए आप अनन्तर्द्धि ४५३, अमेयर्द्धि ४५४ और अचिन्त्यर्द्धि ४५५ कहलाते हैं, आपकी बुद्धि पूर्ण अवस्था को प्राप्त हुई है इसलिए आप समग्रधी ४५६ हैं, सबमें मुख्य होने से प्राग्य ४५७ हैं, प्रत्येक मांगलिक कार्यों में सर्वप्रथम आपका स्मरण किया जाता है इसलिए प्राग्रहर ४५८ हैं, लोक का अग्रभाग प्राप्त करने के सम्मुख हैं इसलिए अभ्यग्र ४५९ हैं, आप समस्त लोगों से विलक्षण-नूतन हैं इसलिए प्रत्यग्र ४६० कहलाते हैं, सबके स्वामी हैं इसलिए अग्य ४६१ कहे जाते हैं, सबके अग्रेसर होने से अग्रिम ४६२ कहलाते हैं और सबसे ज्येष्ठ होने के कारण अग्रज ४६३ कहे जाते हैं ॥१५०॥

आपने बड़ा कठिन तपश्चरण किया है इसलिए महातपा ४६४ कहलाते हैं, आपका बड़ा भारी तेज चारों ओर फैल रहा है इसलिए आप महातेजा ४६५ हैं, आपकी तपश्चर्या का उदक अर्थात् फल बड़ा भारी है इसलिए आप महोदक ४६६ कहलाते हैं, आपका ऐश्वर्य बड़ा भारी है इसलिए आप महोदय ४६७ माने जाते हैं, आपका बड़ा भारी यश चारों ओर फैल रहा है इसलिए आप महायश ४६८ माने जाते हैं, आप विशाल तेज-प्रताप अथवा ज्ञान के धारक हैं इसलिए महाधामा ४६९ कहलाते हैं, आपकी शक्ति अपार है इसलिए विद्वान् लोग आपको महासत्त्व ४७० कहते हैं, और आपका धीरज महान् है इसलिए आप महाधृति ४७१ कहलाते हैं ॥१५१॥

आप कभी अधीर नहीं होते इसलिए महाधैर्य ४७२ कहे जाते हैं, अनन्त वीर्य के धारक होने से महावीर्य ४७३ कहलाते हैं, समवसरणरूप अद्वितीय विभूति को धारण करने से महासम्पत् ४७४ माने जाते हैं, अत्यन्त बलवान् होने से महाबल ४७५ कहलाते हैं, बड़ी भारी शक्ति के धारक होने से महाशक्ति ४७६ माने जाते हैं, अतिशय कान्ति अथवा केवलज्ञान से सहित होने के कारण महाज्योति ४७७ कहलाते हैं, आपका वैभव अपार है इसलिए आपको महाभूति ४७८ कहते हैं और आपके शरीर की द्युति बड़ी भारी है इसलिए आप महाद्युति ४७९ कहे जाते हैं ॥१५२॥

अतिशय बुद्धिमान् हैं इसलिए महामति ४८० कहलाते हैं, अतिशय न्यायवान् हैं इसलिए महानीति ४८१ कहे जाते हैं, अतिशय क्षमावान् हैं इसलिए महाक्षान्ति ४८२ माने जाते हैं, अतिशय दयालु है इसलिए महादय ४८३ कहलाते हैं, अत्यन्त विवेकवान् होने से महाप्राज्ञ ४८४,

अत्यन्त भाग्यशाली होने से महाभाग ४८५, अत्यन्त आनन्द होने से महानन्द ४८६ और सर्वश्रेष्ठ कवि होने से महाकवि ४८७ माने जाते हैं ॥ १५३ ॥

अत्यन्त तेजस्वी होने से महामहा ४८८, विशाल कीर्ति के धारक होने से महाकीर्ति ४८९, अद्भुत कान्ति से युक्त होने के कारण महाकान्ति ४९०, उत्तुंग शरीर के होने से महावपु ४९१, बड़े दानी होने से महादान ४९२, केवलज्ञानी होने से महाज्ञान ४९३, बड़े ध्यानी होने से महायोग ४९४ और बड़े-बड़े गुणों के धारक होने से महागुण ४९५ कहलाते हैं ॥ १५४ ॥

आप अनेक बड़े-बड़े उत्सवों के स्वामी हैं इसलिए महामहपति ४९६ कहलाते हैं, आपने गर्भ आदि पाँच महाकल्याण को प्राप्त किया है इसलिए प्राप्तमहाकल्याणपंचक ४९७ कहे जाते हैं, आप सबसे बड़े स्वामी हैं इसलिए महाप्रभु ४९८ कहलाते हैं, अशोकवृक्ष आदि आठ महाप्रातिहार्यों के स्वामी हैं इसलिए महाप्रातिहार्याधीश ४९९ कहे जाते हैं और आप सब देवों के अधीश्वर हैं इसलिए महेश्वर ५०० कहलाते हैं ॥ १५५ ॥

सब मुनियों में उत्तम-होने से महामुनि ५०१, वचनालापरहित होने से महामौनी ५०२, शुक्लस्थान का ध्यान करने से महाध्यान ५०३, अतिशय जितेन्द्रिय होने से महादम ५०४, अतिशय समर्थ अथवा शान्त होने से महाक्षम ५०५, उत्तम शील से युक्त होने के कारण महाशील ५०६ और तपश्चरणरूपी अग्नि में कर्मरूपी हवि के होम करने से महायज्ञ ५०७ और अतिशय पूज्य होने के कारण महामरण ५०८ कहलाते हैं ॥ १५६ ॥

पाँच महाव्रतों के स्वामी होने से महाव्रतपति ५०९, जगत्पूज्य होने से महा ५१०, विशाल कान्ति के धारक होने से महाकान्तिधर ५११, सबके स्वामी होने से अधिप ५१२, सब जीवों के साथ मैत्रीभाव रखने से महामैत्रीमय ५१३, अपरिमित गुणों के धारक होने से अमेय ५१४, मोक्ष के उत्तमोत्तम उपायों से सहित होने के कारण महोपाय ५१५ और तेजस्वरूप होने से महोमय ५१६ कहलाते हैं ॥ १५७ ॥

अत्यन्त दयालु होने से महाकारुणिक ५१७, सब पदार्थों को जानने से मन्ता ५१८, अनेक मन्त्रों के स्वामी होने से महामन्त्र ५१९, यतियों में श्रेष्ठ होने से महायति ५२०, गम्भीर दिव्यध्वनि के धारक होने से महानाद ५२१, दिव्यध्वनि का गम्भीर उच्चारण होने के कारण महाघोष ५२२, बड़ी-बड़ी पूजाओं के अधिकारी होने से महैज्य ५२३ और समस्त तेज अथवा प्रताप के स्वामी होने से महसांपति ५२४ कहलाते हैं ॥ १५८ ॥

ज्ञानरूपी विशाल यज्ञ के धारक होने से महाध्वरधर ५२५, कर्मभूमि का समस्त भार सँभालने अथवा सर्वश्रेष्ठ होने के कारण धुर्य ५२६, अतिशय उदार होने से महौदार्य ५२७, श्रेष्ठ वचनों से युक्त होने के कारण महैष्ठवाक् ५२८, महान आत्मा के धारक होने से महात्मा ५२९, समस्त तेज के स्थान होने से महसांधाम ५३०, ऋषियों में प्रधान होने से महर्षि ५३१ और प्रशस्त जन्म के धारक होने से महितोदय ५३२ कहलाते हैं ॥ १५९ ॥

बड़े-बड़े क्लेशों को नष्ट करने के लिए अंकुश के समान हैं इसलिए महाक्लेशांकुश ५३३ कहलाते हैं, कर्मरूपी शत्रुओं का क्षय करने में शूरवीर है इसलिए शूर ५३४ कहे जाते हैं, गणधर आदि बड़े-बड़े प्राणियों के स्वामी हैं इसलिए महाभूतपति ५३५ कहे जाते हैं, तीनों लोकों में श्रेष्ठ है इसलिए गुरु ५३६ कहलाते हैं, विशाल पराक्रम के धारक हैं इसलिए महापराक्रम ५३७ कहे जाते हैं, अन्तरहित होने से अनन्त ५३८ हैं, क्रोध के बड़े भारी शत्रु होने से महाक्रोधरिपु ५३९ कहे जाते हैं और समस्त इन्द्रियों को वश कर लेने से वशी ५४० कहलाते हैं ॥ १६० ॥

संसाररूपी महासमुद्र से पार कर देने के कारण महाभवाब्धिसन्तारी ५४१, मोहरूपी महाचल के भेदन करने से महामोहाद्रिसूदन ५४२, सम्यग्दर्शन आदि बड़े-बड़े गुणों की खान होने से महागुणाकर ५४३, क्रोधादि कषायों को जीत लेने से शान्त ५४४, बड़े-बड़े योगियों-मुनियों के स्वामी होने से महायोगीश्वर ५४५ और अतिशय शान्त परिणामी होने से शमी ५४६ कहलाते हैं ॥ १६१ ॥

शुक्लध्यानरूपी महाध्यान के स्वामी होने से महाध्यानपति ५४७, अहिंसारूपी महाधर्म का ध्यान करने से ध्यातमहाधर्म ५४८, महाव्रतों को धारण करने से महाव्रत ५४९, कर्मरूपी महाशत्रुओं को नष्ट करने से महाकर्मारिहा ५५०, आत्मस्वरूप के जानकार होने से आत्मज्ञ ५५१, सब देवों में प्रधान होने से महादेव ५५२ और महान् सामर्थ्य से सहित होने के कारण महेशिता ५५३ कहलाते हैं ॥ १६२ ॥

सब प्रकार के क्लेशों को दूर करने से सर्वक्लेशापह ५५४, आत्मकल्याण सिद्ध करने से साधु ५५५, समस्त दोषों को दूर करने से सर्वदोषहर ५५६, समस्त पापों को नष्ट करने के कारण हर ५५७, असंख्यात गुणों को धारण करने से असंख्येय ५५८, अपरिमित शक्ति को

धारण करने से अप्रमेयात्मा ५५९, शान्तस्वरूप होने से शमात्मा ५६० और उत्तम शान्ति की खान होने से प्रशमाकर ५६१ कहलाते हैं ॥ १६३ ॥

सब मुनियों के स्वामी होने से सर्वयोगीश्वर ५६२, किसी के चिन्तवन में न आने से अचिन्त्य ५६३, भावश्रुतरूप होने से श्रुतात्मा १६४, तीनों लोकों के समस्त पदार्थों को जानने से विष्टरश्रवा ५६५, मन को वश करने से दान्तात्मा ५६६, संयमरूप तीर्थ के स्वामी होने के कारण दमतीर्थेश ५६९, योगमय होने से योगात्मा ५६८ और ज्ञान के द्वारा सब जगह व्याप्त होने के कारण ज्ञानसर्वग ५६९ कहलाते हैं ॥ १६४ ॥

एकाग्रता से आत्मा का ध्यान करने अथवा तीनों लोकों में प्रमुख होने से प्रधान ५७०, ज्ञानस्वरूप होने से आत्मा ५७१, प्रकृष्ट कार्यों के होने से प्रकृति ५७२, उत्कृष्ट लक्ष्मी के धारक होने से परम ५७३, उत्कृष्ट उदय अर्थात् जन्म या वैभव को धारण करने से परमोदय ५७४, कर्मबन्धन के क्षीण हो जाने से प्रक्षीणबन्ध ५७५, कामदेव अथवा विषयाभिलाषा के शत्रु होने से कामारि ५७६, कल्याणकारी होने से क्षेमकृत ५७७ और मंगलमय उपदेश के देने से क्षेमशासन ५७८ कहलाते हैं ॥ १६५ ॥

ओंकाररूप होने से प्रणव ५७९, सबके द्वारा नमस्कृत होने से प्रणत ५८०, जगत् को जीवित रखने से प्राण ५८१, सब जीवों के प्राणदाता अर्थात् रक्षक होने से प्राणद ५८२, नम्रीभूत भव्य जनों के स्वामी होने से प्रणतेश्वर ५८३, प्रमाण अर्थात् ज्ञानमय होने से प्रमाण ५८४, अनन्तज्ञान आदि उत्कृष्ट निधियों के स्वामी होने से प्रणिधि ५८५, समर्थ अथवा प्रवीण होने से दक्ष ५८६, सरल होने से दक्षिण ५८७, ज्ञानरूप यज्ञ करने से अध्वर्यु ५८८ और समीचीन मार्ग के प्रदर्शक होने से अध्वर ५८९ कहलाते हैं ॥ १६६ ॥

सदा सुखरूप होने से आनन्द ५९०, सबको आनन्द देने से नन्दन ५९१, सदा समृद्धिमान् होते रहने से नन्द ५९२, इन्द्र आदि के द्वारा वन्दना करने योग्य होने से वन्द्य ५९३, निन्दारहित होने से अनिन्द्य ५९४, प्रशंसनीय होने से अभिनन्दन ५९५, कामदेव को नष्ट करने से कामहा ५९६, अभिलषित पदार्थों को देने से कामद ५९७, अत्यन्त मनोहर अथवा सबके द्वारा चाहने के योग्य होने से काम्य ५९८, सबके मनोरथ पूर्ण करने से कामधेनु ५९९ और कर्मरूप शत्रुओं को जीतने से अरिजय ६०० कहलाते हैं ॥ १६७ ॥

किसी अन्य के द्वारा संस्कृत हुए बिना ही उत्तम संस्कारों को धारण करने से असंस्कृत-सुसंस्कार ६०१, स्वाभाविक होने से प्राकृत ६०२, रागादि विकारों का नाश करने से वैकृतान्तकृत ६०३, अन्त अर्थात् धर्म अथवा जन्म-मरण संसार का अवसान करने वाले होने से अन्तकृत ६०४, सुन्दर कान्ति, वचन अथवा इन्द्रियों के धारक होने से कान्तगु ६०५, अत्यन्त सुन्दर होने से कान्त ६०६, इच्छित पदार्थ देने से चिन्तामणि ६०७ और भव्यजीवों के लिए अभीष्ट-स्वर्ग-मोक्ष के देने से अभीष्टद ६०८ कहलाते हैं ॥ १६८ ॥

किसी के द्वारा जीते नहीं जा सकने के कारण अजित ६०९, कामरूप शत्रु को जीतने से जितकामारि ६१०, अवधिरहित होने के कारण अमित ६११, अनुपम धर्म का उपदेश देने से अमितशासन ६१२, क्रोध को जीतने से जितक्रोध ६१३, शत्रुओं को जीत लेने से जितामित्र ६१४, क्लेशों को जीत लेने से जितक्लेश ६१५ और यमराज को जीत लेने से जितान्तक ६१६ कहे जाते हैं ॥ १६९ ॥

कर्मरूप शत्रुओं को जीतने वालों में श्रेष्ठ होने से जिनेन्द्र ६१७, उत्कृष्ट आनन्द के धारक होने से परमानन्द ६१८, मुनियों के नाथ होने से मुनीन्द्र ६१९, दुन्दुभि के समान गम्भीर ध्वनि से युक्त होने के कारण दुन्दुभिस्वन ६२०, बड़े-बड़े इन्द्रों के द्वारा वन्दनीय होने से महेन्द्रवन्द्य ६२१, योगियों के स्वामी होने से योगीन्द्र ६२२, यतियों के अधिपति होने से यतीन्द्र ६२३ और नाभिमहाराज के पुत्र होने से नाभिनन्दन ६२४ कहलाते हैं ॥ १७० ॥

नाभिराजा की सन्तान होने से नाभेय ६२५, नाभिमहाराज से उत्पन्न होने के कारण नाभिज ६२६, द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा जन्मरहित होने से अजात ६२७, उत्तम व्रतों के धारक होने से सुव्रत ६२८, कर्मभूमि की समस्त व्यवस्था बताने अथवा मनन-ज्ञानरूप होने से मनु ६२९, उत्कृष्ट होने से उत्तम ६३०, किसी के द्वारा भेदन करने योग्य न होने से अभेद्य ६३१, विनाशरहित होने से अनत्यय ६३२, तपश्चरण करने से अनाश्वान् ६३३, सबमें श्रेष्ठ होने अथवा वास्तविक सुख प्राप्त होने से अधिक ६३४, श्रेष्ठ गुरु होने से अधिगुरु ६३५ और उत्तम वचनों के धारक होने से सुधी ६३६ कहलाते हैं ॥ १७१ ॥

उत्तम बुद्धि होने से सुमेधा ६३७, पराक्रमी होने से विक्रमी ६३८, सबके अधिपति होने से स्वामी ६३९, किसी के द्वारा अनादर हिंसा अथवा निवारण आदि नहीं किये जा सकने के कारण दुराधर्ष ६४०, सांसारिक विषयों की उत्कण्ठा से रहित होने के कारण निरुत्सुक ६४१, विशेषरूप होने से विशिष्ट ६४२, शिष्ट पुरुषों का पालन करने से शिष्टभुक् ६४३, सदाचार पूर्ण होने से शिष्ट ६४४, विश्वास अथवा ज्ञानरूप होने से प्रत्यय ६४५, मनोहर होने से कामन ६४६ और पापरहित होने से अनघ ६४७ कहलाते हैं ॥ १७२ ॥

कल्याण से युक्त होने के कारण क्षेमी ६४८, भव्य जीवों का कल्याण करने से क्षेमंकर ६४९, क्षयरहित होने से अक्षय ६५०, कल्याणकारी धर्म के स्वामी होने से क्षेमधर्मपति ६५१, क्षमा से युक्त होने के कारण क्षमी ६५२, अल्पज्ञानियों के ग्रहण में न आने से अग्राह्य ६५३, सम्यग्ज्ञान के द्वारा ग्रहण करने के योग्य होने से ज्ञाननिग्राह्य ६५४, ध्यान के द्वारा जाने जा सकने के कारण ज्ञानगम्य ६५५ और सबसे उत्कृष्ट होने के कारण निरुत्तर ६५६ हैं ॥१७३॥

पुण्यवान् होने से सुकृती ६५७, शब्दों के उत्पाद होने से धातु ६५८, पूजा के योग्य होने से इज्यार्ह ६५९, समीचीन नयों से सहित होने के कारण सुनय ६६०, लक्ष्मी के निवास होने से श्रीनिवास ६६१ और समवसरण में अतिशय विशेष से चारों ओर मुख दिखने के कारण चतुरानन ६६२, चतुर्वक्त्र ६६३, चतुरास्य ६६४ और चतुर्मुख ६६५ कहलाते हैं ॥१७४॥

सत्यस्वरूप होने से सत्यात्मा ६६६, यथार्थ विज्ञान से सहित होने के कारण सत्यविज्ञान ६६७, सत्यवचन होने से सत्यवाक् ६६८, सत्यधर्म का उपदेश देने से सत्यशासन ६६९, सत्य आशीर्वाद होने से सत्याशी ६७०, सत्यप्रतिज्ञ होने से सत्यसन्धान ६७१, सत्यरूप होने से सत्य ६७२ और सत्य में ही निरन्तर तत्पर रहने से सत्यपरायण ६७३ कहलाते हैं ॥१७५॥

अत्यन्त स्थिर होने से स्थेयान् ६७४, अतिशय स्थूल होने से स्थवीयान् ६७५, भक्तों के समीपवर्ती होने से नेदीदान ६७६, पापों से दूर रहने के कारण दवीयान् ६७७, दूर से ही दर्शन होने के कारण दूरदर्शन ६७८, परमाणु से भी सूक्ष्म होने के कारण अणोःअणीयान् ६७९, अणुरूप न होने से अनणु ६८० और गुरुओं में भी श्रेष्ठ गुरु होने से गरीयसामाद्य गुरु ६८१ कहलाते हैं ॥१७६॥

सदा योगरूप होने से सदायोग ६८२, सदा आनन्द के भोक्ता होने से सदाभोग ६८३, सदा सन्तुष्ट रहने से सदातृप्त ६८४, सदा कल्याणरूप रहने से सदाशिव ६८५, सदा ज्ञानरूप रहने से सदागति ६८६, सदा सुखरूप रहने से सदासौख्य ६८७, सदा केवलज्ञानरूपी विद्या से युक्त होने के कारण सदाविद्य ६८८ और सदा उदयरूप रहने से सदोदय ६८९ माने जाते हैं ॥१७७॥

उत्तमध्वनि होने से सुघोष ६९०, सुन्दर मुख होने से सुमुख ६९१, शान्तरूप होने से सौम्य ६९२, सब जीवों को सुखदायी होने से सुखद ६९३, सबका हित करने से सुहित ६९४, उत्तम हृदय होने से सुहृत् ६९५, सुरक्षित अथवा मिथ्यादृष्टियों के लिए गूढ़ होने से सुगुप्त ६९६, गुप्तियों को धारण करने से गुप्तिभृत् ६९७, सबके रक्षक होने से गोप्ता ६९८, तीनों लोकों का साक्षात्कार करने से लोकाध्यक्ष ६९९ और इन्द्रियविजयरूपी दम के स्वामी होने से दमेश्वर ७०० कहलाते हैं ॥१७८॥

इन्द्रों के गुरु होने से बृहद्बृहस्पति ७०१, प्रशस्त वचनों के धारक होने से वाग्मी ७०२, वचनों के स्वामी होने से वाचस्पति ७०३, उत्कृष्ट बुद्धि के धारक होने से उदारधी ७०४, मनन शक्ति से युक्त होने के कारण मनीषी ७०५, चातुर्यपूर्ण बुद्धि से सहित होने के कारण धिषण ७०६, धारणपटु बुद्धि से सहित होने के कारण धीमान् ७०७, बुद्धि के स्वामी होने से शेमुषीश ७०८ और सब प्रकार के वचनों के स्वामी होने से गिरापति ७०९ कहलाते हैं ॥१७९॥

अनेकरूप होने से नैकरूप ७१०, नयों के द्वारा उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त होने से नयोत्तुङ्ग ७११, अनेक गुणों को धारण करने से नैकात्मा ७१२, वस्तु के अनेक धर्मों का उपदेश देने से नैकधर्मकृत् ७१३, साधारण पुरुषों के द्वारा जानने के अयोग्य होने से अविज्ञेय ७१४, तर्कवितर्करहित स्वरूप से युक्त होने के कारण अप्रतर्क्यात्मा ७१५, समस्त कृत्य जानने से कृतज्ञ ७१६ और समस्त पदार्थों का लक्षण-स्वरूप बतलाने से कृतलक्षण ७१७ कहलाते हैं ॥१८०॥

अन्तरंग में ज्ञान होने से ज्ञानगर्भ ७१८, दयालु हृदय होने से दयागर्भ ७१९, रत्नत्रय से युक्त होने के कारण अथवा गर्भ कल्याण के समय रत्नमयी वृष्टि होने से रत्नगर्भ ७२०, देदीप्यमान होने से प्रभास्वर ७२१, कमलाकार गर्भाशय में स्थित होने के कारण पद्मगर्भ ७२२, ज्ञान के भीतर समस्त जगत् के प्रतिबिम्बित होने से जगद्गर्भ ७२३, गर्भवास के समय पृथिवी के सुवर्णमय हो जाने अथवा सुवर्णमय वृष्टि होने से हेमगर्भ ७२४ और सुन्दर दर्शन होने से सुदर्शन ७२५ कहलाते हैं ॥१८१॥

अन्तरंग तथा बहिरंग लक्ष्मी से युक्त होने के कारण लक्ष्मीवान् ७२६, देवों के स्वामी होने से त्रिदशाध्यक्ष ७२७, अत्यन्त दृढ़ होने से द्रढीयान् ७२८, सबके स्वामी होने से इन ७२९, सामर्थ्यशाली होने से ईशिता ७३०, भव्यजीवों का मनहरण करने से मनोहर ७३१, सुन्दर अंगों के धारक होने से मनोज्ञांग ७३२, धैर्यवान् होने से धीर ७३३ और शासन की गम्भीरता से गम्भीरशासन ७३४ कहलाते हैं ॥१८२॥

धर्म के स्तम्भरूप होने से धर्मयुप ७३५, दयारूप यज्ञ के करने वाले होने से दयायाग ७३६, धर्मरूपी रथ की चक्रधारा होने से धर्मनेमि ७३७, मुनियों के स्वामी होने से मुनीश्वर ७३८, धर्मचक्ररूपी शस्त्र के धारक होने से धर्मचक्रायुध ७३९, आत्मगुणों में क्रीड़ा करने से देव

७४०, कर्मों का नाश करने से कर्महा ७४१, और धर्म का उपदेश देने से धर्मघोषण ७४२ कहलाते हैं ॥१८३॥

आपके वचन कभी व्यर्थ नहीं जाते इसलिए अमोघवाक् ७४३, आपकी आज्ञा कभी निष्फल नहीं होती इसलिए अमोघाज्ञ ७४४, मलरहित हैं इसलिए निर्मल ७४५, आपका शासन सदा सफल रहता है इसलिए अमोघशासन ७४६, सुन्दर रूप के धारक हैं इसलिए सुरूप ७४७, उत्तम ऐश्वर्य युक्त हैं इसलिए सुभग ७४८, आपने पर पदार्थों का त्याग कर दिया है इसलिए त्यागी ७४९, सिद्धान्त, समय अथवा आचार्य के ज्ञाता हैं इसलिए समयज्ञ ७५० और समाधानरूप हैं इसलिए समाहित ७५१ कहलाते हैं ॥१८४॥

सुखपूर्वक स्थित रहने से सुस्थित ७५२, आरोग्य अथवा आत्मस्वरूप की निश्चलता को प्राप्त होने से स्वास्थ्यभाक् ७५३, आत्मस्वरूप में स्थित होने से स्वस्थ ७५४, कर्मरूप रज से रहित होने के कारण नीरजस्क ७५५, सांसारिक उत्सवों से रहित होने के कारण निरुद्धव ७५६, कर्मरूपी लेप से रहित होने के कारण अलेप ७५७, कलंकरहित आत्मा से युक्त होने के कारण निष्कलंकात्मा ७५८, राग आदि दोषों से रहित होने के कारण वीतराग ७५९ और सांसारिक विषयों की इच्छा से रहित होने के कारण गतस्पृह ७६० कहलाते हैं ॥१८५॥

आपने इन्द्रियों को वश कर लिया है इसलिए वश्येन्द्रिय ७६१ कहलाते हैं, आपकी आत्मा कर्मबन्धन से छूट गयी है इसलिए विमुक्तात्मा ७६२ कहे जाते हैं, आपका कोई भी शत्रु या प्रतिद्वन्द्वी नहीं है इसलिए निःसपत्न ७६३ कहलाते हैं, इन्द्रियों को जीत लेने से जितेन्द्रिय ७६४ कहे जाते हैं, अत्यन्त शान्त होने से प्रशान्त ७६५ हैं, अनन्त तेज के धारक ऋषि होने से अनन्तधामर्षि ७६६ हैं, मंगलरूप होने से मंगल ७६७ हैं, मल को नष्ट करने वाले हैं इसलिए मलहा ७६८ कहलाते हैं और व्यसन अथवा दुःख से रहित हैं इसलिए अनघ ७६९ कहे जाते हैं ॥ १८६॥

आपके समान अन्य कोई नहीं है इसलिए आप अनीदृक् ७७० कहलाते हैं, सबके लिए उपमा देने योग्य हैं इसलिए उपमाभूत ७७१ कहे जाते हैं, सब जीवों के भाग्यस्वरूप होने के कारण दिष्टि ७७२ और दैव ७७३ कहलाते हैं, इन्द्रियों के द्वारा जाने नहीं जा सकते अथवा केवलज्ञान होने के बाद ही आप गो **अर्थ**ात् पृथ्वी पर विहार नहीं करते किन्तु आकाश में गमन करते हैं इसलिए अगोचर ७७४ कहे जाते हैं, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श से रहित होने के कारण अमूर्त ७७५ हैं, शरीररहित हैं इसलिए मूर्तिमान ७७६ कहलाते हैं, अद्वितीय हैं इसलिए एक ७७७ कहे जाते हैं, अनेक गुणों से सहित हैं इसलिए नैक ७७८ कहलाते हैं और आत्मा को छोड़कर आप अन्य अनेक पदार्थों को नहीं देखते-उनमें तल्लीन नहीं होते इसलिए नानैकतत्त्वदृक् ७७९ कहे जाते हैं ॥१८७॥

अध्यात्मशास्त्रों के द्वारा जानने योग्य होने से अध्यात्मगम्य ७८०, मिथ्यादृष्टि जीवों के जानने योग्य न होने से अगम्यात्मा ७८१, योग के जानकार होने से योगविद् ७८२, योगियों के द्वारा वन्दना किये जाने से योगिवन्दित ७८३, केवलज्ञान की अपेक्षा सब जगह व्याप्त होने से सर्वत्रग ७८४, सदा विद्यमान रहने से सदाभावी ७८५ और त्रिकालविषयक समस्त पदार्थों को देखने से त्रिकालविषयार्थदृक् ७८६ कहलाते हैं ॥१८८॥

सबको सुख के करने वाले होने से शंकर ७८७, सुख के बतलाने वाले होने से शंवद ७८८, मन को वश करने से दान्त ७८९, इन्द्रियों का दमन करने से दम्पी ७९०, क्षमा धारण करने में तत्पर होने से क्षान्तिपरायण ७९१, सबके स्वामी होने से अधिप ७९२, उत्कृष्ट आनन्दरूप होने से परमानन्द ७९३, उत्कृष्ट अथवा पर और निज की आत्मा को जानने से परात्मज्ञ ७९४ और श्रेष्ठ से श्रेष्ठ होने के कारण परात्पर ७९५ कहलाते हैं ॥१८९॥

तीनों लोकों के प्रिय अथवा स्वामी होने से त्रिजगद्वल्लभ ७९६, पूजनीय होने से अभ्यर्च्य ७९७, तीनों लोकों में मंगलदाता होने से त्रिजगन्मंगलोदय ७९८, तीनों लोकों के इन्द्रों-द्वारा पूजनीय चरणों से युक्त होने के कारण त्रिजगत्पतिपूज्याङ्घ्रि ७९९ और कुछ समय के बाद तीनों लोकों के अग्रभाग पर चूड़ामणि के समान विराजमान होने के कारण त्रिलोकाग्रशिखामणि ८०० कहलाते हैं ॥१९०॥

तीनों कालसम्बन्धी समस्त पदार्थों को देखने वाले हैं इसलिए त्रिकालदर्शी ८०१, लोकों के स्वामी होने से लोकेश ८०२, समस्त लोगों के पोषक या रक्षक होने से लोकधाता ८०३, व्रतों को स्थिर रखने से दृढव्रत ८०४, सब लोकों से श्रेष्ठ होने के कारण सर्वलोकातिग ८०५, पूजा के योग्य होने से पूज्य ८०६ और सब लोगों को मुख्यरूप से अभीष्ट स्थान तक पहुंचाने में समर्थ होने से सर्वलोकैकसारथि ८०७ कहलाते हैं ॥१९१॥

सबसे प्राचीन होने से पुराण ८०८, आत्मा के श्रेष्ठ गुणों को प्राप्त होने से पुरुष ८०९, सर्व प्रथम होने से पूर्व ८१०, अंग और पूर्वों का विस्तार करने से कृतपूर्वागविस्तर ८११, सब देवों में मुख्य होने से आदिदेव ८१२, पुराणों में प्रथम होने से पुराणाद्य ८१३, महान अथवा

प्रथम तीर्थकर होने से पुरुदेव ८१४ और देवों के भी देव होने से अधिदेवता ८१५ कहलाते हैं ॥१९२॥

इस अवसर्पिणी युग के मुख्य पुरुष होने से युगमुख्य ८१६, इसी युग में सबसे बड़े होने से युगज्येष्ठ ८१७, कर्मभूमिरूप युग के प्रारम्भ में तत्कालोचित मर्यादा के उपदेशक होने से युगादिस्थितिदेशक ८१८, कल्याण अर्थात् सुवर्ण के समान कान्ति के धारक होने से कल्याणवर्ण ८१९, कल्याणरूप होने से कल्याण ८२०, मोक्ष प्राप्त करने में सज्ज अर्थात् तत्पर अथवा निरामय नीरोग होने से कल्य ८२१, और कल्याणकारी लक्षणों से युक्त होने के कारण कल्याणलक्षण ८२२ कहलाते हैं ॥१९३॥

आपका स्वभाव कल्याणरूप है इसलिए आप कल्याणप्रकृति ८२३ कहलाते हैं, आपकी आत्मा देदीप्यमान सुवर्ण समान निर्मल है इसलिए आप दीप्रकल्याणात्मा ८२४ कहे जाते हैं, कर्मकालिमा से रहित हैं इसलिए विकल्मष ८२५ कहलाते हैं, कलंकरहित हैं इसलिए विकलंक ८२६ कहे जाते हैं, शरीररहित हैं इसलिए कलातीत ८२७ कहलाते हैं, पापों को नष्ट करने वाले हैं इसलिए कलिलघ्न ८२८ कहे जाते हैं, और अनेक कलाओं को धारण करने वाले हैं इसलिए कलाधर ८२९ माने जाते हैं ॥१९४॥

देवों के देव होने से देवदेव ८३०, जगत् के स्वामी होने से जगन्नाथ ८३१, जगत् के भाई होने से जगद्धन्धु ८३२, जगत् के स्वामी होने से जगद्धिभु ८३३, जगत् का हित चाहने वाले होने से जगद्धितैषी ८३४, लोक को जानने से लोकज्ञ ८३५, सब जगह व्याप्त होने से सर्वग ८३६ और जगत् में सबमें ज्येष्ठ होने के कारण जगदग्रज ८३७ कहलाते हैं ॥१९५॥

चर, स्थावर सभी के गुरु होने से चराचरगुरु ८३८, बड़ी सावधानी के साथ हृदय में सुरक्षित रखने से गोप्य ८३९, गूढ़ स्वरूप के धारक होने से गूढात्मा ८४०, अत्यन्त गूढ़ विषयों को जानने से गूढ़गोचर ८४१, तत्काल में उत्पन्न हुए के समान निर्विकार होने से सद्योजात ८४२, प्रकाशस्वरूप होने से प्रकाशात्मा ८४३ और जलती हुई अग्नि के समान शरीर की प्रभा के धारक होने से ज्वलज्ज्वलनसप्रभ ८४४ कहलाते हैं ॥१९६॥

सूर्य के समान तेजस्वी होने से आदित्यवर्ण ८४५, सुवर्ण के समान कान्ति वाले होने से भर्माभ ८४६, उत्तमप्रभा से युक्त होने के कारण सुप्रभ ८४७, सुवर्ण के समान आभा होने से कनकप्रभ ८४८, सुवर्णवर्ण ८४९ और रुक्माभ ८५० तथा करोड़ों सूर्यों के समान देदीप्यमान प्रभा के धारक होने से सूर्यकोटिसमप्रभ ८५१ कहे जाते हैं ॥१९७॥

सुवर्ण के समान भास्वर होने से तपनीयनिभ ८५२, ऊँचा शरीर होने से तुंग ८५३, प्रातःकाल के बालसूर्य के समान प्रभा के धारक होने से बालार्काभ ८५४, अग्नि के समान कान्ति वाले होने से अनलप्रभ ८५५, संध्याकाल के बादलों के समान सुन्दर होने से सन्ध्याभ्रवभु ८५६, सुवर्ण के समान आभा वाले होने से हेमाभ ८५७ और तपाये हुए सुवर्ण के समान प्रभा से युक्त होने के कारण तप्तचामीकरप्रभ ८५८ कहलाते हैं ॥१९८॥

अत्यन्त तपाये हुए सुवर्ण के समान कान्ति वाले होने से निष्टप्तकनकच्छाय ८५९, देदीप्यमान सुवर्ण के समान उज्ज्वल होने से कनत्कांचनसन्निभ ८६० तथा सुवर्ण के समान वर्ण होने से हिरण्यवर्ण ८६१, स्वर्णाभ ८६२, शातकुम्भनिभप्रभ ८६३, द्युम्नाभ ८६४, जातरूपाभ ८६५, तप्तजाम्बुनदद्युति ८६६, सुधौतकलधौतश्री ८६७ और हाटकद्युति ८६८ तथा दैदीप्यमान होने से प्रदीप्त ८६६ कहलाते हैं ॥१९९-२००॥

शिष्ट अर्थात् उत्तम पुरुषों के इष्ट होने से शिष्टेष्ट ८७०, पुष्टि को देने वाले होने से पुष्टिद ८७१, बलवान् होने से अथवा लाभान्तराय कर्म के क्षय से प्रत्येक समय प्राप्त होने वाले अनन्त शुभ पुद्गलवर्गणाओं से परमौदारिक शरीर के पुष्ट होने से पुष्ट ८७२, प्रकट दिखाई देने से स्पष्ट ८७३, स्पष्ट अक्षर होने से स्पष्टाक्षर ८७४, समर्थ होने से क्षम ८७५, कर्मरूप शत्रुओं को नाश करने से शत्रुघ्न ८७६, शत्रुरहित होने से अप्रतिघ्न ८७७, सफल होने से अमोघ ८७८, उत्तम उपदेशक होने से प्रशास्ता ८७९, रक्षक होने से शासिता ८८० और अपने आप उत्पन्न होने से स्वभू ८८१ कहलाते हैं ॥२०१॥

शान्त होने से शान्तिनिष्ठ ८८२, मुनियों में श्रेष्ठ होने से मुनिज्येष्ठ ८८३, कल्याण परम्परा के प्राप्त होने से शिवताति ८८४, कल्याण अथवा मोक्ष प्रदान करने से शिवप्रद ८८५, शान्ति को देने वाले होने से शान्तिद ८८६, शान्ति के कर्ता होने से शान्तिकृत् ८८७, शान्तस्वरूप होने से शान्ति ८८८, कान्तियुक्त होने से कान्तिमान् ८८५ और इच्छित पदार्थ प्रदान करने से कामितप्रद ८९० कहलाते हैं ॥२०२॥

कल्याण के भण्डार होने से श्रेयोनिधि ८९१, धर्म के आधार होने से अधिष्ठान ८९२, अन्यकृत प्रतिष्ठा से रहित होने के कारण अप्रतिष्ठ ८९३, प्रतिष्ठा अर्थात् कीर्ति से युक्त होने के कारण प्रतिष्ठित ८९४, अतिशय स्थिर होने से सुस्थिर ८९५, समवसरण में गमनरहित होने से

स्थावर ८९६, अचल होने से स्थाणु ८९७, अत्यन्त विस्तृत होने से प्रथीयार ८९८, प्रसिद्ध होने से प्रथित ८९९ और ज्ञानादि गुणों की अपेक्षा महान होने से पृथु ९०० कहलाते हैं ॥२०३॥

दिशारूप वस्त्रों को धारण करने-दिगम्बर रहने से दिग्वासा ९०१, वायुरूपी करधनी को धारण करने से वातरशन ९०२, निर्ग्रन्थ मुनियों के स्वामी होने से निर्ग्रन्थेश ९०३, वस्त्ररहित होने से निरम्बर ९०४, परिग्रहरहित होने से निष्किञ्चन ९०५, इच्छारहित होने से निराशंस ९०६, ज्ञानरूपी नेत्र के धारक होने से ज्ञानचक्षु ९०७ और मोह से रहित होने के कारण अमोमुह ९०८ कहलाते हैं ॥२०४॥

तेज के समूह होने से तेजोराशि ९०९, अनन्त प्रताप के धारक होने से अनन्तौज ९१०, ज्ञान के समुद्र होने से ज्ञानाब्धि ९११, शील के समुद्र होने से शीलसागर ९१२, तेजःस्वरूप होने से तेजोमय ९१३, अपरिमित ज्योति के धारक होने से अमितज्योति ९१४, भास्वर शरीर होने से ज्योतिर्मूर्ति ९१५ और अज्ञानरूप अन्धकार को नष्ट करने वाले होने से तमोऽपह ९१६ कहलाते हैं । ॥२०५॥

तीनों लोकों में मस्तक के रत्न के समान अतिशय श्रेष्ठ होने से जगच्चूडामणि ९१७, देदीप्यमान होने से दीप्त ९१८, सुखी अथवा शान्त होने से शंवान् ९१९, विघ्नों के नाशक होने से विघ्नविनायक ९२०, कलह अथवा पापों को नष्ट करने से कलिघ्न ९२१, कर्मरूप शत्रुओं के घातक होने से कर्मशत्रुघ्न ९२२ और लोक तथा अलोक को प्रकाशित करने से लोकालोकप्रकाशक ९२३ कहलाते हैं ॥२०६॥

निद्रा रहित होने से अनिन्द्रालु ९२४, तन्द्रा-आलस्य रहित होने से अतन्द्रालु ९२५, सदा जागृत रहने से जागरूक ९२६, ज्ञानमय रहने से प्रभामय ९२७, अनन्त चतुष्टयरूप लक्ष्मी के स्वामी होने से लक्ष्मीपति ९२८, जगत् को प्रकाशित करने से जगज्ज्योति ९२९, अहिंसा धर्म के राजा होने से धर्मराज ९३० और प्रजा के हितैषी होने से प्रजाहित ९३१ कहलाते हैं ॥२०७॥

मोक्ष के इच्छुक होने से मुमुक्षु ९३२, बन्ध और मोक्ष का स्वरूप जानने से बन्धमोक्षज्ञ ९३३, इन्द्रियों को जीतने से जिताक्ष ९३४, काम को जीतने से जितमन्मथ ९३५, अत्यन्त शान्तरूपी रस को प्रदर्शित करने के लिए नट के समान होने से प्रशान्तरसशैलूष ९३६ और भव्यसमूह के स्वामी होने से भव्यपेटकनायक ९३७ कहलाते हैं ॥२०८॥

धर्म के आद्यवक्ता होने से मूलकर्ता ९३८, समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने से अखिलज्योति ९३९, कर्ममल को नष्ट करने से मलघ्न ९४०, मोक्षमार्ग के मुख्य कारण होने से मूलकारण ९४१, यथार्थवक्ता होने से आप्त ९४२, वचनों के स्वामी होने से वागीश्वर ९४३, कल्याणस्वरूप होने से श्रेयान् ९४४, कल्याणरूप वाणी के होने से श्रायसोक्ति ९४५, और सार्थकवचन होने से निरुक्तवाक् ९४६ कहलाते हैं ॥२०९॥

श्रेष्ठ वक्ता होने से प्रवक्ता ९४७, वचनों के स्वामी होने से वचसामीश ९४८, कामदेव को जीतने के कारण मारजित् ९४९, संसार के समस्त पदार्थों को जानने से विश्वभाववित् ९५०, उत्तम शरीर से युक्त होने के कारण सुतनु ९५१, शीघ्र ही शरीर बन्धन से रहित हो मोक्ष की प्राप्ति होने से तनुनिर्मुक्त ९५२, प्रशस्त विहायोगति नामकर्म के उदय से आकाश में उत्तम गमन करने, आत्मस्वरूप में तल्लीन होने अथवा उत्तमज्ञानमय होने से सुगत ९५३ और मिथ्यानियों को नष्ट करने से हतदुर्नय ९५४ कहलाते हैं ॥२१०॥

लक्ष्मी के ईश्वर होने से श्रीश ९५५ कहलाते हैं, लक्ष्मी आपके चरणकमलों की सेवा करती है इसलिए श्रीश्रितपादाब्ज ९५६ कहे जाते हैं, भयरहित हैं इसलिए वीतभी ९५७ कहलाते हैं, दूसरों का भय नष्ट करने वाले हैं इसलिए अभयंकर ९५८ माने जाते हैं, समस्त दोषों को नष्ट कर दिया है इसलिए उत्सन्नदोष ९५९ कहलाते हैं, विघ्न रहित होने से निर्विघ्न ९६०, स्थिर होने से निश्चल ९६१ और लोगों के स्नेहपात्र होने से लोक-वत्सल ९६२ कहलाते हैं ॥२११॥

समस्त लोगों में उत्कृष्ट होने से लोकोत्तर ९६३, तीनों लोकों के स्वामी होने से लोकपति ९६४, समस्त पुरुषों के नेत्रस्वरूप होने से लोकचक्षु ९६५, अपरिमित बुद्धि के धारक होने से अपारधी ९६६, सदा स्थिर बुद्धि के धारक होने से धीरधी ९६७, समीचीन मार्ग को जान लेने से बुद्धसन्मार्ग ९६८, कर्ममल से रहित होने के कारण शुद्ध ९६९ और सत्य तथा पवित्र वचन बोलने से सत्यसूनृतवाक् ९७० कहलाते हैं ॥ २१२॥

बुद्धि की पराकाष्ठा को प्राप्त होने से प्रज्ञापारमित ९७१, अतिशय बुद्धिमान् होने से प्राज्ञ ९७२, विषय कषायों से उपरत होने के कारण यति ९७३, इन्द्रियों को वश करने से नियमितेन्द्रिय ९७४, पूज्य होने से भदन्त ९७५, सब जीवों का भला करने से भद्रकृत् ९७६, कल्याणरूप होने से भद्र ९७७, मनचाही वस्तुओं के दाता होने से कल्पवृक्ष ९७८ और इच्छित वर प्रदान करने से वरप्रद ९७९ कहलाते हैं ॥२१३॥

कर्मरूप शत्रुओं को उखाड़ देने से समुन्मूलितकर्मारि ९८०, कर्मरूप ईधन को जलाने के लिए अग्नि के समान होने से कर्मकाष्ठाशुशुक्षणि

१८१, कार्य करने में निपुण होने से कर्मण्य १८२, समर्थ होने से कर्मठ १८३, उत्कृष्ट अथवा उन्नत होने से प्रांशु १८४ और छोड़ने तथा ग्रहण करने योग्य पदार्थों के जानने में विद्वान् होने से हेयादेयविचक्षण १८५ कहलाते हैं ॥२१४॥

अनन्तशक्तियों के धारक होने से अनन्तशक्ति १८६, किसी के द्वारा छिन्न-भिन्न करने योग्य न होने से अच्छेद्य १८७, जन्म, जरा और मरण इन तीनों का नाश करने से त्रिपुरारि १८८, त्रिकालवर्ती पदार्थों के जानने से त्रिलोचन १८९, त्रिनेत्र १९०, त्र्यम्बक १९१ और त्र्यक्ष १९२ तथा केवलज्ञानरूप नेत्र से सहित होने के कारण केवलज्ञानवीक्षण १९३ कहलाते हैं ॥२१५॥

सब ओर से मंगलरूप होने के कारण समन्तभद्र १९४, कर्मरूप शत्रुओं के शान्त हो जाने से शान्तारि १९५, धर्म के व्यवस्थापक होने से धर्माचार्य १९६, दया के भण्डार होने से दयानिधि १९७, सूक्ष्म पदार्थों को भी देखने से सूक्ष्मदर्शी १९८, कामदेव को जीत लेने से जितानङ्ग १९९, कृपायुक्त होने से कृपालु १००० और धर्म के उपदेशक होने से धर्मदेशक १००१ कहलाते हैं ॥२१६॥

शुभयुक्त होने से शुभंयु १००२, सुख के अधीन होने से सुखसाद्भूत १००३, पुण्य के समूह होने से पुण्यराशि १००४, रोगरहित होने से अनामय १००५, धर्म की रक्षा करने से धर्मपाल १००६, जगत् की रक्षा करने से जगत्पाल १००७ और धर्मरूपी साम्राज्य के स्वामी होने से धर्मसाम्राज्यनायक १००८ कहलाते हैं ॥२१७॥

हे तेज के अधिपति जिनेन्द्रदेव, आगम के ज्ञाता विद्वानों ने आपके ये एक हजार आठ नाम संचित किये हैं, जो पुरुष आपके इन नामों का ध्यान करता है उसकी स्मरणशक्ति अत्यन्त पवित्र हो जाती है ॥२१८॥

हे प्रभो, यद्यपि आप इन नामसूचक वचनों के गोचर हैं तथापि वचनों के अगोचर ही माने गये हैं, यह सब कुछ है परन्तु स्तुति करने वाला आप से निःसन्देह अभीष्ट फल को पा लेता है ॥२१९॥

इसलिए हे भगवन आप ही इस जगत् के बन्धु हैं, आप ही जगत् के वैद्य हैं, आप ही जगत् का पोषण करने वाले हैं और आप ही जगत् का हित करने वाले हैं ॥२२०॥

हे नाथ, जगत् को प्रकाशित करने वाले आप एक ही हैं । ज्ञान तथा दर्शन इस प्रकार द्विविध उपयोग के धारक होने से दो रूप हैं, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इस प्रकार त्रिविध मोक्षमार्गमय होने से तीन रूप हैं, अपने आपमें उत्पन्न हुए अनन्तचतुष्टयरूप होने से चार रूप हैं ॥२२१॥

पंचपरमेष्ठी स्वरूप होने अथवा गर्भादि पंच कल्याणकों के नायक होने से पांच रूप हैं, जीव-पुद्गल, धर्म-अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यों के ज्ञाता होने से छह रूप हैं, नैगम आदि सात नयों के संग्रहस्वरूप होने से सात रूप हैं, सम्यक्त्व आदि आठ अलौकिक गुणरूप होने से आठ रूप हैं, नौ केवललब्धियों से सहित होने के कारण नव रूप हैं और महाबल आदि दस अवतारों से आपका निर्धार होता है इसलिए दस रूप हैं इस प्रकार हे परमेश्वर, संसार के दुःखों से मेरी रक्षा कीजिए ॥२२२-२२३॥

हे भगवन्, हम लोग आपकी नामावलि से बने हुए स्तोत्रों की माला से आपकी पूजा करते हैं, आप प्रसन्न होइए, और हम सबको अनुगृहीत कीजिए ॥२२४॥

भक्त लोग इस स्तोत्र का स्मरण करने मात्र से ही पवित्र हो जाते हैं और जो इस पुण्य पाठ का पाठ करते हैं वे कल्याण के पात्र होते हैं ॥ २२५॥

इसलिए जो बुद्धिमान पुरुष पुण्य की इच्छा रखते हैं अथवा इन्द्र की परम विभूति प्राप्त करना चाहते हैं वे सदा ही इस स्तोत्र का पाठ करें ॥२२६॥

इस प्रकार इन्द्र ने चर और अचर जगत् के गुरु भगवान् वृषभदेव की स्तुति कर फिर तीर्थ विहार के लिए नीचे लिखी हुई प्रार्थना की ॥ २२७॥

हे भगवन् ! भव्य जीवरूपी धान्य पापरूपी अनावृष्टि से सूख रहे हैं सो हे विभो, उन्हें धर्मरूपी अमृत से सींचकर उनके लिए आप ही शरण होइए ॥२२८॥

हे भव्य जीवों के समूह के स्वामी, हे फहराती हुई दयारूपी ध्वजा से सुशोभित जिनेन्द्रदेव, आपकी विजय के उद्योग को सिद्ध करने वाला यह धर्मचक्र तैयार है ॥२२९॥

हे भगवन् ! मोक्षमार्ग को रोकने वाली मोह की सेना को नष्ट कर चुकने के बाद अब आपका यह समीचीन मोक्षमार्ग के उपदेश देने का

समय प्राप्त हुआ है ॥२३०॥

इस प्रकार जिन्होंने समस्त तत्त्वों का स्वरूप जान लिया है और जो स्वयं ही विहार करना चाहते हैं ऐसे भगवान् वृषभदेव के सामने इन्द्र के वचन पुनरुक्त हुए से प्रकट हुए थे । भावार्थ-उस समय भगवान् स्वयं ही विहार करने के लिए तत्पर थे इसलिए इन्द्र-द्वारा की हुई प्रार्थना व्यर्थ-सी मालूम होती थी ॥२३१॥

अथानन्तर-जो तीनों लोकों में क्षोभ उत्पन्न करने वाले हैं और तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृति ही जिनका सारथि-सहायक है ऐसे जिनेन्द्रदेवरूपी सूर्य भव्य जीवरूपी कमलों का अनुग्रह करने के लिए तैयार हुए ॥२३२॥

जो मोक्षरूपी महल पर चढ़ने के लिए सीढ़ियों के समान छत्रत्रय से सुशोभित हो रहे हैं, जिन पर क्षीरसमुद्र के फेन के समान सुशोभित चमर ढोले जा रहे हैं, मधुर, गम्भीर, धीर तथा दिव्य महाध्वनि से जिनका शरीर शब्दायमान हो रहा है, जो करोड़ सूर्यों से स्पर्धा करने वाले भामण्डल से देदीप्यमान हो रहे हैं, जिनके समीप ही देवताओं के द्वारा बजाये हुए दुन्दुभि गम्भीर शब्द कर रहे हैं, जो स्वामी हैं, देवसमूह के हाथों से छोड़ी हुई पुष्पवर्षा से जिनके चरण-कमलों की पूजा हो रही है, जो मेरु पर्वत के शिखर के समान अतिशय ऊँचे सिंहासन के स्वामी हैं, छाया और फलसहित अशोकवृक्ष से जिनकी शान्त चेष्टाएँ प्रकट हो रही हैं, जिनके समवसरण की पृथ्वी का घेरा धूलीसाल नामक कोट से घिरा हुआ है, जिन्होंने मानस्तम्भों के द्वारा अन्य मिथ्यादृष्टियों के अहंकार तथा सन्देह को नष्ट कर दिया है, जो स्वच्छ जल से भरी हुई परिखा के समीपवर्ती लतावनों से घिरी हुई और अपूर्व वैभव से सम्पन्न सभाभूमि को अलंकृत कर रहे हैं, समस्त गोपुरद्वारों से उन्नत और उत्कृष्ट रचना से सहित तीन कोटों से जिनका बड़ा भारी माहात्म्य प्रकट हो रहा है, जिनकी सभाभूमि में अशोकादि वनसमूह से सघन छाया हो रही है, जो माला वस्त्र आदि से चिह्नित ध्वजाओं की फड़कन से जगत् के समस्त जीवों को बुलाते हुए से जान पड़ते हैं, कल्पवृक्षों के वन की छाया में विश्राम करने वाले देव लोग सदा जिनकी पूजा किया करते हैं, बड़े-बड़े महलों से घिरी हुई भूमि में स्थित किन्नरदेव जोर-जोर से जिनका यश गा रहे हैं, प्रकाशमान और बड़ी भारी विभूति को धारण करने वाले स्तूपों से जिनका वैभव प्रकट हो रहा है, दोनों नाट्यशालाओं की बड़ी हुई ऋद्धियों से जो मनुष्यों का उत्सव बढ़ा रहे हैं, जो धूप की सुगन्धि से दशों दिशाओं को सुगन्धित करने वाली बड़ी भारी गन्धकुटी के स्वामी हैं, जो इन्द्रों के द्वारा की हुई बड़ी भारी पूजा के योग्य हैं, तीनों जगत् के स्वामी हैं और **अर्थ** के अधिपति हैं, ऐसे श्रीमान् आदिपुरुष भगवान् वृषभदेव ने विजय करने का उद्योग किया-विहार करना प्रारम्भ किया ॥२३३-२४४॥

तदनन्तर भगवान् के विहार का समय आने पर जिनके मुकुटों के अग्रभाग हिल रहे हैं ऐसे करोड़ों देव लोग इधर-उधर चलने लगे ॥२४५॥ भगवान् के उस दिग्विजय के समय घबराये हुए इन्द्रों के मुकुटों से विचलित हुए मणि ऐसे जान पड़ते थे मानो जगत् की आरती ही कर रहे हों ॥२४६॥

उस समय जय-जय इस प्रकार जोर-जोर से शब्द करते हुए, आकाशरूपी आंगन को व्याप्त करते हुए और अपने तेज से दिशाओं के मुख को प्रकाशित करते हुए देव लोग चल रहे थे ॥२४७॥

उस समय इन्द्रोंसहित चारों निकाय के देव जिनेन्द्र भगवान् के विहाररूपी महावायु से क्षोभ को प्राप्त हुए चार महासागर के समान जान पड़ते थे ॥२४८॥

इस प्रकार सुर और असुरों से सहित भगवान् ने सूर्य के समान इच्छा रहित वृत्ति को धारण कर प्रस्थान किया ॥२४९॥

जिन्होंने अर्धमागधी भाषा में जगत् के समस्त जीवों को कल्याण का उपदेश दिया था, जो तीनों जगत् के लोगों में मित्रता कराने रूप गुणों से सबको आश्चर्य में डालते हैं, जिन्होंने अपनी समीपता से वृक्षों को फूल फल और अंकुरों से व्याप्त कर दिया है, जिन्होंने पृथिवीमण्डल को दर्पण के आकार में परिवर्तित कर दिया है, जिनके साथ सुगन्धित शीतल तथा मन्द-मन्द वायु चल रही है, जो अपने उत्कृष्ट वैभव से अकस्मात् ही जन-समुदाय को आनन्द पहुँचा रहे हैं, जिनके (विहार काल में) ठहरने के स्थान से एक योजन तक की भूमि को पवनकुमार जाति के देव झाड़-बुहारकर अत्यन्त सुन्दर रखते हैं, जिनके विहारयोग्य भूमि को मेघकुमार जाति के देव सुगन्धित जल की वर्षा कर धूलिरहित कर देते हैं, जो कोमल स्पर्श से सुख देने के लिए कमलों पर अपने चरण-कमल रखते हैं, शालि व्रीहि आदि से सम्पन्न अवस्था को प्राप्त हुई पृथ्वी जिनके आगमन की सूचना देती है, शरद्ऋतु के सरोवर के साथ स्पर्धा करने वाला आकाश जिनके समीप आने की सूचना दे रहा है, दिशाओं के अन्तराल की निर्मलता से जिनके समागम की सूचना प्राप्त हो रही है, देवों के परस्पर एक दूसरे को बुलाने के लिए प्रयुक्त हुए शब्दों से जिन्होंने दिशाओं के मुख व्याप्त कर दिये हैं, जिनके आगे हजार अरवाला देदीप्यमान धर्मचक्र चल रहा है,

जिनके आगे-आगे चलते हुए अष्ट मंगलद्रव्य तथा आगे-आगे फहराती हुई ध्वजाओं के समूह से आकाश व्याप्त हो रहा है और जिनके पीछे अनेक सुर तथा असुर चल रहे हैं, ऐसे विहार करने के इच्छुक भगवान् उस समय बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहे थे ॥२५०-२५७॥
उस समय क्षुब्ध होते हुए समुद्र की गर्जना के समान आकाश को चारों ओर से व्याप्त कर दुन्दुभि बाजों का मधुर तथा गम्भीर शब्द हो रहा था ॥२५८॥

देव लोग भव्य जीवरूपी भ्रमरों को आनन्द करने वाली तथा आकाशरूपी आँगन को पूर्ण भरती हुई पुष्पों की वर्षा कर रहे थे ॥२५९॥
जिनके वस्त्र वायु से हिल रहे हैं ऐसी करोड़ों ध्वजाएं चारों ओर फहरा रही थीं और वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो इधर आओ इधर आओ इस प्रकार भव्य जीवों के समूह को बुला ही रही हों ॥२६०॥

भगवान के विहारकाल में पद-पद पर समस्त दिशाओं को व्याप्त करने वाला और ऊँचा जो भेरियों का शब्द हो रहा था वह ऐसा जान पड़ता था मानो कर्मरूपी शत्रुओं की तर्जना ही कर रहा हो-उन्हें धौंस ही दिखला रहा हो ॥२६१॥

जिनकी भौंहरूपी पताकाएं उड़ रही हैं ऐसी देवांगनाएं अपने शरीर की प्रभा से दिशाओं को लुप्त करती हुई आकाशरूपी रंगभूमि में नृत्य कर रही थी ॥२६२॥

देव लोग बड़े उत्साह के साथ पुण्य-पाठ पढ़ रहे थे, किन्नरजाति के देव मनोहर आवाज से गा रहे थे और गन्धर्व विद्याधरों के साथ मिलकर वीणा बजा रहे थे ॥२६३॥

जिनके मुकुटों के अग्रभाग देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसे इन्द्र समस्त जगत् को प्रभामय करने के लिए तत्पर हुए के समान भगवान के इधर-उधर चल रहे थे ॥२६४॥

उस समय समस्त दिशाएँ मानो आनन्द से ही धूमरहित हो निर्मल हो गयी थीं और मेघरहित आकाश अतिशय निर्मलता को धारण कर सुशोभित हो रहा था ॥२६५॥

भगवान् के विहार के समय पके हुए शालि आदि धान्यों से सुशोभित पृथ्वी ऐसी जान पड़ती थी मानो स्वामी का लाभ होने में उसे हर्ष के रोमांच ही उठ आये हों ॥२६६॥

जो आकाशगंगा के जलकणों का स्पर्श कर रही थी और जो कमलों के पराग-रज से मिली हुई होने से सुगन्धित वस्त्रों से ढकी हुई-सी जान पड़ती थी ऐसी सुगन्धित वायु बह रही थी ॥२६७॥

उस समय पृथ्वी भी दर्पणतल के समान उज्ज्वल तथा समतल हो गयी थी, देवों ने उस पर सुगन्धित जल की वर्षा की थी जिससे वह धूलिरहित होकर ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो रजोधर्म से रहित तथा स्नान की हुई पतिव्रता स्त्री ही हो ॥२६८॥

वृक्ष भी असमय में फूलों के उद्भेद को दिखला रहे थे अर्थात् वृक्ष पर बिना समय के ही पुष्प आ गये थे और उनसे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो सब ऋतुओं ने भय से एक साथ आकर ही उनका आलिंगन किया हो ॥२६९॥

भगवान के माहात्म्य से चार सौ कोश पृथ्वी तक सुभिक्ष था, सब प्रकार का कल्याण था, आरोग्य था और पृथ्वी प्राणियों की हिंसा से रहित हो गयी थी ॥२७०॥

समस्त प्राणी अचानक आनन्द की परम्परा को प्राप्त हो रहे थे और भाईपने को प्राप्त हुए के समान परस्पर की मित्रता बढ़ा रहे थे ॥२७१॥

जो मकरन्द और पराग की वर्षा कर रहा है, जिसमें नवीन केशर उत्पन्न हुई है, जिसकी कर्णिका अनेक प्रकार के रत्नों से बनी हुई हैं, जिसके दल अत्यन्त सुशोभित हो रहे हैं, जिसका स्पर्श कोमल है और जो उत्कृष्ट शोभा से सहित है ऐसा सुवर्णमय कमलों का समूह आकाशतल में भगवान के चरण रखने की जगह में सुशोभित हो रहा था ॥२७२-२७३॥

जिनकी केसर के रेणु उत्कृष्ट सुगन्धि से सान्द्र हैं वे प्रफुल्लित कमल सात तो भगवान् के आगे प्रकट हुए थे और सात पीछे ॥२७४॥

इसी प्रकार और कमल भी उन कमलों के समीप में सुशोभित हो रहे थे, और वे ऐसे जान पड़ते थे मानो आकाशरूपी आँगन में चलते हुए लक्ष्मी के रहने के भवन ही हों ॥२७५॥

भ्रमरों की पङ्क्तियों से सहित इन सुवर्णमय कमलों की पङ्क्ति को देव लोग इन्द्र की आज्ञा से बना रहे थे ॥२७६॥

जिनेन्द्र भगवान् के चरणकमलों के सम्मुख हुई वह कमलों की पङ्क्ति ऐसी जान पड़ती थी मानो अधिकता के कारण नीचे की ओर बहती हुई उनके चरणकमलों की कान्ति ही प्राप्त करना चाहते हों ॥२७७॥

आकाशरूपी सरोवर में जिनेन्द्रभगवान् के चरणों के समीप प्रफुल्लित हुई वह विहार कमलों की पङ्क्ति पन्द्रह के वर्ग प्रमाण अर्थात् २२५ कमलों की थी ॥२७८॥

उस समय, भगवान् के दिग्विजय के काल में सुवर्णमय कमलों से चारों ओर से व्याप्त हुआ आकाश ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो जिसमें कमल फूल रहे हैं ऐसा सरोवर ही हो ॥२७९॥

इस प्रकार समस्त जगत् के स्वामी भगवान् वृषभदेव ने जगत् को आनन्दमय करते हुए तथा अपने वचनरूपी अमृत से सबको सन्तुष्ट करते हुए समस्त पृथिवी पर विहार किया था ॥२८०॥

जनसमूह की पीड़ा हरने वाले जिनेन्द्ररूपी सूर्य ने वचनरूपी किरणों के द्वारा मिथ्यात्वरूपी अन्धकार के समूह को नष्ट कर समस्त जगत् प्रकाशित किया था ॥२८१॥

सुवर्णमय कमलों पर पैर रखने वाले भगवान् ने जहाँ-जहाँ से विहार किया वहीं-वहीं के भव्यों ने धर्मामृतरूप जल की वर्षा से परम सन्तोष धारण किया था ॥२८२॥

जिस समय वे जिनेन्द्ररूपी मेघ समीप में धर्मरूपी अमृत की वर्षा करते थे उस समय यह सारा संसार सन्तोष धारण कर सुख के प्रवाह से प्लुत हो जाता था-सुख के प्रवाह में डूब जाता था ॥२८३॥

उस समय अत्यन्त लालायित हुए भव्य जीवरूपी चातक जिनेन्द्ररूपी मेघ से धर्मरूपी जल को बार-बार पी कर चिरकाल के लिए सन्तुष्ट हो गये थे ॥२८४॥

इस प्रकार जो चर और अचर जीवों के स्वामी हैं, जो संसाररूपी गर्त में डूबे हुए जीवों का उद्धार करना चाहते हैं, जिनकी वृत्ति अखण्डित है, देव और असुर जिनके साथ हैं तथा जो सुवर्णमय कमलों के मध्य में चरणकमल रखते हैं ऐसे जिनेन्द्र भगवान ने समस्त पृथ्वी में विहार किया ॥२८५॥

उस समय संसाररूपी तीव्र दावानल से जलते हुए संसाररूपी वन को धर्मामृतरूप जल के छींटों से सींचकर जिन्होंने सबका सन्ताप दूर कर दिया है और जिनके दिव्यध्वनि प्रकट हो रही है ऐसे वे भगवान् वृषभदेव ठीक वर्षाऋतु के समान सुशोभित हो रहे थे ॥२८६॥

समीचीन मार्ग के उपदेश देने में तत्पर तथा धीर-वीर भगवान् ने काशी, अवन्ति, कुरु, कोशल, सुह्य, पुण्ड, चेदि, अंग, वंग, मगध, आन्ध्र, कलिंग, मद्र, पंचाल, मालव, दशार्ण और विदर्भ आदि देशों में विहार किया था ॥२८७॥

इस प्रकार जिनका चरित्र अत्यन्त शान्त है, जिन्होंने अनेक भव्य जीवों को तत्त्वज्ञान प्राप्त कराया है और जो तीनों लोकों के गुरु हैं ऐसे भगवान् वृषभदेव अनेक देशों में विहार कर चन्द्रमा के समान उज्ज्वल, ऊँचे और अपना अनुकरण करने वाले कैलास पर्वत को प्राप्त हुए ॥२८८॥

वहाँ उसके अग्रभाग पर देवों के द्वारा बनाये हुए, सुन्दर, पूर्वोक्त समस्त वर्णन से सहित और स्वर्ग की शोभा बढ़ाने वाले सभामण्डप में विराजमान हुए । उस समय वे जिनेन्द्रदेव अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मी से सहित थे, आदर के साथ भक्ति से नम्रीभूत हुए बारह सभा के लोगों से घिरे हुए थे और उत्तमोत्तम आठ प्रातिहार्यों से सुशोभित हो रहे थे ॥२८९॥

जिनके चरणकमल इन्द्रों के द्वारा पूजित है, घातियाकर्मी का क्षय होने के बाद जिन्हें अनन्तचतुष्टयरूपी विभूति प्राप्त हुई है, जो भव्यजीवरूपी कमलिनीयों को विकसित करने के लिए सूर्य के समान हैं, जिनके मानस्तम्भों के देखने मात्र से जगत् के अच्छे-अच्छे पुरुष नम्रीभूत हो जाते हैं, जो तीनों लोकों के स्वामी हैं, जिन्हें अचिन्त्य बहिरंग विभूति प्राप्त हुई है, और जो पापरहित हैं ऐसे श्रीस्वामी जिनेन्द्रदेव को हम लोग भी भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हैं ॥२९०॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रह में भगवान के विहार का दर्शन करने वाला पचीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥२५॥